भारतीय उपन्यासो मे
वर्णनकला का
तुलनात्मक मूल्याकन

आगरा विश्वविद्यालय द्वारा, डी० लिट० उपाधि के लिए स्वीकृत शोधप्रबन्ध
तथा
[आगरा विश्वविद्यालय के क० मा० मुंशी हिन्दी विद्यापीठ की]
सर्वोत्कृष्ट शोधकृति के रूप में, सन १९७० ई० के
सी० बी० अग्रवाल स्वर्णपदक द्वारा, पुरस्कृत

भारतीय उपन्यासो में वर्णन-कला
का
तुलनात्मक मूल्याङ्कन

[विशेषत हिन्दी उपन्यासो के सन्दभ मे]

डॉ० इन्दिरा जोशी,
एम० ए०, पी एच० डी०, डी० लिट०
रीडर, हिन्दी विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय
जोधपुर (राजस्थान)

प्रकाशक
विनोद पुस्तक मन्दिर
कार्यालय रांगेय राघव मार्ग, आगरा-२
विक्री केन्द्र हॉस्पिटल रोड, आगरा-३

प्रथम संस्करण १९७३

मुद्रक राष्ट्रभाषा प्रेस, आगरा-२
१०/४/७३

वन्दे वाणीविनायकौ

निवेदन

उपन्यासों में वर्णनकला-परक मूल्याङ्कन हिन्दी शोध क्षेत्र में, एक अभिनव अध्ययन विधा है। साथ ही, इस महान देश में प्रचलित, विविध प्रादेशिक भाषाओं में रचित, विशाल उपन्यास साहित्य के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी उपन्यास की वर्णन कला परक विशिष्टताओं का अध्ययन, राष्ट्र की परम्परागत साहित्यिक एकात्मकता की दृष्टि से, अपना विशेष महत्त्व रखता है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, इस दृष्टि से एक विनम्र अभिनव प्रयास है।

'भारतीय उपन्यासों में वर्णनकला का तुलनात्मक मूल्याङ्कन [विशेषत हिन्दी उपन्यासों के सन्दर्भ में], नामक यह शोध प्रबन्ध, सन् १९६९ ई० में, आगरा विश्वविद्यालय द्वारा, डा० लिट० उपाधि के लिये, स्वीकृत हुआ था। साथ ही इसे, सन् १९७० ई० के 'सी० वी० अग्रवाल स्वर्णपदक' द्वारा पुरस्कृत भी किया गया है। यह स्वर्णपदक, आगरा विश्वविद्यालय के शोध संस्थान—कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी हिन्दी तथा भाषा विज्ञान विद्यापीठ में, वर्ष भर में सम्पन्न, समग्र शोधकार्य की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि पर, प्रतिवर्ष प्रदान किया जाता है।

आज से लगभग दस वर्ष पहले (सन् १९६२ ई० में), प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का विषय, आगरा विश्वविद्यालयीन शोध-समिति द्वारा स्वीकृत हुआ था। शोध विषय का सम्पूर्ण औपचारिक शीर्षक, निम्नाङ्कित रूप में, स्वीकार किया गया था —

> भारतीय उपन्यासों में वर्णनात्मक साम्य और उसका मूल्याङ्कन—भारत की विविध भाषाओं के उपन्यासों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा—हिन्दी उपन्यासों की वर्णनकला का मूल्याङ्कन।

शोध समिति की दृष्टि मे, भारत की समस्त प्रादेशिक भाषाओ का अध्ययन क्षेत्र अतिव्यापक था, अत उसने इस तुलनात्मक अध्ययन को, छ भाषाओ तक परिसीमित कर दिया था। इसीलिए इस तुलनात्मक मूल्याङ्कन को, हिन्दी के अतिरिक्त, बंगला, मराठी, गुजराती कन्नड तथा उडिया क उपन्यास साहित्या तक ही परिसीमित रखा गया है यद्यपि भारत की अन्य अनेक प्रादेशिक भाषाओ यथा, तमिल, तलुगु मलयालम तथा असमिया आदि म भी, उपन्यास-साहित्य समृद्ध है तथा अपनी-अपना निजी वर्णनात्मक भङ्गिमाओ द्वारा विभूषित भी है।

उपन्यास विधा के पुनर्मानीकरण एव पुनर्मूल्याङ्कन के लिये, यह शोध प्रबन्ध, एक अभिनव वैज्ञानिक तर्कसम्मत एव मौलिक आधार की प्रस्थापना करता है। इस दृष्टि स इसम प्रतिपादित वर्णनकला निर्धारित नव समीक्षा पद्धति पर, उपन्यास विधा के अध्ययन तथा आलोचन क क्षेत्रो म नवीन विचार विश्लेषण तथा अनुसधान की, पर्याप्त सम्भावनाएँ विद्यमान हैं।

इस शोध प्रबन्ध के परीक्षक महानुभावो ने (जो साहित्य एव समीक्षा के क्षेत्र म शीर्ष स्थान रखते है) इसकी कतिपय विशिष्टताओ का इन शब्दो म उल्लेख किया है —

> ' इसम कोई सन्देह नही कि यह शोध प्रबन्ध हिन्दी म एक अछूते विषय पर अनुसन्धान प्रस्तुत करता है। इस प्रबन्ध से उपन्यासा मे वर्णन कला का महत्त्व प्रतिपादित होता है और इस, अन्य भारतीय भाषाओ क परिप्रेक्ष्य म ही नही विश्वभर क प्रसिद्ध उपन्यासा की भूमिका पर प्रतिष्ठित करने का श्लाघ्य प्रयत्न किया गया है।
>
> यही नही इस शोध प्रबन्ध म पहली बार हिन्दी क लिये अनुसन्धान की एक नइ प्रक्रिया प्रणाली की भी स्थापना की गई है। इस प्रणाली स अनुसन्धान की प्रक्रिया बहुत अधिक वैज्ञानिक हो गइ है। प्रतीकाक्षरो म वर्णन क समीकरण देकर तुलना और मूल्याङ्कन म बहुत सुविधा ही नही होती, सान्तोष निर्णया म भी कमी हो जाती है।
>
> × × × ×
>
> शोध ग्रन्थ का विषय अन्यथा अनुसन्धान क एक विशाल क्षेत्र को आवृत्त करता है। साथ ही यह लेखिका क व्यापक अध्ययन का परिचायक भी है।
>
> भारतीय उपन्यास साहित्य क विविध क्षेत्रा क व्यापक अध्ययन के पश्चात प्राचीन तथा नवीन स्रोता स प्रभूत एव नूतन अध्ययन-सामग्री प्रकाश म लाई गई है।

'भारतीय उपन्यास साहित्य की एकता की, तर्कसिद्ध आधार पर, प्रस्थापना की गई है, और उसके समान भौगोलिक तथा ऐतिहासिक तत्त्वों का, सम्यक् विश्लेषण भी किया गया है।"

उपन्यास विधा की, उपयुक्त, अनुसंधान तथा मूल्याङ्कन सम्बन्धी, वैज्ञानिक, मौलिक एवं नई प्रक्रिया प्रणाली' का, प्रस्तुत ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में, साङ्गोपाङ्ग निरूपण किया गया है। अतः इस ग्रन्थ में, वह, सर्वाधिक महत्त्व रखता है।

"भारतीय उपन्यास साहित्य के समान भौगोलिक एवं ऐतिहासिक तत्त्वों का' ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध [अर्थात अन्तिम चार अध्यायों] में, विशद विश्लेषण किया गया है, तथा तर्कसिद्ध आधार पर, भारतीय उपन्यास साहित्य की राष्ट्रव्यापी एकता की प्रस्थापना भी की गई है।

हिन्दी भाषा में पहली बार, भारतीय उपन्यास के उद्भव एवं विकास की, एक क्रमबद्ध ऐतिहासिक रूपरेखा, ग्रन्थ के चतुर्थ अध्याय में, प्रस्तुत की गई है।

आचार्य राजशेखर द्वारा प्रतिपादित 'देश एवं काल' सिद्धान्त को, भारतीय उपन्यास की वर्णन कलापरक समीक्षा में, किस भांति अपनाया जा सकता है इस तथ्य की भी, मौलिक विवेचना की गई है, तथा उसके सम्यक् विश्लेषण के हेतु, दो उपादेय तालिकाएँ, वर्णन विटपों के रूप में दी गई है।

ग्रन्थ के अन्त में, दो महत्त्वपूर्ण परिशिष्ट भी दिये गये हैं, प्रथम में आद्य एवं दुष्प्राप्य हिन्दी उपन्यासों के रचनात्मक एवं कलात्मक वर्णन, संग्रहीत है। दूसरे परिशिष्ट में 'हिन्दी का पहला उपन्यास कौन-सा है ? हिन्दी उपन्यास-समीक्षा की इस बहु विवादित समस्या का, तर्कसिद्ध एवं प्रामाणिक समाधान किया गया है।

तत्पश्चात् अध्ययन की सुविधा के लिये, तीन अनुक्रमणिकाएँ भी दी गई हैं, जिनके अन्तर्गत, प्रस्तुत ग्रन्थ में उल्लिखित, ग्रन्थकारों, ग्रन्थों तथा पत्र पत्रिकाओं का अकारान्त क्रम से, पृष्ठवार, सन्दर्भ प्राप्य है।

उपन्यास विधा के विशेष अध्ययन तथा अनुसंधान में प्रवृत्त हुए लेखिका को अद्यावधि, पन्द्रह से अधिक वर्ष हो चुके हैं। इस अवधि में, उपन्यास विधा के तीन पक्ष विशेषों पर शोधकार्य करने के सन्दर्भ में, उसे हिन्दी साहित्य के शीर्ष आचार्यों का आशीर्वाद एवं निर्देशन प्राप्त हुआ है जिनके सक्रिय सहयोग तथा सतत स्नेह सद्भावना मय आशीर्वाद के बिना, प्रस्तुत दुष्कर कार्य, सम्पूर्ण हो पाना सम्भव नहीं था। अतः उन सभी का, यहां साभार स्मरण नितान्त आवश्यक है।

सर्वप्रथम काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में, स्नातकोत्तर अध्ययन-काल में, लेखिका को, उपन्यास विधा के आञ्चलिक पक्ष पर शोधकार्य करते हुए, विश्वविद्यालयीन

हिंदी विभाग के अनेक ख्यातनामा साहित्याचार्यों का वात्सल्य, स्नेह एवं आशीर्वाद प्राप्त हुआ था, जिनमे गुरुवर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, प० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, तथा स्वर्गीय डा० श्रीकृष्णलाल का यहाँ श्रद्धायुत स्मरण अनिवार्य है।

तत्पश्चात आगरा विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध हिंदी शोध-संस्थान—क० मा० मुंशी हिंदी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ के तत्त्वावधान में, पी० एच-डी० तथा डी० लिट० उपाधियों के लिए प्रस्तुत, शोध प्रबंधों के सम्बन्ध में अनुसंधान-कार्य करते हुए, लेखिका को, विद्यापीठ के प्रथम निर्देशक, स्वर्गीय डॉ० विश्वनाथप्रसाद का अवर्णनीय साहाय्य प्राप्त हुआ था। उनका यहाँ साभार श्रद्धायुत स्मरण है।

क० मा० मुंशी हिंदी विद्यापीठ के ही प्रख्यात अनुसंधान निर्देशक, हिंदी साहित्य के शीर्ष आचार्य तथा लोकवार्त्ता-तत्त्व के आधिकारिक विद्वान् डा० सत्येन्द्र का तो लेखिका को आद्योपान्त आत्मीयवत स्नेहभाव एवं सतत आशीर्वाद प्राप्त रहा ही है। उनका शब्दों द्वारा व्यक्त किया जाना सम्भव नहीं है।

इसके अतिरिक्त अपने अनुसंधान-कार्य में रत रहते हुए, समय समय पर, लेखिका को अनेकानेक अखिल भारतीय ख्याति प्राप्त शीर्ष उपन्यासकारों, उपन्यास विधा के समीक्षकों एवं मर्मज्ञों तथा सुप्रसिद्ध विद्वज्जनों का भी हार्दिक एवं स्नेह सौजन्यमय परामर्श प्राप्त होता रहा है। उनमें भी शीर्ष हिंदी उपन्यासकार, स्व० श्री वृन्दावनलाल वर्मा, प्रख्यात गुजराती उपन्यासकार, स्व० श्री कन्हैयालाल माणिक लाल मुंशी, हिंदी साहित्य एवं समीक्षा के शीर्ष आचार्य—डा० नगेन्द्र बँगला भाषा के आचार्य एवं इतिवृत्तकार तथा प्रख्यात भाषाविद् डा० सुकुमार सेन मराठी भाषा के आधिकारिक विद्वान एवं समालोचक महामहोपाध्याय श्री दत्तो वामन पोतदार, ख्यातनामा हिंदी आलोचक डा० रामविलास शर्मा तथा साहित्याचार्य, डा० दशरथ ओझा के प्रति, लेखिका अत्यन्त आभारी है।

अन्त में लेखिका उन सभी रससिद्ध उपन्यासकारों, समीक्षकों तथा विद्वानों के प्रति भी हृदय से कृतज्ञ है जिनकी बहुमूल्य कृतियों का, इस ग्रंथ में उपयोग किया गया है।

प्रस्तुत ग्रंथ का प्रतिपाद्य जुटाने में, एक बड़ी व्यावहारिक कठिनाई आद्य एवं दुष्प्राप्य, उपन्यासों के उपलब्ध न होने की थी। विविध शोध संस्थाओं सार्वजनिक एवं निजी ग्रंथागारों के सहयोग एवं सौजन्य से ही यह दुस्साध्य शोधकार्य सम्पन्न हो पाया है। इस सन्दर्भ मे आगरा स्थित आगरा विश्वविद्यालय क० मा० मुंशी हिंदी विद्यापीठ तथा नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालयों, काशी स्थित

नागरी प्रचारिणी सभा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा काशी विद्यापीठ के पुस्तकालयों, दिल्ली विश्वविद्यालय पुस्तकालय कोल्हापुर (महाराष्ट्र) स्थित, शिवाजी विश्वविद्यालय, ताराराणी विद्यापीठ के कीर्ति कॉलेज, तथा राजाराम कालेज के पुस्तकालयों, इन्दौर (मध्यभारत) स्थित, इन्दौर विश्वविद्यालय तथा मध्यभारत हिन्दी साहित्य-समिति के पुस्तकालयों तथा (निजी संग्रहालयों में, सबसे अधिक उल्लेख्य) आगरा के बेलनगंज स्थित, चिरंजीव पुस्तकालय (जहाँ पुराने हिन्दी उपन्यासों के दुर्लभ आद्य संस्करण सुरक्षित हैं), के सभी अधिकारियों के सौजन्य तथा सहयोग के लिए, लेखिका विशेषतया आभारी है।

अन्त में, विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा के संचालक तथा उनके सभी सहयोगियों के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापन, यहाँ आवश्यक है, जिन्होंने धैर्य एवं अध्यवसाय के साथ, इस शोध ग्रन्थ के प्रकाशन के जटिल कार्य को, सुचारु रूप से सम्पन्न किया है।

शोध ग्रन्थ, विद्वज्जनों का ध्यान आकर्षित करे और उन्हें रुचे, यही कामना है।

जोधपुर विश्वविद्यालय,
जोधपुर (राजस्थान)
श्री रामनवमी,
चैत्र शुक्ला ६, संवत २०३० वि०

इन्दिरा जोशी

अनुक्रम

—०—

भारतीय उपन्यासों में
वर्णनकला का
तुलनात्मक मूल्यांकन

१

साहित्य में वर्णनात्मकता का स्वरूप एव मूल्य

जगन्निर्माता की सर्वोत्कृष्ट कृति—मानव की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि, साहित्य है। इसका कारण यह है कि साहित्य ने ही मानव को अमरत्व के निकटतम पहुँचने म समर्थ बनाया है। ज्ञान विज्ञान की एक से बढ कर एक चमत्कारी सिद्धियो मे, मानव प्राय पराकाष्ठा तक पहुँच चुका है किन्तु उनके मार्ग पर अग्रसर होते हुए सहसा वह सहार की क्षमताओ की, चरम सीमा तक पहुँच कर, स्तम्भित रह गया है।

पुरातन पुराणो एव लोकगाथाओं मे इस बात के पर्याप्त इगित मिलते हैं कि निरवधि काल के आयामो मे, मानव सभ्यता और सस्कृति ने, इस भाति के अनेक चमत्कारी प्रयोग किये हैं, और आज भी वह उनम मग्न है। अनेक बार सस्कृतियाँ आकाश को छूने के लिये उठी हैं और फिर वे पाताल के गर्त म खो गई है। पौराणिक शब्दावली मे इस पट-परिवर्तन अथवा युगान्तर को ससृति और प्रलय के प्रतीकों द्वारा व्यजित किया गया है। पर एक बार जो मानव अमरत्व के पथ मे विचलित हुआ, सो हुआ।

मानव ने अनेक बार इस ससृति और प्रलय के प्रवर्तन के बीच, जो कल्पनातीत महत् प्रयोग किये हैं, उनके मूल म उसकी आद्याशक्ति रूपिणी महत्त्वाकाक्षा, सतत आकुल एव सक्रिय रही है। पौराणिक आख्याना म इसको पक्षी के प्रतीक द्वारा, इगित कराया गया है। इस प्रसग मे सपाति की कथा बडी अर्थगूढ है। उसने सूर्य को छूने के हठ म, अपने पख जला लिये और मरणासन्न दशा म, वह औंधे मुह धरती पर आ गिरा। चन्द्रमा नामक मुनि ने उसे, ज्ञानामृत द्वारा अहकार-व्याधि स मुक्त किया।

सूर्य और चन्द्र—ये ज्योति-पुज-द्वय विज्ञान और ज्ञान के प्रतीक हैं। दार्शनिक अर्थों म व कालकूट एव अमृततत्व के प्रतीक हैं। कालकूट को कण्ठ म धारण करने के कारण शिव ने देवाधिदेव अथवा महादेव की उपाधि पाई। किन्तु उन्होने चन्द्रमा को मस्तक पर धारण करके चन्द्रमौलि पद भी पाया। यह विज्ञान पर ज्ञान की प्रतिष्ठा का स्पष्ट द्योतक ही तो है।

ज्ञान विज्ञान की चिरन्तन साधना का प्रतीक पौराणिक सागरमन्थन आख्यान है, जिसके परिणामतः कालकूट और अमृत घट दोनों ही उपलब्ध हुए थे। मानव को अक्षय अस्तित्व प्रदान करने वाला अमृततत्व क्या है? हमारे ऋषि मुनियों अथवा मनीषियों ने, इस सम्बन्ध में बहुत कुछ चिन्तन किया है और उन्होंने जो सूत्र रूप से, उपनिषदों की इस उक्ति द्वारा इंगित किया है वह मुहुर्मुहुः स्मरणीय है —

मुझे तुच्छता के परिवेश से उबार कर शाश्वत सत्ता के लोक में ले चलो! अन्धकार की दुनिया में से निकाल कर, मुझे उजाले में ले चलो! और मरण से मुझे उबार कर, अमरत्व तक पहुँचा दो।

आज के युग में, भला विज्ञान की सर्वव्यापी महिमा का तिरस्कार करने का दुःसाहस कौन करेगा? किन्तु ज्ञान की गरिमा को भी आँखों से ओझल करके, क्या काम चल पाएगा? ज्ञान के समुज्ज्वल सौम्य और स्निग्ध प्रकाश का ही अन्य नाम है 'साहित्य'।

साहित्य शब्द के उद्भव एवं उसके व्यावहारिक अर्थ की उचित व्याख्या के निमित्त, हमें उसके व्युत्पत्ति मूलक पक्ष की ओर भी दृष्टिक्षेप करना होगा।

साहित्य का अर्थ है शब्द और अर्थ का यथावत सहभाव—अर्थात साथ होना। साहित्य—सहित + यत प्रत्यय। इस प्रकार सार्थक शब्द मात्र का नाम, साहित्य है। साहित्य की यह परिभाषा अत्यन्त व्यापक है और इसमें मनुष्य की सारी वाचन और भावन चेष्टा समाविष्ट हो जाती है *तथा समस्त ग्रन्थ-समूह साहित्य के अन्तर्गत आ* जाते हैं। साहित्य मनुष्य के भावों और विचारों की समष्टि है।[१]

साहित्य शब्द की इतिवृत्तात्मक छानबीन करने से ज्ञात होता है कि साहित्य शब्द का प्रचलन पर्याप्त प्राचीन काल से समस्त ग्रन्थ समूह अथवा ज्ञानाभिव्यंजना के लिए पाया जाता था। रसात्मक रचनाओं की सामूहिक सत्ता के रूप में उसका प्रयोग भर्तृहरि के काल (ईस्वी शती सातवीं) से माना जाता है।

बहुत काल तक साहित्य काव्य का पर्याय रहा। किन्तु जब साहित्यिक सृष्टि पर से काव्य की एकच्छत्र प्रभुता बीत चली तथा नव-नव साहित्यरूपों ने अपनी निजी *सत्ता स्थापित कर ली तब साहित्य एवं काव्य का पर्यायत्व* समाप्त हुआ और काव्य समस्त पद्यात्मक छन्दोबद्ध कृतियों के समुच्चय के रूप में पृथक माना जाने लगा। यह प्रकट है कि यह अलगाव पद्येतर साहित्य सर्जना का ही सीधा परिणाम *था जिसमें कथा साहित्य एवं उपन्यास विधा का सर्वाधिक योगदान* रहा है।

भर्तृहरि के पश्चात अनेक काव्यशास्त्रियों ने साहित्य शब्द की परिभाषाएं दी हैं जो वस्तुतः काव्य की परिभाषाएँ भी मानी जाती है। भामह ने अपने ग्रन्थ

---

१ **'हिंदी साहित्य कोश'**, खण्ड १ पृष्ठ ८४६ साहित्य (प्रथम प्रकाशन, सन् १९४८ ई०, ज्ञानमण्डल, काशी।)

'काव्यालंकार' में 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'[1] कह कर साहित्यिक कृति में शब्द एवं अर्थ के, उपर्युक्त प्रयोग, पर बल दिया।

शब्द और अर्थ के सहभाव वाली बात राजशेखर ने कहा है जिनका समय, भामह से लगभग तीन शती पश्चात दसवीं शती ईसवी माना जाता है। 'शब्दार्थयो यथावत सहभावेन विद्या साहित्य विद्या। अर्थात शब्द और अर्थ के यथावत सहभाव अथवा उनके परस्पर अनुकूल (या उचित) सहयोग से उद्भूत भावाभिव्यंजना की विद्या को साहित्य विद्या कहते हैं।[2]

राजशेखर ने इस भाँति 'साहित्य' और 'साहित्येतर वाङ्मय' के बीच के तात्विक अन्तर को स्पष्ट किया, और साहित्य की मूलभूत विशेषता के रूप में, शब्द और अर्थ के परस्पर सहभाव पर बल दिया।

शब्द और अर्थ के संयुक्त चमत्कार की बात उक्त शास्त्रकारों से बहुत पहले भी मनीषियों के मन में आई थी। इनमें विचक्षण प्रतिभा वाले महाकवि कालिदास भी थे। उन्होंने अपने महाकाव्य 'रघुवंश' के मंगलाचरण में, इस जगत के जननी-जनक, पार्वती-परमेश्वर की वाक् और अर्थ के रूप में, 'मूलत संयुक्त किन्तु दृश्यमान रूप में पृथक, अद्वितीय छवि की—अभ्यर्थना की थी।[3]

आचार्यप्रवर श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने अभिनव ग्रन्थ 'कालिदास की लालित्य-योजना' में इसी प्रसंग को लेकर—'वाक् और अर्थ का साहित्य', नाम से एक पृथक अध्याय दिया है और कालिदास-सम्बन्धी इस उद्भावना की अनूठी व्याख्या की है—

'कालिदास ने रघुवंश के प्रारम्भ में शिव और पार्वती के संयुक्त या मिलित रूप को वाक् और अर्थ के साथ-साथ रहने के भाव (साहित्य) के साथ तुलनीय माना है। उन्होंने स्वयं 'साहित्य' शब्द का प्रयोग तो नहीं किया पर 'संयुक्त या सम्पर्कयुक्त' कह कर उसी भाव की ओर संकेत किया है जिसे बाद में साहित्य कहा जाने लगा।[4]

---

१ 'काव्यालंकार' (आचार्य भामह) सातवीं शती ई०, १/२६।

२ 'हिन्दी काव्य मीमांसा'—सं० डॉ० गंगासागर राय (प्र०—चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, प्रथम संस्करण–संवत २०२१ वि०, सन् १९६४ ई०, विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थ माला १२१) द्वितीय अध्याय 'शास्त्र निर्देश' पृष्ठ १३

३ 'वागर्थमिव संपृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरौ॥'

—रघुवंश—महाकवि कालिदास, आद्यवन्दना श्लोक।

४ 'कालिदास की लालित्य-योजना'—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी (प्रथम सं०, सन १९६५ ई०, नवेद्य निकेतन, रवीन्द्रपुरी, वाराणसी ५) अध्याय ८—'वाक् और अर्थ का साहित्य' (८७-९१) पृष्ठ ८७

स्वर्गीय श्री आनन्द के० कुमारस्वामी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के कलाविद थे एवं कला की गहराइयों में अवगाहन करके उन्होंने भारत के पुरातन शास्त्रों एवं साहित्यिक कृतियों का व्यापक अनुसन्धान किया था। तभी उन्होंने साहित्य तथा काव्य शब्द के अर्थों की भी छानबीन की थी। यही नहीं उन्होंने अपने ग्रन्थ द ट्रान्सफार्मेशन आफ नेचर इन आर्ट के अन्तर्गत एक पारिभाषिक शब्द कोश भी दिया है जिसमें भारतीय शब्दों के पाश्चात्य पर्याय दिए गए हैं।

श्री आनन्द कुमारस्वामी ने साहित्य तथा काव्य दोनों शब्दों के लक्षणों पर पृथक-पृथक विचार किया है। साहित्य को वे ध्वनि एवं ध्वन्यार्थ शब्द एवं शब्दार्थ का सहज ध्वनन एवं सहभाव मानते हैं। काव्य शब्द के अर्थों पर विचार करते हुए उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि उसका अभिप्राय गद्य अथवा पद्य-साहित्य माना जाता रहा है जो उसके श्रुति इतिहास शास्त्र आदि से वशिष्टय का सूचक है।[1]

श्री आनन्द कुमारस्वामी ने यहाँ स्पष्ट शब्दों में इस तथ्य को विश्लेषित किया है कि 'साहित्य शब्द के अतिव्यापक तथा अभिन्न वाङमय सूचक अभिधार्थ के कारण ही भारतीय साहित्य शास्त्र में काव्य शब्द का (साहित्य शब्द के आधुनिक अर्थ में) प्रचलन हुआ था।

श्री आनन्द कुमारस्वामी ने जब काव्य शब्द की श्रुति इतिहास शास्त्र से पृथक्ता-सूचक बात कही तो उन्होंने काव्य शब्द के व्यवहार के उस सुदीर्घ अवान्तर का स्मरण कराया जिसमें कि यह शब्द गद्य एवं पद्य में रचित विविध साहित्यिक कृतियों के लिये प्रयुक्त होता रहा। किन्तु इस विविध साहित्यिक रचना-समुच्चय में भी दो प्रकार की कृतियाँ पाई जाती थीं—सृजनात्मक साहित्य व्याख्यात्मक साहित्य। सृजनात्मक साहित्य अथवा क्रिएटिव लिटरेचर के लिये हमारे मनीषियों ने सारस्वत शब्द का प्रयोग किया है। दूसरी व्याख्या श्री कुमारस्वामी ने सरस्वती द्वारा प्रेरित अथवा सरस्वती की अनना के उपयुक्त इन्सपायर्ड बाई आर वर्दी आफ सरस्वती) कह कर की है।

राजशेखर ने भी सारस्वत शब्द का अर्थ यही सुमहारहस्यमय प्रतिभा माना है। अपने काव्य मीमांसा ग्रन्थ के अन्तर्गत उन्होंने कहा है— सारस्वत-तत्व महारहस्यमय है। वह केवल विद्वानों द्वारा ही गोचर है और केवल कुशल कवियों द्वारा ही सेव्य है।[2]

---

१ 'ट्रान्सफार्मेशन आफ नेचर इन आर्ट—आनन्द के० कुमारस्वामी (प्रथम सं० सन १९३४ ई० प्रस्तुत संस्करण सन १९५६ ई० डोवर बुक्स न्यूयार्क १०) संस्कृत ग्लासरी (पारिभाषिक कोश) पृष्ठ २१७ २२९

२ सारस्वतम् किमपि तत सुमहारहस्यम्।
यद् गोचरम् च विदुषाम् निपुणक सेव्यम्॥
—हिन्दी काव्य मीमांसा (व्याख्याकार डा० गंगासागर राय)
(प्र० चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी) अध्यायचतय—शिष्यप्रतिभे पृष्ठ २९

'साहित्य' के उक्त सृजनात्मक रूप से ही प्रस्तुत अध्ययन अनुसंधान का विशेषतया सम्बन्ध है। यह सृजनात्मक साहित्य न केवल शब्द' एवं अर्थ' के परस्पर सहभाव पर आधारित है वरन उसमें शब्द और अर्थ की, अन्यूनातिरिक्त (जो एक दूसरे से कमावेश न हो) परस्पर स्पर्धा पाई जाती है। यह स्पर्धा शोभाशालिता एवं मनोहारिता दोनों में ही श्लाघनीय होती है। अर्थात साहित्यिक कृति में पाई जाने वाली अपूर्व शोभा एवं मनोहारिता, न केवल शब्द में वरन अर्थ में भी, और न केवल अर्थ में ही वरन शब्द में भी कुछ ऐसी मात्रा में प्रतिभासित होती है कि यह बताना कठिन होता है कि वह उन दोनों में किसमें अधिक है और किसमें कम।[1]

उक्त उक्ति दसवीं शती के प्रख्यात काव्यशास्त्री कुन्तक की है। आचार्य कुन्तक को 'साहित्य' शब्द के एक विशिष्ट अर्थ का आविष्कर्ता बताते हुए श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी ने, इस भांति अपने विचार व्यक्त किये हैं—

"कदाचित आज से एक सहस्राब्दी या उससे भी अधिक पुराने आचार्य कुन्तल या कुन्तक ने इस शब्द (साहित्य) को एक निश्चित अर्थ में अभिव्यक्त करने का प्रयास किया था। प्रयास इसलिये कह रहा हूँ कि उन्होंने इस शब्द को काव्य को समझाने के लिये गौण रूप में ही व्यवहार किया था। वे कहना चाहते थे, कि शब्द और अर्थ की परस्परस्पर्धी चारुता का साथ-साथ रहने का जो भाव है—साहित्य है—वही काव्य है क्योंकि केवल शब्द, काव्य नहीं हो सकता, वह कितना भी सुन्दर क्यों न हो। वीणा या वंशी की ध्वनि को हम काव्य नहीं कहते। इसी प्रकार केवल अर्थ वह चाहे कितना भी सुन्दर क्यूं न हो काव्य नहीं कहा जा सकता। शृंगार रस का मनोहर से मनोहर मूक अभिनय काव्य नहीं कहा जाता। अतएव शब्द और अर्थ दोनों का साहित्य आवश्यक है और उनका सुन्दर होना भी जरूरी है।

"जहां शब्द और अर्थ में 'पद' और 'पदार्थ' में, होड़ लग जाती हो कि कौन कितना सुन्दर है—शब्द सुन्दरता में अर्थ को मात दे रहा हो और अर्थ शब्द को मात दे रहा हो ऐसे ही, परस्पर स्पर्धी चारुता को साहित्य को कुन्तल 'काव्य' कहना चाहते थे। बाद में 'साहित्य' शब्द रचनात्मक शब्द कृतियों का नाम हो गया और आगे चलकर तो वह काव्य से अधिक व्यापक अर्थों का सूचक हो गया।'[2]

तेरहवीं से सत्रहवीं शती ई० के प्रसिद्ध साहित्य शास्त्रियों ने भी सृजनात्मक साहित्य अथवा काव्य के लक्षण बनाते हुए उसकी रमणीय अर्थवत्ता तथा रसात्मकता पर बल दिया है। प्रथम अर्थात रमणीयता वैशिष्ट्य के प्रतिपादक, पंडितराज जगन्नाथ

---

१ साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रतीकाप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थिति ॥१/१७

—वक्रोक्ति-जीवित' (कुन्तक) दसवीं शता ई०

२ कालिदास की लालित्य योजना' (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) अध्याय ८, (वाक और अर्थ का साहित्य—८७ ९१), पृष्ठ ८७ ८८

हुए जिनकी कृति रसगंगाधर (रचनाकाल १६५० ई०) परवर्ती काव्यशास्त्र में प्रमुख स्थान रखती है। इससे तीन शती पूर्व आचार्य विश्वनाथ ने अपने 'साहित्य दर्पण' (रचनाकाल १३०० ई० से १४५० ई०) में रसात्मकता-सम्बन्धी विशिष्टता को प्रधान माना था।

साहित्य विधा मानव की युगों की साधना का प्रसाद है। आत्मानुभूति के उपयुक्त माध्यम की खोज ने ही उसे साहित्यसर्जन की ओर प्रवृत्त किया। हृद्गत भावों की सूक्ष्मता एवं चित्रविचित्रता को वाणी द्वारा व्यक्त करना एक ऐसी निगूढ़ एवं कठोरतम साधना थी जिसमें सिद्धि प्राप्त करने के लिये मानव को न जाने कितने दीर्घकाल तक अविरत वाक्तप में प्रवृत्त रहना पड़ा। वाणीगत विशिष्टता की सिद्धि द्वारा मानव अपनी संस्कार-यात्रा की श्रेष्ठतम उपलब्धि तक पहुँच गया। यह नहीं कहा जा सकता कि कितने सुदीर्घ युगों के अवान्तर के पश्चात् मानव की सारस्वत प्रतिभा ने यह वाणीगत अथवस्था, रसात्मकता तथा चारुता प्राप्त की। किन्तु वाणी की इस पुण्यश्लाकता को ही समयान्तर में साहित्य की सबसे बड़ी विशिष्टता स्वीकार किया गया।

वाणी ही रसात्मक स्वानुभूति की सूक्ष्मतम स्फुरणा को वाक् विशेषता, *(विवरण) प्रदान करना चाहती है—व्याख्या देना चाहती है—वह किसी ऐसे माध्यम* द्वारा अभिव्यक्त होना चाहती है जो व्यष्टि एवं समष्टि के बीच रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ हो।

वाणी रसोन्मुखी प्रवृत्ति का मूलभूत एवं व्यक्त रूप है। अन्य विविध ललित कलाएँ (फाइन आर्टस) सभी वाणी की अनुवर्तिनी हैं। इसीलिये वाङ्मय का गौरव, शौर्य एवं सार्वभौम है तथा उसकी क्षमता एवं सामर्थ्य अनन्त अपार है।

शब्द वाणी की रसात्मक प्रवृत्ति के इंगित बनते हैं तथा भाषा उसका बाह्य परिवेप प्रदान करती है। वस्तुतः शब्द एवं भाषा वाणी के उन्मुक्त विलास में कोई स्वतन्त्र अथवा पृथक् महत्व नहीं रखते। उन्हें लयात्मिका एवं अन्तर्वेग प्रेरित प्रवाहमयी अभिव्यक्ति के लिये, कठोर अनुशासन स्वीकार करना पड़ता है, जिसके कारण शब्द एवं भाषा इतनी मात्रा में रूपान्तरित हो जाते हैं कि उनका लौकिक व्यापार में व्यवहृत होने वाला रूप, बहुधा पहिचाना भी नहीं जाता।

ऐसी अवस्था में शब्द समास वाक्यांश तथा वाक्य अपनी अपनी निजी वाग् विशेषता के कारण स्वतन्त्र एवं विशिष्ट अस्तित्व (इकाई) के रूप में अवतरित होते हैं तथा उनकी अपनी निजी और स्वतन्त्र सत्ता हो जाती है। दूसरे शब्दों में शब्दादि वाणी-संवृत्त शक्ति रूप हो जाते हैं और उसमें श्रोता अथवा पाठक की मन स्थिति में युगान्तर प्रवर्तित करने की सामर्थ्य निहित हो जाता है। भाषा के इस अलौकिक चमत्कारपूर्ण व्यापार के मूल में, जो अभिव्यंजना-समाकुलता, प्रच्छन्न रूप में प्रवाहित रहती है उसे हम साहित्यगत वर्णनोन्मुखी वृत्ति के नाम से अभिहित कर सकते हैं।

सृजनात्मक साहित्य का एक बहुत बड़ा अंश वर्णनात्मक है। हृद्गत सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम भाव बीजरूप में प्रस्फुटित होते हैं—वे वाणी का माध्यम पाने के लिये अंकुरित प्रस्फुटित प्रवाहित, पल्लवित होना चाहते हैं। यह प्रक्रिया यहीं भी रुकना नहीं चाहती और जब तक वह पुष्पित एवं प्रतिफलित होकर वाक्-वैभव विटप को अपनी अनुपम, रमणीय शोभा से आच्छादित नहीं कर देती, वह उत्तरोत्तर वर्णना की अपेक्षा रखती ही रहती है।

यह वर्णना प्रक्रिया बड़ी ही मनोरम एवं रहस्यात्मक है। सृजनी कवि अथवा साहित्य-स्रष्टा से वह बहुधा, आँख मिचौनी भी खेलती रहती है और उसे बारम्बार अपनी उक्ति को, फिर फिर नूतन परिवेश में उद्घाटित करने के लिये, उकसाती रहती है। यह क्रिया, उभय-आनन्द प्रदायिनी है—लेखक के लिये भी—जिसे भावन एवं विवेचन दोनों का रस अनुभूत होता है तथा पाठक के लिये भी, जिसे उसकी अनुमेयता एवं प्रतीयमानता की रसानुभूति में आकण्ठ निमग्न होकर अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति होती है। इसे मुहुर्मुहु मनन का 'काव्यानन्द' भी कहा जाता है।

'वर्णनात्मक' कृति कहलाने की अधिकारिणी रचना के निर्णय में भी, मतभेद हो सकता है। एक नजर में देखने से यह वर्णनात्मकता का गुण साहित्य में, सर्वत्र व्यापक जान पड़ता है। अतः यदा-कदा कोशकारों को भी इस ओर ध्यान देना पड़ा है। मानविकी पारिभाषिक कोश' में, 'वर्णनात्मक' शब्द की परिभाषा इस भाँति की गई है—

> वह रचना जिसमें वर्णन प्रधान हो। इस प्रकार की रचनाओं की रोचकता, पूर्ण रूप से वर्णन-कौशल और वर्णन विस्तार द्वारा नियन्त्रित होती है। ऐसी रचनाओं में प्रायः पात्रों एवं घटनाओं की संख्या सीमित होती है। यही कारण है कि साहित्यकार को वर्णन का सहारा लेना पड़ता है। उदाहरण के लिये हरिऔध रचित 'प्रिय प्रवास' वर्णनात्मक महाकाव्य है। किन्तु उसमें वर्णन-बहुलता एवं विस्तार के कारण, रचना की रोचकता की बहुत कुछ हानि हुई है।"

यथातथ्यता की दृष्टि से यह परिभाषा, पर्याप्त रूप से समाधानकारी एवं तलस्पर्शी है। इसमें वर्णनात्मक रचनाओं की तीन विशेषताओं पर बल दिया गया है—

(क) वर्णन प्रधान रचनाओं की रोचकता, रचयिता के वर्णनकौशल एवं वर्णन विस्तार द्वारा, नियन्त्रित होती है।

(ख) ऐसी रचनाओं में प्रायः पात्रों एवं घटनाओं की संख्या सीमित होना है।

(ग) वर्णन-बहुलता एवं वर्णन विस्तार के कारण, रचना की रोचकता में हानि होने की भी सम्भावना रहती है।

---

१ डिस्क्रिप्टिव वर्णनात्मक [मानविकी पारिभाषिक कोश (एनसाइक्लोपीडिया ऑफ ह्यूमनिटीज)] साहित्य खण्ड (राजकमल १९६५) सम्पादक डा० नगेन्द्र पृष्ठ ७७ (कालम २)।

उक्त परिलक्षित तत्वों पर यथावसर विवेचन किया जा सकेगा किन्तु जिस केन्द्रीय भाव पर उक्त परिभाषा पर मनन करने के पश्चात् अनुशीलन-कर्त्ता की दृष्टि टिकती है वह यह है कि साहित्य में वर्णनात्मकता, साहित्य-सृजन-कला का पर्याप्त जटिल एवं मुकम्मल व्यापार है और उसके द्वारा, समग्र सृष्टि की रचना के लिये, निकष का काम भी लिया जाता है।

अब वर्णन सम्बन्धी अन्य शब्दावली पर भी विचार किया जाना उचित होगा। उदाहरणार्थ— शब्द-कल्पद्रुम में वर्णन शब्द की व्याख्या इस भांति पाई जाती है—

'वर्णनम—(वर्णस्तुतौ विस्तारे रंजनादौ+ल्युट्)—स्तवनम् यथा 'भागवते १०/७८/३० विस्तरणम—शुक्लादिरणयोजनम् दीपनम। इति वर्णधातौ भाव नट् प्रत्ययेन निष्पन्नम।'[1] अर्थात् वर्णन शब्द का प्रयोग विस्तार स्तुति प्रशस्ति रंगों की योजना तथा अस्पष्ट स्थलों का दीपन अथवा उन पर प्रकाश डालना—इन अर्थों में, होता आया है।

उक्त विभिन्न अर्थों पर ध्यानपूर्वक विचार करने से ज्ञात होगा कि साहित्यगत वर्णनकला में उक्त चारों ही प्रक्रियाएँ सक्रिय रहती हैं।

उक्त कोश में ही वर्णनीय शब्द की भी व्याख्या की गई है—

वर्णनीयम—त्रि (वर्ण+कर्म्मणि+अनीयम) वर्णम, वर्णितव्यम (यथा साहित्य दर्पणे ६ परिच्छेदे)[2] वर्णनीय यथायागम सांगोपांग अमीरिह। वर्ण्य पदार्था—

अथ वर्ण्यानि कथ्यन्ते, तानि यानि कथाचर।
महाकाव्य प्रभृतिषु, प्रबन्धे बर्धा धरैः॥
राजा, राजवधू, पुरोहित, कुमारामात्यसेनाधिपा।
देश, ग्राम, पुरी, सर, अटवि, सरित उद्यामारण्या अभा॥
मन्त्री दूत रणप्रयाण, मृगयाश्वेर्मात्विनेदृग्ना।
विहारो, विरह, स्वयवर, सुरायुष्यामबु-खेला रतम्॥

(इति कविकल्पलतायाम १ स्तवके ५ कुसुम) स्तवाई। वर्णधात्वथ दर्शनात् यथा भागवत ३/२२/३७

एतसो आदिराजस्य, मनोश्चरितमद्भुतम।
वर्णित वर्णनीयस्य तदपत्यो द्वय शृणु॥

वर्णनीय शब्द का उपरोक्त व्याख्या से पता चलता है कि वर्णन के योग्य वस्तु एवं प्रसंगों को तीन संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है—वर्णनीय, वर्ण्य, और वर्णितव्य। तथा वर्णनीय शब्द का प्रयोग यथा योग्य सांगोपांग प्रसंगों के लिये प्रयुक्त होता था।

---

१ 'शब्द-कल्पद्रुम' पृष्ठ २८६
२ वही, पृष्ठ २८७

'वण्य' शब्द महाकाव्यो मे काव्यशास्त्रीय पद्धति के अनुसार वणन किये जाने वाले अवसरा के लिये प्रयुक्त हाता था। प्रबन्धा के सम्बन्ध म भी विशेष उल्लेख होने के कारण ऐसा ध्वनित होता है कि गद्यात्मक कथाओ के लिये भी निर्दिष्ट अवसरा के समावेश की अपेक्षा की जाती थी। तथा वर्णितव्य शब्द प्रशस्ति अथवा स्तुति के अधिकारी देवी देवता और धार्मिक तीर्थस्थानो आदि के उपाख्यान आदि के लिये प्रयुक्त हाता था।

हलायुध कोशकार[1] ने भी 'वणन' शब्द की व्याख्या के साथ ही साथ 'वणना' शब्द की भी पृथक व्याख्या दी है। वणन शब्द की व्याख्या निम्न भाति है—

वणनम्—क्ली० (वण स्तुतौ विस्तारे रजनादौ+ल्युट) वणना, स्तवनम् यथा—

इत्थम् निशम्य दमघोषसुत स्वपीठात,
उत्थाय कृष्ण गुरुवणन जातमन्यु।
उत्क्षिप्य बाहुमिदमाह सदस्यमर्षी,
संश्रावयन भगवते परुषाण्यभीत ॥

इति भागवत १०/७४/३० विस्तरम्, शुक्लादिवणयोजनम्, दीपनम्।[2]

'शब्द-कल्पद्रुम' के अतिरिक्त हलायुधकोश की परिभाषा मे 'वणन' शब्द के पर्याया म, वणना का भी समावेश हुआ है। किन्तु 'वणना' शब्द की पृथक व्याख्या भी उसने दी है जिससे जान पड़ता है कि समयान्तर म 'वणना' शब्द का अथ वणन से किंचित भिन्न भावाथ मे होन लगा था।

जहा तक कि वणन शब्द की व्युत्पत्ति एव व्याख्या का प्रश्न है, हलायुधकाश एव 'शब्द-कल्पद्रुम' म काई विशेष अन्तर नही जान पडता। किन्तु उदाहरण द्वारा 'हलायुध-काश'-कार ने यह इगित किया है कि मात्र प्रशसा के ही अथ मे ही नही वरन् उससे इतर सविस्तार कथन के लिये भी इस शब्द का प्रयाग होता था। अब वणना' शब्द की व्याख्या भी प्रेक्षणीय है—

वणना—स्त्री० (वण+णिच+युच+टाप्) गुणकथनम्, इडा, स्तव स्तोत्रम् स्तुति, नुति, श्लाघा, प्रशसा अथवाद—यथा—विदग्धा अपि वण्य न विटवणनया स्त्रिय। इति कथासरित सागर' ३२/१६६[2]

उक्त परिभाषा स यह प्रकट है कि गुणकथन स्तुति, प्रशसा, श्लाघा आदि के

---

१ हलायुध-कोश (अभिधान रत्नमाला) स० जयशकर जोशी (प्र० सरस्वती भवन वाराणसी कृते-सरस्वती भवन प्रकाशन माला १२ प्रकाशन ब्यूरो सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश द्वारा प्रकाशित। प्रथम प्रकाशन २०१४ वि०, पृष्ठ ५६१

२ हलायुध-कोश (अभिधान रत्नमाला), पृष्ठ ५६१

विशिष्ट प्रसंगों के लिये ही वर्णना शब्द का प्रयोग उचित माना जाता था तथा साधारण अर्थों में वर्णन शब्द का ही प्रयोग किया जाता था।

'मानक हिन्दी कोश' हिन्दी भाषा का अधुनातम (सन् १९६६ ई०) प्रामाणिक प्रकाशन है। पांच खण्डों में प्रकाशित इस महाग्रन्थ का प्रकाशन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन जैसी प्रामाणिक संस्था की ओर से किया गया है। कोश में 'वर्णन', 'वर्णना' एवं 'वर्णनात्मक' तीनों ही पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या इस भांति की गई है—

वर्णन—पु० (सं० वर्ण वर्णन करना, रंगना आदि + णिच् + ल्युट् + अन) अर्थात् (क) वर्णों अर्थात् रंगों का प्रयोग करना रंगना। (ख) किसी विशिष्ट अनुभूति, घटना, दृश्य, वस्तु, व्यक्ति आदि के सम्बन्ध में होने वाला विस्तारपूर्ण कथन जो उसका ठीक ठीक बोध दूसरों को कराने के लिये किया जाता है। (ग) गुण-कथन, प्रशंसा, स्तुति।

वर्णना—स्त्री० (सं० वर्ण + णिच् + युच् + अन टाप) अर्थात् (क) वर्णन। (ख) गुण कीर्तन।

वर्णनात्मक—वि० (सं० वर्णन—आत्मन्, बहुव्रीहि समास कप्) (कथन, लेख आदि) जिसमें किसी अनुभव, अनुभूति, दृश्य आदि का वर्णन हो या किया जाय।[1]

उक्त व्याख्या प्रस्तुत अध्ययन-अनुसंधान से इसलिए सीधे तौर पर सम्बन्धित है कि यहां वर्णन शब्द की उन सभी विशिष्टताओं का सर्वप्रथम समावेश किया गया है जो सभी आधुनिक साहित्य रूपों में पाए जाने वाले वर्णनात्मक प्रसंगों में हमें दिखाई पड़ती है। व्याख्या अपनी स्पष्टता एवं यथातथ्यता दोनों ही के कारण प्रायः सम्पूर्ण कही जा सकती है।

प्रो० मानियर विलियम्स ने अपने सुप्रसिद्ध संस्कृत अंग्रेजी कोश में वर्णन शब्द की परिभाषा दी है। उससे उसकी साहित्यिक प्रवृत्ति पर अधिक प्रकाश पड़ता है—

वर्णन आलेख (चित्रकला) रंगना (रंगों की आयोजना) रेखांकन वर्णन व्याख्या अलंकरण तथा शृंगार स्तुति गुणवर्णन।[2]

साहित्य में वर्णनात्मक कला के प्रस्तुत विवेचन की दृष्टि में रखते हुए प्रो० विलियम्स की परिभाषा अधिक साहित्यिक है तथा उसमें वर्णन की साहित्यगत सूक्ष्मता एवं कलात्मकता को अग्रभूमि में प्रतिष्ठित किया गया है।

प्रो० मानियर विलियम्स कृत संस्कृत अंग्रेजी कोश का एक अभिनव संस्करण सन १९५६ में प्रकाशित हुआ है क्योंकि उक्त प्राचीन कोश को प्रकाशित हुए उस

---

१ 'मानक हिन्दी कोश'—पांचवां खण्ड (व—ह) सं० रामचन्द्र वर्मा, मोहनलाल भट्ट हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग (सन् १९६६) पृष्ठ १७

२ 'वर्णन पेंटिंग आर्ट आफ पेंटिंग कलरिंग डिलीनिएशन, डिस्क्रिप्शन एक्सप्लेनेशन एम्बेलिशमेंट एण्ड डेकोरेशन प्रेज कमेंडेशन।
डेस्क्रिप्शन'—संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी (प्रो० मानियर विलियम्स) आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस १८९९ ई०, पृ० ९२५

समय तक लगभग सढ़सठ वर्ष बीत चुके थे। इस नये संस्करण में कुछ अर्थगत सूक्ष्म अन्तर भी है अर्थात् 'वर्णन' का एक अर्थ विशेष, 'कथा कहना' तथा 'कथा लेखन' भी माना गया है।[1]

आगे चलकर कतिपय आधुनिक पाश्चात्य समीक्षकों ने भी साहित्य के गुण-विशेष के रूप में 'डेस्क्रिप्शन' या वर्णन की ओर ध्यान देना प्रारम्भ किया। ज्यों-ज्यों वर्णनात्मकता को साहित्य विशिष्टता के रूप में लक्षित किया जाने लगा त्यों-त्यों समीक्षा क्षेत्र में 'वर्णन' शब्द की परिधि को लेकर वाद विवाद भी बढ़ता गया। 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' की सातवीं जिल्द में इस सम्बन्ध में ए० वुल्फ के ग्रंथ 'एसेंशल्स आफ साइंटिफिक मेथड' से जो टिप्पणी उद्धृत की गई है वह इस प्रसंग में पठनीय है—

"डेस्क्रिप्शन या 'वर्णन' का यथातथ्य अर्थ होता है 'पदार्थों' अथवा घटनाओं के प्रेक्षणीय गुणों अथवा विशिष्टताओं का ब्यौरा देना। इस अर्थ में 'डेस्क्रिप्शन' या 'वर्णन' एक्सप्लेनेशन अथवा व्याख्या शब्द से, बहुधा भिन्न कहा जाता है क्योंकि एक्सप्लेनेशन (या व्याख्या) दृश्यमान ब्यौरे के लिए उत्तरदायी, उन मूलभूत तथ्यों एवं प्रक्रियाओं का भी उल्लेख करता है जो कि साधारणतया पाठक की दृष्टि में नहीं आते।

'कट्टरपंथी विज्ञानवादियों का आग्रह है कि वैज्ञानिक विवेचन में, वर्णनकर्ता को, मात्र-वर्णन तक ही सीमित रहना चाहिए तथा उसे व्याख्या के प्रत्येक प्रयास से दूर रहना चाहिये। किन्तु वे भूल जाते हैं कि तथाकथित वर्णन में उस अंश के लिए, जो वस्तुतः व्याख्या है चोरी छिपे अथवा अनजाने में, विशद वर्णन अथवा व्याख्या का समन्वित हो जाना बहुत ही सहज व्यापार है। इसलिये जहाँ तक कि 'वर्णन' शब्द के प्रचलित व्यवहार का प्रश्न है, यह स्पष्ट है कि किसी भी पदार्थ या घटना का ऐसा मात्र-वर्णन सम्भव ही नहीं है जिसमें कि व्याख्या का समावेश न हो गया हो।'[2]

उपर्युक्त उद्धरण में वर्णन की परिधि अथवा सीमा निर्धारण का जो प्रश्न खड़ा किया गया है, उसे वर्णन की साहित्यिक कलात्मकता की दृष्टि से भुलाया नहीं जा सकता। वर्णन एवं व्याख्या का मिलाजुला होना तो साहित्यिक कृति के लिए कोई भी अप्रभावित बात नहीं है किन्तु उन दोनों के परस्परनियोजन की सूझबूझ एवं

---

१ वर्णन' (डेस्क्रिप्शन)—दि एक्ट आफ पेंटिंग, कलरिंग एण्ड सो फोर्थ एण्ड सो राइटिंग एम डब्ल्यू एम्बलिशमेंट, डेकोरेशन प्रेज कमेंडेशन।—ए संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी विद स्पेशल रेफरेन्स टु इण्डो-यूरोपीयन लैंग्वेजेज (सर मानियर विलियम्स) प्रथम प्रकाशन १८८६ ई०, मोन्नाटे द्वारा पुन मुद्रित (१९५६ ई०) पृष्ठ १२७

२ एसेंशल्स आफ साइंटिफिक मेथड (ए० वुल्फ) (प्र० १९२८ ई०)।

३ एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका—जिल्द सातवीं (१९४६ ई०) (दि यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो), पृष्ठ २४३

ये शाश्वत मूल्यों वाले महाकाव्य इतनी प्रौढ़ एवं परिष्कृत साहित्यिक शैली में अद्यावधि भी उपलब्ध हैं कि हम स्वयं ही उनकी साहित्य-गरिमा से अभिभूत हैं। ये आद्य महाकाव्य (जिन्हें इतिहास ग्रन्थ भी कहा गया है) आज भी भारतीय लोकमानस में समाये हुए हैं और उन्होंने युगों से भारतीय चिंतन एवं जीवन-दर्शन को सतत अनुप्राणित किया है। अनेकानेक पाश्चात्य मनीषियों ने उनकी अलौकिक छवि के दर्शन करके उनके रचनाकाल के बारे में तरह तरह की अटकलें लगाई हैं। वस्तुतः वाङमय एवं पौराणिक वाङमय का परिशीलन करके अब अधिकांश विद्वज्जन इस बारे में सहमत हो गए हैं कि आदि महाकाव्य—महाकवि वाल्मीकि कृत 'रामायण' की रचना ईस्वी शती के प्रवर्तन से कम से कम चार सौ वर्ष पूर्व हो चुकी थी। अतः अखिल भारतीय ललित वाङमय के आधार ग्रन्थ के रूप में उसमें दृश्यमान वर्णनात्मकता तथा उसमें प्रभासित वर्णनात्मक कला पर ही सर्वप्रथम दृष्टिक्षेप करना समीचीन होगा।

वाल्मीकि रामायण की वर्णनात्मक विशिष्टता तो आदिकवि द्वारा, प्रकृति निरीक्षण में पैनी अन्तर्दृष्टि एवं उनकी ऋतुओं के परिवर्तन से समुपस्थित क्षण क्षण में वेष बदलने वाली विशाल प्राकृतिक शोभा की चित्रात्मक शैली में अनुपम एवं सरल वर्णना द्वारा ही प्रकट हो पाई है। नैसर्गिक शोभा के सहज-सरल चित्रण द्वारा महाकवि ने अपने विश्वविश्रुत महाकाव्य में वर्णनात्मकता का दोहरा उपयोग किया है—एक ओर तो वे अपने कथानायक श्रीराम के हर्ष विषाद तथा तज्जनित आशा निराशा से उद्भूत विभिन्न मानसिक उथल-पुथल के साथ उनके प्राकृतिक परिवेश का तारतम्य स्थापित करते हैं तथा दूसरी ओर वे अपने पाठकों को—प्रकृति की विशाल एवं भयद मोहक गुरु-गम्भीर शोभा की चित्र-पटियाँ दिखा कर उनके मनोभावों के उदात्तीकरण में वास्तविक रसोद्रेक द्वारा उदात्त आध्यात्मिक धरातल पर ले जाना भी चाहते हैं। प्रकृति शोभा का यह श्रेयस्कर एवं उदात्त चित्रण आदिकवि की वर्णनात्मकता की अपनी निजी एवं मूलभूत विशिष्टता है।

गोदावरी के तीर पर जब श्री राम लक्ष्मण-सीता वनवास में सुखपूर्वक प्राकृतिक वातावरण में समय-यापन कर रहे थे उस समय हेमन्त ऋतु के आगमन पर कवि ने एक से बढ़ कर एक मनोरम वर्णनात्मक झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं—

कोहरे से ढँके हुए जंगल जिनमें गेहूँ और जौ के खेत हैं सूर्य के उदित होने पर बोलते हुए क्रौंच और सारस पक्षियों से शोभित हो रहे हैं।[१]

---

१ 'श्रीमद् वाल्मीकि रामायण' (ऋतु वर्णन समुच्चय भाग प्रथम) हेमन्त शोभा वर्णनम्, शीर्षक अध्याय श्लोक १६ (श्री विश्वनाथ गौड़ द्वारा सम्पादित कानपुर १९५२ ई०) तथा (मूल-पाठ की प्रामाणिकता के लिए—) श्रीमद् वाल्मीकि कृत रामायण (प्र० निर्णय सागर यन्त्रालय बम्बई)।

'बर्फ और पाले मे बढती हुई किरणो वाला सूर्य, पर्याप्त ऊँचा चढ जाने पर भी चन्द्रमा की तरह दिखाई दे रहा है।'[1]

'अत्यन्त प्यासा जगली हाथी बहुत ठण्डे पानी का स्पर्श करता है और फिर जल्दी से अपनी सूड को वापिस खेंच लेता है।'[2]

हेमन्त ऋतु सम्बन्धी उक्त तीनो उत्कृष्ट वर्णनो द्वारा वाल्मीकि की वर्णनात्मक-कला के निम्न तीन पक्षो पर प्रकाश पडता है। सर्वप्रथम वर्णन, वनान्तर तथा उसके बीच लहलहाते हुए गेहूँ और जौ के खेतो पर सूर्योदय का दृश्य है। रात्रि का अवशिष्ट कोहरा अभी भी खेतो पर अपना आवरण फैलाए हुए वन पर्वतो तक, इस प्रकार प्रसरित है कि पूरा प्रदेश एकमेक हो रहा है। शस्य श्यामल खेतो में क्रौंच और सारस पक्षियो की ध्वनिया उठ रही है। दृश्य-पट को समुपस्थित करने वाला देशकाल एव मुहूर्त का व्यजक यह वर्णन अपने में सरल एव सम्पूर्ण है।

दूसरे दृश्य में चढते हुए सूर्य के गोले का यथातथ्य चित्र खीचा गया है जिसमे तापहीन एव किरणो के प्रसार से रहित मध्याह्न में भी सूर्य के गोलाकार को इसी भाँति सरलता से देखा जा सकता है जैसे कि चन्द्रमा को। यह क्षितिज पर शीत के व्यापक प्रभाव के कारण, स्तब्ध वातावरण के व्याज से, ही सम्भाव्य था।

तीसरा दृश्य, गहन वन की एक सशक्त झाँकी है। जगली हाथी द्वारा प्यासा होने पर भी, जल की शीतलता के कारण हठात सूड हटा लेने का, बडा ही स्वाभाविक चित्र खीचा गया है। ऐसा चित्रण प्रकृति में सूक्ष्म निरीक्षण-दृष्टि द्वारा ही सभाव्य है।

बालि के वध और सुग्रीव के अभिषेक के पश्चात, माल्यवान पर्वत पर रहते हुए राम और लक्ष्मण, वर्षा ऋतु के आगमन पर परस्पर वार्तालाप कर रहे हैं। इसी प्रसग के अन्तर्गत, श्री वाल्मीकि ने वर्षा ऋतु के सम्बन्ध मे एक सुदीर्घ वर्णन प्रस्तुत किया है जिससे कुछ विशिष्ट अवतरण ही यहाँ उद्धत किये जाते हैं। उनमे से प्रत्येक श्लोक, वर्णनात्मक कला के किसी न किसी पक्ष पर, अभिनव उद्भावना को साकार करने में सफल हुआ है—

'कुटज और अर्जुन वृक्षो की पत्तियाँ, मेघ-रूपी सीढियो पर होकर, आकाश मे चढ कर, सूर्य को अलकृत करने मे समर्थ सिद्ध हो सकती है।'[3]

---

१ २ श्रीमद् वाल्मीकि रामायण ('ऋतु वर्णन समुच्चय', भाग प्रथम) 'हेमन्त शोभा वर्णनम्' शीर्षक अध्याय, श्लोक १८ एव २१ (श्री विश्वनाथ गौड द्वारा सम्पादित, कानपुर १९५३ ई०) तथा (मूल-पाठ की प्रामाणिकता के लिए)— श्रीमद् वाल्मीकि कृत रामायण' (प्र० निर्णयसागर यन्त्रालय, बम्बई)

३ शक्यम् अम्बर मारुह्य मेघ सोपान पक्तिभि ।
कुटजार्जुन मालाभि अलकर्तुम् दिवाकर ॥
—'श्रीमद् वाल्मीकि रामायण', तृतीय विभाग वर्षा वर्णनम् श्लोक ४

'बिजलियों की पताका धारण करने वाले और बगुलों की माला पहनने वाले पर्वत के शिखर के समान आकृति वाले मेघ, नाद करते हुए युद्धस्थल में स्थित, महा हाथियों की तरह, गर्जना कर रहे हैं।'[1]

मेघों में मिल जाने की इच्छा से उड़ते हुए प्रसन्न बगुलों की यह पंक्ति, रुचिर आकाश की लटकती हुई पवन द्वारा हिलाई जाती हुई, कमलों की श्रेष्ठ माला के समान सुशोभित हो रही है।[2]

बीच-बीच में छोटी छोटी वीर बहूटियों से चित्रित नई घास से आवृत्त हरे भरे प्रदेशों से पृथ्वी शरीर में लिपटे हुए शुक के समान हरे रंग वाले तथा बीच बीच में लाख से लाल रंग हुए परिधान से शृंगारयुक्त धरणी श्रीशृंगारयुता महिला के समान शोभित हो रही है।[3]

जल से धुले हुए पर्वतों के बड़े बड़े शिखर, जिन पर बड़े भारी झरने, भी मोतियों की लड़ियों की तरह लटक रहे थे अधिक शोभित हो रहे हैं।'[4]

उक्त वर्णन-पंचक में सर्वप्रथम कुटज और अर्जुन वृक्षों की तर राजि, अपने गहरे हरे रंग वाली घेरेदार आकृतियों के कारण सुदूर क्षितिज तक एक के पीछे एक उपत्यका पर चरती हुई सी मानो मेघों तक चली जाती हुई मौन्यिों के समान आकाश मण्डल को छूती हुई सी जान पड़ती है। इस दृश्य के चित्रण करने में महा कवि दृश्यावलि चित्रालेखक (लेण्डस्केप पेन्टर) की भाँति उसे साक्षात करने में समर्थ हुए हैं।

तदुपरान्त मेघमाला का मनोरम दृश्यपट महाकवि की वर्णनात्मक प्रतिभा का मानो साक्षात् चमत्कार है। मतवाले हाथियों की भाँति काले-काले मेघों का गर्जन तथा बिजलियों की पताकाओं जैसे गर्जन-तर्जन करने वाले पर्वत शिखरों के समान, महाकाय मेघ, बगुलों की पंक्तियों की माला धारण किये हुए, युद्ध प्रयाण में प्रवृत्त समर वाहिनी के रूप में चित्रित किये गए हैं। इस वर्णन में रूप ध्वनि एवं गति तीनों ही तत्वों का सफल समावेश किया गया है।

इससे आगे के श्लोक में, शुभ्र मेघों में लहराती हुई बगुलों की पंक्ति को, कवि ने कमलों की एक ऐसी श्रेष्ठ माला के रूप में वर्णित किया है जो आकाश में

---

१ विद्युत्पताकाः सबलाकमालाः शैलेन्द्रकूटाकृतिसन्निकाशाः ।
गर्जन्ति मेघाः समुदीर्णनादा मत्तगजेन्द्रा इव संयुगस्थाः ॥२०॥

२ मेघाभिकामा परिसम्पतन्ती सम्मोदिता भाति बलाकपंक्तिः ।
वातावधूता वरपौण्डरीकी प्रलम्बमालेव रुचिराम्बरस्य ॥२३॥

३ बालेन्द्रगोपान्तरचित्रितेन विभाति भूमिर्नवशाद्वलेन ।
गात्रानुपृक्तेन शुकप्रभेण नारीव लाक्षोक्षितकम्बलेन ॥२४॥

४ महान्ति कूटानि महीधराणां धाराविधौतान्यधिकं विभान्ति ।
महाप्रमाणैर्विपुलैः प्रपातैर्मुक्ताकलापैरिव लम्बमानैः ॥४८॥

—श्रीमद् वाल्मीकि रामायण तृतीय विभाग वर्षा-वर्णनम् ।

भटक रही हो और रह रहकर सहसा प्रभंजन प्रवाह में चपल हो उठती हो। इस वर्णन में मेघ-मालाओं में विहार करने वाली बग-पंक्ति की गति भी साक्षात् हो उठी है।

इसी वर्णनावलि के अंतिम श्लोक में, सुआपंखी झाईं वाली, हरे रंग की सारी पहने हुए वर्षाकालीन धरित्री की, जनपद-वधू के रूप में उद्भावना की गई है। नए घास के मैदानों पर लाल-लाल बीर बहूटियां मानो उसकी हरी सारी पर, लाख के रंग से चित्रित, लाल-लाल बुंदकियां बताई गई है। यहाँ रंगों की अनुयोजना एवं बिमल परिकल्पना, वर्णनकौशल द्वारा चिरस्मरणीय बन गई है।

आदिकवि वाल्मीकि के इस आदि महाकाव्य 'रामायण' से उद्धत, उक्त कतिपय वर्णनों के अनुशीलन से यह प्रकट है कि उनमें प्रकृति निरीक्षण की सभी उद्भावनाएँ सर्वथा अछूती हैं तथा उनमें परवर्ती रीतिबद्धता का आभास तक नहीं पाया जाता। कवि, एक बार वर्णित दृश्य की कभी पुनरावृत्ति नहीं करता। उसके वर्णन चित्र, सरल और स्वाभाविक हैं और 'सप्रयास अलंकरण' से सर्वथा मुक्त हैं। इस दृष्टि से उनका 'रामायण' महाकाव्य सभी परवर्ती प्रतिभाशाली कवियों के लिए, वर्णनात्मक वृत्त प्रधान रचनाशैली के लिये, सुदीर्घ-काल तक चिरंतर प्रेरणा का उत्स रहा है। साथ ही वह उनका वर्णनात्मकता के क्षेत्र में मार्गदर्शक भी सिद्ध हुआ है।

श्रीमद्वाल्मीकि द्वारा प्रवर्तित, भारतीय काव्य-परम्परा का निर्वाह करने वाले, एक से एक अनुपम प्रतिभा-सम्पन्न महाकवियों ने अपनी-अपनी उच्चस्तरीय शाश्वत साहित्य-सर्जना में उन्हीं की सहज एवं कलानुवर्ती वर्णनात्मकता को अपनाया है। भारतीय काव्य-साहित्य के शरत् प्रसन्न आकाश मण्डल में अनेकानेक जगमगाती नक्षत्र मालाओं के बीच, कालिदास की यश ज्योत्स्ना ने, मानो हमारे अखिल साहित्य जगत को आच्छादित कर लिया है। वाल्मीकि के समान कालिदास की वर्णनात्मक प्रतिभा भी अपनी निरुपम अभिव्यंजना के कारण अविस्मरणीय है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कालिदास को 'राष्ट्रीय कवि' की उपाधि प्रदान करते हुए उनकी कृतियों को, भारतीय लालित्य-योजना (एस्थेटिक्स) की रूपरेखा के रूप में, एक अभिनव प्रकाश में आलोकित किया है। कालिदास की रचनाओं के संबंध में एक पृथक अध्याय के प्रारम्भ में ही वे लिखते हैं—

> कालिदास कब इस देश में उत्पन्न हुए, इस विषय में पण्डितों में मतभेद है। परम्परातः से उन्हें सन ईसवी के पूर्व की प्रथम शताब्दी का कवि माना जाता है। परन्तु आधुनिक विद्वान उन्हें गुप्त काल का कवि मानने लगे हैं। यद्यपि उनके समय जन्मस्थान कुल-गोत्र आदि के बारे में विद्वानों में बहुत मतभेद है पर इस बात से किसी का मतभेद नहीं है कि वे हमारे देश के शीर्षस्थानीय कवियों में हैं। वाल्मीकि और व्यास के बाद, आसेतु हिमाचल, जो कवि, सबसे अधिक सम्मान का भाजन है वह

कालिदास ही है बहुत प्राचीन काल से ही उन्हें 'राष्ट्रीय कवि' की मर्यादा मिली हुई है। सकड़ो वर्ष तक कालिदास ने भारतीय मनीषा को प्रेरणा दी है और आज भी दे रहे हैं।"[1]

कालिदास के कलापूर्ण वर्णन, मानो किसी कुशल चित्रकार की रम्य एवं सुदुर्लभ कला प्रदर्शनी के समान हैं। स्वभावतः उनके कलात्मक वर्णनों में, उनके युग का उच्च स्तरीय संस्कार एवं कलानुराग भी प्रतिविम्बित है। वाल्मीकि की काव्यात्मक वर्णन शैली से कालिदास की वर्णन-कला की तुलना कुछ सम एवं विषम वर्णनात्मक तथ्यों पर प्रकाश डालती है। रामायण की तुलना उस गहन गम्भीर वन प्रदेश से की जा सकती है जो भक्तिभाव एवं आतंक मिश्रित, हर्ष विस्मय उपजाता है। उसके नागरिक भी सरल अकृत्रिम, प्रकृति-पुत्र है। कालिदास के काव्यों में वाल्मीकि के उक्त गुणों का समावेश भी प्रभूत मात्रा में हुआ है। किन्तु साथ ही साथ उनकी वर्णन-कला की परिधि में तपोवनों से लेकर राजमहलों तक के, प्रायः सभी कल्पनीय दृश्यों एवं वर्णनों का समावेश भी हो गया है।

कालिदास की वर्णन प्रतिभा के मूल में आदिकवि जैसी ही सूक्ष्म प्रकृति निरीक्षण दृष्टि तो है ही, साथ ही मानव शरीर एवं आकृति निदान वेष भूषा एवं चेष्टाओं का भी उनमें अत्यन्त सूक्ष्म एवं अनूठा वर्णन मिलता है। पर्यटन प्रिय होने के कारण उनके काव्यों में श्रीलंका से लेकर कैलाश शिखर तक की प्रादेशिक रूपाभा, छलछला रही है तथा उत्सवप्रिया मानवों सूक्ति के प्रवर्तक तो कालिदास हैं ही। अतएव साहित्य में वर्णनात्मक स्वरूप के अन्वेषण में कालिदास-काव्य का अनुशीलन तो अनिवार्य ही है।

कालिदास साहित्य विशाल वाग्वैभव से आप्यमान है। उनके तीनों महाकाव्य, तीन विविध वर्णनात्मक विधाओं के प्रतिनिधि काव्य माने जाते है। रघुवंश की परिकल्पना एक विशाल एवं भव्य महाकाव्य की पृष्ठभूमि पर की गई है। उसकी अवतारणा पार्वती परमेश्वर की पर्याप्त वागर्थमयी वन्दना के साथ की गई है। तत्पश्चात् एक कवि शिष्टाचार युक्त प्रस्तावना के बाद उन्होंने काव्य का प्रारम्भ राजा दिलीप एवं उनकी पत्नी सुदक्षिणा द्वारा पुत्रेष्टियात्रा द्वारा किया है। राजा दिलीप रथ पर आरूढ़ होकर महर्षि वशिष्ठ के आश्रम में पहुँचे तो उस अवसर का तपोवन वर्णन पाठक को वरबस ही मोह लेता है। तपोवन वर्णन तो कालिदास का प्रिय वर्ण्य विषय रहा है तथा वह प्रायः उनके सभी काव्यों एवं नाटकों में पाया जाता है।

रघुवंश महाकाव्य के त्रयोदश सर्ग में लंका विजय करने के पश्चात जब श्री राम पुष्पक विमान में अयोध्या को लौट रहे थे तो लंका से लेकर अयोध्या तक के

---

१ कालिदास की लालित्य योजना आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रथम संस्करण, १९६५ ई० अध्याय २ पृष्ठ ६ (नवल निकेतन काशी)।

मार्ग का वर्णन, 'रघुवंश' की एक वर्णनात्मक विशिष्टता का परिचायक है। सर्वप्रथम श्रीराम ने सीता को सम्बोधित करते हुए वह सेतु दिखाया जो उन्होंने लंका विजय के लिये, समुद्र में बांधा था —

हे वैदेही ! इस फेन से भरे हुए समुद्र को तो देखो जिसे मेरे बनाए हुए पुल ने, मलय पर्वत तक इस भाँति दो भागों में बांट दिया है, जैसे कि सुन्दर तारों से भरे हुए शरद ऋतु के खिले हुए आकाश को, आकाश-गंगा दो भागों में बांट देती है।"

'देखो ! दूर होने से पहिये की हाल (लोहे की पट्टी) के समान बहुत पतला, और ताड़ तमालादि वृक्षों के कारण नीला दिखाई देने वाला समुद्रतट, ऐसा जान पड़ रहा है जैसे चक्र की धार पर मोर्चा (जंग) जम गया हो।'

'यह देखो हम लोग विमानके तीव्र चलन के कारण क्षण भर में ही समुद्र के उस तट पर पहुँच गए जहाँ बालू पर मोती के फल जाने से मानो बिखरे पड़े हैं और फलों के भार से सुपारी के पेड़ झुके खड़े हैं।'

इस चिरस्मृत एवं चिरस्मरणीय वर्णनावली के श्लोक २, १५, १७ में वर्णित फेनिल सागर, उसको दो भागों में विभक्त करने वाला रामसेतु तथा तमालताली-वनराजि से श्यामल सागर तट रेखा से अंकित यह विहंगम वर्णन, अपने में अनुपम बन पड़ा है।

त्रयोदश सर्ग में ही, जिस समय पुष्पक विमान अयोध्या के चरणों में दीख पड़ने वाले गंगा-यमुना के संगम पर होकर उड़ रहा था तो उससे संगम का विहंगम दृश्य कैसा जान पड़ता था इसका वर्णन भी अपनी अनेक निजी विशिष्टताओं के कारण बड़ा ही कलापूर्ण बन पड़ा है—

यह काला-काला वही बड़ का पेड़ है जिसकी तुमने मनौती मानी थी। इसमें जो लाल लाल बड़-गोपलियाँ फली हैं, उनसे यह पेड़ ऐसा लग रहा है जैसे नीलम के ढेर में बहुत से लाल भरे हों।"

---

१ वैदेहि ! पश्यामलयाद्विभक्तं, मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम्।
छायापथेनैव शरत्प्रसन्नम्, आकाशमाविष्कृत चारुतारम्॥ २॥

२ दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी, तमालतालीवनराजिनीला।
आभाति वेलालवणाम्बुराशेः, धारानिबद्धेव कलङ्करेखा॥ १५॥

३ एतावयं पश्यत्वमिमानवेगात् पर्याप्त मुक्तापटलम् पयोधेः।
प्राप्ताभुजङ्गैर्न विमानवेगात् कूल फलावर्जितपूगमाल॥ १७॥
—कालिदास 'रघुवंशम्' त्रयोदश सर्ग (कालिदास ग्रंथावली) पृष्ठ १३६ ३८
(सं० श्री सीताराम चतुर्वेदी)।

४ त्वया पुरस्तादुपयाचितोयः सोऽयं वटः श्याम इति प्रतीतः।
राशिर्मणीनाम् इव गारुडानाम्, सपद्मरागः फलितो विभाति॥५३॥

' देखो यमुना की सावली लहरो से मिली हुई, उजली लहरा वाली गगा कैसी सुदर लग रही है ! कही तो यह चमकने वाली इन्द्रनीलमणिया से गुथी हुई माला जैसी लगती है। कही नीले और श्वेत कमलो की मिला जुली माला जसी दिखाइ पड रही है।[1]

कहा सावले रग के हसा से मिले हुए उजले रग के राजहस की पात क समान यह शोभित हो रही है कही श्वेत चन्दन से चौती हुई पृथ्वी पर बीच बीच म काले अगरु से वह, चीती हुइ सी लग रही है।[2]

कही-कही यह वृक्ष के नीचे की उस चादनी के समान लगती है, जिसके बीच-बीच म पत्तो की छाया पडी है और कही पर वह शरद ऋतु के उन उजले बादलो क समान जान पडती है जिनके बीच बीच म नीला आकाश झाक रहा हो।[3]

उपरोक्त गगा-यमुना-सगम का वणन आद्योपान्त विहगम चित्रालेखन पद्धति द्वारा रूपायित किया गया है। वटवृक्ष (अक्षयवट) की गहरी हरी शोभा के बीच, लाल लाल फलो का मणिया के समान चमकना, यमुना एव गगा की सितासित धाराओ की कही इन्द्रनील मुक्ताओ क सयोग सा दिखायी देना कही श्वेत एव नीलकमलो की मालाओ क परस्पर उलझन से तुलना करना, तथा कही पृथ्वी एव आकाश दोनो के क्रमश श्याम एव श्वेत वर्णों को चित्रालेख द्वारा व्यजित किया जाना वणनकला की दृष्टि से अत्यन्त विलक्षण एव अनुपम बन पडे हैं। विशिष्टतया श्लोक ५४ कलादि की दृष्टि से उत्कृष्ट है क्योकि उसकी प्रथम पक्ति म नभोमण्डल को श्वेत श्याम हसो द्वारा तथा भूमडल को सफेद चन्दन तथा अगर की शलाकाओ द्वारा चित्रित बताया गया है। उक्त कलात्मक वणन की विशिष्टता उसमे निहित कला सर्जन-वाचन उपयुक्त शब्द चयन म निहित है जिनके द्वारा उपमित वस्तु-सामग्री मानो साक्षात हो उठी है। पडो म से छन कर आने वाली चान्दनी और छाया की आशा क द्वारा गगा-यमुना की सितासित धाराओ को छायालखन अथवा सितकूट प्रणाली द्वारा प्रत्यक्ष करने म कवि ने अपनी वणनात्मक मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है।

जसा कि रघुवश आल वणनात्मक शोभाओ क प्रसग म प्रारम्भ मे ही सकेत किया गया है तपोवन-वणना का कालिदास की समग्र काव्य कृतियो म बडा महत्त्व रहा है।

---

१ क्वचित् प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलै मुक्तामयीयष्टिरिवानुविद्धा।
अन्यत्र माला सित पकजानाम् इन्दीवर उत्खचितान्तरेव ॥५४॥

२ क्वचित् खगानाम् प्रियमानसानाम् कादम्बसंसर्गवतीव पक्ति।
अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा, भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव ॥५५॥

३ क्वचित्प्रभा चान्द्रमसीतमोभि छाया विलीन शबलीकृतेव।
अन्यत्रशुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभ प्रदेशा ॥५६॥

—कालिदास— रघुवश त्रयोदश सग (कालिदास ग्रथावली)
पृष्ठ १४२ १४३ खण्ड १

हमारे अपने युग के विश्व-कवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'तपोवन' नामक अपने निबन्ध में 'रघुवंश' काव्य पर एक विहंगम पर्यवेक्षण किया है, जो मूल में ही आद्योपान्त पठनीय है—

रघुवंश का आरम्भ है संयम और तपस्या में और उसका उपसंहार है आमोद-प्रमोद में, सुरापान और भोग में। इस अन्तिम सर्ग में जो चित्र है उसमें काफी चमक दमक है, लेकिन जो अग्नि, नगर को जला कर सर्वनाश लाती है, वह भी कम उज्ज्वल नहीं है। तब पत्नी के साथ दिलीप का तपोवन निवास, सौम्य और हल्के रंगों से चित्रित है। ('रघुवंश के उपसंहार में) अनेक नायिकाओं के साथ अग्निवर्ण का, आत्मविनाश में प्रवृत्त जीवन अत्यन्त स्पष्ट रूप से, विविध रंगों से और ज्वलन्त रेखाओं से अंकित किया गया है।

"प्रभात शान्तिपूर्ण होता है—पिंगल जटाधारी ऋषि—बालकों की तरह पवित्र होता है। मोती की तरह स्वच्छ सौम्य आलोक लेकर, वह शिशिर स्निग्धा पृथ्वी पर, धीरे धीरे उतरता है और नवजीवन की अभ्युदय-वार्ता से, वसुधा को उद्बोधित करता है। उसी तरह कवि के काव्य में, तपस्या द्वारा स्थापित राजमाहात्म्य ने स्निग्ध, तेज और संयत वाणी से, महान रघुवंश के उदय की सूचना दी।

' विचित्र वर्णों के मेघजाल से आविष्ट संध्या अपनी अद्भुत रश्मियों से पश्चिमी आकाश को क्षण भर के लिये ज्योतिर्मय बना देती है, लेकिन देखते ही देखते, विनाश का दूत आकर, उसकी सारी महिमा का अपहरण करता है और अन्त में शब्दहीन कर्महीन अचेतन अंधकार में सब कुछ विलीन हो जाता है। उसी तरह काव्य के अन्तिम सर्ग में भोग वैचित्र्य के भीषण समारोह में, रघुवंश का नक्षत्र ज्योतिहीन हो जाता है।[1]

कालिदास कृत दूसरा महाकाव्य कुमार-सम्भवम् हिमालय-वर्णन से ही प्रारम्भ होता है। हिमालय शोभा का ऐसा भव्य चित्रण अन्य कोई भी कवि अद्यावधि नहीं कर पाया। वर्णन में हिमालय की गुरुगाम्भीर्य एवं अलौकिक प्राकृतिक सौंदर्य मानो वर्णन प्रतिभा द्वारा सदैव के लिए शब्दबद्ध हो गया है—

भारत की उत्तर दिशा में, देवताओं के समान वन्दनीय हिमालय नामक पर्वतों का राजा है। पूर्व और पश्चिम के समुद्रों तक फैला हुआ, वह ऐसा लगता है, मानो वह पृथ्वी को नापने का मानदण्ड हो।[2]

'हिमालय की कुछ चोटियों पर गेरू आदि धातुओं की अनेक रंग बिरंगी चट्टानें हैं। इसलिए कभी-कभी उन चट्टानों के पास पहुँचे हुए बादलों के टुकड़े उनके रंग की छाया पड़ने से संध्या के बादलों जैसे रंग-बिरंगे दिखाई पड़ने लगते हैं।"

१ 'प्राचीन काव्य' (श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर) 'तपोवन' नामक निबन्ध।

२ अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा, हिमालयानाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य, स्थितः पृथिव्या इव मानदण्ड ॥ १ ॥
—'कुमार सम्भवम्' [श्लोक १ तथा २] कालिदास प्रथम सर्ग पृष्ठ २०३

"जब चमरी मृग अपनी चन्द्रमा की किरणों के समान धौली पूँछों को, इधर उधर घुमाते हुए चलते हैं तब ऐसा प्रतीत होता है मानो वे इस पर्वतराज पर चँवर डुला कर उसका 'गिरिराज' नाम सार्थक कर रहे हों।'

भागीरथी के भरनों की फुहारों से लदा हुआ बार-बार देवदारु वृक्षों को कँपाने वाला और किरातों की कमर में बंधे हुए मोरपंखों को फरफराने वाला, यहाँ का शीतल मंद सुगंध-पवन उन किरातों की थकान मिटाता चलता है जो मृगों की खोज में, हिमालय पर इधर उधर घूमते रहते हैं।

इसकी ऊँची चोटियों पर की झीलों में खिलने वाले कमलों को स्वयं सप्तर्षि गण पूजा के लिए अपने सप्तर्षि मण्डल से आकर तोड़ ले जाया करते हैं। उनके चुनने से जो कमल बच रहते हैं उन्हें नीचे उदय होने वाला सूर्य अपनी किरणें ऊंचा करके खिलाया करता है।'[1]

हिमालय की उक्त चित्रावली में एक से एक अनूठी छवियाँ अंकित की गई हैं। श्लोक ४ में विविध धातुओं से मण्डित पर्वत शिखरों एवं मेघों के संयोग से समय से पूर्व ही, सन्ध्याराग की उद्भावना कवि की वर्णरंजनप्रियता को सूचित करती है। श्लोक १३ तथा १५ में हिमालय प्रदेश की प्रादेशिक विशिष्टताओं को चमरीमृग की पूंछों तथा किरातों द्वारा पहने गए मयूर पंखों आदि चित्र विचित्र पदार्थों के उल्लेख द्वारा रंग बिरंगी छवि में वर्णित किया गया है। १६ वें श्लोक में सप्तर्षि मण्डल एवं सूर्य आदि ग्रह ताराओं के प्रसंग से हिमालय के शिखरों की एकान्त उत्तुंग पवित्रता की उदात्त परिकल्पना की गई है।

पंचम सर्ग में जगत कवि ने पार्वती की तपस्या के प्रसंग को लेकर एक से एक अनूठी छवि-वर्णना की हैं जो अपनी स्वाभाविकता एवं कलायुक्तता दोनों ही के कारण—श्लोक ८ से लेकर श्लोक २६ तक—मूल में ही पठनीय हैं। इन श्लोकों में, पार्वती के तापस वेष एवं तपस् अर्जित दिव्य सौन्दर्य तथा उसकी सूक्ष्म किन्तु कमनीय शरीरयष्टि पर, बड़ी ही चिरस्मरणीय उद्भावनाएं की गई हैं। ये कवि की वर्णनात्मक प्रतिभा के रूपयष्टि चित्रण-पटु कलापक्ष पर प्रकाश डालती हैं। इस समग्र दृश्यावली एवं चित्रावली का चरमस्थल वर्षा की अँधेरी रात्रि का भयोत्पादक एवं भाव-गंभीर प्रत्यक्षीकरण है—

जिन दिनों घनघोर वर्षा के साथ साथ रात रात भर आँधियाँ चला करती थीं उन दिनों भी वे (पार्वती) खुले मैदान में पत्थर की पटिया पर ही पड़ी रहा

---

1 'कुमारसम्भवम्' कालिदास प्रथम सर्ग श्लोक १३ १५ १६ (कालिदास ग्रंथावली प्रथम खण्ड पृष्ठ २०३ २०५)।

रती थी। वे अँधेरी रातें, अपनी बिजली की आँखें खोल खोलकर, उन्हें इस प्रकार नहारा करती थीं, मानो वे उनके कठोर तप की साक्षी हों।"[1]

उपरोक्त वर्णन में पार्वती की कठोर तपस्या का चित्र खींचा गया है। तपस्या रत पार्वती भीषणतम शीत से भी, तनिक भी विचलित नहीं होतीं। विद्युत् की आँखें खोल-खोलकर देखने का उल्लेख भी सोद्देश्य है। कवि उस समय के घोर एकाकीपन को चित्रित करना चाहता है। इस प्रकार कालिदास ने 'कुमार-सम्भवम्' में एक से एक अनोखी कलात्मक चित्रपटियाँ आलेखित की हैं।

'मेघदूत', कवि का, मंजु पदावली से युक्त, वर्णन-काव्य है जो 'पूर्वमेघ' एवं 'उत्तर मेघ' दो भागों में विभक्त है। शाप द्वारा विरहित यक्ष, आषाढ़ के प्रथम मेघ से अनुरोध करता है कि वह उसका संदेश हिमालय में स्थित अलकापुरी में रहने वाली यक्षिणी के पास ले जाए। इस बहाने से, रामगिरि से लेकर, ध्रुव उत्तर तक के भारत की, प्राकृतिक शोभा की, एक से एक अनुपम चित्रपटियाँ, प्रस्तुत की गई हैं। समस्त मेघ-संदेश-काव्य ही, दृश्यावली चित्रांकन का, मानो सांगोपांग संग्रह है। 'पूर्व मेघ' में मालव-क्षेत्र का एवं 'उत्तर मेघ' में अलकापुरी की यक्षिणी-कन्याओं का प्रसाधन प्रणाली एवं वेशभूषा का, बड़ा ही अनुपमेय चित्रण किया गया है —

'देखो हे मेघ! फसल का होना या न होना, यह सब तुम्हारे ही अधीन है, यह जान कर, वे सरल जनपद-वधुएँ, जो नागरिक व्यवहार एवं कृत्रिमता से अपरिचित हैं, तुम्हें बड़े प्रेम और आदर भरे नेत्रों से, मानो पी लेना चाहेंगी। वहाँ तुम मालव देश के उन खेतों पर बरसते हुए जाना जिनसे कि अभी अभी जोते जाने के कारण, सोंधी सुगंध, निकल रही होगी।'[2]

यह चित्रपटी भारतीय कृषक ग्रामीण-संस्कृति की मानो प्रतीकात्मक कला-चित्रण है। आषाढ़ की प्रथम वर्षा के प्रति उल्लसमयी दृष्टि, मेघ की यात्रा, अभी-अभी जोते हुए खेतों आदि प्रतीकों के द्वारा एक विशाल दृश्यावली, कालिदास भूमि के

---

१ शिलाशयाम ताम अनिकेत-वासिनीम् निरन्तरास्वन्तरवातवृष्टिषु।
व्यलोकयन्नुन्मिषितैस्तडिन्मयैः महातपः साक्ष्य इव स्थिताः क्षपाः ॥२८॥
—'कुमार सम्भवम्', कालिदास, पंचम सर्ग, प्रथम खण्ड, पृष्ठ २३८
(कालिदास ग्रन्थावली)।

२ 'त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति, भ्रूविलासानभिज्ञैः,
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः।
सद्यः सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालम्,
किंचित् पश्चाद् व्रज, लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण ॥१६॥
—'मेघदूत', कालिदास, 'पूर्व मेघ', पृ० ३८६

सहयाग म जिनन महज-स्वाभाविक रूप म प्रस्तुत की गई है। उत्तर मेघ के प्रारम्भ म अलकापुरी की वनानुरागिनी संस्कृति का रंग बिरंगा चित्रण भी दर्शनीय है—

देखो वहा की कुलवधुएँ हाथो म कमल के आभूषण पहनती हैं, अपनी चोटिया म नए खिले हुए कुन्द के फूल गूथती हैं अपने मुखो को लोध्र के फूलो के पराग मल कर शुभ्रता प्रदान करती हैं अपने जूडे म नए कुरबक के फूल खोसती हैं अपने कानो पर सिरस के फूल धारण करती हैं और वर्षा म फूल उठने वाले कदम्ब के फूलो स अपनी माग सवारा करती है।[1]

मेघदूत के उक्त वर्णनो द्वारा भारत भूमि की चित्र विचित्र नैसर्गिक शोभा का मनोरम चित्रण तो सम्पन्न हुआ ही है किन्तु साथ ही उनसे काव्य की निर्मिति म भी पर्याप्त योग मिल पाया है। पूर्वमेघ म वर्षा-काव्य की विविध विशिष्टताओ का समावेश वर्णनो के माध्यम द्वारा बडे सहज रूप म किया गया है। इसके भी दो अंश है। प्रथम आषाढ के आगमन पर मेघो के उमडने से जो अभूतपूर्व समा बँध जाता है उसे रामगिरि के शिखर पर मेघ द्वारा वप्र क्रीडा वर्णन-माला द्वारा, साकार किया गया है। तत्पश्चात दक्षिण भारत से लेकर हिमालय के शिखरो तक की भारत दर्शन की अनुपम झाकिया दिखाई गई हैं जो अनेक होते हुए भी एक शृंखला म—मेघपथ के द्वारा—सजा दी गई है।

उत्तर मेघ म कवि ने वर्णनो द्वारा हिमालय की एकान्त उपत्यकाओ म फलने फलने वाले (अलकापुरी के) पार्वत्य जनजीवन का समग्र चित्रण प्रस्तुत किया गया है जो कलाभिमुख होता हुआ भी वहा की सामाजिक एव प्रादेशिक विशिष्टताओ को भी दर्शाता चलता है। इस भाति मेघदूत काव्य म कवि ने वर्णन प्रणालियो के विविध एव सफल प्रयोग किये है।

साहित्यगत वर्णनात्मकता की गरिमा का मूर्तस्वरूप प्रदान करने वाले भारतीय वाङमय के उक्त विभूतिद्वय-आदिकवि महर्षि वाल्मीकि तथा राष्ट्रकवि कवि कुलगुरु कालिदास का महाकाव्य-गत श्री एव चारुता की परिचायिका, कतिपय अति विशिष्ट, अविनश्वर, चिरस्मरणीय चित्रपटिया का यहा उल्लेख करने का अभिप्राय यही है कि जिससे इस देश की आद्य एव सर्वोत्कृष्ट साहित्य निधि म वर्णनात्मकता की सतत परिव्याप्ति का समुचित अनुमान किया जा सके।

---

१ हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं
नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः।
चूडापाशे नवकुरबकं चारु कर्णे शिरीषं,
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम् ॥२॥
— मेघदूत' कालिदास (कालिदास-ग्रन्थावली) खण्ड १ उत्तर मेघ, पृष्ठ ३५६

कविकुलगुरु कालिदास के नाम के साथ बहुश्रुत उक्ति द्वारा घनिष्ठ रूप से सहस्मृत महाकवि माघ, संस्कृत के वर्णन-समृद्ध काव्य साहित्य में, अविस्मरणीय एवं अनूठे वर्णनों के धनी होने के नाते, ख्यातनामा रहे हैं।[1] बहुधा संस्कृत महाकाव्यों के रसिक कालिदास, भारवि एवं माघ, सरस्वती के इन तीनों वरद पुत्रों को सहस्मृत करते रहे हैं। किन्तु जहाँ तक वर्णनों की अद्वितीय सूझ बूझ तथा सूक्ष्म काव्य-कल्पना के वाक्वैशिष्ट्य का प्रश्न है यदि कभी कालिदास के नाम के पश्चात् गणना करने वाले का अंगुष्ठाग्र सहसा 'अनामिका' की सीमा का उल्लंघन करके, किसी दूसरे नाम पर जा पड़ता है, तो वह नाम है, विलक्षण वर्णना प्रतिभा के धनी, महाकवि माघ का।

माघ का समय ईसवी सातवीं शती का अन्तिम चरण अथवा आठवीं शती का प्रथम चरण माना गया है। यदि कालिदास गुप्त युग में भी हुए हों तो भी माघ उनसे, लगभग ढाई सौ वर्ष पश्चात् हुए थे। इस बीच में संस्कृत काव्यों में रीतिबद्ध वर्णनों की परम्परा चल पड़ी थी। यद्यपि 'शिशुपाल-वध' में भी महाकाव्यों में निर्देशित सभी वर्णनों का समावेश पाया जाता है फिर भी अनेक ऐसे उत्कृष्ट वर्णनात्मक प्रसंग मिलते हैं जिनसे कि माघ के काव्य में उक्त गुणत्रयी की छटा, अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ प्रस्फुटित हुई है। वैसे तो समस्त 'शिशुपाल-वध' महाकाव्य, वर्णनों से ओत प्रोत है, किन्तु तृतीय सर्गगत, द्वारिकापुरी तथा समुद्र-वर्णन, चतुर्थ सर्गगत, रैवतक-पर्वत का वर्णन, नवम् सर्गगत, सूर्यास्त सन्ध्या, अन्धकार तथा चन्द्रोदय के वर्णन, एकादश सर्गगत, प्रभात-वर्णन, एवं द्वादश सर्गगत यमुना वर्णन के प्रसंग वर्णनात्मक कला के श्रेष्ठ उदाहरणों में गणनीय हैं।

माघ, प्रकृति की रंग बिरंगी छटा का चित्रण करने के अनुरागी थे और शब्दों के माध्यम द्वारा, रंगों की प्रेषणीयता में, उन्होंने विलक्षण पटुता प्राप्त की थी (जो हमारे अधुनातम छायावादी प्रकृति चित्रण की भी एक प्रमुख विशिष्टता रही है।) उदाहरणार्थ, ग्रन्थ के प्रारम्भिक भाग में, तीसरे सर्ग में, काव्य के प्रधान नायक श्रीकृष्ण की राजधानी द्वारिकापुरी की समृद्धि, उसकी कलात्मक भवन निर्माणकला तथा अनुपम द्वीपोपम सागरोद्गत चट्टानों पर स्थित, नगर शोभा के वर्णन, लालित्य के अनेक कलात्मक पक्षों पर प्रकाश डालते हैं। उदाहरणार्थ, काञ्चनवर्णी अथवा स्वर्ण निर्मित द्वारिकापुरी के उदधिजल में प्रतिबिम्बित होने की छवि के वर्णन को ही ले लें —

समुद्र के मध्य में दिशाओं को पिंगल-वर्णा बनाती हुई हेमप्रभा के समान, स्वर्णिम प्रकाश को विकीर्ण करती हुई (द्वारिकापुरी की) प्रतिच्छवि, तुरगकान्ता अर्थात्

---

१ उपमा कालिदासस्य, भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यम् माघे सन्ति त्रयोगुणाः॥
—संस्कृत लोकोक्ति

बाडवाग्नि की ज्योति माला के मुख में, हव्य-ज्वाला सी डालती हुई, समुद्र के जल को उल्लसित कर रही थी।[1]

द्वारिकापुरी का यह सविवरण एवं विलक्षण वर्णन, तृतीय सर्ग के तीस श्लोकों में चित्रित है तथा वे सभी एक से बढ़ कर एक अपनी मौलिक चित्र विचित्रता में अनूठे हैं यथा —

'द्वारिकापुरी का चक्रवत् घेरे हुए उत्तुंग प्राचीर (परकोटे) को देख कर, जिस पर कि अहर्निश चञ्चल सागर की लहरें उछल उछल कर उज्ज्वल शंख-समूहों की वर्षा करती रहती हैं—उस देवगिरि सुमेरु-पर्वत के स्वर्ण शृंगों का आभास मिलता है जिसके चारों ओर नक्षत्र मंडल (उडचक्र) विकीर्ण होता हुआ सा, जान पड़ता है।[2]

द्वारिकापुरी अपने रत्नों के व्यापार के कारण देश विदेशों में प्रख्यात् थी। द्वारिका की रत्न हाट में रत्नों के ढेर के ढेर लगे रहते थे। कवि ने समुद्र की लहरों के तल से रंग विरंगी छवि से चमकते हुए सूर्य के प्रकाश से जगमग रत्नों का, आलंकारिक ढंग से अनूठा वर्णन किया है —

द्वारिकापुरी के रत्नहाट में अमित कान्ति वाले रत्नों के ढेरों पर लुढ़कती चली आती हुई सागर की चञ्चल लहरों की संगति, द्युति विचित्र छटा उत्पन्न करती है। वे लहरें लौटती हुई अपने साथ कुछ रत्नों को भी बहा ले जाती हैं। इस भाँति द्वारिका की रत्न-हाट से चुरा चुरा कर रत्नों की राशि-संग्रह करके, सागर ने रत्नाकरता प्राप्त करली।[3]

तृतीय सर्ग के श्लोक ७० से लेकर अन्त (श्लोक ८२) तक समुद्रतट का वर्णन, बड़ी ही अनुपम शैली में हुआ है। श्रीकृष्ण अपने सैन्यदल के साथ जब समुद्रतट के सहारे-सहारे रैवतक पर्वत की ओर आगे बढ़ रहे थे तो इस प्रसंग में आए हुए समुद्र तट पर लहलहाते हुए ताड़ केतकी इलायची, लौंग नारियल तथा सुपारी के लता द्रुमों से परिपूर्ण वनों की शोभा के वर्णन (७९ से ८१ श्लोक) विशेष आकर्षक बन पड़े हैं।

वैसे तो माघ का यह समस्त महाकाव्य वर्णन प्रधान शैली में ही रचा गया है किन्तु चतुर्थ सर्ग में रैवतक पर्वत का सुदीर्घ वर्णन नैसर्गिक शोभा चित्रण में

---

१ मध्ये समुद्रं ककुभः पिशङ्गी या कुर्वती काञ्चनवप्रभासा।
तुरङ्गकान्तामुखहव्यवाहज्वालेव भित्त्वा जलमुल्ललास ॥३३॥

२ 'यस्याश्चलद्वारिधिवारिवीचि, च्छटोच्छलच्छङ्खकुलाकुलेन।
वप्रेण पर्यन्तचरोडुचक्रः सुमेरुवप्रोऽन्वयमद्रिरर्कः ॥३७॥

३ वणिक्पथे पूगकृतानि यत्र भ्रमागतैरम्बुभिरम्बुराशिः।
लोलैरलोलद्युतिभाजि मुष्णन् रत्नानि रत्नाकरताम् अवाप ॥३८॥

— शिशुपालवधम्' (महाकवि माघ) सर्ग ३ पृष्ठ १३४ १२७
[विद्याभवन संस्कृत ग्रंथमाला ८, चौखम्बा विद्याभवन बनारस–१ (१९५५)]

वाल्मीकि एव कालिदास के प्रकृति वणन से भी होड लगाने मे समथ है। यह वणन लगभग सम्पूण चतुथ सग म होकर फला हुआ है और इसी म महाकवि माघ न अपनी प्रख्यात् रमणीयता की परिभाषा भी दी है, जो मूल रूप म ही पठनीय एव मननीय है —

'श्रीकृष्ण उस अनुपम नसगिक शोभा स सम्पन्न रवतक पवत की शोभा को बारम्बार निहारने पर भी सतुष्ट नही होते थे क्योकि प्रत्येक क्षण म उसकी छवि कुछ और ही दिखाई पडती थी। सच है जो प्रतिक्षण नवता को प्राप्त करता है, वही रमणीयता का वास्तविक रूप है।[1]

उक्त श्लोक मे माघ ने 'अपूववत विस्मय' फलाने वाले रवतक की शोभा बताते हुए यह कहना चाहा है कि चाहे किसी लालित्यमय रमणीय पदाथ को हम पहले देख भी चुके हो फिर भी उसके हर बार देखने पर एसा जान पडता है, मानो हम उसे पहली बार ही देख रहे हो। क्षण-क्षण म नई शोभा धारण करने वाले रमणीयता-तत्व की, यही मूलभूत विशेषता है।

रवतक पवतमाला पश्चिमी समुद्र-तट के सहारे-सहारे फली हुई है और जब कि उसके पूव दिशा म उदय होने वाले बालसूय की स्वर्णिम छटा, उसके वाम पक्ष को, सुनहरी कान्ति स रजित कर रही है तथा उसके दक्षिण पक्ष को, समुद्र के जल म डूबता हुआ चन्द्रमा, अपनी रुपहली किरणों से रग रहा हो तब उसे देख कर कवि को एक एस महाकाय गजराज की शोभा का आभास मिला, जिसके कण्ठ म एक ओर सुनहरी डोरी म स्वण घण्टा लटक रहा हो और दूसरी ओर रुपहली डोरी म रौप्य घण्टा लटक रहा हो। चन्द्र और सूय की क्रमश रुपहरी एव सुनहली किरणो की घण्टा म बँधी हुई रुपहली और सुनहरी डोरियो से तुलना की गई है। यहा पर कवि की महत्कल्पना की उडान चिरस्मरणीय है।[2]

रवतक पवत पर सध्या-वणन का दृश्य भी बडी ही कलात्मक शली म चित्रित किया गया है। इसम रवतक पवत की तलहटी के, सागर के जल म डूबते हुए सूय की सुनहरी किरणो से, एक प्रकार के चमकीले सुनहरे रक्तिम रग म रगे जाने, तथा उसके शिखरो के, नीलकान्त-मणि से निर्मित मेघो द्वारा धारण की हुई विद्युल्लता को, इनकी सुनहरी कान्ति स रग जाने का अपूव दृश्य चित्रित किया गया है। सागर के तट पर तो प्राय नित्य ही, सध्या के समय, समुद्र से उठ कर बादलो के

---

१ दृष्टोऽपि शल स मुहुमुरारे, अपूववत् विस्मयमाततान।
क्षण-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपम् रमणीयताया ॥१७॥

२ उदयति विततोर्ध्व रश्मिरज्जाव हिमरुचौ, हिमधाम्नि याति चास्तम्।
वहति गिरिरयम् विलम्बिघण्टाद्वय परिवारित वारणेन्द्र लीलाम् ॥२०॥

—'शिशुपालवधम्', महाकवि माघ, चतुथ सग।

टुकडे तटवर्ती पहाडिया क शिखरा पर आ बठत हैं किन्तु कवि की उद्‌भावना यह है कि चातक की आत्त पुकार सुन कर मध घिर आए। इसीलिय नर्सागिक एव सहज रूप म प्रकृति चित्रण करने म महाकवि माघ न एक से एक अनूठी युक्तिया अपनाई है।"[1]

यहाँ महाकवि माघ के केवल एक और विशिष्ट रजन-कला विषयक वणन का दख कर यह प्रसग यही छोडना होगा। माघ रजन-कला (कलर पेंटिंग) के भी पडित जान पडत है क्योकि उनक द्वारा वर्णो का उपयुक्त चुनाव, स्वय अपन म, एक कौशल विशेष है।

पहाडो पर पीन क पानी की कमी क कारण जहा-तहाँ तालाब और बावडियाँ बना ली जाती हैं। माघ लिखत है कि रवतक पवत पर स्थित य वापी मोतियो जस चमक वाले (मुक्तागौर वण के) निमल जल म आपूयमान हैं जो इन्द्रनील मणि क टुकडो के शिलापट्टो स चारो ओर स बधी हुई है।

ऐसी बावडियाँ इन्द्रनील मणा स बरसन वाली मुक्तामणिया क समान, वषा क जल स भरी जाती रहती है। उन वापियो का जल मोतियो क समान शुभ्र होत हुए भी दूध के समान श्वेत वण और उनके इन्द्रनीलमणि क बन नीले घाटो क शस्त्री श्याम वण (चमकने वाले लाह की कान्ति) न मानो उन्हे, नील के रग से रग दिया है (अर्थात माना किसी ने उनम नील घोल दिया हो)। कवि का अभिप्राय एक ऐसे शुभ्र श्वत कान्ति वाले चित्रफलक (कैनवस) स है जिसक चारो ओर असितश्याम आभा वाला चौखटा जडा हुआ है।[2]

शिशुपालवध महाकाव्य के नवम् सग म सूयास्त निवण सध्या, तथा घनीभूत अधकार के तीनो वणना म, साध्यकालीन आकाश क एक क बाद एक बदलने वाले तीन रूपो का चित्रण बडा ही सूक्ष्म वण रजन-कला के साथ किया गया है।

सागर क जल म आधे डूब हुए सूयबिम्ब की जब कवि न उस हिरण्मय ब्रह्माड स तुलना की जिसको विधाता न सृष्टि क प्रारम्भ म द्विधा विदीण किया था और इस भाति इस चराचर सृष्टि का प्रवतन किया था (मनुस्मृति अध्याय १/८/१६) तो इसक लिय उसन निम्न शब्दो म विलक्षण वणनयुक्त उद्‌भावना की है —

---

१ स्थगयन्त्यमूः शमित चातक आर्तस्वरा
जलदा तडित्तुलितकान्त कार्तस्वरा।
जगतीरिह स्फुरित चारु चामीकरा
सवितुः क्वचित् कपिशयन्ति चामीकरा ॥२४॥

२ मुक्तम मुक्तागौरम् इह क्षामिवाभ्र वापीपु अन्तर्लीन महानील जलासु।
शस्त्रीश्याम अशुभिराशु द्रुतमम्भ छायामच्छामृच्छति नीलीसलिलस्य ॥४४॥
—'शिशुपालवधम्' (महाकवि माघ) सग ४

'तुरन्त पिघलाए हुए सुवर्ण से भरे हुए कुम्भ के समान, सागर जल म आधा डूबा हुआ सूर्य, ऐसी शोभा को प्राप्त हो रहा था, मानो, विधाता ने अपने नखो से ब्रह्माण्ड को अभी-अभी दो भागो म विभाजित कर दिया हो।'[1]

ऐसा सूर्यास्त का दृश्य केवल पश्चिम समुद्र म ही देखा जा सकता है जिसमे जलमग्न अर्धबिम्ब से सागर का जल, पिघले हुए स्वर्ण जैसा, झिलमिलाने लगता है तथा ऊपर के अर्धबिम्ब से सारा सान्ध्य क्षितिज, स्वर्ण-लालिमा से रजित हो उठता है।

कवि ने निवर्णा सन्ध्या का वर्णन जिस प्रकार किया है वैसा समस्त काव्य साहित्य मे अलभ्य है। वर्णहीनता भी एक गुण है, यह कह कर कवि ने आकाश की निवर्णता एव निस्तब्धता को, बडी ही सूक्ष्म व्यजना द्वारा परिलक्षित किया है। चित्र कला का कुशल पडित ही, माघ की निम्न सूक्ष्म उद्भावना के रहस्य को समझ सकता है—

जिसम तारिकाएँ अव्यक्त (अदृश्य) हैं चन्द्रबिम्ब भी अभी आखो से ओझल है, सूर्य अस्तगत हो चुका है, दिन का सताप शान्त हो चला है और अभी अधकार भी नही उतर पाया है, ऐसा अवसन्न अतमिस (सुरमई धुधलका) नितान्त गुणहीन होना भी एक गुण विशेष होता है और नितान्त वर्णहीनता भी एक वर्णता विशेष होती है।'[2] (चित्रकला का मर्मज्ञ ही माघ की इस सूक्ष्म उक्ति के रहस्य को भली भाँति समझ सकता है।)

रैवतक पर्वत की नैसर्गिक शोभा के अनूठे वर्णनो के प्रसग द्वारा, माघ ने अपने महाकाव्य म एक ओर वसतोत्सव के उल्लास तथा श्रीकृष्ण एव उनके सैन्य द्वारा वन विहार आदि प्रसगो का समावेश किया तथा दूसरी ओर उन्होंने, प्रकृति सौन्दर्य के उदात्त एव लालित्यपूर्ण वर्णनो द्वारा अपने पाठको को उत्कृष्ट काव्यानद भी प्रदान किया है।

महाकवि माघ के उक्त वर्णन शोभा-समन्वित काव्याशो पर, एक विहगम दृष्टि डालने पर ज्ञात होता है कि उनका मुख्य अभिप्राय, महाकाव्य मे आए हुए प्रमुख कथा प्रसगो को उनकी स्वाभाविक एव सहज पृष्ठभूमि प्रदान करना रहा है। महाकाव्य के प्रारम्भ मे आए हुए काव्य की प्रमुख केन्द्रीय राजधानी द्वारिकापुरी के मनोहारी एव सुबोध वर्णनो को ही ले लें। इन वर्णनो से समग्र काव्यगत रुचि-वशिष्टय पर प्रकाश पडता है। सुराज्य एव स्वराज्य म सुयोग्य एव प्रतापी अधिपति के आधीन,

---

१ द्रुतशातकुम्भनिभम् अशुमतो वपु अधमग्नवपुशा पयसि।
रुरुचे विरिचिनखभिन्न बृहत जगदण्डकैकतरखण्डमिव ॥६॥

२ अविभाव्य तारकम् अदृष्ट हिमद्युति बिम्बम् अस्तमितभानु नभ।
अवसन्नतपितम् अतमिस्रमाभाद् अपगीतव विगुणस्य गुण ॥१२॥
—'शिशुपालवध' (महाकवि माघ) नवम् सर्ग।

नागरिक जीवन के सुख समृद्धि सुरुचि, एवं लालित्य आदि सभी पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। श्रीकृष्ण जैसे सुयोग्य शासक के काल में यह सहज एवं स्वाभाविक ही था।

संस्कृत महाकवित्रयी वाली उक्त सुप्रचलित सूक्ति में संयोग से महाकवि भारवि का नाम कविकुलगुरु कालिदास के ठीक पश्चात तथा महाकवि माघ से ठीक पहले आया है। इस संयोग द्वारा यह अनुश्रुति पर्याप्त काल तक प्रचलित रही कि सम्भवतया महाकवि भारवि का समय कालिदास एवं माघ के बीच एक कड़ी की भाँति अवस्थित है। इस अनुमान से 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य के यशस्वी प्रणेता महाकवि भारवि छठी शती ई० के कवि माने जाने लगे। हरमन जकोबी नामक पाश्चात्य प्राच्यविद् ने भी जान पड़ता है कि उक्त सूक्ति में आए हुए कवित्रयी क्रम को ही स्वीकार कर लिया और इस भांति तत्कालीन प्रचलित मतानुगति (यूरोपियन् वाक्यम् प्रमाणम् !) के अनुसार अनेक भारतीय विद्वानों ने भी महाकवि भारवि को छठी शती ई० का ही कवि मान लिया।

वस्तुतः महाकवि भारवि का महाकाव्य किरातार्जुनीयम महाकवि माघ के पश्चात की काव्यकृति ही है। यह तथ्य काव्य की शैलीगत रीतिबद्ध प्रवृत्ति एवं काव्यलक्षणों से अनुशासित वर्णना पद्धति द्वारा प्रकट है। किरातार्जुनीय एक उत्कृष्ट कोटि का वीररस प्रधान महाकाव्य तो है ही साथ ही महाकाव्यगत वर्णनात्मकता की दृष्टि से भी उसकी गरिमा उपेक्षणीय नहीं है।

किरातार्जुनीय का कथानक महाभारत के अन्तर्गत आए हुए पाण्डवों के वनवास से सम्बन्धित एक सुप्रसिद्ध आख्यान पर आधारित है जिसमें कि यह बताया गया है कि अर्जुन दिव्यास्त्रों की प्राप्ति के लिए हिमालय में तपस्या करने जाते हैं। वहाँ शिव उनकी किरातवेष में परीक्षा लेते हैं और अन्त में उनकी धनुर्विद्या पटुता से प्रसन्न होकर, उन्हें दिव्यास्त्र प्रदान करते हैं। वर्णनात्मकता की दृष्टि से कुछ विशेष प्रसंग अधिक स्मरणीय हैं—यथा चतुर्थ सर्ग के अन्तर्गत शारदी शोभा एवं ग्रामशोभा का चित्रण तथा पंचम सर्ग में हिमालय की नैसर्गिक छटा का चित्रमय निदर्शन। कुछ वर्णनों में कवि ने वर्णनात्मक शैली के अभिनव प्रयोग भी किए हैं जब कि अनेक स्थलों पर उनमें वर्णनों की परंपरागत रीति को ही अपनाया गया है। महाकवि भारवि की वर्णनात्मक शैली की, नवीनता एवं मौलिकता के परिचायक कुछ स्मरणीय वर्णनों का ही यहाँ उल्लेख किया जा रहा है।

किरातार्जुनीय महाकाव्य के चतुर्थ सर्ग में वर्णित शरद् ऋतु में ग्राम शोभा के कुछ अविस्मरणीय वर्णन अपनी शैली एवं वस्तु दोनों ही की दृष्टि से अनूठे हैं—

गाँव की सीमा के समीप के कुछ भूखण्ड झुके हुए धानों की बालों से मनोहर जान पड़ते थे। कीचड़ का कहीं नामोनिशान तक नहीं रह गया था। कहीं-कहीं अभी

तक वर्षाकालीन जल से भरी हुई कुछ तलया दीख पडती थी। वे कमला के दलो से ढकी हुई जान पडती थी। शारदी शोभालक्ष्मी के दशन करके पाथ का मन प्रसन्न हो गया।[1]

'क्रम क्रम से जिसका कटिदेश क्षीण होता जा रहा था, जो वेगरहित जल से निर्मित तरगलेखाओ से अंकित थी, लहराती हुई रेशमी सारी की तरगो से जिसका प्रवाह शुभ्र एव किंचित् चचल था, ऐसी शरत्कालीन समुद्र-योषिता (नदी) के मृदु बालुकामय तट-देश पर पहुँच कर, अर्जुन का चित्त बडा प्रफुल्लित हुआ।'[2]

महाकवि भारवि की चमत्कारी लेखनी से चित्रित य दोनो ही वणन शारदी शोभा की शब्द चित्र शली की दो वणन चित्रपटिया ह। कविकुलगुरु कालिदास के पश्चात् भारवि ही सभवतया पहले संस्कृत महाकवि हैं, जिन्होन जनपदवधुओ की श्रमबिन्दुओ से रजित श्रीशोभा का भी रूपवणन किया है —

'अहीर टोला मे मन्थनदण्डा (रई अथवा मथानी) के सवेग घूमने से, वे दधिकुभ (दही के भर हुए मटके) मृदग जसी मन्थर ध्वनि मे गूज रह थे। उनकी गभीर मधुर ध्वनि का सुनकर मयूरियाँ उन्माद म झूमन और नाचने म प्रवृत्त हो जाती थी, क्योकि उन दधिभाडा का रणन मघा की मन्द्रगजन ध्वनि सा जान पडता था।'[3]

यह तो हुआ अर्जुन एव यक्ष का गाँव की गलियो म पहुँचने पर प्रथम अनुभव, किन्तु शारदी शाभा म मनारम, जिस बाह्य ग्रामीण अचल की शोभा आरम्भ के दो श्लोको म भारवि न वर्णित की है उसी के पश्चात् अर्जुन और उनका सहयात्री यक्ष, धान के खेतों की मेंड पर बठ कर सुस्तान लगे। वहाँ उन्होंने तीन ग्रामवधुओ को शालि की रक्षा करते हुए देखा —

धान की बालो की रक्षा म लगी हुई उन ग्रामवधुओ ने सूक्ष्म केशर किंजल्क (पराग) के जपापुष्पो का विभूषित करके, भौहो के मध्य म धारण कर लिया था—वे बडे ही नयनाभिराम जान पडते थे। उन्होने आलते से उन्ह अनुरजित कर रखा था—मानो बन्धुजीव के पुष्प ही उन्होन धारण कर लिए थे।[4]

हिमालय की शाभा के वणन के निमित्त ही कवि न पूरा पाचवा सग रचा है। इनम कितन ही वणन ऐस मनोरम शब्द चित्र प्रस्तुत करते हैं कि मूल मे ही पठनीय एव मननीय है—

---

१ विनम्र शालिप्रसवौघशालिनी जपतपका मसरारहाम्भस ।
ननन्द पश्यन्नुपसीम् स स्थली उपायनीभूतशरद् गुणाश्रिय ।।
—किरातार्जुनीयम् (महाकवि भारवि) श्लोक स०२ चतुथ सग ।

२ वही श्लोक ६, सग ४

३ वही, (महाकवि भारवि) श्लोक १६ चतुथ सग।

४ वही, श्लोक ६, चतुथ सग।

'हिमगिरि के उत्तुंग शिखर अनेकानेक चित्रविचित्र वर्णों वाली मणियों की प्रभा में रंजित रहते हैं। उन पर बर्फ के आवरण पड़े रहने हैं—इसीलिए वे देखने में बड़े शुभ्र (उजले) दिखाई देते हैं। उन पर जब मोटे रंग के बादल और उनमें झलकने वाला इन्द्रधनुष दिखाई पड़ते हैं तब—इस अपूर्व शोभा में यह पता नहीं चलता कि कौन-सी तो मणियों की प्रभा है और कौन-सा इन्द्रधनुष है! यह तभी उद्घाटित होता है जब कि मेघ मन्द-मन्द स्वर में गरजना प्रारम्भ कर देते हैं।'[1]

यक्ष ने अर्जुन के प्रति अंत में यों कहा—हे अर्जुन! यह नगाधिराज हिमालय अपने हिमधवल शिखरों से गगन मार्ग अर्थात् आकाशमण्डल को मानो दो भागों में विभाजित कर रहा है। यह हिमालय दर्शन मात्र से ही दर्शकों के पापपुंज का विनाश करने में समर्थ है।[2]

किरातार्जुनीय महाकाव्य के समग्र संविधान में वर्णनों का योग महनीय है। चतुर्थ एवं पंचम सर्ग तो क्रमशः नैसर्गिक शारदी शोभा वर्णन, ग्रामीण जीवन की झाँकियों के चित्रण तथा हिमालय वर्णन के शब्द चित्रों की चित्रावलियाँ ही हैं। षष्ठम एवं सप्तम सर्ग इन्द्र द्वारा प्रेरित अप्सराओं के नृत्य-संगीत प्रभिनयादि के विस्तृत वर्णनों से पूर्ण हैं तथा उसमें वन विहार, जल क्रीडा आदि के मनोविनोदों को भी विस्तार से वर्णित किया गया है। अन्तिम तीन सर्गों (अर्थात् सोलहवें, सत्रहवें, अठारहवें सर्गों) में किरात-वेषधारी महादेव तथा अर्जुन के बीच भीषण संग्राम के ओजस्वी वर्णन हैं। इनमें विविध प्रकार के युद्धों का विवरण-सहित वर्णन मिलता है। युद्ध-वर्णन की दृष्टि से ऐसा सांगोपांग वर्णन-कौशल बहुत कम संस्कृत कवियों के काव्य में मिलता है। सारांशतः किरातार्जुनीयम् महाकाव्य की आयोजना अधिकांशतः उनकी वर्णनात्मक वर्णन-मालाओं के आधार पर ही की गई है।

श्रीहर्ष-कृत नैषध चरित की रचना महाकवि भारवि के काल से, लगभग चार शती के पश्चात् की मानी जाती है। ये कान्यकुब्ज के प्रसिद्ध प्रतापी अधिपति जयन्तचन्द्र के राजकवि रहे थे। जयन्तचन्द्र का राज्यकाल सन् ११९४ ई० तक रहा था जो कि कान्यकुब्ज एवं काशी के साम्राज्य के विध्वंस की तिथि है। नैषध चरित की रचना बारहवीं शती के तृतीय चरण में हुई होगी ऐसा अनुमान किया जाता है। श्रीहर्ष ने अपने नैषध चरित में जयन्तचन्द्र के पिता विजयचन्द्र के पराक्रम का उल्लेख किया है। श्रीहर्ष को कैलासवन और नरभारती उपनाम से विद्वज्जन सम्मानित करते थे। कहा जाता है कि उनके नैषध चरित नामक काव्य को देवी सरस्वती ने अपने कर-कमलों में ग्रहण किया था और उसकी प्रशंसा की थी।

---

१ स सुरचापमनेकमणिप्रभैरपपयसा विशदं हिमपाण्डुभिः।
अविचलं शिखरैरुपबिभ्रतं ध्वनितसूचितमम्बुमुचां चयम्॥ १२॥
—किरातार्जुनीयम् पंचम सर्ग।

२ वही श्लोक १७ पंचम सर्ग।

'नपध चरित्', शिशुपाल-वध के समान व्यापक अर्थों मे वणन प्रधान काव्य तो नही माना जाएगा, किन्तु जहा कही भी कवि ने, वणनात्मक शब्द चित्र निरूपित किये हैं वही उनका वणन प्रतिभा, काव्यरसिक पाठको को आह्लादित कर देती है यथा— प्रथम सग में, जब राजा नल ने सरोवर मे स्वणिम राजहस का विश्राम करते हुए देखा उस समय का शब्द चित्र बडा रमणीय बन पडा है—

'जब राजा नल ने सरोवर म सोए हुए हस को एक चरण पर बठे रहने के कारण लज्जा से नीचे मुख किये हुए देखा ता उसे नाल-सहित सुवणमय कमल समझ लिया। उस समय वह राजहस मूगे की डडी पर स्थित हिरण्मय पीतवण वरुण देवता का चामर (चँवर) जान पडता था।'

तृतीय सग के प्रारम्भ म राजा नल का प्रणय सन्देश लेकर दमयन्ती के राज-उद्यान म उतरते हुए राजहस का वणन और भी सरल, स्वाभाविक किन्तु सूक्ष्म निरीक्षणयुता शली मे चित्रित किया गया है।

'वह राजहस आकाश मे मडलाकार चक्कर लगाने के बाद, अपने दोना सकुचित पखा से, अविलम्ब नीच उतर कर अपने बठने के स्थान पर पखो को फलाए हुए, उन्हे कँपाता और फडफडाता हुआ, दमयन्ती के निकट, भूमि पर आ उतरा।'[2]

नषध महाकाव्य की लोकप्रियता तथा ख्याति (प्रगटत उसके वणनेतर काव्य गुणा के कारण) अभूतपूव रही है। एक लोकोक्ति म तो यहा तक कह डाला गया है कि —

"तावद् भा भारव भाति, यावन्माघस्य नोदय ।
उदिते नषधे काव्ये, क्व माघ, क्व च भारवि ॥

(भारवि की आभा तभी तक भासित रही जब तक माघ का उदय नही हुआ, किन्तु 'नषध-काव्य' के उदित होने पर, कहा माघ रहे और कहा भारवि ?) किन्तु वणनात्मकता की दृष्टि से भी इस महाकाव्य का पयवक्षण करने पर, जो तत्व उभर कर आते हैं, उनको सार रूप म यो रखा जा सकता है।

माघ की तुलना मे, श्रीहष की इस कृति को देखने पर, दोना की वणन शली

---

१ सनालमात्मानन निर्जितप्रमम् ह्रिया नतम् काचनमम्बुजम् किम ।
अबुद्धतम् विद्रुमदण्डमण्डितम् सपीतमम्म , प्रभु चामर च किम् ? ॥१२२॥
—महाकवि हष प्रणीतम्, नषध-चरित् , पूव खण्डम्, प्रथम सग , पृ० ६८
(प्र० चौखम्वा सस्कृत सीरीज, वनारस, प्रथम सस्करण, १९५४)।

२ आकुचिताभ्याम् अथ पक्षतिभ्याम् नभोविभागात् तरसावतीय ।
निवशदेशा तत् धूतपक्ष ,पपात भूमौ उपभमि हस ॥१॥
—वही, तृतीय सग, पृष्ठ १३१

के बीच का अन्तर, स्पष्टतया दिखाई देता है। माघ नैसर्गिक शोभा के महाकवि हैं तो श्रीहर्ष, पदार्थगत अथवा वस्तुपरक कवि हैं। बाण के समान उनका साधारण ज्ञान व्यापक है और उनकी निरीक्षण प्रतिभा भी प्रखरतर है। उदाहरणार्थ, प्रथम सर्ग में श्लोक संख्या ५७ से लेकर ७३ तक १६ श्लोकों में वे उत्तम अश्वों के लक्षणों के, कलापूर्ण चित्रण में प्रवृत्त हो गए। यह तो उनकी कला-सर्वज्ञता का एक लघुतम पक्ष है। सारे महाकाव्य में ही श्रीहर्ष जब भी किसी वस्तु का वर्णन करने लग जाते हैं, तो बस किये ही चले जाते हैं। अपने देशकाल के प्रभाव के अनुसार उनकी वर्णनात्मक कला में, आलंकारिता तथा रीतिपरकता का समावेश अनायास ही हो गया है। फिर भी उनकी उद्भावनाओं में, पुनरावृत्ति और पिष्टपेषण कहीं भी नहीं मिलते। वरन् प्रत्येक स्थल पर पाठक उनके नव-नव वर्णन-कौशल से चमत्कृत सा रह जाता है।

इस भांति भारतीय वाङ्मय में वर्णनात्मक-कला की सर्वप्रथम भव्य साहित्य सम्पदा, हमें अपने संस्कृत महाकाव्यों की गौरवपूर्ण परम्परा में उपलब्ध है। वाल्मीकि से लेकर श्रीहर्ष तक (ई० पू० पाँचवी शती से १२वीं शती ई० तक) लगभग १७ सौ वर्ष की यह सुदीर्घ वर्णन वैभव-परम्परा हमें आज भी, अक्षुण्ण जातीय धरोहर के रूप में प्राप्य है। महाकाव्यों के अतिरिक्त अनेक रससिद्ध साहित्यकारों ने इस सुदीर्घ अन्तराय में, साहित्य सृजन में वर्णनात्मक-कला का नाटकादि विधाओं में भी सुन्दर समावेश किया है। उनमें हमें अनेक स्थलों पर, उच्चकोटि के वर्णनात्मक प्रसंग मिलते हैं।

भारतीय साहित्य के आधुनिक नवजागरण में अनेक भारतीय भाषाओं के महाकवियों पर उपरोक्त समृद्ध संस्कृत महाकाव्य-वर्णन परम्परा का गहन प्रभाव पड़ना ही था। प्रायः सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं में पल्लवित एवं पुष्पित समस्त काव्यगत वर्णनात्मक विशिष्टताओं पर उनकी गहरी छाप सहज एवं स्वाभाविक है। इसका कारण यही है कि भारतीय महाकाव्यों में, भारत की दार्शनिक, सांस्कृतिक एवं जीवन विषयक पृष्ठभूमि के सभी मूलभूत एवं महत्वपूर्ण पक्षों का वर्णनात्मक-कला की समान सरस विशिष्टताओं के माध्यम से, सम्यक समावेश किया गया है।

उक्त मूलभूत तथ्यों को इस भांति सारीकृत किया जा सकता है —

(क) भारतीय संस्कृति की आदि जन्मभूमि गहन गम्भीर वनों हिमाच्छादित पर्वत शिखरों एवं गिरि गह्वरों में निनादित नद-नदियों की उपत्यकाओं में जटित तपोवनों में रही है।

(ख) हमारी साहित्यिक एवं कलात्मक साधना की मौलिक अन्तर्चेतना, प्रकृति की गुरु-गम्भीर एवं ललित शोभा से प्रतिभासित एवं अनुप्राणित है।

(ग) भारतीय काव्यमानस कलात्मकता की विभिन्न एवं सर्वतोमुखी सूक्ष्मतम अभिव्यंजनाओं से, स्पन्दित एवं स्पन्दित रहा है। साथ ही रस, रूप, गन्ध स्पर्श,

ध्वनि की व्यंजक, सूक्ष्मातिसूक्ष्म विभिन्नताओं के अनुसंधान में भी उसे विशेष अनुराग रहा है।

(घ) भारतीय साहित्य साधना, जीवन के उदात्त, शाश्वत, लालित्यगत तथा आनन्दमय मानों में सुदृढ़ आस्था रखती रही है।

(ङ) वर्णन प्रधान काव्य-पक्ष में रससिद्ध महाकवियों की कला-मर्मज्ञता तथा उनकी साहित्येतर अन्य ललित कलाओं की विवेचना रह-रह कर पाठकों को विस्मय, हर्ष एवं आह्लाद प्रदान कर जाती हैं।

आधुनिक युग में भारत की विविध प्रादेशिक भाषाओं में, जिन अनेकानेक समानगुणधर्मी, वर्णनात्मकता बहुल, विशिष्ट महाकाव्यों की रचना हुई है, उनका परिचय मात्र भी प्रस्तुत किए जाने का यहाँ अवसर नहीं है। अतः केवल (समग्र भारतीय महाकाव्यों का प्रतिनिधित्व करने वाले) हिन्दी भाषा में ही विरचित, कतिपय ऐसे अतिविशिष्ट महाकाव्यों का विहंगम उल्लेख तथा उनका वर्णनात्मक परिचय ही यहाँ दिया जा सकता है जिनमें उपर्युक्त सहस्रों वर्षों से चली आती हुई महान वर्णनात्मक परम्परा, सर्वस अधिक मुखर एवं दृश्यमान हो पायी है।

आज से प्रायः ५९ वर्ष पूर्व (सन १९१४ ई० में) महाकवि 'हरिऔध' ने अपने प्रथम महान वर्णनात्मक हिन्दी महाकाव्य 'प्रियप्रवास' की रचना की थी। तदुपरान्त प्रायः एक पीढ़ी के अन्तर से (२१ वर्ष पश्चात) महाकवि जयशंकर 'प्रसाद' ने 'कामायनी' महाकाव्य की रचना (सन १९३५ ई० में) की। 'कामायनी' की रचना के भी लगभग एक पीढ़ी बाद तक हिन्दी काव्य साहित्य में किसी ऐसे विशिष्ट महाकाव्य का प्रणयन नहीं हो पाया जिसमें उपर्युक्त भारतीय महाकाव्यों की परम्परागत प्रकृति श्रीशोभा-समृद्ध वर्णनात्मक गरिमा से समन्वित साहित्यिक छटा का पुनर्सर्जन हो पाया हो। किन्तु यह हमारे साहित्य के लिये एक विशिष्ट गौरवास्पद सुसंयोग है कि 'कामायनी' की रचना के १९ वर्ष उपरान्त हमारे वर्तमान महाकवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने 'लोकायतन' नामक महाकाव्य की (सन १९६४ ई० में) अद्भुत सृष्टि की है।

जैसा कि कहा ही जा चुका है आधुनिक हिन्दी (खड़ी बोली) साहित्य में महाकाव्य शैली के प्रथम एवं रससिद्ध प्रवर्तक श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध रचित 'प्रियप्रवास' महाकाव्य को वर्णनात्मक महाकाव्य संज्ञा से अभिहित किया गया है —

श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' अपनी इस कृति की वर्णन-बहुलता से स्वयं अवगत थे। मानविकी कोश-कार का 'प्रियप्रवास' के सम्बन्ध में यह मत है कि—'उसमें वर्णन बहुलता एवं विस्तार के कारण रचना की रोचकता को बहुत कुछ हानि हुई है।'[1] किन्तु इस सम्बन्ध में स्वयं हरिऔध जी, अपने ग्रन्थ की भूमिका में, बहुत पहले ही अपनी ओर से इस प्रकार समाधान प्रस्तुत कर चुके हैं —

---

१ 'मानविकी पारिभाषिक कोश', साहित्य-खण्ड, पृष्ठ ७७

'रुचि-वैचित्र्य स्वाभाविक है। कोई संक्षेप वर्णन को प्यार करता है कोई विस्तृत वर्णन को। संक्षेप वर्णन में हृदय पर जो अधिक गहरा प्रभाव पड़ता है कोई उसको आदर देता है। कोई उस विस्तृत वर्णन से मुग्ध होता है जिसमें कि पूरी तौर पर, रस का परिपाक हुआ हो। निदान किसी ग्रन्थ की वर्णन शैली का प्रभाव, किसी मनुष्य पर उसकी रुचि के अनुसार पड़ता है। जो विस्तृत वर्णन को नहीं प्यार करता, वह अवश्य किसी ग्रन्थ के विस्तृत वर्णन को पढ़ कर, ऊब जावेगा। इसी प्रकार जिसको किसी रस का संक्षेप वर्णन प्रिय नहीं, वह अवश्य एक ग्रन्थ के संक्षेप-वर्णन को पढ़ कर अतृप्त रह जावेगा। मैंने अपने ग्रन्थ में वर्णन के विषय में मध्यपथ ग्रहण किया है।'[1]

महाकवि हरिऔध में, रूप एवं ध्वनि को, रमणीय प्रतीकों की सहायता से, शब्दों में व्यक्त करने की विलक्षण प्रतिभा थी। वे रंगों और नादों के सूक्ष्मतम कलात्मक लालित्य को अपने वर्णनों में उतारने में अपूर्व क्षमता रखते थे। प्रकृति के पट-परिवर्तन को, वे जिस सुकुमार क्रम में क्षण-क्षण नवता' की विविध-वर्णता के साथ, अंकित करते हैं वह विरले ही कवियों के काव्यों में पाई जाती है। इस दृष्टि से उनका प्रिय प्रवास महाकाव्य, अनेक स्थलों पर बड़ा ही मनोहारी वर्णनात्मक कला से चमत्कृत हो उठा है। उदाहरणार्थ काव्य के प्रारम्भ अथवा प्रथम सर्ग में यह वर्णनात्मक छवि अवलोकनीय है —

> 'दिवस का अवसान समीप था, गगन था कुछ लोहित हो चला।
> तरु-शिखा पर थी अब राजती, कमलिनी-कुल वल्लभ की प्रभा ॥१॥
> विपिन बीच विहंगम वृन्द का, कलनिनाद विवर्धित था हुआ।
> ध्वनिमयी विविधा विहगावली, उड़ रही नभमण्डल मध्य थी ॥२॥
> अधिक और हुई नभ लालिमा, दश दिशा अनुरंजित हो गई।
> सकल पादप पुंज हरीतिमा, अरुणिमा विनिमज्जित सी हुई ॥३॥
> झलकने पुलिनों पर भी लगी, गगन के तल की यह लालिमा।
> सरि सरोवर के जल में पड़ी, अरुणता, अति ही रमणीय थी ॥४॥
> अचल के शिखरों पर जा चढ़ी, किरण, पादप शीश विहारिणी।
> तरणि बिम्ब, तिरोहित हो चला, गगनमण्डल-मध्य, शनै शनै ॥५॥'

प्रिय प्रवास महाकाव्य का प्रारम्भ ही इस भाँति दिवस के अवसान में बड़े शान्त स्निग्ध वातावरण में, होता है। प्रकृति के केवल एक आवरण (भूड अफ

---

१ 'प्रिय प्रवास' श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध भूमिका पृ० ३१ प्रथम प्रकाशन, १९१४ (प्रस्तुत संस्करण १९५९ ई०, प्र० हिन्दी साहित्य कुटीर वाराणसी)।

नेचर) को व्यक्त करने के लिये कवि ने जिस सूक्ष्म अभिव्यंजना-कौशल से काम लिया है, वह एक चित्रकार के द्वारा चित्रित, साध्य दृश्यों के विविध चित्रपटों के सूक्ष्म वर्णन के समान, कला-पारखी की दृष्टि से ही पहचाना जा सकता है।

पहले दृश्यपट चित्र में, साध्य-आकाश की हल्की लाली के साथ साथ, ऊँचे पेड़ों की फुनगियों पर अस्तगत सूर्य की किरणों का सुकोमल प्रकाश, अंकित किया गया है।

दूसरे दृश्य पट में, केवल आकाशमण्डल का धूमिल, किंचित लालिमा लिये हुए शून्यता प्रधान चित्रण है जिसके बीच में, जहाँ-तहाँ अपने नीडों को लौटने वाली, विहग मडलियाँ दिखाई गई हैं। किन्तु कवि ने 'ध्वनिमयी विहगावली' पद द्वारा उस चित्र को सजीवता दे दी है तथा 'विहगम' शब्द द्वारा उसे चचलता भी प्रदान कर दी है।

तीसरे चित्र में, जलथल के एक समान लाल रंग में रंग जाने का, चित्रण मिलता है। यहाँ तक वृक्षों की घनी हरियाली भी, उस लाली में डूब सी गई जान पड़ती है।

चौथे दृश्य-पट में, सरोवर और सरिताओं के शान्त स्निग्ध जल की सतह का प्राधान्य है, जिसमें रक्तिम आकाश की लाली प्रतिबिम्बित होने से, उसमें और भी चटक लाल प्रकाश, झलक आया है।

और इसी दृश्य पटमाला का पाँचवा और अन्तिम चित्रपट है, वहाँ की पृष्ठभूमि वाले गहन वनान्तर का। इसमें एक ओर अस्तप्राय सूर्य की अन्तिम किरणों की हल्की-हल्की लाली पर्वत शिखरों से प्रखर रूप से, ऊपर से प्रारम्भ होकर नीचे की ओर को टीलों, उपत्यकाओं तथा पेड़ों के घने समूहों की ओर, नीचे आती हुई क्रम क्रम से मन्दी लाली तथा गहनता श्यामता ग्रहण करती हुई उतरती है और चित्र के दूसरी ओर के अधोभाग में, डूबते हुए सूर्य का, थोड़ा सा बिम्ब चित्रित किया गया है।

हरिऔध की यह दृश्यपट चित्रण-कला 'प्रिय प्रवास' महाकाव्य में, प्राय प्रत्येक सर्ग में ही, पहचानी जा सकती है। किन्तु उनके वर्णन कौशल की एक अन्य विशिष्टता, वर्णनों में ध्वनि (स्वन) तत्व का सूक्ष्मातिसूक्ष्म समावेश भी है जो केवल अत्यन्त वर्णन-पटु महाकवियों द्वारा ही साध्य है। निम्न पदों में, हम अनुभव किया जा सकता है —

> "ध्वनिमयी करके गिरि-कन्दरा, कलित कानन केलि निकुंज को।
> बज उठी मुरली इस काल ही, तरणिजा-तट राजित-कुंज में ॥६॥
> क्वणित मंजु विषाण हुए कई, रणित शृंग हुए बहु साथ ही।
> फिर समाहित प्रान्तर भाग में, सुन पड़ा, स्वर धावित धेनु का ॥७॥"[1]

---

१ 'प्रिय प्रवास'—प्रथम सर्ग, पृष्ठ २

इन दो पदों में कवि ने श्रीकृष्ण के मुरली-वादन को बड़े ही भावात्मक ढंग से व्यक्त करते हुए उसकी प्रतिध्वनि के गिरिकानन-सरिता-तट समग्र वातावरण में, क्रम क्रम से ध्वनित होने का शब्द चित्र प्रस्तुत किया है तथा दूसरे पद में विषाण और श्रृंग के तारस्वरों की मिलना के साथ-साथ बहुत सारी गायों के एक साथ दौड़ने से उत्पन्न पद चापों की ध्वनि विशेष को भी शब्दायमान कर दिया है।

प्रथम सर्ग के अंत में पद-संख्या ३२ से लेकर ४२ तक श्रीकृष्ण द्वारा वेणु वादन तथा उससे मुग्ध होने वाले गोकुल-वासियों का वर्णन करते हुए कवि ने स्वर माधुरी के उपकरण के द्वारा घन अंधकार की निस्तब्धता को और भी गहन बनाते हुए कुछ ऐसे वर्णनों की सृष्टि की है जो श्री हरिऔध की वर्णन कला के विशिष्ट अध्ययन की दृष्टि से बड़े अनूठे हैं। इसी प्रसंग में संध्या के रात्रि में परिवर्तित होने के विविध रूपों का पृथक् पृथक् वर्णन भी अवलोकनीय है —

'बज रहे बहु श्रृंग विषाण थे, क्वणित हो उठता वर वेणु था।
सरस राग समूह अलाप से, रसवती बनती मुदिता दिशा ॥३५॥
विविध भाव विमुग्ध बनी हुई, मुदित थी बहुदर्शक मंडली।
अति मनोहर थी बनती कभी, बज किसी कटि की कल किंकिणी ॥३६॥
इधर था इस भांति समां बँधा उधर व्योम हुआ कुछ और ही।
अब न था उसमें रवि राजता, किरण भी न सुशोभित थी कहीं ॥३७॥
अरुणिमा जगती-तल रंजिनी, वहन थी करती अब कालिमा।
मलिन थी नवरागमयी दिशा, अवनि थी तमसावृत हो रही ॥३८॥
तिमिर की वह भूतल-व्यापिनी तरल धार विकाश विरोधिनी।
जनसमूह विलोचन के लिये, बन गई प्रतिमूर्ति विराम की ॥३९॥
खग समूह न था अब बोलता, विटप थे बहु नीरव हो गये।
मधुर मंजुल मत्त अलाप के, अब न यंत्र बने तरु वृन्द थे ॥४०॥'[1]

उक्त पदों में अरुणिमा से कालिमा में तथा नवरागमयी से तमसावृत्त में परिवर्तित होने वाली धरित्री के पट परिवर्तन के पश्चात् अंधेर की प्रगाढ़ता का वर्णन भी अत्यन्त सक्षम है। अंधकार की निस्तब्धता को अंतिम पद में विहगों तथा पत्तों के मौन द्वारा, वर्ण ही वर्णनात्मक शैली द्वारा तीव्रतर बनाया गया है। ऐसे वातावरण में केवल वंशी की ध्वनि ही उस मौन की भाषा बन रही थी।

'विहग औ विटपी कुल मौनता प्रकट थी करती इस मर्म को।
श्रवण को वह नीरव था बना, करुण अंतिम वादन वेणु का ॥४१॥'[2]

---

१ 'प्रिय प्रवास'— हरिऔध प्रथम सर्ग, पृष्ठ ७—८
२ वही, पृष्ठ ८

विहग नीरवता उपरान्त ही, रुक गया स्वर शृंग विषाण का ।
कल अलाप समापित हो गया, पर रही बजती वर वंशिका ॥४२॥
विविध मर्ममरी करुणामयी, ध्वनि वियोग विराग विबोधिनी ।
कुछ घड़ी रह व्याप्त दिगन्त में, फिर समीरण में वह भी मिली ॥४३॥ [१]

उक्त पदों में 'पर रही बजती वर वंशिका' पंक्ति द्वारा, कवि ने सम्पूर्ण महाकाव्य के पारायण के पश्चात भी, जो समन्वित प्रभाव, पाठक पर छोड़ा है, उसकी यहाँ संवेदनात्मक प्राक्ध्वनि को तथा, निस्तब्धता में वंशी के एकाकी स्वर की मर्ममरी रागिनी के धीरे धीरे दिगन्त को परिव्याप्त करके नभ वायु में खो जाने की बात को अनुपम कलापूर्ण ढंग से व्यक्त किया है ।

प्रिय प्रवास महाकाव्य से उल्लिखित वर्णनकलाभिराम, एवं सूक्ष्म संवेदना को शब्दरूप प्रदान करने वाले, चिरस्मरणीय वर्णनों की वर्णनात्मक विशिष्टताओं के पीछे, उक्त संध्या वर्णन का काव्यगत अभिप्राय भी, हृदयंगम किया जाने योग्य है । 'प्रिय प्रवास' महाकाव्य के नामकरण से, उसके दुःख विषाद में पर्यवसित होने का आभास पाठक को नहीं मिलता क्योंकि उस व्रजभूमि के जीवन में साध्य अवसाद को छिन्न भिन्न करने वाले श्रीकृष्णचन्द्र का उदय एक ऐसी अभूतपूर्व घटना थी जिसने अखिल व्रजवासियों को अपने बीते हुए अत्याचारी शासन से सभी त्रास एवं आतंक के दुर्दिनों को, सर्वथा विस्मृत करा डाला था ।

श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व ही व्रज को नई चेतना एवं नवनिर्माण में प्रवृत्त करने वाली प्रेरणा का अक्षय शक्ति स्रोत बन गया था, जिसके मूल में उनकी संगीत नृत्यगत वंशीवादन की विलक्षण कला साधना, सतत् क्रियाशील रहा करती थी । किन्तु किसे पता था कि जिस मनोरम संध्या का कवि ने इतने चाव से इतना आमोद प्रमोद भरा वर्णन किया है, वह अपनी तरह की अंतिम संध्या होगी । वंशी की धुन के धीरे धीरे नभ वायु में खो जाने के बाद व्रज की कायापलट हो गयी । कवि ने उसी हृदय विदारक अन्त को मानो उस मर्ममरी रागिनी के धीरे धीरे विलीन हो जाने के द्वारा संकेतित किया है जिससे रसिक पाठक के मन को, सहसा आघात न लगे, और काव्य की रमात्मकता को भी आँच न आने पाए ।

'प्रिय प्रवास' महाकाव्य की वर्णन बहुलता ही उसकी सर्वाधिक निजी विशिष्टता है—चाहे आलोचक-वर्ग का एक पक्ष उसे उसकी मुख्य काव्यत्रुटि भी मान सकता है । वस्तुतः 'प्रियप्रवास' जैसे विलक्षणतया अभूतपूर्व काव्यग्रंथों पर, समीक्षा करने से पूर्व, इस उत्कृष्ट महाकाव्य का आद्योपान्त एवं बारम्बार पढ़ जाने की अपेक्षा रहती है । वस्तुतः 'प्रिय प्रवास' की शैली काव्यगूढ़ है और इसीलिए सभी पाठकों को वह समान रूप से, रुचिकर नहीं हो सकती ।

---

१ 'प्रिय प्रवास'—'हरिऔध', प्रथम सर्ग, पृष्ठ ८

'प्रिय प्रवास' का प्रत्येक सर्ग, एक चमत्कारपूर्ण एवं उत्कृष्ट वर्णन-कौशल से युक्त, चतुष्पदी से प्रारम्भ होता है। वह अपने में स्वयं भी एक मनोरम प्राकृतिक चित्रपटी है तथा उसकी विशिष्ट व्यंजकता इस बात में है कि वह उस सर्ग विशेष में आए हुए कथा प्रसंग पर, एक सांकेतिक तथ्य भी कह जाती है। इस दृष्टि से 'हरिऔध' वर्णनकला के ऊँचे आचार्य हैं और इस बार में 'प्रिय प्रवास' के प्रकाशन के युग में, काव्यमर्मज्ञों ने पर्याप्त विस्तार से उसकी समीक्षा की हो है।

श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' रचित उक्त उत्कृष्ट वर्णनात्मक महाकाव्य के प्रकाशन के २१ वर्षों के पश्चात श्री जयशंकर 'प्रसाद' कृत 'कामायनी' महाकाव्य प्रकाश में आया। 'प्रसाद' जी ने अपने इस विलक्षण महाकाव्य की आयोजना में फिर वाल्मीकि एवं कालिदास की गौरवपूर्ण वर्णन प्रधान शैली अपनाई। यही नहीं उन्होंने उसमें आधुनिक देशकाल के अनुरूप—अभिनव परिवेश के अनुकूल—एक विशिष्ट वर्णन-कलागत लालित्य योजना का भी समावेश किया। इसीलिए 'कामायनी' का प्रकाशन, अपने समय के हिन्दी काव्य जगत में एक बड़ी क्रान्तिकारी घटना मानी गई जिसने हिन्दी महाकाव्य की वृत्तात्मक प्रवृत्ति को लगभग एक पीढ़ी के अन्तराय के पश्चात पुनः आद्य भारतीय महाकाव्य की, जातीय धारा की ओर मोड़ दिया। इस वर्णनकला वैभव से युक्त महाकाव्य की अधुनातम अभिव्यंजना हम महाकवि सुमित्रानन्दन पन्त के 'लोकायतन' में मिलती है (जो 'प्रसाद' के महाकाव्य की रचना तिथि के एक पीढ़ी के अन्तराय, ३६ वर्ष के पश्चात स्थापित हुआ है)। वह भी इस बात का सुपुष्ट प्रमाण है कि 'कामायनी' के उपरान्त हिन्दी महाकाव्य शैली में उत्तरोत्तर वर्णन प्राधान्य और नव-नव विन्यास-योजना को अपनाने का प्रयास, निरन्तर ही, विकसित होता चला आ रहा है।

'कामायनी' महाकाव्य की वस्तु आयोजना प्राग्‌ऐतिहासिक मानव संस्कृति के नव प्रभात में नियोजित की गई है। किन्तु उसकी प्रकृतिगत पृष्ठभूमि वही गुरु गम्भीर वन-पर्वत-हृद-संकुल, विजन हिमाच्छादित हिमगिरि है जिसकी स्तुति के साथ, गहन अनुरक्ति एवं श्रद्धा-सहित कालिदास ने अपने 'कुमारसम्भव' महाकाव्य की अवतारणा की थी—

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर, बैठ शिला की शीतल छाँह।
एक पुरुष भीगे नयनों से, देख रहा था प्रलय प्रवाह॥'[1]

इस स्थल पर प्रसाद ने अपना अनुपम वर्णनात्मक-कला का परिचय देते हुए प्रागैतिहासिक जल प्रलय अनुभूति को प्रतीयमान वर्णन सरणी एवं रूप-वर्ण आयोजना द्वारा साक्षात् करने में, अपूर्व सफलता पाई है। ऊपर हिम और नीचे जल के बीच स्तब्ध तरुण तपस्वी अवस्थित था—

---

१ 'कामायनी'—श्री जयशंकर 'प्रसाद', प्रथम सर्ग 'चिन्ता', पृष्ठ ३ (प्रथम प्रकाशन, १९३५ भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग।)

'उसी तपस्वी से लम्बे थे, देवदारु दो चार खडे।
हुए हिम धवल जैसे पत्थर, बन कर, ठिठुरे रहे अडे ॥'[1]

हिम प्रदेश वनस्पति तथा जलथन म परिव्याप्त, कठोर शीत का व्यक्त करन के लिए, ठिठुर हुए हिमधवल देवदारुआ क ध्यान म, स्तब्ध प्रकृति का चित्रण, मननीय है। कोण शिखर (कोनिफरस) वनस्पति की पत्रावली सूक्ष्म से सूक्ष्म, वायु के झोको से, सतत कपित रहती है फिर भी उस समय हिमस्तब्ध होन के कारण, उनका सुस्थिर रूप, बडा ही असाधारण सा लगता है। यह तत्कालीन सृष्टि के उस असाधारण अवान्तर का प्रतीक है। चित्रकला की भाषा म इस सितासित आलेखन को सरल चित्र वणना' कहा जा सकता है।

'प्रसाद जी क उक्त महाकाव्यगत 'चिता', 'आशा' आदि प्रारम्भिक सर्गो म कलात्मक चित्र वणना, वणनात्मक मूल वृत्त तथा व्यजनात्मक अनुभूति-सकेत, बडे ही अनुपम बन पडे है। उनम स कुछ चिरस्मरणीय झाकिया ही यहा उद्धृत की जा सकती है यथा —

'उषा सुनहले तीर बरसती, जयलक्ष्मी-सी उदित हुई।
उधर पराजित कालरात्रि भी, जल मे अतर्निहित हुई॥
वह विवर्ण मुख, त्रस्त प्रकृति का, आज लगा हसने फिर से।
वर्षा बीती, हुआ सृष्टि मे, शरद विकास नए सिर से॥
नव-कोमल आलोक बिखरता, हिम-ससृति पर, भर अनुराग—
सित सरोज पर क्रीडा करता, जैसे मधुमय पिंग पराग॥
धीरे धीरे हिम आच्छादन, हटने लगा धरातल स।
जगीं वनस्पतिया अलसाइ, मुख धोतीं शीतल जल से॥
नेत्र निमीलन करती मानो, प्रकृति, प्रबुद्ध लगी होने।
जलधि-लहरियो की अगडाई, बार बार जाती सोने॥
इन्द्रनील-मणि महाचषक था, सोम रहित उलटा लटका।
आज पवन, मदु सास ले रहा, जसे बीत गया खटका॥'[2]

उपर्युक्त अवतरण म जलधि लहरिया स लेकर, इन्द्रनील मणि कथ आकाश' तक प्रकृति पट परिवतन का, भय एव मगल विस्मयोत्पादक वणना, एक ही स्थल पर, 'इन्द्रायुध-वण-योजना म अनुरजित की गइ है। कवि की उक्त वणयोजना की विशिष्टता इस बात म है कि इसी उत्तमोत्तम छायावादी शैली म रग बिरग प्रतीका क साहाय्य स, प्रकृति क प्रलयोपरान्त नवजागरण का मानवीकरण करन म विलक्षण सिद्धि पाई है। प्रथम तत्व न वाचक है, सुनहले तीर, कालरात्रि का जल म अतर्निहित (होना),

---

१ कामायनी —श्री जयशकर प्रसाद', सग १, चिता, पृष्ठ ३
२ वही, सर्ग २, 'आशा, पृष्ठ २३ २४

पीत वर्ण रेशमी हिमातप, अगों की आभा सा कोमल,
साँसों में रजगंध-समीरण जिसका अंचल घन छायाचल।
भरते पाण्डुर तरुन्त मर्मर धूलि धूसरित रिक्त दिगंतर,
ताम्र कलश सा, रश्मि हीन रवि वनगंधों से आकुल अंतर!
रजत कुहासे पट में सोया आम्र लोध्र किंशुक, शिरीष वन,
स्वप्न देखता स्वर्णिम मधु के मूंदे तंद्रिल किसलय लोचन!
गंगा-तट कंप उठता थर थर ठिठुरा सा हंसय वीचि पंख जल,
उड़ने को छटपटा क्रौंच-सा सटा मूक रेती पर घायल!
लोक चेतना सी ही खोई श्रान्त क्लान्त ठिठकी जलधारा—
सुन्दरपुर के ग्रामराज्य का जीवन यात्री हो पथ हारा।"[1]

उक्त पंक्तियों में पन्त का वही चिरपरिचित रूप छविवर्णन छल छल छलकता है। केवल कवि की वर्णन प्रतिभा और भी अधिक सांकेतिक तथा और भी अधिक व्यंजक होती जाती है।

ग्राम शिविर नामक द्वितीय अध्याय के उपविभाग के प्रारम्भ में ही, ग्रामवधू की छवि वर्णन छटा भी अविस्मरणीय है। अनूठे कलायन्जक पन्नों द्वारा कवि ने, मानो सारे ग्रामीण अंचल की नैसर्गिक एवं लौकिक शोभा को ही साक्षात रूप दे डाला है—

नवल वधू बैठी खेतों में या हिम ऋतु अब छाई घर घर।
किसने हल्दी मलदी उसके अंग खिले कोमल अंगों पर?
लहराती पीली सरसों से स्नेह गंध उड़ती रस भीनी
फहराती उड़ हलकी आबी कुहरे की चूनर कंप झीनी।
ग्रामवधू वह विस्मय-स्फारित जल में ढ्वे नभ सी चितवन
या वह तीसी खिली छरहरी खोले नीले निरलस लोचन।
हिमजल के मुक्ताभरणों से शोभित कंपता फूलों का तन
स्वप्न मौन स्मृति मन को भाते माघ मास के हेम गौर क्षण।
हरी मखमली हरियाली का झूल रहा लहंगा भू छूकर,
अठखेली खेलता पवन शठ लचकीले तन में उभार भर।
रोमांचित हंस उठते भू-अंग जौ गेहूँ में आई बाली
छोटी सी फलियां मटर की आशा में छाई मद लाली।
अब मदराये वन तरुओं पर गंधमत्त मंडलाते अलिदल,
सूप आम्र मंजरियों का मुख जगा रहे गा गा नर कोयल।"[2]

---

१ लोकायतन—सुमित्रानन्दन पन्त अध्याय २ जीवनद्वार उपविभाग १ युगम', पृष्ठ ४०–४१
२ वही, अध्याय २ 'जीवन-द्वार' उपविभाग २, ग्राम शिविर, पृष्ठ ६१ ६२

टेसू निज रक्तिम शुकनासा, अभी छिपाए छुट पुट भीतर,
पीपल की चिनगी से कोंपल कभी फूट कढ आएँ बाहर।
क्षितिज नील नयना गाँवों की हरीभरी भू हरती जन मन,
हसती रज, हसती हरीतिमा, हसती दिशि हसते अनिमिष क्षण।
मूर्तिमती ऋतु की शोभा सी, तुहिनों की तनिमा में न्हाई
सुघर सिरी सी खडी द्वार पर, शुभ्र उषा सी सहज लजाई।"[1]

लोकायतन' में चित्रित ग्राम शिविर प्रसंग में, जिस ग्रामशोभा का कलापूर्ण चित्रालेखन किया गया है वह उनके बीस-पच्चीस वर्ष पहले लिखी गई मुक्तक कृति ग्राम श्री' से तुलनीय है।[2] इन दोनों वर्णनों का एक के बाद एक पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाएगा कि पन्त की काव्यगत वर्णनात्मक कला को जब स्फुट कविता के सीमित दायरे को लाघ कर, महाकाव्य की उदार भूमि मिली, तो वह किस सहज उल्लास और विलास के साथ विकसित एवं पल्लवित हो उठी। वस्तुत लोकायतन' काव्य में ही, कवि की नैसर्गिक छटा के चित्रण को पूरा पूरा विकास प्राप्त हुआ है। उपर्युक्त वर्णन उसका एक रमणीय उदाहरण है।

इस अनुपम इन्द्रधनुषी छवियुक्त वर्णन में कवि के पुराने वर्ण प्रतीकों के प्रयोग की छटा के साथ ही साथ कितने ही अभिनव रंग किरणें, रंग प्रतीक भी पाठक के मन को अनुरंजित कर जाते हैं, यथा शिशिर ऋतु का हल्दी से अभिषेक और उसकी सूचक लहराती पीली सरसों की रसभीनी स्नेह गन्ध, हल्की आबी कपभीनी कुहरे की चूनर, छरहरी किली तीसी के निरलस नीले लोचन हिमजल के मुक्ताभरण माघ मास के हम गौर क्षण, हरी मखमली हरियाली का झूलता हुआ लहगा, टेसू द्वारा अपनी रक्तिम शुकनासा का छुपाया जाना पीपल की चिनगी सी कोंपल, क्षितिज-नील नयना हरी-भरी भू हँसती रज, हँसती हरीतिमा, हँसती दिशि हसत अनिमिष क्षण, आदि आदि।

लोकनृत्यों का वर्णन, छन्दों मे, वर्णनात्मक काव्य प्रतिमा द्वारा यसे साकार होता है इस कला मे भी कविवर पंत माहिर हैं—

सृष्टि मुद्रा रच, सुन्दर पद्म, लोकप्रिय भावपूर्ण कर लास,
मुकुल रच भ्रमर हस प्रिय शख, ध्वजा मुद्रित कर शक्ति विकास।
युवक युवती जन रचते रास, भृंग कलिका से, लघु-पद भार,
तरंगित कर भावों का सिंधु, खोल गोपन अतस रस द्वार।[3]

---

१ लोकायतन सुमित्रानन्दन पंत, अध्याय २, उप विभाग ७, ग्राम शिविर', पृष्ठ ६१–६२

२ 'ग्राम श्री सुमित्रानन्दन पन्त आधुनिक कवि माला—२, पृष्ठ ६३–६७ (हिन्दीसाहित्य सम्मेलन प्रयाग १९५५ ई०)।

३ 'लोकायतन', खण्ड २, उप विभाग सस्थान, अध्याय ३, कलाद्वार, पृष्ठ १८२

धरा ही जन अंगों का पर्व, देह में हो आत्मा चरितार्थ,
रूप में पूर्ण प्रस्फुटित भाव, मर्त्य जीवन में स्वर्ग कृतार्थ !
अप्सराओं सी जिनमें नित्य, मुग्ध षड्ऋतुएँ करतीं नृत्य,
सृष्टि के उसी छंद में बद्ध, जगत् जनजीवन हो कृतकृत्य !

लोक-नृत्यों से ले पद्न्यास वेशभूषा, स्वर लय विन्यास,
छात्र रचते मोहक सहनृत्य, हृद मन में भर भाव हुलास !
सीखतीं ग्राम स्त्रियाँ अज्ञात, रंग मंत्री सज्जा शृंगार,
अंग सौष्ठव जीवन उल्लास, कलारचिनोल सुघर आधार !

वाद्ययंत्रों की ध्वनि गंभीर, अचेतन भूतम देती चीर,
मंद्र गुरु सुन मृदंग की थाप, कांप उठता दिङ्-मौन अधीर !
वाद्य मंत्रों की तरल तरंग, मिटाती जनमन का औदास्य,
गूँजता गगन भावस्वर मत्त, ग्राम भू रचती जब रस लास्य !

मधुर वीणा करती झंकार, भ्रम मधुवन भरता गुंजार,
बाँसुरी की धुन स्वर्णिम टेर, काल का हरता मन से भार !
खनक उठते मंजीर अमंद, ताल देते तन्मय तृण पत्र
ठनकते कांस्य गमकते ढोल, नाद का खुलता नभ में छत्र !

सुषिर तत के संग घन-आनद्ध, फूँकते जनमन में नव प्राण !
सिहर उठता भू गुहा विषाद, जाग उठती जन भू म्रियमाण !
दिशाओं से आप्रतिध्वनि गूढ़, क्षितिज श्रवणों में कहती भेद
नाद ही जीवन का उन्मेष, नाद ही सृष्टि नाद ही वेद !

झाँझ, ढफ चंग मुरज बज संग, हृदय में भरते मुक्त उमंग,
थिरकते लतिका से लच अंग, ठुमकते पग धन नृत्य तरंग !
लोल लहरों का हो लघु लास, झलकते धूपछाँह के रंग,
सांस्कृतिक पर्व मनाती भूमि, श्रान्त समरसता करते भंग !

मधुर सारंगी मुखर सितार, शृंग भेरी, जल काष्ठ तरंग,
दिलरुबा बजता प्रिय इसराज, मुग्ध रुक जाता काल कुरंग !
चिकारा शहनाई मधु बीन, मन्द्रस्वर मित्र स्वरों का जाल,
शरद वन सा भरता कलनाद, कुंभ पात्रों संग बज करताल ![1]

---

१ लोकायतन श्री सुमित्रानन्दन पंत खण्ड २ (उपविभाग संस्थान) अध्याय ३, कलाद्वार पृष्ठ २६२—२६४

श्रेष्ठ गन्धर्व कला संगीत, जगत जीवन को दे नव जय,
बिना स्वर पलों में उड शब्द, भाव तन छूने में असमय !
बताते गुरु-समृति चिद् छाप, बँधे जो स्वर्णिम लय में लोक,
स्वर्ग शोभा गुम्फित हो विश्व, धरा जीवन हो पूर्ण अशोक ![1]

नृत्य वाद्य संगीतोत्सव का उक्त कलामहिम वर्णन, अनेक संगीतशास्त्रीय तत्वों से, इस भाँति अनुविद्ध है, कि उसका अनुशीलन करने पर यह प्रतीति होती है कि मानो अखिल कला लोक अथवा रस विश्व, एक ही सृष्टि छन्द में आबद्ध है। इस वर्णन में हमें अनेकानेक गंभीर दार्शनिक अभिव्यञ्जनाएँ भी मिलती हैं, यथा—

'नाद ही जीवन का उन्मेष नाद ही सृष्टि नाद ही वेद।'
'वाद्य-मैत्री की तरल तरंग मिटाती जन मन का औदास्य
'बिना स्वर पक्षों के उड शब्द, भाव तन छूने में असमय'
बँधे जो स्वर्णिम लय में लोक'—आदि

नृत्य कला की साक्षात अभिव्यञ्जना, काव्यगत वर्णन की बड़ी ही सुकुमार कला है। किन्तु कवि ने पदम मुकुल भ्रमर, हंस शंख, ध्वजा, आदि मुद्राओं के नाम द्वारा, जब नृत्य का देहगत आत्मा का चरित्राय रूप एवं 'रूप में पूर्ण प्रस्फुटित भाव' बताया तथा जब उसे 'लोकनृत्य के पदन्यास, वेशभूषा, स्वर, लय विन्यास की सहनृत्य कला से, समन्वित किया तो अनिर्वचनीय नृत्य-कला भी मानो साक्षात शब्द रूप धारण कर लेती है। यही नहीं उपर्युक्त वर्णन में महाकवि ने, विभिन्न वाद्यों की ध्वनियों को, शब्द रूप देते हुए (आरकेस्ट्रा) समवेत वाद्यसंगीत को भी, अपने वर्णनों में अभिव्यक्त कर दिया है।

लोकायतन महाकाव्य हिन्दी के काव्य साहित्य में ही नहीं प्रत्युत विश्वभर के काव्य साहित्य में, एकमात्र ऐसा महाकाव्य है, जिसने भावी युगों में भी अपनी काव्य गरिमा के प्रतिष्ठित किए जाने योग्य सफलता पाई है। उसमें अंकित नैसर्गिक पृष्ठभूमि और उसमें फलने फूलने वाली श्रम सीकर से सिक्त मानवता, दोनों ही अजर और अमर शाश्वत तत्व हैं। काव्यगत लोकजीवनपरक पक्ष तथा उसका प्रकृति स्नेह से स्निग्ध परिवेश, इन दोनों ही तत्वों के, उत्तम एवं कलात्मक समावेश के कारण, कविवर पंत को, अपने महाकाव्य की महती तथा मनोरम योजना में श्लाघनीय सिद्धि प्राप्त हुई है।

आदिकवि महर्षि वाल्मीकि के युग (आनुमानिक काल ई० पू० ४०० से ई० पू० २००) से लेकर कविवर श्री सुमित्रानन्दन पन्त के महाकाव्य लोकायतन के प्रकाशन तक का सुदीर्घ एवं व्यापक दशकान्तर अवान्तर, किसी भी एक साहित्य-समीक्षक की सामर्थ्य से, प्रायः अलंघ्य एवं अथाह ही है। लगभग २४०० वर्षों में, हमारे इस साहित्यप्राण राष्ट्र में, हमारे महाकाव्यों ने, एक अनन्य विस्मयकारी

---

१ 'लोकायतन', खण्ड २, उपविभाग सम्थान' अध्याय ३, कलाद्वार', पृष्ठ २८४

मानव-संस्कृति की रंग बिरंगी चित्रशाला प्रस्तुत की है जिसे हम सच्चे अर्थों में अपना राष्ट्रीय अथवा जातीय इतिहास भी मान सकते हैं। वस्तुतः ये वर्णनात्मक महाकाव्य हमारे जातीय अथवा राष्ट्रीय साहित्य का सच्चा प्रतिनिधित्व करते हैं। उपर्युक्त संक्षिप्त विहंगम-समीक्षण द्वारा ही उनकी वर्णनात्मक विशिष्टता एवं चलचित्र (फिल्म) की भाँति सर्वांग साक्षात् हो उठती है। ये सभी विशिष्ट महाकाव्यगत वर्णन अपनी अनूठी रूप एवं ध्वनि दोनों को ही सरस रूप प्रदान करने वाली अनुपम रमणीय शब्द श्री से जगमग हैं। अतः हम इसी वर्णनात्मक विशिष्टता को भारतीय साहित्य की सर्वोपरि निजी प्रकृति के रूप में स्वीकार कर सकते हैं।

भारतीय महाकाव्यों की वर्णन-परम्परागत विशिष्टता इस वर्णनात्मक पक्ष रूप में ही सहज भाव से उभर आती है। इन सभी में नैसर्गिक शोभा के वर्णनों को प्रचुर महाकवि ने ओज गरिमा प्रदान की है। अनेक महाकवियों ने ग्रामीण जीवन और ग्राम बालाओं को अपने वर्णनों की प्रिय वर्ण्य-वस्तु बनाई है। महाकवि कालिदास ने इस तत्त्व को बड़ा सुकुमार एवं मनोरम रूप प्रदान किया है। भारवि ने भी इसी चेतना पर अपने महाकाव्य का एक पूरा सर्ग रचा है। किन्तु उन पुरुष प्रवर महाकवियों की उत्कृष्ट वर्णन मालाओं की तुलना में भी ग्राम श्री का एक अनुपम सांस्कृतिक छवि हमारे आधुनिक महाकाव्य (लोकायतन) में कविवर पन्त ने ही प्रदान की है।

केवल आपतकालीन दृश्यों के रूप में, मात्र अपवाद ही तो, रहे हैं। चाहे वीरकाव्य एवं चारण काव्य के प्रतिभा सम्पन्न वर्णनात्मक चितेरे महाकवियों ने मानव-जीवन के इस भीम भयंकर पक्ष पर, पूरे महाकाव्य ही क्यों न रच डाले हों, फिर भी वे मानव की आध्यात्मिक विफलता एवं नैतिक अस्थिरता के चिर प्रतीक बन कर ही तो रह गए हैं।

फिर भी अन्य राष्ट्रों के महाकाव्यों की तुलना में, भारतीय महाकाव्यों में युद्ध, रक्तपात, हत्या और विनाश के वर्णनों को बहुत कम स्थान दिया गया है। जब भी कभी ऐसे प्रसंग आ उपस्थित हुए तो उन्हें अनिवार्य 'धर्मयुद्ध' का ही नैतिक आधार बनाया गया। इन महाकाव्यों के पर्यवेक्षण से प्रकट है कि इस देश के निवासी, शान्तिप्रिय अध्यवसायी और साहित्य-संगीत कला के सतत उपासक, रहे हैं। इसीलिये हमारे महाकाव्यों में, एक समृद्ध उच्च संस्कृति, अनुपम वर्णन शृंखला द्वारा आद्योपान्त प्रतिबिम्बित हुई है।

हमारे महान महाकाव्यों में वर्णित, हमारा राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक इतिवृत्त, न केवल हमारे अपने आधुनिक साहित्य स्रष्टाओं के लिए एक जाज्वल्यमान प्रेरणा स्रोत है, वरन् वह संसार भर के साहित्यकारों को— शाश्वत साहित्य की चिरमंगल कारी विशिष्टता की ओर, मानो देश की क्षमता भी रखता है। महाकवि कालिदास ने अपने 'रघुवंश' महाकाव्य में मानव की सृजनात्मक जिजीविषा और उसकी संहारात्मक जिगीषा—दोनों का ही प्रभावशाली एवं विशद वर्णन किया है। वे अपने पूर्ववर्ती आदिकवि (महर्षि वाल्मीकि) से इस बात में एकमत हैं कि प्रकृति की स्निग्ध शान्त गोद ही, मानव को, श्रेयस्करी ज्ञान उद्बुद्ध जिजीविषा की ओर, प्रेरित कर सकती है। उस काल में भी क्षत्रिय (असिजीवी वर्ग) अपने धनुर्बाण का संधान करते थे, किन्तु केवल साधुओं के परित्राण, और दुष्टता के विनाश के लिए ही। चाहे वे वाल्मीकि के यथानायक श्रीराम हों अथवा कालिदास के रघुवंशी सम्राट दिलीप, रघु, अज आदि श्रीराम के यशस्वी पूर्वज हों सभी के मन में, यही लोकहितकारी मंगल भावना, सदैव सक्रिय रही थी।

मानव जिज्ञासा की संहारात्मक नकारात्मक प्रवृत्ति की रक्तिम गाथाएँ हमारे महाकाव्यों में गिनी चुनी ही हैं और उनका हमारे सहस्रों वर्षों के राष्ट्रीय जीवन के महाव्यापी अवान्तर में, नगण्य अंश ही रहा है। यही नहीं, वरन हर विनाश के पहले हमारे पूर्वजों ने, शान्ति के प्रत्येक सम्भव मार्ग का परिशोधन किया है और हर विनाश कारी संग्राम के पश्चात वे फिर से बारबार लोकमंगलकारी सृजनात्मक पुनर्निमाण में श्रम एवं अध्यवसायपूर्वक जुट गए हैं। उन्होंने एक ओर शान्तिप्रिय कृषक को अपने निर्दोष उद्योग व्यवसायों में सुरक्षा का आश्वासन दिया है और दूसरी ओर उन्होंने तपोवनों के विचारक गुरुजनों और गुरुकुलों को, अपनी ज्ञान-साधना में निर्विघ्न लगे रहने के लिए सतत आश्वासन प्रश्रय एवं संरक्षण प्रदान किया है। विनाश के ध्वस्त खण्डहरों की राख पर, हर बार उन्होंने, नयनाभिराम समृद्धियों के

रम्य प्रासाद खड़े किए हैं और उन भव्य भवनों का परम शोभाशाली शिखर रहा है शाश्वत लोकोत्तर चेतना एवं प्रेरणा की प्रभा से जगमगाने वाला, साहित्य किरीट।

हमारी सुप्राचीन एवं गरिमामयी संस्कृत महाकाव्य-परम्परा की पृष्ठभूमि पर आधुनिक हिंदी महाकाव्य परम्परा के इस संक्षिप्त तुलनात्मक एवं वर्णनात्मक सर्वेक्षण के पश्चात् आधुनिक हिंदी महाकाव्यों की अपनी निजी नवविकसित परम्परा के सम्बन्ध में भी, कुछ उल्लेखनीय तथ्यों पर विचार किया जाना आवश्यक होगा। आधुनिक हिंदी महाकाव्यों की परम्परा ने अभी कुछ वर्ष पूर्व ही, (लोकायतन के प्रकाशन के द्वारा) अपनी अर्धशताब्दी ही पूरी की है। इन पचास वर्षों की प्रगति में आज वह एक सुस्थिर साहित्यगत प्रौढ़ता प्राप्त कर चुकी है। जिन महाकाव्यों का इस पर्यवेक्षण में उल्लेख किया गया है वे किसी भी राष्ट्र की साहित्यिक गरिमा के गौरव माने जाने के अधिकारी हैं।

हिंदी भाषा में आधुनिक महाकाव्य परम्परा से सदियों पहले भी अनेकानेक गौरवशाली महाकाव्यों की रचना हुई है किन्तु उन सभी का समीक्षात्मक अनुसंधान यहाँ समीचीन भी नहीं था और सम्भाव्य भी नहीं था। कारण यह है कि प्रस्तुत अध्ययन की विशिष्ट शोध भूमि, आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य तक ही परिसीमित है।

सभी आधुनिक भारतीय भाषा साहित्यों की मूल भाषा होने के नाते, किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा के साहित्य की तुलनात्मक समीक्षा में संस्कृत वाङ्मय की प्रवृत्तियों का मूलाधार बनाया जाना न केवल सहज एवं स्वाभाविक है वरन् वह अनिवार्य भी है। संस्कृत महाकाव्य परम्परा के क्रमिक ह्रास काल तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं में महाकाव्य-परम्परा के क्रमिक आद्य विकास के बीच के सदियों लम्बे अंतराल में—हिंदी की डिंगल पिंगल अवधी मैथिली एवं ब्रजभाषा शैलियों में भी अनेकानेक उत्तम महाकाव्यों की रचना की गई थी यह एक सर्वविदित इतिवृत्तात्मक तथ्य है ही। वीरगाथाओं की डिंगल शैली में रचित 'रासो' महाकाव्य परम्परा पिंगल (राजस्थानी बोली) में रचित 'बेलि क्रिसन रुकमणी री', मैथिली शैली में रचित कीर्तिलता, अवधी शैली में रचित पद्मावत एवं रामचरितमानस जैसे गौरव ग्रंथ एवं ब्रजभाषा शैली में रचित महाकवि केशव एवं देव आदि के महाकाव्यों के प्रख्यात नामों से कौन परिचित नहीं है? हिन्दी भाषा में उक्त पूर्ववर्ती महाकाव्यों की भाँति ही सभी प्रगतिशील आधुनिक भारतीय भाषा-साहित्यों में भी अनेकानेक महाकाव्यों की रचना होती रही है। फिर भी इस बात से सभी विज्ञ साहित्य मर्मज्ञ सहमत होंगे कि देशकाल की अधुनातन आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए आधुनिक भारतीय भाषाओं में विगत अर्ध शताब्दी में जिस अभिनव महाकाव्य परम्परा का विकास हुआ है वह भारत के समग्र वाङ्मय के इतिहास में भी, एक युगान्तरकारी साहित्यिक नवप्रवृत्ति मानी जाएगी।

वणनात्मक साहित्य विधा के एक विशिष्ट एव प्रतिष्ठित साहित्य रूप के नाते, उपन्यासेतर वाङमय का समुचित प्रतिनिधित्व करने वाले महाकाव्य का, प्रस्तुत साहित्य म, वणनात्मकता के स्थान एव मूल्य के परिशोधन का मूलाधार बनाया गया है। वसे तो दृश्यकाव्य एव श्रव्य-काव्य प्रबध रा य एव मुक्तक-काव्य, सभी म, न्यूनाधिक मात्रा म, वणनाप्रिय साहित्यकार, वणनात्मकता का समावेश करते चले ही आए है किन्तु अनुसधान के आधार को, एक निर्धारित सरणी देने के लिए—उनम से किसी एक विशिष्ट उपन्यासेतर साहित्य रूप को ही वणनात्मक साहित्य का प्रतीकात्मक मूलाधार बनाया जा सकता था।

वस्तुत साहित्य सृजन प्रक्रिया म किसी भी साहित्य रूप का, प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार, अपना माध्यम बना सकता है। किसी भी वणनात्मक कृति की, (पारिभाषिक व्याख्या के अनुसार)—वणन प्रधान रचनाओ की रोचकता, रचयिता के वणन कौशल एव वणन विस्तार द्वारा नियोजित होती है।

जहा तक वणन कौशल का प्रश्न है, इसका परिचय, मुक्तक कविताओ तथा नाटय रचनाओ तक म, यदाकदा, बडी विलक्षण एव कलाभिराम शली म दृष्टिगोचर होता है। किन्तु इन दोनो ही कोटि के साहित्य रूपो म, वणन विस्तार के लिय प्रकटन, बहुत ही कम गुजाइश रहती है।

साहित्यिक कृतियो म कौन सी सही अर्थों म वणनात्मक कृति कहलाने की अधिकारिणी है तथा कौन सी नही इस बारे म अधिक तात्विक स्पष्टता मानक कोश' गत 'वणन श द की इस परिभाषा म पाई जाती है— किसी विशिष्ट अनुभूति, घटना दृश्य, वस्तु व्यक्ति आदि के सम्बध म होने वाला विस्तारपूण कथन, जो उसका ठीक ठीक बोध, दूसरो को कराने के लिए किया जाता है।'[1]

महाकाव्यो तथा उपन्यासो के अतिरिक्त अय साहित्यिक विधाओ म, विशिष्ट अनुभूतियो, घटनाओ दृश्यो वस्तुओ एव व्यक्तियो के सबध म ऐसे विस्तारपूण कथनो का समावेश (जिनसे कि उनका ठीक ठीक बोध दूसरो को हो सके) एक पर्याप्त परिसीमित एव दुष्कर साहित्यिक प्रयोग है। सृजनात्मक मौलिक साहित्यिक उपलब्धियो की दृष्टि से अय श्रव्य-काव्यगत साहित्य रूपो म कहानियाँ सस्मरण एव निबध आदि बहुत प्रचलित है। निबध को विशुद्ध सृजनात्मक साहित्य रूप माना जाय या नही इस बारे म आलोचको म मतभेद भी सभाव्य है क्योकि निबध मौलिक रचना न होकर मात्र व्याख्यात्मक भी हो सकता है। उसम रसात्मक साहित्य के अतिरिक्त ज्ञान विज्ञान के प्रत्यक्ष विषय पर भी विवेचन किया जा सकता है। फिर भी जब जब कुछ कवियो उपन्यासकारो आदि भावुक साहित्य स्रष्टाओ ने निबध रचना पर अपनी लेखनी उठाई है तो उनम भी हम मौलिक सृजनात्मक साहित्य का रस छलकता सा जान पडता है।

---

१ मानक हिंदी कोष—खण्ड ५, पृष्ठ १७

कहानियाँ तो उपन्यास की बिरादरी की ही जान पड़ती हैं किन्तु उनका कथाविन्यास एवं संविधान उपन्यास से ठीक विपरीत गतिचक्र में प्रवर्तित रहता है। उपन्यास वर्णन-कौशल के साथ वर्णन विस्तार की ओर गतिमान रहता है—केन्द्र से परिधि की ओर—कहानी अपने वर्णन कौशल के मोह में वर्णन विस्तार से बड़ी सावधानी-पूर्वक बच निकलने में यत्नतमान रहती है। वसे कहानियों में आए हुए कितने ही मनोरम दृश्यपट एवं वर्णनात्मक शब्दचित्र अपनी वर्णनात्मक-कला की दृष्टि से अनूठे भी रहते हैं यथा श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की प्रख्यात कहानी 'उसने कहा था' में अमृतसर के बाजार का वर्णन अथवा फ्रांस जर्मन सीमावर्ती मोर्चे पर खाइयों में लड़न वाले सैनिकों के जीवन के विवरण। किन्तु वे सभी द्रुतगति से सूबेदारनी के गाँव की ओर ही प्रत्यावर्तित होने हैं। यदि ऐसा न किया जाता तो सारी कहानी ही सहसा भर्रा कर ढह जाती। श्री जयशंकर प्रसाद' द्वारा रचित कहानियों में भी कहीं कहीं सुन्दर वर्णन आए हैं। उदाहरणार्थ आकाशदीप में सागर-यात्रा एवं प्राचीन भारत के जलपोतों के जीवन के कुछ अविस्मरणीय वर्णनात्मक प्रसंग मिलते हैं। फिर भी उन सभी का केन्द्र बिन्दु है अंधेरे आकाश में सागर जल में लहराते लघु प्रतिबिंब वाला एकमात्र आकाशदीप।

संस्मरण शैली की कहानियाँ भी वर्णन प्रधान रचनाएँ कही जा सकती हैं क्योंकि उनमें अपेक्षाकृत लेखक को अपने वर्णन कौशल को व्यक्त करने का अधिक अवसर रहता है। किन्तु उसकी वर्णना की परिधि भी बड़ी सकरी रहती है और स्वयं श्रीमती महादेवी वर्मा की संस्मरणात्मक लम्बी कहानियाँ कहानी कला की दृष्टि से दोषहीन नहीं मानी जा सकती। उक्त संस्मरणात्मक कहानियों की लोक प्रियता में भी उनका यह आग्रह ही प्रधान रूप से बाधक रहा है कि वे अपने संस्मरणों में प्रत्येक वर्ण्यवस्तु के प्रत्येक विवरण को उतार डालना चाहती है।

साहित्यिक निबन्धों में वर्णनात्मकता के परीक्षण में सहसा प्रख्यात बंगला उपन्यासकार स्व० श्री बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के व्यंग्यात्मक निबंधों का स्मरण हो आना स्वाभाविक है। उन्होंने अपने कमलाकांतेर दफ्तर निबन्ध संग्रह में श्यामा ग्वालिन के व्याज से जो मनोरम काव्य रसात्मक प्रसंग वर्णित किए हैं उन्होंने इस प्रकार के निबन्धों के प्रवर्तन में बड़ा योग दिया। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के निबन्ध संग्रह प्राचीन साहित्य में महाकाव्यों के पाठ जैसा वर्णनात्मक रस मिलता है। आधुनिक हिन्दी निबंधकारों में इस सम्बन्ध में जो उपलब्ध है आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी के वर्णनात्मक निबन्ध। आम फिर बौरा गए! इस प्रकार की मनोरम रचना कही जा सकती है। फिर भी ऐसे निबन्ध समग्र निबन्ध साहित्य में, मात्रा की दृष्टि से न्यूनांश ही है। उनकी विशिष्टता वस्तुतः उनकी वाग विदग्धता में है वर्णनात्मकता में नहीं—यह पहचानने में भी विज्ञ पाठक को विलंब नहीं होता।

श्रव्यकाव्य की आधुनिक एव लोकप्रिय साहित्य विधाओ म से इस भाँति हम मुक्तक पद्य रचनाओ, कहानियो, सस्मरणो एव निबन्धो म भी, जहाँ-तहाँ, यत्किञ्चित् वणन कौशल के चमत्कार पाते हैं, किन्तु उन सभी का वणन कौशल, किस भाँति वणन विस्तार से बच के निकलता है, यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है।

अनेक महाकवियो ने नाट्य रचना भी की है, जिनम कालिदास से लेकर रवीन्द्र और 'प्रसाद' तक सम्मिलित है। यह स्वाभाविक ही है कि ऐसे वणनात्मक कला के धनी, सुकृतियो के नाटको मे भी, वणनात्मक कला के कुछ स्मरणीय प्रसगो का समावेश हो जाय। किन्तु इन्ह नाटय रचना कला के रमणीय अपवादो के रूप मे ही चिरस्मृत रखा जायगा। वस्तुत, नाटय रचना कला की कलात्मक सूक्ष्मता उनके सवादो की अथ गौरवमयी, रूढ व्यजना सयुक्त साकेतिक लघुत्तमता पर ही आधारित है, और इस दृष्टि से नाटय रचना कला के अनेक विज्ञ कला विवेचक, भास की कृतियो को कालिदास की कृतियो से भी श्रेष्ठतर मानते हैं। वणन-बहुलता, जिस व्याख्यात्मक प्रणाली से, महाकाव्य अथवा उपन्यास मे समाविष्ट रहती है, नाटक म उसका रूप, अधिकाश साकेतिक रखा जाना ही, समुचित माना जाता है।

प्राचीन शली म लम्बे नाटको की शली, आधुनिक देशकाल की परिस्थितियो म, एकाकी नाटक अथवा चित्रपट शलियो द्वारा पराभूत होती जाती है और दिन प्रति दिन, नाटयकला की सूक्ष्मता एव साकेतिक कलात्मकता का, उत्तरोत्तर परिष्कार एव सस्कार होता जाता है। अत सम्पूण लम्बाई वाले प्राचीन शली के नाटक, आज अपनी जीवन होड मे पीछे पडते जाते है।

रससिद्ध महाकवियो तक को स्वप्रणीत रमणीय नाटको म, वणनो के समावेश के लिए एक कौशल विशेष का आविष्कार करना पडा और वह था, गद्य कथोपकथन के बीच, पद्य श्लोको का ग्रथन। वस्तुत ये वणन नाटक के मुख्य शरीर से पृथक्, अपना निजी स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखते हैं और हम काव्यरस से सिक्त, सुगन्धित पुष्पो लकारो से उनकी तुलना कर सकते है। वे दशको को रिझाने की अपेक्षा केवल काव्य रसिक पाठको की भाव प्रवणता को ही मुख्यतया, सतुष्ट करते है।

महाकवि नाटककारो की प्रख्यात कृतियो के प्रसगो द्वारा उक्त अभिप्राय को समझाया जा सकता है यथा महाकवि कालिदास कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तलम मे आए हुए दो एक स्मरणीय वणनो को ही ले लें। नाटक के प्रथम अक के प्रस्तावना भाग म, रथारूढ आखेट प्रिय राजा दुष्यन्त द्वारा पीछा किये जाने वाले हरिण का, बडा ही यथाथ एव चित्रकला की सूक्ष्मताओ से अन्वित, गतिमान वणन, पद्य श्लोक के रूप मे ही प्रस्तुत है। इस शब्द चित्र म भयातुर हरिण द्वारा, मुड मुड कर देखने और बाणाघात भय से पिछले आधे शरीर को सिकोडने, आदि भाव भगिमाओ सहित चौकडी

भरने के कारण पृथ्वी को स्पर्श न करने का अत्यन्त वर्णन-कौशल से किया गया है।[1] किन्तु यहाँ यह भी स्मरणीय है कि इस वर्णन का एक अभिप्राय विशेष है और वह है नायक को आगे आने वाले प्रसंगों में एक कुशल चित्रकार के रूप में प्रस्तुत करना।

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी काव्य नाटिका 'चित्रांगदा' में अनेक स्थलों पर अपनी अनूठी वर्णन प्रतिभा द्वारा बड़े वर्णनात्मक प्रसंग चित्रित किए हैं यथा मान सरोवर का वह लम्बा और चिरस्मरणीय प्रसंग जिसमें कवि ने मानस हृदय की अतल गहराई को प्रतीक रूप में लक्षित किया है—किस भाँति कोटयावधि योजना की दूरी को लाँघ कर जब अत्यन्त संतप्त सूर्य की किरणें, मानसरोवर के जल की सतह को छूती हैं और जब वे उसके अतल तल की शीतलता में चिरमधुर विश्राम पाती हैं तो कवि उस पर एक दार्शनिक के रूप में प्रश्नसूचक उद्भावना करता है—क्या मृत्यु भी ऐसी ही चिरमधुर विश्रान्ति का अन्य नाम तो नहीं है ?[2] प्रकट है कि यह वर्णन निश्चय ही उत्कृष्ट एवं अद्भुत कल्पना उद्रेकी है किन्तु नाटक के कलेवर में तो वह भी एक क्षेपक ही माना जायगा।

हमारे आधुनिक हिन्दी महाकवि नाटककार श्री जयशंकर प्रसाद के नाटकों में भी अनेक स्थलों पर गद्य एवं पद्य अवतरणों में वर्णनात्मक प्रतिभा का चमत्कार देखा जा सकता है किन्तु नाटकीयता की दृष्टि से वे अतिरिक्त प्रसंग ही कहे जायंगे। उन्होंने अपने गीतों द्वारा नाटकों में ऐसी वर्णनात्मक उद्भावनाएँ अनेक स्थलों पर की हैं—यथा चन्द्रगुप्त के प्रसिद्ध गीत—हिमालय के आंगन में तथा—अरुण यह मधुमय देश हमारा[3] आदि। गद्य-सवादों में, कार्नेलिया द्वारा भारतभूमि की महिमा वर्णन[3] तथा चन्द्रगुप्त द्वारा किया गया प्रांत वर्णन[4] आदि भी अपने वर्णनात्मक सौन्दर्य के कारण चिरस्मरणीय हैं। इन्हें अनेक नाट्य साहित्य के समीक्षक नाट्यकृति के सुगठन के लिए शास्त्रीय अथवा शिल्पविधान की दृष्टि से, बहुत उत्तम मानने में, हिचकिचायेंगे।

---

१ ग्रीवाभंगाभिरामम मुहुरनुपतति स्यन्दनेबद्धदृष्टिः।
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयात् भूयसा पूर्वकायम्॥
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृत मुख भ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा।
पश्योदग्रप्लुतत्वात् वियति बहुतरम् स्तोकम् उर्व्यां प्रयाति॥ ७॥

—'अभिज्ञान शाकुन्तलम्', कालिदास प्रथम अंक

२ 'चित्रांगदा' श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर प्रथम प्रकाशन सन १८९२ ई०।

३ 'चन्द्रगुप्त' श्री जयशंकर प्रसाद, अंक तृतीय पृष्ठ १४५

४ वही, अंक चतुर्थ, पृष्ठ १८७

साहित्य के विविध रूपा म, वणनात्मकता की व्यापकता, नया साहित्य सृष्टि के निर्माण म उसकी अनिवायता, उपगक्त सक्षिप्त विवेचना द्वारा स्पष्ट हो जाती है। उसके आधार पर यह भी सिद्ध होता है कि वणनात्मकता साहित्य-सजन का एक अति महत्वपूण पक्ष है। साहित्य म वणनात्मकता साहित्यिक मानीकरण अथवा मूल्याकन के लिये भी एक महत्तम समापवत्त सिद्ध हो सकती है। यही नही साहित्यगत रससिद्धि के निकष के रूप म भी वह विविध साहित्य रूपा के बीच समान मानदण्ड बन सकती है। साहित्य म वणनात्मकता की परिव्याप्ति तथा उसकी साहित्य निर्माण प्रतिमा म मूलभूत विशिष्टता, वस्तुत साहित्य के आधुनिक मानीकरण के अन्वपण म, एक अभिनव दिशा-शोध का सकेत भी बन सकती है। प्रस्तुत पयवक्षण एव पर्यविलोकन इसी दिशा मे कुछ अभिनव विचार-सामग्री प्रस्तुत करता है।

आज विश्व की सर्वोत्कृष्ट एव शाश्वत निधि के रूप मे, जिन गौरव-ग्रथा को, सबसे अधिक आदर एव प्रतिष्ठा प्राप्त है, उनम मुख्यतया काव्य, नाटक एव उपन्यास, इन तीनो साहित्य रूपा की, सर्वोत्कृष्ट कृतियां वणनात्मक प्रतिमा के ही चमत्कार हैं। सक्षेप म, साहित्य म वणनात्मक कला का सवप्रथम विकास, महाकाव्या म सम्पन्न हुआ। कतिपय नाटका म भी उसके प्रसगवश कलापूण अवतरण समाविष्ट हुए। किन्तु आधुनिक युग म, उक्त तीनो ही विधाआ म, औपन्यासिक कृतियो ने जो श्रेष्ठत्व प्राप्त किया है यह विश्व-साहित्य क इतिहास म मात्र सयोग नही माना जाना चाहिए। उपन्यास की असाधारण लोकप्रियता का मूलभूत रहस्य, वस्तुत यही है कि साहित्यगत वणनात्मकता को केवल इसी विधा (उपन्यास) म, अपने उन्मुक्त एव अबाध विकास का अवसर प्राप्त हो सका है।

साहित्य की विभिन्न सृजनात्मक विधाआ क अन्तगत कलात्मक वणनात्मकता की व्याप्ति, तथा उनकी साहित्यिक गरिमा की वृद्धि म, उसक योगदान की, यह सक्षिप्त एव विहगम विवेचना, इसी अभिप्राय स प्रस्तुत की गई है कि उपन्यास विधा मे, उसके सविवरण परिशोधन से पूव एक उपयुक्त आधार भूमि बन पाए। साथ ही उपन्यास के वणनात्मक मूल्याङ्कन को, किसी एक विधा विशेष तक ही परिसीमित न माना जाए उसे अखिल वाङ्मय के, एक समान गुण धम के रूप म भी स्वीकृत किया जाए। वस्तुत अखिल साहित्यगत रसात्मकता तथा लोकरजकता का मुख्य अवगुण्ठित रहस्य, उसकी वणनात्मक सुघडता ही है।

२

साहित्य की उपन्यास विधा मे वर्णनात्मकता का स्थान

शरीर म प्राणों के स्पन्दन की भाँति वर्णनात्मकता वाङमय की नस-नस म अंत प्रवाहित एव स्पन्दित रहती है। एक सतत आग्रह की भाँति यह वर्णनात्मकता, साहित्य की हर विधा मे मानो हठपूर्वक बनी हो रही है। किन्तु पूर्व अध्याय मे जिन विविध उपन्यासेतर साहित्यरूपो का वर्णनात्मक विवेचन किया गया है, जान पडता है कि उनमे से किसी म भी वह अपनी ठौर-ठाव और सहज अभिव्यजना, नहीं पा सकी। कही वह एक परिचिततत्व की भाँति प्रस्तुत दिखाइ पडती है, तो कहीं वह अजनबी भी जान पडती है। मानो सहस्रावधि वर्षों की अपनी इस सुदीर्घ यात्रा म वह कोई एसा उपयुक्त आवास सदा ही खोजती रही है जहाँ कि वह अपना सहज और स्वतन्त्र विकास पा सके और जहाँ उसके निजी व्यक्तित्व को, अबाध अभिव्यक्ति मिल पाए। उपन्यास विधा म, मानो वर्णनात्मकता को अपना एसा ही मनचाहा आवास मिल गया है।

उपन्यास को वर्णनात्मकता का विग्रह मात्र कह अथवा वर्णनात्मकता के सम्पूर्ण साहित्यिक व्यक्तीकरण के अन्य नाम को ही हम उपन्यास कह इसका युक्तियुक्त निर्धारण भी कोई सरल आलोचनात्मक आयास न होगा। फिर भी यदि किसी साहित्य रूप की सब से मुखर विशिष्टता उसका सर्वाधिक प्रतिनिधित्व कर सकती है तो उपन्यास विधा म परिव्याप्त वर्णनात्मकता ही एक ऐसी विशिष्टता है। वर्णनात्मकता ही उपन्यास को अन्य साहित्य विधाओ के साथ सम्बन्धित रखने वाली एक मात्र सर्वाधिक समान योजक कडी है। यही नहीं उपन्यास विधा को अपनी सार्वभौम सत्ता द्वारा अन्य साहित्य रूपो से पृथक व्यक्तित्व प्रदान कराने वाली विशिष्टता भी यही है। उपन्यास विधा म वर्णनात्मकता का महत्व एव मूल्य, इसीलिए असंदिग्ध है।

वर्णनात्मकता ही उपन्यास विधा की सबसे प्रधान सहज प्रवृत्ति एव उसका गुण धर्म है—यह बात कहने-सुनने म नई सी जान पडेगी—क्योंकि उपन्यास समीक्षा म अभी तक वर्णनात्मक पद्धति द्वारा मानाकलन हो नहीं हुआ है। इस तथ्य को भी

भुलाया नही जा सकता कि उपन्यास-समीक्षा एव उपन्यास शास्त्र, आज तक भी, अपने प्रयोगात्मक निरूपण के स्तर मे होकर ही चल रहे है। उपन्यास की सामयिक समीक्षाओ का पढ जाने पर प्राय ऐसा जान पडता है कि स्वय आलोचक महानुभाव, अपनी आलोच्य वस्तु को, मली भांति, पकड नहीं पा रहे हैं। बहुधा समग्र उपन्यास समीक्षा ही एक प्रयोगात्मक आयाम बन कर रह जाती हैं। यह बात केवल भारतीय समीक्षा-जगत म ही पायी जाती हो एसा नही है। तथाकथित पाश्चात्य 'उपन्यास-जागरूकता' के बावजूद भी उपन्यास-समीक्षा के क्षेत्र म, वहाँ भी पर्याप्त अराजकता का बोलबाला है।

एक ओर तो उपन्यास-समीक्षा की यह प्रयोगात्मक अवस्था और दूसरी ओर उपन्यास विधा के निरय बढते हुए चरण य दोनो ही साहित्यिक तथ्य साहित्य क्षेत्र म, एक विचित्र विपर्यय समुपस्थित कर देते ह। इसीलिए इस असगति का समाधान, हमारे समीक्षा शास्त्र की एक तात्कालिक आवश्यकता प्रतीत होती है। यह समाधान तब तक सम्भव नही है जब तक कि हम नए सिर स और मुक्त हृदय से बिना पूर्वाग्रहो के, उपन्यास विधा की अभिनव समीक्षा म प्रवृत्त होवें। यह भी कुछ कम विस्मयकारी बात नही है कि उपन्यास के द्वारा सम्यक विकास के स्तर को प्राप्त किए जाने के पश्चात भी, अधिकाश हिन्दी साहित्य शास्त्रियो ने उपन्यास विधा का कोई विशेष, शास्त्रीय एव सर्वसम्मत तात्त्विक आधार निर्धारित नहीं किया है।

अत इस असाधारण परिस्थिति के कारणो की ओर जिज्ञासा भी स्वाभाविक ही है। किन्तु केवल कारणो का खोज निकालने भर स ही व्याधि या दोष का शमन नही हो जाता। बहुधा, परम्परागत अथवा पुरातन शास्त्रीय विधान के अभाव म, हमारे अनेक आधुनिक साहित्य शास्त्रियो ने पाश्चात्य समीक्षा के उपन्यास-सविधान को, प्राय ज्यो का त्यो ही अपना लिया। इसके मूल म वही पुरानी अन्धविश्वासापन्न धारणा क्रियाशील रही है कि उपन्यास विधा भारतीय साहित्य के लिये, एक पाश्चात्य उपहार है। सच तो यह है कि इस भांति के 'सहसा निष्कर्षों' का कोई तात्त्विक अथवा वैज्ञानिक आधार नहीं है। न तो भारतीय उपन्यास विधा ही भारतभूमि म कोई परदेसी तत्त्व है और न उसकी समीक्षा ही, हमारे साहित्य शास्त्र म, कोई अनहोनी बात है। आवश्यकता है केवल अपने घर म प्रच्छन्न निधियो की ओर ध्यान देने की, और बात बात म विदेशों का मुंह ताकने की मेरुजनक परावलम्बिता को तिलांजलि देने की।

यह असत्य तथ्यो के साथ खिलवाड करने के समान ही होगा यदि हम, एम साहित्यिक अन्धविश्वासो को अपनी समीक्षा भूमि म पनपने दें कि उपन्यास भी, विज्ञान की नई सस्कृति के प्रभाववश नवीन आविष्कारो की भांति, कोई अभिनव 'साहित्यिक-आविष्कार' है। साहित्य के इतिवृत्त की प्रवृत्तियो स जो अवगत हैं वे सभी इस स्वप्रमाणित तथ्य को भलीभाँति जानते और समझते ह कि कोइ भी साहित्य

रूप अथवा साहित्यिक विधा सहसा उद्भूत नहीं हुआ करती। यह एक बहुत सीधा सादा तथ्य है कि विकास की सभी सामान्य स्वाभाविक क्रिया प्रक्रियाओं में होकर उपन्यास विधा को भी गुजरना पड़ा है।

उपन्यास विधा के उद्भव एवं विकास का अनुसंधान करने से यह ज्ञात होता है कि साहित्य की अन्य विधाओं के समान ही उपन्यास विधा का प्रचलन भी, आज से लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व या इससे भी पहले हो चुका था। इस दो हजार वर्षों की सुदीर्घ एवं घटनापूर्ण यात्रा के पश्चात् ही आज के युग में, उसे विश्वकाव्य की 'तीसरी महासृष्टि' कहलाने का गौरव मिल पाया है और आज साहित्य के कलात्मक परीक्षण की दृष्टि से वह महाकाव्य एवं नाटक (दृश्य काव्य) की कोटि में, समान स्थान पाने की अधिकारिणी मानी जाने लगी है। इस दृष्टि से आज के युग की, वह सर्वोत्कृष्ट साहित्यिक विशिष्टता अथवा उपलब्धि भी कही जा सकती है। विश्व साहित्य के इतिहास में आज का युग उपन्यास युग के नाम से भी अनुस्मृत रहेगा, इसमें सन्देह नहीं।

वर्तमान युग में अनुकूल देशकाल परिस्थिति-निरपेक्ष ऋतु की सहायता पाकर, उपन्यास की समृद्धि एवं अभिवृद्धि अनुपम हो उठी है। काव्यगत अर्थगौरव तथा रंगमंचीय शब्द लाघव इन विधाओं को सदैव ही, सार्वजनीन अभिरुचि से किंचित दूरी पर ही बनाए रखते चले आए हैं। उपन्यास विधा न केवल अपने कथा प्राधान्य के कारण निरन्तर एवं अबाध गति से प्रवाहित रही है वरन् उसमें लोकमनोरंजन की अनुपमेय क्षमता भी विद्यमान रही है। सामाजिक जीवन में ज्यों-ज्यों 'लोक' की महिमा बढ़ती गई लोककाव्य होने के नाते उपन्यास का भी आदर बढ़ता गया।[1]

उपन्यास विधा के इस अभ्युदय-युग में औपन्यासिक कृतियों की जो प्रभूत सर्जना हुई है उसके मूल में मुद्रण-यन्त्र के चरम विकास तथा यातायात एवं आदान प्रदान के साधनों के विश्वव्यापी प्रसार होने का ही महान योग रहा है। इसीलिए आज उपन्यास विधा देशगत सीमाएं लांघ कर एक अन्तर्राष्ट्रीय साहित्यरूप बन चुकी है। काव्य एवं नाटक अपने चरम वैभव के युग में भी उपन्यास के समान (अपने लिखित रूप में) घर घर में नहीं पहुँच पाए थे किन्तु उपन्यास आज, जन-जीवन की हर दिन की आलोचना एवं चर्चा का विषय बन चुका है।

---

१ उपन्यास ने मनोरंजन के लिए लिखी जाने वाली कविताओं की ही नहीं नाटकों की भी कमर तोड़ दी है। क्योंकि पांच मील दौड़ कर रंगशाला में जाने की अपेक्षा पांच सौ मील से किताब मंगा लेना आज के जमाने में अधिक सहज है। ... इसने कल्पना प्रसूत साहित्य को अन्य किसी भी साहित्यांग की अपेक्षा नजदीक ला दिया है। —साहित्य सहचर (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) अध्याय १२ पृ० १८-७९ (प्रथमप्रकाशन १९६५, नैवेद्य निकेतन, वाराणसी)

उपन्यास विधा के इस अबाध प्रचार प्रसार के मूल में, एक मुख्य कारण यह भी रहा है कि साहित्य-समीक्षकों का ध्यान, उसकी ओर बहुत विलम्ब से जा पाया। काव्य शास्त्र एवं नाट्य शास्त्र की भाँति (प्राय बीसवीं शती तक) 'उपन्यास-शास्त्र' का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं पाया जाता था। काव्य एवं नाट्य शास्त्र की सवमान्य मर्यादाएँ, उन विधाओं के लेखन एवं प्रचार प्रसार पर अंकुश लगाए रखती हैं। उनसे उपन्यास विधा अद्यावधि प्राय मुक्त एवं उन्मुक्त है। निःसंदेह उसने इस शास्त्रीय अंकुश के न रहने का पूरा पूरा लाभ भी उठाया है।

उपन्यास की इस सर्वतामुखी एवं विविधता अनुरंजित प्रभूत सृष्टि के दो प्रत्यक्ष परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं। एक ओर तो उपन्यास विधा के नाम पर, 'तथा कथित उपन्यास-साहित्य' का (समग्र लोक-जीवन को अभिभूत कर देने वाला) अपरिमेय सृजन, तथा दूसरी ओर, उसको नियन्त्रित करने की दिशा में, साहित्य समीक्षकों की धीरे धीरे किन्तु निरन्तर वर्द्धमान प्रवृत्ति। कहना न होगा कि यदि उपन्यास रचना की गति भी काव्य एवं नाटक के समान, परिसीमित ही बनी रहती, तो न जाने कब तक उसकी ओर समीक्षकों का यह उपेक्षा भाव बना ही रहता। बीसवीं शती के प्रारम्भ तक प्राच्य एवं पाश्चात्य (दोनों ही) समीक्षा क्षेत्रों, में उपन्यास की ओर से उपेक्षा का भाव समान रूप से ही दृष्टिगोचर होता है।

प्राच्य एवं पाश्चात्य समीक्षा क्षेत्रों में उपन्यास विधा के विधिवत एवं स्वतन्त्र शास्त्र निरूपण में इस असाधारण विलम्ब के कारणों की ओर ध्यान देने से अनेक समाजगत एवं अर्थगत, समान कारक तत्त्व, प्रकाश में आते हैं। सदियों तक साहित्य एवं साहित्यकारों की गतिविधि, सामन्ती एवं राजकीय प्रश्रय प्राप्त बनी रही। इसी-लिए अखिल वाङ्मय पर वर्ग विशेष का एकाधिकार सा ही बना रहा। परिणाम स्वरूप उसमें, लोक एवं लोक काव्य, दोनों ही के प्रति उपेक्षा की भावना, प्रकट अथवा प्रच्छन्न रूप में, बनी ही रही।

उपन्यास लोक काव्य होने के नाते वस्तु विन्यास एवं भाषा माध्यम, दोनों ही दृष्टि से अपने लोकपक्ष पर रहने के आग्रह पर दृढ रहा और उसी दृढता तथा निरन्तरता के अनुपात से, उसे वर्ग विशेष की उपेक्षा, एवं तिरस्कार का पात्र भी, बनना पड़ा। उपन्यास विधा की ओर से समीक्षा शास्त्रीय उपेक्षा एवं प्रमाद के मूल में बदलती हुई समाजगत एवं अर्थगत परिस्थितियाँ भी सतत क्रियमाण रही हैं। किन्तु उन सब का भी उपन्यास विधा की उत्तरोत्तर प्रगति पर, कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वह अपने अबाध विकास पथ पर दृढतापूर्वक अग्रसर होती रही। साहित्य शास्त्रियों की उपेक्षा एवं पक्षपात के बावजूद भी जब उपन्यास विधा ने आज विश्व के पाठक समुदाय के बहुमत का समर्थन एवं प्रेम प्राप्त कर लिया तो पाश्चात्य अथवा प्राच्य दोनों ही साहित्य समीक्षा-क्षेत्रों में अनिवार्य उपन्यास विधान बनाए जाने की ओर भी, कार्य प्रारम्भ हुआ।

पाश्चात्य उपन्यास विधा का परिचय अब बहुत पुरानी और आधुनिक है। अब यहाँ भारतीय उपन्यास विधा की समीक्षा के गुण दोषों का निरूपण, कर दिया गया। इस सामयिक युग या अर्वाचीन ... उपन्यास साहित्य की सांस्कृतिक एवं जातीय विशिष्टताओं को दृष्टि में रखा। इस प्रकार ... और आगे चल कर आवश्यकता ... हिन्दी में भी ... भारतीय भाषाओं में पुनः उपन्यास समालोचना भी लिखी शुरू कर दी। इस भाँति यथार्थतः पाश्चात्य उपन्यास-अभियान प्रचलित हो गया।

किन्तु प्राच्य उपन्यास की समस्याएँ इससे कहीं अधिक जटिल और गहन थीं। जो हमारे वर्षों का ज्ञान भी अधिक था। काल में हमारे देश में उपन्यास केवल एक ही नहीं था वरन् उसने साहित्यिक गरिमा भी प्राप्त कर ली थी। जापान में, भारत में लगभग सौ वर्षों पहले और चीन में सम्भवतः इससे पहले साहित्यिक स्तर पर उपन्यास रचना का विकास हो चुका था। फिर भला प्राच्य साहित्य शास्त्र के, तलस्पर्शी अवगाहन के बिना प्राच्य उपन्यास विधा का शास्त्र निरूपण कहाँ तक सही और कहाँ सम्भव है? हमारे अपने देश में १८वीं शती के अन्त में तथा उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में जब हिन्दी तथा अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं में उपन्यास विधा ने नूतन कायाकल्प पाया था। उसकी अभिनव साहित्य समीक्षा भी नोकवीन शुरू हुई।

उस समय भारतीय भाषाओं के अभ्युदय के अध्वर्यु प्रायः सभी आधुनिक अथवा पाश्चात्य प्रणाली से शिक्षा प्राप्त हुए व्यक्ति ही थे और देश में पाश्चात्य प्रभाव अपने चरम उत्कर्ष पर था। इस में हमारे आंग्ल-पद्धति में शिक्षा प्राप्त भारतीय साहित्य शास्त्रियों ने यह पाश्चात्य मत स्वीकार करके कि उपन्यास पश्चिम का ही नूतन आविष्कार है और उसके बारे में उन्हीं के शास्त्रियों की मान्यताएँ ग्राह्य हैं—थोड़ा बहुत नाममात्र का अन्तर करके—भारतीय भाषाओं में रचित उपन्यासों के मानीकरण के लिए भी पाश्चात्य समीक्षा पद्धति को ही प्रयुक्त करना आरम्भ कर दिया। इस भाँति उपन्यास-समीक्षा की वह पटसूत्री समीक्षा हिन्दी एवं भारतीय भाषाओं की समीक्षा पद्धति में समाविष्ट हो गई जो एक प्रकार से आंग्ल शास्त्रीय शास्त्रियों की मान्यताओं की प्रायः सत्य प्रतिलिपि ही कही जा सकती है।

भारतीय भाषाओं में उपन्यास विधा के नवोत्थान का प्रादुर्भाव अट्ठारहवीं शती ई० के अन्त में एवं उन्नीसवीं शती के प्रवर्तन में हुआ। १८वीं शती के अन्त में हिन्दी भाषा तथा १९वीं शती के मध्य में धीरे धीरे अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्यों में, उपन्यास विधा के अभिनव विकास क्रम का आरम्भ हुआ। हिन्दी के साहित्यिक क्षेत्रों में, उपन्यास विधा के तात्त्विक पक्ष पर ध्यान देने वाले सर्वप्रथम साहित्यकार हुए प्रख्यात उपन्यास प्रणेता स्वर्गीय श्री किशोरीलाल गोस्वामी।

अपने प्रणयिनी परिणय नामक उपन्यास के उपोद्घात में उन्होंने दृढ़तापूर्वक और निश्चयात्मक स्वर में हिन्दी उपन्यास के उद्भव एवं उसके मूल स्रोतों के सम्बन्ध

ने, इस मिथ्या प्रवाद का खण्डन किया कि हिन्दी उपन्यास, अंग्रेजी 'नावेल' के प्रभाव से प्रवर्तित हुआ है—

"जिस प्रकार साहित्य के प्रधान अंगों में नाटक का प्रचार प्रसार प्रथम यहाँ ही हुआ था उसी तरह उपन्यास की सृष्टि भी, प्रथम प्रथम, यहाँ ही हुई थी। यह अत्युक्ति नहीं है। किन्तु किसी किसी महाशय का यह कथन है कि 'उपन्यास पूर्व समय से यहाँ प्रचलित नहीं था, वरन् अंग्रेजों की देखादेखी, लोगों ने 'नावेल' के स्थान में, 'उपन्यास' की कल्पना कर ली है, (इत्यादि)।"[1]

श्री किशोरीलाल गोस्वामी की समीक्षात्मक सूझबूझ, मुहुर्मुहु प्रशंसनीय है। उन्होंने ही सर्वप्रथम साहित्य प्रेमियों का ध्यान 'उपन्यास' शब्द की व्युत्पत्ति की ओर भी आकर्षित किया—

परन्तु उन महात्माओं को प्रथम इसकी मीमांसा कर लेनी चाहिये—क्योंकि उपन्यास— उप-नी' उपसर्ग पूर्वक 'आस' धातु—इन शब्दों से बना है। यथा उप (समीप) नी (पास), आस (रखना)। अर्थात् इसकी रचना उत्तरोत्तर आश्चर्यजनक एवं कुछ छिपी हुई कथा को, क्रमशः समाप्ति में, प्रस्फुटित हो। और अमरकार (अमरकोष के रचयिता अमरसिंह) द्वारा भी 'उपन्यासस्तु वाङ्मुखम्' अर्थात् 'वाङ्मुखी वाचा यह अर्थ, उपन्यास' के तात्पर्य से ही घटता है। इत्यादि प्रमाणों से उपन्यास भी प्राचीन काल से भारतवर्ष में प्रचलित है और 'दशकुमार चरित' 'वासवदत्ता', 'हर्ष चरित', 'कादम्बरी' आदि उपन्यास, इसकी प्राचीनता के प्रमाण हैं।[2]

हिन्दी साहित्य का सर्वप्रथम व्यवस्थित समीक्षात्मक ग्रन्थ 'मिश्रबन्धुविनोद' माना जाता है जिसका प्रथम प्रकाशन सन् १९१३ ई० में हुआ था। यह महत्त्वपूर्ण साहित्यिक घटना श्री रामचन्द्र शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के प्रकाशन से, सोलह वर्ष पूर्व की है। इस ग्रन्थ के विहंगावलोकन से ज्ञात होगा कि मिश्रबन्धुओं की दृष्टि में, उपन्यास विधा का कोई विशेष महत्व नहीं था। उदाहरणार्थ 'मिश्रबन्धु विनोद' के तीसरे भाग के अन्तर्गत, निम्न टिप्पणी (संख्या २१७४) अवलोकनीय है —

श्रीनिवासदास लाला—इन्होंने 'परीक्षागुरु' नामक एक उपन्यास भी बनाया, पर वह ऐसा अच्छा नहीं है जैसे कि इनके अन्य ग्रन्थ हैं। हम इनकी गणना, तोष कवि की श्रेणी में करेंगे। इनकी अकाल मृत्यु संवत् १९४४ में हो गई जिससे हिन्दी के नाटक विभाग को बड़ी क्षति पहुँची।[3]

---

१ प्रणयिनी परिणय (श्री किशोरीलाल गोस्वामी) उपोद्घात शीर्षक से, प्रथारम्भ में (प्रथम प्रकाशन १८९० ई०, प्रभाकरी यन्त्रालय, काशी)।

२ वही

३ मिश्रबन्धुविनोद' भाग ३ पृष्ठ ११९७-९८ (प्रथम प्रकाशन १९१३ ई०)

• प्रस्तुत संस्करण, द्वितीयावृत्ति (सन १९२८) (प्र० गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ)।

श्री श्यामसुन्दरदास के इस कथन पर कि उपन्यास की कोई शास्त्रीय मर्यादा नहीं है, अब पुनः विचार करना उचित होगा। प्रत्येक साहित्यिक विधा की शास्त्रीय मर्यादाएँ हो भी सकती हैं और नहीं भी। फिर भी लोक-काव्य, शास्त्रीय मर्यादाएँ नहीं मानता—चाहे वह दृश्यकाव्य हो अथवा श्रव्यकाव्य—पद्यकाव्य होवे या गद्यकाव्य। इसीलिए उपन्यासेतर अन्य विधाओं ने तो पहले या बाद में, शास्त्रीय मर्यादाओं में बँधे रहना और उसी के अन्तर्गत, अपना नव नव विकास करना किन्हीं अंशों में स्वीकार कर भी लिया, किन्तु उपन्यास की उन्मुक्तता एवं उच्छृंखलता आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है।

इसका कारण यह नहीं है कि उपन्यास सामान्य रूप से 'श्रव्यकाव्य' के अन्तर्गत मान्य है। वरन् यों कहना अधिक समुचित होगा कि उपन्यास यद्यपि मुख्यतया, श्रव्यकाव्य है, तथापि लोककाव्य होने के नाते उसको शास्त्रीय मर्यादाओं में बाँधे जाने के सभी प्रयत्न भूतकाल में भी विफल रहे हैं तथा भविष्य में भी—जब-जब ऐसे प्रयत्न किए जायेंगे—विफल ही होंगे।

श्री श्यामसुन्दरदास द्वारा प्रतिपादित यह अभिमत कि 'पश्चिम की प्रणाली पर भारतीय देश भाषाओं में भी इसका इतना अधिक प्रसार हो गया है कि अब यह काव्य साहित्य में, स्वतन्त्र रूप से अपनी एक अलग कोटि बना चुका है' सत्य का आधा विपर्यय है। यह हो सकता है कि भारतीय देश भाषाओं में कुछ उपन्यास ऐसे भी लिख गए हों जिनमें पश्चिम की प्रणाली अपनाई गई हो किन्तु वस्तुतः वे भारतीय देश भाषाओं के उपन्यासों के प्रतिनिधि ग्रन्थ नहीं हैं और कलाकोटि की दृष्टि से, वे अत्यन्त साधारण कृतियाँ हैं (उदाहरणार्थ — परीक्षागुरु)। इस सम्बन्ध में इतना और भी स्मरणीय है कि भारतीय उपन्यास का उद्भव एवं विकास पाश्चात्य प्रभाव से सर्वथा मुक्त एवं स्वतन्त्र रहा है।

श्री श्यामसुन्दरदास की उक्त अभिमत तालिका की संख्या (ग) और (घ) का अनुसरण करते हुए विगत ६० वर्ष के सुदीर्घ कालान्तर में उपन्यास की समीक्षा सरणी में जिस रीतिबद्ध परम्परा का प्रचलन दिखाई देता है उसका मूलाधार साहित्यालोचन ग्रन्थ का यही कोटि विभाजन एवं षट्सूत्री विवेचन ही है। इस विवेचना सरणी से उपन्यास विधा की समीक्षा में पाठकों की रुचि में चाहे वृद्धि हुई हो तथा उपर्युक्त षट्सूत्री विवेचना से उपन्यास सम्बन्धी आलोचना साहित्य का चाहे सुविस्तार हुआ हो किन्तु जैसा कि सदा ही होता आया है समीक्षा-सम्बन्धी रीतिबद्धता के कारण साहित्य विधाओं के मौलिक तत्व प्रायः अनुद्घाटित ही रह जाते हैं। यहाँ नहीं प्रायः उनकी ओर साहित्य रसिकों का ध्यान भी नहीं जान पाता।

उपन्यास में जीवन की व्याख्या, जीवन के सत्य, जीवन की वास्तविकता तथा जीवन-नीति की निदर्शना आदि विशिष्टताओं को ही यदि उपन्यास की कसौटी मान लिया जाय तो उत्तम, मध्यम एवं सामान्य कोटि के उपन्यासों का भेद ही मिट

जायगा, और ऐसी कृतियाँ भी उपन्यासकोटि में गिनी जाने लगेंगी, जिनमें उपन्यासगत रसात्मकता एवं कथा-सारस्य का, प्रायः अभाव ही पाया जाता है। नीति के साथ उपन्यास के महत्त्व एवं श्रेष्ठत्व को जोड़ने में, उपन्यास की समीक्षा, उसके मौलिक तत्वों से ही विरहित हो जाएगी। इस समीक्षा-पद्धति को अपनाने से उपन्यास विधा में, कलात्मक अनूठेपन, एवं स्वच्छन्द विकास की अपरिमेय हानि ही होगी।

यद्यपि स्वर्गीय श्री श्यामसुन्दरदास का, सम्पूर्ण समीक्षा जगत की ऋणी होना चाहिए कि उन्होंने सर्वप्रथम उपन्यास विधा का, साहित्यालोचन के क्षेत्र में स्थान दिया तथा उस पर विशद् विवेचना के सम्बन्ध में, आने वाले अन्य सभी लेखकों का, किन्हीं अंशों में मार्गप्रदर्शन भी किया तथापि उनके मन्तव्यों एवं धारणाओं के अंधानुकरण द्वारा हिन्दी उपन्यास समीक्षा की आगे चल कर बड़ी हानि हुई।

सन् १६२२ ई० में श्री श्यामसुन्दरदास के चिरस्मरणीय आलोचना-ग्रन्थ के प्रकाशन के पश्चात् अधिकांश परवर्ती हिन्दी समीक्षकों ने उनके द्वारा डाली गई उपर्युक्त समीक्षा परम्परा को ही, अधिकांश रूप में अपना लिया, और गतानुगति की सहज प्रवृत्ति से प्रेरित होकर, समग्र उपन्यास आलोचना ने ही क्रमशः वही रूढ़ रूप ग्रहण कर लिया। उधर तीव्र वेग से बदलने वाले लोकजीवन एवं देशकालगत वातावरण ने नये-नये क्षितिजों का उद्घाटन किया, और इसीलिए उपन्यास साहित्य की समीक्षा को भी अनिवार्यतः एक शाश्वत एवं सुदृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता, अधिकाधिक अनुभव होने लगी।

आज भी 'उपन्यास विधा' का परीक्षण एवं समीक्षण या तो उक्त 'षटसूत्री तत्व निरूपण' के आधार पर किया जाता है अर्थात्—कथावस्तु, चरित्र चित्रण, कथोपकथन, देशकाल, शैली एवं उद्देश्य—का ही आधार बना कर, प्रत्येक उपन्यास की आलोचना की जाती है, अथवा 'उपन्यास विधा' को, एक समूची इकाई न मान कर उसे, श्री श्यामसुन्दरदास द्वारा निर्देशित—घटनाप्रधान, सामाजिक, अंतरंग जीवन परक (अथवा मनोविश्लेषणात्मक), देशकाल सापेक्ष, देशकाल निरपेक्ष (अथवा सामाजिक) आदि विविध कोटियों में विभाजित किया जाता है। साथ ही उपन्यास विधा को उक्त कथावस्तु परक तात्विक विशिष्टताओं के अनुसार जाँचा भी जाता है।

किन्तु जब तक 'उपन्यास विधा' का, हम सर्वथा अभिनव प्रणाली द्वारा आज पुनः परीक्षण करना प्रारम्भ न करें उसकी लोकप्रियता मूलक गरिमा को, साहित्यिक मान्यता दिलवाने में हम सदा ही असमर्थ रहेंगे। इसीलिए हम उपन्यास विधा की व्युत्पत्ति एवं उसके शब्देतिहास का भी, एक बार नये सिरे से पुनः परीक्षण कर लेना चाहिए। इसमें भी सर्वप्रथम यह विचारणीय है कि 'उपन्यास' शब्द की व्युत्पत्ति द्वारा, उपन्यास विधा की विशिष्टताओं पर, कोई उपयोगी प्रकाश पड़ता है या नहीं?

उपन्यास—पद 'उप' (उपसर्ग) तथा 'नि' (उपसर्ग) तथा 'अस' (धातु), तथा 'अच्' (प्रत्यय) इन चार पदखण्डों के समन्वय से, बना है। नि+अस+अच् का योग

होता है न्यास । 'न्यास' शब्द के अनेक अर्थों में एक है, 'थाती' या 'धरोहर' । 'उप' (उपसर्ग) का अर्थ है निकटस्थ, समीप । इन दोनों के योग से 'उपन्यास'-पद में द्वयर्थकता का समावेश होता है --अर्थात् समीपस्थता, तथा धरोहर में प्राप्ति—इन दोनों तथ्यों की समन्विति द्वारा, 'उपन्यास' पद की मौलिक प्रकृति का आभास मिल सकता है ।

कथा साहित्य के एक विशिष्ट साहित्य रूप में व्यवहृत होने पर 'उपन्यास' पद का अर्थ होता है—एक ऐसी साहित्य विधा जो हमारे निकटतम हो—जो हमारे मनोभावों की सहज एवं आत्मीयता युक्त अभिव्यंजना हो अथवा जिसमें हमारे आस पास की समुपस्थित परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब पाया जाए । यही नहीं धरोहर के रूप में चले आने वाले प्रभूत लोककथा साहित्य का भी, जो प्रतिनिधि रूप होवे । इतिवृत्तात्मक वृत्तान्तों एवं एतिहासिक लोकोत्तर चरितों की, पीढ़ी दर पीढ़ी की अक्षय निधि की गरिमा से, जो मंडित हो ।

यह व्याख्या उपन्यास के आधुनिकतम रूप से पर्याप्त मिलती जुलती है । हिन्दी साहित्य कोश में उक्त अभिप्राय की ही अभिव्यंजना के लिये निम्न शब्दावली का प्रयोग किया गया है—

'वह वस्तु या कृति जिसको पढ़ कर ऐसा लगे कि यह हमारी ही है । इसमें हमारे ही जीवन का प्रतिबिम्ब है । इसमें हमारी ही कथा हमारी ही भाषा में कही गई है ।

आधुनिक युग में जिस साहित्य विशेष के लिए इस (उपन्यास) शब्द का प्रयोग किया जाता है उसकी प्रकृति को स्पष्ट करने में यह शब्द, सर्वथा समर्थ है ।'[1]

उपर्युक्त परिभाषा स्वीकार्य एवं मान्य है तथापि उसमें, समस्त 'उपन्यास' पद के परवर्ती खण्ड अर्थात न्यास को महत्व नहीं मिल पाया केवल उसके समीपता तत्व पर ही प्रकाश डाला गया है । अतः यदि उक्त परिभाषा के साथ ही साथ हम न्यास पदखण्ड के धरोहर वाले अर्थ का भी समन्वित करदें तो उससे आधुनिक साहित्य विधा के रूप में उपन्यास पद की अभिव्यंजना में—अर्थव्याप्ति एवं अर्थ सम्पूर्णता दोनों ही की दृष्टि से अभिवृद्धि होगी । इस समन्वित परिभाषा का एक प्रारूप यह भी हो सकता है—

वह साहित्यिक कृति जिसको पढ़ कर ऐसा लगे कि वह हमारी अपनी ही है—इसलिए कि उसमें न केवल हमारे अपने जीवन का प्रतिबिम्ब है, वरन उसमें हमारे पूर्वजों के जीवन की पुनर्सर्जना भी है जो उपन्यास के माध्यम द्वारा हमारे लिए पुनः साकार हो उठती है और साथ ही वह उसमें, हमारे वर्तमान एवं अतीत जातीय

---

१ हिन्दी साहित्य कोश' (भाग १) पृष्ठ १३९, उप शीर्षक 'उपन्यास (ज्ञानमण्डल प्रा० लिमिटेड, वाराणसी) प्रथम प्रकाशन सं० २०१५ वि० (१९५८ ई०) ।

जीवन दोनों के बीच, परस्पर परंपरागत तारतम्य की स्थापना करने वाली भी, सिद्ध होती है। यही नहीं, जिसमें निजी मनोभावों की, इतनी सहज एवं आत्मीयतायुक्त अभिव्यंजना निहित रहती है, कि हम जान पड़ता है, कि मानो हमारी ही कथा, हमें, हमारी चिरपरिचित एवं सहज बोधगम्य भाषा में, सुनाई जा रही है।

उपन्यास में हम, अपने आसपास के परिवेश, तथा अपने परंपरागत जातीय जीवन का अद्भुत सामंजस्य एवं समावेश उपलब्ध होता है। इसीलिए 'उपन्यास' पद, आधुनिक अखिल साहित्य सृष्टि में, सर्वप्रिय एवं, 'लोककाव्य सभा' की अधिकारिणी, साहित्य विधा का, परिचायक है।

इस प्रकार की नई परिभाषा उपन्यास विधा की मौलिक सहज प्रकृति एवं विशिष्टता को पर्याप्त संपूर्णता के साथ प्रतिबिम्बित करने में समर्थ है किन्तु उपन्यास विधा का जिज्ञासु एवं समीक्षक यहीं संतुष्ट होकर नहीं बैठ पायेगा। परिभाषाओं की केवल तर्कमूलता ही वास्तविक अध्ययन-अनुसंधान की, प्रशस्त एवं सहज, सत्यशोधक सरणी को, अग्रसर करने में समर्थ नहीं हो पाएगी। व्याकरण सिद्ध व्युत्पत्तिमूलक अर्थ के साथ ही साथ, जब हम किसी शब्द विशेष के परंपरागत परिवर्तन गत व विभिन्न प्रयोग गत अर्थभेद की ओर, ध्यान देते हैं, तो कभी-कभी उससे, बड़ी चमत्कारपूर्ण उपलब्धियाँ भी, हमारे समक्ष आ जाती हैं। विभिन्न साहित्यशास्त्री आचार्य तो समय समय पर शब्दों के बदलते हुए अर्थों को उद्घाटित करते ही रहते हैं किन्तु उनकी मूलाधार अनुसंधान-सामग्री होती है—तदावधि प्राप्त, साहित्य-सृष्टि। प्रकट रूप से वह साहित्य-सृष्टि, अधिकांशतः, साहित्य की परिनिष्ठित 'उच्च' भाषा से युक्त रहता है, और हमारे काव्य एवं महाकाव्य ही, बहुधा, उसका प्रतिनिधित्व करते हैं। किन्तु 'उपन्यास' की भाँति, नाटक में भी रंगमंचीय विशिष्टता के कारण, लोकभाषा का भी कभी कभी अनिवार्य एवं सहज व्यवहार मिल जाता है। विशेषतया जब पात्रगण, अपने हृद्गत वेगवान भावों की अनायास अभिव्यक्ति करने के लिए आतुर हो उठते हैं।

ऐसा ही एक स्थल, हम कविकुलगुरु कालिदास की युगयुगीन चिरस्मृत कलाकृति अभिज्ञान शाकुन्तलम् में, दिखाई देता है। प्रसंग है महर्षि कण्व द्वारा शकुन्तला को अपने पतिगृह, अर्थात राजा दुष्यन्त के राजप्रासाद में, भेजे जाने के ठीक बाद का। जब आश्रम के अधिवासीगण, शकुन्तला को लेकर, राजा दुष्यन्त के राजदरबार में पहुँचे, तो प्रारम्भिक शिष्टाचार के वार्तालाप के पश्चात, आर्या गौतमी ने, राजा दुष्यन्त को, महर्षि कण्व का सन्देश सुनाया और कहा कि तुम अपनी, स्वयंवरण की हुई धर्मपत्नी, शकुन्तला को, विधिवत् स्वीकार करो। तो इस पर राजा ने विस्मय प्रकट करते हुए उससे पूछा—किमिदम् उपन्यस्तम्?[1] (अर्थात् यह कथा, मनगढ़न्त कथा, गढ़ ली गई है?)

---

१ अभिज्ञान शाकुन्तलम्' (महाकविकालिदास), अंक ५, [श्लोक १६ के ठीक पश्चात्]।

यहाँ 'उपन्यस्तम्' क्रियापद का अर्थ है 'मन से गढ़ी हुई बात'। 'उपन्यास' क्रिया का अर्थ है मन की कल्पना से गढ़ डालने की प्रक्रिया। उसकी व्युत्पत्ति होती है 'उप + नि + अस्'। 'उपन्यस' क्रिया से ही 'उपन्यस्त' क्रियापद प्रचलित हुआ। तदुपरान्त न जाने कब 'उपन्यस्त' कहानी या वार्ता के लिए 'उपन्यास' संज्ञा प्रचलन में आई और फिर आगे चल कर, वह मात्र मनगढन्त वार्ता न रह कर, उस विशिष्ट साहित्य विधा की वाचक, रूढ़ संज्ञा के रूप में प्रवर्तित हो चली, जिसे हम आज 'उपन्यास' के रूप में जानते हैं।

उपर्युक्त प्रसंग से उपन्यास शब्द के इतिवृत्त की इस विशिष्टता पर भी प्रकाश पड़ता है कि महाकवि कालिदास के काल तक यानी आज से लगभग डेढ़ हजार वर्ष पहले तक उपन्यास विधा की एक प्रमुख विशिष्टता मानी जाती थी उसकी कल्पना-बहुलता अथवा उसमें प्रयुक्त स्वच्छन्दतमा कल्पना की उन्मुक्त लीला। जीवन दर्शन वाली बात, जिसे हम आजकल उपन्यास के छः तत्वों में से 'उद्देश्य' के अन्तर्गत खोजते हैं सम्भवतया उपन्यास विधा के मौलिक उद्भव एवं विकास के स्तर में, गौण अथवा नगण्य थी। कल्पना जगत में पंख लगा कर उड़ चलने की उसकी उन्मुक्त स्वच्छन्दता ही अधिक अंशों में युक्ति-युक्त मानी जाती था।

उपन्यास शब्द की उक्त विशिष्ट मौलिक प्रकृति अथवा उसकी मनोहारिता, मनोरंजन प्रधानता कल्पना-बहुलता तथा स्वच्छन्द प्रवहमानता की ओर रह रह कर आज भी हमारा ध्यान लौटता है। वह हम बारम्बार याद दिला जाती है कि उपन्यास विधा का मुख्य उद्देश्य है—लोकरंजन। जिस उपन्यास में उक्त विशिष्टता गौण बन जाती है वह सात्विक दृष्टि से उत्तम औपन्यासिक कृति कहलाने की अधिकारिणी नहीं मानी जा सकती। जब जब ऐसे प्रयोग किए गए जिनमें उक्त विशिष्टता के प्रति उदासीनता बरती गई—वे कुछ संक्षिप्त अवधि तक ही खद्योतसम चमक कर, फिर सदा के लिए अंधकार रूपी विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गए। उनका मूल्य केवल इतिवृत्तात्मक एवं पुरातत्वगत ही रह गया, और पाठकों के विशाल लोकमत ने उन्हें ठुकरा दिया।

उपन्यास क्रिया की व्युत्पत्तिमूलक प्रकृति एवं उसके प्राचीन प्रयोगार्थों पर प्रारम्भिक विचार विमर्श के पश्चात् अपने मान्य एवं विचक्षण प्राचीन साहित्य शास्त्रियों के कतिपय मन्तव्यों पर भी ध्यान देना उपयोगी होगा। ईसवी शती के प्रवर्तन से पहले और सत्रहवीं शती के अन्त तक संस्कृत भाषा में साहित्य समीक्षा में प्रवृत्त इन प्रतिष्ठित आचार्यों ने, प्राय एक सहस्र वर्ष तक विभिन्न प्रसंगों एवं प्रयोगार्थों में उपन्यास शब्द का व्यवहृत किया है। उसमें ईसवी सन से प्राय दो शती पूर्व आचार्य प्रवर भरतमुनि सर्वाग्रगण्य माने जाते हैं। प्राय विद्वज्जन उन्हें भारतीय साहित्य शास्त्र का आद्य आचार्य भी मानते हैं। उनकी प्रख्यात समालोचना

त्मक कृति 'नाट्य शास्त्र' में दृश्य-काव्य को समक्ष रख कर साहित्य के विविध कलात्मक एवं रसात्मक पक्षों पर गम्भीर विचार विवेचन किया गया है।

श्री भरतमुनि एवं उनके नाट्य शास्त्र की तिथियों के सम्बन्ध में अभी तक विद्वज्जनों में सम्पूर्ण मतैक्य नहीं पाया जाता किन्तु महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने, आज से प्रायः चार दशक पूर्व रायल एशियाटिक सोसायटी के तत्वावधान में प्रकाशित जरनल (शोध पत्रिका) में नाट्य शास्त्र की रचनातिथि, ईसवी-पूर्व दूसरी शती सिद्ध की थी।[1] इसी अभिमत को पीटरसन नामक एक सुख्यात पाश्चात्य प्राच्यविद् ने भी युक्ति-युक्त माना था।[2] भरतमुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में 'उपन्यास' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग, 'दृश्य काव्य' सम्बन्धी विशद विवेचन में किया है। नाट्य शास्त्र के उन्नीसवें अध्याय में, दृश्यकाव्य में व्यवहृत विभिन्न प्रासंगिक कथाओं के प्रयोग के सम्बन्ध में, 'पताका स्थानक' नामक विभेद के एक उपभेद विशेष को वे 'उपन्यास' संज्ञा प्रदान करते हैं।[3]

भरतमुनि कृत 'नाट्य शास्त्र' की अनेकानेक प्राचीन साहित्य शास्त्रियों ने विशद टीकाएँ की हैं। उनमें सर्वाधिक मान्य एवं सांगोपांग विवेचन ईसवी शती दसवीं के उत्तरार्ध में होने वाले आचार्य धनंजय का 'दशरूपक'[4] माना जाता है।

उन्होंने दृश्य-काव्य' गत शास्त्रीय विशिष्टताओं का सविस्तर विवेचन करते हुए दृश्य-काव्य को २८ भेदों में विभाजित किया है। उनमें से दस 'रूपक' तथा १८ उपरूपक माने गए हैं। उक्त वर्गीकरण का मुख्य आधार उन्होंने (१) कथावस्तु (२) नायक तथा (३) मुख्य रस को दृष्टि में रखते हुए किया है। आगे चलकर उन्होंने 'कथावस्तु' या कथानक को भी दो प्रकार का माना है—(१) आधिकारिक कथानक, (२) प्रासंगिक कथानक। फिर प्रासंगिक कथानक' के भी उन्होंने दो विभेद किए हैं—(अ) पताका, (आ) प्रकरी (जो प्रासंगिक कथाएँ या कथावस्तुगत प्रसंग सहसा प्रस्तुत हो जाते हैं और फिर विलीन हो जाते हैं अर्थात जिनका प्रसंग फिर बार बार नहीं आता उन्हें प्रकरी संज्ञा दी गई है। किन्तु कुछ ऐसी प्रासंगिक कथाएँ भी दृश्यकाव्य गत कथानक में आ जाती है, जो मुख्य-कथा के साथ ही साथ बहुत दूरी तक अथवा कभी-कभी आद्योपान्त भी चलती रहती हैं। उन्हें 'पताका' संज्ञा दी गई है।

---

१ जरनल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी में महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री का शोध निबन्ध (प्र० कलकत्ता, सन् १९३० ई०)।

२ शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त, भाग १, डा० गोविंद त्रिगुणायत पी-एच० डी०, डी० लिट० (भारती साहित्य मंदिर दिल्ली १९६२ ई०) पृष्ठ ३६७

३ 'नाट्य शास्त्र' (आचार्य भरतमुनि) अध्याय १९ श्लोक ३५

४ दशरूपक (धनंजय), रचनाकाल ९७५ ई० [हिन्दी व्याख्याकार डा० भोलाशंकर व्यास] चौखम्बा विद्या भवन बनारस प्र० २०११ वि०।

पताका नामक प्रासंगिक कथाओं की ही एक प्रशाखा को 'पताका स्थानक' कहा गया है। फिर पताका स्थानक को भी चार उपभेदों में विभाजित किया गया। चौथे उपभेद का नामकरण किया गया है 'उपन्यास'। भरतमुनि ने अपना उक्त नाट्य शास्त्र-गत उल्लेख इसी प्रसंग में किया है। किन्तु आगे चल कर स्वयं भरतमुनि ने अपने आशय को इस भांति स्पष्ट किया है— उपपत्तिकृतस्त्वयं उपन्यास तु सम्मृत।[1] (अर्थात् युक्तिपूर्वक किसी अभिप्राय विशेष को व्यक्त करने वाले कथा प्रसंग को 'उपन्यास' नाम से स्मरण किया जाता है।)

दशरूपककार आचार्य धनंजय ने पताका स्थानक की परिभाषा निम्न शब्दों में की है—

प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुनोऽन्योक्ति सूचकम्।
पताकास्थानकम् तुल्यम् सविधानविशेषणम्॥[2]

(अर्थात् प्रस्तुत से आगे आने वाले भाव के बारे में जहां कथावस्तु में अन्योक्ति द्वारा भली भांति कह दिया जाय वहां उस पताका-स्थानक नाम से विशेष संज्ञा प्रदान की जाती है।)

आज से प्रायः दो सहस्र वर्ष पूर्व से उपन्यास शब्द का प्रयोग अनेक साहित्य शास्त्री दृश्य काव्य के प्रसंग में उपयुक्त अर्थों में करते आए हैं। फिर भी ये पुरातन अर्थ भी आज की 'उपन्यास' विधा की मूलभूत प्रकृति एवं प्रवृत्ति से पर्याप्त घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। यह बात सुनने में कुछ अटपटी जान पड़ेगी अतः इसकी कुछ व्याख्या अपेक्षित है। वस्तुतः अखिल परिनिष्ठित वाङ्मय का आद्य रूप एवं आद्य उद्गम, लोक-साहित्य ही रहा है यह एक सर्वमान्य तथ्य है। समयान्तर में लोककथा ने ही उपन्यास-कहानी अथवा कथा साहित्य का रूप ग्रहण किया। लोकगीतों ने ही आगे चल कर काव्य में परिणति पाई तथा लोकनाट्य ही समयान्तर में दृश्य काव्य में प्रतिफलित हुआ। काव्य एवं दृश्य काव्य ने तो बहुत अंशों में अपने आद्यरूपों से पर्याप्त भिन्न सरणियां एवं पद्धतियां अपना लीं किन्तु कथा साहित्य ने—(उसमें भी विशेषतया उपन्यास ने) अभी तक अपनी लोककथात्मक प्रकृति एवं शिल्पविधान को पर्याप्त अंशों में अपनाए रखा है।[3]

---

१ भरतमुनि— नाट्य शास्त्र' अध्याय १६ श्लोक ७६

२ धनंजय—दशरूपक अध्याय १ श्लोक १४

३ विशेष विवरण एवं व्याख्या के लिए द्रष्टव्य— हिन्दी उपन्यासों में लोकतत्व' (डा० इन्दिरा जोशी) (आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध) खण्ड १ अध्याय २ (लोककथा का विकास एवं उसका उपन्यास रूप में परिणति) पृष्ठ १६-४७ (प्रथम प्रकाशन १९६५ ई०) (सरस्वती प्रकाशन मंदिर प्रयाग)।

पताका नामक प्रासंगिक कथा भेद, दृश्य काव्य में वस्तुतः उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि कथा-साहित्य में। विशेषतया जब लोक-कथा-साहित्य ने, अपना 'उपन्यास' नामरूपधारी नवीन परिवेश धारण किया, तो उसकी एक मूलभूत विशेषता फिर भी (उपन्यास में) ज्यों की त्यों बनी रही। यह मूलभूत विशेषता यह थी कि मुख्य कथा की, एक समानसूत्र में पिरोई गई सुगुम्फित कथामाला में कितनी ही अन्य सहायक कथाएँ उपकथाएँ तथा प्रासंगिक कथाएँ समाई जाती रहीं। यह विशिष्टता उपन्यास में अपने पूर्वरूप 'लोककथा' से ज्यों की त्यों अवस्थित रह गई।

उपन्यास साहित्य रूप को, उसके सहजाति कहानी साहित्य रूप से पृथक करने वाली उपयुक्त समान कथामाला शैली की विशिष्टता, ही है। जब कि 'कहानी' में एक सीधी और प्रशस्त कथा रहा करती है 'उपन्यास' में न जाने कितने विभिन्न कथासूत्रों का ताना बाना सा बुना हुआ जान पड़ता है। अतः यदि सुदीर्घकालीन अवान्तर के पश्चात् अपनी इसी एक विशिष्ट मूलभूत विशिष्टता के बल पर—दृश्य काव्य गत 'पताका'—विभेद के द्योतक 'उपन्यास' शब्द ने, अपनी आज की अभिनव एवं स्वतन्त्र, कथा साहित्यात्मक सत्ता (उपन्यास) को ग्रहण कर लिया, तो इसे सर्वथा अयुक्तियुक्त एवं सहसा घटित नहीं कहा जा सकता। यदाकदा विज्ञ आलोचकगण भी इस शाश्वत सत्य को विस्मृत कर जाते हैं कि कोई भी साहित्यिक घटना मात्र-संयोग अथवा सहसा घटित नहीं हुआ करती तथा उसके मूल में, कोई न कोई विस्मृत पूर्व प्रवृत्ति, अवश्य क्रियमाण रहा करता है।

सभी जानते हैं कि उपन्यास में प्रासंगिक कथाओं का समावेश करना, स्वयं में एक बड़ी ही सूक्ष्म साहित्य शिल्प घन कला है। सभी प्रासंगिक कथाएँ सिद्धहस्त उपन्यासकार द्वारा बड़े ही व्यंजनापूर्ण कौशल के साथ मुख्य कथा में निमज्जित कर दी जाती हैं तथा उनमें से प्रत्येक ('पताका स्थानक' के समान ही) अपने एक विशिष्ट अभिप्राय को संकेतित भी करती है। वस्तुतः बिना प्रासंगिक कथाओं के इस कलात्मक निमज्जन के, हम उपन्यास की, कल्पना भी नहीं कर सकते।

इस भांति यद्यपि कभी उपन्यास पद का आद्य एवं शास्त्रीय प्रयोग प्रासंगिक कथातत्व के रूप में प्रवर्तित हुआ था किन्तु संयोगवश कालान्तर में, उसी ने कथा साहित्य की इस विधा विशेष का व्यंजक नामरूप ग्रहण कर लिया। इस भांति वह आज भी हमें उपन्यास विधा के, एक विशिष्ट मूलभूत तत्व को याद दिला जाता है, जिसका कि उसके रूप विधान में सर्व प्रमुख योग रहा है।

उपर्युक्त विवेचन द्वारा 'उपन्यास' शब्द के व्युत्पत्ति-गत एवं उसके शासन-गत तथा प्रयोग गत अर्थ विचार से उपन्यास विधा की जिन मुख्य विशिष्टताओं का उद्घाटन हो पाया है वे हैं—

(क) 'उपन्यास'—हमारे आस-पास फैले हुए परिवेश की अकृत्रिम, आत्मीय कथात्मक अभिव्यंजना है।

(ख) वह परम्परागत एवं इतिवृत्तात्मक मानव अनुभूति एवं चिरस्मरणीय घटनावली को भी अपने में समावेश करता चलता है, जो हमें 'धरोहर' या विरासत के रूप में, अपने पूर्वजों से पीढ़ी दर पीढ़ी प्राप्त होती रही है।

(ग) उपन्यास मुख्यतः लोक मनोरंजन उन्मुख साहित्य है, इसीलिए उसमें हमें मानव मन की अबाध कल्पना (उड़ान) के दर्शन मिलते हैं। सब मिला कर वह एक ऐसे संसार का सृजन करता है जो सचमुच ही मायावी, मनभावन और मनोहारी है।

(घ) उपन्यास अनेकानेक प्रासंगिक उल्लेखों एवं उपकथाओं के पेचीदा ताने बाने से रूपायित होता है और ये सभी प्रासंगिक तत्व उसके विशिष्ट अभिप्राय में, किसी न किसी रूप में सहायक सिद्ध होते हैं।

हमारे प्रभूत आलोचना साहित्य में 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग बारम्बार पाया जाता है। ई० सन् १३००-१४०० के बीच आचार्य विश्वनाथ ने 'उपन्यास' शब्द की व्याख्या करते हुए अपने प्रसिद्ध काव्य शास्त्र ग्रन्थ 'साहित्य दर्पण' में यों लिखा है—'उपन्यासः प्रसादनम् प्रसन्नता संपादनम् वा'[1] अर्थात् उपन्यास का मुख्य अभिप्राय है 'प्रसादन अथवा प्रसन्नता का सम्पादन नियोजन करना।)

उक्त व्याख्या उपन्यास विधा के मुख्य अभिप्राय 'प्रसादन' अथवा 'प्रसन्नता सम्पादन' के अनुकूल पड़ती है। इस दृष्टि से उपन्यास विधा की उसकी वर्तमान 'उपन्यास' संज्ञा केवल 'रूढ़' न होकर सार्थक एवं साभिप्राय भी है। इस भाँति 'उपन्यास' पद का प्रयोग भरत मुनि से लेकर आचार्य विश्वनाथ तक के सुदीर्घ कालान्तर में (प्रायः डेढ़ सहस्र वर्ष तक) संस्कृत वाङ्मय के साहित्य एवं काव्यशास्त्र दोनों में ही प्रायः निरन्तर ही पाया जाता रहा है। यथा—आचार्य धनिक ने भी अपने काव्यालोचन ग्रन्थ—'अवलोक' (रचनाकाल १००० ई०) में उपन्यास शब्द का इस भाँति प्रयोग किया है—

'प्रसादोपन्यासनं बीजोद्भेदात उपन्यास इति' अर्थात् जिस भाँति बीज के उद्‌भेद अर्थात् अंकुर रूप में प्रस्फुटन से उसका मुख्य अभिप्राय अर्थात् विकसन प्ररोहण की प्रक्रिया, सम्पन्न होती है उसी भाँति प्रसाद अर्थात् प्रसन्नता के खिला देने का कार्य 'उपन्यास' द्वारा सम्पादित होता है। सूक्ष्मतया अवलोकन से ज्ञात होगा कि धनिक की उक्त व्याख्या उनके लगभग तीन सौ वर्ष पश्चात् होने वाले आचार्य विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित व्याख्या के पर्याप्त समीपवर्ती है।

आचार्य भामह ने भी जो आचार्य धनिक से लगभग तीन शती पहले (ई० सन् ६००-७०० के आस पास) हुए थे अपने प्रख्यात काव्य विवेचन ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में 'उपन्यास' क्रिया पद का प्रयोग विशद एवं सविस्तर व्याख्या के पर्याय के रूप में

१ विश्वनाथ—साहित्य दर्पण, परिच्छेद ६, श्लोक संख्या ३६७ (सं० जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य) प्र० १८३८ ई० कलकत्ता।

किया है—'नायकम् प्राक उपन्यस्य, वशवीर्यश्रुतादिभि ।'[1] (अर्थात् 'नायक के लक्षणों का निर्देश करते हुए, आचार्य भामह के अनुसार पहले ही, विशद व्याख्यापूर्वक एवं विस्तार से वर्णित 'वंश, वीर्य श्रुत आदि गुणों से, नायक का समन्वित होना आवश्यक है।)

'उपन्यस्य' पद की, 'विशद विवेचना, अथवा विस्तारपूर्वक 'व्याख्या के अर्थों में किया गया यही प्रयोग, वस्तुतः उपन्यास की (चरित'+आत्मकता) चरितात्मकता का बीज माना जाना चाहिए। 'उपन्यास की एक प्रमुख विशिष्टता, नायक के अथवा उसके प्रसंग से अन्य पात्र पात्राओं के विशद रूप में चरितात्मक वार्त्ता वर्णना की विस्तारपूर्वक एवं विशद वर्णनात्मक व्याख्या भी है।

'उपन्यास शब्द का प्रयोग 'विशद एवं सविस्तर व्याख्या' के पर्याय के रूप में इस भांति सर्व प्रथम आज से प्रायः बारह शती पहले आचार्य भामह द्वारा किया गया था। वस्तुतः यही प्रयोग, उपन्यास की एक मूलभूत विशिष्टता अर्थात् नायक (अथवा उसके प्रसंग से, अन्य पात्र पात्राओं) के विशद रूप से चरितात्मक वार्त्ता वर्णनों के लिए भी किया जाना रहा जो आगे चल कर उपन्यास विधा की चरित सत्ता का भी आदि-कारण बना। [उदाहरणार्थ दशकुमार चरित (दण्डी), 'उदयभान चरित अथवा 'रानी केतकी की कहानी (इंशाअल्लाह खां) आदि अनेकानेक औपन्यासिक सुकृतियाँ।]

आचार्य भामह ने ही एक अन्य स्थान पर, उपन्यास' पद का भी प्रयोग यों किया है— उपन्यसनम् अन्यस्य यदभ्यस्य उन्मिनान' ।[2] (अथवा पाठक के मन में अभिप्राय अथवा उद्देश्य का उदय हो पाए इसी दृष्टि से विविध प्रसंगों का 'उपन्यसन्' अर्थात् उनकी विशद विवरण व्याख्या की जानी आवश्यक है। उक्त अर्थों में ही उपन्यसन् क्रियापद का प्रयोग भामह के परवर्ती अनेक अन्य प्राचीन साहित्य शास्त्री भी करते रहे हैं। यथा महाकवि दण्डी ने भी (जो कि संस्कृत वाङ्मय में 'उपन्यास विधा के प्रथम प्रवर्तकों में भी माने जाते हैं, तथा जिनकी दशकुमार चरित उपन्यास उपन्यास विधा की अनेक आधुनिक विशिष्टताओं से समन्वित होने के कारण पर्याप्त विस्मय रूप का अनर है) अपने 'काव्यादर्श' (रचनाकाल सन ६०० ७०० ई०) नामक प्रसिद्ध काव्य-समीक्षाशास्त्र में उपन्यस्तम् पद का इस भांति प्रयोग किया है—

नाविषय च प्रस्तुत मद्गमन तत्रापि सौकर्येणेम हन्तु तदोपन्यस्तम् ।[3] (अर्थात् यद्यपि इससे पूर्व भी इस प्रसंग का, उपयुक्त विषय के साथ विवेचित किया जा चुका है फिर भी सौकर्य या सुविधा के लिए, उसका पुनः विशद विवेचन कर दिया गया है।)

---

१ काव्यालङ्कार' (आचार्य भामह) परिच्छेद प्रथम श्लोक २२
२ वही परिच्छेद द्वितीय श्लोक ७१
३ काव्यादर्श' (आचार्य दण्डी) परिच्छेद दशम्।

'दशरूपक'-कार आचार्य धनंजय ने भी एक स्थल पर 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग — 'उपन्यासः तु सापादम्'[1] —या किया है। (अर्थात् उपन्यास उपादाता-सहित विवेचना अथवा विवरणा का पर्याय है।) उन्होंने ही आगे चल कर अपने अभिप्राय को और भी स्पष्ट किया है— 'प्रसादनम् उपन्यासः'[2] अर्थात् 'उपन्यास' का अभिप्राय यही है कि पाठक के मन को वह प्रसादन अथवा आह्लाद प्रदान करे।)

उपन्यास शब्द के विविध प्राचीन प्रयोगों की उक्त संक्षिप्त विवेचना करने का उद्देश्य केवल यही है कि साहित्य की इस विशिष्ट विधा की आद्य प्रेरक अन्तश्चेतना को हम आधुनिक परिप्रेक्ष्य में सतुलित एवं समन्वित कर पाएं। बिना उसके, उपन्यास के क्षेत्र में आलोचनात्मक मत वैभिन्य एवं मनमाना विवेचन बढ़ता ही जाएगा और उससे 'उपन्यास-तत्त्व' के सम्बन्ध में अध्येता या अनुसंधित्सु की कठिनाइयाँ और भी बढ़ती ही जायेंगी।

हमारे प्राचीन वाङ्मय एवं उसके विवेचक काव्यशास्त्र में, 'उपन्यास' पद की मूलभूत प्रकृति एवं वैशिष्ट्य पर हमें जो निर्देश प्राप्त होते हैं उन्हें निम्न प्रकार से सारीकृत किया जा सकता है—

(क) उपन्यास एक ओर तो हमारे आसपास फैले हुए वर्तमान जगत की, अकृत्रिम आत्मीय एवं कलाभिमुखी अभिव्यक्ति है—और दूसरी ओर वह, पीढ़ी दर पीढ़ी परम्परा में प्राप्त मानव-अनुभूति की इतिवृत्तात्मक एवं वृत्तात्मक धरोहर है। इस भाँति उपन्यास में अतीत एवं वर्तमान दोनों के ही देशकाल का, अपूर्व सामंजस्य पाया जाता है।

(ख) उपन्यास का एक प्रमुख अभिप्राय है—'जन मन रंजन'। उसमें उपर्युक्त, आशा में लोक मनोरंजनार्थ कौतूहल विस्मय घटना वैचित्र्य एवं विवरण-कला की अनुपम छटा दिखाई देती है।

(ग) उपन्यास मनोवेग का उन्मुक्त विहार है—अर्थात् उसमें हम कल्पनाशीलता की उन्मुक्त उड़ान का सम्पूर्ण विकास दृष्टिगोचर होता है। उपन्यासकार की वर्णन प्रतिभा इस भाँति सत्य तथ्यों के उद्घाटन तथा उनसे मानसिक उद्भावनाओं की, अनिवार्यतः समन्वित अभिव्यंजना में निहित रहती है।

(घ) उपन्यास मूलतः एक कथात्मक साहित्य है। उसकी कथावस्तु एवं कथानक का ताना-बाना प्रत्यक्ष रूप में जितना ही सरल एवं सहज जान पड़ता है—उतना ही वह जटिल विविधतायुक्त एवं भूलभुलैया के समान उलझता सुलझता चलता है। इसीलिए एक ओर उपन्यास में मुख्य कथा का महत्व भी बना रहता है और दूसरी ओर उसके अभिप्राय को साकार एवं साक्षात् करने वाली,

---

१ २ 'दशरूपक' (आचार्य धनंजय), प्रथम प्रकाश श्लोक ३५

विविध प्रासंगिक कथाओं का वितान भी, (उपन्यास विधा में) कम महत्वशाली नहीं माना जाता।

(ङ) 'उपन्यास' किसी योजनाबद्ध 'कौशल' अथवा 'कारीगरी' का परिणाम, नहीं है। इसके विपरीत वह तो एक सहज रूप में अंकुरित, प्रवर्धित, पुष्पित एवं पल्लवित होने वाली आह्लादकारी सृष्टि है जो कि साहित्य की मौलिक एवं चरम विशिष्टता है और जो 'उपन्यास विधा' में सर्वाधिक पाई जाती है।

(च) 'उपन्यास' का एक पक्ष विशेष चरित्रात्मक (अथवा चरित्र चित्रण-विषयक) भी है किन्तु उसमें, अन्य साहित्य विधाओं के समान, लेखक पात्रों के कुल शीलादि का साधारण अथवा परम्परागत विवरण दन मात्र से ही सतुष्ट नहीं होता —वरन् वह अपनी कृति में, अखिल विश्व की वैविध्यपूर्ण मानवता की विलक्षण प्रदर्शिनी की प्रत्यक्ष प्रस्तुत करके अपने पाठक को सूक्ष्म निरीक्षण तथा दार्शनिक पर्यवेक्षण में प्रवृत्त करके उसे अपूर्व कथा रस में निमज्जित भी करा देना चाहता है।

उपन्यास विधा की उपर्युक्त मूलभूत विशिष्टताओं की परिचायिका, उक्त पदसूची रूपरेखा, समीक्षा के आधुनिक युग में भी अग्राह्य अथवा अस्वीकार्य नहीं होगी। सहस्राब्दि वर्षों में परिव्याप्त, भारतीय समीक्षात्मक चिन्तन के उपन्यास सम्बन्धी विवेचन की, वरसारिणी भी मानी जा सकती है। चाहे वह 'उपन्यास विधा' व्याख्या की स्थायी तालिका न भी मानी जाए फिर भी उसमें, परम्परागत भारतीय समीक्षा के 'उपन्यास'-सम्बन्धी दृष्टिकोण का अनेक अंशों में, प्रतिनिधित्व हो जाता है।

अब, उपन्यास पद का विविध कोशकारों द्वारा दी गई व्युत्पत्तियों, व्याख्याओं तथा परिभाषाओं का भी, पुनर्निरीक्षण परीक्षण कर लेना भी, समीचीन होगा। 'उपन्यास' की मूलभूत वर्णनात्मक प्रकृति के सम्बन्ध में उनमें भी हमें अनेक उपयोगी निर्देश एवं इंगित मिल जाते हैं। यथा 'मानक हिन्दी कोश' के प्रथम खण्ड में हम 'उपन्यास तथा 'उपन्यस्त' पदों की निम्न व्युत्पत्तियाँ एवं परिभाषाएँ मिलती है—

उपन्यस्त—भू० कृ० (स० उप—नि अस (क्षेपण)+क्त) (१) पास रखा या लाया हुआ। (२) अमानत या धरोहर के रूप में, किसी के पास रखा हुआ। (३) उल्लिखित या वर्णित। (४) उपन्यास के रूप में लाया या लिखा हुआ।'[1]

उपन्यास—पु० (स० उप—नि अस+घञ्) (१) वाक्य का उपक्रम। बयान। (२) अमानत, धरोहर। (३) प्रमाण। (४) वह बड़ी और लम्बी आख्यायिका, जिसमें किसी व्यक्ति के काल्पनिक या वास्तविक जीवन चरित्र का चित्र, अंकित या उपस्थित किया जाता है। (नावेल)[2]।

१-२ 'मानक हिन्दी कोश'—पहला खण्ड (सपादक रामचन्द्र वर्मा) पृष्ठ ३६३, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, २०१९ वि०, १९६२ ई०)।

तदनुसार—'उपन्यस्त पद के आद्य अर्थ न्यास अथवा धरोहर या अमानत के अतिरिक्त भी एक अर्थ दिया गया है— उपन्यास के रूप में लाया या लिखा हुआ।' यह उल्लेख उपन्यस्त शब्द के चतुर्थ अर्थ के रूप में मिलता है। इसमें प्रगटतः उपन्यस्त शब्द की आधुनिक समीक्षा पदावली में व्यवहृत किए जाने की स्वीकृति भी निहित है।

उपन्यस्त' की उक्त पद व्याख्या के पश्चात् ही उपन्यास' पद के चतुर्थ अर्थ, इस भांति दिए गए हैं— वह बड़ी और लम्बी आख्यायिका जिसमें किसी व्यक्ति के काल्पनिक या वास्तविक जीवन चरित्र का चित्र, अंकित या उपस्थित किया जाता है (नावेल)। इस व्याख्या द्वारा उपन्यास की वर्णनात्मक प्रकृति पर भी ध्यान दिया गया है।

प्रकट है कि 'किसी व्यक्ति के काल्पनिक या वास्तविक जीवन चरित्र का चित्र (अथवा शब्द चित्र) अंकित या साक्षात करने में उपन्यासकर्ता की वर्णनात्मक प्रतिभा सतत ही कसौटी पर रहती है। उपन्यास नामक साहित्य रूप में सबसे अधिक विशिष्ट गुण है कल्पनालोक अथवा वास्तविक जगत से लिए गये शब्द में अंकित अथवा चित्रित वर्णनात्मक प्रसंगों की सुघड़ समृद्धि जिस पर कि बहुत अंशों में इस साहित्यांग का मूलाधार ही अवस्थित है।

'मानक कोश की उक्त (चतुर्थ) व्याख्या के प्रथम चरण की ओर भी बरबस ही जिज्ञासु का ध्यान जाता है। अर्थात् उपन्यास एक बड़ी और लम्बी 'आख्यायिका' है। कोशकार ने यहां भारतीय साहित्य शास्त्र में व्यवहृत, एक पुराने पारिभाषिक पद की नूतन आवृत्ति की है। यह आख्यायिका क्या है?

अग्निपुराण में जो महर्षि व्यास प्रणीत भारतीय साहित्य शास्त्र का आद्य ग्रंथ भी माना जाता है (रचनाकाल ई० पूर्व ४०० अथवा उससे भी पूर्व) गद्यकाव्य के पांच प्रकार विवेचित किए गए हैं— आख्यायिका कथा खण्डकथा परिकथा और कथनिका। उसी के अनुसार आख्यायिका नामक गद्यकाव्य विभेद विशेष की व्याख्या इस भांति की गई है—

आख्यायिका वह है जिसमें कुछ विस्तारपूर्वक लेखक द्वारा, निज वंश की प्रशंसा आदि का समावेश किया जाय। साथ ही जिसमें कन्याहरण संग्राम, विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत आने वाली अनेक विपत्तियों के वर्णन आदि का सविस्तार वर्णन पाया जाये। आख्यायिका में आए हुए वर्णनों की रीति और वृत्ति अति प्रदीप्त शैली में होवे। उसमें परिच्छेद होवें जिन्हें उच्छ्वास' नाम दिया जाता है। उसमें चूर्णक शैली का बाहुल्य होवे और उसमें वक्त्र तथा अपर वक्त्र नामक श्लोकों का भी यथावसर समावेश किया जाय।[1]

---

१ अग्निपुराण पृष्ठ ३३६ श्लोक संख्या १२ तथा १३ १४

अग्निपुराण में जिस 'चूर्णक' शैली का आख्यायिका में बाहुल्य वाञ्छित है उसमें वदर्भी रीति के ओज, प्रसाद, माधुर्य, सौकुमार्य आदि सभी गुणों का समावेश रहा करता है। अग्नि 'प्रदीप्त' शैली से अभिप्राय है आकर्षक सजीव एवं चटकदार भाषा एवं भावाभिव्यंजना से।

साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने भी अपने शास्त्रीय सिद्धान्त-ग्रन्थ 'साहित्य दर्पण' में आख्यायिका की व्याख्या इस प्रकार की है—

आख्यायिका भी अपनी मूलभूत प्रकृति में, कथा के समान ही होती है। इसमें कवि, अपने अथवा अन्य कवियों के वंशादि का सिलसिलेवार अनुकीर्तन करके काव्य रचना में प्रवृत्त होता है। 'आख्यायिका' के विविध कथांशों को अलग अलग करके, उन्हें 'आश्वास' संज्ञा दी जाती है। साथ ही उसमें, किसी वाक् विशेषता अथवा सकेत या सुझाव के द्वारा पद्यावद्ध आर्या वक्त्र आदि किन्हीं भी छन्दों में—आश्वास मुख (या नवीन परिच्छेद की प्रस्तावना) के रूप में पूरे परिच्छेद के भावी अभिप्राय को सार रूप में प्रस्तुत किया जाता है।[1]

आचार्य विश्वनाथ ने बाणभट्ट कृत 'हर्षचरित' को आख्यायिका' के उदाहरण के रूप में उल्लेख किया है। उन्होंने आख्यायिका' को कथावत् बताया है—अतः 'आख्यायिका सम्बन्धी उनके अभिमत को समझने के लिए उनकी 'कथा' सम्बन्धी परिभाषा की ओर भी ध्यान देना होगा। उनकी राय में—

'कथा में सरस कथावस्तु अथवा काव्य वस्तु का गद्य ही में निर्माण किया जाता है। कहीं कहीं उसमें आर्या, वक्त्र अथवा अपवक्त्र आदि पद्य छन्दों का भी प्रयोग किया जाता है और यह प्रयोग, कथा के प्रारम्भ में, मंगलाचरण, नमस्कार, के लिए किया जाता है। कथा में खल आदि दुष्ट पात्रों का भी वर्णन, कथावस्तु में किया जाता है।[2]

यदि मानक कोश की आधुनिक परिभाषा के साथ हम, प्राचीन आचार्यों द्वारा अपने काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में उल्लिखित तथा पुराणों आदि में पाई जाने वाली कथा आख्यायिका नामधारी उपन्यास विधा की परिभाषाओं की तुलना करके देखें, तो

---

१ 'आख्यायिका कथावत् स्यात् कवि वंशानुकीर्तनम्।
अस्याम् अन्य कवीनाम् च वृत्तम् पद्यम् क्वचित्-क्वचित् ॥ ३३४ ॥
आर्या वक्त्रापवक्त्राणाम् छन्दसा येन केन चित्।
अन्यापदेशेन आश्वास मुखे भाव्यर्थ-सूचनम् ॥ ३३५ ॥
—आचार्य विश्वनाथ (साहित्य दर्पण) अध्याय ६

२ 'कथायाम् सरसं वस्तु गद्य एव विनिर्मितम् ॥ ३३२ ॥
क्वचित् अत्र भवेत् आर्या, क्वचित् वक्त्रापवक्त्रके।
आदौ पद्य नमस्कार खलादि वृत्त-कीर्तनम् ॥ ३३३ ॥
—वही अध्याय ६

तथा एक से अधिक जिल्दों में प्रकाशित होने वाले महा उपन्यासों (यथा चन्द्रकान्ता एवं चन्द्रकान्ता-संतति तथा आधुनिक उपन्यासों में इन्दुमती आदि) को भी 'बृहत्कथा' ही कहा जाएगा।

प्राचीन काव्य शास्त्रों में औपन्यासिक रचनाओं के लिए 'गाथा' पद का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से चला आता है। इस शब्द की व्युत्पत्ति है— ग+थन्+टाप् (स्त्री प्रत्यय) इसका साधारण अर्थ होता है—'गान या गीत' किन्तु उसका विशिष्ट अर्थ है— ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रन्थों में आये हुए गद्यात्मक आख्यानों के बीच आने वाले, गद्य अंश।[1]

आगे चलकर मात्र गद्यात्मक आख्यानों के लिए प्रयुक्त होते होते गाथा शब्द का अर्थ हिन्दी साहित्य में भी किस प्रकार प्रवर्तित हुआ इसको हिन्दी साहित्यकोश में इस प्रकार समझाया गया है —

गाथा शब्द वृत्तान्त या जीवनी के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। गाथाओं में आख्यानों का सूक्ष्म उल्लेख या संकेत होने के कारण कालान्तर में यह शब्द, आख्यान कहानी या जीवन वृत्तान्त के ही अर्थ में प्रयुक्त होने लगा।[1]

'गाथा शब्द' का प्रयोग काव्यशास्त्रियों ने संस्कृत भाषा में लिखी गई पौराणिक अथवा लोकसाहित्य में प्रचलित कथा-वार्ताओं पर आधारित औपन्यासिक कृतियों के लिए भी किया है। हिन्दी भाषा में भी हम प्रायः उसी अर्थ में 'गाथा' शब्द का व्यवहार करते हैं।

प्राचीन काव्यशास्त्रों में उपाख्यान शब्द का प्रयोग लघु उपन्यास या उपन्यासिका' के रूप में किया गया है। हिन्दी की आद्य औपन्यासिक कृतियों में नासिकेतोपाख्यान भी इसी शैली की कृति है। बंगला में उपाख्यान का पर्याय उपकथा है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण द्वारा प्रकट है कि प्राचीन भारतीय वाङ्मय में न केवल उपन्यास-साहित्य का प्रभूत मात्रा में प्रचलन पाया जाता था वरन् उसमें तत्सम्बन्धी आलोचनात्मक शब्दावली का भी अभाव नहीं था।

संस्कृत काव्य शास्त्र के आचार्यों की कृतियों में हमें औपन्यासिक कृतियों तथा अन्य कथात्मक साहित्य रूपों का वर्ण्यवस्तु एवं वर्णन शैली पर आधारित विशद विवेचन प्रायः निरन्तर ही मिलता है। इसके अतिरिक्त हमें प्राकृत कथा साहित्य तथा प्राकृत के काव्य शास्त्र दोनों ही में कथात्मक साहित्य सम्बन्धी अनेक रोचक एवं उपादेय उल्लेख उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ प्राकृत गद्य महाकाव्य समराइच्चकहा[3]

---

१ २ हिन्दी साहित्य कोश' (भाग १) उपशीर्षक गाथा १ पृष्ठ २५८

३ समराइच्चकहा (हरिभद्र सूरि) (सम्पादक डा० हरमन जकोबी) (प्र० रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, प्रथम प्रकाशन सन १९२६ ई०)।

('समरादित्य-कथा') के रचयिता हरिभद्र सूरि ने अपने उक्त गद्य महाकाव्य की प्रस्तावना में कथाओं के विविध भेदों एवं उपभेदों की भी विवेचना की है।[1]

प्राकृत साहित्य शास्त्री एवं उपन्यासकार हरिभद्र सूरि का समय, ईस्वी शती सातवीं के आस पास का माना जाता है। वे राजस्थान के प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगर, चित्तौड़ के निवासी थे। श्री हरिभद्र सूरि ने समग्र कथा साहित्य को, चार विभागों में विभक्त किया है—अर्थकथा', कामकथा', धर्मकथा', एवं 'संकीर्ण कथा'। इन कथा भेदों के नामों से ही उनका अभिप्राय स्पष्ट नहीं हो पाता, अतः उनकी संक्षिप्त व्याख्याएँ भी उन्होंने दी हैं। अर्थोपार्जन की ओर प्रवृत्त करने वाली कथा को 'अर्थ कथा' नाम दिया गया है। यह नाम व्यावहारिक नीति व्यवहार सम्बन्धी कथा साहित्य के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिसके अनुशीलन द्वारा पाठकों की व्यावहारिक बुद्धि का विकास होता है और वे अपने दैनिक व्यावसायिक जीवन एवं अर्थोपार्जन में, सफलता पाते हैं।

'कामकथा' से हरिभद्र का अभिप्राय है रोमान्टिक कथाओं से। इन कथाओं में रोमानी कल्पना एवं प्रणय प्रसंगों का बाहुल्य होने के कारण जैन दर्शन ने उन्हें 'कामकथा' जैसे 'कम प्रतिष्ठित' नाम द्वारा स्मरण किया है। माधुर्य रस एवं शृंगारिक वर्णनों के कारण, कथाओं की यह शैली, विशेष लोकप्रिय थी।

'धर्मकथा' नामक कथा शैली को हरिभद्र सूरि ने क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि सद्धर्म की ओर ले जाने वाली बताया है। प्रायः ऐसी कथाओं में, चरित्र के औदार्य एवं दानशील पक्ष के निर्देशक, एवं वैराग्य द्वारा धर्मानुराग में प्रवृत्त कराने वाले, दार्शनिक आख्यानों का समावेश रहता था।

यदि हम हरिभद्र सूरि द्वारा प्रतिपादित कथा साहित्य विभाजन को स्वीकार करें तो वस्तुतः आधुनिक उपन्यास विधा का पर्याय रूप उनकी 'संकीर्ण कथा' ही थी। हरिभद्र ने उसे धर्म, अर्थ, और काम का प्रतिपादन करने वाली, काव्य, कथा और ग्रन्थ के अर्थ का विस्तार करने वाली, लौकिक और धार्मिक रूप में प्रसिद्ध, तथा उदाहरण, हेतु और कारण से युक्त कथा बताया है।[2]

हरिभद्र सूरि के अतिरिक्त कुछ अन्य प्राकृत कवियों एवं आचार्यों ने भी, औपन्यासिक साहित्य के विभेदों पर विवेचन किया है। कुवलयमाला नामक प्रसिद्ध कथाग्रन्थ के रचयिता उद्योतन सूरि भी उनमें से एक है। उन्होंने शिष्य चिह्न

---

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) पृ० १७८ परिशिष्ट संख्या ६ 'जैन साहित्य' (प्र० हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई) (प्रथम प्रकाशन, फरवरी १९४० ई०)।

२ हरिभद्र सूरि (७वीं शती ई०)— समराइच्चकहा (समरादित्य कथा—प्राकृत गद्य महाकाव्य) पृष्ठ २ (प्रस्तावना भाग)।

उपाधि द्वारा सम्मानित किया गया था। इन्होंने मारवाड़ के जालोर नामक नगर में, अपनी औपन्यासिक कृति 'कुवलयमाला' को, सन ७७९ ई० में सम्पूर्ण किया था।

दाक्षिण्य चिह्न उद्योतन सूरि ने अपने उक्त प्राकृत ग्रन्थ के प्रस्तावना भाग में[1] समग्र कथा-साहित्य को तीन मुख्य विभेदों में विभक्त किया है—'धर्मकथा', 'अर्थकथा', और 'कामकथा'। इनकी परिभाषाएँ भी हरिभद्र सूरि कृत व्याख्याओं से मिलती जुलती ही है। किन्तु उद्योतन सूरि ने धर्मकथा नामक कथा साहित्य विभाग को चार उपविभेदों में और बाटा है—आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेदिणी और निर्वेदिणी। इन विभेदों की व्याख्या करते हुए उद्योतन सूरि ने धर्मकथा नामक कथात्मक साहित्य रूप को अपेक्षाकृत अधिक उदार दृष्टिकोण से देखा है। वे लोक रुचि के रंजन पक्ष से भी परिचित थे। अतः उनका मत था कि धर्मकथा साहित्य में रोचक एवं रसमय वर्णनों का समावेश करके हम उन्हें अधिक लोकग्राह्य बना सकते हैं। आक्षेपिणी तथा संवेदिणी धर्मकथाएं इसी शैली की औपन्यासिक कृतियां हैं। विक्षेपिणी कथाओं की अपेक्षा संवेदिणी कथाएं अधिक ऊंचे साहित्यिक स्तर वाली हुआ करती हैं।

सुम्मणा चरिय (*सुलक्षिणा चरित*) के रचयिता देवेन्द्र सूरि भी (जो उद्योतन सूरि के समय के आस पास ही आठवीं शती के अन्त में हुए थे) दाक्षिण्य चिह्न उद्योतन सूरि वाले कथा साहित्य विभाजन को ही मान्य समझते हैं। उन्होंने उक्त विभेदों की तनिक अधिक विशद व्याख्या की है। विक्षेपिणी कथा को उन्होंने कुशास्त्रों की ओर से उदासीन करने वाली मन के प्रतिकूल कथा बताया है और आक्षेपिणी कथा को मनानुकूल विचित्र और अपूर्व अर्थवाली कथा कहा है। स्पष्ट है कि औपन्यासिक कृति को वे आक्षेपिणी कथा नाम से सम्बोधित करते हैं। ज्ञान को उदित करने वाली और मन को मोक्ष की ओर प्रवृत्त करने वाली कथा को वे संवेदिणी कहते हैं और वैराग्य उत्पन्न करने वाली कथा को 'निर्वेदिनी' बताते हैं।

देवेन्द्र सूरि ने कथा साहित्य अथवा औपन्यासिक कृतियों के जो चार अन्य विभेद बताए हैं वे और भी रोचक हैं। उन्होंने सुदसणा चरित (सुलक्षिणा चरित) के प्रस्तावना भाग में रात्रिकथा, स्त्री कथा, भक्त कथा और जनपद कथा नाम की चार विकथाओं का त्याग करके धर्मकथा के श्रवण को हितकारी बताया है।[2]

रात्रिकथा उन औपन्यासिक कृतियों का पर्याय है जो रोमानी एवं अतिमानवीय तत्त्वों से अनुप्राणित कल्पना की मुक्त उड़ान से उद्भूत होती हैं। सहस्र रजनी

---

१ कुवलयमाला (दाक्षिण्यचिह्न उद्योतन सूरि) (रचनाकाल ७७९ ई०) (प्रस्तावना भाग) सं० डा० आ० ने० उपाध्ये (सिंघी ग्रन्थ माला, बम्बई)।

२ प्राकृत साहित्य का इतिहास (डा० जगदीशचन्द्र जैन) अध्याय ६ पृ० ४६०-६२ (प्र० चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी १) १९६१ ई०।

चरित्र' अथवा 'आख्योपयास की शली की ये कथा मालाएँ बडी लाकप्रिय रही होगी। स्त्रीकथा से अभिप्राय सामाजिक या पारिवारिक औपयासिक कृतिया से था। 'जनपद-कथा' म लाक गाथाओ एव लाककथाओ के आधारपर रचित औपन्यासिक कृतियो से तात्पय था। तथा 'मतकथा' स अभिप्राय था लोकोत्तर चरित वाले, उदात्त एव धमपरायण महापुरुषा के जीवन स सम्बध रखन वाले जीवन चरितात्मक औपन्यासिक साहित्य से। इस भाति यह तथ्य भी स्मरणीय है कि सातवी आठवी एव नवी शती ई० के कालान्तर म प्राकृत औपयासिक कृतिया म भी, हम, उपयास विधा के विविध रूपा का प्रचलन पाते हैं। विशेषतया उन कथा रूपा की उक्त पारिभाषिक शब्दावली, औपयासिक साहित्य के प्रस्तुत वणनात्मक विवेचन की दृष्टि से भी स्मरणीय है।

आचाय हेमचन्द्र सूरि, बारहवी शती के, प्रसिद्ध वयाकरणी एव दाशनिक हुए है। उन्हान अपने सुप्रसिद्ध व्याकरण शास्त्र 'काव्यानुशासन' म 'आख्यायिका' एव 'कथा' का अन्तर समझाते हुए कहा है कि आख्यायिका मे 'उच्छ्वास' होते है और वह सस्कृत गद्य म ही लिखी जाती है, किन्तु कथा कभी गद्य म, कभी पद्य म, कभी सस्कृत म कभी प्राकृत म, कभी मागधी म, कभी शौरसनी म, कभी पशाची म और कभी अपभ्रश भाषाओ म भी लिखी जाती है। उन्हाने औपयासिक कृतिया के जो विभेद बताए है, उनम 'उपाख्यान (लघु उपयास), आख्यान (चरितात्मक उपयास), निदशना (दृष्टात कथा), प्रवह्लिका (रोचक रोमानी कथा साहित्य) मथल्लिका (ज्ञान एव दशन के प्रसगा से युक्त उपदेशात्मक कथासाहित्य), मणिकुल्या' (साहित्यिक स्तर की कायमयी शली की कथा-कृतिया) परिकथा (सस्मरणात्मक औपयासिक कृतिया), खण्डकथा (लघु उपयास का एक विभेद), सफल कथा (साभिप्राय अथवा रूपकात्मक औपयासिक कृतियाँ) तथा 'बहत्कथा (अनेक जिल्दा म समाप्य वहद उपयास) भी हैं।

उपयुक्त प्राकृत औपयासिक कृतिया की पारिभाषिक शब्दावली स उपयास विधा के वणनात्मक पक्ष पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। उपयास विधा म वणनात्मकता की दृष्टि स भी इन प्राकृत औपयासिक कृतिया का वणन ववध्य एव वणनात्मक वियास विशेष अध्ययनीय है। दसवी शती ई० के पश्चात् अनेक प्रख्यात जन साहित्य कारा ने, प्राकृत भाषा का माध्यम छोड कर, पुन सस्कृत भाषा का माध्यम अपना लिया था। उनमे से एक 'उपमितिभावप्रपच कथा' नामक प्रसिद्ध आत्मकथात्मक उपयास के रचयिता सिद्धर्षि (रचनाकाल ९०५ ई०) ने भी हेमचन्द्र सूरि द्वारा प्रतिपादित, कथासाहित्य के कोटि विभाजन का ही अपने उक्त आत्मकथात्मक उपयास म, प्राय ज्यो का त्यो ही दोहराया है।[1]

---

१ उपमितिभावप्रपच कथा' (सिद्धर्षि) (सपादक हरमन जैकोबी) अध्याय १, (श्लोक सख्या ५१ ५२)।

समग्र आधुनिक भारतीय भाषाओं में, उपन्यास विधा के रचनात्मक एवं विवेचनात्मक, दोनों ही पक्षों में प्रथम प्रवर्तन का श्रेय हिन्दी वाङ्मय को ही है। जब सन् १८०१ ई० में सैयद इंशाअल्ला खाँ ने हिंदी का सर्वप्रथम उपन्यास ठेठ हिंदी भाषा (भाखा) में लिख कर प्रस्तुत किया तो उन्होंने उसका नामकरण 'उदयभान चरित' किया जो कि संस्कृत एवं प्राकृत परम्परा के अनुसार ही था। उसका एक उपनाम उन्होंने 'रानी केतकी की कहानी' भी रखा था। जान पड़ता है कि उस समय तक हिंदी में 'उपन्यास' शब्द का वर्तमान अर्थों में प्रयोग होना प्रारम्भ नहीं हुआ था। उस समय तक साहित्य की इस विधा विशेष को कई अन्य अभिधानों के द्वारा भी व्यंजित किया जाता था यथा चरित, उपाख्यान, कथा, कहानी आदि। सम्भवतया इसीलिये कतिपय विद्वानों एवं कोशकारों का यह मत है कि सम्भवतः सर्वप्रथम उपन्यास शब्द का वर्तमान अर्थों में प्रयोग बंगला भाषा में हुआ था। यथा— मानविकी पारिभाषिक कोश में इस प्रसंग में यह उल्लेख मिलता है—

उपन्यास —शब्द, संस्कृत का प्राचीन शब्द है किन्तु आधुनिक युग में इसका प्रयोग, सर्वथा नवीन साहित्य विधा की अभिव्यक्ति करने के लिए, एकदम भिन्न अर्थ में किया जाने लगा है।

उपन्यास शब्द उप तथा नि उपसर्गों तथा अस् धातु से बना है जिसका अर्थ है—फेंकना या होना। व्युत्पत्ति की दृष्टि से इसका अर्थ सम्मुख प्रस्तुत करना या होना ही है। मूलतः इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग सबसे पहले बंगला में हुआ। सम्भव है उपन्यास के कथातत्व में निहित प्रसादन की अपूर्व शक्ति तथा उसे यथार्थता एवं युक्तियुक्तता की भूमि पर प्रतिष्ठित करने की अनिवार्यता प्रस्तुत अभिधान में प्रेरणा-स्वरूप रही हो।

संक्षेप में उपन्यास वह कल्पनात्मक गद्य साहित्यरूप है जिसमें वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले चरित्रों एवं व्यापारों की कार्यकारण शृंखलाबद्ध एवं अपेक्षाकृत विस्तृत कथानक के द्वारा निरूपित किया जाए और मानव जीवन के सत्य की रसात्मक अभिव्यक्ति का प्रयत्न किया जाए।[1]

किन्तु वस्तुतः बंगला भाषा में उपन्यास शब्द का प्रयोग पहले पहल उपन्यास के लिए नहीं वरन् कहानी अथवा गल्प के रूप में किया जाता था। तत्पश्चात् उसका प्रयोग उपन्यासिका अथवा लघु उपन्यास के लिये किया जाने लगा। वर्तमान अर्थों में तो इस पद का प्रयोग हिन्दी तथा बंगला दोनों ही भाषाओं में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ही स्थिर हो पाया था। सम्भवतया मानविकी पारिभाषिक

---

१ मानविकी पारिभाषिक कोश' (एनसाइक्लोपीडिया आफ ह्यूमनिटीज) साहित्य खण्ड (लिटरेचर) (स० डा० नगेन्द्र) (राजकमल प्रकाशन दिल्ली) १९६५ ई० पृष्ठ १७६

कोश' के उक्त मत का आधार डॉ० जयन्तकुमार दासगुप्ता की अँग्रेजी भाषा मे लिखित पुस्तक ए क्रिटिकल स्टडी आफ बंकिमचन्द्र रही होगी, जिसमें इस सम्बन्ध में निम्न उल्लेख पाया जाता है—

बंगला भाषा में सर्वप्रथम उपन्यास' शब्द का प्रयोग शक संवत १७७३ ७८ तदनुसार सन १८८१ ८३ ई० में सकलित विविधार्थ संग्रह' मे दो कहानियों के शीर्षक के रूप में प्राप्त है—'सरलेर उपन्यास तथा 'पादुकाकार गणेशेर उपन्यास'।[1]

इसी तथ्य का समर्थन हमें बंगला भाषार अभिधान नामक कोश में भी मिलता है। जिसमें इस प्रकार लिखा गया है—

गद्य रचित ये काल्पनिक काहिनीते वा गल्प, प्रकृत जीवनेर चित्र अंकित हय[2] (अर्थात गद्य मे रचित, काल्पनिक कहानी या गल्प के रूप में, वास्तविक जीवन का अंकित करने वाला चित्र है।) उपरोक्त कथन के अनुसार भी 'उपन्यास' बंगला भाषा में कहानी या गल्प का पर्याय रहा है।

'बंगला साहित्य का इतिहास' के प्रणेता डा० सुकुमार सेन के अनुसार श्री भूदेव मुखर्जी कृत ऐतिहासिक उपन्यास (सन १८६२ ई०) ही बंगला की ऐसी सर्वप्रथम औपन्यासिक कृति है जिसमें 'उपन्यास शब्द का आधुनिक अर्थों में प्रयोग पाया जाता है। एक प्रकार से यह भी एक इतिवृत्तात्मक कथासंग्रह है जिसमें एक लघुकथा और एक लघु उपन्यास या उपन्यासिका, साथ साथ संकलित हैं।[3]

अतः सत्य तो यह है कि 'उपन्यास' शब्द का प्रचलन उसके वर्तमान अर्थों में, बंगला भाषा में भी उन्नीसवीं शती के तृतीय चरण तक भी सुस्थिर रूप से नहीं हो पाया था जबकि हिन्दी में इस शब्द का प्रयोग, वर्तमान अर्थों में कम से कम सन् १८७१ ई० से सुस्थिर रूप से होने लगा था। यह तिथि है, हिन्दी भाषा में रचित एक आद्य-उपन्यास, मनोहर उपन्यास के प्रकाशन की।[4] आगे चल कर तो श्री किशोरीलाल गोस्वामी, इसी शब्द का प्रयोग अपने प्रत्येक उपन्यास के मुख पृष्ठ पर आदर्श वाक्य के रूप में किया ही करते थे। (उपन्यासस्तु वाङ्मुखम्)

कहने का तात्पर्य यह है कि कहानी के लिए प्रयुक्त होने होते उपन्यास शब्द, बंगला भाषा में आधुनिक उपन्यास' विधा के लिए भी प्रयुक्त होने लगा था। उपन्यास शब्द पहले बंगला भाषा में सामान्यतः कथात्मक साहित्य के लिए प्रयुक्त हुआ

---

१ ए क्रिटिकल स्टडी आफ दि लाइफ एण्ड नावेल्स् आफ बंकिमचन्द्र'—डॉ० जयन्त कुमार दासगुप्ता, पृष्ठ ५

२ 'बंगला भाषार अभिधान', भाग १, पृष्ठ ३३१ (स० राजेन्द्रमोहन दास)।

३ ए हिस्टो आफ बंगाली लिटरेचर' (डा० सुकुमार सेन) अध्याय १६

४ मनोहर उपन्यास' (सदानन्द मिश्र) प्रथम प्रकाशन सन १८७१ ई०, (प्रकाशक 'सार सुधानिधि कार्यालय कलकत्ता)।

करता था और 'कथात्मक साहित्य' का पर्याय ही था। सन १८०५ ई० में प्रकाशित श्री भुवनचन्द्र की इतिवृत्त आधारित औपन्यासिक कृति का नाम रखा गया था—ऐतिहासिक नवन्यास। यह नवन्यास शब्द नावल के नव तथा रमन्यास अथवा 'रोमान्स' के योग से बना हुआ एक अभिनव शब्द है।[1] बंगला भाषा में 'उपन्यास' शब्द विधा के लिये, कभी रमन्यास (रोमान्स) एवं कभी नवन्यास (नावल) और कभी उपन्यास शब्दों का बहुत काल तक प्रयोग होता रहा।

मनविक्रीणशा में यह तथ्य तो निर्विवाद रूप में स्वीकार किया ही गया है कि 'उपन्यास' शब्द संस्कृत का प्राचीन शब्द है। वह कल्पनात्मक गद्य साहित्य रूप है जिसमें वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले चरित्रों एवं व्यापारों की रसात्मक अभिव्यक्ति पाई जाती है। प्रगट है कि उक्त अभिप्राय की सिद्धि केवल वर्णनात्मकता के माध्यम से ही उपलब्ध हो सकती है। रसात्मक अनुभूति तो एकमात्र कलात्मक वर्णनों के सफल चित्रण द्वारा ही संभव है।

संस्कृत एवं हिन्दी के कतिपय मान्य शब्दकोशों में 'उपन्यास' पद की परिभाषाओं पर सम्यक अनुशीलन के पश्चात अब कुछ अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं के कोशों में पाई जाने वाली परिभाषाओं पर भी दृष्टिक्षेप किया जाय। यथा—बंगला भाषा के कोशों में 'उपन्यास' शब्द की कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार दी गई हैं। सरल बांगला अभिधान तथा नूतन बांगला अभिधान दोनों कोश ग्रन्थों में 'उपन्यास' शब्द के प्राचीन अर्थ बताए गए हैं—वाक्यारम्भ, उपन्यास, उपस्थापन तथा दान। इनमें उल्लेख पद का अर्थ वर्णन से सान्निध्य रखता है और वह उपन्यास विधा की वर्णनात्मक विशिष्टता का संकेत करता है। नवीन अर्थों में उपन्यास की व्याख्या है—चमत्कारजनक सांसारिक घटना मूलक गद्यग्रन्थ, अस्वाभाविक कल्पित उपाख्यान, उपकथा, गल्प आदि।[2]

यहाँ केवल इतना ही द्रष्टव्य है कि चामत्कारिक सांसारिक घटनाओं से ओतप्रोत साहित्य विधा की सृजन क्रिया तथा उसका अलौकिक—कल्पित उपाख्यान की परिकल्पना—दोनों में ही वर्णनात्मकता एक अनिवार्य अभिव्यंजना माध्यम बनती है।

नूतन बांगला अभिधान नामक शब्दकोश में भी उपन्यास विधा की परिभाषा यों दी गई है—श्रोता व पाठकदिगेर चित्त विनोदार्थ कल्पित वृत्तान्त। श्रोता अथवा पाठक के चित्तविनोद के लिए तथा कल्पना प्रसूत कथाविन्यास के तान बान को बुन कर उपन्यास नियोजन के विशाल पाटम्बर को खड़ा करने के अनुष्ठान में

---

१ **बंगला साहित्येर इतिहास (डा० सुकुमार सेन) भाग २ परिच्छेद ५ पृ० १७४**
२ **बंगीय शब्द कोश' भाग १ खण्ड २ 'उपन्यास' शीर्षक।**

एकमात्र वर्णनात्मक कला ही, समग्र एवं प्रभावशाली अभिव्यंजना माध्यम बन सकती है।

मराठी भाषा में रचित उपन्यास साहित्य एवं उसकी परिभाषा के बारे में मराठी शब्दकोशों में आए हुए विवरणों पर विचार करने पर, ज्ञात होता है कि मराठी भाषा में चिरकाल से ही उपन्यास के पर्याय के रूप में, 'कादंबरी' शब्द का व्यवहार होता चला आया है। 'महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश' के संपादक डॉ० श्रीधर व्यंकटेश केतकर ने 'कादम्बरी' की परिभाषा यों दी है—

कादंबरी —हा शब्द, आपल्या कडे बाणभट्टाच्या 'कादम्बरी' या अद्भुत कथेवरून रूढ झाला। तथापि याची रूढता अलीकडील आहे। गोष्टी, कथा इत्यादि शब्द पूर्वीपासून होते च। मराठीतील कथावाङमय, हे नवीन नमून। त्याची परंपरा अत्यन्त प्राचीन आहे। जुने मराठीतील पहिले कथावाङमयाच्या रूपान्तराणि निर्माण होऊन, पुढे त्यावर पाश्चात्य संस्कार झाले। त्यामुळे प्रथम संस्कृत व प्राचीन प्राकृत वाङमय, त्यानंतर पाश्चात्य कथावाङमय व शेवटी मराठी कथावाङमय अशी निवदन परम्परा लावली, तर ती अधिक स्वाभाविक होइल।[1]

(अर्थात कादम्बरी —यह शब्द हमारी भाषा में, बाणभट्ट की 'कादम्बरी' अथवा अद्भुत कथा से आया, और रूढ हो गया। फिर भी (मराठी भाषा में) इसकी परम्परा एवं मान्यता, आधुनिक ही है। मराठी भाषा में पहले 'गोष्ठी' कथा इत्यादि शब्द भी 'उपन्यास विधा के लिए प्रचलित थे और, मराठी भाषा में, पहले कथा वाङमय का प्रारम्भ संस्कृत कथा वाङमय के रूपान्तरों द्वारा होने लगा। आगे चल कर मराठी उपन्यास का पाश्चात्य शैली पर संस्कार होता गया। सर्वप्रथम, संस्कृत व प्राचीन प्राकृत वाङमय, तदनन्तर, पाश्चात्य वाङमय, तथा अंत में मराठी कथा वाङमय, इस परम्परा में होकर, मराठी उपन्यास साहित्य का स्वाभाविक विकास हुआ।)

केवल मराठी भाषा में ही नहीं वरन् अन्य अनेक दाक्षिणात्य भाषाओं में भी उपन्यास विधा का पर्याय नाम 'कादम्बरी' का, यावधि प्रयोग किया हो जा रहा है। कम से कम भारतीय भाषाओं के एक पर्याप्त विस्तृत क्षेत्र में उपन्यास विधा के लिए प्रयुक्त इस पर्याय 'कादम्बरी' से ही भारतीय उपन्यास के मूलतः वर्णनात्मक एवं वर्णन प्रधान होने का तथ्य स्वतः सिद्ध हो जाता है क्योंकि बाण भट्ट की 'कादम्बरी' अपनी चित्र विचित्र एवं आलंकारिक वर्णन प्रतिभा के कारण ही भारतीय उपन्यास

---

१ 'महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश' (क) (काव्य) खण्ड १०, पृष्ठ २६६' (संपादक— डॉ० श्रीधर व्यंकटेश केतकर तथा —री सहायक मण्डल) प्रथम प्रकाशन १६२४ ई० (प्र० महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश मण्डल लिमिटेड नागपुर तर्फ ८४१ सदाशिव पेठ पुणे)।

साहित्य के इतिहास में सर्वाधिक ख्यातनामा कृति के रूप में, चिरस्मृत हो पाई है। केवल उसकी वर्णनात्मक व्यापकता एवं विश्वकोशात्मक सार्वभौमिकता के कारण ही उसकी लोकप्रियता प्रायः डेढ़ हजार वर्षों से अप्रतिद्वंद्वितापूर्वक आज भी अक्षुण्ण रूप से अवस्थित है।

कहा ही जा चुका है कि 'उपन्यास' का यह कादंबरी पर्याय, कन्नड भाषा में भी अद्यावधि प्रयुक्त होता चला आ रहा है व अन्य द्रविड़ भाषाओं में भी लोग 'कादम्बरी' शब्द से परिचित हैं और उसके कहे जाने पर वे 'उपन्यास' का भाव तुरन्त समझ लेते हैं। किन्तु यहाँ यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि दाक्षिणात्य भाषाई क्षेत्र के अतिरिक्त समग्र उत्तर भारत में, 'कादम्बरी' शब्द से उपन्यास का भाव कोई नहीं समझता। अपने अपने भाषाई क्षेत्रों की सीमा में यद्यपि लोग नवलकथा नवन्यास उपकथा इतिकथा आदि शब्दों का व्यवहार करते आए हैं किन्तु उपन्यास नामक समान संज्ञा से सभी परिचित हैं तथा वे सभी उपन्यास शब्द के वर्तमान अर्थ में उसे पहचानते भी हैं और प्रयुक्त भी करते हैं।

अनेक पाश्चात्य कोशकारों ने भी उपन्यास (नावल) की बहुविध परिभाषाएँ दी हैं किन्तु यहाँ केवल एक बहुमान्य विश्वकोश 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' से, एक परिभाषा उद्धृत की जा रही है जो प्रस्तुत शोध का दृष्टि से अवलोकनीय है —

'नावल (अथवा उपन्यास) साहित्य की एक ऐसी विधा का नाम है जिसमें एक सतत निर्वाह की गई कहानी यथी रहती है जो ऐतिहासिक दृष्टि से अनिवार्यतः सत्य नहीं होती किन्तु सरलता से भय भी हो सकती है ... इसका सीधा-सादा अभिप्राय है पाठकों का मनोरंजन करना—कभी प्रकृति से चित्रित दृश्यात्मक वर्णनों के निरन्तर क्रम के द्वारा तथा कभी भावुकतापूर्ण कथावस्तु के एक समान सूत्र द्वारा'।[1]

उक्त परिभाषा में उपन्यास विधा की वर्णनात्मकता एवं उसमें समन्वित नैसर्गिक शोभा के चित्रमय वर्णनों की विशिष्टता व महत्व को स्पष्टतया स्वीकार किया गया है। उपन्यास विधा की उपर्युक्त कोशगत विविध परिभाषाओं की समान प्रवृत्ति वर्णनात्मकता की ओर ही अभिमुख है।

संस्कृत भाषा के कोशों में सम्भवतया सबसे अधिक प्रसिद्ध एवं प्रचलित कोश अमरकोश है। इसमें दी गई परिभाषा द्वारा भी 'उपन्यास' शब्द की प्रकृति पर बहुमूल्य प्रकाश पड़ता है। अमरकोश में उपन्यास के सम्बन्ध में निम्न उल्लेख बड़ा ही व्यापक

---

१ नावेल ... दि नेम गिवन टु लिटरेचर टु ए सस्टेंड स्टोरी विच इज नाट हिस्टारिकेली ट्रू बट माइट वेरी इजिली बी सो ... इट्स प्लेन एण्ड डाइरेक्ट परपज इज टु एम्यूज बाइ ए सक्सेशन आफ सीन्स पेन्टेड फ्राम नेचर एण्ड बाइ ए थ्रेड आफ इमोशनल नरेटिव —ए साइक्लोपेडिया ब्रिटेनिका जिल्द २६ पृष्ठ ५७२ (१९४६ ई०)।

एवं अर्थगौरव से युक्त है —'उपन्यासस्तु वाङ्मुखम्'। 'अर्थात उपन्यास अखिलवाणी या वाङ्मय का प्रमुख प्रवक्ता या विवेचक है। आधुनिक युग में तो सचमुच ही ऐसा जान पड़ता है मानो उपन्यास विधा ने अखिल वाङमय का प्रतिनिधित्व करने का उत्तरदायित्व ही अपने कंधों पर ले लिया है।

उपन्यास्तु वाङमुखम् कह कर 'अमर कोशकार' ने वाङमय अथवा साहित्य की सबसे बड़ी विशिष्टता उपन्यास की विवरण वर्णन प्रमुखता की ओर सहज ही हमारा ध्यान आकर्षित किया है। प्राचीन आचार्यों ने अखिल वाङमय का जो काव्य संज्ञा दी थी, वह भी उक्त व्याख्या द्वारा युक्ति-युक्त सिद्ध हो जाती है। कवयति का अर्थ है अन्तचक्षु अथवा मन चक्षु द्वारा, मन्य कल्पना करना। इसी से कवि, 'स्वप्न द्रष्टा' माना गया—(मात्र स्वप्न द्रष्टा ही नहीं दिवास्वप्न द्रष्टा भी) क्योंकि कवि चाक्षुप जगत के अतिरिक्त एक दूसरे जगत की झाँकी भी देखता रहता है। इस भांति काव्य शब्द एवं 'उपन्यास' शब्द, दोनों मिल कर, वाङमय की प्रमुखतम विशिष्टताओं को प्रतिबिम्बित करते हैं।

कादम्बरीकार बाणभट्ट ने भी 'कवयति' शब्द का प्रयोग वर्ण्यवस्तु के वर्णन, अथवा चित्रण व्यापार से पूर्व, लेखक द्वारा अपने मनःदेश में, उसकी प्रथम मानसिक परिकल्पना के रूप में किया है —

'स्वयं उत्पादितानि अनवद्य चित्राशनाकुला कवयति इव, तरलता न किंचित् स न उत्प्रेक्षत।'[1] [अर्थात कवि (या लेखक) का तरंगित मन जब सक्रिय होता है तो वह अपने आन्तरिक मनोदेश में अनजाने परिकल्पनाएँ करता है। ऐसा कुछ नहीं है जो उसकी परिकल्पना जगत में आ नहीं जाता हो।]

प्रख्यात प्राच्यविद् पुरातत्त्व तथा बाण भट्ट की कृतियों के अधिकारी व्याख्याकार स्व० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने बाण की उक्त उद्भावना पर टिप्पणी करते हुए लिखा है —

कवि के (उक्त) सकता का गम्भीर चिंतन और विस्तृत अभिज्ञता से पहचानने की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए उज्जयिनी के वर्णन में अनेक शब्दों के श्लेषात्मक अर्थों में, उस युग की सांस्कृतिक शब्दावली अन्तर्निहित है। जब कवि, उज्जयिनी के नागरिक जन को, कालिसार और 'प्रकटित-कनक राशि' कहता है, तो उसका अर्थ वे अतिरिक्त उसका संकेत वहाँ के कोटिपति और पदमपति धनिकों से है। जब वह नगर के वर्णन में प्रायः सुविस्मृत मुक्ता प्रवाल मरकत मणि सुवर्ण से भरे हुए में विपणि-पथ के चित्र की भावना है तो उसका अभिप्राय, उस युग के चौरासी (नागरिक) हाटों में से नमूने के लिए, केवल एक स्वर्णहट्टी, या सराफा बाजार से पाठकों

---

1 'कादम्बरी (बाण भट्ट) अनुच्छेद १६८, पृष्ठ १६६ (प्र० चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी प्रथम प्रकाशन, १९५८ ई०)।

उसका सुदीर्घ वर्णनात्मक वृत्तान्त, कथोपकथन तत्व से भिन्न वस्तु वर्णन की एक शैली का ही रूप धारण कर लेना है।

जहाँ तक 'शैली' एवं उद्देश्य' शीर्षक विवेचनात्मक तत्वों का प्रश्न है उनका भी उपन्यास विधा में कोई विशेष आलोचनात्मक महत्व नहीं जान पड़ता शैली तो, समग्र रचना के कलात्मक वैशिष्ट्य की ही पर्याय मानी है। वस्तुतः वह अनुभव गम्य तो है किन्तु विवेचना सुगम नहीं। यदि उपन्यास विधा में कोई शैलीगत विशेषता पाई भी जाती है तो वह है एकमात्र उसकी वर्णनात्मक (शैलीगत) विशिष्टता। 'उद्देश्य वस्तुतः दार्शनिक अभिप्राय का ही एक अन्य नाम है। उपन्यासकार जीवन का, एक द्रष्टा अथवा तटस्थ प्रेक्षक के रूप में प्रेक्षण करता रहता है और उसी को अपनी लेखनी द्वारा अपनी औपन्यासिक सृष्टि में वह पुनरुज्जीवित करता रहता है। उपन्यासकार के जीवन-दर्शन का ही उद्देश्य नाम दिया जाता है। उपन्यास विधा में दर्शन वस्तुतः उतना ही अपेक्षित रहता है जितना कि वह परोक्ष रूप में वर्णनात्मक शैली में, इस भाँति मिला जुला रहे कि उसका प्रकट रूप जहाँ तक बने, दिखाई ही न दे। उपन्यासकार को इस बात का खास तौर पर ध्यान रखना पड़ता है कि उपदेशात्मक या शिक्षात्मक अभिप्राय मात्र दार्शनिक उद्भावनाओं का उद्गार न होकर केवल कान्ता सम्मित उपदेश के रूप में विशुद्ध मनोरंजनात्मक अभिव्यंजना तक ही सीमित रहे। अर्थात उसका दार्शनिक मन्तव्य प्रच्छन्न अथवा विशद व्याख्या के बिना ही अनुभवगम्य एवं संवेदनात्मक रहे। जहाँ कहीं भी उपन्यासकार अपनी उपन्यास रचना के अभिप्राय की व्याख्या विवेचना के चक्कर में पड़ा वहीं उसकी कलात्मक प्रभावोत्पादकता में अन्तराय या विक्षेप उत्पन्न हुआ।

साराश यही है कि क्या पद्य महाकाव्य और क्या गद्य महाकाव्य—समग्र वर्णनात्मक अथवा उपन्यास अभिमुख वाङ्मय में केवल दो ही तत्वों का प्राधान्य पाया जाता है—कथावस्तु (या वस्तु वर्णन) तथा पात्रों का व्यक्तिगत वैशिष्ट्यता एवं अनुपमेयता का निदर्शन। इस दृष्टि से उपन्यास विधा का परीक्षण भी उसके उक्त दोनों प्रमुख तत्वों के आधार पर ही किया जाना समीचीन होगा क्योंकि ये दोनों तत्व ही वस्तुतः उसकी वर्णनात्मक कला (अथवा उपन्यास अभिमुखता) की उत्कृष्ट अभिव्यंजना में सर्वाधिक योग प्रदान करते हैं। उपन्यास विधा का वर्णनात्मकता वैशिष्ट्य देर या सवेर अखिल वाङ्मय गत साहित्य समीक्षा में अपना समुचित महत्व प्राप्त कर लेगा ऐसा विश्वास किया जा सकता है।

आधुनिक हिन्दी वाङ्मय की उत्तरोत्तर वर्द्धनशील हुई प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे कतिपय शीर्ष समीक्षा शास्त्री एवं साहित्याचार्यों ने साहित्य के मानों की अभिनव आलोचना की ओर भी ध्यान देना प्रारम्भ कर दिया है यह एक आशाजनक संकेत है। कोई दो वर्ष हुए कविवर श्री सुमित्रानन्दन पन्त के (तत्कालीन सद्य प्रकाशित) महाकाव्य लोकायतन के प्रकाशन के उपरान्त इस समीक्षात्मक नवस्फूर्ति के दर्शन

हुए थे। आकाशवाणी ने इसी महाकाव्य पर समीक्षात्मक विचार विनिमय[1] के लिए कुछ शीर्ष समीक्षकों एवं विद्वानों को आमन्त्रित किया था जिनमें डॉ० नगेन्द्र जैसे मान्य साहित्य मर्मज्ञ भी थे। इस विचार विनिमय में कतिपय विशिष्ट तथ्यों पर उन्मुक्त चर्चा हुई। उदाहरणार्थ परिसंवाद में भाग लेने वाले डॉ० नामवर सिंह ने 'लोकायतन' महाकाव्य को 'पद्यबद्ध उपन्यास' की संज्ञा द्वारा स्पष्ट किया। अपने उक्त अभिप्राय की व्याख्या करते हुए उन्होंने यह भी कहा कि कविवर श्री पंत ने, अपने इस महाकाव्य में, अपनी ऊर्ध्वमुखी काव्य कल्पना को लोकभूमि पर उतारने का एक सफल एवं समर्थ कथात्मक प्रयोग किया है। यही नहीं उन्होंने अपने इस 'लोकायतन' काव्य में, एक से एक अनूठे वर्णनों के माध्यम द्वारा इस कल्पना को मूर्त एवं मांसल स्वरूप प्रदान करने में भी सफलता पाई है। इसीलिए उनकी सम्मति में 'लोकायतन' एक पद्यबद्ध उपन्यास है।

उपर्युक्त कथन पर डॉ० नगेन्द्र ने संयत एवं सरल स्वर में प्रत्युत्तर देते हुए कहा—मैं उपन्यास और महाकाव्य में कोई मूलभूत भेद नहीं मानता। इन्हें हम क्रमशः 'गद्य महाकाव्य' एवं 'पद्य महाकाव्य' की संज्ञा दे सकते हैं। दोनों में एक ही प्रकार का 'महत्तत्व'—एक ही प्रकार का 'औदात्य' निहित रहता है। उदाहरणार्थ श्री प्रेमचन्द कृत 'गोदान' को ही ले लें। वह 'गद्य महाकाव्य' ही है—ग्रामीण जीवन का गद्य महाकाव्य। उसकी तुलना में हम 'लोकायतन' को भी पद्य महाकाव्य कह सकते हैं। दोनों में ही कुछ शाश्वत तत्वों के कारण हमें, रसात्मक अनुभूति की अभिव्यंजना प्राप्त होती है।

निश्चय ही उक्त विचार विमर्श द्वारा सहसा ही, साहित्यगत वर्णनात्मकता की अखिल वाङ्मय रूपता की ओर विद्वज्जनों का ध्यान जाता है। साथ ही वह हमें आधुनिक समीक्षा की एक नवीन आलोचनात्मक सरणी का अवलम्बन करने के लिए भी उद्बोधित करता है। तदनुसार हम, वाङ्मय का कोटि विभाजन, गद्य एवं पद्य, महाकाव्य एवं उपन्यास, आदि परम्परागत साहित्य रूपों में, करने की परम्परा को त्याग कर अखिल ललित वाङ्मय की, महत्तत्व तथा औदात्य सारस्य एवं सौन्दर्य आदि गुणों पर आधारित एक अभिनव समीक्षा सरणी का सूत्रपात कर सकते हैं। ऐसा होने पर हम वाङ्मय के मुक्त विकास एवं विलास द्वारा विश्व के कल्याण श्रेयस, प्रसाद एवं आह्लाद का (जो मानव जाति के लिए सबसे महान वरदान है) अधिक भव्य, स्पष्ट एवं विशद अनुभूति कर पाएँगे।

यदि हम उपन्यास को 'गद्य लोक महाकाव्य' की संज्ञा प्रदान करते हैं तो हमें यह भी स्पष्ट रूप में निर्धारित कर लेना होगा कि वह कौन-सा सीमा रेखा है जो उसे अपने अग्रज ('पद्य महाकाव्य') से पृथक् अस्तित्व प्रदान करता है। इस सम्बन्ध

[1] आकाशवाणी, नई दिल्ली, द्वारा आयोजित परिसंवाद, (मई १ १९६६ ई० ।)

मे भी आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने, अपने 'साहित्य का मर्म' नामक ग्रन्थ मे विचार किया है —

उपन्यास और काव्य में यह मौलिक अंतर है कि उपन्यास मौजूदा परिस्थिति को भूल कर भविष्य की कल्पना नहीं कर सकता जब कि काव्य वर्तमान परिस्थिति की या ज्ञात तथ्य की—सर्वाधिक नवीन परिणति की—संपूर्णतः उपेक्षा करके भी अपने आदर्श गढ़ सकता है।

यही कारण है कि उपन्यासकार तथ्य का मोह छोड़ सकता—वह वर्तमान से आंख नहीं मूंद सकता—यहा तक कि पुराने ऐतिहासिक कथानक का आश्रय करने पर भी वह आधुनिकतम ऐतिहासिक अनुसंधान की बात मन में बराबर बनाए रह कर ही आगे बढ़ सकता है। वह कवि की भांति जमाने से आगे रहने का दावा नहीं करता। काव्य दुनिया की छोटी से छोटी तुच्छता को भी महिमा मण्डित कर सकता है पर उपन्यासकार तुच्छता को तुच्छता मान कर ही कारबार करता रहता है। इस युग के सम्पूर्ण गुण दोषों को लेकर ही इसका जन्म हुआ है। नये युग की कला ने इसकी मांग बढ़ाई है और उसी ने इसकी पूर्ति का साधन भी जुटाया है।[1]

आचार्य श्री द्विवेदीजी की उपन्यास विधा विषयक उक्त उद्भावनाओं की तीक्ष्ण एवं मौलिक तर्कवत्ता से कौन इन्कार कर सकता है? एक प्रकार से वे पुरानी एवं परंपरागत उद्भावनाओं को अपनी उक्त विवेचना सरणी द्वारा बिखेरते से चलते हैं। किन्तु उनकी अभिव्यंजना प्रणाली गूढ़ एवं व्यंजनामयी होने के कारण उतनी सुलभ ग्राह्य नहीं है। उसकी दूसरे शब्दों में यों व्याख्या की जा सकती है कि उपन्यासकार अपने निजी देशकाल से निरपेक्ष रह कर काम नहीं चला सकता। इसके विपरीत उसे तो अपना साधारण ज्ञान और सभी साहित्य-सर्जकों की अपेक्षा कहीं अधिक अद्यतनतम रखना होगा।

यदि उपन्यासकार को अपनी लोकप्रियता को बनाए रखना है तो उसे अपने आस पास के जीवन की ही नहीं अपने युग के समस्त विश्व की जानकारी रखनी होगी और विश्वज्ञान की अद्यतनतम उपलब्धियों से भी उसे परिचित होना पड़ेगा। उपन्यास के वर्णन का क्षेत्र आज के युग में अनन्त और अथाह हो चला है अतएव उपन्यासकार को भी अपनी बाह्य दृष्टि एवं अन्तर्दृष्टि दोनों में ही उदार विस्तार करना होगा। इस भांति पद्य महाकाव्यकार के काम से गद्य लोक महाकाव्यकार का काम कहीं अधिक जोखिम भरा और सावधानी से युक्त हो गया है।

आधुनिक उपन्यासकार जीवन की तुच्छताओं को तुच्छता मान कर ही अपना कारोबार करता है। वह धरती की धूल को धूल मान कर ही उसे स्वर्ग से अधिक

---

१ साहित्य का मर्म (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) (लखनऊ विश्वविद्यालय व्याख्यान माला-१ भाषण प्रबन्ध-३) पृष्ठ ६३

गौरवशाली सिद्ध करने में प्रवृत्त होना है। अतः उस लोक महिमा को भी अपने 'धर्म' अथवा आस्था' के रूप में ग्रहण करना होगा। इसीलिए उपन्यास विधा के विधायक की रचनात्मक प्रतिभा एवं अभिव्यंजनात्मक कलात्मकता की कसौटी, उसकी लोकजीवन सम्बन्धी तलस्पर्शी एवं व्यापक जानकारी तथा इस आजीवन अर्जित अनुभव-सम्पत्ति को एक कलात्मक एवं रागात्मक वर्णन-माध्यम द्वारा पुष्ट करने में ही निहित है।

अपने उक्त सम्भाषण में ही आचार्य द्विवेदीजी ने उपन्यास विधा की कुछ अन्य विशिष्टताओं पर भी प्रकाश डालते हुए कहा है कि 'उपन्यास और कहानियाँ, आज के सबमें मजबूत साहित्यांग हैं। इसका कारण यह है कि उपन्यासकार काव्य की भांति, भावावेग द्वारा, अन्तर्जगत की अनुभूति को उतना नहीं जगाता—बल्कि बाह्य जगत् के तथ्यात्मक वर्णन के कारण, उत्पन्न समस्याओं के बारे में, अपना निश्चिन्त मत व्यक्त करता है।[१]

अपने उक्त वक्तव्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य द्विवेदीजी ने यह भी कहा है—'इसकी नींव उन वस्तुओं पर रखी हुई है जो गंभीर भाव से, निरन्तर ही, हमारी सामान्य मनुष्यता की कठिनाइयों और द्वन्द्वों को प्रभावित करती रहती है। उपन्यासकार के रचनाकौशल घटना विन्यास का चातुर्य और तथ्यात्मक जगत की समस्याओं में सीधी घुसने वाली भेदक निजी दृष्टि—इन तीनों गुणों के कारण, उपन्यास आज इतना लोकप्रिय साहित्यांग बन गया है।[२]

आचार्य द्विवेदीजी ने 'उपन्यास विधा के तीन मौलिक उपकरणों को हमारे दृष्टिपथ के सम्मुख उभार कर रख दिया है अर्थात—रचना-कौशल, घटना विन्यास, तथ्यात्मक जगत की समस्याओं में, निजी पारदर्शी सूक्ष्म निरीक्षण प्रतिभा। कहना न होगा कि ये तीनों ही तत्व, उपन्यासकार की अपनी निजी वर्णनात्मक कला परक सूझबूझ एवं उसकी सम्यक् अभिव्यंजना-क्षमता पर ही, आधारित हैं।

आचार्य द्विवेदीजी ने अपनी उक्त उद्भावनाओं में यह भी निरूपित किया है कि केवल काव्य ही (चाहे वह पद्यकाव्य हो या गद्यकाव्य), विशुद्ध साहित्यरूप है—नाटक विशुद्ध साहित्य नहीं होता अर्थात वह शब्द और अर्थ की सिर्फ परस्पर स्पर्धी चारुता तक ही रह कर रससृष्टि नहीं कर सकता—उसके लिए रंगमंच की जरूरत होती है।'[३]

उपन्यास विधा के गद्य महाकाव्यत्व एवं उसके देशकाल प्रतिबिम्ब व आदि कतिपय महत्वपूर्ण पक्षों पर विचार विवेचन करने के पश्चात हम उसकी वर्णनात्मक क्षमता तथा वर्णनगत समृद्धि के महत्व को, एक तर्कसिद्ध मान्यता प्रदान कर सकते हैं। किन्तु 'गद्य महाकाव्य अथवा लोक महाकाव्य संज्ञा की अधिकारिणी कोई भी

---

१ ३ साहित्य का मर्म' (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी), भाषण सं० ३ पृ० ६३ ६४

उत्कृष्ट औपन्यासिक कृति बिना स्वकीय रसात्मक सिद्धि के उत्तम नहीं मानी जाएगी। पद्य-महाकाव्यों एव दृश्य महाकाव्यों की रसात्मक समीक्षाओं में अपनायी गई 'विभावानुभाव-सचारी ...' सूत्र की परिणति देखने के तो हम अभ्यासी हो गए हैं किन्तु क्या उस पर उपन्यास अथवा गद्यमहाकाव्य का परखा जाना भी सभव है? इस प्रश्न के समक्ष आते ही समीक्षक सदिग्ध हो उठता है। किन्तु यदि हम उपन्यास विधा के अन्तर्गत सर्वत्र व्यापक वर्णनात्मक तत्व पर उसके रसात्मक पक्ष से विचार करें तो समस्त प्राकृतिक शोभा को हमें उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत स्वीकार करना होगा। यही उद्दीपन विभाव, उपन्यास विधा के बहु भाग में परिव्याप्त रहता है। शेष में उपन्यासकार पात्रों की आकृति एव व्यक्तित्व की विशिष्टताओं का वर्णन प्रस्तुत करता है जिसे कि रसात्मक विवेचना में 'आलबन' विभाव के अन्तर्गत माना गया है।

किन्तु आचार्यों द्वारा उक्त विभाजन में स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को एक बड़ी खामी दिखाई दी और उसकी ओर उन्होंने अपने पाठकों का ध्यान भी आकर्षित किया था। प्रकृति को 'उद्दीपन विभाव' ही मान लेने पर उपन्यास विधा में अनेक स्मरणीय स्थलों पर आए हुए ऐसे प्राकृतिक वर्णनों का क्या होगा जिनकी अपनी निजी साहित्यिक विशिष्टता है? प्रकृति की भी उपन्यास विधा में अपनी निजी स्वतन्त्र स्थिति है। वह न केवल एक व्यक्ति के सुखदुखमय जीवन से सबद्ध है वरन् वह अखिल लोकजीवन के सुखदुख की भागी भी है—इस उदार एव विशाल भूमि पर प्रकृति शोभा एव प्रकृति वैशिष्ट्य-वर्णन का कार्य, उपन्यास विधा ने ही सम्पन्न किया है। प्रान्तिक रूपमा से समन्वित उपन्यासों की एक विशिष्ट परम्परा ने, प्रकृति को मात्र उद्दीपन विभाव न मान कर उसमें शैली की भी प्रतिष्ठा की है।

आचार्य शुक्ल को इस सम्बन्ध में यह श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने काव्यशास्त्र की रूढ़ मान्यताओं के अनुसार प्रकृति के शोभा पक्ष के मात्र उद्दीपन विभावगत महत्व की सीमा लाघ कर उसको विशाल और उदार भूमि की ओर उन्मुख किया। आचार्य शुक्ल ने, बड़े कड़े शब्दों में प्रकृति वर्णन के रूढ़ एव चिरपरम्परावादी मत को जारी रखे जाने का विरोध किया है। यही नहीं वरन उनका यह भी विचार था कि आधुनिक साहित्य-समीक्षा की वैज्ञानिक पद्धति पर वे एक समग्र एव अभिनव समीक्षा शास्त्र की रचना कर डालें जिसकी कसौटी पर आधुनिक शैली में रचे गए सभी साहित्य रूपों की वैविध्यमयी सृष्टि की सम्यक समीक्षा की जा सके। उस आधुनिक पद्धति पर रचे जाने वाले अभिनव साहित्य शास्त्र का अधूरी एव विकीर्ण पाण्डुलिपि आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने सवार कर तथा पुन सम्पादन करके प्रकाशित कराई है जिसका नामकरण उन्होंने 'रस मीमासा' किया है। उसका सर्वप्रथम प्रकाशन आज से लगभग दो दशक पहले उन्होंने कराया था किन्तु मूल पाण्डुलिपि तो आचार्य शुक्लजी लगभग तीन दशक पहले ही लिख कर छोड़ गए थे। वे परम्परागत प्रकृति

वर्णन के रूढ समीक्षात्मक दृष्टिकोण की कड़े शब्दों में भर्त्सना करते हैं, और वे अपनी प्रकृति विभोर-रूप विस्मयानुभूति की निम्न काव्यमयी शब्दावली में अभिव्यंजना करते हैं—

'जो, प्राकृतिक दृश्यों को केवल कामोद्दीपन की सामग्री समझते हैं, उनकी रुचि भ्रष्ट हो गई है और वह संस्कार-सापेक्ष है। लहराते हुए हरे भरे जंगलों, स्वच्छ शिलाओं पर चांदी के ढलते हुए झरनों, चौकड़ी भरते हुए हिरणों और जल को छूकर घूमती हुई डालियों पर कलरव कर रहे विहगों को देख कर काले मेघ जब अपनी छाया डाल कर चित्रकूट के पर्वतों को नीलवर्ण कर देते हैं, तब नाचते हुए नीलकण्ठों (मोरों) का दल कर (सभ्यताभिमान के कारण) शरीर, चाहे न चाहे, पर मन अवश्य नाचने लगता है। कंकरीले टीलों ऊसर पटपरों पहाड़ के ऊबड़ खाबड़ किनारों या बबूल करील की झाड़ियों में क्या आकर्षित करने वाली कोई बात नहीं होती ?'[1]

स्व० आचार्य शुक्ल ने हमें काव्यगत प्रकृति वर्णन सम्बन्धी जिन विलक्षण विशिष्टताओं की ओर आकर्षित किया है वस्तुतः वे ही, आधुनिक उपन्यास विधा की, सबसे बड़ी विभूति हैं। हमारे प्राचीन पद्य महाकाव्य प्रकृति-वर्णन की रूढता के कारण, जहाँ आज वासी से हो चले हैं—आज का हमारा गद्य-लोकमहाकाव्य 'उपन्यास', दिन प्रति दिन नये प्रकृति उल्लास लास से लीलामय एवं पल पल वेष पलटन वाली प्रकृति नटी के चरणों की नूपुर ध्वनि से सतत स्पन्दित अनुप्राणित रहता है। आचार्य शुक्ल ने प्रकृति शोभा के अनजाने निराले एवं अप्रत्याशित पक्षों की ओर भी दृष्टिपात किया है यथा—

'बरसात के दिनों में जब सुरखी चूने की कड़ाई की परवाह न करके, हरी घास पुरानी छत पर निकल पड़ती है तब मुझे उसके प्रेम का अनुभव होता है। वह मानो हमें ढूँढती हुई आती है, और कहती है कि तुम मुझसे क्या दूर-दूर भागे फिरते हो ? वनों, पर्वतों, नदी नालों कछारों पटपरों, खेतों, खेतों की नालियों, घास के बीच से गई हुई ढुर्रियों हल-बैलों, झोपड़ों और श्रम में लगे हुए किसानों इत्यादि में जो आकर्षण हमारे लिए है वह हमारे अन्तःकरण में निहित वासना के कारण है—असाधारण चमत्कार या अपूर्व शोभा के कारण नहीं।'[2]

आचार्य शुक्ल की उपर्युक्त प्रकृति शोभा विषयक अन्तर्दृष्टि एवं उसकी ओर अभिमुख लोकगत रागात्मिका वृत्ति की विवेचना, कितने ही अर्थों में, हिन्दी की आलोचना शास्त्र परम्परा में सर्वथा अनूठी एवं अभिनव मानी जायेगी। इस प्रकार

---

१ रसमीमांसा (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल) अध्याय ४, विभाव, पृ० १११ ११२

२ वही अध्याय ४, विभाव पृष्ठ ११४

से वे अपने समय में प्रचलित, आलोचना-परम्परा की सीमाओं को तोड़ कर, बलात् आगे बढ़ निकलना चाहते थे, किन्तु समय से पहले ही मृत्यु ने उनके महान् ऐतिहासिक कार्य को बीच में ही अवरुद्ध कर दिया।

शुक्लजी ने प्रकृति पक्ष की उस चिरन्तनता की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित किया है जो हमारे इतिवृत्त में स्मृत, अधस्मृत अथवा विस्मृत पूर्वजों की स्मृतियों एवं उनकी छोड़ी हुई प्राचीन साहित्यगत सस्मरणात्मक अनुभूतियों में हम आज भी ज्यों की त्यों प्रतिच्छायित मिलती हैं। इस सबंध में पहले स्व० आचार्य शुक्लजी ने महर्षि वाल्मीकि द्वारा रामायण में सुरक्षित तथा फिर आगे चल कर महाकवि कालिदास द्वारा मेघदूत में आलेखित कुछ अविस्मरणीय प्रकृति-वर्णनों को गद्यात्मक परिवेश प्रदान करते हुए हमें एक नूतन रहस्य की बात बताई है—

जिन वस्तुओं और व्यापारों के प्रति हमारे प्राचीन पूर्वज, अपने भाव अंकित कर गए हैं उनके आमने सामने अपने को पाकर माना हम उन पूर्व पुरुषों के निकट जा पहुँचते हैं और उसी प्रकार के भावों का अनुभव करके उनके हृदय से अपना हृदय मिलाते हुए उनके सगे बन जाते हैं—वर्तमान सभ्यता ने जहाँ अपना दखल नहीं जमाया है उन जगलों पहाड़ों गाँवों और मैदानों में हम अपने को वाल्मीकि कालिदास या भवभूति के समय में खड़ा कल्पित कर सकते हैं। कोई बाधक दृश्य सामने नहीं आता। पर्वतों की दरी-कन्दराओं में प्रभात के प्रफुल्ल पद्म जाल में छिटकी चाँदनी में खिली कुमुदिनी में हमारी आँखें कालिदास भवभूति आदि की आँखों से जा मिलती हैं।[१]

इस भाँति के प्रकृति वर्णन ही वस्तुतः इतिवृत्तात्मक अथवा ऐतिहासिक उपन्यास अथवा हिस्टॉरिकल रोमांस की मुख्य प्रेरणा ही नहीं वरन उसकी मुख्य आधार भूमि भी बनते हैं। इस अबाध प्रेरणा एवं अक्षय वर्णन-सपत्ति को जिसके सहारे ऐतिहासिक उपन्यासकार वस्तुतः अपने कल्पनालोक को धीरे धीरे रूपायित कर पाता है आचार्य शुक्ल ने कैसा ही हृदयग्राहिणी तथा भावमयी शैली में या प्रतिच्छायित किया है—

पलाश इंगुदी अकोट वनों में अब भी खड़े हैं। सरोवरों में कमल अब भी खिलते हैं। तालाबों में कुमुदिनी अब भी हँसती है। वानीर शाखाएँ अब भी झुक झुक कर तीर का नीर चूमती हैं। अग्निमित्र विक्रमादित्य आदि को अब हम, देख नहीं सकते। पर ऐसी वस्तुएँ अब भी हम देख सकते हैं जिन्हें उन्होंने देखा होगा।[१]

सिप्रा के किनारे दूर तक ... तो पर, सूर्यास्त के समय खड़े हो जाइये—इधर ... के दर्शन

---

१ २ 'रस मीमांसा' (आचार्य रामच

को जाते हुए, कालिदासजी हम, दर तक देखा करते थे। उस समय भी सिप्रा-वात उनके उत्तरीय को फहराता था। काली शिलाओं पर से बहती वेगवती की स्वच्छ धारा के तट पर विदिशा के खंडहरों में, वे ईंट पत्थर, अब भी पड़े हुए हैं, जिन पर अंगराग लिप्त शरीर और सुगन्ध धूप से बसे केश-कलाप वाली रमणियों के हाथ पड़े होंगे।[1]

इस भांति हम 'उपन्यास विधा' की उस विशेषता की ओर उन्मुख होते हैं जिसके एक पक्ष को लेकर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रोमानी महाकाव्य शैली पर रचित अपने 'चारु चन्द्रलेख' एवं 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की रचना की है तथा दूसरे पक्ष को लेकर स्व० श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने अपने, बुन्देलखण्डी प्रकृति शोभा से चमत्कशाली, ऐतिहासिक उपन्यासों की सर्जना की है।

स्वयं स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी उपन्यास विधा के इतिवृत्तात्मक पक्ष में, गहरी रुचि रखते थे और उसी से प्रेरित होकर उन्होंने बंगला के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार और पुरातत्त्ववेत्ता श्री राखालदास बन्द्योपाध्याय के करुणा और 'शशांक' नामक उपन्यासों का हिन्दी रूपान्तर भी किया था। 'शशांक' के उनके अनुवाद के सम्बन्ध में, कुछ समीक्षकों ने यह आपत्ति उठाई है कि उन्होंने मूल बंगला उपन्यास के दुःखमय अन्त को सुखमय परिसमाप्ति में परिणत कर दिया। आचार्य शुक्ल काव्य-सम्बन्धी भारतीय दार्शनिक मान्यताओं की श्रेष्ठता में विश्वास रखते थे अतएव उन्होंने दुःखमय पर्यवसान वाले यूरोपियन (यूनानी) सिद्धान्त को भारतीय साहित्य के लिये श्रेयस्कर न मान कर उपन्यास का सुखान्त में परिणत कर दिया। उक्त परिवर्तन का एक प्रच्छन्न पक्ष यह भी है कि शुक्लजी में उपन्यास रचना प्रतिभा भी थी और उसकी क्रियात्मक परिणति में भी वे समर्थ थे। स्पष्टतया राखाल बाबू जैसे समर्थ उपन्यासकार की कृति में कलात्मक परिवर्तन सहज-सुलभ नहीं था और उसके लिए किसी कुशल कलाकार की लेखनी की ही आवश्यकता था, जिसके कि स्वर्गीय श्री शुक्लजी, निश्चय ही, धनी थे।

'रस मीमांसा' के अन्तर्गत आचार्य शुक्ल ने वर्णनात्मकता-तत्त्व की महत्ता एवं उसकी साहित्यगत क्रियात्मक अभिव्यंजना के निरूपण पर जो मौलिक चिन्तन एवं विवेचन प्रस्तुत किया है, उसे केवल काव्य क्षेत्र अथवा पद्यात्मक साहित्य की समीक्षा के प्रसंग में देखा जाना उचित न होगा। कवि उपन्यास में वर्णनात्मकता किस भांति, कथा के तानेबाने में, ग्रथित होकर, एक विलक्षण एवं मनोरम रूप धारण कर लेती

---

१ रस मीमांसा (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल) अध्याय ४, पृष्ठ ११६-१२० (शुक्ल जी ने अवतरण संख्या २ एवं ३ में जिन प्राकृतिक दृश्यों का उल्लेख किया है वे ही 'मेघदूत' के 'पूर्वमेघ' में क्रमशः श्लोक ३२ एवं २६ में ज्यों के त्यों मिल जाते हैं।)

है इसके परिप्रेक्ष्य में उक्त विचार विमर्श का मूल्य, कई गुना बढ़ जाता है। वस्तुत उपन्यास के उन्मुक्त प्रांगण में तो उसकी सृजनात्मक सम्भावनाएँ अबाध हो जाती हैं, जिनके कारण उपन्यास विधा लोकमानस में रम जाने की विशिष्टता प्राप्त कर लेती है। आचार्य शुक्ल ने वर्णनात्मकता के रमणीय पक्ष पर भी जो अनूठी एवं मौलिक उद्भावनाएँ की हैं वे भी रीतिबद्धता एवं रूढ़ काव्य विवेचना का पद पद पर निराकरण करती चलती है।

आचार्य शुक्ल के इस वर्णनात्मक एवं रमणीय तत्व सम्बन्धी विवेचन को प्रस्तुत उपन्यास विधा-परक प्रसंग के साथ अन्वित करना साभिप्राय है। महाकवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त कृत लोकायतन महाकाव्य को समीक्षकों ने 'पद्यावद्ध उपन्यास' संज्ञा भी प्रदान की है क्योंकि उसका सारा विशिष्ट वैभव उसकी वर्णनात्मकता की कलात्मक गरिमा तथा समृद्ध एवं रंगीन प्राकृतिक शोभा-अंकन पर ही आधारित है। मूलत वर्णनात्मकता की आद्य एवं सहज भूमि उपन्यास ही है। अत जहाँ कहीं भी हम उपन्यासात्मकता की झाँकी अन्य साहित्य रूपों में पाते हैं वहीं हम उसका निजी विशिष्टता—वर्णनात्मकता के भी दर्शन होते हैं। इस वर्णनात्मक चारुता की उन्मुक्त एवं पूर्ण विकसित छवि, हम उपन्यास विधा (गद्य महाकाव्य) में ही मिलती है। आचार्य शुक्ल की उक्त समीक्षा पद्धति का इसी दृष्टि से अनुशीलन करना चाहिए।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के पश्चात स्वर्गीय श्री गुलाबराय जी का, अनेक विद्वानों एवं साहित्य मर्मज्ञों ने सर्वाधिक समाधानपरक सूझबूझ वाला विचारशील आलोचक माना है। उनका परवर्ती ग्रन्थ *काव्य के रूप* (१९४७ ई०) इस सम्बन्ध में पर्याप्त मान्य हुआ। श्री गुलाबरायजी ने अपने उक्त ग्रन्थ में, पुरातन शैली अपनाते हुए अखिल वाङ्मय को दृश्य-काव्य एवं श्रव्य काव्य में विभाजित किया है तथा *तत्पश्चात उन्होंने श्रव्यकाव्य के एक विशिष्ट अंग के रूप में कथासाहित्य उपन्यास* को भी एक उपविभाग विशेष माना है। इसी विभाग के अन्तर्गत यद्यपि श्री गुलाबराय जी की उपन्यास सम्बन्धी परिभाषात्मक उद्भावनाओं में, कुछ प्रकट असंगतियाँ अवश्य दिखाई देती हैं फिर भी उन्होंने अपने उपन्यास आलोचन प्रसंग में रसनिष्पत्ति विषयक, सुस्पष्ट विवेचना की है। उन्होंने उद्देश्य तत्व की अयुक्तियुक्तता बताते हुए हिन्दी उपन्यास समीक्षा में रस निरूपण के सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया है।

पाश्चात्य देशों में उद्देश्य को अधिक महत्व दिया गया है किन्तु हमारे देश में, रस को ही प्रधानता दी गई है। हमारे उपन्यास भी काव्य ही की कोटि में आते हैं। इसलिए उनमें भी काव्य की भाँति रस और भाव होना चाहिए। रस और *भाव को स्वीकार करने से विचार का तिरस्कार नहीं होता है।*[1]

---

१ काव्य के रूप (स्व० बाबू गुलाबराय, डी० लिट०) अध्याय ६ श्रव्यसाहित्य' कथासाहित्य उपन्यास [आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९४७ ई० (वर्तमान संस्करण, चतुर्थ) १९५८ ई०।]

'हमारे विचार भी, हमारे जीवन के प्रति, रागात्मक या विरागात्मक दृष्टिकोण के ही, फल फूल होते है। विचारों के मूल में, भाव ही रहते है। 'काव्यों' में, चाहे वे महाकाव्य की भाँति पद्यात्मक हों, या उपन्यास की भाँति गद्यात्मक हो, विचार किसी न किसी रस के सहारे ग्राह्य बनाए जा सकते हैं। उपन्यासों में भी महाकाव्यों की सी शृंगार, वीर, हास्य करुण का समावेश होता है। प्रारम्भिक काल के, कौतूहलवर्धक जासूसी और तिलस्मी उपन्यासों में, 'अद्भुत रस' का प्राधान्य था। आजकल के राजनीतिक उपन्यासों में 'करुणा' के साथ 'वीर' का सम्मिश्रण रहता है कभी कभी उपन्यासों में पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के प्रति घृणा भी उत्पन्न की जाती है।'

'उपन्यासों में मनोभावों का चित्रण रहता ही है। 'रंगभूमि' में, सूरदास का वीरोत्साह सराहनीय है। थोड़ी बहुत भावुकता के बिना, वाणी में बल नहीं आता किन्तु संयम और नियन्त्रण, कला का जीवनप्राण है। 'उपन्यास' को उस संयम से वंचित न रहना चाहिए।'[१]

स्व० श्री गुलाबरायजी ने उपन्यास विधा की परिभाषा देते समय भी उसकी रसात्मकता एवं मानव-जीवन की प्रतिबिम्ब-परकता को 'उपन्यास' की मुख्य विशिष्टताएँ मानी हैं—

उपन्यास कार्य-कारण शृंखला से बँधा हुआ वह गद्यात्मक कथानक है जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदगी के साथ, जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों से सम्बन्धित, वास्तविक या काल्पनिक घटनाओं द्वारा, मानव-जीवन के सत्य का, रसात्मक रूप से उद्घाटन किया जाता है।[२]

अन्त में, श्री गुलाबराय ने उपन्यासों में वर्णनात्मक तथ्यों के समावेश के बारे में जो यत्किंचित धारणाएँ व्यक्त की हैं वे भी ध्यान देने योग्य हैं। वे यह मानते हैं कि उपन्यासों की वास्तविकता अथवा प्रतीयमानता प्रदान करने के उद्देश्य से उनमें देशकाल का निरूपण भी एक प्रधान तथ्य है—

'कथानक की वास्तविकता का आभास देने के साधनों में, वातावरण मुख्य है। कथानक के पात्र भी वास्तविक पात्रों की भाँति, देशकाल के बंधन में रहते हैं इसलिए देशकाल का वर्णन भी आवश्यक होता है। व्यक्ति के निर्माण में वातावरण का हाथ बहुत कुछ होता है। जिस प्रकार बिना अँगूठी के नगीना शोभा नहीं देता, उसी प्रकार बिना देशकाल के पात्रों का व्यक्तित्व स्पष्ट नहीं होता है और घटनाक्रम को समझने के लिए भी उसकी आवश्यकता होती है।'[३]

---

१ २ ३ 'काव्य के रूप' (स्व० श्री गुलाबराय), अध्याय ६, (गद्य) उपशीर्षक 'कथा साहित्य-उपन्यास', पृष्ठ १८२ १८३, २१७ तथा १७५

स्वर्गीय श्री गुलाबराय जी के पश्चात हिन्दी के साहित्य क्षेत्र में जिस आधुनिक प्रणाली के समीक्षा-युग का प्रवर्तन हुआ, उसमें हम सापेक्षत अधिकाधिक जागरूकता एव निश्चयात्मकता दृष्टिगोचर होती है। स्वातन्त्र्य प्राप्ति के पश्चात् हिन्दी भाषा और साहित्य के कधो पर आए हुए गुरुतर उत्तरदायित्वो को दृष्टि में रखते हुए वह हमारे साहित्यिक इतिवृत्त की एक अनिवार्य माँग भी थी। इस काल में जहाँ एक ओर, 'उपन्यास विधा' के बहुसर्जन, बहुजन प्रियत्व एव बहुविध विकास में अभूतपूर्व अभिवृद्धि देखी गई तो दूसरी ओर हिन्दी साहित्य के ममज्ञ एव विचक्षण विद्वानो का ध्यान भी, उसके आलोचना-पक्ष की ओर अधिकाधिक प्रवृत्त हुआ।

डा० दशरथ ओझा ने अपने समीक्षा शास्त्रीय ग्रथ 'समीक्षा शास्त्र (भारतीय और पाश्चात्य)' में उपन्यास विधा के व्युत्पत्तिमूलक एव परम्परागत रूप की अधिक निश्चयात्मक परिभाषा-व्याख्या की है। हिन्दी उपन्यास के उद्भव एव विकास की सरणी पर दृष्टिपात करते हुए आचार्य ओझाजी ने लिखा है कि—

यह (हिन्दी) उपन्यास अपने वर्तमान स्वरूप में, यद्यपि नया है—परन्तु इसकी परम्परा अन्य रूपो में—भारतीय साहित्य में अखण्ड और अजस्र रूप से बहती हुई चली आई है। यदि अधिक 'मीनमेष' न किया जाए तो उपन्यास के स्रोत को ढूँढते हुए हम वेदो तक पहुँच सकते है। उपन्यास के ढङ्ग पर बडी कहानियों के ग्रथ कादम्बरी दशकुमार चरित वासवदत्ता आदि है। उपन्यास की श्रेणी में केवल बाण की कादम्बरी और दण्डी का दशकुमार चरित ही आ सकते है।[1]

आचार्य ओझाजी ने प्राचीन काव्यग्रथो में पाए जाने वाली 'उपन्यास शब्द' की परिभाषाओ का सक्रम उल्लेख भी किया है। उन्होंने उन पर अपनी निजी व्याख्या भी निम्न शब्दो में दी है—'जिस कथात्मक साहित्य में प्रसादन का गुण न हो वह उपन्यास की कोटि में नही आ सकता। प्रशसनीय नही बन सकता। उसकी जीवनावधि क्षणिक होगी।

किसी अर्थ को युक्तियुक्त रूप मे उपस्थित करना, उपन्यास कहलाता है। इस विश्लेषण का तात्पर्य यह है कि उपन्यास, दो सयुक्त शब्दो से बना है—उप उपसर्ग है जो न्यास शब्द से जुडा हुआ है। उसका (उपन्यास का) अर्थ है उपपत्तिकृत। उपपत्ति का अर्थ है—हेतु द्वारा किसी वस्तु की स्थिति का निश्चय चरितार्थता सगति युक्ति। न्यास के अर्थ—'स्थापना'। अत हेतु द्वारा स्थितियों

---

१ समीक्षा शास्त्र 'भारतीय और पाश्चात्य'—(डा० दशरथ ओझा, एम० ए० पी एच० डी०) अध्याय ६ हिन्दी उपन्यास पृष्ठ १४८ १४९ (राजपाल एण्ड सस दिल्ली प्रथम सस्करण १९७५।)

का निश्चय करना उपन्यास का धर्म है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर, 'उपन्यास' जीवन के अत्यन्त निकट आकर, इसका खाका खींचता है।'[1]

कहना न होगा, उक्त विचार विमर्श 'उपन्यास विधा' गत वर्णनात्मकता के व्यापक एवं निर्णायक वैशिष्ट्य की ओर उन्मुख है जिसके बिना 'उपन्यास' अपनी उक्त निजी विशिष्टताओं में युक्त हो ही नहीं सकता। यही नहीं श्री ओझाजी ने वातावरण अथवा उपन्यास विधा की देशकाल प्रनायमानता को भी अपने विवेचन में बहुत महत्त्वपूर्ण माना है—

वातावरण उन समस्त परिस्थितियों का संयुक्त नाम है जिनमें पात्रों को 'संघर्ष' करना पड़ता है ('संघर्ष' शब्द यहाँ सीमित अर्थ वाला हो गया है—वस्तुतः जिनसे पात्रों को पद पद पर काम पड़ता है। यों कहना, अधिक उचित होगा)। वास्तविकता का आभास देने की कसौटियों में वातावरण मुख्य आवरण है। कथानक के पात्र भी देशकाल की जंजीरों में जकड़े रहते हैं। देशकालगत वास्तविक पृष्ठभूमि के बिना, पात्रों का व्यक्तित्व स्पष्ट नहीं होता। स्थानीय रंग अत्यन्त आवश्यक है। ऐतिहासिक उपन्यासों में उसकी महिमा बढ़ जाती है। प्रकृति एवं पाठक की मानसिक स्थिति में सामंजस्य होना चाहिए।[2]

श्री शिवनारायण श्रीवास्तव के प्रसिद्ध ग्रंथ हिन्दी उपन्यास का प्रकाशन प्रारम्भिक रूप में आज से लगभग चौथाई सदी पूर्व हो चुका था किन्तु सन् १९५९ ई० में उसका एक संशोधित एवं पुनर्लिखित संस्करण प्रकाशित हुआ, जिसके अंत में—(परिशिष्ट भाग में) 'उपन्यास के उपकरण' नामक एक छोटा अध्याय भी जोड़ दिया गया है। यद्यपि उसमें भी उपन्यास विधा की समीक्षा सरणी को परम्परागत छः तत्त्वों द्वारा ही समझाया है फिर भी उसके देशकाल विवेचन के कुछ प्रसंग, प्रस्तुत 'उपन्यास विधा में वर्णनात्मकता' के आलोच्य विषय से सम्बन्ध रखते हैं और मननीय भी हैं—

भौतिक या प्राकृतिक संविधान कहानी को अधिक मार्मिकता तथा पात्रों को अधिक स्पष्टता देने एवं जगत और जीवन की विशालता का परिचय कराने के लिए किया जाता है। इस पीठिका का प्रयोग, कलाकार भिन्न भिन्न भाँति से कर सकता है। कहीं तो वह एक मनोमय चित्र दिखाने की भावना से ही प्रेरित होता है जिसका जीवन से कोई लगाव नहीं होता, कहीं किसी स्थिति विशेष को अधिक स्पष्ट करने के लिए, आवश्यक आधार तथ्य के रूप में ही वह, बाह्य दृश्यों का विधान करता है, और कहीं भावना क्षेत्र में और आगे बढ़ कर मानव रागों आदि का बाह्य प्रकृति से

---

१ समीक्षा-शास्त्र भारतीय और पाश्चात्य —(डा० दशरथ ओझा) अध्याय ६, पृष्ठ १५१

२ वही पृष्ठ १६० १६१

सम्बन्ध स्थापित करता है। परन्तु उपन्यासकार को सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि यह बाह्य चित्रण उसकी कला का एक अंग हो।

उचित स्थान पर उचित रीति से वर्णनों की भी पेशी होनी है। छोटे छोटे चमत्कार द्वारा ही इतनी शीघ्रता और पूर्णता के साथ वास्तविक जीवन का भ्रम उत्पन्न कराया जा सकता है। वातावरण के सफल तथा मनोरम चित्रण का कहानी के लिए बहुत मूल्य होता है। कभी-कभी सामान्य सडकों गलियों तथा बरसात में टपकने वाले घरों के वर्णन से भी कहानी मे विलक्षण मनोमोहकता आ जाती है। बाह्य दृश्यविधान, कई प्रकार से कहानी में विशालता, विस्तार, गाम्भीर्य, शक्ति तथा सौन्दर्य उपस्थित कर सकता है।"

श्री शिवनारायण श्रीवास्तव मुख्यतया हिन्दी उपन्यास के इतिवृत्तकार हैं तथा यद्यपि उपन्यासगत आलोचनात्मक सिद्धान्त चर्चा, उनके ग्रन्थ का मुख्य विषय नहीं था फिर भी उन्होंने उपन्यास के कथात्मक संविधान मे वर्णनात्मकता के योगदान के सम्बन्ध में जो संक्षिप्त टिप्पणियां दी हैं, उनसे उपन्यास विधा मे वर्णनात्मकता के महत्व का समर्थन मिलता है। वर्णन ही उपन्यास को विशाल भूमि पर प्रतिष्ठित करते हैं और उन्हें शाश्वत साहित्य की गरिमा प्रदान कराते हैं। वर्णनात्मकता की यह मूलभूत विशिष्टता उपन्यास का, विविध भांति से कलात्मक सौष्ठव से अन्वित करती है और उसे एक अनुपम चित्र विचित्र एवं बहुविध रमणीयता से युक्त भी करती है।

श्री श्रीवास्तव वर्णनात्मकता की सफल आयोजना के रहस्य से भली भांति अवगत हैं एवं उचित अवसर पर, उचित प्रकार के वर्णन के समावेश को वे उपन्यास के कलापक्ष की, एक बहुत बडी सिद्धि के रूप में मानते हैं। सुकृती उपन्यासकार विनम्र से विनम्र पदार्थों का भी किस भांति अनुपम छवि एवं चारुता प्रदान करता चलता है यह तथ्य भी वे भली भांति अनुभव कर चुके हैं। जब किन लेखक बाह्य दृश्यविधान अर्थात सफल वर्णन प्रणाली द्वारा प्रकृतिगत महान छविमानता विशाल गरिमा अथाह गम्भीरता तथा शक्ति एवं सौन्दर्य तत्वादि का समावेश करने की बात कहता है तो वह उपन्यास विधा में वर्णनात्मकता का पर्याप्त ऊंचे दर्जे की प्रतिष्ठा भी प्रदान करता है।

प्रख्यात एवं विचक्षण समीक्षक डा० रामअवध द्विवेदी ने भी उपन्यास के मूल्यांकन शीर्षक से अपने ग्रन्थ साहित्य रूप में विचार विमर्श किया है। उनके

---

१ हिन्दी उपन्यास—श्री शिवनारायणश्रीवास्तव (ऐतिहासिकअध्ययन) परिशिष्ट भाग पंचम प्रकरण उपशीर्षक—दशकाल पृ० ४५३ ४५४ (उपन्यास के उपकरण) (प्रथम प्रकाशन १६४६ ई० पुनर्लिखित एवं संशोधित संस्करण १६५६ ई०) (प्र० सरस्वती मंदिर, वाराणसी)।

विचार, इसलिए भी अधिक ध्यान देने योग्य हैं क्योंकि वे (श्री रामअवध द्विवेदी) सुदीर्घ काल से अंग्रेजी साहित्य के प्राध्यापक एवं हिन्दी साहित्य के सक्रिय समीक्षक दोनों ही रहे हैं। स्वभावतः उनके मन में सहज ही यह प्रश्न उदित होता है— उपन्यास की समीक्षा का क्या आधार है? अच्छे उपन्यासों और बुरे उपन्यासों में विभेद किस प्रकार किया जाए? वे आगे चल कर कहते हैं—

'उपन्यास रचना के वास्ते सर्वमान्य नियम और सिद्धान्त नहीं हैं, जैसे नाटकों और महाकाव्यों के संबंध में मिलते हैं। आचार्यों ने, उपन्यास के क्षेत्र में सर्वग्राह्य नियमों की कोई संहिता नहीं तैयार की है। ऐसी अवस्था में अन्तिम निर्णय, बहुत कुछ सुबोध और सहृदय आलोचक की अभिरुचि पर निर्भर रहता है।'

उपन्यासों का मूल्यांकन कभी-कभी वास्तविक जीवन से तुलना द्वारा किया जाता है। लोग यह मान लेते हैं कि उपन्यास में जीवन का जितना ही यथातथ्य चित्रण होगा, वह उतना ही सफल माना जाएगा। कहना न होगा कि यह धारणा, अत्यन्त भ्रामक है।'

'उपन्यास लेखक फोटोग्राफर की भांति, जीवन का वास्तविक चित्र नहीं खींचता वरन् एक कुशल चित्रकार की भांति वह जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति करता है। इस प्रकार की अभिव्यक्ति में यथार्थ के साथ मानसिक प्रत्ययों का मेल रहता है। इतिहास और सामान्य जीवन के तथ्यों का साधारणीकरण होता है एवं स्थान और काल में बिखरे हुए यथार्थ जीवन के तथ्य, एक आकर्षक व्यवस्था के अन्तर्गत, नियोजित किए जाते हैं।'[1]

डॉ॰ रामअवध द्विवेदी के उपरोक्त समीक्षात्मक विचार, पर्याप्त विचारोत्तेजक मौलिक उद्भावनायुक्त एवं आधुनिक पाश्चात्य समीक्षा प्रणाली के निकटतम आ पहुँचे हैं। उन्होंने यह स्वीकार किया है कि उपन्यास की समीक्षा के लिए अभी बहुत कुछ संहिता शोधन की अपेक्षा है। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि उपन्यास एक कलाकृति है अतएव उसका मूल्यांकन सहृदय आलोचक की कला सस्कृत अभिरुचि पर निर्भर रहता है। एक उत्कृष्ट चित्रकला के कुशल एवं प्रतिभाशाली चितेरे की भाँति, उपन्यासकार, जिस सूक्ष्म एवं कलात्मक प्रणाली से, इतिवृत्त एवं अर्वाचीन जीवन के तथ्यों का समन्वित साधारणीकरण करने में समर्थ होता है वह एक ऐसी नियोजन-कला एवं अभिव्यंजन कला की परिचायक है, जिसके मूल में समाज (देश) और काल के अपरिमेय विस्तार में बिखरे हुए यथार्थ जीवन के तथ्यों को एक आकर्षक एवं मनोहारी व्यवस्था के अन्तर्गत नियोजित किया जाता है।

---

१ 'साहित्य रूप' (डा॰ रामअवध द्विवेदी) उपन्यास का मूल्यांकन उपशीर्षक (पृष्ठ ६० ६१) रचनाकाल १९६० काशी (प्र॰ भारती भण्डार लीडर प्रेस इलाहाबाद, प्रथम संस्करण।)

उपन्यास द्वारा पाठक को किस कोटि का मनोविनोद होता है एवं उसे किस भाँति के विशिष्ट आनन्द की उपलब्धि होती है उसे आचार्य द्विवेदी ने काव्यविनोद बताया है जिसकी अपनी पृथक् सत्ता रहती है। उनका कहना है कि उपन्यास पढ़ना, खेल-तमाशा देखना या आतिशबाजी जैसा कौतुक नहीं है। यह तथ्य, व्याख्या चाहता है। अनेक उत्तम उपन्यासकारों ने पाठकों के समक्ष नाटकीय कौतुक एवं दृश्य प्रस्तुत किए हैं। केवल उनके प्रस्तुतीकरण में उन्होंने विशिष्ट वर्णन प्रतिभा अथवा चित्रण प्रतिभा का प्रयोग किया है जिसके कारण उनका आनन्द लोकोत्तर हो गया है। इसे ही *काव्यानंद भी कहा जा सकता है।*

आचार्य श्री रामअवध द्विवेदी के उपर्युक्त मन्तव्यों में हमें उपन्यास की समीक्षा एवं उसके मानीकरण के बारे में कुछ मूल्यवान तथ्यों की ओर इंगित मिलता है—यथा उपन्यास-गत मनोविनोद के मूल में जीवन का वह आकर्षक चित्रण है, जो हमारे अनुभव के अनुरूप होता हुआ भी, अपने में एक विशिष्ट चमत्कारपूर्ण नवीनता रखता है। हमारा मन उपन्यास में इसीलिए रमता है क्योंकि उसमें जीवन से प्राप्त सामग्री को एक ऐसा आकार दिया जाता है जिसमें कलात्मक सौष्ठव रहता है। यह कलात्मक सौष्ठव ही वस्तुतः उपन्यास रचना की वर्णनात्मक प्रतिभा की पर्याय सत्ता है।

आचार्य श्री रामअवध द्विवेदी ने पाश्चात्य आलोचना शास्त्र में बहुचर्चित अरस्तू के सूत्र की परिभाषा भी की है जो उनकी गहरी साहित्यिक सूझबूझ की द्योतक है। अरस्तू ने जब काव्य को जीवन की अनुकृति बताया तो उनका अभिप्राय यही था कि साहित्यकार जीवन का पुनः कलात्मक निरूपण करता है—मात्र अनुकरण अथवा चित्र प्रस्तुत नहीं करता। इसी अर्थ में उपन्यास को भी 'जीवन की अनुकृति' कहा जा सकता है। अपनी रचनात्मक प्रतिभा द्वारा उपन्यासकार जीवन को अभिनव कलात्मक अभिव्यंजना प्रदान करता है।

श्री राम अवध द्विवेदी की उपन्यास विधा-संबंधी कुछ अन्य उद्भावनाएं एवं टिप्पणियाँ *भी उपन्यास तत्त्व पर प्रकाश डालने वाली हैं। उन्होंने उपन्यास विधा के* प्रायः सभी तात्त्विक प्रसंगों पर अपने निजी विचार व्यक्त किये हैं और उनकी विवेचना के द्वारा पाठकों की उपन्यास संबंधी जानकारी में पर्याप्त वृद्धि होती है। यहाँ पर उनमें से कतिपय उल्लेख्य प्रसंग प्रस्तुत किये जाते हैं जिनका कि प्रस्तुत शोध की दृष्टि से महत्व है। उन्होंने अपने उपन्यास शीर्षक (पंचम) प्रकरण के प्रारम्भ में ही कुछ विचारणीय उद्भावनाएँ की हैं यथा—

(क) उपन्यास अपेक्षाकृत नवीन साहित्य रूप है। फलतः इस साहित्य रूप के स्वभाव और गुणों के बारे में पर्याप्त विचार भी नहीं हो पाया है। नाटक और कविता के आधारभूत नियम बहुत कुछ निश्चित हैं किन्तु उपन्यास को नियन्त्रित करने वाले सर्वमान्य सिद्धान्तों का अभाव है। एक बात यह भी है कि उपन्यास,

(छ) 'सामग्री प्राचीन इतिहास प्रथा से आत्मकथाओं से, यात्रा वर्णनों से भी प्राप्त की जा सकती है।'

(ज) उपन्यास लेखन में, कथानक की मौलिकता का उतना महत्व नहीं है, जितना उसकी सफल प्रेषणीयता का और कभी-कभी कथा का सूत्रपात किसी नगण्य घटना अथवा साधारण अनुभव से होना है।'

(झ) 'वास्तविक अनुभव से प्राप्त सामग्री का यथातथ्य निरूपण करने वाले—*यथार्थवादी एवं प्रकृतिवादी उपन्यासकार, निरन्तर यह प्रयत्न करते आए हैं कि वे* जीवन का चित्र, बिना परिवर्तन और हेरफेर के अंकित करें। यथार्थ जीवन की कुरूपताओं की ओर उनका विशेष ध्यान गया है अतः उनके वर्णन अनेक स्थलों पर भद्दे और नैराश्यपूर्ण हो गए हैं।'

(ञ) आदर्शवादी उपन्यासकार जीवन का आकर्षक चित्र प्रस्तुत करना चाहते हैं अतएव उनकी कृतियों में उदात्त पात्रों उच्च आदर्शों, और उद्देश्यों, तथा मन पर सौम्य प्रभाव डालने वाले वर्णनों की प्रधानता रहती है। इस प्रकार के *उपन्यासों में परिस्थितियों और घटनाओं में परिवर्तन की अधिक संभावना* रहती है और जीवन को रोचक और आकर्षक रीति से व्यक्त करने का उद्देश्य प्रमुख रहता है।'[१]

उपन्यास की सर्वमान्य संहिता का अभाव डा० रामअवध द्विवेदी को ही नहीं प्रायः सभी आधुनिक समीक्षकों को खटका होगा। किन्तु केवल डा० द्विवेदी ने उसे अत्यन्त स्पष्ट रूप में स्वीकारा है। साथ ही उनके मन में, ऐसी किसी संहिता की उतनी अनिवार्य अपेक्षा भी नहीं है—कारण कि उपन्यास मूलतः एक उन्मुक्त साहित्य रूप ही है। *उपन्यास की उत्तमता अथवा साहित्यिक गरिमा के निर्धारण के लिए* चाहे वे सिद्धान्त संहिता अथवा बंधी हुई परिभाषा को अनिवार्य न समझते हों किन्तु उक्त अभिप्राय को दृष्टि में रखते हुए वे उसकी कतिपय अनिवार्य विशेषताओं का निरूपण अवश्य कर डालना चाहते हैं। यह बहुत अंशों में स्वीकार करना होगा कि उपन्यास कोटि निर्धारण में सिद्धान्त संहिता अथवा परिभाषा निरूपण की अपेक्षा उसकी मौलिक विशिष्टताओं एवं अनिवार्य विन्यासगत प्रवृत्तियों की ओर ही अधिक तल स्पर्शी विवेचन एवं अनुसंधान की आवश्यकता है।

अपने उपर्युक्त विचार विमर्श में डा० द्विवेदी ने उपन्यास का सर्वप्रथम एवं अनिवार्य गुण जीवन का प्रभावोत्पादक एवं रोचक निरूपण बताया है। निश्चय ही यह कार्य बिना उत्कृष्ट वर्णनात्मक प्रतिभा के संभाव्य नहीं है तथा बिना एक सुसंस्कृत

---

१ साहित्य रूप (डा० रामअवध द्विवेदी) पंचम प्रकरण, उपशीर्षक—'उपन्यास का स्वरूप' पृष्ठ ६६-७१

कलात्मक वर्णन सौष्ठव के, जीवन निरूपण अथवा जीवन पुन निरूपण में प्रभा-वोत्पादकता तथा रोचकता का समावेश नहीं किया जा सकता।

डॉ० द्विवेदी की उक्त उद्भावनाओं में ऐसे अनेकानेक संकेत हैं जो सब मिला कर उपन्यासगत वर्णनात्मक कला की अनिवार्य महत्ता की ओर इंगित करते चलते हैं फिर भी वे अपने कुछ अभिप्रायों को निश्चयात्मकता प्रदान नहीं कर पाये हैं। उपन्यास में लेखक और पाठक के बीच सीधे रागात्मक सम्बन्ध को तो स्वीकार किया गया है किन्तु उस सम्बन्ध स्थापन का माध्यम क्या है? क्या वह वर्णनात्मकता की कलागत विशिष्टता नहीं है?

जीवन का विशद चित्र प्रस्तुत करने के लिए मुख्य साधन है, वर्णन की कलात्मक प्रतिभा। यही कलात्मक प्रतिभा, लेखक की अपनी, वह निजी निरीक्षण प्रणाली है जिसकी पुनर्सर्जना करके, वह अपने पाठकों को अभिभूत एवं चमत्कृत कर देता है। उसी को साहित्यकार की निरीक्षण गत असाधारण क्षमता की संज्ञा दी गई है।

डा० द्विवेदी ने यह बात कह कर भी अपनी विवेचन प्रतिभा का परिचय दिया है कि उपन्यास लेखन में कथानक की मौलिकता ही बड़ी बात नहीं मानी जानी चाहिए। मुख्य बात तो है कथानक की प्रेषणीयता। अनेक विद्वानों ने उस प्रेषणीयता' को प्रतीयमानता' या लाइफ लाइकनेस' (जीवन सादृश्य) भी बताया है। यह सूक्ष्म कलात्मक सर्जना केवल सजीव एवं सप्राण, कलासंस्कृत वर्णन विशिष्टता द्वारा ही, साध्य है।

अधिकांश तथाकथित यथार्थवादी कृतियाँ, इसलिए प्रभावहीन रहती हैं, क्योंकि उनमें जीवन की कलात्मक पुनर्सर्जना की अवहेलना करके, भद्दे वर्णनों का समावेश भी आ जाता है। नैराश्यपूर्ण उपन्यास भी उत्तम या नहीं माने जा सकते क्योंकि वे सर्वमान्य 'सत्य, शिवम् सुन्दर' के सिद्धान्तों का ह्रास करने में ही योगदान करते हैं।

उच्चादर्शों से प्रेरित उदात्त पात्रों की सर्जना, कैसे ही कलात्मक वर्णन वैशिष्ट्य की अपेक्षा रखती है। यही बात मन पर सौम्य प्रभाव छोड़ने वाले वर्णनों के बारे में कही जा सकती है। डा० द्विवेदी का यह अभिमत बहुत अंशों में सर्वमान्य होगा कि आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उपन्यास ही बहुधा विश्व उपन्यास कहाने की क्षमता रखते हैं, क्योंकि उन्हीं में, लेखक को अपने वर्णन-वैशिष्ट्य के उत्तमोत्तम नमूने प्रस्तुत करने का अवसर मिलता है। अधिकांश तथाकथित यथार्थवादी उपन्यासों को साहित्य-कोटि में रखना, इसीलिए संभाव्य नहीं है कि उनमें वर्णनात्मक कला के मूलभूत सिद्धान्त—सौन्दर्योद्भावना (एस्थटिक एलिमेन्ट) की ही जानबूझ कर उपेक्षा की जाती है।

उपन्यास विधा में इस भाँति 'आदर्श-उन्मुख उपन्यास' कम महत्वपूर्ण नहीं समझे जाने चाहिएँ। वस्तुतः जो भी औपन्यासिक कृतियाँ विश्वसाहित्य में स्थान पाने योग्य मानी गई हैं उनमें, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से (कलात्मक सूक्ष्म-व्यंजना

है। चरित्र चित्रण के ऐसे बहुत से पक्ष होते हैं, जिनका स्पष्टीकरण वर्णना के द्वारा ही सम्भव होता है।'[१]

> शिल्प की दृष्टि से, उपन्यास में वर्णना का महत्वपूर्ण योग, कथानक से उन तत्वों को हटाना या कथानक में उन तत्वों को जोडना है जिनकी आवश्यकता समय समय पर समाप्त होती रहती है या जिनकी आवश्यकता, अनुभव होती है। कथानक के ऐसे बहुत से सूत्र होते हैं, जो पूरे उपन्यास में केवल कथानक को मोड़ या गति देने में सहायक होते हैं। इस सूत्रों को बहुधा वर्णना द्वारा ही उपन्यास के वृहत्तर आकार में समेट दिया जाता है। कथानक को आयाम देने में वर्णना का प्रमुख योग होता है। वर्णनों के बिना कथानक में वह वास्तविकता और विश्वसनीयता नहीं आ सकती, जिसके बिना कि उपन्यास सफल नहीं कहा जा सकता।'[१२]

हिन्दी साहित्य की उपन्यास विधा की समीक्षा, अब चार दशकों को पार करके पाचवें दशक में अग्रसर हो चुकी है। इस अतराय में अनेक समीक्षकों एवं साहित्य शास्त्रियों ने उपन्यास विधा में, वर्णनात्मकता के समावेश के द्वारा रसोद्रेक सम्बन्धी विशिष्टता का समय समय पर अनुभय तो किया है किन्तु कभी तो वे उपन्यास की वर्णनगत विशिष्टता को देशकाल तत्व के अन्तर्गत अथवा कभी शैली तत्व के अन्तर्गत ही बहुधा समाविष्ट करते चले आए हैं। किन्तु अद्यावधि किसी भी मान्य समीक्षक ने उसे निश्चयपूर्वक उपन्यास विधा की उत्कृष्ट विशिष्टता के रूप में मान्यता नहीं दी है।

जहाँ तक कि वर्णना की उत्तमता और उनके द्वारा उपन्यास के देश और काल के निरूपण में योगदान का प्रश्न है स्वयं आचार्य श्यामसुन्दरदास भी वर्णन के इस पक्ष से भली भाँति अवगत थे। उन्होंने ऐतिहासिक उपन्यास में वर्णना की यथा तथ्यता एवं प्रभावशालिता पर आज से ५० वर्ष पहले इसीलिए ध्यान दिया था और माना भी था कि उसके बिना उपन्यास में आए हुए तात्कालिक जीवन का समुचित चित्रण सम्भव नहीं है—

> ऐतिहासिक उपन्यास का महत्व तो केवल इसी में है कि उसमें प्राचीनकाल के जीवन का पूर्ण और विस्तृत वर्णन किया जाय। ऐतिहासिक उपन्यास के पाठक तो उसी लेखक का सबसे अधिक आदर करते हैं जो किसी विशिष्ट अतीत काल का, बिलकुल सच्चा जीता जागता और साथ ही मनोरंजक वर्णन कर सके। इससे उसके

---

१२ 'हिन्दी उपन्यास कला (डा० प्रतापनारायण टण्डन) अध्याय ७ पृष्ठ २५६ २६०

पांडित्य और पुरातत्व ज्ञान का भी आदर होता है, पर उतना अधिक नही जितना उसकी वर्णन शक्ति का ।'[१]

श्री श्यामसुन्दरदास उपन्यास विधा के वर्णन-पक्ष की प्रभावोत्पादकता मे विश्वास रखते थे अत इतिवृत्तात्मक उपन्यास सम्बन्धी, उपर्युक्त प्रसग के अतिरिक्त भी उन्होने इस बारे मे अपने कुछ और निजी मन्तव्य इस भाँति प्रकट किये हैं—

देश और काल के अतिरिक्त किसी उपन्यास का सम्बन्ध कुछ दूसरी ऐहिक बातो से भी होता है । कुछ लेखक तो बडे और अच्छे दृश्यो का वर्णन भी, बहुत ही सक्षेप म करके छुट्टी पा जाते हैं और कुछ लेखक छोटी से छोटी बातो का भी बहुत ही विस्तारपूर्वक वर्णन करने बठ जाते है । कुछ लेखक तो पर्वतो नदियो, और जगलो की प्रात कालीन शोभा का वर्णन दो चार पक्तियो म ही कर देना पर्याप्त समझते हैं । और कुछ लेखको को खिडकियो मे लगे हुए जगलो, उनके आगे पडे हुए पर्दों मे बने बेल-बूटो तक का वर्णन किये बिना, सन्तोष नही होता । हमारी समझ मे लेखक को किसी प्राकृतिक दृश्य का वैसा ही वर्णन करना चाहिये, जसा कि कोई अच्छा चित्रकार उस दृश्य का चित्र खीचता है वह अपनी रचना मे केवल सौन्दर्य वृद्धि के लिये भी ऐसे दृश्यो का वर्णन कर सकता है । और अपने सृजित पात्रो के साथ पाठको की सहानुभूति बढाने अथवा दुष्ट पात्रो की दुष्टता अधिक प्रत्यक्ष करने के लिए भी कर सकता है । जसे नवजात कृष्ण को गोद म लेकर यमुना पार करने वाले वसुदेव के साथ सहानुभूति बढाने के लिए भीषण अन्धकार घोर वर्षा, प्रचण्ड वायु और प्रबल बाढ का बहुत अच्छा वर्णन हो सकता है । प्राय लेखक प्राकृतिक दृश्यो या घटनाओ आदि का उपयोग अपने पात्रो के साथ, सहानुभूति बढाने म ही करते हैं । किले के बुर्ज मे बन्द किसी बन्दी का वर्णन करते हुए साथ मे आधी और तूफान का उल्लेख होता है और अट्टालिका म पडी हुई विरहिणी के वर्णन के साथ, बादल की गरज, और बिजली की चमक का उल्लेख होता है । साधारणत लेखक, अपने पात्रो की अवस्था, और प्राकृतिक घटनाओ म सामञ्जस्य ही स्थापित करने का उद्योग करते है ।'[२]

उपन्यासकार की उक्त वर्णन सामर्थ्य का परिज्ञान तो श्री श्यामसुन्दरदास को भी था क्योकि उन्होने उपन्यास विधा के एक पक्ष विशेष म, प्रभावशाली वर्णनो का महत्व रसोद्रेक की दृष्टि से, आवश्यक समझा था । अत उनके इस समीक्षा विवेक

---

१ 'साहित्यालोचन' (डॉ० श्यामसुन्दरदास) (पाचवा अध्याय—'गद्यकाव्य का विवेचन', पृष्ठ ६६ २०१) (ख) श्रव्य-काव्य – उपन्यास देशकाल-सम्बन्धी प्रसग पृष्ठ १७३ । (प्रथम सस्करण १६२२ ई० प्रस्तुत बारहवाँ सस्करण १६५७ ई०) (परिवर्तित और सशोधित, प्र० इडियन प्रेस प्रा० लि०) ।

२ वही—पृष्ठ १७४ १७५

की सराहना की जानी चाहिए, कि उन्होंने उपन्यास विधा में अंग्रेजी आलोचकों का अंधानुकरण न करते हुए उपन्यास में 'शैली' जैसे किसी स्वतन्त्र तत्व को अपनी स्वीकृति नहीं प्रदान की थी। इसके विपरीत उन्होंने 'उपन्यास और रस' तत्व का निरूपण करके, वर्णन आदि भारतीय काव्य की विशिष्टताओं की रसोद्रेक कारिणी महत्ता को, उपन्यास विधा में, स्वीकृति भी प्रदान की थी।

खेद का विषय तो यह माना जाएगा कि इसके विपरीत, श्री श्यामसुन्दरदास के परवर्ती समीक्षकों ने, उनके निर्धारित किए हुए उपन्यास विधा के तत्वों में से चतुर्थ तत्व—अर्थात 'उपन्यास और रस' के स्थान में आंग्ल समीक्षकों द्वारा निर्धारित उपन्यास तत्वों में से एक—'स्टाइल' अथवा शैली' को ही अपने तत्व विधान में समाविष्ट कर लिया। इस भांति हमारे आद्य उपन्यास विधा सम्बन्धी तत्व निरूपण में, जो एक मात्र तत्व 'उपन्यास और रस' भारतीय चिन्तनधारा का प्रतीक रूप अवशिष्ट रह गया था उसे भी परवर्ती समीक्षकों ने निकाल बाहर किया और इस भांति अब हमारी उपन्यास विधा सम्बन्धी सभी मान्यताओं की मूल्यांकन प्रणाली प्रायः सम्पूर्ण रूप से, अंग्रेजी ढंग में ढाल दी गई है।

उपन्यास विधा तथा तद्गत वर्णन-तत्व के सम्बन्ध में हिन्दी-समीक्षा-जगत की विविध विचार-सरणियों पर इस भांति पर्यवेक्षण कर लेने के पश्चात उपन्यास में वर्णनात्मकता के महत्व का निरूपण पर्याप्त अंशों में सुनिर्धारित हो जाता है। पर समय-समय पर उपन्यास विधा की विविध तथा नव-नव वर्णन शैलियों को लेकर आलोचनात्मक विचारधारा में ऐसी शंकाएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं कि अमुक शैली में उपन्यासों की नियोजना में तो वर्णन अधिक महत्व रखते हैं तथा अमुक शैली में उनका महत्व नगण्य हो जाता है। अतः इस दृष्टि से भी वर्णनात्मक विचार विमर्श आवश्यक हो जाता है। जैसा कि डा० टण्डन का मत है वर्णन-तत्व के रूपों में परिवर्तन के साथ ही साथ, उनकी तथाकथित' विविध शैलियाँ भी बदलती जाती हैं। वस्तुतः उपन्यास विधा की इस मौलिक एवं सार्वभौम विशिष्टता —वर्णनात्मकता के ही, वे विविध रूप अथवा परिधान मात्र हैं। यदि अद्यावधि प्रचलित सभी नई-पुरानी औपन्यासिक शैलियों पर एक तुलनात्मक दृष्टिक्षेप किया जाय तो ज्ञात होगा कि उन सभी में मूलाधार प्रमुख एवं मुखर तत्व उनका वर्णनात्मक नियोजन ही होता है।

ऐतिहासिक उपन्यासों में उस देश और काल का—युग संस्कृति एवं सामाजिक परिवेश का—जो कि कभी था विशद वर्णन प्रस्तुत किया जाता है जिससे कि उनकी कथा कहानी पाठक को प्रतीयमान एवं अद्भुत जान पड़े। इनमें भी जो ऐतिहासिक उपन्यास सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के गहरे रंग को लेकर स्थापित होते हैं उनमें वर्णित देशकाल की धार्मिक सामाजिक तथा नैतिक परिस्थितियों को साक्षात् करने वाले विवरणयुक्त विशद वर्णनों का समावेश किया जाता है। पर कोरे साधारण ऐतिहा

सिक उपन्यास रचना की अपेक्षा, उच्चस्तरीय एवं कलाभिमुख होता है तथा उसमें लेखक को, अपने गहन अध्ययन एवं प्रतिभा के बल पर, और भी सूक्ष्म वर्णन नियोजना करनी पड़ती है। इसी वर्णनात्मक समृद्धि द्वारा ये सांस्कृतिक ऐतिहासिक उपन्यास 'गद्य-महाकाव्यों' की संज्ञा के अधिकारी हो जाते हैं और उनका साहित्यिक स्तर और स्वर भी अधिक ऊँचाई की ओर अभिमुख रहता है। कभी ऐसे उपन्यासों को 'ऐतिहासिक' और कभी 'सांस्कृतिक' कहा जाता है। वस्तुतः ये दोनों ही 'गद्य महाकाव्य' शैली के उपन्यास कहे जाने योग्य हैं।

सामाजिक' उपन्यासों, 'नीतिपरक' उपन्यासों तथा 'आदर्शवादी' उपन्यासों में तात्विक अन्तर अधिक नहीं रहा करता। इन उपन्यास के स्रष्टाओं को अपने आसपास के लोकजीवन का गहरा और दार्शनिक अध्ययन करना होता है और अपनी उपन्यास रचना को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उन्हें, खास तौर पर ऐसे वर्णन-स्थलों एवं वर्ण्यविषयों की खोज करनी पड़ती है, जो पाठक के देशकाल के अनुरूप होते हुए भी, अपने में विशिष्ट व्यंजनात्मक, प्रतीकात्मक एवं विस्मय जिज्ञासा जगाने वाले, होवें। उपन्यासकार की सूझ-बूझ तथा उसका वर्णन विवेक जितने ही तीव्र एवं तलस्पर्शी होंगे— उपन्यास भी उतना ही लोकप्रिय सिद्ध होगा।

लेखक के अपने निजी लोकजीवन से सम्बन्धित अथवा 'सामाजिक' उपन्यासों में भी एक प्रकार के उपन्यासकार, समाज के चित्र को ('फोटोग्राफी' की भाषा में) रिटच' या सँवार कर अंकित करना, अपना धर्म समझते हैं क्योंकि हूबहू चित्रण महा ग्राम्य तथा साहित्यिक शोभा से हीन हो जाता है। इसीलिए वे एक सुसंस्कृत जगत का, अपनी दुनिया में पुनर्निरूपण करते हैं, जिसे कि उसके देश और काल का समुज्ज्वल तथा आशावादी छविचित्र भी कहा जा सकता है। इसके लिए लेखक अपने कथानक में उन्हीं चुने हुए स्थलों एवं प्रतीकात्मक पदार्थों के वर्णन प्रस्तुत करता है, जो उसे अतिसामान्य एवं प्रभावहीन नहीं जान पड़ते।

किन्तु इसके विपरीत यथार्थवादी अथवा प्रकृतवादी उपन्यासकार कुरूप एवं रुग्ण समाज का, जैसा का तैसा चित्र, ईमानदारी से उतारने में प्रवृत्त हो जाते हैं। वस्तुतः ये लोग अपने समाज और उसकी नैतिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं आध्यात्मिक अवस्थाओं से, असंतुष्ट रहते हैं तथा उनके विरुद्ध विद्रोह का झण्डा उठाते हैं। इसके लिए उन्हें 'सर्वहारा वर्ग तथा दीनहीन सामाजिक पक्ष को ही अपने वर्णनों के लिए चुनना होता है। उन्हें प्रायः उस अभागे समाज के कुछ ऐसे स्थलों का अनावरण करना पड़ता है, जो शिष्टता एवं सांस्कृतिकता के नाते यदि छुपे ही पड़े रहते तो ही बेहतर होता।

कभी-कभी ऐसे यथार्थवादी उपन्यासकार अपने युगधर्म के धार्मिक आवेश में मग्न रहते हैं और अपने निजी आग्रहों एवं मतव्यों में भी वे बहुधा अनुदार और

कठोर पाये जाते हैं। इसी वर्ग में हम सभी तथाकथित 'प्रगतिशील' उपन्यास साहित्य का समावेश कर सकते हैं। सूक्ष्मतया देखे जाने पर ये लोग भी वस्तुतः 'दिवास्वप्न' द्रष्टा ही होते हैं और वे अपने सम-सामयिक समाज से ऐसे चित्र चुन चुन कर, जो उसकी निरर्थकता एवं निष्प्राणता के द्योतक होते हैं—एक ऐसे भावी समाज के 'समुज्ज्वल दिवास्वप्न' को समक्ष देखते हैं तथा उसे अपनी वर्णन प्रतिभा से साकार करते चलते हैं जिसमें सभी कुछ रंगढंग बदला हुआ होना चाहिए। ये लोग अपनी सुधारवादी योजनाओं के भावी मनचित्र दिखला कर अपने पाठकों को उसकी रचना में जुट जाने तथा उसमें सक्रिय भाग लेने को भी प्रोत्साहित करते हैं।

वर्णनात्मक विशिष्टता के आधार पर ही 'कल्पना प्रधान' एवं 'भावात्मक (भावनात्मक)' उपन्यास शैलियों का भी उद्भव एवं विकास हुआ है। कल्पना प्रधान उपन्यासों में कल्पित जगत की चित्र विचित्र विस्मयकारी दृश्यावलियों का कुशल वर्णन किया जाता है। यहाँ नवो रसों में वस्तुतः 'अद्भुत रस' ही प्रधान रहता है और उपन्यासकार अपने वर्णनों में, वास्तविक जगत से अधिकाधिक भिन्न चित्र अंकित करने में ही अपनी वर्णन प्रतिभा का उपयोग करता है। तिलिस्मी, ऐयारी और अतिमानवीय उपन्यास शैलियों में उपयुक्त वर्णन प्रतिभा का ही चमत्कार प्रभाव रहता है। यही बात विज्ञानपरक उपन्यासों में पाई जाती है। नये से नया वैज्ञानिक आविष्कार, लेखक को आने वाले आविष्कारों का पूर्व नियोजक बनने की प्रेरणा देता है। अद्भुत रस ही ऐसे उपन्यासों के वर्णनों में सर्वप्रमुख रहता है।

आधुनिक उपन्यास शैलियों में एक ऐसी विशिष्ट शैली भी जिसे 'भावनात्मक या काव्यात्मक' शैली भी कहते हैं यत्र-कदा दिखाई दे जाती है। स्व० चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' का वृहद् उपन्यास 'मंगल प्रभात', हरिऔध' की प्रसिद्ध औपन्यासिक कृतियें, श्री व्रजनन्दन सहाय के 'सौन्दर्योपासक' आदि उपन्यास तथा निकटतर युग में स्व० उषा देवी मित्रा कृत 'जीवन की मुस्कान' जैसे उपन्यास इस शैली के प्रतीक माने जाते हैं। इनमें, वर्णन शैली प्राचीन काव्यों में होने हुए भी छायावादी कवियों की भाँति नव-नव उद्भावनाओं से काम लेना होता है जिन्हें केवल विशिष्ट प्रतिभा-सम्पन्न उपन्यासकार ही साकार कर सकते हैं।

यात्रा संस्मरण तथा दैनंदिनी (डायरी) नाम से अभिहित शैलियाँ, मूलतः वर्णन प्रधान शैलियाँ ही होती हैं। इनमें क्रमशः, वर्णनों के 'स्थान-वैचित्र्य', 'पात्र वैचित्र्य' एवं 'घटना-वैचित्र्य' तत्वों का समावेश होता चलता है। स्व० राहुल सांकृत्यायन के अनेक ऐतिहासिक उपन्यासों की पृष्ठभूमि यात्रा वृत्तान्त पर ही आधारित रही है। उनमें, विशिष्टतया 'विस्मृत यात्री' इस संदर्भ में विशेष उदाहरणीय है।

संस्मरणात्मक उपन्यासों को हम 'आत्मकथात्मक' एवं 'उत्तम पुरुष एकवचन शैली' में रचित उपन्यासों की एक भिन्न संज्ञा-मात्र भी बता सकते हैं। अनेक कृत

'शेखर एक जीवनी' इसका सफल उदाहरण है। डायरी शैली कभी घटना वैचित्र्य की ओर मुड़ती है तथा कभी यात्रा-वर्णन आदि अन्य वर्णनात्मक यथार्थवस्तु तत्वों की ओर मुड़ती है। डा० देवराज कृत 'अजय की डायरी' यद्यपि 'दैनन्दिनी' के रूप में लिखी गई है फिर भी वह मुख्यतया (अपना मनोरमता के लिए,) अपने अविस्मरणीय यात्रा-वर्णनों पर ही आधारित है।

आजकल युद्ध नव-नव वर्णन प्राधान्य युक्त उपन्यासों की हिन्दी एवं अन्य प्रादेशिक उपन्यास-साहित्य में धूम है उन्हें 'आंचलिक' उपन्यास की संज्ञा दी जाती है। 'प्रादेशिक रूपामा' तथा 'स्थानीय रंग' ही इनकी वास्ता के विशिष्ट सबल बनते हैं। अधिक सफल आंचलिक उपन्यास उन्हें माना जाना चाहिए जिनमें कि कोई विशिष्ट प्रदेश अथवा भौगोलिक इकाई, निजी चित्र विचित्र प्राकृतिक श्रीशोभा तथा रंगबिरंग लोकजीवन के सशक्त एवं प्रतिभाशाली वर्णनों के माध्यम द्वारा, 'दृश्यमान' हो उठे। इनमें अधिवास, प्रकृति की गोद में बसे, ग्रामीण अंचल को ही अपनी पृष्ठभूमि बना कर चलते हैं। श्री फणीश्वरनाथ 'रेणु' के उपन्यास-द्वय 'मैला आंचल' एवं 'परती परिकथा' उत्तम आंचलिक उपन्यास हैं। 'नदीपुराण' एवं 'वरुण-पुराण' (सागर-तट वर्णन) की शैली में अनेकानेक अन्य उत्तम आंचलिक उपन्यास भी रूपायित हुए हैं जिनमें श्री देवेन्द्र सत्यार्थी-कृत 'ब्रह्मपुत्र' तथा स्व० श्री उदयशंकर भट्ट कृत 'सागर, लहरें और मनुष्य' अविस्मरणीय हैं।

नागरिक जीवन की विषमताओं को लेकर श्री इलाचन्द्र जोशी ने अनेक वर्षों पूर्व अपना 'जहाज का पंछी' रचा था। तुलनात्मक दृष्टि से इस शैली का अधुनातर उपन्यास है 'अंधेरे बन्द कमरे' (श्री मोहन राकेश)। इस बृहत् उपन्यास में लेखक ने 'चेतना निर्झरिणी शैली' (स्ट्रीम आफ कांशसनेस) की 'फ्लैशबैक प्रणाली' का भी समावेश कर दिया है जो एक नवीनता है। चित्रपटों अथवा फिल्मों में दृश्यों के कालक्रम में, जिस भांति, उत्सुकता बनाए रखने के लिए 'उलट फेर' किया जाता है उसी भांति, ऐसे उपन्यासकार, घटनाक्रम में कालक्रम को अपनाना जरूरी नहीं समझते। रही 'चेतना निर्झरिणी शैली' को मनोवैज्ञानिक कोटि में रखे जाने वाली बात, सो उसे केवल लेखक द्वारा नियोजित 'वर्णन-छल' से उत्पन्न, भ्रांति ही कही जायगी। उक्त शैली में सभी सफल उपन्यास 'फ्लैश बैक' प्रणाली पर आधारित, प्रधानतया वर्णनात्मक उपन्यास ही होते हैं और उनकी सफलता या सिद्धि, लेखक की निजी वर्णनात्मक प्रतिभा पर ही अवलंबित रहती है।

पाश्चात्य मनोविज्ञान विशारद दार्शनिकों जुंग तथा फ्रायड के विचार-दर्शन से प्रभावित होकर जो उपन्यासकार 'तथाकथित' मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों की रचना करते हैं, वे वस्तुतः उपन्यास विधा की उदार वैधानिक स्वतंत्रता का दुरुपयोग ही करते हैं। ज्ञान एवं उपन्यास, मूलतः 'ज्ञानशोध' तथा 'रंजकत्व' नामक परस्पर विरोधी चिन्तनों के परिणाम हैं। यदि वे एक दूसरे के क्षेत्र में अनधिकार

अतिक्रमण करेंगे तो अपनी निजी चाल भूल कर उपहासास्पद बनने का खतरा ही मोल लेंगे। समयान्तर में, पाश्चात्य उपन्यास की एक ह्रासमान शैली का, यह भारतीय जनमानस पर वृथा आरोप प्रयास ही माना जायगा।

उपन्यास विधा में वर्णनात्मकता के स्थान निर्धारण के सम्बन्ध में, हमारे समीक्षा जगत के कतिपय मान्य एवं विशिष्ट विवेचकों के अभिमतों की रूपरेखा प्रस्तुत की ही जा चुकी है। इसके अतिरिक्त कुछ उपन्यास-स्रष्टा समीक्षक महोदय भी समय-समय पर निजी रचनात्मक उपलब्धियों पर दृष्टिपात करते रहे हैं। वे, मूलतः तो रचनात्मक प्रतिभा से ही सम्पन्न होते हैं। अतएव वे उपन्यास रचना के क्षेत्र में, उपन्यासकार की उपाधि से ही सम्मत रहते हैं। किन्तु अपनी कृति विशेष पर या अपने उपन्यास कर्म के साधारण दृष्टिकोण पर अपने निजी विचार व्यक्त करते समय उनमें से अधिकांश प्रतिभाशाली कलाकार उपन्यास विधा में वर्णनात्मकता की निजी सूक्ष्मतम प्रवृत्तियों का भी निर्देश कर जाते हैं। ये स्वातः सुखाय समीक्षात्मक उद्भावनायें उपन्यास विधा में वर्णनात्मकता के स्थान एवं महत्व के अवधारण में, विशेष मूल्यवान सिद्ध हो सकती हैं।

ऐसे महान एवं रससिद्ध कलाकार-समीक्षकों में सर्वाग्रगण्य हैं स्व० श्री प्रेमचन्द। श्री प्रेमचन्द जितनी ऊँची सृजनात्मक प्रतिभा से समन्वित थे उतनी ही ऊँची और मौलिक उनकी समीक्षात्मक सूझ-बूझ भी थी। उन्होंने उपन्यास विधा के विविध पक्षों पर विचार करते हुए समय समय पर अनेक आलोचनात्मक निबन्ध लिखे हैं। उन्हीं से उनकी कतिपय चिरस्मरणीय उद्भावनाओं का (वर्तमान प्रसंग के संदर्भ में) उल्लेख किया जा रहा है। क्या उपन्यास विधा की कोई शास्त्रीय परिभाषा सम्भव है? इस जिज्ञासा के प्रत्युत्तर के रूप में उन्होंने कहा था —

उपन्यास की परिभाषा विद्वानों ने कई प्रकार से की है लेकिन यह कायदा है कि जो चीज जितनी सरल होती है उसकी परिभाषा उतनी ही मुश्किल होती है। उपन्यास के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। ऐसी कोई परिभाषा नहीं है जिस पर सभी लोग सहमत हों। मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।[1]

श्री प्रेमचन्द मानव जीवन के सूक्ष्मतम निरीक्षण एवं चित्रण के महत्व को तो स्वीकार करते हैं किन्तु वे जीवन की फोटोग्राफिक अर्थात शत प्रतिशत यथातथ्यता

---

१ 'कुछ विचार' (भाग १ साहित्य और भाषा सम्बन्धी)—श्री प्रेमचन्द अध्याय ८ 'उपन्यास' पृष्ठ ३८ (प्र० सरस्वती प्रेस, काशी प्रथम प्रकाशन १९३९ ई०) वर्तमान संस्करण चतुर्थ (१९४९ ई०)।

में आस्था नहीं रखते। उनकी राय में पात्रों के निजी व्यक्तित्व एवं उनके कार्य व्यापार तथा परिवेश-सम्बन्धी विवरणों में उपन्यासकार को निजी विवेक से उपयुक्त चयन एवं विलयन करना जरूरी होता है। इसके अतिरिक्त वे साहित्यसृजन के शिवङ्कर एवं सौन्दर्यबोधात्मक पक्ष की ओर से कभी उदासीन नहीं होते। उन्होंने उपन्यास-सृजन के इस मंगलकारी पक्ष पर बड़ी गहराई से विचार किया है —

अँधेरी गर्म कोठरी में काम करते-करते जब हम थक जाते हैं, तब इच्छा होती है कि किसी बाग में निकल कर निर्मल स्वच्छ वायु का आनन्द उठाएँ। इसी कमी को आदर्शवाद पूरी करता है।[1]

उपन्यास के जनमन रंजक पक्ष से श्री प्रेमचन्द कभी भी विरत नहीं हुए। यह बात उनके उपन्यास-साहित्य के सभी ममज्ञ पाठक भलीभाँति जानते और समझते हैं। किन्तु चरित्र चित्रण एवं वर्णन प्रक्रिया में कलात्मक परिष्कार एवं सौन्दर्य-बोधात्मक सूझ-बूझ के भी वे पक्के हामी हैं —

साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। यह तो भाटों, मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊँचा है। वह हमारा पथ प्रदर्शक होता है—वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हम में सद्भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है।[2]

श्री प्रेमचन्द की उपन्यास-गत समीक्षात्मक पैठ बड़ी गहन थी और उन्होंने उपन्यास विधा के सभी पक्षों पर एक विचक्षण समीक्षक की दृष्टि से सूक्ष्मावलोकन किया था। साहित्य के प्रचारात्मक पक्ष को वे भी हीन मानते हैं किन्तु तीव्रतम परिवर्तन के युग में साहित्यकार का अपने आसपास की परिस्थितियों से सर्वथा तटस्थ रहना भी कितना कठिन है यह भी उन्होंने जान लिया था। पूर्णतः तटस्थ चित्रण ही यद्यपि कला का ध्येय एवं आदर्श है यह मानते हुए भी वे अनुभव करते हैं कि—

आजकल परिस्थितियाँ इतनी तीव्र गति से बदल रही हैं—इतने नये-नये विचार पैदा हो रहे हैं कि कदाचित् अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श का ध्यान में रख ही नहीं सकता। यह बहुत मुश्किल है कि लेखक पर इन परिस्थितियों का असर न पड़े .... मगर यह बयान कर मान लिया जाय कि जो उपन्यास किसी विचार के प्रचार के लिए लिखा जाता है उसका महत्व क्षणिक होता है। विक्टर ह्यूगो का लामिजरेबल, टाल्सटाय के अनेक ग्रन्थ, डिकेन्स की अनेक रचनाएँ विचार प्रधान होते हुए भी उच्च कोटि की साहित्यिक हैं और अब तक उनका आकर्षण कम नहीं हुआ .... हमारा ख्याल है कि क्या न कुशल साहित्यकार कोई विचार प्रधान रचना भी इतना सुन्दरता से करे कि मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों का संघर्ष निभता रहे।[3]

---

१ २ 'कुछ विचार' (भाग १ साहित्य और भाषा सम्बन्धी)—श्री प्रेमचन्द अध्याय / उपन्यास (प्र० सरस्वती प्रेस काशी प्रथम प्रकाशन १९३९ ई०) पृ ११। मस्करण चतुर्थ (१९४६ ई०) पृष्ठ ४० तथा ४१

३ वही—पृष्ठ ४२

अतिक्रमण करेंगे तो अपनी निजी चाल भूल कर, उपहासास्पद बनने का खतरा ही मोल लेंगे। समयान्तर में पाश्चात्य उपन्यासों की एक ह्रासमान शैली का यह भारतीय जनमानस पर वृथा आरोप प्रयास ही माना जायगा।

उपन्यास विधा में वर्णनात्मकता के स्थान निर्धारण के सम्बन्ध में, हमारे समीक्षा-जगत के कतिपय मान्य एवं विशिष्ट विवेचकों के अभिमतों की रूपरेखा प्रस्तुत की ही जा चुकी है। इसके अतिरिक्त कुछ उपन्यास-स्रष्टा समीक्षक महोदय भी समय-समय पर निजी रचनात्मक उपलब्धियों पर दृष्टिपात करते रहे हैं। वे, मूलतः तो रचनात्मक प्रतिभा से ही सम्पन्न होते हैं। अतएव वे उपन्यास रचना के क्षेत्र में उपन्यासकार की उपाधि से ही सस्मित रहते हैं। किन्तु अपनी कृति विशेष पर या अपने उपन्यास कर्म के साधारण दृष्टिकोण पर अपने निजी विचार व्यक्त करते समय उनमें से अधिकांश प्रतिभाशाली कलाकार उपन्यास विधा में वर्णनात्मकता की निजी सूक्ष्मतम प्रवृत्तियों का भी निर्देश कर जाते हैं। ये स्वान्तः सुखाय समीक्षात्मक उद्भावनायें उपन्यास विधा में वर्णनात्मकता के स्थान एवं महत्व के अवधारण में, विशेष मूल्यवान सिद्ध हो सकती हैं।

ऐसे महान एवं रससिद्ध कलाकार-समीक्षकों में सर्वाग्रगण्य हैं स्व० श्री प्रेमचन्द। श्री प्रेमचन्द जितनी ऊँची सृजनात्मक प्रतिभा से समन्वित थे उतनी ही ऊँची और मौलिक उनकी समीक्षात्मक सूझ-बूझ भी थी। उन्होंने उपन्यास विधा के विविध पक्षों पर विचार करते हुए समय-समय पर अनेक आलोचनात्मक निबन्ध लिखे हैं। उन्हीं से उनकी कतिपय चिरस्मरणीय उद्भावनाओं का (वर्तमान प्रसंग के संदर्भ में) उल्लेख किया जा रहा है। क्या उपन्यास विधा की कोई शास्त्रीय परिभाषा सम्भव है? इस जिज्ञासा के प्रत्युत्तर के रूप में उन्होंने कहा था —

'उपन्यास की परिभाषा विद्वानों ने कई प्रकार से की है लेकिन यह कायदा है कि जो चीज जितनी सरल होती है उसकी परिभाषा उतनी ही मुश्किल होती है। उपन्यास के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। ऐसी कोई परिभाषा नहीं है जिस पर सभी लोग सहमत हों। मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।'[1]

श्री प्रेमचन्द मानव जीवन के सूक्ष्मतम निरीक्षण एवं चित्रण के महत्व को तो स्वीकार करते हैं किन्तु वे जीवन की फोटोग्राफिक अर्थात् शत प्रतिशत यथातथ्यता

---

१ कुछ विचार' (भाग १ साहित्य और भाषा सम्बन्धी)—श्री प्रेमचन्द अध्याय ८ उपन्यास पृष्ठ ३८ (प्र० सरस्वती प्रेस, काशी प्रथम प्रकाशन १९३९ ई०) वर्तमान संस्करण चतुर्थ (१९४६ ई०)।

में आस्था नहीं रखते । उनकी राय में पात्रों के निजी व्यक्तित्व एवं उनके बाह्य-व्यापार तथा परिवेश-सम्बन्धी विवरणों में उपन्यासकार को निजी विवेक से, उपयुक्त चयन एवं विलयन करना जरूरी होता है । इसके अतिरिक्त वे साहित्यसृजन के शिवङ्कर एवं सौन्दर्यबोधात्मक पक्षों की ओर से कभी उदासीन नहीं होते । उन्होंने उपन्यास-सृजन के इस मंगलकारी पक्ष पर बड़ी गहराई से विचार किया है —

'अंधेरी गर्म कोठरी में काम करते करते, जब हम थक जाते हैं तब इच्छा होती है कि किसी बाग में निकल कर निर्मल स्वच्छ वायु का आनन्द उठाएँ । इसी कमी को आदर्शवाद पूरी करता है ।'[1]

उपन्यास के जनमन रंजक पक्ष से श्री प्रेमचन्द कभी भी विरत नहीं हुए । यह बात उनके उपन्यास साहित्य के सभी मर्मज्ञ पाठक भलीभांति जानते और समझते हैं । किन्तु चरित्र चित्रण एवं वर्णन प्रक्रिया में कलात्मक परिष्कार एवं सौन्दर्यबोधात्मक सूझ-बूझ के भी, वे पक्के हामी हैं —

'साहित्यकार का काम, केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है । यह तो भाटों मदारियों, विदूषकों, और मसखरों का काम है । साहित्यकार का पद, इससे कहीं ऊंचा है । वह हमारा पथ प्रदर्शक होता है—वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है हम में सद्भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है ।'[2]

श्री प्रेमचन्द की उपन्यास-गत समीक्षात्मक पैठ बड़ी गहन थी और उन्होंने उपन्यास विधा के सभी पक्षों पर एक विचक्षण समीक्षक की दृष्टि से सूक्ष्मावलोकन किया था । साहित्य के प्रचारात्मक पक्ष को वे भी हीन मानते हैं किन्तु तीव्रतम परिवर्तन के युग में, साहित्यकार का अपने आसपास की परिस्थितियों से सर्वथा तटस्थ रहना भी कितना कठिन है यह भी उन्होंने जान लिया था । पूर्णतः तटस्थ चित्रण ही यद्यपि कला का ध्येय एवं आदर्श है, यह मानते हुए भी वे अनुभव करते हैं कि—

'आजकल परिस्थितियां इतनी तीव्र गति से बदल रही हैं—इतने नये-नये विचार पैदा हो रहे हैं कि कदाचित् अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श को ध्यान में रख ही नहीं सकता । यह बहुत मुश्किल है कि लेखक पर इन परिस्थितियों का असर न पड़ मगर यह स्वीकार मान लिया जाये कि जो उपन्यास, किसी विचार के प्रचार के लिए लिखा जाता है, उसका महत्व क्षणिक होता है । विक्टर ह्यूगो का 'लामिजरेबल,' टाल्सटाय के अनेक ग्रन्थ, डिकेन्स की अनेक रचनाएँ विचार प्रधान होते हुए भी उच्च कोटि की साहित्यिक हैं और अब तक उनका आकर्षण कम नहीं हुआ हमारा ख्याल है कि क्या न कुशल साहित्यकार कोई विचार प्रधान रचना भी, इतनी सुन्दरता से करे कि मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों का संघर्ष निभता रहे ।'[3]

---

१ २ 'कुछ विचार' (भाग १ साहित्य और भाषा सम्बन्धी)—श्री प्रेमचन्द अध्याय / उपन्यास (प्र० सरस्वती प्रेस काशी प्रथम प्रकाशन १९३९ ई०) वर्तमान संस्करण चतुर्थ (१९४६ ई०) पृष्ठ ६० तथा ६१

३ वही—पृष्ठ ४०

जिन विश्वसाहित्य के अमर उपन्यासकारों का श्री प्रेमचन्द ने स्मरण किया है वे महान् एवं उदार मानववादी थे—साहित्य का एक पक्ष उनकी अखिल लोक मंगलकारी प्रवृत्ति भी है—केवल संकीर्णताएँ ही कला के लिए विघातक सिद्ध होती हैं। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि ह्यूगो, टाल्सटाय, डिकेन्स और प्रेमचन्द सभी वर्णन प्रतिभा एवं वर्णनात्मक उपन्यास शैली के सिद्धहस्त विधायक थे। जिस गुणरत्न का उन्होंने उपर्युक्त अवतरण में उल्लेख किया है वस्तुतः वह उनकी वर्णनात्मक कला का ही एक पक्ष विशेष है।

पात्रों के निरूपण एवं रूप-वर्णन में किस भाँति उपन्यास लेखक जनजीवन से अपने मॉडल प्राप्त करता है और उनमें हम वास्तविक व्यक्तियों की प्रतिच्छवि क्यों दिखायी देती है इसका रहस्य उद्घाटन करते हुए श्री प्रेमचन्द ने अनेक चिरस्मरणीय उदाहरण विश्व-उपन्यास से प्रस्तुत किए हैं—

'पिकविक पेपर्स' (प्र० १८३७ ई०) डिकेन्स की अमर हास्यरस प्रधान रचना है। पिकविक का नाम एक [illegible] गाड़ी के मुसाफिरों की जबान से डिकेन्स के कान में आया। बस नाम के अनुरूप चरित्र आकार वेश—सबकी रचना हो गयी। 'साइलस मार्नर' (प्र० १८६१ ई०) की लेखिका जार्ज इलियट ने लिखा है कि अपने बचपन में उन्होंने एक फेरी लगाने वाले जुलाहे को पीठ पर कपड़े के थान लादे हुए कई बार देखा था। यह तस्वीर उनके हृदय पट पर अंकित हो गयी थी और समय पर इस उपन्यास के रूप में प्रकट हुई। रंगभूमि का बीजांकुर हमें एक अन्धे भिखारी से मिला जो हमारे गाँव में रहता था। एक जरा सा बीज लेखक के मस्तिष्क में पौधा बनकर इतना विशाल वृक्ष बन जाता है कि लोग उस पर आश्चर्य करने लगते हैं।[1]

श्री प्रेमचन्द ने अनेक आलोचकों एवं उपन्यासकारों के उद्धरण देते हुए अपनी यह धारणा निश्चयपूर्वक प्रस्तुत की है कि उपन्यासों के लिए पुस्तकों से मसाला न लेकर जीवन ही से लेना चाहिए। वस्तु वर्णन के सम्बन्ध में विस्तार के महत्व पर [illegible] कहते हैं—

उपन्यास-कला में यह बात भी बड़े महत्व की है कि लेखक क्या लिखे और [illegible] होता है [illegible] वह कभी यह नहीं [illegible] नहीं [illegible] कर सकता है। [illegible] है तो यह [illegible] कि [illegible] और [illegible] (जो [illegible]) [illegible] दे [illegible] [illegible] का [illegible] अनिश्चित [illegible] [illegible][2]

---

१ [illegible] विचार — [illegible] (भाग १ [illegible]) पृष्ठ ४३,

२ वही—पृष्ठ ४८

हिन्दी उपन्यास की प्रख्याति एवं साहित्य श्री में चार चाँद लगाने वाले, स्व० श्री प्रेमचन्द ने 'उपन्यास'—विधा के सम्बन्ध में, विविध अवसरों पर लिखित, जिन निजी भावनाओं को व्यक्त किया है, एक साथ रखने से उपन्यास विधा की समीक्षा की भावी रूपरेखा के निरूपण में मूल्यवान योग मिल सकेगा—

(क) 'उपन्यास का क्षेत्र, अपने विषय (वस्तु) के लिहाज से दूसरी ललित कलाओं से, कहीं ज्यादा विस्तृत है। लेकिन इसका यह आशय नहीं कि उपन्यासकार के लिए कोई बंधन हो नहीं है। उपन्यास का विषय विस्तार ही उपन्यासकार को बेड़ियों में जकड़ देता है।

(ख) ' संसार की प्रत्येक वस्तु, उपन्यास का उपयुक्त विषय बन सकती है। प्रकृति का प्रत्येक रहस्य मानव जीवन का हर एक पहलू जब किसी सुयोग्य लेखक की कलम से निकलता है तो वह साहित्य का रत्न बन जाता है।'

(ग) 'उपन्यास के चरित्रों का चित्रण जितना ही स्पष्ट, गहरा और विकास पूर्ण होगा, उतना ही पढ़ने वाले पर उसका असर पड़ेगा, और यह लेखक की कल्पना शक्ति पर निर्भर है। उपन्यास, चरित्रों के विकास का ही विषय है। कोई उपन्यास शुरू करने के लिए, यदि हम चरित्रों का एक मानसिक चित्र बना लिया करें, तो फिर उनका विकास दिखाने में हमें सरलता होगी।'

(घ) 'चरित्रों में कुछ न कुछ विशेषता भी रहनी चाहिए। जिस तरह संसार में कोई दो व्यक्ति समान नहीं होते, उसी भाँति उपन्यास में भी न होने चाहिए।'

(ङ) 'जो वास्तविक जीवन की गहराइयों में डूबा हो, जिसने जिन्दगी में ऊँच नीच देखे हों—जिसने सम्पत्ति और विपत्ति का सामना किया है—जिसकी जिन्दगी मखमली गद्दों पर नहीं गुजरती, वही लेखक ऐसे उपन्यास रच सकता है जिनमें प्रकाश, जीवन और आनन्द प्रदान करने की सामर्थ्य होगी। भविष्य उन्हीं उपन्यासों का है जो अनुभूति पर खड़े हों।'[1]

श्री प्रेमचन्द की उपन्यास विधा-सम्बन्धी उक्त सद्भावनाओं द्वारा उपन्यास शोध के प्रस्तुत पक्ष विशेष—'उपन्यास विधा में वर्णनात्मकता' के स्थान निर्धारण में जो समुचित दिशाबोध प्राप्त होता है उसे समन्वित रूप में इस भाँति सारीकृत किया जा सकता है—

(१) उपन्यास विधा में उपन्यासकार को, वर्णनों एवं विवरणों प्रक्रियाओं के लिए अबाध क्षेत्र प्राप्त है। किन्तु यही व्यापकता उसे, अपनी वर्णनात्मक कला को

---

१ कुछ विचार' (श्री प्रेमचन्द) चतुर्थ संस्करण १९४६ ई० स, उपन्यास का विषय' परिच्छेद संख्या ६ पृष्ठ ५० ५६

संयमित एवं मर्यादित रखने को बाध्य भी करती है जिससे कि वह कला अनगल वर्णन विस्तार के जाल में न उलझ जाए।

(२) उपन्यासकार की सर्वतोमुखी विशिष्टता है उसकी सृजनात्मक प्रतिभा अथवा कल्पना शक्ति की प्रखरता। इसी के बल पर वह अपने दृश्यों एवं वर्णनों में, उस कलात्मक अनुपमता एवं मनोहारिता का समावेश कर पाता है जो मात्र विद्वत्ता अथवा निजी अनुभूति द्वारा भी साध्य नहीं है।

(३) उपन्यास में घटना वैचित्र्य-तत्त्व का महत्व सीमित ही है। आधुनिक उपन्यास कला की दृष्टि से, पात्रों के मनोभावों और चरित्रगत विशिष्टताओं का उद्घाटन उससे भी अधिक महत्व रखता है। अतएव यह आवश्यक है कि उपन्यासकार अपने चरित्रों को सूक्ष्म दृष्टि से देखे और उनका कोई भी पक्ष उसकी निगाह से न बचने पाए तथा उन सभी का वर्णन उसकी कृति में सुचारु रूप से हो सके। आकृति निदान के कलापूर्ण समावेश द्वारा ही यह वर्णन कार्य हो सकता है।

(४) मानव जीवन का प्रत्येक पक्ष अथवा प्रकृति शोभा का प्रत्येक पक्ष जब किसी सुयोग्य लेखक की कलम से निकलता है तो वह साहित्य का रत्न बन जाता है। मानव जीवन का प्रत्येक पक्ष तथा प्रकृति शोभा की प्रत्येक झाँकी कुशल वर्णन कला में सिद्धि प्राप्त उपन्यासकार की प्रतीक्षा करते रहते हैं।

(५) यथार्थवादी वर्णन अथवा जीवन के यथार्थ चित्रण का अभिप्राय प्रकाश की अवहेलना कर अन्धकार की खोज नहीं होनी चाहिए अन्यथा अंधकार में मनुष्य को सिवा अंधकार के सूझ ही क्या सकता है? कुरुचिपूर्ण एवं कुत्सापूर्ण वर्णन आज के उपन्यासकार का नित्य प्रति बढ़ता जाता अभिशाप है। श्री प्रेमचन्द इस बारे में गोर्की के शब्दों को दुहराते हैं कि कुरुचि का परिणाम ही ऐसा वातावरण प्रस्तुत करता है जो कुकर्म की प्रवृत्ति को और भी दृढ़ बनाता है।

(६) उपन्यासकार के लिए यह वाञ्छनीय है कि वह उपन्यास रचना से पूर्व अपने उपन्यास के मुख्य पात्रों की मानसिक छबि को मनसा रूपायित कर ले। तत्पश्चात उस छवि का शाब्दिक आलेखन करे। प्रत्येक चरित्र अथवा पात्र में कोई न कोई निजी विशिष्टता रहनी आवश्यक है। जीवन में कोई दो आदमी समान नहीं पाए जाते। उपन्यास में भी यही वाञ्छनीय है।

श्री प्रेमचन्द की भाँति ही उनके अनेक समकालीन एवं सहयोगी साहित्यकारों ने भी उपन्यास की मुखरता एवं उसकी वर्णनात्मक समृद्धि दोनों पक्षों की ओर ध्यान दिया है। उनमें से अनेक उत्तम समीक्षण तथा आत्म निरीक्षण भी करते रहे हैं किन्तु उन्हीं के द्वारा व्यक्त की गई उनकी इन समीक्षात्मक उद्भावनाओं पर अभी तक हिन्दी की समालोचना सरणी में पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है। उपन्यास के रचना विधान की प्रक्रियाओं एवं बारीकियों पर विचार करते हुए प्राय उन सभी ने उपन्यास गत वर्णनात्मक कौशल एवं विवेक को शीर्ष महत्व प्रदान किया है। ऐसे

सृजनात्मक साहित्य-समीक्षका मे, हिन्दी उपन्यास साहित्य के वरिष्ठ एव गौरवास्पद स्रष्टा—श्री जयशकर 'प्रसाद', श्री वृन्दावनलाल वर्मा, आचाय चतुरसेन शास्त्री तथा महापण्डित राहुल साकृत्यायन ने, विशेषतया, उपन्यास के इस विशिष्ट समीक्षात्मक पक्ष पर ध्यान दिया है।

महाकवि श्री जयशकर 'प्रसाद' स्वय एक उच्च कोटि के उपन्यासकार थे एव उपन्यास विधा मे वणनात्मक तत्त्व के महत्त्व को भी वे भली भाति जानते समझते थे। उनके समीक्षात्मक निबन्धो के एक छोटे से सकलन 'काव्य, कला तथा अन्य निबन्ध' का प्रथम प्रकाशन सन १६३६ ई० मे हुआ था। उसी के अन्तगत एक लेख है—'आरम्भिक पाठ्य काव्य'। उसमे श्री प्रसादजी ने आज से लगभग तीस वष पहले 'काव्य' का जो कोटि विभाजन किया था उसके अनुसार काव्य को अभिनेय और 'श्रव्य' इन दो विभागो मे विभाजित किया था।

श्री प्रसादजी ने, इस भाति, अखिल वाड्मय के दो मुख्य विभेदो को उनकी 'वणनात्मकता' तथा 'अभिनेयता' तत्त्वो के आधार पर पृथक किया था। वणनात्मक काव्य का ही दूसरा नाम, प्रारम्भ म, 'श्रव्य काव्य' पडा। यह अभिधान (नाम) लिपि बद्धता के युग से पहले का शब्द था। अत 'प्रसादजी' ने इसे सुधार कर पाठ्य काव्य नाम दिया है। किन्तु साथ ही वे पाठ्य काव्य की मुख्य विशिष्टता 'वणनात्मकता' की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित करना नही भूले हैं—

'नाट्य से अतिरिक्त जो काव्य है, उसे रीति ग्रन्थो मे 'श्रव्य' कहते हैं। कारण कि प्राचीन काल म य सब सुने या सुनाए जाते थे। इसीलिए—श्रुति, अनुश्रुति इत्यादि शब्द धम ग्रन्थो के लिए भी व्यवहृत थे। किन्तु आजकल तो छपाई की सुविधा के कारण उन्हें 'पाठ्य' कहना अधिक सुसगत होगा। वणनात्मक होने के कारण मे काव्य जो अभिनय के योग्य नही, पाठ्य ही हैं।"[1]

जिस छपाई की सुविधा के कारण वणनात्मक काव्य या श्रव्यकाव्य को पाठ्य काव्य की सज्ञा मिली उसी के कारण उसकी बाह्य वणनात्मक एव प्रधान शाखा 'उपन्यास विधा' म चक्रवृद्धि हुई। सभी आद्य कथा-साहित्य पहले तो श्रव्य काव्य ही रहा था। अब यह पाठ्यकाव्य हो गया। पाठ्य काव्य के भी, जसा कि पहले विवचन किया ही जा चुका है पद्य महाकाव्य एव गद्य महाकाव्य दो भेद—प्रचलित हो चले थे। यह द्विविध विकास ईसवी पूव प्रथम स प्रवर्तित हो कर प्राय निरन्तर एव क्रमानुसार परम्परा म हमे उपलब्ध है। किन्तु आज से दो हजार वष पूर्व गुणाढ्य ने जो बृहत्कथा नामक वणनात्मक गद्य महाकाव्य (पशाची प्राकृत म) रचा था—उसम और आज के पाठ्य वणनात्मक गद्य महाकाव्य उपन्यास म पर्याप्त रूपात्मक अन्तर

---

१ 'काव्य कला तथा अन्य निबन्ध' (श्री जयशकर प्रसाद) अध्याय ७, पृ० १०६ (प्र० भारती भण्डार प्रयाग)।

हो चुका है। अन्त दोनों की 'सनातीयता' को पहचानने में, आज हम भ्रम सा हो जाता है। इसी भ्रम का निराकरण करने के लिए श्री 'प्रसादजी' ने सभी श्रव्य-काव्य की सर्वप्रमुख विशिष्टता, उसकी वर्णनात्मकता की ओर हमारा ध्यान दिलाया है। उसका स्मरण आते ही हमें 'वृहत्कथा' एवं आधुनिक उपन्यास-गत साम्य तुरन्त दृष्टिगोचर हो जाता है।

श्री प्रसादजी ने अखिल वाङ्मय को, उक्त दोनों सुस्पष्ट कोटियों—'वर्णनात्मक एवं अभिनयात्मक' में विभाजित ही नहीं किया वरन् उन्होंने हमें 'महाकाव्य' एवं 'महाकाव्येतर'—अनभिनय काव्य के बीच प्रमुख विभेद का कारण तथा रहस्य भी बता दिया। जहाँ भी कवि अपरोक्ष अनुभूतिमय (सब्जेक्टिव) हो जाता है—वह महाकाव्येतर, मुक्तक काव्य-सर्जना में प्रवृत्त होता है। इसे हम 'आत्म निवेदन प्रधान' काव्य भी कह सकते हैं। इसमें अहम् की खोज में कवि की जिज्ञासा लीलामयी हो उठती है और इदम् की ओर से यह एक प्रकार से विरत ही हो जाती है।

इदम्' की ओर प्रवृत्त साहित्यकार महाकाव्य अथवा वर्णनात्मक वाङ्मय की ओर उन्मुख होता है। उपन्यास भी इदम् अर्थात् बाह्य वर्णनात्मकता का ही एक प्रतिरूप मात्र है। श्री प्रसादजी ने इस तथ्य की परिभाषा यों की है—

बाह्य वर्णनात्मक अर्थात् इदम् का परामर्श भी आत्मा के विस्तार की ही आलोचना और अनुभूति है—जीवन की विभिन्न परिस्थितियों को समझने की क्रिया है—'इदम् को अहम् के समीप लाने का उपाय है। वर्णनों से भरे हुए महाकाव्य में जीवन और उसके विस्तारों का प्रभावशाली वर्णन आता है। उनमें सुख दुःख, हर्ष शोक राग-द्वेष का वैचित्र्यपूर्ण आलेख मिलता है।[1]

उक्त इदम्' तत्त्व की परिभाषा उपन्यास' की परिभाषा के निकटतम पहुँच जाती है। हम उपन्यास' की एक परिभाषा यह भी स्वीकार कर सकते हैं कि उपन्यास एक ऐसा बाह्य वर्णनात्मक गद्य महाकाव्य है जिसमें हम अहम् (आत्मा) के विस्तार की ही आलोचना और अनुभूति के अभिप्राय से 'इदम्' का परामर्श, मुख्य तया दृष्टिगोचर होता है। उपन्यास जीवन की विभिन्न परिस्थितियों को समझने की मानवजिज्ञासा की एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें इदम्' को अहम्' के समीप लाने का उद्योग सतत क्रियाशील पाया जाता है।

श्री जयशंकर प्रसाद की ही विचार सरणी में हम आज उपन्यास विधा की विशिष्टताओं की इन शब्दों में सारिणी प्रस्तुत कर सकते हैं—उपन्यास अथवा गद्य महाकाव्य में हम जीवन और उसके विस्तारों का प्रभावशाली एवं लोकरंजनकारी वर्णन उपलब्ध होता है। उसमें हम मानव मात्र के सुख-दुःख हर्ष क्रोध, राग द्वेष

---

१ काव्य कला तथा अन्य निबन्ध' (श्री जयशंकर प्रसाद') अध्याय ७, पृष्ठ ११०

का वैचित्र्यपूर्ण अथवा कौतूहल-वर्धक आलेख्य मिलता है और उसमें हमें, मानव कार्यशीलता की वर्णनात्मक एवं कथात्मक विवेचना भी मिलती है।'

श्री जयशंकर 'प्रसाद' कृत दो सम्पूर्ण उपन्यासों 'कंकाल' एवं 'तितली' तथा उनके अंतिम अधूरे उपन्यास 'इरावती' की औपन्यासिक अंतर्चेतना उनकी उपयुक्त दार्शनिक तथा मौलिक परिभाषा के अनुरूप है। वे वर्णनात्मक महाकाव्य तो हैं ही, साथ ही उनमें, 'अहम्' के विस्तार द्वारा तथा 'इदम्' के निरूपण के द्वारा, आत्मशोध की भावना भी, सर्वोपरि पाई जाती है। 'इरावती' में तो, उनकी कथात्मक वर्णनात्मक कला इतनी विलक्षण एवं कमनीय हो चली थी, कि उसके द्वारा श्री प्रसादजी, उपन्यास अथवा 'गद्य महाकाव्य' की वर्णनात्मक विशिष्टता को मानो साकार रूप दे डालने को ही समुत्सुक थे।

श्री जयशंकर 'प्रसाद' के उपर्युक्त अन्तिम ऐतिहासिक उपन्यास 'इरावती' के ही प्रसंग में, स्व० श्री श्यामसुन्दर दास की 'ऐतिहासिक उपन्यास' के संबंध में एक स्मरणीय टिप्पणी भी द्रष्टव्य है—

ऐतिहासिक उपन्यास का महत्व तो केवल इसी में है कि उसमें प्राचीन काल के जीवन का पूर्ण और विस्तृत वर्णन किया जाय। ... अतीत काल का बिल्कुल सच्चा जीता जागता और साथ ही मनोरंजक वर्णन कर सके, इससे उस (लेखक) के पांडित्य और पुरातत्त्व ज्ञान का भी आदर होता है पर उतना अधिक नहीं—जितना उसकी वर्णन शक्ति का।'[1]

उक्त अवतरण में श्री श्यामसुन्दर दास ने ऐतिहासिक उपन्यास रचना में देश काल के प्रसंग में, वर्णन शक्ति पर ही बल दिया है और उन्होंने प्राचीन काल के जीवन के पूर्ण और विस्तृत वर्णन को ही ऐतिहासिक उपन्यास की गरिमा में, वृद्धि करने वाला बताया है। किन्तु उन्होंने अतीत काल के 'बिलकुल सच्चे वर्णन' को महत्त्वशाली नहीं माना। यही नहीं उन्होंने यह भी इंगित किया है कि उपन्यासकार के लिये पांडित्य और पुरातत्व ज्ञान, दोनों ही गौण हैं और उपन्यासगत वर्णन शक्ति प्रधान।

दुर्भाग्यवश उनकी इस बात पर परवर्ती समीक्षकों ने पर्याप्त ध्यान नहीं दिया। यह भूल, उपन्यास-समीक्षकों और (ऐतिहासिक) उपन्यासकारों दोनों से ही हुई। वे उसके मौलिक गुण अर्थात् वर्णन शक्ति को छोड़ कर गौण तथ्य यानी बिलकुल सच्चे वर्णन की ओर मुड़ पड़े। इसी कारण हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में, ऐतिहासिक उपन्यासकारों के तीन पक्ष, और समीक्षकों के तीन पक्ष, अस्तित्व में आए। इस यथावधि—'अनिर्णीत शास्त्रार्थ' को एक विहंगम कलेवर देना आज भी उपादेय होगा।

स्वर्गीय श्री प्रेमचन्द एवं श्री प्रसादजी के पश्चात् हिन्दी उपन्यास विधा को अपनी वर्णनात्मक प्रतिभा से ज्योतित कर देने वाले, स्व० श्री वृन्दावनलाल वर्मा,

---

१ 'साहित्यालोचन' (डॉ० श्यामसुन्दर दास) अध्याय ५ पृष्ठ १७३

अपनी साहित्यिक कृतियों के स्वयं भी विवेकशील समीक्षक रहे थे। प्रायः प्रत्येक उपन्यास के प्रारम्भ में उन्होंने विशद् प्रस्तावनाएँ भी दी हैं और उनमें, अपनी उपन्यास रचना सम्बन्धी मान्यताओं को और अपने वर्णनात्मक कला-सम्बन्धी विचारों को उन्होंने बारबार स्पष्ट किया है। 'ऐतिहासिक उपन्यास और मेरा दृष्टिकोण' शीर्षक लेख में उन्होंने लिखा था—

अपना अपना दृष्टिकोण, कुछ न कुछ काम तो करता ही रहता है। इतिहास के आधार पर उपन्यास लिखने वाला भी अपना दृष्टिकोण रखता है परन्तु वह केवल इतिहास लिखने वाले की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र है। औपन्यासिक कृति की परम्परा से पाठक को और लेखक को कोई कल्याणकारी प्रेरणा मिलनी चाहिए। 'जनमत में दिव्यता लाने वाले सत्त्व' को उत्पन्न करना उसका कर्तव्य है, जिसके लिए इतिहास के तथ्य' और जनपरपराओं में उन तथ्यों के प्रति श्रद्धा', उसके साधन हैं।'

जिन स्थलों पर इतिहास का प्रकाश नहीं पड सकता उनका कल्पना-द्वारा सृजन करके उपन्यास-लेखक भूली हुई या खोई हुई सचाइयों का निर्माण करता है। उनमें वह चमत्कार आ जाती है जो इतिहास के जाने माने तथ्यों में अवश्यमेव होती है—पर उन तथ्यों या परपराओं को ताश के पत्तों का महल या बलबघर न बना दिया जाय।[2]

स्व० श्री वर्माजी ने इतिवृत्त के तथ्यों की तलस्पर्शी शोध की थी और जब तक वे उसे सम्पूर्ण नहीं कर पाए उन्होंने अपने अनेक उपन्यासों का प्रकाशन बरसों तक स्थगित भी रखा। किन्तु फिर भी उनकी आत्मीय निष्ठा एवं आस्था इतिवृत्त में नहीं लोकवृत्त' में रही थी अर्थात वे इतिवृत्त के तथ्यों को तभी अपने उपन्यासों में स्थान देने को तैयार होते थे जब कि उन्हें लोक कथाओं लोक परपराओं लोक किंवदन्तियों लोकोक्तियों लोकगीतों आदि से भी समर्थन प्राप्त हो जाए।[2]

अतएव श्री वर्मा जी एक ओर तो इतिवृत्त के तथ्यों को मनचाहा तोडना मरोडना नहीं चाहते तथा दूसरी ओर वे उपन्यास' पद के न्यास खण्ड में निहित,

---

१ 'विचार परिमल परिसंवाद' में पठित— ऐतिहासिक उपन्यास और मेरा दृष्टिकोण' शीर्षक निबन्ध (श्री वृन्दावनलाल वर्मा) नये पत्ते (जनवरी फरवरी १९५३ ई०)।

(तुलनीय— इतिहास के तथ्य तो ताश के पत्तों के समान सभी लेखकों को समुपलब्ध रहते हैं—उनमें से चाहे तो कोई एक भवन का निर्माण कर ले चाहे कोई गिरजाघर बना कर खड़ा कर दे और चाहे कोई एक समाधि का प्रतिरूप खड़ा कर दे। —प्रसिद्ध दार्शनिक फ्रायड

२ परम्पराएँ और किम्बदन्तियाँ इतिहास का प्रायः सही व्याख्या करती हैं। मैं इन दोनों का समीकरण और समन्वय करने का प्रयत्न करता हूँ।' (श्री वर्माजी के डा० सिंहल के नाम ११ ३ ५१ के पत्र से उद्धत)।

'धरोहर' वाले पक्ष की भी अवहेलना नहीं कर सकते। इस सम्बन्ध में श्री जगदीश गुप्त का, श्री वर्माजी की औपन्यासिक विशिष्टता-सूचक निम्न अभिमत, द्रष्टव्य है—

'श्री वृन्दावनलाल वर्मा की रचनाओं में, जहाँ वातावरण की सजीव कल्पना के साथ, ऐतिह्य और लोकतत्त्व का सहज सामंजस्य हो सका है वहाँ उन्हें अद्वितीय सफलता मिली है।'[1]

उपन्यास विधा एवं उसके सृजन के अभिप्राय के बारे में श्री वर्माजी की अपनी निजी एवं मौलिक उद्भावनाएँ थी। उनके मत में उपन्यास का प्रत्यक्ष उद्देश्य पूर्ण मनोरंजन या लोकरंजन ही है। किन्तु उसकी आंतरिक चेतना में, भारतीय संस्कृति की प्रतीकत्रयी का समावेश भी आवश्यक उपन्यास सृष्टि के लिए, (उनके अनुसार) अनिवार्य है। यह प्रतीकत्रयी है 'सत्यम् शिवम् एवं सुन्दरम्'। वे अपना वर्णनात्मक औपन्यासिक आलोचना का फाटोग्राफिक सम वर्णनात्मक यथार्थता के साथ मुखर आदर्शवाद का सामंजस्य बताते हैं।'[2]

श्री वर्मा जी की उपन्यास-सर्जन कला मूलतः वर्णनात्मक है। यह वर्णनात्मक शैली, प्रत्यक्ष प्रकृति-चित्रण या लोकजीवन चित्रण दोनों ही क्षेत्रों में, कथाप्रसंग के अनुकूल वातावरण की सृष्टि पर, आधारित रहती है। श्री वर्माजी के उपन्यास सृजन के प्रति दृष्टिकोण को, यदि हम सारल्य में रखें तो यह कहना उपयुक्त होगा कि वे उपन्यास को, गद्य महाकाव्य की सम्पूर्ण श्रीशोभा से अभिव्यक्त करने के इच्छुक रहते थे। श्री प्रेमचन्द ने उनके 'गढ़ कुण्डार' उपन्यास के पढ़ जाने पर लिखा था—'यह उपन्यास मात्र नहीं वरन यह तो साधारणकाव्य की एक उपन्यासात्मक परिणति है।'[3]

श्री वर्माजी के उपन्यास हिंदी उपन्यास में वर्णनात्मक कला के ऊँचे से ऊँचे स्तर को छूने वाले सिद्ध हुए हैं। खण्डहरों में सोए हुए अतीत के जीवन का उन्होंने, पुनर्सृजन किया है किन्तु उनकी यह वर्णनात्मक सृष्टि अन्य किसी भी ऐतिहासिक उपन्यास के स्रष्टा की वर्णन शैली से समानता नहीं रखती। उन्होंने अपनी निजी वर्णन शैली को स्पष्ट करते हुए लिखा था—

'मैंने उपन्यासों में समाज का चित्रण, केवल कथा निर्वाह या क्रियेशन ऑफ एटमासफियर (वातावरण की सृष्टि) के लिए ही, नहीं किया है। इस मामले में मैं, स्काट, ड्यूमा या मार्ट हैमसन सभी से अलग हूँ। स्कॉट आवश्यकता से अधिक विस्तार करता है। ड्यूमा घटनाओं की आँधी बहाता है। ह्यूगो ने केवल (अनातोले

---

१ 'इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यासकार' (डॉ० जगदीश गुप्त) आलोचना' (उपन्यास विशेषांक) वर्ष ८, अंक १ पृष्ठाङ्क १३, अक्टूबर १९५४ ई०, पृष्ठ १८२-८३

२ फोटोग्राफिक रिएलिज्म ब्लेन्डेड विद ए डामिनेन्ट नोट ऑफ आइडियलिज्म'

३ इट इज नॉट ए नॉवेल बट ए पस्टोरल पोइट्री'।

उपन्यासकार हुए—स्व० राहुल सांकृत्यायन तथा स्व० श्री आचार्य चतुरसेन शास्त्री। जहाँ तक वर्णनात्मक विशिष्टताओं का प्रश्न है—इन दोनों ही महान् उपन्यासकारों की कृतियाँ उत्तमोत्तम वर्णनों से ओतप्रोत हैं। किन्तु उक्त दोनों कलाकारों की कला के बीच भारी अन्तर सरलता से देखा या समझा जा सकता है।

जहाँ तक नैसर्गिक छटा या शोभा के चित्रण का प्रश्न है श्री राहुल सांकृत्यायन के वर्णन बड़े उत्कृष्ट एवं एक पर्यटनप्रिय ज्ञान-यात्री की जिज्ञासा एवं उमंग से अनुप्राणित हैं। इसी भाँति जब वे भूगोल या इतिहास के क्षेत्र में अपनी वर्णनात्मक कल्पना का विस्तार करते हैं तो वे इस बात की सावधानी सदा ही बरतते हैं कि कोई भद्दी भूल उनकी सारी विलक्षण बहुज्ञता पर बट्टा न लगा जाए।

श्री राहुलजी उपन्यास रचना में वर्णनात्मक चमत्कार के तो हामी रहे थे किन्तु वे, अपनी लेखनी के विलास को इतिवृत्त एवं देशकाल के अनुशासन से सर्वतन्त्र स्वतन्त्र नहीं मानते। इतिवृत्तात्मक उपन्यास के प्रणेता के समक्ष आने वाली व्यावहारिक कठिनाइयों से वे भली भाँति परिचित थे। एक स्थान पर उन्होंने इस तथ्य पर विस्तार से लिखा है जिसके कुछ द्रष्टव्य अंश यहाँ उद्धृत किए जा रहे हैं—

ऐतिहासिक उपन्यास में हमें ऐसे समाज और उस व्यक्तियों का चित्रण करना पड़ता है जो सदा के लिए विलुप्त हो चुके हैं। किन्तु उस समाज ने कुछ ऐसे पद चिह्न जरूर छोड़े हैं जो उनके साथ मनमानी करने की इजाजत नहीं देते। इन पद चिह्नों या ऐतिहासिक अवशेषों के पूरी तौर से अध्ययन को यदि आप अपने लिए दुष्कर समझते हैं तो कौन कहता है आप जरूर ही इस पथ पर कदम रखें?

हम देखते हैं कि कम से कम हमारे देश में समर्थ कथाकार भी ऐसी गलती कर बैठे हैं और बिना तैयारी के ही वे कलम उठा लेते हैं। इसमें शक नहीं, यदि उनकी लेखनी चमत्कारिक है तो साधारण पाठक उसे बड़ी दिलचस्पी से पढ़ेंगे और हमारे समालोचकों में बहुत कम ही ऐसे हैं जो ऐतिहासिक यथार्थवाद की परख रखते हैं। इसलिए इतिहास के जानकारों और प्रेमियों के सिर में दर्द पैदा करने वाले उपन्यासों पर खूब अच्छी समालोचना भी प्राप्त हो सकती है। लेकिन ऐसे लेखक की कृति पर राय देने का अधिकार केवल आज ही के पाठक नहीं रखते। समानधर्मा लोगों की अनेक पीढ़ियाँ उन्हें देखेंगी और वे ऐसे लेखक को तुच्छ दृष्टि से देखेंगी। ऐतिहासिक उपन्यासकार का विवेक वैसा ही होना चाहिए जैसा कि इतिहासकार का होता है लिखित सामग्री वही प्रथम श्रेणी की मानी जायगी जिसे उसी समय में लिपिबद्ध किया गया हो।[1]

---

१ 'आलोचना', वर्ष ४, अंक १, पूर्णाङ्क १३ अक्टूबर १९५४ पृष्ठ १७१—श्री राहुल सांकृत्यायन का लेख—ऐतिहासिक उपन्यास (प्र० 'आलोचना'

'अजन्ता की चित्रशालायें, पांचवीं से सातवीं सदी के भारत के समाज का बड़ा ही सच्चा चित्र उपस्थित करती है। साँची और भारहुत की मूर्तियों को अच्छी तरह अध्ययन किए बिना हम, मौर्य और शुंग काल पर अच्छे उपन्यास नहीं लिख सकते। हर तीन चार शताब्दी के बाद, लोगों की वेश भूषा में, कितने ही अन्तर आ जाते हैं, जिनका ध्यान रखना जरूरी है। आज जिस तरह हमारे अपने देश में, प्रदेश के अनुसार लोगों के वस्त्र-आभूषणों में फरक मालूम होता है, उसी तरह कुछ न कुछ पहले भी था, यह अध्ययन से मालूम होगा।'

श्री राहुल सांकृत्यायन ऐतिहासिक तथ्यों से युक्त, वर्णनों के लिए, जिस भाँति इतिवृत्त अर्थात् कालगत अनुशासन के हामी हैं उसी भांति वे भौगोलिक तथ्यों के, नैसर्गिक शोभा वर्णनों के साथ सामंजस्य में भी, विश्वास रखते हैं। अपने उपर्युक्त वर्णनात्मक विधान सम्बन्धी लेख में ही श्री राहुलजी ने इस तथ्य को भी स्पष्ट किया है —

'ऐतिहासिक अनौचित्य से बचने के लिए भौगोलिक अध्ययन की भी आवश्यकता है। भौगोलिक स्थानों, उनकी दिशाओं और दूरियों का ठीक ठीक अन्दाज रहने के लिए तत्सम्बन्धी नक्शे का खाका, हर वक्त सामने रहना चाहिए। नक्शा तो हमारे मानस पटल पर अंकित हो जाना चाहिए। ऐसा न करने पर असन्तव्य गलती हो जाती है। नन्दलाल दे ने, प्राचीन भूगोल का कोश लिखा है। उसमें नक्शे का ध्यान न रहने के कारण उन्होंने कुमाऊँ की काली (नदी), और अलीगढ़, एटा जिला की काली (नदी) को एक समझ लिया। उन्हें ख्याल नहीं आया कि ऐसा होने के लिए दोनों कालियों को, गंगा के ऊपर से गुजर कर एक होना पड़ेगा।'[१]

इतिवृत्तात्मक उपन्यासों के वस्तु-वर्णन में भी ऐतिहासिक उपन्यासकार को श्री राहुल के मत में सावधानी बरतनी चाहिए। उन्होंने ऐतिहासिक उपन्यासों में वर्णनात्मक पक्ष पर आमूलचूल विचार किया है। इतिवृत्तात्मक वस्तु वर्णन की भारी भ्रान्तियों से भी वे भावी लेखक को सावधान करते हुए लिखते हैं —

जो चीज जिस समय अभी आविष्कृत ही नहीं हुई उसे उस समय रखना भारी दोष है। उदाहरण के लिए बारूद और बारूदी हथियारों को ही ले लीजिए। चीन में यद्यपि आतिशबाजी के छोटे छोटे खिलवाड़ के लिए बारूद का उपयोग कुछ पहले भी होता था, पर उसे हथियार के तौर पर सबसे पहले, चंगेज (मृत्यु

---

१२ 'आलोचना', वर्ष ४, अंक १, पूर्णांक १३, अक्टूबर १९५४, पृ० १७०-७३ (श्री राहुल सांकृत्यायन का लेख ऐतिहासिक उपन्यास)।

१२२७ ई०) की सेना ने इस्तमाल किया था। तब भी धातु की तोपें नहीं बन सकी थी और मोटे चमड़े की कई तहों से बनी, इन हाथ की तोपों में बारूद को फेंका जाता था। चमड़े की तोप उस समय की अपेक्षाकृत कमजोर बारूद संभाल सकती थी। धातु की तोपें, मंगोलों की चमड़े की तोपों को देख कर, यूरोप में पहले पहल बनी थीं। आगे बारूद के सारे शक्तिशाली हथियार यूरोप वालों ने निकाले। यही बारूदी तोपें थीं जिन्होंने युद्ध में यूरोपियों ने पल्ले को भारी कर दिया और उन्होंने सारे विश्व पर अपना अधिकार स्थापित किया। भारत में सबसे पहले बारूदी तोपों का इस्तेमाल, बाबर ने पानीपत के मैदान में (२१ अप्रैल १५२६ ई० को) किया था। उसकी सात सौ यूरोपीय तोपों ने, चार-पाँच घण्टों में दिल्ली (इब्राहीम लोदी) की सेना को घास मूली की तरह काट कर रख दिया। २१ अप्रैल, १५२६ ई० से पहले बारूदी तोपों और हथियारों को अपने उपन्यासों और कहानियों में लाना अनुचित है।[1]

श्री राहुल सांकृत्यायन के उक्त लेख के प्रकाशन के पश्चात ऐसे भी कलाकार हुए हैं जिन्होंने उपन्यास की वर्णनात्मक प्रवहमानता तथा रमणीयता का सामंजस्य बनाए रख कर जहाँ भी बन पड़ा है इतिवृत्त के सत्य का भी आदर किया है। यथा 'चारु चन्द्रलेख' उपन्यास में यद्यपि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी देशकाल के बंधनों को, किसी भी रूप में, अपनी कलात्मक सृजन क्रिया में बाधक नहीं बनने देते फिर भी उन्होंने बारूद के आविष्कार तथा चंगेज खाँ वाले प्रसंग में देशकाल गत वर्णनात्मकता का निर्वाह किया है और उसका उल्लेख भी भारत की सीमाओं से बाहर ही रक्खा है। जबकि राहुलजी आध्यात्मिक एवं धार्मिक परम्पराओं में, अनास्थावादी होने के कारण उपन्यास के सांस्कृतिक पक्ष को (अपनी ही मानसिक विवशता के कारण) जानते बूझते हुए भी निर्बल बना डालते हैं आचार्य द्विवेदी ने उसे साधारण से कुछ बढ़ कर ही महत्व दिया है। वे इस सम्बन्ध में आस्थावान हैं कि लोक-संस्कृति ही लोक जीवन का यथार्थ प्रतिबिम्ब है तथा इतिहास की लोक जीवनपरक सत्यता कभी भी असंदिग्ध नहीं हो सकती।

स्व० श्री चतुरसेन शास्त्री भी अपने 'वैशाली की नगरवधू' आदि अनेक महाकाव्यात्मक इतिवृत्तात्मक उपन्यासों के कारण उपन्यास विधा के इस पक्ष विशेष के उन्नायकों में गिने जाते रहे हैं। किन्तु वे वर्णनात्मक दृष्टिकोण एवं वर्णनात्मक विनियोजन, दोनों ही में स्व० श्री राहुलजी से प्रायः विपरीत दिशा में गतिमान दिखाई पड़ते हैं। अपने महा उपन्यास 'वैशाली की नगर-वधू' के द्वितीय खण्ड के अन्त में, स्वयं उन्होंने, अपने इतिवृत्तात्मक वर्णनों एवं प्रसंगों के सम्बन्ध में एक

---

[1] 'आलोचना' वर्ष ४ अंक १ पूर्णांक १३ अक्टूबर १९५४ पृष्ठ १७३ (श्री राहुल सांकृत्यायन का लेख 'ऐतिहासिक उपन्यास')

विस्तृत वक्तव्य भी दिया है। उनका सुनिर्धारित मत है कि—'साहित्यकार ऐतिहासिक तथ्यों से एकदम बंध कर चल नहीं सकता। यदि वह ऐसा करेगा तो वह अपनी कृति में (इतिहास) 'रस' का संचार करने में असमर्थ रहेगा, जो कि साहित्य को, शाश्वतता एवं माधुर्य प्रदान करता है।' अपने इस अभिप्राय को और भी स्पष्ट करते हुए, आचार्य चतुरसेन शास्त्री लिखते हैं —

साहित्य एवं इतिवृत्त में अन्तर केवल यही है कि इतिहास, देश और काल की सीमाओं में जकड़ा होने के कारण जड़वत् सत्य बन कर, रह जाता है किन्तु साहित्य, उस सत्य को, गतिवान, स्पन्दनशील बनाता है और उसकी धारा को, देश तथा काल की सीमाओं से मुक्त करके, उसे निखिल विश्व का आप्लावित कर देने की क्षमता प्रदान करता है। पाठक उसे पढ़ कर केवल ज्ञानार्जन ही नहीं करता, वरन वर्णित देश और काल में सदेह पहुँच कर सत्य के प्रत्यक्ष दर्शन भी करता है।'[1]

आचार्य चतुरसेन शास्त्री इतिहास रस का संचार करने के लिए जान बूझ कर भी ऐतिहासिक तथ्यों की उपेक्षा करना, उचित समझते हैं। किन्तु उन्होंने इसकी क्षति पूर्ति, स्थान-स्थान पर, अर्धमूर्च्छा में साक्षात् की गई, मानस काल्पनिक सृष्टि (फन्टेसी) द्वारा, की है जो लोकचिन्तन के अनुकूल पड़ती है। वे ऐतिहासिक सत्यों को स्थिर भी नहीं समझते। उन्हीं के अपने शब्दों में—

'यह कहा जा सकता है कि उसे (उपन्यास लेखक को), ऐतिहासिक उपन्यास और उसका कथानक लिखने से पूर्व ऐतिहासिक विशेष तत्वों को जानना चाहिए। परन्तु यदि वह ऐसा करे, तो वह कदापि कोई रचना, इस जीवन में नहीं कर सकता क्योंकि ऐतिहासिक विशेष सत्यों का ज्ञान, कभी भी पूरा नहीं हो सकता। उनमें गवेषणा करने वाले विद्वानों के द्वारा, नई-नई जानकारी होते रहने से, निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। फिर क्या न उपन्यासकार अपनी कहानी और उपन्यास को—चिर सत्य के आधार पर—जिसमें गवेषणा की कोई गुंजाइश ही नहीं है—रचा करे? ऐसी रचनाएँ जो साहित्य-संश्लिष्ट हैं, और जिनका प्रारम्भ एक 'अनिर्दिष्ट रस' है, अपने स्थान पर पूजित होवें। साहित्य के आचार्यों ने भी मूल रसों का साहित्य-सृजन में महत्त्व दिया है, परन्तु उनके सिवा कुछ और 'अनिर्दिष्ट रस' भी हैं, जिनमें एक 'इतिहास रस' भी है।'[2] (इसी प्रसंग में एक अन्य स्थान पर वे लिखते हैं—)

'इतिहासकार तो इतिहास में संशोधन कर देंगे, पर उपन्यासकार कैसे संशोधन करेंगे? मैंने देखा—इतिहास के स्थिर सत्य के बराबर तो दूसरा असत्य,

१ 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' (५ जून १९५८ ई०) में प्रकाशित—'उपन्यास और ऐतिहासिक सत्य (लेख) तथा वैशाली की नगर वधू', खण्ड २, भूमिका, पृ० ७४४

२ 'वैशाली की नगर वधू' भूमिका पृष्ठ ७७८, ७७९

कोई पृथ्वी पर, है ही नहीं। इतिहास मे तो सदव ही एक सत्य को ढकेल कर, दूसरा सत्य उसका स्थान लेता जायगा। पर साहित्य म एसा नहीं हो सकता। मैंने स्थिर सत्य और चिर सत्य के आधार पर ऐतिहासिक साहित्य को इतिहास से पृथक कर दिया।[1]

इसी कारण आचाय चतुरसन ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों के लिए ऐतिहासिक शब्द का प्रयोग न करके इतिहास रस का उपन्यास का ही प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना करते समय, युग विशेष के बाह्य और आतरिक मतव्यों, विचारधाराओं इतिहास की विकासमान शक्तियों आदि इतिहास के तथ्यों की कभी चिन्ता नहीं की है। उन्होंने इस बारे में स्वय स्पष्टतया लिखा है—

ऐतिहासिक उपन्यासों म तथ्यों को, पीछे फेंक देता हूं। स्थिर सत्य के आधार पर, कल्पना मूर्तियों, आगे ले आता हू। मेरी वे कल्पना मूर्तियाँ बनती हैं दूल्हा—और ऐतिहासिक तथ्य बन जाते हैं बराती। कहानी म मानव चरित्र को नहीं चरित्र के प्रेरक भावों को, अधिक विकसित करता हूँ। परन्तु विशद् व्याख्यातीत विषयों पर मैं खूब अध्ययन और प्रमाणों की धूमधाम से, आगे बढ़ता हूं।'[2]

उपयुक्त विवरणों से यह तथ्य सुस्पष्ट एव प्रगट है कि इतिवृत्तात्मक उपन्यास गत वर्णनात्मक सरणी विशेष को अपनाने के बारे में साहित्य जगत म, एक ही देश और काल म रहने वाले दो साहित्यकारों म भी कितना अधिक मतान्तर पाया जाना है? आचाय चतुरसन जिसे बिलकुल जरूरी नहीं मानते थे, उसी देशकालगत यथातथ्यता के वर्णन को श्री राहुल साकृत्यायन, प्रथम महत्त्व का मानते थे। यह सहज ही है कि इन दोनों प्रतिभाशाली लखनियों की सृजनात्मक उपलब्धियों के बीच भी पर्याप्त अन्तर पाया जाता है और वर्णनात्मक क्षत्र म भी इसकी प्रतिक्रिया दृष्टिगोचर होती है। फिर भी क्या राहुलजी, और क्या चतुरसनजी दोनों की लोक प्रियता अथवा औपन्यासिक वर्णन-क्षमता देश और काल स नियत्रित न होकर उनकी निजी वर्णनात्मक प्रतिभा विशेष पर ही निर्भर करता है।

तथापि हमारे युग के सबसे अधिक वर्णन प्रतिभा से सम्पन्न उपन्यास स्रष्टा स्वर्गीय श्री वृन्दावनलाल वर्मा का वर्णनात्मक दृष्टिकोण समन्वयवादी तो है ही किन्तु यदि उसमे भी किसी दार्शनिक विशिष्टता की खोज की जाए तो वे जीवन के आनन्दपरक सतत प्रवाहित रहने म विश्वास रखने वाले एक परम आशावादी

---

१ 'सुप्रभात' पृष्ठ १२६

२ 'आचाय चतुरसेन का कथा साहित्य' (डा० शुभकार कपूर एम० ए० पी एच० डी० (प्र० विवेक प्रकाशन, किशोर बुक डिपो, अमीनाबाद लखनऊ, प्रथम प्रकाशन १९६५ ई०) पृष्ठ ११३

(मर्यादावादी)—कलाकार रहे हैं। वे वर्णनकला के निष्ठावान पुजारी थे। फिर भी वे इतिहास के तथ्य निर्धारण करने में, पर्याप्त कष्ट-सहन करने वाले साहित्यकार भी माने जायेंगे। इसीलिए उन्होंने अपने पाठकों के सच्चे मनोरंजन एवं उनको अनुप्राणित करने वाली शिवङ्कर साहित्य प्रेरणा को ही सदैव प्राथमिक महत्त्व दिया है। इसीलिए उनके ऐतिहासिक उपन्यासों में आए हुए वर्णनात्मक प्रसंग—क्या निसर्ग-वर्णन अथवा क्या इतिवृत्तपरक वर्णन दोनों ही एक अनुपम मोहक, रमणीय एवं उन्मुक्त हास उल्लास से युक्त हो गए हैं और इस भाँति वे सम्पूर्ण अर्थों में 'अद्वितीय' हो उठे हैं।

काव्यशास्त्र के प्रणेताओं एवं उन साहित्यकारों के बीच, जो स्वयं आलोचनात्मक अन्तर्दृष्टि रखते हुए भी सृजनात्मक साहित्य के प्रणयन में भी प्रवृत्त रहे हैं—साहित्य के इतिहास में कितनी ही बार तीव्र मतभेद पाए गए हैं। सृजनात्मक कलाकार, जब कलाकृति के सम्बन्ध में अपनी सम्मति देते हैं तो वे शास्त्रीय संविधान की धाराओं के अनुसार व्यक्त नहीं करते। इस पर स्वभावतः शास्त्रकार उनका, विरोध करते हैं किन्तु फिर भी कलाकार (या कविगण), उनकी परवाह नहीं किया करते। अन्त में शास्त्रकारों को आक्रोश के साथ यही कहना पड़ता है कि—'निरंकुशाः कवयः'—अर्थात् कवि लोग अंकुश अथवा शास्त्रीय संविधान की धाराओं की परवाह नहीं करते। समयान्तर में उपर्युक्त आक्रोश वाली बात तो लोग भूल गए और उक्त कथन को सीधा-सादी लोकोक्ति या सूक्ति के रूप में स्वीकार कर लिया गया। इस भाँति साहित्य के इतिवृत्त में जब भी किसी रचनात्मक नूतनता का विलास दिखाई देता है और जब उसका, परम्परागत निर्धारित शास्त्रीय विधान से तारतम्य नहीं बैठता तो समीक्षक लोग ऐसी परिस्थिति समुपस्थित होने पर 'निरंकुशाः कवयः' कह कर अपने बच निकलने का मार्ग निकाल लेते हैं।

जहाँ तक कि उपन्यास विधा के क्षेत्र में, समीक्षकों एवं सृजनात्मक कलाकारों के बीच मतैक्य न होने की बात का सवाल है, यूरोपियन साहित्यों के इतिवृत्त में भी इसके अनेक उदाहरण पाए जाते हैं यथा आंग्ल उपन्यास (जिसकी समीक्षात्मक सरणी को बहुधा हमारे उपन्यास समीक्षकों ने स्वीकार कर लिया है) के प्रवर्तक पर आद्य उपन्यासकार फील्डिंग (सन् १७०७ ई० —१७५४ ई०) ने पर्याप्त तीव्र शब्दों में तत्कालीन 'तथाकथित समीक्षकों' की भर्त्सना की थी। अपने सुप्रसिद्ध उपन्यास 'टाम जोन्स' की पाँचवीं जिल्द के प्रारम्भ में, फील्डिंग ने देशकाल के अनुसार नित्य परिवर्तित होने वाले कथा-साहित्य (उपन्यास विधा) के लिए, शास्त्रीय नियमों की दुहाई देने के दुःसाहस के लिए आलोचकों के न्याय्य अधिकारों को निम्न शब्दों में चुनौती दी थी—

'इस दुनियाँ का यह नियम सा बन गया है कि वह, किसी एक संविधान या अधिनियम को, बस कर पकड़े रहती है और उसी को, हमारे समस्त व्यापार-व्यवहार

पर लागू करने पर तुली रहती है। यह बात दुनिया के दिमाग में बठाना असमव सा लगता है, कि कोई एक व्यक्ति भी, इतनी धृष्टता कर सकता है, कि विज्ञान अथवा कला या किसी शाखा विशेष के सम्बन्ध में अपने निजी नियमों का निरूपण करे। वे पूर्व निर्धारित नियमों को तो यह मान कर स्वीकार करते रहते हैं, कि निश्चय ही उनके मूल में, पर्याप्त तार्किक कारण होंगे किन्तु नये विधान के बारे में, चाहे कितने ही अकाट्य कार्य-कारण-सम्बन्धों का प्रस्तुत क्यों न किया जाए वे कभी भी, उनकी प्रामाणिकता की बात न मानेंगे।[1]

सच पूछें तो आज तक इस दुनियां ने समीक्षकों एव समालोचकों को आवश्यकता से अधिक मान प्रतिष्ठा एवं प्रशसा प्रदान की है, और यह भी स्वीकार कर लिया गया है कि समीक्षकों के मस्तिष्कों में, विश्व भर की ज्ञान विज्ञान-सम्बन्धी सवज्ञता की राशि, पाई जाती है। जनसाधारण की इस समीक्षक-पूजा का परिणाम यह हुआ कि वे अपने वक्तव्य में, प्रमाद एव मनमाने-पन की ओर प्रवृत्त होते देखे गए है और अनेक बार तो वे तानाशाहों के समान सार्वभौम सत्ता का अधिकार जताते जान पड़ते हैं। इसका प्रतिफल यह हुआ है, कि आज वे सचमुच ही, अपने को साहित्य राज्य का अधीश्वर मान बैठे हैं और आज वे उन्हीं लेखकों को, कानून कायदे सिखाना चाहते हैं, जिनके पूर्वजों से ही उन्होंने वस्तुत अपना समस्त पाडित्य प्राप्त किया था।[2]

'समीक्षक का वस्तुत धर्मगुरु अथवा पण्डित से अधिक माना जाना उचित न होगा। वे पुरातन शास्त्रकारों की व्याख्या कर सकते हैं और उनके प्रतिपादित सविधान का पुन सम्पादित कर सकते हैं। किन्तु वे उन महान दिव्य प्रतिभा-सम्पन्न कवियों का स्थान कदापि ग्रहण नहीं कर सकते जिन्होंने ज्ञान के स्वत प्रकाश में, सत्य के दर्शन किये थे। *चिरकाल से समीक्षक गुरु व्याख्या-टीका का कार्य करते चले* आए थे किन्तु समयान्तर में ज्यों ज्यों अज्ञानियों की सख्या में वृद्धि होती गयी त्यों त्यों सामयिक पण्डितों या धर्मगुरुओं ने स्वय ही कवियों एव स्मृतिकारों का आसन ग्रहण करने की ठानी और वे स्वय ही ज्ञान विज्ञान के जगत के भाग्य विधाता बनने का दावा करने लगे। बहुत कुछ ऐसी ही बात आज समीक्षकों एव लेखकों के बारे में देखी जाती है। यही हमारे साहित्य जगत में फैली हुई भ्रान्तियों का, मूल कारण है।[3]

ये समीक्षक गण बहुधा छिछले ज्ञान वाले होते हैं अत यह सहज बात है कि वे, मात्र बाह्य परिवेश को सार समझ बैठते हैं। उन छोटी छोटी बातों को जो किसी महान लेखक की कृतियों में मात्र सयोगवश आ गयी हैं ये समीक्षक उनकी सर्वश्रेष्ठ विशिष्टता बताने लगते हैं। यही नहीं वे इस बात पर भी आग्रह करते हैं,

---

१ २ ३ 'दि हिस्ट्री आफ टाम जोन्स—ए फाउन्डलिंग' (हेनरी फील्डिंग) जिल्द ५, अध्याय १, पृष्ठ १४५ (प्रस्तुत सस्करण जे० एम० डेंट लदन १९११)।

कि आने वाले सभी भावी लेखक भी, उन्हीं नगण्य बालकों को महान मान कर उनका अनुकरण करें। इन अनधिकार चेष्टाओं को, समय और अज्ञान ने (जो अनधिकार-चेष्टाकर्ताओं के सदैव ही परम समर्थक रहे हैं)—वास्तविक अधिकार प्रदान कर दिये हैं, और इस भाँति, गुलेखन के लिए, अनेक नियम उपनियमों की प्रस्थापना की गयी है—जो न तो सत्य पर आधारित हैं, और न ही जो साहित्य विधा की मूलभूत प्रकृति के ही अनुरूप हैं। इन अनधिकृत स्वयंभू साहित्य शास्त्रियों का एकमात्र उद्देश्य, यही रहता है, कि वे प्रतिभाशाली सृजनात्मक कलाकारों की गतिविधियों पर प्रतिबन्ध लगाएँ, जिस भाँति नृत्य निर्देशक, मूकाभिनय में भाग लेने वाले कलाकारों को अपनी अँगुलियों पर नचाना चाहते हैं। भला क्या हमारे उत्तमोत्तम एवं उत्कृष्ट शासन-प्रथा में यह भी लिखा है, कि आने वाले प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार ऐसे अनधिकारियों द्वारा, उनके पैरों में डाली हुई जंजीरों में नाचते रहें ?[२]

'अतएव हमने यह दृढ़ निश्चय कर लिया है, कि यह दावा न करते हुए भी कि हम आगे आने वाली पीढ़ी के लिए कोई साहित्य रचना की संहिता बनाने जा रहे हैं जो कि हर ऐरे गैरे नत्थू खैरे (इप्से डिक्सिट) की मर्जी के अनुकूल हो, जिनके लिए हमारे मन में रत्तीभर भी सम्मान का भाव नहीं है—हम इन तथाकथित शास्त्र विधाताओं की परवाह न करते हुए, अपने पाठक के समक्ष, प्रस्तुत कृति में अपनायी गयी वर्णन शैली के पक्ष में, कुछ आवश्यक तथ्य रख दें, और इस भाँति हम आज, साहित्य की एक अभिनव विधा का सूत्रपात करने जा रहे हैं, जिसे हम उपर्युक्त रूढ़ नियमों की अवहेलना करते हुए अभिव्यक्त करते ही हैं। जहाँ तक हमारी जानकारी या याददाश्त है आज तक किसी भी अन्य प्राचीन अथवा अर्वाचीन लेखक ने, इस स्वाधीन साहित्य क्षेत्र में लेखनी संचालन नहीं किया है।"

'इस विधा में आपको, अन्य साहित्यिक विधाओं की तुलना में अन्तर दिखाई देगा, फिर भी इसमें अन्तः प्रवाहित चेतना धारा मूलतः वही है, जो समग्र सृजनात्मक साहित्यिक दुनिया में सतत प्रवाहित रहती है। इस नयी विधा की निजी विशिष्टता बस यही है, कि क्रमशः, समस्त नैसर्गिक अथवा मानव निर्मित चारुता के दर्शन कर सकने में समर्थ बनाती है। किन्तु यदि हम चारुता, मनोरमता एवं परम शोभा के विषय का चित्रण या वर्णन प्रस्तुत न करें, तो फिर सौन्दर्य की विशिष्टता का हम, उसके कैसे पायेंगे ? इस भाँति ग्रीष्मकालीन (इंगलैण्ड के 'ग्रीष्म-कालीन' अथवा भारत के मधुमास-कालीन) दिन के सौन्दर्य की शोभा एवं चिरमनोरमता को चिरस्थायी स्मृति अंश बनाने के लिए यह जरूरी हो जाता है कि हम, सर्दियों (वे भी इंग्लैण्ड की ही—भारत की नहीं) की रात्रि के, भयानक अंधड़ों का भी, वर्णन करते चलें। अगर किसी ने प्रकृति पट के इन दो विभिन्न रूपों के दर्शन नहीं किये, तो भला क्या वह उसके प्रथम सौम्य स्निग्ध एवं शोभा से स्नात, अपूर्व सौन्दर्य का अवधान कर पायेगा ?'

१-२ ३ दि हिस्ट्री आफ टाम जोन्स—ए फाउण्डलिंग' (हेनरी फील्डिंग) जिल्द ५, अध्याय १, पृष्ठ १४६

अधिकांश साहित्य कला के साधक उक्त वर्णन-वैभिन्य वाले रहस्य से अवगत हैं चाहे उनमें से कुछ ऐसे भी मिल जाएँ जिन्होंने साहित्य-सृजन की इस क्रिया प्रक्रिया की ओर कोई गवेषणात्मक चिन्तन मनन न भी किया हो। जौहरी जानता है कि तेज से तेज चमकने वाले रत्न के लिए भी, किसी पृष्ठभूमि की अपेक्षा होती है और चित्रकार भी अपनी चित्रित आकृतियों के रूप को उपयुक्त पृष्ठभूमि की सहायता से उभारना नहीं भूलता।[१]

'इन में से जो भी महान प्रतिभा द्वारा वरण किया जायगा, वह इस तथ्य का, भली भाँति विश्लेषण एवं विवेचन करने में समर्थ होगा। ऐसे जन्मजात प्रतिभा सम्पन्न मुक्ती को मैं किसी कोटि या जाति में रखने की नादानी नहीं करूँगा। वस्तुतः वह सभी कलाकारों के बीच विशिष्ट एवं निराला ही है। उसे साहित्य के इतिवृत्तकार ऐसे कला सर्जकों में परिगणित करेंगे—

'जीवन को जिनकी अनुपम प्रतिभा-आभा ने
एक अनूठा अभिनव चिर-सत्कार दिया है।'[२]

उपन्यासकार फील्डिंग आंग्ल उपन्यास के प्रथम चार उन्नायकों में ही गण्य मान्य नहीं थे वरन वे रंगमंच एवं कानून की दुनियाँ में भी बड़ा नाम पा चुके थे। बैरिस्टर एवं रंगमंच निर्देशक के रूप में उनकी ख्याति अपने समय में अपरिमित थी और उनका अध्ययन अत्यन्त व्यापक एवं जीवन के साक्षात अनुभव द्वारा परिपक्व भी था। उन जैसे प्रतिभाशाली एवं विद्वान साहित्यकार को भी, उपन्यास रचना के क्षेत्र में परंपरागत उपन्यास-संहिता से जो घुटन महसूस हुई, उक्त उद्धरण, उसको पर्याप्त अंशों में अभिव्यंजित कर देता है। हर प्रतिभाशाली उपन्यासकार, रूढ़ आलोचना पर परखे जाने पर तिलमिला उठता है पर फील्डिंग जैसी नैतिक साहस एवं प्रतिरोध व्यक्त करने की सामर्थ्य किसी किसी साहित्य-साधक में ही पाई जाती है। हम भारतीय अपने जातीय गुण के अनुसार साहित्य सृजन में प्रवृत्त होने से पहले ही विनम्रता को अपना धर्म मान कर चलते हैं किन्तु क्या समाज और क्या उसके प्रतिबिम्ब—साहित्य—दोनों में ही पुराने शास्त्रकारों की दी गई व्यवस्थाओं एवं मान्यताओं को कम से कम हर युग (अथवा बारह वर्ष पश्चात्) दोहराने की भारी अपेक्षा रहती है। उक्त न्याय के अनुसार भी इस सुदीर्घ अन्तराल ([illegible] ई० से १९७० ई०) में हमारे उपन्यास-संबंधी संविधान का कम से कम तीन बार पुनरावृत्ति एवं अभिनव पुनरचना तो हो ही जानी चाहिए थी। लेकिन कला नक्कारखाने में तूती की आवाज को कौन सुनता है?

---

१ २ दि हिस्ट्री आफ टाम जोन्स—ए फाउंडलिंग' (हेनरी फील्डिंग) जि० ५,

हेनरी फील्डिंग ही, ऐसे एक मात्र आंग्ल उपन्यासकार न थे, जिनकी उपन्यास रचना तथा तद्गत वर्णनात्मक वस्तु के बारे में, अपनी निजी स्वतन्त्र धारणाएँ थीं। उनके अनेक समकालीन एवं परवर्ती उपन्यासकारों में भी उपर्युक्त प्रश्नों पर निरन्तर स्वाधीन चिंतन चलता रहा। ऐसी ही प्रतिभाशालिनी उपन्यासकर्त्री थीं, श्रीमती क्लरा रीव (१७२९ ई०–१८०७ ई०)। वे एक प्रकार से श्री फील्डिंग की समकालीन लेखिका ही मानी जाती हैं। वे उपन्यास सृजन में जीवन के वास्तविक चित्रण एवं उसके यथातथ्य वर्णन को सर्वाधिक महत्व प्रदान करती हुई अपने ग्रंथ 'प्रोग्रेस ऑफ रोमांस' में इस भाँति लिखती हैं—

'उपन्यास वास्तविक जीवन एवं व्यवहारों का एक वास्तविक चित्र है और उसमें उस काल का प्रतिबिम्ब भी पाया जाता है जिसमें कि वह लिखा जाता है। इसके विपरीत रोमांस अथवा मात्र-कल्पना की रोमानी कृतियाँ, एक ऐसे जीवन का वर्णन करती हैं जो कभी नहीं रहा और न कभी रहेगा ही। वे शानदार और ऊँची भाषा का प्रयोग करती हैं। इसके विपरीत, उपन्यास, ऐसी बातों के साथ, हमारे चिर-परिचित संदर्भ का ध्यान भी रखता है जो हमारी आँखों के सामने हर दिन गुजरती रहती हैं और जो हमारे मित्र के जीवन में अथवा हमारे अपने जीवन में ही कभी भी घट सकती हैं। वस्तुतः उपन्यास की संपूर्णता, इस बात में है, कि वह हर दृश्य का, ऐसे सहज और सरल रूप में वर्णन करे, कि वह हमें ऐसा सम्भाव्य जान पड़े कि हम यह मानने को तैयार हो जायें कि वह समग्र वर्णन सच्चा ही है। इसीलिए हम, कथानकगत पात्रों के हर्ष और विषाद से, इस भाँति अभिभूत हो जाते हैं, मानो वे हमारे अपने निजी सुख-दुःख ही होवें।'[1]

श्रीमती क्लरा रीव, जन साधारण के जीवन के वर्णनों से युक्त उपन्यास रचना पर इसलिए बल दे रही थीं क्योंकि उस समय में, बहुधा उपन्यासकार, केवल रोमानी कल्पना से युक्त अतीतकालीन उपन्यासों की ओर प्रवृत्त हो रहे थे। यदि उपन्यास में वर्णनों की मुख्य वस्तु साधारण लोकजीवन बना दिया जाय, तो उससे उपन्यास विधा के बाह्य एवं अन्तःपरिवेश में भारी क्रांति उपस्थित हो जायगी। क्या भाषा, क्या वर्ण्य-वस्तु एवं क्या चरित्र चित्रण, सभी क्षेत्रों में एक अछूती ताजगी और नूतन आभा आ जायगी जिससे कि उपन्यास विधा की प्रभावशालिता, कई गुनी बढ़ जायगी। सरल और सहज वर्णन युक्त उपन्यास रचना, बड़ा दुष्कर कार्य है किन्तु अपनी चिरस्थायी एवं व्यापक लोकप्रियता का उपन्यासकार उसी के द्वारा अधिकारी बन पाएगा। वस्तुतः सरल एवं सहज वर्णन अपने निजी प्रभाव में, आलंकारिक शैली एवं क्लिष्ट भाषा प्रयोग की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावोत्पादक एवं कलापूर्ण भी होते हैं।

---

१ 'प्रोग्रेस आफ रोमांस (क्लरा रीव) प्रथम प्रकाशन, १७८५ ई०, पृष्ठ १०२-१०३

किया है और इस भांति उन्होने जड प्रकृति के अनन्त पक्षो एव छवियो को मूर्तिमन्त व्यक्तित्व भी प्रदान किया है। उन्होने आग्ल उपन्यास म, अपनी निजी विशिष्ट आचलिक आभा से ओतप्रोत, एव गहन दार्शनिक रहस्यानुभूति से मनोमुग्धकर, एक अनूठी वर्णन कला का अवतरण किया है। उन्होने अपनी सूक्ष्म एव कलात्मक सृजनात्मक प्रतिभा द्वारा प्रकृति के विभिन्न भाव परिवर्तनो (मूडस) के साथ मानव सुख दुःख हर्ष विषाद का ऐसा विलक्षण रागात्मक सामजस्य बिठाया है कि उनके उपन्यास काव्यशास्त्रविनोदी साहित्यानुरागियो के लिए, लाक्षणिक काव्यो जसी एक अविस्मरणीय रसात्मक रससृष्टि का, उद्घाटन करते से जान पडते है। हार्डी की इस विशिष्ट वर्णनात्मक शैली की सर्वोत्कृष्ट विभूति, उनकी वेसेक्स 'उपन्यास-माला है, जिसकी जगमगाती मणियाँ है— दि ग्रीनवुड ट्री (१८७२ ई०), फार फ्राम दि मडिंग क्राउड' (१८७४ ई०) दि रिटन आफ दि नेटिव (१८७८ ई०), 'दि मेयर ऑफ कैस्टरब्रिज (१८८६ ई०) दि वुडलन्डस (१८८७ ई०), 'टेस आफ दि डबरविले' (१८९१ ई०), जूड दि आब्सक्योर' (१८९६ ई०) आदि।

हार्डी के इस वेसेक्स प्रदेश मे इग्लड की हेम्पशायर, विल्टशायर सामरसेट शायर डार्सेटशायर डेवनशायर तथा कार्नवाल की आधुनिक काउन्टिय (जिले) सम्मिलित है। वस्तुत —यह सभी मिलाकर चरागाहो, भेडो के समूहो, शस्यश्यामल खेतो, किसानो, लकडहारो, वनो घाटियो एव उपत्यकाओ की एक ऐसी भौगोलिक इकाई बनाती हैं जिसके मुख्य व्यवसाय, कृषि, गोपालन एव मेष-पालन रहे हैं— इतिवृत्त-ख्यात वेसेक्स राज्य के सुप्राचीन अतीतकाल से प्रेरणा लेते हुए हार्डी ने, फार फ्राम दि मडिंग क्राउड' मे, खेतो की हरित छटा को, टेस' मे, उपजाऊ चरागाहो वाली साधारण भूमि को 'रिटन आफ दि नेटिव मे, बजड वन प्रान्तर वाले एगडेन हीथ को, 'वुडलण्डस' म, गहन वनो एव फलोद्यानो को, ए पयर आफ ब्लू आइज' मे कठोर चट्टानो वाले, सागरतट की पृष्ठभूमि को अपने एक से एक अनूठे वर्णनो द्वारा, सत्सवदा के लिए साहित्य म अजर अमर बना दिया है।

हार्डी के सभी उपन्यासो म, प्रकृति के अछूत वनान्तरो तथा उसके समीपवर्ती ग्रामीण अचलो का चित्रण करने वाले, कृषि, गोपालन एव पशुपालन आदि निसग सान्निध्य वाले व्यवसायो तथा उनम निरत छल छद्म से परे, सरल नर-नारियो के चित्रण करने वाले असख्य एव विविध वर्णनो द्वारा अपनी काव्यमयी शैली म मानव लोकगाथाएँ सुनायी गयी हैं। हार्डी की वर्णनात्मक विशिष्टता के एक उत्कृष्ट उदाहरण के रूप मे एगडेन हीथ' का निम्न शब्द चित्रण प्रस्तुत किया जा रहा है। यह उनकी महान कृति 'दि रिटर्न आफ दि नेटिव का आरम्भिक अश है। अपने इस उपन्यास के प्रथम अध्याय का नामकरण करते हुए, ही हार्डी ने, 'एगडेन हीथ का (एक पक्ति के शीर्षक के माध्यम द्वारा) या परिचय दे दिया है— ए फेस ऑन विच, टाइम मेक्स, बट लिटिल इम्प्रेशन'—(अर्थात वनखण्डी का एसा मुखमण्डल, जिस पर

वर्णना की प्रदर्शनी से जान पड़ते हैं। हार्डी ने अपनी इसी उपन्यासगत वर्णनात्मक प्रवृत्ति को एक स्थल पर निम्न शब्दों में विवेचित किया था—

मैं उन दिनों में अपने उपन्यास 'फार फ्राम दि मडिंग क्राउड' (बौरा देने वाली भीड़भाड़ से, दूर-परे') को एक लोकप्रिय पत्रिका में धारावाहिक रूप में प्रकाशित करवा रहा था कि मुझे अचानक, अपनी 'वेसेक्स'-अंचल सम्बन्धी उपन्यास माला की बात सूझ पड़ी। पहले तो मैंने सोचा कि एक जिले के प्राकृतिक परिवेश को चित्रित करके, मैं उपन्यास रचना में प्रवृत्त होऊँ। वेसेक्स' का जिला, कभी एक अतीतकालीन राज्य का स्मारक रहा है। किन्तु मैंने जल्दी ही इस बात को समझ लिया कि एक सीमा विशेष में बाँध दिए जाने पर उपन्यास, वास्तविक जीवन का प्रतिबिम्ब, नहीं हो पायगा। मुझे अपने वर्णन के विस्तार के लिए कहीं अधिक व्यापक पृष्ठभूमि (दृश्यपट कैनवस) की अपेक्षा थी।

लेखन-सम्बन्धी एवं वर्णन-सम्बन्धी मेरी अनेक अन्य कठिनाइयाँ भी थीं। मैं चाहता था कि मैं इंगलैंड के एक ऐसे प्रदेश का ठीक ठीक चित्रण करूँ जो अतीत में भी कभी जीता जागता था किन्तु जहाँ, अथाह एवं निस्तब्ध वनान्तर शान्ति को भंग करते, आज रेल की लाइनें, तार-तार की प्रणालियें फसल काटने की मशीनें सामुदायिक कारखानों का जमघट तथा लिख और पढ़ सकने वाले साक्षर मजदूरों अथवा राष्ट्रीय पाठशालाओं में पढ़ने वाले बालकों के कारण एक नई चहल पहल और विविध रंगीनी उभर आई है। "[१]

इस भाँति मैंने अपने उपन्यासों में जिन भितिजों दृश्यपटियों एवं नैसर्गिक वन प्रान्तर वर्णनों की चित्रपटियाँ अंकित की हैं वे आज एक ऐसे प्रदेश की विशिष्टताएँ बन चुकी हैं जो आंशिक रूप में वास्तविक हैं और आंशिक रूप में स्वप्निल। इस भाँति मैंने एक सपनों की अतीत या बीती हुई दुनिया को वास्तविक जगत में निमज्जित ही नहीं किया वरन् अपने वर्णनों में स्वप्निलता का समावेश करके मैंने वास्तविक जगत को भी एक प्रकार की औपन्यासिकता प्रदान करने का प्रयास किया है। आज चाहे तो पत्रों के प्रतिनिधि एवं संवाददाता इस वेसेक्स प्रदेश में आ जा भी सकते हैं—यही नहीं चाहें तो वे यहाँ एक मकान किराए पर लेकर रह भी सकते हैं और इस प्रदेश के बारे में वे अपने अपने पत्रों में लेख मालाएँ भी लिख कर भेज सकते हैं।

आधुनिक अंग्रेजी उपन्यास साहित्य में इस भाँति श्री थामस हार्डी एक अभिनव, रहस्यात्मक एवं अनुपम वर्णन प्रधान उपन्यास रचनाशैली के प्रवर्तक हुए हैं। उन्होंने प्रकृति गत वास्तव्य एवं स्वप्नत्व दोनों ही तत्वों का विलक्षण सामंजस्य

---

१ ३ थामस हार्डी—'फार फ्राम दि मडिंग क्राउड' (बौराने वाली भीड़ से दूर-परे) (रचनाकाल १८७४ ई०, प्रस्तावना भाग।)

किया है और इस भाँति उन्होंने जड़ प्रकृति के अनन्त पक्षों एवं छवियों को मूर्तिमन्त व्यक्तित्व भी प्रदान किया है। उन्होंने अपने उपन्यास में, अपनी निजी विशिष्ट आंचलिक आभा से ओतप्रोत, एवं गहन दार्शनिक रहस्यानुभूति से मनोमुग्धकर, एवं अनूठी वर्णन कला का अवतरण किया है। उन्होंने अपनी सूक्ष्म एवं रचनात्मक सृजनात्मक प्रतिभा द्वारा, प्रकृति के विभिन्न भाव-परिवर्तनों (मूड्स) के साथ, मानव सुख दुःख, हर्ष विषाद का ऐसा विलक्षण रागात्मक सामंजस्य बिठाया है कि उनके उपन्यास, काव्यशास्त्रविनोदी साहित्यानुरागियों के लिए लोकमहाकाव्यों जैसी, एवं अविस्मरणीय रसात्मक रससृष्टि का, उद्‌घाटन करते से जान पड़ते है। हार्डी की इस विशिष्ट वर्णनात्मक शैली की सर्वोत्कृष्ट विभूति, उनकी वेसेक्स उपन्यास माला' है, जिसकी जगमगाती मणियाँ हैं—'दि ग्रीनवुड ट्री (१८७२ ई०), 'फार फ्रॉम दि मैडिंग क्राउड (१८७४ ई०), दि रिटर्न ऑफ दि नेटिव (१८७८ ई०), दि मेयर ऑफ केस्टरब्रिज (१८८६ ई०), 'दि वुडलैंडर्स (१८८७ ई०), टेस ऑफ दि डरबर्विले (१८९१ ई०), जूड दि ऑब्सक्योर' (१८९६ ई०) आदि।

हार्डी के इस वेसेक्स प्रदेश में इंग्लैंड की हेम्पशायर, विल्टशायर, सामरसेट शायर डार्सेटशायर, डेवनशायर तथा कार्नवाल की आधुनिक काउंटिय (जिले) सम्मिलित हैं। वस्तुतः—यह सभी मिला कर चरागाहों भेड़ों के समूहों शस्यश्यामल खेतों, किसानों लकड़हारों वनों घाटियों एवं उपत्यकाओं की, एक ऐसी भौगोलिक इकाई बनाती हैं, जिसके मुख्य व्यवसाय कृषि गोपालन एवं भेड़-पालन रहे हैं—इतिवृत्त-ख्यात वेसेक्स राज्य के सुप्राचीन अतीतकाल से प्रेरणा लेते हुए, हार्डी ने, फार फ्राम दि मैडिंग क्राउड' में, खेतों की हरित छटा को 'टेस' में, उपजाऊ चरागाहों वाली गोचारण भूमि का 'रिटर्न आफ दि नेटिव' में बंजड़ वन प्रान्तर वाले एगडेन हीथ का वुडलैण्डस में, गहन वनों एवं उपवनों का, 'ए पेयर ऑफ ब्लू आइज' में कठोर चट्टानों वाले सागरतट की पृष्ठभूमि को अपने एक से एक अनूठे वर्णनों द्वारा सदासर्वदा के लिए साहित्य में अजर अमर बना दिया है।

हार्डी के सभी उपन्यासों में, प्रकृति के अछूते वनान्तरों तथा उसके समीपवर्ती ग्रामीण अंचलों का चित्रण करने वाले, कृषि, गोपालन एवं पशुपालन आदि निसर्ग सान्निध्य वाले व्यवसायों तथा उनमें निरत छल छद्म से परे, सरल नर-नारियों के चित्रण करने वाले असंख्य एवं विविध वर्णनों द्वारा, अपनी काव्यमयी शैली में महान लोकगाथाएँ सुनायी गयी है। हार्डी की वर्णनात्मक विशिष्टता के एक उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में, 'एगडेन हीथ' का निम्न शब्द चित्रण प्रस्तुत किया जा रहा है। यह उनकी महान कृति दि रिटर्न आफ दि नेटिव का आरम्भिक अंश है। अपने इस उपन्यास के प्रथम अध्याय का नामकरण करते हुए ही हार्डी ने, 'एगडेन हीथ का (एक पंक्ति के शीर्षक के माध्यम द्वारा) यों परिचय दे दिया है—'ए फेस ऑन विच, टाइम मेक्स, बट लिटिल इम्प्रेशन—(अर्थात वनप्रान्त का ऐसा मुखमण्डल, जिस पर

'समय अपनी छाप छोड जाने मे, समर्थ नही है)। 'एग्डेन हीथ' नामक वनखण्डी के उपयुक्त मुखमण्डल का सविस्तरण रेखाचित्र या चित्रित है—

नवम्बर मास के, एक शनिवार का, तीसरा पहर सन्ध्याकालीन झुटपुटे की ओर, बढता हुआ सा जान पडता था। और बबूलों और घेरो से युक्त विशाल भूखण्ड जिसे 'एग्डेन हीथ' कहते थे, धीरे धीरे और क्रम क्रम से क्षण-क्षण मे मले परिधान मे आवृत्त होता जा रहा था। ऊपर आकाश मे एक शुभ्र मेघ खण्ड, समस्त नभ मण्डल को आवृत्त करता जाता था मानो वह कोई शामियाना हो और झारखण्ड मानो, उसके नीचे बिछा हुआ फर्श हो।[1]

'इस भाँति आकाश पीतवर्णा चादर से ढका हुआ था और धरती, गहरी श्यामता लिए हुए, वनस्पति से। वे दोनो जिस जगह मिलते थे वहाँ उनकी मिलन रेखा स्पष्ट रूप में दृश्यमान हो रही थी। इन दोनो के बीच इतने तीव्र वैषम्य के कारण, वह वनखण्डी मानो एक रात्रि का खण्ड रूप धारण किए चली आ रही थी जो अपनी निजी ज्योतिष गणित द्वारा, निर्धारित घडी से पहले ही अपने स्थान पर आ जमी थी। अंधकार इधर, बहुत अंशो मे आ पहुँचा था जब कि दिन, सुदूर ऊँचे आकाश मे, जा छिपा सा जान पडता था। लकड़हारा ऐसे मे चाहता था कि अपने काम को जारी रखे किन्तु जब वह अपने नीचे की ओर अंधेरे होते हुए वन पर दृष्टि डालता तो वह तय करता कि काम बन्द कर दू और घर लौट चलूं। धरती और आकाश के सुदूर दिखाई पडने वाले घेरे न केवल समय के परिमाण जान पडते थे बल्कि स्थूल तत्व के परिमाण भी। झारखण्डी के मुखमण्डल पर झलकने मात्र वर्ण मात्र से ही, मानो सन्ध्या मे आध घन्टे की और वृद्धि हो जाती थी। इसी भाँति वनखण्डी का धूसर मुख मण्डल विहान को विलम्बित करने मे, मध्याह्न को विषण्ण करने मे तथा जो तूफान अभी बीज रूप मे है उसके आगमन की भृकुटि भंग की आशंका को व्यक्त करने मे तथा चन्द्रविहीन अर्धरात्रि की शरत्प्रसन्न निर्मलता को घनीभूत बनाने मे तथा भय से अद्भुत कम्पन का जन्म देने मे समर्थ था।[2]

सच पूछिये तो रात्रि के समय अन्धकार मे लुढक जाने के इस सन्धिस्थल पर ही एग्डेन' झारखण्डी की महान और विशिष्ट गरिमा का आविर्भाव होता है। जो ऐसी घडी मे उस स्थल पर कभी स्वयं नही जा पहुँचा वह उस झारखण्डी के गूढ़तम रहस्य से कदापि परिचित नही हो सकता। उसकी अनुभूति सबसे अधिक तभी हो पाती है जब कि वह व्यक्त रूप मे दृश्यमान नही होती। उसका सम्पूर्ण प्रभाव और अन्तर की परिभाषा इस घन्टे मे तथा आने वाले विहान से पहले के घण्टा मे निहित रहते है और तभी वह अपनी सच्ची कथा को सुनाता है। यह स्थल रात्रि का निकट-सम्बन्धी जान पडता है अंधकार के गम्भीर टीले और खण्ड मानो

१ २ दि रिटर्न आफ दि नेटिव' (टामस हार्डी) जिल्द १, अध्याय १ पृष्ठ १ २

सध्या के अवसान से मिलने के लिये उठ रह हैं—एक नितान्त सवेदना द्वारा प्रेरित होकर ।"

' ऐसा जान पडता है कि उस समय यह सारा झारखण्ड सजग प्रहरी के समान चौकन्ना हो उठता है। क्योकि जब सभी जीव जन्तु निद्रा म मूर्च्छित होने लगते हैं तो यह झारखण्डी जाग उठती है और कान लगा कर मानो कुछ सुनने लगती है। जान पडता है कि हर रात्रि को उसका दम्याकार, किसी की प्रतीक्षा मे पडा रहता है और इसी भाँति वह निश्चल भाव स कितनी ही सदिया से खडा हाकर बाट जोहता रहता है, जब कि आसपास की दुनिया म, अनेक पट परिवर्तन हो चुके है।'

फिलिस बेन्टले ने (जो स्वय भी एक सुनात आचलिक उपन्यास लेखिका भी हैं) थॉमस हार्डी की वर्णन कला के सबध म अपने अँग्रेजी आचलिक उपन्यास' मे एक चिरस्मरणीय निबन्ध लिखा है। उसी का केवल एक स्मरणीय अश हार्डी की वर्णनात्मक कला-सबधी अनूठी विशिष्टता का परिचय कराने की दृष्टि से यहा उद्धृत किया जा रहा है—

'निरीक्षण रत अन्तर्दृष्टि की सुतीक्ष्ण भेद जाने वाली यथातथ्यता, स्थानीय विवरणो की अक्षरश विस्मयकारी सवनता, तथा आधी पानी और मौसम के पट परिवर्तन की, बदलती हुई चित्र विचित्रता य सभी हार्डी के उपन्यास साहित्य मे आए हुए प्रत्येक वर्णन की उत्कृष्टता के अविस्मरणीय प्रमाण हैं। वेसेक्स प्रदेश पर होकर बहने वाले हर हवा के झोके से हार्डी की गहरी जान पहचान है। वहा के वनो म पाए जाने वाले, हर पड की वे (अँधेरे म भी) जाति बता सकने के अभ्यासी हैं। हवा म पडो की पत्तिया की सरसराहट सुन कर भी व, उनके नाम और गुण, सभी बता सकते हैं। वहा क मन्को भेडो और छप्परा म जाला बुनने वाली मकडियो तक को भी, वे भलीभाति पहचानते हैं। वहा के जगलो मे सदा ही कुल्हाडो के चलाए जान के शब्दो तक को उन्होने ध्यान स सुना है और पहचाना है। इन छोटी से छोटी और सूक्ष्म से सूक्ष्म सभी वण्यवस्तुओ को वे अपने सब लब, वास्तविक चित्रण भरे वर्णना के रूप मे अकित करने मे और घास की पत्तियो मे सरसराने वाले हवा के झोको की चीखन चिल्लाने जसी आवाज को सुनन म वे समथ है।'

आचलिक उपन्यास का अग्रेजी उपन्यास साहित्य म, एक निजी जनपद गत विशिष्टता प्रदान करने का श्रय इस भाति थी थॉमस हार्डी की उक्त आचलिक प्रादेशिक अथवा स्थानीय छवि वर्णन शली का ही दिया जा सकता है। तत्पश्चात

१ २ 'दि रिटन आफ दि नेटिव' (थामस हार्डी) जिल्द १, अध्याय १, पृ० १ २ (प्रथम प्रकाशन १८७८ ई०) प्रस्तुत १६वाँ सस्करण नवम्बर १९४८ ई० (यूपाक)।

३ दि इंग्लिश रीजनल नावेल' (फिलिस बेन्टले) (थामस हार्डी सबधी प्रकरण, पृष्ठ १४) (प्र० प्र० १९४१ जाज एलेन एण्ड अनविन लि लन्दन)।

उपन्यास विधागत वर्णनात्मकता के एक पर्याप्त महत्वपूर्ण पक्ष अर्थात् उपन्यास-गत वर्णनात्मक 'स्थानीय अनुरंजन (लोकल कलर) की आंग्ल उपन्यास समीक्षा साहित्य में पर्याप्त चर्चा रही है। किन्तु वस्तुतः वहां यह समीक्षात्मक संज्ञा फ्रांसीसी साहित्य समीक्षा में पूर्व प्रचलित संज्ञा 'कलर लोकेल' से ही ग्रहण की गई थी, जिसका प्रयोग, सत्रहवीं शती के अंत (१६९९ ई०) से ही फ्रांसीसी कला समीक्षात्मक-साहित्य में पाया जाता है।[1] उसका तत्कालीन अभिप्राय था किसी भी चित्रित पदार्थ की, अथवा चित्र के किसी भी अंश विशेष की उसकी सहज पृष्ठभूमि की द्योतक स्वाभाविक रंग नियोजना। उपर्युक्त चित्रकला-संबंधी तकनीकी संज्ञा का, सर्वप्रथम साहित्यिक प्रयोग, शतांब्रियान नामक एक फ्रांसीसी पर्यटन लेखक ने किया था। 'कलर लोकेल पद का प्रयोग उसने 'पेरिस से जेरूसेलम का यात्रा वृत्तांत नामक ग्रन्थ में पहले पहल साहित्यिक रूप में, सन् १८११ ई० में किया था।[2]

प्रोफेसर उलमन का विचार है कि कलर लोकेल' (स्थानीय रंग नियोजन) संज्ञा का प्रयोग फ्रांसीसी कलाक्षेत्रों में ही लगभग सन १८०२ ई० तक प्रयुक्त होता रहा। साहित्यिक समीक्षा क्षेत्र में इस संज्ञा का प्रयोग सन १८०२ ई० से सन १८३५ ई० के बीच फ्रेंच भाषा में प्रचलित हुआ और तत्पश्चात ही वह आंग्ल समीक्षा क्षेत्रों में एवं साहित्य रचना क्षेत्रों में प्रसरित हो पाया। उसका दो अभिप्रायों में प्रयोग किया जाता था— चित्र विचित्र वस्तु का आकर्षण तथा विशिष्ट तथा अनोखी वस्तुओं में अभिरुचि।'

प्रोफेसर उलमन ने अपने 'स्टाइल इन द फ्रेंच नावेल नामक महत्वपूर्ण समीक्षा ग्रंथ में कलर लोकेल अथवा लोकल कलर पद की भाषागत विशिष्टताओं की व्यंजकता के संबंध में विविध शैलियों की भी चर्चा की है। तत्पश्चात उन्होंने स्थानीय रंगनियोजना शैली में रचित अनेक ऐसी फ्रांसीसी औपन्यासिक कृतियों का भी वर्णनात्मक पर्यवेक्षण किया है जिनमें कि यह स्थानीय रंग नियोजन शैली विशिष्ट तथा विकसित एवं पल्लवित हुई है।

स्थानीय रंग नियोजना पद के प्रयोग के प्रोफेसर उलमन के मत से तीन विभेद हैं—परदेशी शब्द समूह पुरातन शब्द-समूह (जो अब व्यवहार में नहीं रहे) तथा लोक भाषा (या परिनिष्ठित साहित्यिक शिष्टाचार युक्त भाषा की कृत्रिमता से मुक्त) जनसाधारण की सहज बोली (स्लैंग) जिसमें कि विशिष्ट व्यवसायों अथवा आजीविकाओं से सम्बन्धित शब्दावली तथा महिलाओं की सीधी सरल एवं घरेलू बोली आदि सभी का समावेश हो जाता है।

कलर लोकेल शैली की दृष्टि से अतीतकालीन स्थानीय रंग का प्रतिनिधित्व

---

१ एफ ब्रूनो—'हिस्तोरी द ला लॅग्वे फ्रॅन्काए' जिल्द ६ पृ० ७३८ (१८०२ ई०)।
२ शतांब्रियान—इतिनेरारे द पारी ए जेरूसेलम' (प्र० प्र० १८११ ई०)।

करने वाले उपन्यासों में डॉ० उलमन ने, विक्टर ह्यूगो की प्रख्यात कृति 'नात्रदाम द पारी' (पेरिस का गिरजाघर) को एक सफलतम कृति माना है। तथा ग्रामीण वातावरण का चित्रण करने वाली कृतियों में, उन्होंने, जार्ज सैण्ड-कृत 'ला मार ओ डायेब्ले' को अधिक विशिष्ट माना है।[१]

इस भाँति फ्रांसीसी समीक्षकों ने भी, उपन्यास विधा की वर्णनात्मकता के कुछ पहलुओं पर पर्याप्त चिन्तन एवं मनन किया है। किन्तु उनमें भी, अद्यावधि कोई ऐसा आलोचक नहीं हुआ जिसने कि 'वर्णनात्मकता' को ही उपन्यास विधा की एक विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण मूलभूत अन्तःप्रकृति बताया हो। फिर भी, विगत तीन सौ वर्षों के सुदीर्घ अन्तराल में, यूरोपियन साहित्य क्षेत्र में उपन्यास विधा के सम्बन्ध में जो भी चिन्तन मनन एवं विवेचन हुआ है, वह सभी धीरे धीरे उपन्यास विधा की वर्णनात्मक समीक्षा की ओर ही अग्रसर रहा है। उपन्यास विधा के पुरातन मानों (कथावस्तु, चरित्र चित्रण, कथोपकथन, देशकाल, शैली एवं उद्देश्य) की सरणी को अपना कर, अभिनव उपन्यासों की समुचित समीक्षा, दिनोदिन दुष्कर होती जा रही है और नये मानों तथा नये मानीकरण की शोध, दिन प्रतिदिन, उत्तरोत्तर आवश्यक समझी जा रही है।

भारतीय उपन्यासों की वर्णनात्मक गरिमा तो सम्भवतया अखिल विश्व-साहित्य के इतिहास में भी अनुपम एवं अपरिमेय है—जिसका यथास्थान विशद निरूपण किया ही जायेगा। विश्व-उपन्यास में भी श्रेष्ठ महान् योग्य कृतियाँ वे ही हैं जिनमें वर्णनात्मकता के साथ ही साथ वर्णनात्मक कला अथवा सौंदर्य का समन्वय भी हो पाया है। विश्व के श्रेष्ठतम उपन्यासों में वर्णनात्मकता का स्थान निर्धारण करने की दृष्टि से यहाँ केवल कुछ ही विश्व उपन्यासों के उत्कृष्ट वर्णनात्मक अवतरण उदाहृत किए जा सकते हैं।

भारतीय उपन्यासों के सर्वेक्षण वाले (चतुर्थ) परिच्छेद में इस तथ्य को सविस्तार समझाया जा सकेगा कि लगभग दो सहस्र वर्षों के समयान्तर में, हमारे देश में, उपन्यास विधा की श्रेष्ठ कृतियाँ निरन्तर ही विरचित होती रही हैं। संस्कृत भाषा में रचित विश्व के महानतम उपन्यास सुबन्धुकृत 'वासवदत्ता', बाण कृत कादम्बरी, तथा दण्डी कृत दशकुमार चरित', उस समय रचे जा चुके थे, जब कि अधिकांश यूरोपियन देश अधगम्य अवस्था में जीवन बिता रहे थे। तत्पश्चात् भारतेतर अन्य समग्र एशियाई देशों में उपन्यास का सर्वप्रथम प्रवर्तन जापान में हुआ। सर्वप्रथम जापानी उपन्यास का नाम है—गेंजी की कहानी और उसकी लेखिका हैं—मुरासाकी शिकिबू नाम की एक महिला।

---

१ द्रष्टव्य—स्टाइल इन फ्रेंच नावेल (डा० स्टीफेन उलमन, पी०एच० डी०, डी० लिट०) अध्याय १, पृष्ठ ८१ (प्र० प्र० १९५७ ई०, केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस)।

'गेंजी मोनोगातारी (रचनाकाल १००८ १०२१ ई०) सम्भवतया समस्त भारतेतर एशियाई उपन्यासों में, सर्वप्रथम सुविकसित औपन्यासिक कृति मानी जाती है। उपन्यास ५४ खण्डों में लिखा गया है जिसमें से ४१ खण्डों की कहानी के नायक हैं इयान दरबार के सुसंस्कृत सामन्त हिकारु[1] गेंजी। शेष तीन खण्डों में सामन्त काओरु की जीवनी है जो हिकारु के पुत्र थे। कहा जाता है कि इस उपन्यास की रचना सम्राज्ञी जोनामानिन की सहचरी, श्रीमती मुरासाकी शिकाबू (९७५ १०३१ ई०) ने सम्राज्ञी की प्रेरणा से इशियामा के मठ में एकान्तवास करते हुए की थी जो कि जापानी राजधानी क्योतो के निकट स्थित था। मुरासाकी शब्द का अर्थ जापानी भाषा में पीतवर्णा है। उपन्यास में आये हुए एक उल्लेख में ऐसा सुझाव निहित है कि सामन्त हिकारु गेंजी ने अपनी प्रेयसी को लिखा था। मुरासाकी (दलदल में उगने वाली पीले पत्तों की वह सुकोमल बलि) मेरे हाथ में कब आयगी? जान पड़ता है कि लेखिका को यह अभिव्यंजना इतनी प्रिय लगी कि उसने स्वयं भी यही उपनाम धारण कर लिया।[2]

भारत में तत्कालीन जापानी राजदूत, महामहिम श्री सजिरो याशिजावा के मत से इस उपन्यास में— तत्कालीन जापानी सामाजिक रीति रिवाजों और संस्थाओं तथा जापान के देशकालीन वातावरण का अचूक मूल्याङ्कन जैसा लेखिका ने किया है उसे पढ़ कर, आश्चर्य होता है। लोक विश्रुत और मानव निर्मित घटनाओं का विश्लेषण करते समय लेखिका, कभी भी उनको प्रकृति की रसोचित पार्श्व भूमि देना नहीं भूला। ऋतुओं का परिवर्तन, बसन्त के सुकोमल पुष्प ग्रीष्म की छायामयी हरियाली और शिशिर की ज्वलन्त पत्रावली पर्वतों और मैदानों को ढकने वाली तेजी से गिरनेवाली बर्फ इत्यादि की सुन्दर पृष्ठभूमि पर कम से कम ४०० पात्र इस उपन्यास में अवतरित होते हैं और अपना नाटक खेलते हैं ।[3]

गेंजी मोनोगातारी उपन्यास की सबसे प्रमुख विशिष्टता है उसका वर्णनात्मक सौन्दर्य अथवा लालित्य। यों तो समग्र उपन्यास में ही उत्तम वर्णनों का बाहुल्य पाया जाता है किन्तु यहाँ केवल रात्रि वर्णन प्रात वर्णन वनप्रदेश वर्णन आदि के ही कुछ सभारमक अवतरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

' निर्मल आकाश में चन्द्रमा उस समय भी चमक रहा था। हवा के झोंकों में आसपास की झाड़ियाँ झूम रही थीं। उनके भीतर बैठा झींगुर झंकार रहा था।'[4]

---

१ हिकारु (जापानी भाषा में प्रियदर्शन)।
२ द्रष्टव्य—(मुरासाकी नामक अध्याय) गेंजी मोनोगातारी — (मुरासाकी शिकाबू)
३ सजिरो याशिजावा नई दिल्ली स्थित जापानी राजदूत। साहित्य अकादमी की ओर से प्रकाशित गेंजी की कहानी (मुरासाकी शिकाबू) की भूमिका से पृष्ठ ८७
४ गेंजी मोनोगातारी (मुरासाकी शिकाबू) (रचनाकाल १००८ १०२१ ई०) अध्याय १ लिरिसुबो पृष्ठ १२ (प्रथम हिन्दी संस्करण १९५७ ई०) साहित्य अकादमी

'एक बहुत बड़ी चट्टान काट कर, गुफा बनायी गई थी। इस बस्त धूप काफी निकल आई थी। गेंजी गुफा से बाहर, थोड़ा आगे गया और चारों तरफ का दृश्य देखने लगा। जिस ऊँचे स्थान पर वह खड़ा था वहां से नीचे, उसने, अनेक कुटी, इधर उधर बनी देखीं। एक घुमौआ रास्ता, एक झोपड़ी की ओर गया था। उस कुटी के चारों ओर की अन्य कुटिया की तरह, चाटियों का घेरा था। कुहरे से आवे दबे हुए वे दूर के दृश्य, और अधालोकित जगतों की वह अस्पष्ट पंक्ति जो चारों ओर फैली हुई है कितनी सुन्दर लगती है। उसी आदमी ने कहा 'नीचे हम लोगों के एकदम पास हरियां में, आकाशी की घाटी है। चारों ओर से अनंत जल राशि से घिरा रहने के कारण, और दूसरी सभी चीजों से अलग किये जाने के कारण, वह अतिशय विचित्र और सुनसान स्थान प्रतीत होता है। वहीं पर एक बहुत विशाल और सुन्दर महल है।'

प्रातःकालीन आकाश पर घना कुहरा छाया हुआ था—यहां तक कि पहाड़ की चिड़ियों का, चहकना भी, धीमा और अस्पष्ट सुनाई देता था। पहाड़ के आसपास पेड़ और पौधों में, इतने तरह के रंग बिरंगे फूल खिले थे, कि समूचा पहाड़, रंग बिरंगे बेल-बूटों से सजाया सा, प्रतीत होता था। सबसे अधिक आश्चर्य तो उसे, हिरन की चाल पर होता था जो कभी छलांग मारता था और कभी यकायक रुक जाता था।'[1]

ग्यारहवीं शती ईसवी में जापानी उपन्यास विधा में 'गेंजी मोनोगातारी' की अभूतपूर्व लोकप्रियता एवं ख्याति के परिणाम-स्वरूप 'मोनोगातारी' परम्परा का प्रवर्तन हुआ। जिस भांति 'कादम्बरी' शब्द दाक्षिणात्य भारत में उपन्यास विधा का संज्ञा रूप हो गया, उसी भांति, मोनोगातारी शब्द भी उपन्यास का पर्याय हो गया। 'मोनोगातारी' के शाब्दिक अर्थ तो मूलतः केवल 'कहानी', या 'मनोगाथा' ही थे। 'मोनोगातारी' परम्परा, बारहवीं शती में लुप्त प्राय हो चली थी और तत्पश्चात् जापानी भाषा में, उपन्यास विधा का पुनरुत्थान, सत्रहवीं शती ईसवी के प्रारम्भ से हो पाया, जो जापान के इतिहास में, 'इदो युग' के नाम से विश्रुत है। यह साहित्य प्राचीन संस्कृति का, नवजागरण-युग माना जाता है। किन्तु जापान में मोनोगातारी परम्परा के ह्रासमान होते-होते, चीनी भाषा में उपन्यास-साहित्य का अनुपम अभ्युदय देखा गया। उसकी केन्द्रीय तथा विश्व उपन्यास में गण्यमान्य कृति थी 'शुई हु चुआन' (शील-शराई उपन्यास)।

'शुई हु चुआन' चीनी भाषा का सबसे अधिक चिरस्मरणीय एवं महान उपन्यास है। वस्तुतः यह चीनी साहित्य में, एक साधारण उपन्यास में कहीं अधिक महत्त्व की कृति मानी जाती है। 'कथासरित्सागर' की भांति, इसके मूल लेखक

---

१ 'गेंजी मोनोगातारी' (मुरासाकी शिकाबू) अध्याय ५ 'मुरासाकी', पृ० १२१ २३

२ वही—पृष्ठ १४० (हिन्दी रूपान्तर से)।

के बारे में, चीनी भाषा में भी कितनी ही किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। चिरकाल तक यह उपन्यास विश्व की अन्य भाषाओं में रूपांतरित नहीं हो पाया। इस महान विश्व उपन्यास को, चीनी भाषाई क्षेत्र से बाहर परिचित कराने का श्रेय चीन में जनमी विख्यात अमरीकन उपन्यास-लेखिका श्रीमती पर्ल एस० बक को ही है। श्रीमती पर्ल बक को, इस उपन्यास की समाजवादी विचारधारा को देख कर पर्याप्त विस्मय हुआ और इसीलिए उन्होंने उसका रूपांतरित आंग्ल नामकरण 'आल मेन आर ब्रदर्स' कर दिया।

'शुई हु चुआन' उपन्यास का अंग्रेजी भाषा में रूपांतर तो पर्याप्त सन्तोषप्रद है, किन्तु उक्त नामकरण से उपन्यास की कथात्मक प्रकृति के बारे में भारी भ्रान्ति की सम्भावना होती है। अतएव मूल उपन्यास के नाम का हिन्दी भाषा में शब्दानुवाद ही अधिक समीचीन मान कर उसे यहाँ झील तराई उपन्यास ही कहा गया है। चीनी भाषा में शुई शब्द का अर्थ है पानी, हु शब्द का अर्थ है हाशिया या किनारी तथा चुआन शब्द का अर्थ है उपन्यास। किन्तु जलतट उपन्यास समस्त पद भी उक्त उपन्यास की मौलिक पृष्ठभूमि के बारे में अभ्रान्त धारणा प्रस्तुत करने में असमर्थ था। अतः झीलतराई उपन्यास नाम से पृष्ठभूमि का वास्तविक चित्र भी पाठक के समक्ष आ जाता है। उपन्यास की भौतिक पृष्ठभूमि एवं मुख्य कार्य-केन्द्र को दृष्टि में रखते हुए यह उचित होगा कि उपन्यास के नाम एवं कथानक के उपयुक्त तारतम्य को तनिक समझा कर लिया जाय।

उपन्यास की कथा संक्षेप में इस भाँति है कि १३वीं शताब्दी में, चीन के इतिहास ने जब सुंग राजवंश का ह्रास होता जाता था और देश में अराजकता का दौरदौरा था। सम्राट हुंग चाग के शासनकाल में राज्याधिकारियों द्वारा प्रजा पीड़न चरमसीमा तक पहुँच चुका था। उसका प्रत्युत्तर देने के लिए कितने ही न्याय प्रिय एवं निर्भय व्यक्ति, एक पार्वत्य प्रदेश में जाकर रहने लगे एवं वहीं से अन्यायी शासन के अन्त की योजना बनाने में लग गए। ऐसे वीरों की संख्या १०८ थी। उनमें से भी विशेषतया ३६ सूरमाओं ने उपन्यास के घटनाचक्र में आद्योपान्त भाग लिया है। ये सभी एक ऐसे पर्वत पर रहने लगे थे जिसके चारों ओर एक गहरी झील थी। उस पर्वत का नाम लघु हुआ गिरि था। यह पर्वत शान्टुंग प्रान्त में स्थित था, तथा उसके शिखर कुहर से मण्डित रहते थे। झील के चारों ओर दलदल और नरसल की एक पट्टी थी। ये दलदल चक्करदार छुपे हुए जलमार्ग से संकुल थे जो कि छापामार युद्ध के लिए आदर्श थे। यह मानने के पर्याप्त कारण हैं कि इन तथाकथित दस्युओं के दल की गाथाएँ इतिवृत्त से समर्थित हैं। जन साधारण में उनकी लोकप्रियता इस सीमा तक पहुँच चुकी थी कि उनकी गाथाओं को चीनी जनता, सदियों से कहानियों एवं लोकगीतों के रूप में कहती सुनती चली आई है। इस भाँति ,शुई हु चुआन (झीलतराई उपन्यास) नाम ही विद्रोही दल के उस बहुविश्रुत प्रदेश

को व्यजित कर देता है तथा तत्सम्बन्धी कथाओं के बारे में पाठक की रोमानी कल्पना को उद्बुद्ध कर देता है।

'झील तराई' उपन्यास का मौलिक प्रदेश, 'लियांगशान पो' कहलाता है और सदियों से वह दस्यु प्रदेश ही रहा है। प्रत्येक शासन के समय में वह प्रदेश न्याय और व्यवस्था विभाग के लिये एक सरदर्द ही रहा है। लोकरुचि, सदा से ही, दुष्टों को दण्ड देने वाले डाकुओं की कहानी में आकृष्ट रहती आई है, इसीलिये इस उपन्यास की कथा भी इस हद तक लोकप्रिय रही है कि कितने ही सरकारी अधिकारी भी उसे चोरी छुपे पढ़ते थे। चिंग राजवंश के चिआ चिंग सम्राट के शासन के चौथे वर्ष अर्थात् ईसवी सन् १७९९ के मार्च महीने में एक राजकीय घोषणा के निम्न अंश उस दृष्टि से बड़े रोचक हैं—

यदि कोई पुस्तक विक्रेता 'शुई-हु चुआन' की उच्छृंखल कहानी को छापने का दुःसाहस करे तो उसकी दृढ़ता से खोज की जाय और पुस्तक की सभी प्रतियां, वुड-कट (लकड़ी के ठप्पे) इत्यादि तथा टाइप जला दिये जायं। यदि कोई जांच-अधिकारी इस कार्य में तत्परता न दिखाये तो उसका छः मास का वेतन न दिया जाय। यदि किसी अधिकारी की जानकारी में, कोई पुस्तक विक्रेता, ग्राहकों को यह पुस्तक पढ़ने को देता हुआ पाया जाय तो उसको दो बार पदोन्नति रोके जाने का दण्ड दिया जाय। यदि कोई अधिकारी इस पुस्तक के मुद्रण में सक्रिय भाग ले तो उसे कार्यमुक्त कर दिया जाय। यदि कोई अधिकारी, पुस्तक खरीदे और पढ़े तो उसका एक वर्ष का वेतन काट लिया जाय।[1]

विश्वास किया जाता है कि मूल महाग्रन्थ में मूलतः सत्तर अध्याय थे किन्तु परवर्ती प्रतियों में उनकी संख्या क्रमशः ११५ और १२० तक हो गई। श्रीमती पर्ल एस० बक ने एक मनरञ्जक यायावरी प्रति को ही अपने अनुवाद का आधार बनाया है। इस उपन्यास के सम्बन्ध में एक विशेष रोचक बात यह है कि आधुनिक साम्यवादी चीनी इसे विश्व का सर्वप्रथम साम्यवादी उपन्यास मानते हैं।

'शुई-हु चुआन' का श्रीगणेश महाकाव्य शैली में बहुत कुछ भारतीय प्रणाली में किया गया था। महाविजेता सुंग सम्राट के जन्म की घड़ी का जैसा चित्रविचित्र वर्णन किया गया है वह हमारे महाकाव्यों के समारम्भ के समान, (धर्म के पुनर्स्थापन एवं अधर्म के विनाश के लिए अवतारी पुरुषों के जन्म की अनुश्रुतियों की भांति) पृथ्वी का भार उतारने के अभिप्राय से ही कराया गया है। उपन्यास के नायक सुंग चिआंग की जन्म-कथा उपन्यास में निम्न शब्दों में वर्णित है—

---

१ (मूल चीनी भाषा में प्राप्त राजकीय अभिलेखों से) कोलम्बिया विश्वविद्यालय के चीनी भाषा के अध्यापक डॉ० कैरिंगटन गुडरिच द्वारा चीनी भाषा से अंग्रेजी में रूपान्तरित तथा उसी से यहां हिन्दी भाषा में पुनः अनुवादित।

'जिस समय इस परम विवेकी महापुरुष का जन्म हुआ सारा आकाश अचानक लाल प्रकाश से जगमगा उठा और वायु विभिन्न सुगंधियों से महक उठी। यह दृश्य रात भर बना रहा क्योंकि वास्तव में वह स्वयं वज्र और प्रकाश के देवता का मानव शरीर में, अवतार था।[1]

उपन्यास, एक से एक अनुपम वर्णनों से समृद्ध है तथा समग्र उपन्यास ही आद्योपान्त वर्णन प्रधान शैली में ही रचित है। इस उपन्यास में चीनी जनसाधारण के जीवन का वास्तविक चित्रण मिलता है। पूरे उपन्यास में चीनी लोगों की तत्कालीन वेशभूषा और उत्सवों आदि के वर्णन तो हैं ही पर उसमें वर्णित वास्तविक लालित्य मय वर्णन तो उसके प्राकृतिक परिवेश के हैं। झीलों नदियों नालों, हिम मंडित पर्वतों, दलदलों दलदल में उगनेवाली घासों वृक्षों और पशु पक्षियों सभी के बड़े ही कलात्मक वर्णन पाए जाते हैं—इसके अतिरिक्त प्रकृति के बदलते हुए 'मूड्स' के भी अत्यन्त विलक्षण वर्णन इस हजारों पृष्ठ वाले उपन्यास में भरे पड़े हैं।

भील तराई उपन्यास में अनेक स्थलों पर भवनों एवं मंदिरों आदि के भी बड़े सुन्दर चित्रण पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ अंतरिक्ष की देवी द्वारा उपन्यास के नायक सुंग चिआंग को तीन दिव्य पुस्तकों का उपहार दिया गया है। यह वर्णन *जागृत स्वप्न जैसा चित्रित किया गया है तथा अत्यन्त विलक्षण वर्णन प्रतिभा* संयुक्त है। इकतालीसवें अध्याय में, सुंग चिआंग को नवें अंतरिक्ष की देवी तीन पुस्तकें भेंट करती है और उसे उसके दिव्य अवतार का पुनःस्मरण कराती है। इस अध्याय में उपन्यासकार ने आद्योपान्त, अतिमानवीय स्वप्निल वातावरण का अनुपम रहस्यमय वर्णन-कौशल के साथ स्थापित किया है –

भारी संकट से प्राण बचाने का प्रयत्न करता हुआ सुंग चिआंग, संयोगवश, देवताओं के कुंज में जा पहुँचा। उसे विस्मय हो रहा था कि उस प्रदेश में बहुधा आने जाने पर भी उसने कभी वह स्थान देखा नहीं था। इतने में ही आसमानी रंग के वस्त्र पहने दो युवक उसके सामने आदर के साथ खड़े हो गये। उन्होंने कहा हम देवी ने यह आदेश दिया है कि हम नक्षत्रों के अधिपति की सेवा में पहुँच कर कुछ निवेदन करें। सुंग चिआंग अवाक् रह गया। उन युवकों ने फिर कहा— हे नक्षत्रों के अधिपति! सोच विचार का, और देरी करने का समय नहीं है। देवी देर से प्रतीक्षा कर रही हैं।[2]

सुंग चिआंग ज्यों ही आगे बढ़ा तो उसने आसमानी रंग में परिवेष्टित दो कुमारियों को देवता के सिंहासन के इधर उधर खड़े पाया। उसे चारों ओर से आवाजें आती सुनाई दीं हे नक्षत्रों के अधिपति! तुम्हें देवी आमंत्रित करती हैं। सुंग चिआंग ने पर्दे हटाये और आगे बढ़ा तो क्या देखता है कि दो नीलवसना दिव्य

१-२ 'भील तराई उपन्यास' (शुइ हु चुआन) (आंग्ल रूपान्तर से) जिल्द २, अध्याय ४१

सेविकायें, उसके सामने, धरती पर सिर झुका कर, नमस्कार कर रही हैं। उनके बाल, जूड़े के रूप में, सिर के ऊपर बँधे थे। सुंग चिआंग, मन्त्रमुग्ध था। तभी वे बोलीं—देवी की आज्ञा से हम आपको महल में ले जाने को आई हैं। इस भाँति सुंग चिआंग, दिव्य सेविकाओं के पीछे चला। जब वे अन्दर से, भीतरी आँगन में पहुँचे, तो एक ओर की दीवार में उसे एक दरवाजा दिखाई दिया और दिव्य सेविकाओं के कहने पर, सुंग चिआंग ने जब उसमें प्रवेश किया, तो उसने अपने आप को एक परम मनोहर रमणीक मार्ग में चलते हुए पाया।[1]

'आकाश में चाँद-तारे खिले थे और वायु मादक सुगन्धियों से परिपूर्ण थी। दो महाकाय चीड़ के पेड़ों के बीच से एक मनोहर जंगली मार्ग था, जो फूलों से महक रहा था। सभी वृक्ष-वनस्पति, विचित्र और अनजानी हो जान पड़ती थी। नीले पत्थरों से बने एक पुल पर होकर वे एक लाल जालीदार फाटक पर पहुँचे और उसमें जाते ही उसने, अपने आपको एक विशाल देवालय के बीच पाया। वे उस अजगरों की आकृति से मण्डित आँगन में बढ़े तो दोनों ओर बरामदों में, जरी के पर्दे पड़े हुए थे। मध्य में, दिव्य सिंहासन असंख्य मोमबत्तियों के प्रकाश से जगमग था। [illegible] का कितनी ही दिव्य सेविकाओं ने घोषणा की—"नक्षत्रपति, द्वार पर उपस्थित हैं।' तब सुंग चिआंग ने, पवित्र सिंहासन और पर्दे के सामने, माथा टेक कर नमस्कार किया। अब पवित्र पर्दे के पीछे से सुनाई दिया—नक्षत्रपति आसन ग्रहण करें।"[2]

'तब सेविकाओं ने उसे एक चीनी के आसन (पट्ट) पर बैठाया। तभी मंदिर भर में यह स्वर गूँज उठा कि पर्दा उठा दिया जाय। कई सेविकाओं ने रत्नजटित पर्दे को उठाया, और उसे दो स्वर्णिम पुस्तकों पर रख दिया। उस देवी ने सुंग चिआंग से कुशल मंगल पूछा और उससे शिष्टाचार न बरतने को कहा। जब सुंग चिआंग ने, साहस करके सिर उठाया तो उसे सोने और जवाहरात की जगमगाहट दिखाई दी—अजगर की आकृति के दीपस्तम्भ और अमरविहग की आकृति के शमादान जल रहे थे। सिंहासन के दोनों ओर, कितनी ही नील वसना सेविकाएँ पवित्र राजदण्ड, तोरण पताकाएँ और एक विशाल पंखा लिये हुए, दिखाई दीं। और बीचों-बीच नौ अजगरों की आकृति के और सात बहुमूल्य धातुओं के बने, सिंहासन पर, स्वयं देवी विराजमान थीं।'

देवी ने लाल रंग के रेशमी सुनहरी काम के वस्त्र पहन रखे थे। और उसके एक हाथ में, रत्नजटित शुभ्र राजदण्ड था। देवी के रूप का वर्णन क्या किया जा सकता है! देवी ने सुंग चिआंग का, पवित्र मदिरा और पवित्र खजूर से स्वागत किया। तत्पश्चात देवी के आदेश से, दिव्य सेविकाओं ने पर्दे के पीछे से, मन्दिर के अन्दर से एक नीली थाली में पीले रेशम में लिपटे हुए एक पवित्र पुस्तकों के बस्ते को लाकर भेंट किया। उसमें तीन धार्मिक पुस्तकें थीं। अन्त में देवी ने उसे,

---

१, २ 'झील तराई उपन्यास' ('शुइ हु चुआन') जिल्द २ अध्याय ४१

है। यहाँ, नैसर्गिक परिवेश के बीच खड़े हुए किसान के मन के हर्ष विषाद का चित्रण है तो यहीं चीनी लोकजीवन के छोटे से छोटे पहलुओं—खान पान धार्मिक संस्कारों तथा हाट बाजार, सभी के चित्रवत् वर्णन पाठक को बरबस ही, समाजवादी क्रान्ति से पहले के चीन देश में, मानो सदेह ही पहुँचा देने में सक्षम हो पाते हैं। उपन्यास का नायक है वाङलङ नामक एक अत्यन्त दरिद्र चीनी कृषक मजूर जिसने धैर्य एवं अध्यवसाय-पूर्वक जीवन संघर्ष लड़ कर अन्त में सम्भ्रान्त परिवारों की विशिष्टता प्राप्त कर ली। वाङलङ के परिवार की यह बृहत्कथा उसके पड़पोतों तक चालू रहती है जो समृद्ध किसान के शिष्टाचारमय जीवन के प्रतीक के रूप में विशद रूप में चित्रित की गई है। बदलते हुए समय के प्रवाह में वाङलङ की श्रम-गाथा सचमुच 'गद्य महाकाव्य' कहाने की अधिकारिणी है। समग्र उपन्यास एक से एक अनुपम वर्णनों से ग्रथित सा है। कृषक का रूखा सूखा जीवन धरती से उसकी ममता वर्षा के मेघों की सतत प्रतीक्षा दुष्काल अनावृष्टि भूख गरीबी सभी के वर्णन लेखिका की संवेदनशील लेखनी द्वारा सजीव एवं साकार हो उठे हैं। उपन्यास का नायक गरीब तथा तरुण किसान वाङलङ जब एक दास कन्या को थोड़ा धन देकर एक सामंती महल से अपनी परिणीता पत्नी बना कर लाया तभी से इस महान लोक उपन्यास का प्रारम्भ इस सरल वर्णन द्वारा होता है—

वाङलङ के अन्तर में बसा वास्तविक कृषक हृदय सहसा ही क्षण भर के लिए अपने खेत की मुकुलित शस्य की बालों की ओर आकृष्ट हुआ जिनमें अभी तक दाने नहीं भर पाए थे। वे अभी भी खाली थीं और वर्षा की बाट जोह रही थीं। उसने हवा की गंध से पहचानने का प्रयत्न किया और फिर सहसा उसके चिन्तातुर नयन आकाश की ओर उठ गए। नभोमण्डल में जल था जो बादलों के कालेपन में झलक रहा था और जिसके कारण हवा बोझिल हो चली थी। तभी उसके मन में यह विचार उदित हुआ कि क्यों न वह एक धूपबत्ती खरीद लाए और उसे धरती के अधीक्षक देवता (शालिग्राम) की छोटी सी मढ़ी में जला कर रख आय। हाँ आज के जैसे दिन तो उसे यह करना ही चाहिए।[1]

अपनी नवागता पत्नी को लेकर वाङलङ अपने गाँव के खेत में प्रतिष्ठित धरती के देवता की मढ़ी में (नव सम्पत्ति द्वारा पूजा के निमित्त) गया। मंदिर के भीतर छत के नीचे पास पास बैठी हुई दो नन्हीं किन्तु गम्भीर मुख मुद्रा वाली आकृतियाँ थीं। वे मिट्टी से निर्मित थीं और उन्होंने अपना रूप आसपास के खेतों की मिट्टी से ही ग्रहण किया था। वे धरती के देवता तथा उनकी अर्धांगिनी देवी थीं।

---

१ 'दि गुड अर्थ' (पर्ल सि० बक) अध्याय १ पृष्ठ ६ (सन १९५६ ई० में न्यूयार्क से प्रकाशित कार्डीनल-संस्करण से उद्धृत) (प्रथम प्रकाशन, सन १९३१ ई०)।

उनकी वेशभूषा लाल और चमकीले चटकदार कपड़ो और कागज की पत्तियों से बनी थी।"

हर साल, (नये साल के दिन) वाङलङ के पिता, लाल कागज खरीद कर लाते थे और यत्नपूर्वक उसी से तराश कर व देवदम्पति के लिए नये परिधान तैयार करते थे। हर साल, वर्षा, हिमपात और ग्रीष्म का तपती धूप, सभी उन पर बरसते रहते थे जिनसे उस परिधान की चमक और रंग फीके पड़ जाते थे। वाङलङ की नवागता वधू सोच रही थी कि वह अपने पहले बेटे को, एक लाल रंग का कोट और लाल फूलों की छींट वाला पायजामा पहना कर, पहले पहल उस सामन्ती जमींदार के महल में ले जाएगी, जहाँ कि उसने अपना प्रथम दास्य जीवन अकिंचनता में बिताया था। वह अपने नवजात शिशु के टोप पर नन्हीं सी चमकती हुई बुद्ध की मूर्ति सियेगी और उसके पैरों में, बाघ की आकृतिवाले, नन्हे जूते पहनायेगी।"[१२]

नोबेल पुरस्कार विजेता, दूसरा वर्णन प्रधान उपन्यास है—अर्नेस्ट हैमिंग्सवे कृत 'ओल्डमेन एण्ड द सी (१९५४ ई०)। 'ओल्डमेन एण्ड द सी '(बूढ़ा और सागर)' की रचना, 'गुड अर्थ' के लगभग एक पीढ़ी (तेईस वर्ष) के बाद की है। इसके लेखक हैमिंग्सवे एक ऐसे उपन्यासकार हुए, जो जीवन के निरीक्षण एवं चित्रण में ही नहीं वरन् जीवन को आग्रह एवं उत्साहपूर्वक जीने और फिर उसे शब्दों में वर्णित करने के सिद्धान्त के भी पक्के विश्वासी थे। वे अपने जीवन-काल में प्रायः सभी व्यवसाय अपना चुके थे। मछुआरा के जीवन से प्रारम्भ करके, वे भिखारी के जीवन तक विभिन्न व्यवसायों में निमग्न रहे। स्पेन में जाकर वहाँ के प्रसिद्ध लोक मनोरंजन सांडों से द्वन्द्वयुद्ध (बुल फाइटिंग) में भी उन्होंने कुशलता प्राप्त की और द्वितीय महायुद्ध में सैनिक वर्दी पहन कर, वे सैनिक का जीवन बिताने के लिए भी गए। अफ्रीका के सघन वनों में वे, आविष्कारक एवं शिकारी की भांति वर्षों भटकते रहे और अंत में बन्दूक की नली साफ करते हुए सन १९६१ ई० में, उनका एक दुर्घटनावश देहान्त हो गया। इन सभी जीवन अनुभवों के एक से एक अनूठे वर्णन उन्होंने अपने महान वर्णनात्मक उपन्यासों में चित्रित किए हैं।

'दि सन आलसो राइजेज' में, पेरिस से स्पेन तक एक परदेशी घुमक्कड़ की भांति जीवन बिताने और सांडों से द्वन्द्वयुद्ध आदि के विचित्र दृश्यों के वर्णन चित्र अंकित करने में उन्होंने कमाल हासिल किया है। 'फार हूम दि बेल टोल्स' में द्वितीय महायुद्ध में सैनिक जीवन का सजीव चित्रण है और 'एक्रास दि रिवर एण्ड इनटु दि ट्रीज' में अफ्रीका के सघन वनों की एक से एक अनोखी दृश्यपटियों का रोमांचकारी चित्रण पाया जाता है। अपने अंतिम एवं नोबल पुरस्कार विजेता उपन्यास 'आल्डमेन एण्ड दी सी' (१९५४ ई०) में हेमिंग्सवे ने मछुआरा के जीवन-संघर्ष की गाथा को एक ऐसी तीव्र

---

१२ 'गुडअर्थ' (पल सि० बक) अध्याय २, पृष्ठ २२-२४

गतिमयी वर्णन शैली में चित्रित किया है जिसे पढ़ते ही बनता है। समुद्र की लहरों में भयंकर ह्वेल तथा शार्क मछलियों से, निर्भय होकर जूझने वाले मछुआरों के, अदम्य साहसपूर्ण एवं सतत मृत्यु से टकराने वाले दैनिक जीवन को एक से एक अनूठे चित्रवत वर्णनों के माध्यम द्वारा हेमिंग्सवे ने अपनी परम सरल एवं सीधी सादी भाषा में, मानो सागर की उत्ताल तरंगों में बाँध डाला है। सनटियागो के सागरतट पर बसने वाले मछुआरों की स्थानीय बोली का लहजा भी, जहाँ तहाँ इन वर्णनों को स्वाभाविकता प्रदान करता चलता है।

उक्त दोनों विश्व उपन्यास, आधुनिक युग की उपन्यास विधा की दो विविध अछूती एवं मौलिक वर्णन भूमियों को स्थापित करते हैं। आज एक ओर जब आधुनिक सम्भ्रान्त एवं भ्रान्त नागरिक जीवन विश्व की बदलती हुई अर्थव्यवस्था तथा नव-सामाजिक मान्यताओं द्वारा छिन्न भिन्न होता जाता है तब युगयुगों से चले आने वाले ये लोक जीवन यापन के, पुरातन व्यवसाय और उनमें निरत, बहुसंख्यक नरनारियों की दुनिया, उपन्यासकार की वर्णन प्रतिभा का (कभी न चुकने वाली वर्ण्यवस्तु के लोक में पहुँचाकर) नित्य नव नव अवसर प्रदान करती है। यह प्रकृति की शाश्वत किन्तु पल-पल पलटने से रमणीय पृष्ठभूमि नितान्त पुरातन होते हुए भी सदैव चिरनवीन ही बनी रहती है।

सन् १९६५ ई० में 'ओल्ड मैन एण्ड द सी' के लगभग बीस वर्ष पश्चात नोबल पुरस्कार से सम्मानित 'धीरे बहे दोन रे' (क्वाइट फ्लोज दि डान) सोवियत रूस के महान आधुनिक उपन्यासकार श्री मिखाइल शोलोखोव (जन्म १९०५ ई०) की अमर कथाकृति है। आलोचकों ने 'धीरे बहे दोन रे' को गद्यमहाकाव्य की उपाधि प्रदान की है जो सर्वांश में औचित्यपूर्ण मानी जाएगी। शोलोखोव ने इस चार जिल्दों में पूरा होने वाले महा उपन्यास का सन १९२६ ई० में लिखना प्रारम्भ किया था और उसका चतुर्थ और अन्तिम खण्ड सन १९४० ई० में सम्पूर्ण हो पाया था। शोलोखोव के उपन्यासों की एक बड़ी विशिष्टता यह है कि उनमें रूसी जनता और उसके कज्जाक कबीलों के जीवन का सच्चा प्रतिबिम्ब मिलता है। इस उपन्यास का विश्व की ५९ भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। उपन्यासकार शोलोखोव सोवियत संघ के सर्वोच्च सोवियत के डिप्टी भी हैं और वहाँ की राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी के सदस्य भी हैं। वर्णनात्मकता की दृष्टि से उपन्यास में अनेकानेक चिरस्मरणीय वर्णन हैं। इन वर्णनों में दोन नदी के अंचल की नैसर्गिक छटा का वर्णन कितने ही विभिन्न रूपरंगों एवं विविध शोभा चित्रपटियों द्वारा चित्रित किया गया है। उदाहरणार्थ उपन्यास के इस चिर-अविस्मरणीय प्रारम्भिक वर्णन को ही ले लें—

'मेलेखोव परिवार का फार्म गाँव के अन्तिम छोर पर था। उत्तर की ओर ढोरों के बाड़े का फाटक था। फाटक दोन की ओर खुलता था। बाड़े के बाद पचास फुट लम्बा ढाल था। किनारे की गलियाँ काई से भरी हुई थीं। ऊपर की ओर

ाम्रूक के सीधा का पसारा था, बाद मे गोल, चिकने पत्थरा की, जहा तहाँ टूटी पट्टी ग्री और इसके नीचे, नदी की इस्पाती नीली सतह थी। लहरियो को, हवा के थपेडे, रह रह कर, छेड जात थे। पूव म, बेंतो की टट्टिया वाले खलिहाना के पार, हेमान का चौडा रास्ता था। चिरायते की भूरी झाडिया थी जानवरो के खुरो से रौंदी, जगली घास के, हलके भूरे गन्धिल झाड थे, चौराहे पर खडा सलीब था, और फिर क्षण क्षण पर छा जाने और कट जाने वाली धुध से लिपटा, स्टीपी का मैदान था। दक्षिण म, खडिया की पहाडिया का सिलसिला था। पश्चिम म सडक थी। सडक, चौक को पार कर चरागाहो की ओर जा निकलती थी।[१]

इसी प्रसग से थोडी दूर आगे चल कर, तीसरे अध्याय म, दोन नदी की मनोरम दृश्यपटी के एक अन्य चित्रवत वर्णन का अवलोकन कीजिये—'दोन के आर-पार, चाँदनी की, तिरछी लहरदार किरणें बनी रही। नदी के ऊपर लटक रही धुध, और धुध के ऊपर अनाज के छितराये हुए दाना जसे जगमगाते, तारे। ऐस म, घोडे ने, पर, बहुत सभाल-सभाल कर जमाय। पानी की ओर का ढाल खराब था। दूर से बत्तखो की आवाज आई। कछार के पास छिछले पानी म, एक मछली का छपाका हुआ, जसे उसने किसी छोटी मछली पर झपटटा मारा हो।[२]

कज्जाकिस्तान के एक ग्राहक भूखण्ड का दृश्यपट भी, वणनकला द्वारा मानो साक्षात हो उठता है—रात को उन्होने एक ढूह के पास डेरा डाला। ढूह के ऊपर का हिस्सा रेतीला था। पश्चिम म मेघ जमा होने लगे और उनके काले पखो से, पानी की बूदे चूने लगी। घोडा को, पास के ताल म पानी पिलाया गया। पास की पुलिया के ऊपर के उगास सरपत हवा के आगे झुक झुक जाते थ। ताल की छोटी छोटी लहरियो पर बिजली चमकी तो उसकी परछाइं बार-बार टूट टूट जाती थी। हवा, वर्षा की बूदो को इस तरह इधर-उधर छितरान लगी जसे धरती की काली हथलिया पर भिक्षा-दान के टके, फेंक रही हो।[३]

यागोद्नोए जागीर का हराभरा एव चित्र विचित्र कोना कसी मनोरम प्राकृतिक शोभा से सयुक्त है। शोलोखोव की वणन प्रणाली तथा चुनी हुई सनोरमक शब्दावली, किस भाँति शब्दचित्र बनाती चलती है यह चित्रात्मक कला सचमुच अपने म अनुपम ही है—

'यागोद्नोए की जागीर एक चौडी घाटी मे या स्थित थी मानो बीच म से उग आई हो। हवा, कभी दक्षिण की ओर से बहती तो कभी उत्तर की दिशा से।

---

१ धीरे बहे दोन रे' (मिखाइल शोलोखोव) हिन्दी रूपान्तरकार—श्री गोपीकृष्ण 'गोपेश' (राजकमल प्रकाशन, १९६५) पृष्ठ ६ (भाग १, अध्याय १)।
२ वही, (भाग १ अध्याय ३) पृष्ठ २८
३ वही (भाग १ अध्याय ४) पृष्ठ ४६

सूरज, आसमान की नीलम सफेदी पर, लहरें लेता। सर्दियाँ बर्फ पाले से मढ़ी रहतीं। पर यागोदनोए, ज्यों का त्यों जड़ना में जड़ा रहता। दिन, जुड़वाँ बच्चों की तरह, बीतते जाते और जागीर सारी दुनियाँ से कटी रहती। फार्म के अहाते में, काली बत्तखों की चहल-पहल अब भी रहती। उनकी आँखों के चारों ओर के काले घेरे, चश्मा-से लगते। गिनी के मुर्गे, दानेदार बूँदों की भाँति चारों ओर बिखरे रहते। सुन्दर परों वाले मोर अस्तबल की छत से 'पी-कहाँ! पी-कहाँ' करते! वृद्ध जनरल को हर तरह के पक्षियों का शौक था। उसके पास एक पालतू सारस भी था। नवम्बर में जब वह जंगली सारसों को दक्षिण की ओर जाते देखता तो उसके कंठ के स्वर, उसके दिल की तड़प और कसक को, वाणी देने लगते। वह उड़ नहीं सकता था, क्योंकि उसका एक पंख बेकार था और एक ओर को झूलता रहता था।[1]

अन्त में सितम्बर की उदास साँझ के एक वर्णन के साथ इस लोक महाकाव्य के एक से एक अनूठे वर्णनों की झाँकी पर पटाक्षेप करना ही होगा जो कि शोलोखोव की चित्रात्मक वर्णनकला का एक अन्य पक्ष पाठक के समक्ष समुपस्थित करता है—

दिन ढलने लगा। सितम्बर की स्थिरता को मधुरिमा और शान्ति दुलराने लगी। आसमान से गर्मी की मनभावन चमक मानो किसी ने छीन ली और वह धुँध से नहाया-सा पेड़, उसी के रंग का, हो उठा। सेव की पत्तियाँ भगवान जाने कहाँ से आकर खाई पर बैंगनी रंग छिड़का गई? सड़क पहाड़ियों की लहरदार चोटियों पर जाकर, अदृश्य हो गई और क्षितिज, पन्ने की तरह हरी, और सपने की तरह धुंधली रेखा को पार करने की बेकार कोशिश करने लगा। अपनी झोंपड़ियों और रोजमर्रा के चक्र से बंधे लोग मशक्कत से टूटते रहे और खलियान में थकान से चूर होते रहे। रास्ता क्षितिज पार कर अज्ञात जगत में ढलता रहा। हवा उस रास्ते पर सर्राटे भरती और धूल के बादल उड़ाती रही।[2]

श्री शोलोखोव की क्वाइट फ्लोज दि दोन (धीरे बहे दोन रे) की रचना सन १९४० ई० में हुई थी और उसे विश्व-साहित्य का नोबेल पुरस्कार मिला सन १९६५ ई० में—लगभग एक पीढ़ी गुजर जाने के पश्चात। यह अस्वाभाविक साहित्यिक घटना वस्तुतः साहित्य-समीक्षा के पुराने रूढ़ मानों के ह्रास और नई पीढ़ी के नये मानों का एक सामयिक प्रतीक मात्र है। प्रकट है कि विश्व भर के शीर्ष साहित्य समीक्षक (जो सर्वोत्कृष्ट विश्वजनीन महत्व की कृतियों का निर्वाचन करते हैं) अब उपन्यासगत वर्णनात्मकता एवं उसकी कलापूर्ण अभिव्यंजना को उत्तरोत्तर महत्व प्रदान करते जाते हैं, तथा वे इस विधाविशेष की इस सर्वप्रथम विशिष्टता को पहचानने लगे हैं।

---

१ 'धीरे बहे दोन रे' (मिखाइल शोलोखोव) भाग २ अध्याय १० पृ० २८१

२ वही (शोलोखोव), भाग ३, अध्याय १६, पृष्ठ ४१३

विश्व की कुछ सर्वश्रेष्ठ एवं प्रतिनिधि औपन्यासिक रचनाओं एवं उनमें मुखर एवं प्रतिबिम्बित वर्णनात्मकता एवं वर्णन विशिष्टता के द्योतक, उक्त संक्षिप्त औपन्यासिक पर्यवेक्षण के परिप्रेक्ष्य में ही हम अपने स्वदेश की आधुनिक भाषाओं में परिलक्षित अभिनव औपन्यासिक समृद्धि तथा उसकी समान वर्णनात्मक चित्र विचित्र इन्द्रधनुषी छवि के सम्यक दर्शन कर सकते हैं। भारतीय भाषाओं में अपने चिरस्मरणीय उपन्यासों की रचना करने वाले हमारे आधुनिक उपन्यासकार वर्णनात्मकता के विविध क्षितिजों का आविष्कार एवं विकास करते जा रहे हैं। भारतभूमि की विशाल एवं व्यापक चित्र विचित्र विविधता उन्हें उसके लिए अक्षय इंगित प्रदान करती है। उसकी विविध नैसर्गिक पृष्ठभूमि में विकसित पुरातन भारतीय जन उद्योग तथा उनमें निमग्न कोटि-कोटि भारतीय जन साधारण के लोकजीवन को, सच्चे अर्थों में वे ही प्रतिबिम्बित करते रहते हैं। वे भारत में बदलते हुए जन जीवन का सच्चा इतिहास भी निर्मित करते जाते हैं जो आने वाली शतियों में, भावी पाठकों का अपनी मनोरम विविधता द्वारा शाश्वत, रंजन भी करता रहेगा। आधुनिक भारतीय उपन्यासकार कृषि, गोपालन, मत्स्य शोधन, फलोद्यान आदि से सबंधित हमारे शतावधि उद्योग धंधों तथा उनसे संपृक्त जनजीवन की छाया छवियों को अंकित करने में प्रवृत्त हैं तथा उनकी विविध वर्णनकला उनकी प्राकृतिक पृष्ठभूमि—वन, पर्वत, नदी, सरोवर, चरागाह, सागर-तट इन सभी की रूपराशि में अक्षय रमणीयता के रंग से, सहस्रावधि उत्कृष्ट आधुनिक भारतीय औपन्यासिक कृतियों में रंग भरती रहती है।

आधुनिक हिन्दी उपन्यास-साहित्य की अनेकानेक महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ भी निश्चय ही विश्व उपन्यासों की वर्णनात्मक गरिमा से समृद्ध हैं। समयान्तर में उन्हें भी उपर्युक्त शोलोखोवकृत उपन्यास की भाँति ही देर-सवेर विश्व-साहित्य-समीक्षा की स्वीकृति प्राप्त होगी किन्तु उसके बिना भी वे कम महान नहीं हैं। श्री प्रेमचन्द कृत गोदान एवं श्री वृन्दावनलाल वर्मा कृत मृगनयनी ऐसे ही शाश्वत वर्णनात्मक महा-उपन्यास हैं। आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी रचित 'चारु चन्द्रलेख' भी एक उन्हीं की कोटि का गद्य महाकाव्य माना जाएगा। परिवेश को दर्पण के समान प्रतिच्छायित करने वाले श्री फणीश्वरनाथ रेणु कृत मैला आँचल और परती परिकथा भी दो वर्णनकलायुक्त सफल उपन्यास हैं। सागर-तटवर्ती मछुआरों के जीवन को व्यक्त करनेवाली अविस्मरणीय औपन्यासिक कृति सागर लहरें और मनुष्य (श्री उदयशंकर भट्ट) तथा नदी-तटों पर आजीविका निर्वाह करने वाले मल्लाहों के जीवन को व्यक्त करने वाले वरुण के बेटे (नागार्जुन) भी अपनी अपनी दृष्टि से वर्णनात्मक कला की नयी भंगिमाओं की खोज करते हैं। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी का ब्रह्मपुत्र तो समग्र असम घाटी को ही रूपायित करने का एक विशिष्ट वर्णनात्मक उद्योग है। प्रकट है कि यह सूची सहज ही में संपूर्ण होने वाली नहीं है। अतः उन्हीं की सहजाति

कुछ अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं में विरचित, मनोमुग्धकारी वर्णनात्मक उपन्यासों का उल्लेख भी, यहाँ किया जाना समुपयुक्त होगा।

हिंदी उपन्यास के पश्चात, वर्णनात्मकता की नई प्रणालियों के परिशोधन में, बंगला उपन्यास ने भी पर्याप्त प्रगति एवं मौलिकता का परिचय दिया है। श्री विभूति भूषण बंद्योपाध्याय कृत 'धातृ देवता' श्री माणिक-बंद्योपाध्याय कृत 'पद्मानदीर माझी', श्री समरेश बसु विरचित 'गंगा' पर्याप्त वर्णन-समृद्ध चिरस्मृत कृतियाँ हैं। गुजराती उपन्यासकार श्री पन्नालाल पटेल कृत अपेक्षाकृत आधुनिक औपन्यासिक कृति 'मलेला जीव' तथा स्वर्गीय श्री झवेरचंद मेघाणी-कृत 'सोरठ तारा वहेता पाणी' शाश्वत वर्णन प्रधान उपलब्धियाँ हैं। केरल के सागर-तटवर्ती मछुआरों के जीवन की 'चेम्मीन' भी एक महान वर्णनात्मक औपन्यासिक प्रतिच्छवि है जिसके प्रणेता हैं श्री तकषि शिवशंकर पिल्लै। वस्तुतः आगे आने वाले 'भारतीय उपन्यास के सर्वेक्षण' नामक अध्याय में ही उपन्यास विधा के इस समृद्ध पक्ष पर और अधिक विवरण सहित विवेचना की जा सकेगी। यहाँ तो उनमें से कतिपय सशक्त कृतियों का उल्लेख, विश्व उपन्यास गत समान वर्णन गरिमा से अनुप्राणित रागात्मिका अन्तर्चेतना की ओर केवल इंगित करने के हेतु ही किया गया है। विश्व उपन्यास के सभी गौरव ग्रंथों के बीच, यदि कोई एक, समानता का अन्यून प्रसरित है तो वह है उन सभी में परिव्याप्त सुन्दर तथा अभिव्यंजना मनोरम उनकी समान वर्णन कलाभिरम्यता एवं उनकी समर्थ वर्णनात्मक प्रतिभा।

संसार की महानतम औपन्यासिक कृतियों की सब से बड़ी विशिष्टता है उन सभी में परिव्याप्त एवं प्रतिबिम्बित प्रभावोत्पादिनी वर्णनात्मकता। उपन्यास विधा में ज्यों ज्यों इस गुण विशेष का विकास होता गया उसकी साहित्यिक गरिमा में भी अभिवृद्धि होती चली गई। अतः हम देर-सबेर इस तथ्य को अनिवार्यतः स्वीकार करना ही होगा कि यदि उपन्यास विधा की कोई एक ही समान एवं सर्वसम्मत मूल्यांकन कसौटी कभी निरूपित होगी तो उसमें सर्वाधिक महत्व, उपन्यास विधा की अपनी निजी विशिष्टता अर्थात तद्गत वर्णनात्मकता को ही दिया जायगा।

प्रस्तुत परिच्छेद में उपन्यास विधा गत वर्णनात्मकता के प्रसंग में जितना भी विचार विमर्श किया गया है उस सबका मुख्य अभिप्राय यही है कि जब भी कभी उपन्यास विधा की नई समीक्षा पद्धति का नव निर्धारण किया जाये तो उसमें इस सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य की अवहेला न की जाये।

उपन्यास जैसी प्रगतिशील साहित्यिक विधा की समीक्षा पद्धति में, क्रान्तिकारी परिवर्तन अब, अवश्यम्भावी है। शीघ्र ही इस ओर हमारे विद्वान समीक्षकों का ध्यान जायगा जिस भांति कि पाश्चात्य समीक्षा पद्धति की प्रयोगात्मक अवस्था तथा उसकी

उपन्यास विधा के मूल्यांकन में सामर्थ्य हीनता की बात, स्वर्गीय श्री ई० एम० फास्टर जैसे उपन्यास प्रणेताओं एवं समीक्षकों को भी, खटकी थी, जिसमें ऊब कर उन्होंने चित्रलयात्मक वर्णनात्मकता (पटर्न एण्ड रिद्म) जैसे उपन्यास मूल्यांकन सम्बन्धी, अभिनव मानों की खोज करने के लिये अनिवार्यता अनुभव की थी।

इससे भी पूर्व सन् १६६६ ई० में फ्रांसीसी भाषा में, साहित्य समीक्षा के प्रसंग में सर्वप्रथम चित्रकला सम्बन्धी पदावली का प्रयोग प्रचलित हो चुका था। जिसके सम्बन्ध में एफ० ब्रूनो नामक फ्रांसीसी भाषा एवं साहित्य के प्रख्यात इतिवृत्तकार ने, लिखा है कि इसके कुछ वर्षों पश्चात ही अँग्रेजी भाषा में इस पद को फ्रांसीसी भाषा से ग्रहण कर लिया गया था। यह पूर्व विवेचित किया ही जा चुका है कि प्रचलित अँग्रेजी साहित्य समीक्षा में उपन्यास विधा के मनमाने मानीकरण का फील्डिंग जैसे अंग्रेजी उपन्यास के आद्य प्रवर्तकों एवं साहित्य ममज्ञों ने किस भांति तीव्र विरोध किया था। फील्डिंग ने तो यह दावा भी किया था कि जब अभिनव उपन्यास लेखक, अभिनव अभिव्यंजना प्रणाली को लेकर उपन्यास विधा को, नया विराम देने चले हैं, तो इस प्रकार की मनमानी समीक्षा नियमावली द्वारा उनका मूल्यांकन, कैसे किया जा सकता है?

वैसे तो अन्य साहित्यों से [साहित्य रचना एवं साहित्य समीक्षा दोनों ही क्षेत्रों में] अपनी निजी विशिष्टताओं के अनुकूल श्लाघनीय तत्वों और सुझावों को स्वीकार करने में कोई हानि नहीं है क्योंकि वाङमयगत मौलिक, रागात्मक प्रेरणा तो विश्व भर के सभी साहित्यों में समान ही रही है। किंतु हर देश और जाति की अपनी निजी जातीय एवं राष्ट्रीय दार्शनिक एवं तात्विक चिंतन प्रणाली हुआ करती है जिसका व्यापक प्रभाव, उस जाति अथवा राष्ट्र विशेष के साहित्य-सर्जन में परिव्याप्त रहता है। इसलिये एक भूभाग में प्रचलित साहित्यमान को, दूसरे भाग में विकसित होने वाले वाङमय के मूल्यांकन में ज्यों का त्यों अपनाया जाना भी समीचीन नहीं माना जा सकता।

उपर्युक्त तथ्य को विशिष्टतया भारत जैसी साहित्य-संस्कृति की पुरातन धरोहर वाली पावन भूमि में,—ध्यान रखने की, और भी अधिक आवश्यकता है क्योंकि हमारे यहाँ की साहित्य-सृजन एवं साहित्य शास्त्रीय परम्पराएँ, दोनों ही सुप्राचीन हैं। इसलिए हमारे लिये यह किसी भाँति भी उचित नहीं है—कि हम अपनी निजी वाङमय-परम्परा के तलस्पर्शी अध्ययन अनुसंधान से बच कर, अपना युग पाश्चात्य उपन्यास विधा के समान विकसनशील एवं प्रगतिशील साहित्यिक प्रवृत्तियों के मानीकरण के लिये कोई सुलभ पगडन्डी निकाल लें और इतना कर लेने पर ही संतुष्ट होकर बैठ जायें। इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए, आधुनिक हिन्दी साहित्य के पुरस्कर्ता अनेक विद्वान तथा प्रतिभाशाली उपन्यासकारों तथा आलोचकों ने पुरातन भारतीय कथात्मक परम्पराओं के विशद अध्ययन एवं उनके इतिवृत्तात्मक अनुशीलन की आवश्यकता को

अनुभव किया है जिसका श्रीगणेश उन्नीसवीं शती के उपन्यासस्रष्टा स्व० श्री किशोरी लाल गोस्वामी ने किया था।

कुछ प्रौढ़ हिन्दी उपन्यासकारों एवं समीक्षकों ने उपन्यास को भी, महाकाव्य की ही सहजाति की एक उत्कृष्ट साहित्य विधा माना है और इन दोनों वर्णनात्मक साहित्य रूपों के बीच, केवल गद्य एवं पद्य में रचे जाने के माध्यम अन्तर को ही उन्होंने उनके बीच की विभाजन रेखा कहा है। इस दृष्टि से उपन्यास विधा पर दृष्टिपात करने से भी हमें उसकी वर्णनात्मकता के महत्व को स्वीकार करना होगा। यह तथ्य तो सर्वमान्य है कि भारतीय महाकाव्यों की एक मुख्यतम विशिष्टता, उनकी उत्कृष्ट वर्णन योजना ही है और इस विषय पर 'काव्य-मीमांसा' कार राजशेखर आदि साहित्य शास्त्रियों ने बड़े विस्तारपूर्वक लिखा है। उक्त समग्र भारतीय समीक्षा शास्त्रीय सामग्री की अवहेलना, भला हम उपन्यास विधा के अधुना मूल्यांकन में कैसे कर सकते हैं?

साहित्य की उपन्यास विधा आज देशकाल की परिधियों को लाँघ कर, विश्व साहित्य का रूप ग्रहण करती जा रही है। अतः कुछ ऐसी महान औपन्यासिक कृतियों पर भी इस दृष्टिकोण से विचार किया गया है कि उनकी रसात्मक सिद्धि में वर्णनात्मकता का कहाँ तक महत्वपूर्ण योग रहा है। यदि हम अपने भारतीय उपन्यास साहित्य के मूल्यांकन के लिये भी वर्णनात्मकता के आधार पर एक अभिनव समीक्षा पद्धति, के अनुसंधान में प्रवृत्त होंगे तो निश्चय ही ऐसी मूल्यांकन पद्धति, विश्व उपन्यास के मूल्य निर्धारण के लिये भी एक अन्तर्राष्ट्रीय मौलिक एवं वैज्ञानिक उपन्यास समीक्षा पद्धति की स्थापना में, सहायक सिद्ध होगी। इस दिशा में एक प्राथमिक उद्योग के रूप में ही प्रस्तुत प्रबंध रूपायित किया जा रहा है।

साहित्य वस्तुतः विविध विधाओं में विभक्त किए जाने योग्य कोई स्थूल अथवा भौतिकपदार्थ नहीं है। वह तो सत् चित् आनन्द से युक्त एक ऐसी सजीवनी अन्तर्चेतना है जो मूलतः मानस अर्थात मन में उद्भूत है। इस अमूर्त एवं अव्यक्त शक्ति स्रोत का जो विकास हम अपने साहित्य जगत में दृष्टिगत होता है वही उसका वाणीकृत स्वरूप है। यह साहित्य-तत्व अखिल विश्व के लीला विलास के समान विविध छन्द लय नाद और छवि द्वारा विविध रूप और चित्र विचित्र है। एक प्रकार से हम उसे, एक ऐसे अठपहलू कटे हुए शीशे से उपमित कर सकते हैं जो प्रकाश की आभाओं को अलग अलग रंगों में निरन्तर एवं प्रतिपल झलकाता रहता है। उन्हें ही हम साहित्य की विधाओं की विविध सजाएं दे देते हैं। किन्तु एकमूल होने के कारण इस भेदमत में भी उन सभी में एक समान एकात्मकता का आभासित होना स्वाभाविक ही है। किन्तु फिर भी हर रंग अपने में अलग भी है ही। इसी भाँति साहित्य की हर विधा का अपना अलग रंग है और इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि उपन्यास विधा को उसके निजी रंग अर्थात 'वर्णनात्मकता' के कारण ही उन सब के बीच में भी अलग हो पहचाना जा सकता है।

काव्य का उद्भव, हृदय के, सहसा भावोद्वेलित होने का मूतरूप है। दृश्य काव्य अथवा नाटक, मानव की स्मरण में आकुल, अभिव्यंजना वासना का हो, नाट्य अभिनय अनुकृतिकृत दृश्यमान उद्रूप है। किन्तु उपन्यास, मानव की जन्मजात, और सभ्यता-संस्कृति के विकासक्रम में, सबसे प्राचीन और सबसे प्रथम, अदम्य 'कथा कहने सुनने की वर्णना आकुलता' है। संक्षेप में, यदि उपन्यास, वर्णन नहीं है, तो कुछ नहीं है, अर्थात वह उपन्यास नहीं है, चाहे फिर वह, जो भी कुछ होवे, और कुछ ही है।

आज के उपन्यास साहित्य-सृजन में, चरम सीमा की उत्पादनशीलता देख कर, बहुधा, विज्ञ आलोचक वर्ग, उससे दूर भागना चाहते हैं—कुछ-कुछ ऐसी भावना के साथ, मानो वे, किसी महानगर की भीड़भाड़ में पहुँच गए हों और वहाँ के वातावरण से क्षुब्ध हो उठे हों। सन्त की भाँति आज भी साहित्य जगत में, कतिपय ऐसे गम्भीर विद्वान भी मिल जाएँगे जिनकी आज भी उपन्यास की साहित्य-कोटि' में धुंधली सी आस्था रही है। एक अन्य आलोचकों का वर्ग भी है, जो अपनी समीक्षात्मक प्रतिभा के, उपन्यास के क्षेत्र में, क्रियाशील होने को, उसका 'सदुपयोग' नहीं समझता, चाहे पंडित-जन-सुलभ विलम्बना के कारण, वे इस बात को स्पष्टतया उद्घाटित करके, कहते नहीं। एक तीसरा वर्ग है जो साहित्य शिक्षण के क्षेत्र में पाया जाता है। उन्हें विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों में निर्धारित, उपन्यास-साहित्य शिक्षण से व्यावहारिक काम पड़ता है। प्रकट है कि यह काम, परिसीमित है क्योंकि पाठ्य उपन्यास-ग्रन्थ, उत्तमोत्तम ही होते हैं और उनकी आलोचना-पद्धति अब तक प्रायः परम्परा प्राप्त हो चुकी है।

केवल कठिनाई है उस समीक्षक जिज्ञासु की, जिसके समक्ष, उपन्यास का हर अभिनव प्रयोग, एक प्रश्न चिह्न के समान, आ खड़ा होता है और वह दो टूक, साफ सुथरी समीक्षा के आधार पर, अपने मूल्यांकन की माँग करता है। हमारे साहित्यिक इतिहास में आज, उपन्यास विधा, जिस विकास क्रम पर पहुँच चुकी है, उसको देखते हुए, अब इस माँग का और अधिक टाला नहीं जा सकता।

यदि पाश्चात्य शैली पर निर्मित उपन्यास-समीक्षा को, हम अपनी भारतीय भाषाओं के उपन्यास साहित्य पर प्रयोग करने का आयास भी करें तो कम से कम, उसके मूलाधार की रचना पर तो, एक बार विचार कर ही लेना होगा। कुछ ऐसे उपन्यास हैं जिनमें कथावस्तु प्रायः नहीं के बराबर पायी जाती है, जैसे वर्जीनिया वूल्फ के उपन्यास मिसेज डलाव' को ही ले लें। और उससे भी आधुनिक रचना, श्री मोहन राकेश कृत 'अँधेरे बंद कमरे' जैसी औपन्यासिक कृतियों पर ही दृष्टिक्षेप करें। किन्तु उनकी औपन्यासिकता को भला कैसे झुठलाया जा सकता है? यही कहना होता है कि वे अपने ढंग के नये प्रयोगात्मक उपन्यास हैं, जिनमें जानबूझ कर कथावस्तु की अवहेलना की गई है। किन्तु हम जानते हैं कि यह आरोप, सही नहीं है क्योंकि उनमें

भी वर्णन प्रवाह अबाध है और वही पाठक को कथा भाग के विरल होने पर भी रमावित करता है।

ऐसे उपन्यास भी हैं जिनमें, पात्र अथवा चरित्र चित्रण जैसा अंश प्राय नगण्य ही रहता है। नोबल पुरस्कार विजेता उपन्यास 'ओल्ड मैन एण्ड दी सी' में केवल मुख्य दो पात्र ही हैं, और वे दोनों भी, मछुआरों की दुनिया में खो जाने पर, ढूंढे नहीं मिल सकते। वे मछुआरों की समस्त जाति के प्रतीक मात्र हैं जैसे 'गोदान' का होरी भारतीय किसान का एक प्रतीक मात्र है और गुडअर्थ का नायक वाङ लङ चीनी कृषक वर्ग का। हैमिंग्वे को नोबेल-पुरस्कार मिला उद्दाम महासागर (भवसागर ?) की तरंगों से जूझने के अटूट संकल्प-वाली [नहीं तरी और काठके पतवारों को लेकर] मानव की शाश्वत चुनौती की, प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के कारण। यह उदात्त आध्यात्म भावना ही उपन्यास की गरिमा है। और उपन्यास की असाधारण लोकप्रियता उसकी निजी एवं विशिष्ट वर्णनात्मकता के कारण ही है।

जब फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास 'मैला आंचल' और आगे चल कर 'परती परिकथा' प्रकाशित हुए तो उन्हें आंचलिक कह कर उनकी आंचलिकता के आधार पर उनको जांचने का प्रयत्न किया गया। किन्तु इससे इन उपन्यासों का औपन्यासिक गरिमा के साथ न्याय नहीं हो पाया। इन उपन्यासों में ओल्ड मैन एण्ड द सी जैसी उद्देश्यगत उदात्तता तो नहीं पाई जाती और न एक समुदाय अथवा जाति के प्रतीकात्मक पात्रों का ही निरूपण पाया जाता है और कथावस्तु उनमें खोजेंगे तो समीक्षक को ही अपनी हार स्वीकार करनी होगी। कोई किंवदन्ती —कोई लोककथा—और इसी भांति विकीर्ण कोई भी कथातत्व ये ही उपन्यासकार के कथा कथन के लिए पर्याप्त हैं। फिर भी इन दोनों उपन्यासों का हिन्दी उपन्यास साहित्य में अपना एक निजी स्थान है और सम्भवतया भविष्य में भी वह बना ही रहेगा। उनकी सामयिकता तो विलीन हो जायगी किन्तु उनकी पृष्ठभूमि अमिट रहेगी। इन उपन्यासों में यदि कोई पात्र है तो वह अखिल प्रकृति ही है। उसका भला कोई क्या लेकर चरित्र चित्रण करेगा ? उसका तो केवल चित्रण मात्र ही किया जा सकता है। वही किया गया है, और वही उपन्यास की अनुपम वर्णनात्मकता है। न कहानी कहने वाला रुकता है न कहानी सुनने वाले उसे टोकते हैं। ऐसे उपन्यासों की परम्परागत समीक्षा कितनी दुष्कर है ? और परम्परागत समीक्षा सरणी द्वारा तो वह सम्भव हो ही नहीं सकती।

श्री किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों पर यदि एक सरसरी नज़र डालें तो लगता है लेखक ने हमें उपन्यास के बहाने किसी नाटक गृह में ला खड़ा किया है। उनमें कथोपकथन की कुछ विशेषताएँ पायी जाती हैं। तो क्या हम उन्हें नाटक कोटि में गिनेंगे ? कुछ ऐसे भी उपन्यास हैं जिनमें बातचीत प्राय होती ही नहीं। अनातोले फ्रांस के विश्वविख्यात उपन्यास भी कुछ ऐसी ही शैली के हैं। लेखक, कथा का वर्ण

नात्मक ऊबड़, बहाता चलता है। विमल मित्र का महा उपन्यास 'साहब बीवी गुलाम' भी अपने कथोपकथनों में प्राय, वर्णनात्मकता में ही चलता रहता है।

जब तनिक 'देशकाल' और 'शैली' की ओर उन्मुख होवें जिन्हें, उपन्यास में, वर्णन विशिष्टता दिखाने के लिए, आलोचकों ने, एक 'माध्यम' मात्र माना है। कुछ भिन्न आलोचक मानते हैं कि 'वर्णन' देशकाल नामक समीक्षा-पक्ष की ही एक विशिष्टता है और कुछ 'वर्णन' को 'शैली' की ही एक विशिष्टता मानते हैं। वस्तुतः सत्य यह है कि वर्णन इन दोनों तक ही सीमित नहीं, और न ये दोनों 'वर्णन' तक ही।

उपन्यास में 'देशकाल' भी बहुत बार एक विरल तत्व ही रहता है। उदाहरणार्थ 'उदैभान चरित' (रानी केतकी की कहानी') का किस देशकाल की कथा माना जाय? यही बात, बाण की 'कादम्बरी' के लिए भी कही जा सकती है अथवा स्व० श्री वृन्दावनलाल वर्मा कृत 'सोना' प्रायः देशकाल रहित उपन्यास ही है। इसी प्रकार 'चन्द्रकान्ता सन्तति' भी, सभी देशकालों की कथा है। यदि उसमें कोई देशकाल है भी तो वह भी अति अविश्वसनीय ही है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि कुछ उपन्यासकार जब जानबूझकर समीक्षक के देशकाल के उत्साह के साथ, व्यंग्य करते हों, तब समस्या और भी कठिन हो जाती है, जैसे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'चारु चन्द्रलेख'। इस उपन्यास की गरिमा, विशुद्ध वर्णनात्मकता पर ही टिकी है, उसमें चित्रित व्यापक 'देशकाल' पर नहीं।

उपन्यासों में, शैली निर्धारण का कार्य भी प्रायः असम्भव सा ही है। और यदि उपन्यास विधा की कोई शैली है तो वह है लेखक की, निजी वर्णन प्रणाली। उसे शैली कहने से उसकी सारी खूबी ही, खत्म हो जाती है। और 'उद्देश्य', तो उपन्यास विधा की प्रकृति से, किसी भी भाँति मेल नहीं खाता। कहानी का सुनने वाला और कहने वाला दोनों ही, निरुद्देश्य होकर कथा को कहते सुनते हैं और मनोरंजन ही प्रधानतया उन दोनों का अभीष्ट है। उद्देश्य प्रधान उपन्यास रचने का विशेष आग्रह प्रायः, उसकी कलात्मक रमणीयता के उन्मुक्त विकास के लिये बाधक ही सिद्ध होता है।

इस समस्त विचार और वितर्क के पश्चात् हम केवल एकमात्र परिणाम पर ही जा पहुँचते हैं कि सभी रसरूपात्मक उपन्यासों में केवल एक 'समान गुण धर्म' सतत विद्यमान रहता है और केवल उसी को मूलाधार बनाकर किसी भी अभिनव उपन्यास समीक्षा का तर्कसिद्ध निरूपण सम्भाव्य है। कहना न होगा कि वह अखिल उपन्यास व्यापी एकमात्र एवं अनिवार्य समान गुण धर्म वर्णनात्मकता ही है। यह समान-गुणधर्म रूपा वर्णनात्मकता ही, वस्तुतः उपन्यास को अन्य साहित्य रूपों से पृथक एवं स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान करने वाली उसकी निजी एवं मौलिक विशिष्टता भी है।

जब हम उपन्यास विधा पर, अन्य प्रमुख एवं मान्यता प्राप्त साहित्य विधाओं

भी वर्णन प्रवाह अबाध है और वही पाठकों को कथा भाग के विरल होने पर भी प्रभावित करता है।

ऐसे उपन्यास भी हैं जिनमें, पात्र अथवा चरित्र चित्रण जैसा अंश प्रायः नगण्य ही रहता है। नोबल पुरस्कार विजेता उपन्यास 'ओल्ड मैन एण्ड दी सी' में केवल मुख्य दो पात्र ही हैं और वे दोनों भी मछुआरों की दुनिया में खो जाने पर ढूँढे नहीं मिल सकते। वे मछुआरों की समस्त जाति के प्रतीक मात्र हैं जैसे 'गोदान' का होरी भारतीय किसान का एवं प्रतीक मात्र है और मुक्तकथ का नायक वाम लट चीनी कृषक वर्ग का। हैमिंग्सवे को नोबल-पुरस्कार मिला उद्दाम महासागर (भवसागर?) की तरंगों से जूझने के अटूट संकल्प-वाली, [नन्ही तरी और काठके पतवारों को लेकर] मानव की शाश्वत चुनौती की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के कारण। यह उदात्त आध्यात्म भावना ही उपन्यास की गरिमा है। और उपन्यास की असाधारण लोकप्रियता उसकी निजी एवं विशिष्ट वर्णनात्मकता के कारण ही है।

जब फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास पहले मैला आंचल और आगे चलकर परती परिकथा प्रकाशित हुए तो उन्हें आंचलिक कहकर उनकी आंचलिकता के आधार पर उनको जाँचने का प्रयत्न किया गया। किन्तु इससे इन उपन्यासों की औपन्यासिक गरिमा के साथ न्याय नहीं हो पाया। इन उपन्यासों में ओल्ड मैन एण्ड द सी जैसी उद्देश्यगत उदात्तता तो नहीं पाई जाती और न एक समुदाय अथवा जाति के प्रतीकात्मक पात्रों का ही निरूपण पाया जाता है और कथावस्तु उनमें खोजेंगे तो समीक्षक को ही अपनी हार स्वीकार करनी होगी। कोई किंवदन्ती —कोई लोककथा—और इसी भाँति विकीर्ण कोई भी कथातत्व, ये ही उपन्यासकार के कथा कथन के लिए पर्याप्त है। फिर भी इन दोनों उपन्यासों का, हिन्दी उपन्यास साहित्य में अपना एक निजी स्थान है और सम्भवतया भविष्य में भी वह बना हो रहेगा। उनकी सामयिकता तो विलीन हो जायगी किन्तु उनकी पृष्ठभूमि अमिट रहेगी। इन उपन्यासों में यदि कोई पात्र है तो वह अखिल प्रकृति ही है। उसका भला कोई क्या खाकर चरित्र चित्रण करेगा? उसका तो केवल चित्रण मात्र ही किया जा सकता है। वहाँ किया गया है और वही उपन्यास की अनुपम वर्णनात्मकता है। न कहानी कहने वाला रुकता है न कहानी सुनने वाले उसे टोकते हैं। ऐसे उपन्यासों की परम्परागत समीक्षा कितनी दुष्कर है? और परम्परागत समीक्षा सरणी द्वारा तो वह सम्भव हो ही नहीं सकती।

श्री किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों पर यदि एक सरसरी नजर डालें तो लगता है लेखक ने हमें उपन्यास के बहाने किसी नाटक गृह में ला खड़ा किया है। उनमें, कथोपकथन की कुछ विशेषताएँ पायी जाती हैं। तो क्या हम उन्हें नाटक कोटि में गिनेंगे? कुछ ऐसे भी उपन्यास हैं जिनमें बातचीत प्रायः होती ही नहीं। अनातोले फ्रांस के विश्वविख्यात उपन्यास भी कुछ ऐसी ही शैली के हैं। लेखक, कथा का वर्ण

नात्मक अखंड, कहाता करता है। विमल मित्र का महा उपन्यास 'साहब बीबी गुलाम' भी अपने कथोपकथनों में प्रायः संकेतों में ही चलता रहता है।

अब तनिक 'देशकाल' और शैली की ओर उन्मुख होवें जिन्हें, उपन्यास में, वर्णन विशिष्टता दिखाने के लिए, आलोचकों ने, एक माध्यम मात्र माना है। कुछ किन आलोचक मानते हैं कि 'वर्णन' देशकाल नामक समीक्षा-पक्ष की ही एक विशिष्टता है और कुछ 'वर्णन' को 'शैली' की ही एक विशिष्टता मानते हैं। वस्तुतः सत्य यह है कि वर्णन इन दोनों तक ही सीमित नहीं, और न ये दोनों 'वर्णन' तक ही।

उपन्यास में देशकाल' भी बहुत बार एक विरल तत्व ही रहता है। उदाहरणार्थ 'वर्धमान चरित' ('रानी केतकी की कहानी') का किस देशकाल की कथा माना जाय? यही बात, बाण की 'कादम्बरी' के लिए भी कही जा सकती है अथवा स्व० श्री वृन्दावनलाल वर्मा कृत 'सोना' प्रायः देशकाल रहित उपन्यास ही है। इसी प्रकार चन्द्रकान्ता सन्तति' भी, सभी देशकालों की कथा है। यदि उसमें कोई देशकाल है भी तो वह भी अति अविश्वसनीय ही है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि कुछ उपन्यासकार जब जानबूझ कर समीक्षक के देशकाल के उत्साह के साथ, व्यंग्य करते हों, तब समस्या और भी कठिन हो जाती है जैसे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'चारु चन्द्रलेख'। इस उपन्यास की गरिमा विशुद्ध वर्णनात्मकता पर ही टिकी है, उसमें चित्रित 'व्यापक देशकाल' पर नहीं।

उपन्यासों में, शैली निर्धारण का कार्य भी प्रायः असम्भव सा ही है। और यदि उपन्यास विधा की कोई शैली है तो वह है लेखक की, निजी वर्णन प्रणाली। उसको काम करने से उसकी सारी पूँजी ही, खत्म हो जाती है। और 'उद्देश्य', तो उपन्यास विधा की प्रकृति से, किसी भी भाँति मेल नहीं खाता। कहानी का सुनने वाला और कहने वाला दोनों ही निरुद्देश्य होकर कथा को कहते सुनते हैं और मनोरंजन ही प्रधानतया उन दोनों का अभीष्ट है। उद्देश्य प्रधान उपन्यास रचने का विशेष आग्रह, प्रायः, उसकी कलात्मक रमणीयता के उन्मुक्त विकास के लिये बाधक ही सिद्ध होता है।

इस समस्त विचार और वितर्क के पश्चात् हम केवल एकमात्र परिणाम पर ही जा पहुँचते हैं कि सभी रंगरूपों के उपन्यासों में, केवल एक 'समान गुण धर्म' सतत विद्यमान रहता है और केवल उसी को मूलाधार बना कर, किसी भी अभिनव उपन्यास समीक्षा का तर्कसिद्ध निरूपण सम्भाव्य है। कहना न होगा कि वह अखिल उपन्यास व्यापी एकमात्र एवं अनिवार्य समान गुण धर्म वर्णनात्मकता ही है। यह समान-गुणधर्म रूपी वर्णनात्मकता ही वस्तुतः उपन्यास को, अन्य साहित्य रूपों से पृथक एवं स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान करने वाली उसकी निजी एवं मौलिक विशिष्टता भी है।

जब हम उपन्यास विधा पर अन्य प्रमुख एवं मान्यता प्राप्त साहित्य विधाओं

के साथ तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हैं तो उनके बीच का विभेद हम, एक मात्र वर्णनात्मकता के समावेश की मात्रा एवं महत्ता की दृष्टि से ही पहचान में आता है। यद्यपि प्रत्येक कला के साधक का अभीष्ट समानरूप से अपनी कृति में, लालित्य योजना की अनुभूति उत्पन्न करना एवं उसे प्रेषणीयता प्रदान करना है जिसके लिए न्यूनाधिक अंशों में वर्णनात्मकता की भी अपेक्षा रहती है फिर भी महाकाव्य एवं नाटक आदि साहित्य विधाओं में अभिव्यंजना का यह अभिप्राय, अन्य माध्यमों के द्वारा भी समान्य है। इसके विपरीत उपन्यास विधा की समग्र अभिव्यंजना शक्ति का मूलाधार, उसकी निजी वर्णनात्मक विशिष्टता ही है। इसी तथ्य पर एक दूसरी दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है।

अखिल वाङमय का हम बहुत पुरातन काल से ही 'श्रव्य काव्य' एवं 'दृश्य काव्य' इन दो मुख्य विभेदों में बाँटते चले आए हैं। वस मोटे तौर पर एवं परंपरा के अनुसार हम उपन्यास विधा की गणना भी 'श्रव्य-काव्य' के अन्तर्गत ही करते आए हैं (जैसा कि श्री श्यामसुन्दरदास ने भी अपने 'साहित्यालोचन' ग्रन्थ में बहुत पहले ही किया था) फिर भी यदि हम महाकाव्य (अर्थात पद्यमहाकाव्य) और उपन्यास (अर्थात गद्यमहाकाव्य) के बीच, कोई सीधा-सादा विभेद कर सकते हैं तो वह यही है कि, जबकि पद्य महाकाव्य सन्तों की भाँति अपने श्रव्यकाव्यत्व की 'श्रव्य' विशिष्टता को आज भी अपनाए हुए है उपन्यास स्पष्टतय —आधुनिक युग में श्रव्य न होकर मुख्यत एक 'पाठ्य' साहित्य रूप है। इसलिये उसे अपनी समस्त अभिव्यक्ति सामर्थ्य के लिए अपनी निजी एवं एकमात्र विशिष्टता अर्थात वर्णनात्मकता पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

पद्यमहाकाव्य को अपनी छन्दोबद्धता गयता (प्राय रीतिबद्ध) आलंकारिकता, परम्परागत दार्शनिकता एवं आदर्श गरिमा आदि गुणों पर ही अपनी प्रभावोत्पादकता एवं चरम सिद्धि के लिए निर्भर रहना पड़ता है। उपन्यास विधा अर्थात् गद्यमहाकाव्य को मूलत पाठ्य काव्य होने के नाते अपनी समस्त अभिव्यंजना शक्ति के लिए वर्णनात्मक क्षमता तथा वर्णन विवेक प्रतिभा पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

इसी भाँति हम उपन्यास विधा ('पाठ्यकाव्य') तथा नाटक ('दृश्य-काव्य') के बीच भी, इन दोनों साहित्य रूपों की मौलिक प्रकृति एवं निजी विशिष्टताओं में कारण और भी स्पष्ट अन्तर, देख सकते हैं। दृश्यकाव्य' की मुख्य विशिष्टता है उसकी दृश्यमानता अथवा चाक्षुष अनुभूति। इसमें सर्वप्रथम नाटक को अपनी आँखों से स्वयं देखना है और तत्पश्चात मन चिन्तन उसका अनुवर्ती बनता है। इसके विपरीत पाठ्यकाव्य अथवा उपन्यास में उपन्यासकार अपनी वर्णनात्मक शक्ति के बल पर ही पाठक के मानस चिन्तन और अन्तर्चक्षु प्रतिमा को सतत क्रियाशील बनाए रखता है और इस भाँति वह मानस रूप विधान की प्रक्रिया को उपन्यासगत वर्णन विवरणों की सूक्ष्मता के माध्यम द्वारा एक समाधानकारी एवं सुनियोजित निर्देशन प्रदान करने

में समर्थ होता है। इस भांति 'दृश्यकाव्य' अथवा नाटक में, जहां 'सहृदयों' अथवा 'दर्शकों' की आनंदानुभूति का मुख्य आधार, चाक्षुष-अनुभव तथा (कुछ अर्थों में) 'कथोपकथन', संगीत आदि नाद-तत्त्व संबंधी, नाट्य उपकरणों की सहायता द्वारा बना रहता है—पाठ्यकाव्य अथवा उपन्यास में उपन्यासकार को, अपनी वर्णनात्मक शक्ति द्वारा ही एक ऐसी अभिव्यंजना प्रक्रिया पर निर्भर रहना पड़ता है जिसमें कि वह (रंगमंच गत समग्र चाक्षुषवत् अनुभूति के स्थान में) वर्णन की सूक्ष्मता, विवरणात्मकता तथा कल्पनाविभूति के बल पर ही, अपनी चरम अभिव्यंजना सिद्धि की ओर अग्रसर होता है।

अब रही उपन्यास विधा तथा अन्य ललितकलाओं के बीच, अभिव्यंजना क्षमता संबंधी मूलभूत मानसिक प्रक्रिया के वैभिन्य की बात। अभिनयकला में अभिव्यंजना का मुख्य माध्यम कलाकार का [आहार्य एवं सात्त्विक अभिनय-संबंधी सम्पूर्ण एवं दोषरहित] कलात्मक कौशल ही बनता है किन्तु उपन्यासकार तो अभिनयकला की, यह सूक्ष्म नियोजना, अपनी वर्णनशक्ति द्वारा, सदैव ही पाठक के मानस चक्षुओं के समक्ष, प्रस्तुत करता रहता है। उपन्यासकार को इस कार्य में, अभिनयकला के माध्यमों की तुलना में, अपनी अभिव्यंजना प्रतिभा की अभिव्यक्ति के लिए असीम अवसर प्राप्त रहता है। उसे अपनी वर्णित दृश्यावलियों के प्रदर्शन के लिए, रंगमंच अथवा रंगभूमि की सीमित सीमाओं में बँध कर, कार्य नहीं करना पड़ता, वरन् उसकी 'रंगभूमि' तो प्रकृति का महान् एवं उन्मुक्त उदार अंचल बनती है। यही नहीं जब उसकी वर्णनात्मक आकुलता, उसमें भी सन्तुष्ट नहीं हो पाती तो फिर वह, मानस कल्पनालोक में अपनी कल्पनाशीलता से निर्मित 'रसविश्व' में विहरणशील हो जाता है, यथा पूर्वोक्त 'शुई-हू-चुआन' नामक चीनी उपन्यास में लेखक ने अंतरिक्ष की देवी द्वारा कथानायक को दिव्य पुस्तकों के उपहार देने वाला प्रसंग लाकर अपने पाठकों को रसविभोर किया है तथा 'कायाकल्प' में श्री 'प्रेमचंद' ने कतिपय अतिमानवीय घटनाओं की परंपरा के माध्यम द्वारा अपने दार्शनिक अभिप्राय को स्पष्टता प्रदान की है। इसी भांति श्री विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय ने अपने उपन्यास 'देवयान' में भौतिक एवं दिव्य रूपों में विहरित मानव आत्मा को उन्मुक्त पंख प्रदान किए हैं।

जो बात उपन्यास विधा एवं अभिनयकला के बीच, अभिव्यंजना-अन्तर के संबंध में बनी रहती है, वही संगीत एवं नृत्यकला एवं उपन्यास विधा के बीच अभिव्यंजना प्रणाली के संबंध में भी सत्य है। इसी भांति उपन्यास विधा एवं अन्य सभी ललित-कलाओं के बीच का अभिव्यंजना माध्यम भेद, इसी सरणी पर विस्तारपूर्वक समझाया जा सकता है। यथा उपन्यास विधा तथा चित्रकला के बीच के अभिव्यंजना भेद को ही ले लें। चित्रकार की कलात्मक सीमाएँ अपने चित्रफलक की सीमाओं द्वारा आबद्ध रहती हैं किन्तु उपन्यासकार अपनी वर्णनात्मक प्रतिभा के साहाय्य से, न केवल अनंत दृश्यपटियों की सर्जना ही करता रहता है वरन् वह, उन दृश्यावलियों को एक गतिशीलता एवं सजीवता की जीवन्त प्रवहमानता भी प्रदान करता रहता है।

साहित्य में वर्णनात्मकतापरक कला साधना को भी आध्यात्मिक धर्म साधना का ही एक पक्ष मात्र माना जाता रहा है।[1]

भारतीय साहित्य में कला मूलक वर्णनात्मकता की मौलिक प्रवृत्ति एवं उसके आध्यात्मिक तथा मनोगत स्वरूप की प्रतिष्ठा धार्मिक एवं दार्शनिक दोनों परम्पराओं में ही बद्धमूल रही है। पौराणिक गाथाओं के निश्चित समय का निर्धारण तो दुष्कर है किन्तु लगभग दो सहस्र वर्षों से उनका प्रचलन, हमारे देश में पाया जाता है। पुराणों के वर्तमान सकलनों की रचना तिथि भी लगभग डेढ़ सहस्र वर्ष से पूर्व की अनुमित की जाती है। पौराणिक गाथाओं में देवी अथवा शक्ति-सम्बन्धी कथाएं सर्वत्र ही पायी जाती हैं जिनमें कि आद्याशक्ति के विविध रूपों में वाणी रूप की स्तुति गाथाएं भी निहित हैं।

सृष्टि के प्रारम्भ की विभिन्न प्राचीनतर लोक-कथाओं में एक सुप्रसिद्ध अनुश्रुति इस भाँति है—जब देवी सरस्वती ने अपने करों में वीणा-सन्धान किया तब उसी के तारसप्तक से सप्तसिन्धु में सप्तस्वरों का उद्भव हुआ। वस्तुतः यह अनुश्रुति मानव द्वारा वाणी के साधना-उत्सव की पुण्यस्मृति मात्र है। वाणी के सारस्वत स्वरूप की अनेकानेक प्रस्तर एवं कास्य प्रतिमाएं हमारे प्राचीन देवालयों में अभी भी मिलती हैं।

देवी के सारस्वत रूप की सबसे अधिक साहित्यिक एवं प्रतिभा सम्पन्न काव्य छवि 'श्रीमद्शंकराचार्य कृत सौन्दर्य-लहरी' में पाई जाती है। यह ग्रन्थ बहुधा तान्त्रिक क्षेत्रों का गौरव ग्रन्थ माना जाता रहा है किन्तु उसमें निहित, साहित्यिक काव्यगत एवं कला अन्वेषक पक्ष की ओर विद्वानों का ध्यान क्यों आकर्षित नहीं हो पाया ? यह विस्मय का विषय है। वस्तुतः हमारी सांस्कृतिक साहित्यिक निधि की अनेकानेक मौलिक उपलब्धियाँ धार्मिक एवं दार्शनिक साहित्य भण्डार में परिगणित की जाती रही हैं। इसी कारण समीक्षा शास्त्र के क्षेत्र से वे उत्तरोत्तर पृथक ही होती जाती हैं।

शंकर का जन्म आठवीं-नवीं शताब्दी में केरल राज्य के अन्तर्गत कालादि नामक ग्राम में हुआ था। ब्रह्म-सूत्र (अथवा वेदान्त शास्त्र) पर उनका 'शांकर भाष्य'

---

१ सभी भारतीय संगीतकार अद्यावधि ब्राह्म मुहूर्त में संगीत की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती की संगीत साधना द्वारा नित्य प्रति उपासना करते हैं। यह परम्परा भारतीय संगीतकारों के उन परिवारों में भी अद्यावधि प्रचलित है जो किसी समय इस्लाम धर्म में दीक्षा ले चुके थे। वे लोग आज भी स्नान करके एवं धुले हुए वस्त्र धारण करके ब्राह्म मुहूर्त में सरस्वती-वन्दना द्वारा अपनी संगीत साधना को नित्यप्रति धर्माचरण की भाँति चलाए रखते हैं। उसे वे रियाज कहते हैं।

नामक ग्रन्थ, अद्वैतवाद के मौलिक ग्रन्थो मे परम मान्य रहा है। 'सौन्दय लहरी' शकर के अपेक्षाकृत न्यून प्रसिद्ध ग्रन्थो मे से एक है, जिसका प्रचलन (नैमित्तिक पाठ के रूप मे) भारत के विभिन्न प्रदेशो म, तान्त्रिको मे पाया जाता है।[1] शकर ने अपने उक्त ग्रन्थ के आद्य श्लोको मे, देवी के 'सारस्वत स्वरूप' की इस भाति स्तुति की है—

'अविद्यानाम अन्त तिमिर मिहिर द्वीप नगरी।
जडाना चत य स्तवक मकरन्द श्रुतिझरी॥'[2]

[अविद्याओ के अधकार का अन्त करने के निमित्त तुम सूर्यद्वीप की नगरी (सूर्यलोक) के समान प्रभासित हो। जड बुद्धि वालो के लिए तुम, कानो मे मकरन्द रस झरते हुए स्तवक (गुलदस्ते) के समान हो।]

इस भाँति शकर ने वाग्देवी के, अविद्या अन्धकार के निवारक एव जड-बुद्धि जनो मे भी प्रज्ञा चतन्य के सचारक पक्षो का उल्लेख करने के पश्चात, वाग्देवी के उक्त चमत्कारी रूप को निम्न शब्दो म विवचना भी की है —

'कवीन्द्राणाम् चत, कमल वन बालातप रुचि।
भजन्ते ये सन्त कतिचित अरुणम् इव भगवतीम्॥
विरचिप्रेयस्या, तरुणतर शृगारलहरी—
गभीराभि वाग्भि, विदधति सताम रजनमयी॥'[3]

(हे सज्जनो का रजन करने वाली! विरचि की प्रिया! तुम्हारी तरुणतर शृगार-लहरी के कुछ किंचित अरुण रूप का ध्यान करने पर भी तुम, उन कवियो मे, इन्द्र के समान सुहृदीयो मे हृदय कमलो को, अपनी चेतना के करो से, इस भाति स्पदित करती हो जसे कि बाल-सूय की शोभा, कमल वन का विकास करती है।)

तत्पश्चात् श्रीमद्शकराचाय ने 'वशिनी' आदि विविध शक्ति रूपो की स्तुति करते हुए कहा है —

'सवित्रीभि वाचाम शशिमणिशिला भग रुचिभि।
वशिन्याद्याभि त्वाम सहजननि सचिंतयति॥

---

१ सौन्दय लहरी काव्य (श्री शकराचाय)—अग्रेजी भाषा म की गई विशद टीका —एवड आफ ब्यूटी (सौन्दय-लहरी) सपादक—प्रोफेसर नॉमन ब्राउन, पेन सिलवानिया विश्वविद्यालय मे सस्कृत के आचाय [हारवड यूनिवर्सिटी प्रेस केम्ब्रिज, मसाचुसेट्स, सयुक्त राज्य अमेरिका, पृष्ठ २५, प्रस्तावना भाग १९५८ ई०।]

२ 'सौन्दय लहरी' (श्रीमदशकराचाय) श्लोक ३ (श्री एन० आर० रगस्वामी अय्यगर सम्पादित) प्रकाशक आरियन्टल रिसच इन्स्टीट्यूट सीरीज, मसूर (१९५३ ई०)।

स कर्ता काव्यानाम्, भवति महतां भंगिसुभग ।
वचोभि वाग्देवी, वदन-कमला मोद मधुर ॥[1]

(हे जननी ! जो वाणी का आराधक, चन्द्रकान्त मणि की भंगिमा से सुशोभित, ध्यानरूपा सावित्री वशीकरणी वशिनी आदि सद् मातृ शक्तियों सहित तुम्हारा चिंतन करता है वह स्वयं वाग्देवी की आनन्द एवं माधुर्य से युक्त कमल मुख से निस्सरित, वचनों के माध्यम द्वारा, महाकाव्यों का कर्ता तथा महापुरुषों की शुभग भंगिमा को धारण करने वाला बन जाता है) ।

इस भांति वाग्देवी के दिव्य चमत्कारयुक्त स्वरूप की वन्दना करते हुए श्री शंकराचार्य ने 'सौन्दर्य लहरी' नामक देवी-स्तुति काव्य की रचना की है तथा उन्होंने वाग्देवी के प्रासादिक चमत्कार में दृढ़ आस्था प्रकट करते हुए अपने कवित्व के सामर्थ्य को, देवी के वात्सल्य पय का ही परिणाम माना है —

तवस्तन्यम् मन्ये धरणिधर कन्ये ! हृदयत ।
पय पारावार, परिवहति सारस्वत इव ॥
दयावत्यान्तम् द्रविटशिशुरास्वाद्य तव यत ।
कवीनाम प्रौढ़ानाम अजनि कमनीय कवयिता ॥[2]

सौन्दर्य-लहरी के उक्त उद्धरणों से प्रकट है कि देवी स्तोत्र विषयक उक्त महत्वपूर्ण तान्त्रिक एवं शाक्त नित्यपाठ ग्रन्थ में साहित्यशास्त्र तथा कलाशास्त्र के तर्क सिद्ध एवं वज्ञानिक उद्भव एवं विकास की सूक्ष्म विवेचनाएँ उपलब्ध होती हैं। रचनात्मक प्रतिभा एवं वर्णनात्मक प्रेरणा दोनों ही की यह अन्यों में मूल परिभाषा है ।

जिस प्रकार श्री शंकर ने देवी के सावित्री वशिनी आदि विविध सारस्वत स्वरूपों की सूक्ष्म काव्य कलायुक्त विवेचना की है उसी भांति ब्रह्माण्ड पुराण आदि प्राचीनतम भारतीय ग्रन्थों में दिव्य शक्ति के ललित रूप की वर्णना भी की गई है। ललिता उपाख्यान ललिता स्तवराज तथा ललिता सहस्रनाम में परब्रह्म की सर्वोत्कृष्ट सौन्दर्यानुभूति प्रेमानुभूति एवं आनन्दानुभूति की पराकाष्ठा की प्रतीक ललिता देवी की स्तुति इस प्रकार की गई है ।

चित्कला नन्दकलिका प्रेमरूप प्रियंकरी ।
कलानिधि काव्यकला रसज्ञा रस शेवधि ॥[3]

(उक्त श्लोक में ललिता देवी का चित्कला (शाश्वत कलाभिव्यंजना) 'आनन्द-कलिका (आनन्द स्रोत) काव्य कला रसना एवं कला निधि विशेषणों से स्मरण किया गया है अर्थात् ललितादेवी कलात्मक अभिव्यंजना की आनन्दमय, प्रियंकर, ललितरूप की आराध्य देवी के रूप में स्मृत हैं ।)

---

१ २ सौन्दर्य लहरी श्लोक १७ तथा श्लोक ६८, (मैसूर संस्करण) ।
३ ललिता सहस्रनाम ब्रह्माण्ड पुराण ।

एक अन्य स्थल पर ललिता देवी को लक्षित करते हुए यों स्तुति की गई है —

> 'क्रीडा ते लोकरचना, सखा ते चिन्मय शिव ।
> आहारस्ते सदानन्द वासस्ते हृदये सताम् ॥'

[लोक-लोकान्तर का सृजन, तुम्हारी क्रीडा (लीला) है। तुम्हारे चिरसखा, चैतन्य रूप शिव (लोक कल्याण के देवता) हैं। तुम्हारा आहार शाश्वत आनन्द है तथा तुम्हारा निवास सज्जनों के हृदयों में है।]'

श्री के० एस० रामस्वामी शास्त्री ने 'ललिता देवी' सम्बन्धी श्लोकों का सार अभिप्राय इस भाँति व्यक्त किया है 'ललिता देवी परब्रह्म की परमा शोभा, परमा प्रीति एवं परमानन्द अवस्था की संयुक्त प्रतीक हैं।'[१२]

वर्णनात्मक अभिव्यंजना के प्रतिमा एवं लालित्य-पक्ष को व्यंजित करने वाले, अनेकानेक पौराणिक आख्यान एवं कला प्रतीक, हमारे देश में, सहस्रावधि वर्षों से चले आ रहे हैं। यद्यपि वे आध्यात्म एवं धर्म में बद्धमूल रहे हैं तथापि उनसे, कलात्मक अभिव्यंजना के उक्त उभय तत्वों की परिभाषा एवं व्याख्या में मूल्यवान इंगित प्राप्त होते हैं।

श्रीकृष्ण की रास लीला, श्रीमद्भागवत एवं अखिल वैष्णव-साहित्य में, एक प्रिय पाठ्य एवं गेय छवि रहा है। वस्तुतः यह 'रासनृत्य अखिल कलात्मक अभिव्यंजना का समवेत समरस एवं भव्य दर्शन मात्र है'। विश्व भारती के कलागुरु, स्व० श्री नन्दलाल बसु ने, अपने एक कला विषयक निबन्ध में लिखा है कि हमारे पौराणिक लोक कथाओं के अनुसार आत्मा की अभिव्यंजनात्मक लीलाप्रवृत्ति के चौसठ प्रकार विभिन्न होते हुए भी (वे सभी) आत्मतत्त्व के चतुर्दिक परिक्रमित रहते हैं। इन्हीं के प्रतीक कलाधिकार श्रीकृष्ण एवं उनके चतुर्दिक रास नृत्य में विभोर, चौंसठ गोपिकाओं की प्रतीकात्मक लीला प्रचलित की गई है। यह विराट रास नृत्य, अखिल कलाओं के एक समान-केन्द्र के चारों ओर परिक्रमित है। आचार्य बसु के ही शब्दों में इस रहस्यात्मक तथ्य की व्याख्या पठनीय एवं मननीय है —

विविध कलात्मक अभिव्यंजनाओं को यदि हम, इस भाँति देखें तो वे सब, श्रीकृष्ण के रास-नृत्य में सम्प्रवर्तित हैं। उनके बीचोबीच स्वयं परब्रह्म अवस्थित हैं, जो सच्चिदानन्द के साक्षात अवतार हैं। उनके साथ ही साथ उनकी, 'स्व प्रकाशित पराप्रकृति' (ललिता अथवा राधा) हैं तथा उनके चारों ओर, विविध कलाएँ एवं

---

१२ ललिता देवी इज द सुप्रीम ब्यूटी कम लव कम ब्लिस आस्पेक्ट ऑफ दि एब्सोल्यूट।—श्री के० एस० रामस्वामी शास्त्री (दि इंडियन कॉंसेप्ट ऑफ दि ब्यूटीफुल) अध्याय १ पृष्ठ १ प्रकाशक—आवणकार यूनिवर्सिटी प्रेस सीरीज सं० ५ (१९४७ ई०)।

आनन्द-लीलाएँ, सदा सर्वदा, एक सम्पूर्ण लय एवं समरसता के रास नृत्य में, आनंदित हैं।[1]

वर्णनात्मक अभिव्यंजना का एक अन्य अतिप्रसिद्ध रूपक, शिव के 'ताण्डव नृत्य' का पौराणिक वर्णन है जो भारतीय साहित्य, नृत्यकला, चित्रकला, मूर्तिकला एवं स्थापत्य-कला आदि सभी कलात्मक विधाओं में, सहस्रावधि वर्षों से अभिव्यंजित होता रहा है। *शिव के ताण्डव-नृत्य के दो अविस्मरणीय पक्षों पर अवश्य दृष्टि रखनी चाहिए।* सुप्रसिद्ध प्राच्यविद् एवं कला-समीक्षक जर्मन विद्वान हीनरिख जिमर ने ताण्डव नृत्य की विशद व्याख्या इस भाँति प्रस्तुत की है—

'एक ओर वे (शिव), सम्पूर्ण शान्तरस की प्रतिमूर्ति हैं—आन्तरिक शान्ति की, आत्मा में अन्तर्लीन अनन्त आकार की रिक्तता में आत्मलीन, जिस स्थिति पर पहुँच कर सभी भेद भाव द्रवित होकर 'एकरस' हो जाते हैं तथा जहाँ सभी प्रकार के क्षोभ प्रशान्त एवं विश्रान्त हो जाते हैं।

दूसरी ओर वे (शिव) सम्पूर्ण क्रियाशीलता का प्रतिरूप बन जाते हैं प्राणों की चरम् शक्ति की साकार प्रतिमा उन्मत्तता के साक्षात विग्रह निरपेक्ष एवं लीला वलीन—शिव के ये द्वैत प्रकट रूप ताण्डव नृत्य में समाविष्ट हैं जो वस्तुतः एक, सर्वथा अद्वैत परम अस्तित्व चिरन्तन सत्य के ही दो पक्ष मात्र हैं।[2]

जिमर महोदय, *भारतीय कला-ध्यान के अन्तर में पैठने में कृतकार्य हुए हैं।* क्योंकि कलात्मक अभिव्यंजना के 'आनन्द' एवं लीला पक्षों पर ही समस्त संस्कार मयी कला सृष्टि का प्रसार होता है। शिव के विश्वनर्तन से अधिक यथातथ्य प्रतीकात्मक रूपक की कल्पना भी दुष्कर है। साहित्य में वर्णनात्मक अभिव्यंजना की मौलिक आनन्द भूमि एवं उसकी द्वितीय प्रक्रिया-लीलाभिमुखी प्रवृत्ति—ये दोनों ही अति संस्कारयुता कला सृष्टि में *सृजन प्रक्रिया की सम्पूर्ण परिभाषा के साथ मानो शिव के* ताण्डव नृत्य में साकार हो उठी है।

---

१ दि आर्ट स्यूड एज सच फ्राम इट्स 'रास नृत्य आफ श्रीकृष्ण'। एंड दि वेरी सेन्टर इज दि लार्ड—इनएफेबल जाय इनकार्नेट टुगेदर विद हिज सुप्रीम नेचर हिज सेल्फ रिवील्ड पराप्रकृति व्हाइल आल दि आर्ट में एम्ब्रेस्ड वाइ आल दि एक्स्टेसीज जाइन हैंड्स एण्ड जाइन देयर वाइसेज एण्ड फीट इन दि डांस राउण्ड एण्ड राउण्ड दम इन परफेक्ट ट्यून एण्ड हार्मनी। —आचार्य नन्दलाल वसु 'आन आर्ट' (डांस आफ श्रीकृष्ण पृष्ठ ६०) (कलाक्षेत्र अडयार मद्रास प्रथम संस्करण १९५६ ई०)

२ हीनरिख जिमर—मिथ्स एण्ड सिम्बल्स इन इण्डियन आर्ट एण्ड सिविलाइजेशन' (जोसफ कम्पबेल—सम्पादित) अध्याय ६—'दि कास्मिक डिलाइट आफ शिव' पृष्ठ १६७ (प्रथम प्रकाशन १९४६ ई०) वोलिंजेन सीरीज नं० ६ पेंथियन बुक्स, न्यूयार्क। १९५३ ई० के तृतीय संस्करण से)।

श्री आनन्द कुमारस्वामी के प्रख्यात कला समीक्षा ग्रन्थ 'दि डान्स आफ शिव' की भूमिका में, सुप्रसिद्ध यूरोपियन दार्शनिक श्री रोम्या रोला ने इसी शिव ताण्डव कला रूपक के सम्बन्ध में, इस भांति लिखा है—

'भारत की समस्त उदार आत्मा एक सिरे से दूसरे सिरे तक अपने जनसंकुल एवं सुव्यवस्थित भव्य महाप्रासाद के शिखर से मानो एक 'सार्वभौम समन्वय' की उद्घोषणा करती रही है। यहां कहीं भी अवज्ञा नहीं है। सर्वत्र समरसता का प्रसार है। जीवन की सभी शक्तियां, एक महावन के समान सघीभूत हैं। उसी की सहस्र उद बाहिन भुजाएँ ही मानो, नटराज द्वारा, सचालित हो रही हैं—जो स्वयं इस विश्व नृत्य के महत्तम कलाकार हैं। इस सतत-स्पन्दित जीवन उदधि में, सभी का अपना निजी स्थान है और अपना निजी कर्तव्य है। सभी एक दिव्य महानृत्य में भाग ले रहे हैं, जो सब मिल कर एक परम रमणीय समरसता का, साक्षात दर्शन कराने में समर्थ हैं।[1]

श्री आनन्द कुमारस्वामी ऐसे प्रथम भारतीय कला विवेचक हुए जिन्होंने कि भारतीय कला प्रतीकों के बारे में पाश्चात्य देशों का, इस भांति मूल्यवान निर्देशन किया। उन्होंने अपनी कला समीक्षा निबन्धों की चयनिका का नाम 'दि डान्स ऑफ शिव' (शिव-ताण्डव) साभिप्राय ही रखा है। उक्त ग्रन्थ में ही एक विशिष्ट निबन्ध के अन्तर्गत जो इसी शीर्षक से लिखा गया है श्री कुमारस्वामी ने कहा है —

'यह नृत्य वस्तुतः महादेव की पंचक्रियाओं का प्रतीक है अर्थात् सृष्टि, स्थिति संहार, तिरोभव तथा अनुग्रह। इनके पृथक-पृथक देवता, क्रमशः ब्रह्मा विष्णु रुद्र महेश्वर तथा सदाशिव हैं। अखिल विश्व की कर्मशीलता का केन्द्रीभूत प्रतीक ही यह महानृत्य है।[2]

शिव-ताण्डव के उपर्युक्त विश्व महानृत्य रूप के ही सम्बन्ध में, कडावुल मामुनिवार कृत, तमिल ग्रन्थ 'तिरुवतावरार पुराणम्' में इस भांति लिखा गया है—

'हमारे स्वामी नटराज हैं जो अग्निगर्भ शमीकाष्ठ के समान अपने ताप को अन्तर्लीन रखते हैं तथा जो जड़ जगम जगत में अपनी शक्ति का संचार करते हैं एवं उन सभी को, विश्व-नर्तन में प्रवृत्त रखते हैं।[3]

---

१ रोम्या रोला (प्रस्तावना) दि डान्स आफ शिव' (आनन्द कुमारस्वामी) पृष्ठ ८७ (एशिया पब्लिशिंग हाउस, बबई तृतीय संस्करण १९५८ ई०)।

२ 'दि डान्स रिप्रेजेंट्स हिज फाइव एक्टिविटीज—ब्रह्मा विष्णु रुद्र महेश्वर एण्ड सदाशिव। दि कास्मिक एक्टिविटी इज दि सेन्ट्रल मोटिफ ऑफ दि डान्स। —आनन्द कुमारस्वामी दि डान्स आफ शिव, पृष्ठ ८७

३ कडावुल मामुनिवार (तिरुवतावरार पुराणम्) श्लोक ७८ ('डान्स ऑफ शिव, पृष्ठ ८७ और १८४)

"उण्मयी विलासम्' नामक एक अन्य प्राचीन तमिल ग्रंथ में ताण्डव नृत्य के प्रतीकों की व्याख्या, इस प्रकार की गई है —

डमरू से सृष्टि का प्रारम्भ होता है। अभय मुद्रा से उसी की रक्षा का भाव व्यक्त किया गया है। करतल-गत अग्नि ज्वाला से संहारलीला अभिव्यंजित होती है। ऊर्ध्व उठे हुए चरण द्वारा आध्यात्मिक मुक्ति का निर्देश है जिसकी ओर चतुर्थ हस्त इंगित कर रहा है।[1]

भारतीय साहित्य शास्त्रियों ने भी लगभग दो सहस्र वर्षों के सुदीर्घ अन्तराल में, अपने साहित्यशास्त्रीय ग्रंथों में कथात्मक अभिप्रायों का सम्मान करने के लिए कितने ही लोकोत्तर पौराणिक प्रसंगों का समावेश किया है जिनमें (ई० पू० २००-३०० में होने वाले) प्रख्यात 'नाट्य शास्त्र' के प्रणेता भरत मुनि सर्वाग्रगण्य हैं। उन्होंने अपने ग्रंथ के प्रस्तावना भाग में लिखा है कि किस भाँति एक बार देवलोक में देवासुर-संग्राम नाटक खेला गया। उसके सूत्रधार स्वयं श्री ब्रह्माजी थे। देवी सरस्वती ने उसका नियोजन एवं निर्देशन किया था। ब्रह्माजी ने ही (पूर्वजन्म में) भरतमुनि को मृत्युलोक में जाकर नाट्य धर्म का प्रचार करने की प्रेरणा दी थी।

राजशेखर ने अपने प्रसिद्ध साहित्य शास्त्रीय ग्रंथ 'काव्यमीमांसा' (रचना काल ९२० ई०) के प्रारम्भ में ही भारतीय कथा के अभिप्रायों का [illegible] सुरक्षित करके रख लिया है। यह प्रणाली आधुनिक [illegible] प्रणाली से [illegible] भिन्न है जिसमें [illegible] अभिप्राय पर आ जाने [illegible] ही [illegible] समझा जाता है। [illegible] ही [illegible] है। [illegible] अनुचित है [illegible] है। और राजशेखर ने तो अपने ग्रंथ 'काव्यमीमांसा' का आ[illegible] [illegible] लिया है। [illegible] ग्रंथ का प्रारम्भ इस भाँति किया है—

अब मैं [illegible] कविता जिसका उपदेश स्वयं श्रीकण्ठ (शंकरजी) ने [illegible] शिष्यों को दिया था और भगवान स्वयम्भू (ब्रह्माजी) [illegible] उत्पन्न शिष्यों को [illegible] दिया था। [illegible] (सरस्वती पुत्र) [illegible] (अति गूढ़ [illegible]) [illegible] अपनी [illegible] द्वारा प्राप्त कर चुका था—[illegible]

---

१ [illegible] ३६ (डोल और [illegible] पृष्ठ ८८)

लोकों के निवासियों में, प्रचारित करो। काव्य-पुरुष ने इस दिव्य ज्ञान को १८ अधिकरणों में विभाजित करके, इस काव्य विद्या का उपदेश अपने दिव्य काव्य विद्या के स्नातकों को विस्तार सहित समझाया .... उन्हीं १८ अधिकरणों को मैं अपने इस काव्य मीमांसा अथवा कवि रहस्य' ग्रन्थ में सार रूप में प्रस्तुत कर रहा हूँ।"[1]

उक्त प्रस्तावना से भारतीय ज्ञान विज्ञान परम्परा की उसी विशिष्टता पर प्रकाश पड़ता है जिसमें सभी ज्ञान को 'दिव्य' माना जाता है। यह इस तथ्य का भी द्योतक है कि कला की रचनात्मक प्रतिभा की अभिव्यंजना भी, केवल उदात्त एवं निरपेक्ष उत्तमोत्तम कलासर्जना में ही की जानी चाहिए। राजशेखर ने काव्य के इसी महत्व की स्थापना के लिये ही उसे, स्वयं ब्रह्मा द्वारा प्रवर्तित बताया है तथा उसका दैवी इतिहास भी समझाया है। ६४ शिष्यों की संख्या ६४ कलाओं की प्रतीक है और काव्यपुरुष को ब्रह्मा (विधाता) का मानस-पुत्र कहा गया है अर्थात् काव्य का जन्म, मनोदेश में ही होता है।

राजशेखर का 'काव्य मीमांसा' ग्रन्थ इसी प्रकार की रूपक प्रतीक-पद्धति को अग्रसर करता हुआ चलता है। उदाहरण के लिये इस ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में काव्यपुरुषोत्पत्ति पर यदि दृष्टिक्षेप करें तो, काव्य सम्बन्धी यह रहस्यरूपक और भी रोचक जान पड़ेगा—

'एक बार देवगुरु बृहस्पति से कथा प्रसंग में उनके शिष्यों ने पूछा आपके गुरुजी सरस्वती-पुत्र, काव्य पुरुष कौन हैं ? तो बृहस्पति ने उनको बताया कि प्राचीन काल में देवी सरस्वती ने पुत्र की कामना से, हिमालय पर तपस्या की थी। ब्रह्माजी ने उनके तप से सन्तुष्ट होकर उन्हें पुत्रोत्पत्ति का वरदान दिया। देवी सरस्वती ने जब काव्य पुरुष को जन्म दिया तो जन्म लेते ही उसने, अपनी माता की वन्दना इस

---

१ 'अथातः काव्यं मीमांसिष्यामहे, यथोपदिदेश श्रीकण्ठः परमेष्ठिवैकुण्ठादिभ्यश्चतुःषष्टये शिष्येभ्यः। सोऽपि भगवान्स्वयम्भूरिच्छाजन्मभ्यः स्वान्तेवासिभ्यः। तेषु सारस्वतेयो वृन्दीयसामपि वन्द्यः काव्यपुरुष आसीत्। तं च सर्वसमयविदं, दिव्येन चक्षुषा भविष्यदर्थदर्शिनं भूर्भुवःस्वस्त्रितयवर्तिनीषु प्रजासु हितकाम्यया, प्रजापतिः काव्यविद्याप्रवर्तनार्थं प्रायुङ्क्त। सोऽष्टादशाधिकरणीं दिव्येभ्यः काव्यविद्यास्नातकेभ्यः सप्रपञ्चं प्रोवाच। .... इतीयं प्रयोक्तॄणां संक्षिप्य सर्वमर्थमल्पग्रन्थेन अष्टादशप्रकरणी प्रणीता। तस्या अयं प्रकरणाधिकरणसमुद्देशः।'
—'काव्य मीमांसा अथवा कविरहस्य' (राजशेखर) (सं० डा० गंगासागर राय) प्रथम अध्याय (शास्त्र संग्रह) पृष्ठ १–२ (चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी–१ प्रथम प्रकाशन १९६४ ई०)।

भाँति की—'सम्पूर्ण वाङमय विश्व, जिसके द्वारा अर्थरूप में परिणत हो जाता है वह मैं काव्य-पुरुष, हे माता ! तुम्हारा पदवन्दन करता हूँ । ।"[1]

आचार्य राजशेखर ने अपने ग्रन्थ की प्रस्तावना, इस भाँति रूपक प्रणाली द्वारा, प्रारम्भ की है। किन्तु वे यहीं तक सन्तुष्ट नहीं हुए। वह न केवल 'काव्यपुरुष' की उत्पत्ति का ही कथात्मक निरूपण करना था वरन् वे, यह भी चाहते थे कि वे अपने काव्य (साहित्य) के मूलभूत अभिप्राय का तात्विक अथवा कलात्मक पद्धति पर, पूर्णत आवेदित कर सकें। अतः काव्यपुरुष की दिव्योत्पत्ति की कथा को ही उन्होंने, अग्रसर करते हुए, रूपक रूप में ही काव्यपुरुष की प्रगति कहानी को पुनः इस भाँति वर्णित किया—

काव्यपुरुष को जन्म देने के पश्चात् देवी सरस्वती उस बालक को सघन वृक्ष के नीचे अवस्थित शिला-तल पर लिटा कर स्वयं आकाश गंगा में स्नान करने चली गई। इधर यज्ञादि के लिए समिधा सञ्चयन करते हुए महामुनि उशना या शुक्र उधर आ निकले। वे उस निरीह बालक को अपने आश्रम में लिवा ले गए।[2]

राजशेखर ने इस स्थल पर यों कहा है कि तभी से उशना को सज्जन लोग कवि कहने लगे। इसी से अन्य कविता करने वाले भी संसार में कवि कहे जाने लगे। कवि शब्द—कव (वर्णने) धातु से निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है काव्यकर्म अथवा काव्य रचना। काव्य के एकरूप होने से ही सरस्वती-पुत्र सारस्वतेय को, लक्षणा से काव्यपुरुष कहा जाता है। यह समस्त अध्याय ही कथारूपक से युक्त है—

सरस्वती-पुत्र काव्य पुरुष, क्रम क्रम से विभिन्न प्रदेशों में गए और अन्त में, विदर्भ देश में वत्सगुल्म नामक नगर पहुँचे। वहाँ काव्यपुरुष ने साहित्य (अर्थात उमा की पुत्री) साहित्य वधू के साथ गान्धर्व पद्धति से विवाह किया। वह उन्हें, तुषारगिरि (हिमालय) पर ले गई जहाँ उमा और सरस्वती दोनों सम्बन्धिनी (समधन) विद्यमान थीं। जब वर वधू (सारस्वत और्मेयी) ने उन दोनों को प्रणाम किया तो उन्होंने उन्हें अपने आशीर्वाद से कवि मानस का निवासी बना दिया। इस प्रकार

---

१ एवं गुरुभ्यो गिरः पुण्याः पुराणीः शृणुमः स्म। यः किल धिषणः शिष्येभ्यः कथाप्रसंगे पप्रच्छ, कीदृशः पुनरसौ सारस्वतेय काव्यपुरुषो वो गुरुः। इति। स तान् बृहस्पतिरूचे। पुरा पुत्रीयन्ती सरस्वती तुषारगिरौ तपस्यामास। प्रीतेन मनसा तां विरिंचि प्रावोच—पुत्रं ते सृजामि।' अथसा काव्यपुरुषं सुषुवे। सोऽभ्युत्थाय सपादोपग्रहं छन्दस्वती वाचमुच्चीरत—यदेतद्वाङमयं विश्वमर्थमूर्त्या विवर्तते। सोऽस्मि काव्यपुमानम्ब ! पादौ वन्दय तावकौ ॥—'काव्य मीमांसा' (राजशेखर) तृतीय अध्याय (काव्यपुरुषोत्पत्ति) पृ० १४-१५ (सम्पादक—डा० गंगासागर राय)

२ वही—तृतीय अध्याय, पृष्ठ १८

उन दोनों के लिए ही कविलोक रूपी नवीन स्वर्ग की सृष्टि हुई। इस स्वर्गलोक में कवि जन, मृत्युलोक में निवास के पश्चात अपने काव्यशरीर से निवास किया करते हैं।[1]

उक्त प्रकार की रूपक-कथाओं में, काव्य कला तथा सृजनात्मक प्रकृतियों के सम्बन्ध में, कितने ही गूढ़ तत्वों का निरूपण किया गया है—यथा काव्य, साहित्य, कविलोक (रसविश्व) आदि सभी विषयों की, कथारूप में, परिकल्पना की गई है।

काव्य की दैवी उत्पत्ति तथा काव्य-प्रतिभा की रहस्यमयी दिव्य प्रेरणा को प्राचीनतम यूरोपीय दार्शनिकों एवं विचारकों ने भी स्वीकार किया है तथा अनेक रस सिद्ध कवियों ने भी अपेक्षाकृत परवर्ती काल में भी दैवी प्रेरणा का प्रतिपादन किया है। प्रख्यात यूनानी विचारक प्लेटो ने 'फेड्रस' नामक अपने सम्वादात्मक निबन्ध में लिखा है (प्लेटो इआन को सम्बोधित करके कहता है जो उस काल का प्रसिद्ध काव्य गायक था) —

'जो शक्ति तुम्हें प्राप्त है वह 'कला' नहीं है, किन्तु जैसा कि मैंने अभी बताया है वह 'प्रेरणा' है। तुम्हें एक दैवी शक्ति परिचालित कर रही है ... इस भाँति म्यूज (कलाओं की अधिष्ठात्री देवी) सर्वप्रथम, व्यक्तियों को प्रेरित करती है और हम अनुप्रेरित व्यक्तियों से अन्य प्रेरणा प्राप्त जन क्रमशः प्रेरणा प्राप्त करते रहते हैं, सभी उत्कृष्ट कवि, चाहे वे महाकाव्य के प्रणेता हों अथवा मुक्तक रचयिता, अपने सुन्दर काव्य की रचना कला द्वारा नहीं करते, अपितु उस प्रेरणा द्वारा करते हैं, जो उन्हें प्रेरित और अभिभूत करती है। ... जैसा तुमने स्वयं होमर के बारे में बताया है वे मनुष्यों के कार्यों के सम्बन्ध में सुन्दर बातें, कला के नियमों द्वारा नहीं वर्णित करते वरन् वे वही बातें वर्णित करते हैं जिनके लिए म्यूज उन्हें प्रेरित करती है। ... कवि कला की सहायता से गान नहीं करता, अपितु दैवी प्रेरणा द्वारा। ईश्वर कवियों की चेतना को अपने वश में कर लेता है और उनका उपयोग अपने कार्य साधन के रूप में करता है। ... निम्न कोटि के कवि भी दैवी प्रेरणा के वशीभूत होकर अत्यन्त उत्कृष्ट काव्य रचना करते हैं ...।'[2]

---

१ 'तत्रास्ति मनोजन्मनो देवस्य क्रीडावासो विदर्भेषु वत्सगुल्मं नाम नगरम्। तत्र सारस्वतेयस्तामौमेयीं गान्धर्वेण विधिनोपयेमे। ततस्तद्वधूवरं विनिवृत्य तेषु प्रदेशेषु विहरमाणं तुषारगिरिमेवाजगाम यत्र गौरी सरस्वती च मिथः सम्वदिष्येते तस्थतुः। तौ च कृतनमस्कारौ दम्पती देवाभ्यामपि प्रभावमयेन वपुषा कविमानसनिवासिनौ चक्रतुः तयोश्च तं मर्त्यं कविभ्यः स्वर्गलोकमकल्पयतां यत्र काव्यमयेन शरीरेण, मर्त्यमधिवसन्तः, दिव्येन देहेन कवयः आकल्पं मोदन्ते।' —'काव्य मीमांसा' (राजशेखर) (सम्पादक डा० गंगासागर राय) तृतीय अध्याय पृष्ठ ७६

२ प्रख्यात यूनानी दार्शनिक एवं विचारक प्लेटो (४२७ ३४७ ईस्वी पूर्व) कृत—'डायलाग्स' (सम्वाद-रचना) के आयन स्थल से उद्धृत। प्लेटो का मूल नाम एरिस्टोक्लीज था। वह सुकरात का शिष्य एवं अरस्तू का गुरु था।

प्रख्यात यूनानी महाकवि होमर (८०० ईस्वी पूर्व) ने अपने महाकाव्यों (इलियड तथा 'ओडिसी') के मंगलाचरण में म्यूज (वाग्देवी) की स्तुति की है और उससे काव्य प्रणयन की शक्ति की याचना की है। एक अन्य यूनानी महाकवि हिसीयड ने अपने काव्य में यह स्पष्टतया विवेचित किया है कि 'म्यूज ने अनुग्रहपूर्वक काव्यरचना की शक्ति उसके मानस में भर दी थी। बाइबिल में आए हुए अनेकानेक पुरातन यहूदी सन्तों के प्रवचनों में इस आशय के उल्लेख स्थान स्थान पर आए हैं कि कवि केवल किसी पारलौकिक सत्ता अथवा प्रेरणा को ग्रहण करता है और तत्पश्चात उसे प्रकाशित करता है। आंग्ल महाकवि मिल्टन जो अपेक्षाकृत पर्याप्त परवर्तीकाल में हुए (जन्म सन १६०८ ई०—मृत्यु सन १६७४ ई०) भी दिव्य प्रेरणा के दृढ़विश्वासी थे। उन्होंने अपने महाकाव्य 'परेडाइज लास्ट' के मंगलाचरण में म्यूज (वाग्देवी) का आह्वान किया है तथा काव्य प्रेरणा को ऐसी निस्यन्दिनि के रूप में प्रकल्पित किया है जिसे देवदूत ईश्वर के राजसिंहासन से लाकर हर राष्ट्र के कतिपय भाग्यवान कवियों को प्रदान करते हैं। इस भाँति पाश्चात्य विचारकों, दार्शनिकों, आलोचकों एवं महाकवियों पर भी प्राच्य एवं भारतीय—काव्य एवं कला सम्बन्धी दिव्य प्रेरणा एवं दिव्य उत्पत्ति के सम्बन्ध में धारणाओं का समय समय पर प्रतिबिंब परिलक्षित होता है।

उपर्युक्त भारतीय कला एवं साहित्य साधना की भव्य एवं दिव्य कल्पना तथा उसकी विश्वजनीन प्रकृति से अवगत हुए बिना भारतीय कला मर्म तथा भारतीय रमणीयतत्व-दर्शन का कोई भी सम्यक अवधान या समाधान सम्भव नहीं है। श्री अरविन्द ने इसी तथ्य को निम्न शब्दों में व्यक्त किया है—

'वैसे तो सभी प्रकार के रमणीय तत्वात्मक रसास्वादन के लिए, रमणीय तत्वबोधात्मक अन्तर्चेतना को, विकसित प्रिय ज्ञान की अपेक्षा रहती है। फिर भी यदि हम, भारतीय कला सृष्टि के सम्पूर्ण अभिप्राय की गहराइयों में पैठना है, तो उसके लिए हम आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि एवं संस्कारशीलता की अनिवार्य अपेक्षा रहती है। अन्यथा हम भारतीय कला सृष्टि के केवल बाह्य रूप अथवा उसकी पृष्ठभूमि की ऊपरी सतह तक ही, पहुँच पाएँगे। यही एक विशिष्टता है जो भारतीय कला को, विश्वजनीन कलाक्षेत्रों में अनुपम स्थान प्रदान करती है। उसकी ओर से अज्ञात रहने का अर्थ यह होता है कि हम उससे सम्पूर्ण रूप से सर्वथा अनजान रहेंगे अथवा हम उसके बारे में बड़ी भ्रान्तियाँ बनी रहेंगी।'[1]

---

१ वन मे वल स दट विया इ दि जाडिनरी कल्टिवशन आफ दि ऐस्थटिक इंस्टिक्ट नससरी टु आल आर्टिस्टिक एप्रसियशन, देयर इज ए स्पिरिच्युअल इनसाइट आर

(क्रमश)

श्री अरविन्द ने भारतीय कला की अन्तरात्मा को समझने के लिए जिस आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि को इंगित किया है उसकी ओर मात्र भारतीय विचारकों ने ही नहीं, वरन कतिपय ख्यातनामा पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी समय समय पर इंगित किया है यद्यपि उनकी संख्या बहुत ही थोडी है। इस सम्बन्ध में श्री आनन्द कुमार स्वामी ने यों लिखा है—

'धर्म (आध्यात्म) तथा कला, एक समान आत्मानुभूति के ही दो नाम हैं—उन्हें हम क्रमशः तत्त्वबोध तथा तत्त्व विवेक भी कह सकते हैं। यह केवल भारतीय (हिन्दू) दृष्टिकोण ही नहीं है। उसकी परिभाषा एवं व्याख्या अनेक विदेशी विचारकों ने भी की है, यथा यूरोपियन नव प्लैटोवादी (नियो प्लैटोनिज़्म) सिश री, गेटे, ब्लेक, शॉपिनहार, तथा शिलर।"[1]

भारतीय आध्यात्मिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोण समझाने के लिए, कलाकार को, समाधिस्थ अवस्था में आत्मलीन होकर ज्ञानालोक द्वारा प्रतिभासित, रमणीय परिकल्पना से विशिष्ट एक अलौकिक स्वप्न द्रष्टा समझना होगा। हमारे आध्यात्मिक एवं धार्मिक साहित्य में कलाभिव्यंजना शक्ति एवं उसकी, मानस उदीयमाना, रमणीय परिकल्पना (आर्टिस्टिक विज़न) पर भी, विचार विमर्श पाया जाता है। त्रावणकोर विश्वविद्यालय के साहित्याचार्य श्री के० एस० रामास्वामी शास्त्री ने अपने 'भारतीय विचारधारा में रमणीय की परिकल्पना' (दि इंडियन कान्सेप्ट आफ दि ब्यूटिफुल) ग्रन्थ में इस प्रसंग में लिखा है—

जब भी मानव हृदय विश्व की दृश्यमान शोभा एवं ब्रह्म की अदृश्य छवि के प्रकाश से, आपूर्यमान हो उठता है, तभी कला का उदय होता है। कला की मानस परिकल्पना का उदय, पहले होता है तथा उसके द्वारा, मानव हृदय, इस भांति पुलकित हो उठता है कि उसे अपनी सम्पूर्ण कलात्मक सामर्थ्य, अपर्याप्त सी जान पड़ती है किन्तु तभी शीघ्र ही कलाकार को अपनी हृदगत कलात्मक परिकल्पना का आभ्यन्तर साक्षा

कल्चर नीडेड, इफ वी आर टु एंटर इन्टु दि हार्ट मीनिंग ऑफ इंडियन आर्टिस्टिक क्रियेशन। अन्डरवाल्ज वी गेट ओनली एट दि सरफेस आफ एक्स्टर्नल थिंग्स ओर एट दि मोस्ट एट थिंग्स, जस्ट बिलो दि सरफेस। दिस इज दि डिस्टिंक्टिव करैक्टर आफ इंडियन आर्ट, एण्ड टु इग्नोर इट इज टु फाल इन्टु टोटल मिसकम्प्रिहेन्शन ओर इन्टु मच मिस अण्डरस्टैंडिंग।

—श्री अरविन्द— 'दि सिग्निफिकेन्स आफ इंडियन आर्ट' अध्याय १, पृष्ठ २७ २८ (प्र० प्र० १९४७ ई० प्रस्तुत संस्करण १९८३ ई०)।

1. अर्न्स्ट कासिरर— दि फिलासफी आफ दि सिम्बालिक फार्म्स, जिल्द १ प्रस्तावना भाग, पृष्ठ ८२ (प्रथम प्रकाशन मूल जर्मन में १९०८ ई०।)

कलाभिराम रमणीयता के नाम से संबोधित करते हैं वस्तुतः वह उसी की अपनी निजी आध्यात्मिक सृष्टि है। दूसरे शब्दों में यही सौन्दर्यानुभूति सच्चिदानन्द आत्मतत्व तथा उसके चारों ओर फैले हुए जड़ जंगम जगत् के बीच की सेतु शृंखला की भाँति अवस्थित है।"[1]

मानव हृदय की यही अनिर्वचनीय सौन्दर्यबोध प्रज्ञा दृश्यमान विश्व एवं उसकी असीमता के अन्तर में अदृश्यमान (ब्रह्म) की यही रहस्यात्मक स्वानुभूति, अखिल साहित्य सृष्टि एवं रूपकलाभिव्यक्ति का आदिस्रोत है। इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन विश्वकवि (रवीन्द्रनाथ ठाकुर) ने इस भाँति किया है —

"बाहर जिस अखण्ड आकाश में, ग्रहताराओं का मेला लगा रहता है, उसकी असीमता का आनन्द सिर्फ हमारे अनुभव की ही वस्तु है। जिसे सीमा में बाँध सकें, उसका तो नाम भी रखा जा सकता है, किन्तु जो सीमा के बाहर है, जो पकड़ने या छूने में आ नहीं सकता, उसे बुद्धि द्वारा नहीं पाया जा सकता। उसे तो आत्मबोध द्वारा अन्तर की किसी भीतरी तह में ही पाते हैं। उपनिषद् में जिस 'ब्रह्म' के सम्बन्ध में कहा गया है—न तो उसे मन में पाते हैं, न वचन में। उसे जब पाते हैं, तब आनन्द के अनुभव में—जिस प्रेम में, जिस ध्यान में, केवल इस अनुभव की भूख मिलती है वही दार्शनिक अनुभूति विशेष, स्थान पाती है, साहित्य में, रूपकला में।"[2]

जिस प्रेम में जिस ध्यान में जिस दर्शन में आनन्द की अनुभूति सर्वाधिक मुखर हुई केवल वही भारतीय साहित्यशास्त्र, काव्यशास्त्र एवं रमणीयशास्त्र की विवेच्य भूमि बन पाया। यह सौन्दर्यानुभूति जन्य आनन्दवादी दर्शन ही भारतीय चिन्तन की, विश्व को सबसे बड़ी देन है। इसी विचारधारा में काव्य को 'ब्रह्मानन्द सहोदर रस' की अति उच्च पदवी दी गई, जिसका अभिप्राय यही है कि साहित्य के अनुशीलन एवं मनन द्वारा जिस लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति हमें होती है, वह विश्व की सभी प्रकार की सुखानुभूतियों से कहीं अधिक ऊँचे स्तर की आनन्दानुभूति होती है।

भारतीय दर्शन, साहित्य एवं कलात्मक अभिव्यंजना में विषाद, क्षोभ एवं कल्मष को कहीं भी शास्त्रीय मान्यता नहीं प्रदान की गयी। आनन्द की सिद्धावस्था ही यहाँ अखिल कला एवं साहित्य सर्जना की भूमि मानी गई। यह आनन्दावस्था उन दोनों ही प्रकार की लौकिक अनुभूतियों से परे है जिन्हें हम सुख दुःख के नाम से अभिहित करते हैं। यह आनन्द की समरसता प्रशान्त एवं क्षोभहीन दशा है। योग की भाषा में यही स्थितप्रज्ञ अवस्था भी कही गयी है। इसी अवस्था में रचनात्मक प्रतिभा प्रसूत दार्शनिक एवं साहित्यिक सद्ग्रन्थों का प्रणयन होता है तथा रससिद्ध कला कृतियाँ स्थापित होती हैं।

---

१ पंचभूत (निबन्ध संकलन)—श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर, पृष्ठ २१

२ श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर—साहित्य धर्म निबन्ध में।

यह एक सर्वविदित सत्य है कि भारतीय काव्य, नाटक एवं अन्य साहित्य विधाएँ दुःखान्त, शोकान्त विधान न एवं विभीषात्म नहीं होती थी। इसके मूल में भी साहित्य के मौलिक अभिप्राय की सुरक्षा की भावना ही रहा करती थी। वह मौलिक अभिप्राय है आनन्दानुभूति। सौन्दर्यबोध एवं रमणीय तत्व की साधना इसी आनन्दानुभूति की ही प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। भारतीय दर्शन के अनुसार सभी ललित कलाएँ आनन्द प्रसूत हैं तथा उनका समवेत प्रभाव सभी सृजनात्मक कलाकृतियों में पाया जाता है।

क्रमशः बौद्ध, जैन एवं पराम्परी दर्शनों के प्रभाव से जब कभी भी भारतीय साहित्य शास्त्र एवं कला समीक्षा में दुःखानुभूति को ही काव्य एवं कलात्मक सर्जन की भूमि मानने का आग्रह किया जाने लगा तभी अनेक समर्थ काव्य शास्त्रियों ने इसका बलपूर्वक विरोध किया। अभिनवगुप्त (९९० १०२५ ई०) ने 'रस' को आनन्द रूप माना है। भरत मुनि कृत 'नाट्य शास्त्र' की अपनी विलक्षण विवेचना—अभिनव भारती में उन्होंने कलाकार की रसावस्था अथवा आनन्दावस्था की निम्न शब्दों में व्याख्या की है—

सभी रस सुख प्रधान ही हैं क्योंकि स्वसंवेद्य की चर्वणा अथवा मानसिक चिन्तना ही उनका स्वरूप है। यह चर्वणा एक घन तथा प्रकाशमयी होती है। अतएव आनन्द ही इसका सारभूत तत्व है। एक घन निर्विघ्न संवेदना में ही रसिक का हृदय विश्रान्त हो सकता है। हृदय की अन्तराय शून्य अर्थात् निर्विघ्न विश्रान्त अवस्था ही सुख का स्वरूप है। दुःख, विश्रान्ति रूप हो ही नहीं सकता। सांख्य दार्शनिकों का कथन है कि दुःख रजोवृत्ति का धर्म है। उन्होंने चांचल्य को ही दुःख का स्वरूप बतलाया है। *रसास्वाद के समय रसिक का चित्त एक घन संवेदना में विश्रान्ति पाता है।* तब उसके हृदय में किसी प्रकार की चंचलता नहीं रहती। अतएव सब रस आनन्द रूप ही हैं।[1]

'संक्षेप में सौन्दर्य बोध एवं रमणीय तत्व के परिशोधन की सभी अभिव्यंजनात्मक क्रियाएँ आनन्दावस्था से प्रेरित प्रवृत्तियाँ ही हैं। उक्त विविध पक्षों को लेकर भारतीय साहित्य शास्त्रियों एवं कला विवेचकों ने बहुमूल्य विचार विमर्श किया है। एस्थेटिक्स नामक अभिनव माने जाने वाले शास्त्र की आद्य उद्भावना यूरोप

---

१ सर्वे अमी सुख प्रधाना स्वसंविच्चर्वण रूपस्य एकघनस्य प्रकाशस्य आनन्द सारत्वात्। अन्तरायशून्य विश्रान्ति शरीरत्वात् सुखस्य। अविश्रान्ति रूपता एव दुःखम्। तत एव कापिल (सांख्य) दुःखस्य चांचल्यमेव प्राणत्वेन उक्तम् रजोवृत्तिताम् वदद्भिः इति आनन्दरूपता सर्वरसानाम्। —अभिनव गुप्त (अभिनव भारती) तथा भारतीय साहित्य शास्त्र अध्याय १६ पृष्ठ ३३३

म (१८वीं शती के मध्य म) हुई। इसके विपरीत का य एव कलागत रमणीय तत्व शोमा (लालित्य मावना) की साघना म मारतीय विचारकों का सुप्राचीन एव महत्व-पूर्ण योग रहा है।

पाश्चात्य दशों मे विगत दो शतियों अथवा उससे थोडे पहले, सौ दयशास्त्र अथवा रमणीयताशास्त्र (एस्थेटिक्स) के विकास म जो भी सतत्प्रयास हुए हैं, यदि हम उनका भी अध्ययन अवलोकन करके अपनी साहित्य समीक्षा मे उनसे कुछ साहाय्य अथवा इगित ग्रहण करें, तो वह ज्ञानार्जन साधना की दृष्टि से कोई अनुचित बात न मानी जाएगी किन्तु वस्तुत इस क्षेत्र विशेष म वहा जो भी काय हुआ है, वह मारतीय कला एव साहित्य शोध की सुदीघ सरणी की तुलना मे बहुत अधूरा और विकीर्ण ही माना जाएगा। आचाय स्व० नन्ददुलारे वाजपेयी ने इस सबध मे जो प्रत्यालोचना अपने एक समीक्षात्मक निबंध म की थी वह अपने गूढ व्यजकत्व के कारण चिर स्मरणीय एव उल्लेख्य है—

बडे ही गमीर रूप मे यह बात कही जाती है कि मारत और पूव के देशो मे सुव्यवस्थित कला दशन का अभाव है और पूव की सौ दय चेतना, अमी मी अविकसित दशा म पडी है। पश्चिम के इतिहासकारो ने केवल साहित्य के ही नहीं किन्तु का यशास्त्र और सौ दयशास्त्र के इतिहासा म भी पूर्वीय देशो के सृजनात्मक और समीक्षात्मक साहित्या का नगण्य विवरण दिया है। तथाकथित विश्व साहित्य और विश्व-कला दशन की रूपरेखाओं म भी मारत और पूव की देन को या तो अत्यन्त स्वल्प स्थान मिला है या उसकी सम्पूण उपेक्षा की गई है। जिस समय से यूरोप ने राजनीतिक क्षेत्र म पूव पर आधिपत्य प्राप्त किया तमी से ऐसी स्थिति चली आ रही है यद्यपि राजनीतिक आधिपत्य अब समाप्त हो चुका है या तेजी से होता जा रहा है, तथापि सास्कृतिक और साहित्यिक धरातलो पर अब भी वही मनोवृत्ति बनी हुई है। सवप्रथम वह सत्य की प्राप्ति की प्रतिकूल और ज्ञान की विरोधक है। दूसरे वह वस्तुस्थिति का गलत चित्र प्रस्तुत करता है और सम्यक बोध का पक्ष रोक देती है दृष्टि धुधली और विकृत बनी रहती है तथा मूल्याकन पक्षपातपूर्ण और असतुलित हो जाता है।[1]

वस्तुत पाश्चात्य जगत मे रमणीय तत्व विषयक जिज्ञासा एव समीक्षा की परम्परा उसी युग म प्रारम्भ हुई जब कि पाश्चात्य व्यापारेच्छु एव राज्येच्छु यूरोपियन जातियों का मारत की शस्य श्यामल भूमि से सम्पर्क बढ चला। अठारहवी सदी से पूव मारतीय कला एव सस्कृति के सम्बन्ध म पाश्चात्य विद्वानों की धारणाएँ

---

१ श्री नन्ददुलारे वाजपेयी—'नया साहित्य नये प्रश्न' (अध्याय ६ 'मारतीय साहित्य शास्त्र की रूपरेखा, पृष्ठ १०० १०१) (प्र० विद्यामन्दिर, ब्रह्मनाल, वाराणसी-१, १९६३ ई० तृतीय सस्करण)।

विचित्र तथा धूमिल थी। तभी तो मैक्समूलर जैसे प्राच्यविद के मुंह से हम निम्न प्रकार की भ्रान्त एवं निराधार उद्भावनाएँ सुनने को मिलीं—

'प्राचीन भारतवासी यद्यपि दार्शनिक दृष्टिकोण से उच्चतर प्रतिभा सम्पन्न रहे थे तथा एक प्रकार से उन्हें दार्शनिकों की जाति भी कहा जा सकता है तथापि भारतीयों के चिन्तन में प्रकृतिगत रमणीयतत्व के परिज्ञान का अस्तित्व भी नहीं पाया जाता।'[1]

मैक्समूलर ने वैदिक साहित्य का अनुवादादि कार्य किया था किन्तु वे भारतीय रमणीय-तत्व दर्शन से प्रकट रूप से अपरिचित रहे। अतएव उनके उक्त कथन को हम अज्ञान जनित एवं आक्षेप भावना रहित मान सकते हैं। पर बीसवीं सदी में जब अग्रज कला समीक्षक विलियम आर्चर ने जान बूझ कर विजेता जाति के मिथ्याभिमान से प्रेरित होकर भारतीय रमणीयता-तत्व विषयक कला सृजन प्रवृत्तियों की खिल्ली उड़ाई और एक संस्कृति समृद्ध प्राचीन कला साधना की परम्परा का तिरस्कृत करने की धृष्टता की तो श्री अरविन्द (अरविन्दो) ने 'आर्य' पत्रिका में 'भारतीय संस्कृति की ओर से प्रतिवाद' नाम से एक विद्वत्तापूर्ण लेखमाला प्रकाशित की।'[2] इसके पश्चात यद्यपि इस स्तर की भद्दी आलोचनाओं पर तो कुछ रोक लगी किन्तु फिर भी पाश्चात्य जगत में भारतीय रमणीयता तत्व दर्शन के बारे में परिज्ञान एवं आस्था का व्यापक अभाव पाया जाता है। दुर्भाग्यवश अपने स्वदेश में भी ऐसी मान्यता रखने वालों की संख्या अभी पर्याप्त है जो ऐस्थेटिक्स को भी अन्य कितनी ही भावोपलब्धियों के समान, पश्चिम का आविष्कार और प्रसाद ही मानते हैं।

वर्णन कला एवं उसके उपादानों के निर्धारित करने में यथाशक्य तटस्थ एवं तर्कसिद्ध प्रणाली का अनुसरण किया जाना चाहिये। इस दृष्टि से यदि पाश्चात्य चिन्तन और दर्शन की अभिनव उद्भावनाओं में देशकाल की बदलती हुई परिस्थितियों और साहित्य सृजन की नई प्रवृत्तियों को दृष्टि में रखते हुए हमें उचित इंगित मिले तो उनकी आग्रहपूर्वक अवज्ञा भी अपेक्षित नहीं है। किन्तु इस सम्बन्ध में ऋषिकल्प कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की पर्याप्त समय पूर्व दी गई चेतावनी का फिर भी स्मरण रखना आवश्यक है—

जिन अभागे देशवासियों ने अपनी भूतकालीन समृद्धि को खो दिया है उनका

---

१ मैक्समूलर नामक सुप्रसिद्ध जर्मन प्राच्यविद (विलियम नाइट द्वारा अपने 'दि फिलासाफी आफ दि ब्यूटिफुल' खण्ड १, पृष्ठ १७ पर मूल जर्मन से अँग्रेजी में अनूदित एवं उद्धृत।)

२ आगे चलकर यही लेखमाला पांडिचेरी से श्री अरविन्द आश्रम प्रेस द्वारा पुस्तक रूप में सन १९५३ ई० में प्रकाशित की गई। उपर्युक्त प्रसंग, उसी के अध्याय १ पृष्ठ १–५ पर आया है।

वर्तमान जीवन भी खोया ही जानो। उन्होंने अपनी सांस्कृतिक कृषि के बीज खो दिये हैं अतएव यह स्वाभाविक ही है कि वे अपनी सांस्कृतिक आजीविका के लिये दर दर भीख मांगते फिरें। हमें अपने को विश्व की उन अभागी उत्तराधिकार वंचित जातियों में नहीं कल्पित करना चाहिये। समय आ पहुँचा है कि हम अपने पूर्वजों की अक्षय निधि के भाण्डार को खोल कर देखें तथा अपने वर्तमान जीवन व्यापार के लिये उसका यथावश्यक सदुपयोग करें। इस भांति हम अपने भविष्य को अपना बना सकेंगे तथा विदेशी जातियों के कूड़े के ढेरों में से सदैव चिथड़े चुनने की वृत्ति का परित्याग करेंगे।"[1]

कविकल्प श्री रवि ठाकुर ने जिस 'पूर्वजों की अक्षय निधि के भण्डार' की ओर संकेत किया है उसकी हमारे आधुनिक एवं साहित्य युगान्तर में हमें नितान्त आवश्यकता है। फिर भी विदेशी जातियों के कूड़े के ढेरों में से सदैव चिथड़े चुनने की वृत्ति, अभी भी हमारे राष्ट्रीय एवं साहित्यिक जीवन से सर्वथा निर्मूल नहीं हो पाई है। इस तथ्य को ही दृष्टि में रखते हुए 'हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास' के प्रथम भाग के सम्पादक प्रख्यात भारतविद्याविद स्व० डा० राजबली पाण्डेय ने अपनी 'प्रस्तावना' में कुछ पते की बातें लिखी हैं। उन्होंने हमें यूरोपियन परम्परा पर अवलम्बित रहने की व्याधि से, निम्न सन्तुलित एवं संयमित शब्दों में सावधान किया है —

यूरोपीय (लोग) लुटेरे आक्रमणकारी और शोषक थे। वे भारत में बसने नहीं आये थे। अतः वे भारत में अत्यन्त वर्जनशीलता के साथ रहे, उनके और हमारे बीच आदान प्रदान का प्रश्न ही नहीं था। उन्होंने अपनी राजनीतिक सत्ता की तरह देश पर अपनी भाषा और संस्कृति का आरोप करने का भी प्रयत्न किया। परन्तु केवल आरोप के द्वारा अँग्रेजी भाषा और यूरोपीय संस्कृति का प्रभाव भारत पर उतना नहीं पड़ पाया। ऐतिहासिक कारणों से आधुनिक युग में यूरोप का प्राधान्य एक संसार व्यापी घटना है। उसका आतंक और प्रभाव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर पड़ा है। भाषा और साहित्य भी इससे सुरक्षित नहीं है। आतंक और प्रभाव शब्द का प्रयोग यहाँ जान बूझ कर किया गया है। यह आतंक झंझावात की तरह परम्परागत

---

१ दि अनफार्चूनेट पीपुल हू लास्ट दि हारवेस्ट आफ देयर पास्ट, हैव लॉस्ट देयर प्रेजेन्ट एज। द हैव मिस्ड देयर सीड्स आफ सिविलिजेशन एण्ड गो एबेगिंग, फार देयर वेरी लिवलीहुड। वी मस्ट नॉट इमैजिन दैट वी आर वन ऑफ दीज डिसइनहेरिटेड पीपल्स ऑफ दि वर्ल्ड। दि टाइम हैज कम फार अस टू ब्रेक आपिन दि ट्रेजर आफ अवर एंसेस्टर्स एण्ड यूज इट फार अवर कामन आफ लाइफ। लेट अस विद दैट सेफ मेक अवर फ्यूचर, अवर ओन—नेवर कन्टिन्यू अवर एग्जिस्टेन्स एज दि ड्रेगनेट रैग पिकर आफ अदर पीपल्स डस्टबिन्स। —श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर दि सेन्टर आफ इण्डियन कल्चर (विश्वभारती प्रकाशन शान्ति निकेतन १९१९ ई० पृष्ठ ३६)

भारतीय विचारों, विश्वासों और मान्यताओं को हिला रहा है, किन्तु फिर भी वह हमारे जीवन का अभिन्न अंग नहीं हो पाया है। अभी भी यह संघर्ष और द्वन्द्व की अवस्था में ही है।[1]

'आज हिन्दी साहित्य के ऊपर वर्तमान तथा सामान्य शिक्षा प्रणाली और चिन्तन का (जो यूरोपीय परंपरा पर अवलंबित है) असाधारण आतंक और प्रभाव है। जब देश दासता में जकड़ा हुआ था तो ये आरोप के रूप में थे, स्वतंत्रता प्राप्त होने के आवेश और प्रवाह के कारण अब ये स्वेच्छा से अनुकरण के रूप में वर्तमान हैं। गत विचारों और बाह्य प्रभावों के बीच बड़ी तो गहरा अन्तराल और बड़ी घोर संघर्ष है। वास्तव में सहज प्रगति और विकास के लिये परम्परा का ज्ञान और उस पर अवलंबन आवश्यक है। इस अवलंबन के साथ किसी भी बाहरी प्रभाव को, आत्मसात किया जा सकता है।

आज हिन्दी साहित्य के सामने महान प्रश्न हैं। इन प्रश्नों का समाधान, ज्ञान और अनुभव के सहारे ही प्रस्तुत किया जा सकता है। उसको अपनी पीठिका और रिक्थ का परिज्ञान अनिवार्य रूप से होना चाहिए। इसीलिए कि पीठिका की सीढ़ियों और सबल लेकर आगे चल सकें और परंपरा में नई कड़ियाँ और नई मंजिलों का नवनिर्माण कर सकें।'[2]

हिन्दी साहित्य समीक्षा की पूर्वपीठिका तथा उसका रिक्थ दोनों ही अविचल एवं परम समृद्ध हैं। लगभग ढाई हजार वर्षों से हमारी साहित्य समीक्षा एवं कला विवेचना की अविच्छिन्न सरणी समुपलब्ध है। पुराणों एवं इतिहास ग्रन्थों में इस सुपुष्ट साहित्य-कला साधना की परम्परा के शताधिक विवरण पाये जाते हैं। ईसवी सन् के प्रवर्तन के लगभग ३०० २०० वर्ष पहले हमारे देश में आचार्य नन्दिकेश्वर जैसे रस शास्त्र के निर्माता एवं भरतमुनि जैसे नाट्य शास्त्र के प्रणेता हो चुके थे। उनके द्वारा किए गए विशद एवं सांगोपांग शास्त्रीय विवेचन को देख कर हम आज भी विस्मित एवं आश्चर्यचकित रह जाते हैं। वाङ्मयगत रमणीयतत्त्व की शोध में, तथा उससे अनुप्राणित वर्णनात्मक कला के मानीकरण में इस समृद्ध समीक्षा परम्परा से हम अक्षुण्ण सामग्री प्राप्त होती है। इसी दृष्टि से इस सुदीर्घ परम्परा की कुछ विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण उपलब्धियों का पर्यवेक्षण किसी भी वाङ्मयीन अथवा कलापरक अनुसंधान के लिए अनिवार्य है।

---

१ डा० राजबली पाण्डेय 'हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास' भाग १ प्रस्तावना, पृष्ठ ६ (प्र० नागरी प्रचारणी सभा काशी १९५७ ई०)।

२ वही, पृष्ठ १०

भारतीय रमणीयता शास्त्र का इतिहास सुप्राचीन है। सबसे पहले नाटयशास्त्र के रचयिता भरत मुनि (ई० पू० २०० ३००) ने रगमचीय कला की विशिष्ट एव विशद विवेचना के प्रसग म रमणीयता शास्त्र सबधी सिद्धातो का भी सम्यक प्रतिपादन किया है। भामह और दण्डी (६०० ७०० ई०) इन दोना रमणीयता शास्त्रियो ने भी भरत का साभार उल्लेख किया है। किन्तु भरत के रमणीयता शास्त्र सिद्धात के सब से महत्वपूर्ण व्याख्याता अभिनव गुप्त (रचनाकाल ९९० से १०२५ ई०) हुए। इन दोना ही साहित्य शास्त्रियो के अनुसार सभी कलाएँ सहृदय (दशक अथवा श्रोता) के मन म रसात्मक अनुभूति को जन्म देने मे अपने अपने निजी स्वतत्र रूप मे, समय हैं। सक्षेप म, आद्य भारतीय रमणीयता शास्त्र विषयक निम्न तीन विभिन्न सिद्धान्त सरणियो का प्रतिपादन किया गया है—(१) रस-ब्रह्मवाद, (२) नाद ब्रह्मवाद, और (३) वस्तु-ब्रह्मवाद। साहित्यगत रमणीयता तत्व का प्रतिपादन करने वाले शास्त्रकार विशिष्ट रूप से रस-ब्रह्मवाद के प्रतिपादक रहे हैं।

जसा कि कहा ही जा चुका है भारतीय रमणीयता शास्त्र सम्बन्धी महत्वपूर्ण ग्रन्थ अभिनव गुप्त रचित अभिनव भारती है जो भरतमुनि कृत नाटयशास्त्र की ही अभिनव व्याख्या टीका है। उसकी गणना, टीका अथवा व्याख्यात्मक रचना होने पर भी, साहित्य एव कला दोना की ही दृष्टि से मौलिक साहित्य ग्रन्थो म की जाती है। यह मात्र-टीका नही है वरन मौलिक सूझबूझ से सयुक्त एव विलक्षण प्रतिभा प्रसूत, साहित्य-समीक्षा ग्रन्थ है। अभिनव गुप्त न भी भरत के समान ही रगमच को ही अपनी विवेचना का आधार बना कर रमणीय-तत्व का प्रतिपादन किया है, किन्तु भरत के नाटय शास्त्र की अपेक्षा, उन्होने अनेकानेक अत्यन्त विशद, मौलिक एव प्रतिभा प्रसूत नवीन उद्भावनाए भी की हैं। भरत ने रसानुभूति के केवल दो ही पक्ष माने हैं—रूप और ध्वनि (दशन एव श्रवण)। उनके अनुसार रस (स्वाद) गन्ध तथा स्पर्श, रसानुभूति के अग नही माने गए क्योकि रगमच के माध्यम द्वारा दशक उक्त तीनो अनुभूतियो के स्वानुभव की परिधि से, परे रहता है। भरत के अनुसार श्रवण और दशन समान रसानुभूति (साधारणीकरण) के विषय बन सकते हैं। किन्तु रस (आस्वाद) 'गन्ध स्पर्श' के सम्बन्ध म विभ्रमना मतवभिन्य पाया जाता है।

पच ज्ञानेन्द्रियो द्वारा अनुभूत सुखानुभव तथा सूक्ष्म रसात्मक अनुभूति के अन्तर की समस्या पर भी भरत ने विचार किया है। इस प्रश्न पर पाश्चात्य कला विवेचना म अद्यावधि भी पर्याप्त भ्रान्तियाँ तर मतभेद दिखाई देते हैं। भरत के अनुसार भौतिक सुखानुभव सूक्ष्म रसानुभव का केवल आविष्कारण ही माना जा सकता है। किन्तु परिणामत रसानुभव एक सवथा भिन्न कोटि का अनुभव है।

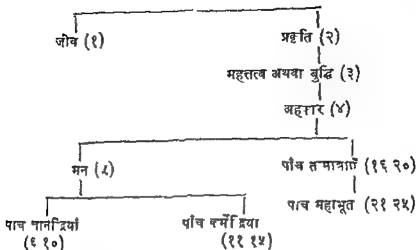
यह कहा ही जा चुका है कि 'अभिनव भारती' में उपयुक्त अवतरण (सर्वे अभी मव रसानाम ।) म आचाय अभिनव गुप्त ने, साम्यदान मे प्रतिपादित

सुख एवं दुख अवस्था का, क्रमश विश्रान्तिरूपता एवं अविश्रान्तिरूपता की संज्ञा प्रदान की है। उन्होंने कपिल दर्शन अथवा सांख्यशास्त्र द्वारा निरूपित मन, बुद्धि एवं अहंकार के संकल्प विकल्प से अनुचालित सुख दुख अवस्था एवं स्थितप्रज्ञता आदि मानस अवस्थाओं की भी विशद चर्चा की है। सांख्यशास्त्र में उसी पर अत्यन्त विस्तारपूर्वक व्याख्या की गई है। भरत मुनि कृत नाट्यशास्त्र में भी पंच ज्ञानेन्द्रिया द्वारा अनुभूत सुखानुभव तथा सूक्ष्म रसात्मक अनुभूति के बीच के अन्तर को समझाने का पर्याप्त प्रयास किया गया है। तत्पश्चात् अभिनव गुप्त से लेकर हमारे आधुनिक हिन्दी समीक्षाचार्यों तक इस प्रश्न पर पर्याप्त चर्चा हुई है। पाश्चात्य मनोविश्लेषण तथा मनोविज्ञान के पंडितों ने भी इस पक्ष पर बहुत कुछ लिखा है। किन्तु भारतीय सांख्यशास्त्रीय प्रतिपादन, उनसे कहीं अधिक वैज्ञानिक एवं समाधानकारी है।

भारतीय आध्यात्मिक विश्वास के अनुसार सांख्य शास्त्रकारों ने यह बताया है कि ब्रह्म ने अपना व्यापक अभिव्यक्ति के लिये एकोऽहम् बहुस्यामि की भावना की, और इस भाँति उसका जीव एवं प्रकृति का संयुक्त अस्तित्व स्थापित हुआ। किन्तु पुरुष (जीव) एवं प्रकृति के समन्वित अस्तित्व अथवा व्यक्तित्व के मूल में सर्वप्रथम अभिव्यंजनात्मक चेतना मूलभूत रूप में बुद्धि अथवा महत्तत्व के रूप में उदित हुई। इसका सीधा परिणाम अहमब्रह्मोस्मि से विपरीत गति में प्रवृत्त होता हुआ अहमास्मि' अथवा अहंकार में प्रतिफलित हुआ। अहंकार का द्वन्द्वरूप है (१) मन तथा (२) पंच तन्मात्राएँ। पंच तन्मात्राएँ पांच तत्वों से बने हुए मानव शरीर के सूक्ष्म प्रकृतिगत विभिन्न रूप हैं। मन का विस्तार एवं व्यापार, अनन्त एवं अपार है। इसी के द्वारा मानव अपने लघु भौतिक अस्तित्व को लाँघ कर विश्वविहारी व्यापार में प्रवृत्त रहता है।

मानसिक व्यापार की दो भिन्न प्रक्रियाएँ हैं—एक बहिर्मुखी एवं दूसरी अन्तर्मुखी। पंच ज्ञानेन्द्रिया बाह्य जगत से ज्ञानमय सम्पर्क के माध्यम हैं तथा पंच कर्मेन्द्रियाँ, कर्म व्यापार में मन के आदेशों का पालन करती हैं। इस कार्य व्यापार में कभी अहंकार का एवं कभी बुद्धि का (एक के बाद एक का) प्रभाव प्रधान जान पड़ता है। किन्तु सिद्धि की उपलब्धि के लिये दोनों का परस्पर सामंजस्य अनिवार्य है। अहंकार तत्व तथा बुद्धितत्व का सामंजस्य ही मानव अस्तित्व को लोकोत्तर विशिष्टता प्रदान करता है।

उक्त पच्चीस तत्वों के समन्वित अभिव्यंजना प्रमुखमुख एवं वर्णना मुखी वृत्ति वाले विलक्षण प्राणी मानव के सूक्ष्म एवं सुगूढ़ संस्थान का इस भांति व्यक्त किया जा सकता है —



'सतरजनमसाम साम्यावस्था प्रकृति प्रकृते महान महत्व अहकार । अहकारात पचतन्मात्राणि उभयम इन्द्रियम पचतन्मात्रेभ्य स्थूलभूतानि पुरुष इति पच विंशतिगण ।'[1]

(अथात सत रज तम की साम्यावस्था का ही अन्य नाम है प्रकृति । प्रकृति का ही महान महत्व का भाव है अहकार । अहकार से ही पच तन्मात्राओ का उदभव होता है । तथव दोनो प्रकार की इन्द्रियाँ (पाच ज्ञानेन्द्रियाँ एव पाच कर्मेन्द्रिया) भी अहकार द्वारा प्रेरित होती हैं । पच-तन्मात्राओ से ही पाच स्थूल भूतो का परिणाम होता है । इस भाँति पच्चीस तत्वो का समुच्चय 'पुरुष' ही मानव का शरीरी अस्तित्व है ।)

इसी तत्व का विवेचन करते हुए श्री एम० हिरियन्ना न अपने ग्रन्थ 'द एसेन्शल्स आफ इण्डियन फिलॉसाफी' म इस भाँति लिखा है—

"हरक व्यक्ति, जो किसी पदाथ स व्यवहार करता है पहले उसका भावन करता है तत्पश्चात् उस पर मनन करता है और इसके पश्चात् वह निणय करता है कि वह उसके अपने पक्ष म कहाँ तक उचित या अनुचित है । इतना सब कर लेने क पश्चात वह सकल्प करता है—यह काय मेरे द्वारा सपन्न होना है और तब वह कम म प्रवृत्त होता है । यह सभी जानते हैं ।"[2]

---

१ सांख्यशास्त्र', अध्याय १, सूत्र ६१ तथा साख्यतत्व-कौमुदी' (वाचस्पति मिश्र) पृष्ठ २३ । (निर्णयसागर प्रेस बम्बई १६१२ ई०, सवत १६६६ वि०) ।

२ एवरीवन हू डील्स विद एन ऑब्जक्ट फर्स्ट इन्ट्यूटस इट, दन रिफ्लेक्ट्स अपॉन इट एन एप्रोप्रियेटस इट टु हिमसेल्फ एन रिजाल्व्स— दिस इज टु बी एन बाइ मी एण्ड सो ही प्रासीडस टु एक्ट । दिस इज फेमीलियर टु एवरीवन, —एम० हिरियन्ना, 'दि एसेन्शल्स आफ इण्डियन फिलॉसाफी (जाज एलन एण्ड अनविन लन्दन, १६५१) पृ० ११२

अन्तःकरण और उसकी प्रकृति को समझाते हुए आचार्य हिरियन्ना ने कहा है कि बुद्धि अहंकार और मन मानव अस्तित्व में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। सांख्य दार्शनिक इस महतत्व वर्ग को 'अन्तःकरण' कहते हैं। 'अन्तःकरण' अनुभूतिशील और प्रतिक्रियाशील दोनों ही है। अन्तःकरण, मन के माध्यम द्वारा ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से, संस्कार प्राप्त करता है और फिर इन प्राप्त संस्कारों पर बुद्धि के माध्यम से निर्णय करता है। यह अन्तःकरण की, अनुभूति प्रक्रिया हुई। दूसरी ओर अन्तःकरण बुद्धि के माध्यम से निर्णय कर लेने के पश्चात् उस निर्णय के अनुकूल ही, मन के माध्यम द्वारा इच्छा अथवा वासना में प्रवृत्त होता है। और फिर मन के माध्यम से ही वह कर्मेन्द्रियों को तदनुसार कर्म में प्रवृत्त होने का आदेश देता है।

मन के माध्यम द्वारा ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से अन्तःकरण जिन संस्कारों को प्राप्त करता रहता है उसका यह संस्कार-संग्रह व्यापार केवल एक जन्म तक सीमित न रह कर जन्मजन्मान्तर तक भी प्रवर्तित रहता है। इसी से यह धारणा अस्तित्व में आई कि कलाकार अथवा सृजनात्मक प्रतिभा संयुत साहित्य सर्जक जन्म से ही कुछ विलक्षण पूंजी लेकर आते हैं और वह उनकी जन्मजन्मान्तर की कलात्मक साधना अथवा योग की ही प्रत्यक्ष सिद्धि है। योगिराज अरविन्द ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है। वे सांख्यदर्शन की उक्त प्रतिपत्ति को और भी आगे बढ़ा कर उक्त तत्व को यों समझाते हैं—

'समग्र जीवन के अनुभवों के सार-तत्व को आत्मा समेट लेती है तथा जब वह पुनः अन्य पार्थिव शरीर के रूप में नया जन्म ग्रहण करता है तो वह अपने उत्तरोत्तर विकास के लिए उसी पूर्व अनुभव (सार तत्व) का आधार बनाकर अग्रसर होती है। जब आत्मा पुनर्जन्म लेती है तो फिर वह अपने मन शरीर प्राण शरीर एवं स्थूल शरीर रूपी आवरणों के साथ अपने कर्म का केवल उतना ही अंश अपने साथ लेकर चलती है जितना कि उसे अपने आने वाले जन्म में और अधिक ज्ञानानुभव प्राप्त करने की दृष्टि से नितान्त अनिवार्य जान पड़ता है।'[1]

इसी तथ्य को लोकमान्य तिलक ने भी अपने गीतारहस्य अथवा कर्मयोग शास्त्र में इस प्रकार व्यक्त किया है —

जब कोई मनुष्य बिना ज्ञान प्राप्त किए ही मर जाता है, तब मृत्यु के समय उसकी आत्मा के साथ ही प्रकृति के उक्त १८ तत्वों (बुद्धि अहंकार मन | दस

---

१ दि सोल गदर्स दि एसेंशल एलीमेंट्स आफ इट्स एक्सपीरियेंसेज इन लाइफ एण्ड मेक्स दैट इट्स बेसिस आफ ग्रोथ इन दि इवाल्यूशन। व्हेन इट रिटर्न्स टु बर्थ इट टेक्स अप विद इट्स मेंटल वाइटल फिजीकल शीथ्स—मन शरीर प्राण शरीर स्थूल शरीर—एण्ड एज मच आफ इट्स कर्म एज इज यूसफुल टु इट इन दि न्यू लाइफ। श्री अरविन्द 'लाइट्स आन योग' पृष्ठ २९ (आर्यन पब्लिशिंग हाउस, कलकत्ता, १९४८ ई०) तथा योगप्रदीप (श्री अरविन्द) पृष्ठ ३५ (अरविंद ग्रंथमाला कलकत्ता १९३६ ई०)।

इन्द्रिया + पांच तन्मात्राएँ) का यह लिंग शरीर भी, स्थूल देह से बाहर हो जाता है और जब तक उस पुरुष का ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक उस लिंग शरीर के ही कारण उसको नये नये जन्म लेने पडते हैं।'[1]

यदि सृजनात्मक प्रतिभा से संयुक्त, एवं प्रस्तुत जीवन अवधि अथवा पूर्व जन्म में अर्जित संस्कार से सशक्त, कलासर्जक अथवा साहित्यकार की अभिव्यंजना प्रतिभा का, हम उक्त सांख्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से परखने का प्रयत्न करें तो एक ओर तो वह पंच ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से अनुभूति प्रक्रिया एवं दूसरी ओर उसके प्रतिक्रिया-पक्ष में कर्मेन्द्रियों द्वारा कार्य-व्यापार, दोनों का ही समन्वय कहा जा सकता है। साहित्य सृजन क्रिया में हम कार्य व्यापार को साधारण कार्य व्यापार न कह कर सृजनात्मक प्रतिभा प्रसूत 'अभिव्यंजना योग' अथवा कलाभिव्यंजना-याग कहना, अधिक उपयुक्त होगा। इसी योगसाधन के सतत अभ्यास के द्वारा ही, कलास्रष्टा, अपनी अनुभूति प्रक्रिया को उत्तरोत्तर सशक्तता एवं तीव्रता प्रदान करता है। साथ ही वह अपने अन्तःकरण के तीनों संहतत्वों (बुद्धि, अहंकार एवं मन) के बीच विलक्षण समन्वय शीलता अथवा समस्थिति प्रस्थापित करने में भी सिद्धि प्राप्त करता है तथा वह अपने अन्तःकरण की समुन्नत प्रतिक्रियाशीलता के द्वारा, आत्माभिव्यंजना के प्रतिफलित रूप—सृजनात्मक कलाभिव्यंजना में, कृतकार्य होता है। उसी का अत्यंत महत्वपूर्ण पक्ष है, वर्णनात्मक कलाभिव्यंजना।

भरत के नाट्यशास्त्र के रमणीय तत्व के, पक्ष पर विचार करने पर पता चलता है कि वह ग्रन्थ, केवल नाटककारों एवं अभिनेताओं के प्रशिक्षण के लिये ही नहीं रचा गया था। उसमें साहित्य सृजन-कला एवं उसकी अन्य ललितकलाओं के समीक्षण के लिए, पर्याप्त उपयोगी सामग्री भी उपलब्ध होती है। नाट्यशास्त्र के प्रथम तीन भाग तो नाट्य शिल्प से ही सम्बद्ध है, किन्तु चतुर्थ भाग, रमणीय तत्व सम्बन्धी अनुभूति से ही सम्बंधित है क्योंकि दर्शक, नाटकीय अभिनय के द्वारा, रस विभोर हो सके, इसके लिये यह अनिवार्य है कि वह रसात्मक अभिनय के अनुकूल, मनःस्थिति में होवे।

रस शब्द के शाब्दिक अर्थ अनेक है। अनुभूति अथवा आस्वाद द्वारा अवगत गुण का नाम ही रस है। इस भांति विविध प्रसंगों में उसकी संख्या विभिन्न मानी जाती है। आस्वाद सम्बन्धी 'षटरस' प्रसिद्ध है। आयुर्वेद में पाचकतत्व के खान पान के पश्चात् पाचन क्रिया द्वारा (उद्भूत) अंगीकृत प्राणतत्व को रस कहा गया है। साधारण भाषा में सभी तरल पदार्थों के लिये 'रस' का प्रयोग किया जाता है। फल

---

१ गीता रहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र (हिन्दी रूपान्तर)—लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक पृष्ठ १८८

या फूल के सार को भी 'रस' की संज्ञा दी जाती है। नमक, पारा, आदि धातुओं को भी 'रस' कहा जाता है। इसके अतिरिक्त प्रवृत्ति, रुचि, कामना, आदि के लिए भी 'रस' शब्द प्रयुक्त होता है।

डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित 'रस' के रमणीय पक्ष को इस भांति समझाने का उद्योग किया है —

'जहां तक कि रमणीय तत्त्व का प्रश्न है, रस शब्द रमणीयार्थवाचक है। इसके अर्थ सुगूढ़ एवं विशिष्टता युक्त माने जाते हैं। तथापि अपने विशिष्ट अर्थों में 'रस' शब्द में उसका मौलिक अर्थ भी विद्यमान रहता है—अर्थात् वह रुचि का उपादान रहता है। यद्यपि वह रुचि भौतिक सुखानुभूति न होकर, रमणीय-तत्त्व समन्वित रसानुभूति होती है।'[1]

आचार्य भरत मुनि ने अपने 'नाट्य शास्त्र' में कुछ अन्य उद्भावनाएँ भी की हैं जो रमणीय-तत्त्व की दृष्टि से विचारणीय हैं। साहित्य सर्जन प्रतिभा द्वारा पुनर्कल्पित, एक अभिनव सृष्टि है न कि प्राकृत सृष्टि का यथातथ्य अनुकृति। कवि अथवा लेखक की मानस परिकल्पना गत (सूक्ष्मतम विवरणों को समाविष्ट करके) साहित्य-कृति, इस प्राकृत सृष्टि को एक सर्वथा नया जन्म प्रदान करती है।[2]

इस तथ्य की पर्यालोचना करते हुए डा० पाण्डेय ने रमणीय-तत्त्व की परिणति का स्वरूप निरूपण इस भांति किया है —

'भरत के अनुसार रमणीय तत्त्व के परिणति रूप, किसी पदार्थ विशेष की तुलना अथवा गणना, हम जगत गत पदार्थों में से किसी से भी नहीं कर सकते। कारण कि रमणीय तत्त्व परिणत पदार्थ को, वास्तविक अथवा लौकिक नहीं माना जा सकता—वह न तो प्राकृतिक उद्भव का परिणाम होता है और न उसका रसात्मक प्रभाव सभी दर्शकों अथवा श्रोताओं पर समान अंशों में ही पाया जाता है। और न हम उसे अवास्तविक कह सकते हैं—जैसे कि आकाश कुसुम होता तो अवास्तविक है, किन्तु फिर भी श्रोता के मन में उसका अस्तित्व विद्यमान रहता है। हम उसे मायावी अथवा स्वप्निल भी नहीं कह सकते क्योंकि माया तो तत्त्वतः अवास्तविक होती है,

---

१ इन दि कान्टेक्स्ट आफ एस्थटिक्स हाउएवर इट (रस) स्टैन्डस फार दि एस्थटिक आब्जेक्ट। इट हैज ए हाइली टक्नीकल मीनिंग। दो, इवन इन दि टक्नीकल सेन्स इट रिटेन्स दि एलीमेन्ट आफ ओरीजिनल मीनिंग नमली दि आब्जेक्ट आफ रलिश नाट सेनशुअस बट ऐस्थटिक।—डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय कम्परेटिव एस्थेटिक्स, भाग १ अध्याय १ पृष्ठ १० (चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस १६५० ई०)।

२ कवेरन्तर्गतम् भावम् भावयन् भाव उच्यते। भरतमुनि (नाट्य शास्त्र), पृष्ठ ७६, (चौखम्बा संस्कृत सीरीज काशी, १६२६ ई०।)

किन्तु रमणीय-तत्व परिणत पदार्थ प्रकट रूप से तथा अनिवार्यत, वही होता है जैसा कि वह अभिव्यंजित किया जाता है। संक्षेपत रमणीय पदार्थ का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है तथा उसका अपना निजी रमणीय लोक (रस विश्व) है जो कि दैनिक जीवन से सम्बन्धित जगत से भिन्न, अपना निजी अस्तित्व रखता है।'[1]

भामह, दण्डी और अभिनवगुप्त आदि विविध आचार्यों ने भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित साहित्यगत रमणीय तत्व की, अपने अपने दृष्टिकोण से, विवेचना की है जिनमें से भामह एवं दण्डी के, रमणीय-तत्व-बोध के सम्बन्ध में कुछ निजी अभिमत थे। भामह ने अपने 'काव्यालंकार' ग्रन्थ में रमणीय-तत्व बोध के लिए 'प्रीति' शब्द का प्रयोग किया है। इससे दर्शक अथवा पाठक के रमणीयता विषयक दृष्टिकोण का इंगित मिलता है अर्थात जो वस्तुएँ हमें प्रिय लगती हैं उन्हीं को हम रमणीय कहते हैं।[2] कहना न होगा कि एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति की 'प्रीति' भिन्न होती है। भामह का यह भी मत है कि रमणीय-तत्व-बोध और रसानुभूति दोनों समान तत्व हैं और केवल महाकाव्य में ही इनका स्वतन्त्र अस्तित्व रहता है। अतएव भामह, रंगमंच के स्थान पर, महाकाव्य में ही रमणीय-तत्व बोध का स्वतन्त्र अस्तित्व प्रतिपादित करते हैं जो भरतमुनि की मान्यता से अधिक व्यापक है। प्रकट है महाकाव्य में (अथवा उपन्यास में भी) वर्णनात्मक विकास के लिए पर्याप्त अवसर मिलने के कारण ही, रमणीय-तत्व का स्वतन्त्र विकास सम्भाव्य है।

दण्डी भामह के लगभग समकालीन ही हुए हैं किन्तु उनका मत भामह की अपेक्षा अधिक, तर्कसिद्ध तथा युक्तियुक्त जान पड़ता है। दण्डी ने काव्य के रमणीय-तत्व को माधुर्य माना ही है और वे इस माधुर्य गुण के समावेश के लिए, वाणी और वर्ण्य विषय, दोनों में ही माधुर्य अथवा रसात्मकता को आवश्यक मानते हैं —

'काम्यं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिंचति।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारम् वहति भूयसा॥
इति ग्राम्य अयम अर्थात्मा वैरस्याय प्रकल्पते।
स्वयि निमत्सरं दिष्ट्येति अग्राम्योऽर्थो रसावह॥
मधुरम रसवत् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थिति।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रता॥'[3]

---

१ 'कम्पैरेटिव एस्थेटिक्स भाग प्रथम इण्डियन एस्थेटिक्स', (डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय) अध्याय १ पृष्ठ २३ २४

२ तुलनीय-कालिदास— कुमार सम्भव सर्ग ५ श्लोक १— प्रियेषु सौभाग्य फला हि चारुता।

३ काव्यादर्श (दण्डी) अध्याय १ श्लोक संख्या क्रमश ६२ ६३ तथा ५१

(अर्थात माधुर्य अग्राम्यता में प्रतिष्ठित है। अग्राम्यता का अर्थ है वक्रत्य। उसी का नाम वक्रोक्ति भी है। ग्राम्यता वैरस्य लाती है अग्राम्यता रसावह होता है। माधुर्य का अर्थ रसवत्ता ही है। इस माधुर्य के कारण ही रसिक जन, काव्य पर, भ्रमर के समान लुब्ध होते हैं।)

वामन और उद्भट समकालीन काव्यशास्त्री थे जिनका समय ८०० ई० के लगभग था। वामन ने ओज प्रसाद श्लेष समता समाधि माधुर्य सौकुमार्य, उदारता, अर्थव्यक्ति तथा कान्ति को काव्यगत अभिव्यंजना शैली के प्रधान गुण माने हैं। इस भाँति वामन ही प्राचीन काव्य शास्त्रियों में सर्वप्रथम आलोचक हुए जिन्होंने अभिव्यंजना परक वर्णनात्मक कला की विशिष्टताओं पर भी विचार किया है। इसलिये वे रीति अथवा भाषागत अभिव्यंजना (वर्णना) शैली को ही काव्य की आत्मा मानते हैं—

रीतिरात्मा काव्यस्य —

तथा—

ओज प्रसादश्लेषसमतासमाधिमाधुर्य।
सौकुमार्य उदारताय व्यक्तिकान्तयो बंद्य गुणाः॥"[1]

उद्भट ने भी वामन के समान काव्य के भाषागत सौन्दर्य एवं शैली पर विचार किया है तथा परुषा, नागरिका कोमला नामक तीन प्रकार की वर्णन शैलियों की व्याख्या की है। उद्भट ने काव्य में रस का महत्व स्वीकार किया, किन्तु उसे काव्य की आत्मा नहीं माना। उद्भट के अनुसार काव्य की आत्मा अलंकार है अर्थात वे काव्य के भाषागत सौन्दर्य को प्रधानता देते हैं।

आनन्दवर्द्धन (८४० से ८७० ई०) का ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' काव्य शास्त्र एवं रमणीय-तत्वों वर्णन की दृष्टि से एक युगान्तकारी ग्रन्थ माना जाता है। उन्होंने पहले पहल, ध्वनिवादी अलंकार पद्धति के विवेचन के क्रम को तोड़कर काव्य अथवा साहित्य की मार्मिक समीक्षा पर बल दिया क्योंकि काव्यशास्त्र पर अनेकानेक अलंकार ग्रन्थों के निरूपण द्वारा काव्य के उदात्त महत्व को भुला कर आलंकारिकता को ही काव्य सर्वस्व समझा जाने लगा था।

श्री आनन्दवर्द्धन के ध्वन्यालोक ग्रन्थ की एक विशद टीका, आंग्ल भाषा में डा० के० कृष्णमूर्ति ने की है। उसी के प्राक्कथन के रूप में श्री के० आर० श्रीनिवास अय्यंगर ने ध्वनि सिद्धान्त पर यों लिखा है—

साहित्य के अनुशीलन में रस अथवा अभिव्यंजित अनुभूति निर्णायक तत्व है तथा ध्वनि अथवा व्यंग्यार्थ का वैभव काव्य का प्राण है। रसध्वनि सिद्धान्त का यही

---

१ काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति (वामन) पृष्ठ १४ तथा ७० (प० जीवानन्द सम्पादित संस्करण, १९२२ ई० कलकत्ता)।

सार है जो कि काव्यशास्त्र पर लिखे गए संस्कृत महाग्रन्थों के बीच हिमालय के उत्तुंग शिखर के समान, हम सबमें अधिक आनन्ददायी है।[1]

कवि के शब्द मानो नवजीवन के नवोल्लास के नृत्य के समान है। ध्वनि ही कवि की आत्मा की वेगवती निर्झरिणी के समान सतत गतिशीला रहती है। जब कि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हमें, बाह्य जगत से परिचित कराती हैं यही छठी ज्ञानानुभूति ध्वनि' हमें जगत की वास्तविकता की प्रायः देहरी तक पहुँचा देने में कृतकार्य होती है।

आनन्दवर्द्धन के अभिव्यंजना सिद्धान्त की संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार है—

(क) मुख्यार्थ को छोड़कर लेखक या कवि, लक्ष्यार्थ अथवा अमुख्य अर्थ का सहारा लेता है। इसका कारण यह है कि वह उन्हीं लक्ष्यार्थों के द्वारा अपने प्रयोजन को अभिव्यक्त करता है। यही 'व्यंग्य' है जिसके द्वारा वह रसिक हृदय को प्रभावित करता है।

(ख) व्यंग्यार्थ का सुन्दरतम रूप ही 'रस' है। वह स्वसंवेद्य है। वह चर्वणा, अथवा मन में बार-बार चिन्तन द्वारा अनुभवगम्य है। माधुर्य, ओज एवं प्रसाद, मन की अवस्था का व्यक्त करते हैं जिनके द्वारा रसास्वादन सम्भव होता है।

(ग) महाकवियों के काव्य में शब्दों का व्यंजना-व्यापार भी प्रधान होता है। अतएव व्यंग्य-व्यंजक रूप शब्दार्थ सम्बन्ध ही, काव्यगत साहित्य-तत्त्व है। इस सम्बन्ध को ही, ध्वनि कहते हैं। अतः ध्वनि ही काव्य की आत्मा है। ध्वनि शब्द से व्यंग्य, व्यंजक और व्यंजना तीनों का बोध होता है।

(घ) रस के आस्वाद के लिए रसिक की योग्यता भी अपेक्षित है। यह योग्यता व्याकरण अथवा तर्क के ज्ञान मात्र से ही नहीं आ पाती। उसके लिए रसिक में प्रज्ञा की विमलता तथा वदग्ध्य होना आवश्यक है।

आनन्दवर्द्धन के 'ध्वन्यालोक' पर अभिनव गुप्त ने लोचन के नाम से जो पूर्वोल्लिखित प्रसिद्ध टीका रची है वह एक प्रकार से एक स्वतन्त्र शास्त्रीय ग्रन्थ ही माना जा सकता है। (लोचन अथवा आलोचन) यह दसवीं शती की कृति है।

अभिनव गुप्त ने 'ध्वनि' शब्द का सम्पूर्ण इतिवृत्त बताते हुए कहा है कि इसका

---

१ इन दि एप्रेसियशन आफ लिटरेचर रस आर कम्यूनिकेटेड सेंसिबिलिटी इज दि डिसाइडिंग फैक्टर एण्ड ध्वनि आर दि रिचनेस आफ अण्डर टोन्स, इन दि सोल आफ पोइट्री। सच इन ए नटशेल वाज दि 'रसध्वनि' थियोरी परहैप्स दि मोस्ट रिवार्डिङ्ग पीक्स आफ आल दि हिमालयाज आफ संस्कृत ट्रीटाइजेज आफ पोइटिक्स —के० आर० श्रीनिवास अय्यंगर, डी० लिट०, आंध्र विश्वविद्यालय (अपनी 'ध्वन्यालोक एण्ड थियरी आफ सजेशन इन पोइट्री' की प्रस्तावना में) [प्रकाशक पूना ओरियण्टल बुक एजेंसी पूना २] १९५५ ई० पृष्ठ ६१०

प्रयोग वैय्याकरणीयों ने केवल उच्चारण अर्थ में किया है। अर्थात एक ही शब्द का विभिन्न व्यक्ति विभिन्न ध्वनि में उच्चरित करते हैं। किन्तु काव्यालोचन में हम ध्वनि शब्द का प्रयोग लक्षित अर्थ के व्यंजना माध्यम के रूप में करते हैं। वस्तुतः यह 'ध्वनि' ही काव्य की आत्मा है किन्तु ध्वनिमात्र से साहित्य अथवा काव्य, रूपायित नहीं हो सकता यह प्रकट ही है। उसके लिए काव्यगत अन्य उपादानों की भी आवश्यकता पड़ती है। ध्वनि, काव्य की मौलिक सामग्री प्रस्तुत नहीं करता। यह तो काव्य की विशेषता, रमणीयता और अपूर्वता ही प्रदान करती है। कहना न होगा कि साहित्यसृजना की सभी मूलभूत सामग्री जुटाने का कार्य, कलाकार अपनी वर्णनात्मक कला के माध्यम द्वारा ही कर पाता है। अभिनव गुप्त ने 'ध्वनि' के इसी अपर पक्ष को, 'वस्तु ध्वनि' बताया है। इसी विलक्षण 'वस्तुध्वनि' की सहायता के लिए अभिनव गुप्त के शब्दों में अलंकार ध्वनि, रस ध्वनि तथा भावन ध्वनि भी साहित्य सृजना क्रम में, सतत् प्रवृत्त रहती हैं।

अभिनव गुप्त के रमणीय-तत्वशास्त्र को आधार बना कर ही डा० पांडेय ने भारतीय रमणीय तत्व (इंडियन एस्थटिक्स) नामक ग्रन्थ की रचना की है। उसी की प्रस्तावना में वे बलपूर्वक कहते हैं कि —

'अभिनव भारती, भारतीय रसतत्व शास्त्र का सब से अधिक महत्वपूर्ण एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थ है तथा उसमें वर्णित विषयों के सम्पूर्ण एवं मनोयोग-पूर्वक अध्ययन के बिना, भारतीय रमणीयतत्व के सम्बन्ध में कुछ भी लिखा जाना या कहा जाना सम्भव नहीं है।'[1]

भारतीय रमणीय तत्व बोध की प्राचीन शब्दावली में अनेक स्थलों पर 'अलंकार' शब्द का प्रयोग भी पाया जाता है। पहले यह रमणीयता-वाचक पद आधुनिक संकीर्ण अर्थों में प्रयुक्त नहीं होता था वह साहित्य में सौन्दर्य तत्व के पर्याय के रूप में ही प्रयुक्त होता था।

भामह, उद्भट, वामन एवं रुद्रट ने अपनी साहित्य समीक्षाओं का नाम 'काव्यालंकार' पद के साथ ही संयुक्त रखा था। उसमें, उन्होंने, रस, रीति, गुण वक्रोक्ति के अतिरिक्त सौन्दर्य बोध के 'कमनीय', 'ललित', 'चारु', आदि पक्षों पर भी विशद विवेचन किया है। भामह ने, अलंकार—शब्द का कहीं भी उसका वर्तमान अर्थ, नहीं दिया। इसी से इस शब्द की व्यापक एवं प्रचलित प्रकृति का समर्थन मिलता है जो कि उसके रूढ़ एवं आधुनिक अर्थों से मेल नहीं खाता।

दण्डी ने अलंकार को काव्य शोभाकर धर्मों का पर्याय बताया है।[2] वामन

---

१ डा० कान्तिचन्द्र पांडेय पी एच० डी०, डा० लिट०—कम्परेटिव एस्थेटिक्स', प्रथम खण्ड (इंडियन एस्थेटिक्स') प्रस्तावना भाग पृष्ठ १६ १७

२ काव्यशोभाकरान धर्मान अलंकारान प्रचक्षते। — काव्यादर्श दण्डी।

ने 'सौंदय अलकार' कहा है। अर्थात उसने स्पष्ट रूप से अलकार को, काव्य के 'सौंदय पक्ष' का वाचक पद बताया है। उक्त सभी आचार्य, आनन्दवद्धन के पूववर्ती हुए थे। अत जान पडता है कि ध्वन्यालोककार के समय 'अलकार' शब्द उसके आधुनिक सकीण अर्थों म भी प्रयुक्त होने लगा था। इसीलिए अपनी साहित्य समीक्षा म आनन्दवद्धन ने, काव्य के 'रमणीय पक्ष के सम्बन्ध म अलकार' शब्द का प्रयोग नहीं किया वरन उसे चारुत्व 'कमनीयक सौंदय तथा रमणीयता आदि सज्ञाओं द्वारा ही अभिहित किया है।[1]

आनन्दवद्धन से मम्मट तक, लगभग २५० वर्षों के अन्तर म अनेक महत्वपूण साहित्य शास्त्री एव कला समीक्षक हुए, जिनम से कुछ के ग्रन्थों का उल्लेख, भारतीय समीक्षा शास्त्र की दृष्टि से, आवश्यक माना जाता है तथा उनका विवेचना म बारम्बार उल्लेख आता है अत कालक्रमानुसार उल्लेख्य ग्रन्थों एव उनके रचनाकारों तथा उनके रचनाकालों का विवरण, इस भांति सारणी रूप म प्रस्तुत है —

आनन्दवद्धन	—	ध्वन्यालोक	सन् ८४० ई० ८७० ई०
राजशेखर	—	'काव्य मीमासा'	सन् ९२० ई०
मुकुल भट्ट	—	'अभिधावृत्ति मातृका	सन् ९२० ई०
भट्टतौत	—	काव्य कौतुक'	सन् ९५० ९८० ई०
भट्टनायक	—	हृदय दपण'	सन् ९५० १००० ई०
अभिनव गुप्त	—	लोचन, अभिनव भारती	सन् ९९० १०२८ ई०
कुन्तक	—	'वक्रोक्ति जीवित'	सन ९२८ १०७५ ई०
धनजय	—	'दशरूपक'	सन ९७५ ई०
धनिक	—	'अवलोक'	सन् ९७५ ई०
महिम भट्ट	—	'व्यक्ति विवेक	सन् १०२० १०६० ई०
भोज	—	सरस्वती कण्ठाभरण, शृगार प्रकाश'	सन् १०१५ १०५५ ई०
क्षेमेन्द्र	—	औचित्य विचार-चर्चा'	सन् १०५० ई०
मम्मट	—	काव्य प्रकाश	सन् ११०० ई०

उक्त आचार्यों म से, भट्टतौत, अभिनवगुप्त, क्षेमेन्द्र और मम्मट, आनन्दवद्धन के मन्तव्यों के अनुयायी हैं। मुकुल भट्ट, लक्षणावादी' हैं। महिमभट्ट, 'अनुमानवादी हैं। कुन्तक वक्रोक्तिवादी' हैं भट्टनायक व्यजना को पृथक रूप म स्वीकार नहीं करते। राजशेखर न 'कविरहस्य (अन्य नाम 'काव्य मीमासा') नामक ग्रन्थ म

---

[1] 'शब्दगता चारुत्व हेतव । कमनीयकम अनति वतमानस्य। काव्यस्य हि ललिता चित सन्निवेश चारुण ।'— ध्वन्यालोक' (आनन्दवद्धनाचाय)।

व्यावहारिक काव्य रचना शास्त्र पर विशद विचार किया है। इनके परवर्ती आचार्य प्रायः अलंकारशास्त्र की रीतिवादी परम्परा के उन्नायक हुए। (भारतीय साहित्य शास्त्रियों के रचना काल की उपयुक्त तिथियाँ श्री त्र्यम्बक देशपाण्डे कृत 'भारतीय साहित्यशास्त्र ग्रन्थ'[1] पर आधारित हैं) उपयुक्त तिथियाँ इतिवृत्तात्मक तथा विवरणों तथा अन्तःसाक्ष्य द्वारा भी समर्थित हैं।

भारतीय साहित्य शास्त्र में, रमणीय-तत्त्व के परिशीलन की उपयुक्त सुविस्तृत एवं विशाल परम्परा के इस संक्षिप्त पर्यावलोकन द्वारा प्रकट है कि हमारे देश में रमणीय-तत्व-परिशीलन लगभग दो सहस्र वर्षों की अक्षुण्ण परम्परा के रूप में निरन्तर क्रियाशील रहा। तत्पश्चात् भारतीय जीवन एवं स्वाध्याय-परम्परा में जिन विनाशकारी एवं विघटनकारी तत्वों का उदय हुआ वह भारतीय जातीय जीवन में सांस्कृतिक स्वाभिमान के मार्मिक ह्रास में प्रतिफलित हुआ। इतने व्यापक विनाश एवं विप्लव के पश्चात भी जितनी वैभवशाली सामग्री हमारे इस सुप्राचीन स्वाध्याय शील राष्ट्र में अद्यावधि उपलब्ध है, वही पर्याप्त रूप में हमारी सांस्कृतिक एवं कलात्मक प्रतिभा एवं साधना की ज्वलन्त साक्षिणी है।

यदि भारतीय साहित्य शास्त्रीय तथा कला समीक्षा से सम्बद्ध हमारी यह पुरातन निधि, हमारी विशिष्ट जातीय-परम्परा की महत्वपूर्ण कड़ियाँ अर्थात पुराण धर्म, अध्यात्म, रहस्य भक्ति आदि तत्वों से मिला जुला न रहती तो आज वह हमारे लिए, बहुमूल्य चिन्तन मनन एवं समालोचन साहित्य के रूप में, कहाँ उपलब्ध रह पाती? सौभाग्य से आज वह हमें अपने नवीन एवं आधुनिक समीक्षा शास्त्र की पुनरचना में समुपलब्ध है। हमारे विशाल देश में हर परिवार में प्राचीन हस्त लिखित ग्रन्थों को, धर्मग्रन्थों के समान वस्त्रों में यत्नपूर्वक बाँध कर, आदरपूर्वक पूजा उपासना-स्थानों में रखने रहने की परम्परा प्रचलित रही है। इन अनूठी धरोहरों में काव्य भी थे आध्यात्मिक ग्रन्थ भी थे एवं कलाकृतियाँ आदि अन्य बहुत प्रकार की सामग्रियाँ भी थीं। कभी कभी तो स्वयं उन्हें सजा कर रखने वाले उत्तराधिकारी इतने दिग्मूढ़ और अकिंचन हो गए थे कि अनेक बहुमूल्य ग्रन्थ विदेशी पर्यटकों एवं कलाविदों द्वारा कौड़ियों के मोल खरीद लिए गए और आज वे हमारी पहुँच से भी परे हैं। इन्हीं में आचार्य नन्दिकेश्वर कृत 'रसशास्त्र' भी है।

उपयुक्त परिस्थितियों में आचार्य विश्वनाथ कृत 'साहित्यदर्पण' (१३०० १४०० ई०) एवं पण्डितराज जगन्नाथ कृत 'रस-गंगाधर' (१६५० ई०) जैसे साहित्य शास्त्र पर रचे गए विशद समीक्षा ग्रन्थों का अवशिष्ट रह जाना भी एक परम विस्मय

१ 'भारतीय साहित्य शास्त्र' (श्री त्र्यम्बक देशपाण्डे) पृष्ठ १ २ तथा १२०। (प्रथम संस्करण—१९६० ई० पाप्युलर बुक डिपो, बम्बई ७)।

की बात ही मानी जानी चाहिए। इन ग्रंथों में न केवल अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की विचारधारा एवं चिंतन सरणी पर नवीन दृष्टिकोण से पर्यवेक्षण प्राप्त होता है वरन् उनमें कुछ ऐसी उदभावनाएँ भी मिलती हैं जो आधुनिक तर्क सिद्ध एवं वैज्ञानिक अनुसंधान प्रणाली से, पर्याप्त मेल खाती हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ-कृत रसगंगाधर एक विशेषतया विशिष्ट एवं उल्लेख्य समीक्षा ग्रंथ है इस ग्रंथ पर पर्याप्त भाषा टीकाएँ भी इसलिए उपलब्ध हैं क्योंकि यह, संस्कृत काव्यशास्त्र के अध्येताओं के लिए हमारे संस्कृत विद्यालयों में प्रायः पाठ्य ग्रंथ के रूप में भी प्रयुक्त होता रहा है। पण्डितराज जगन्नाथ, बड़े सहृदय साहित्य मर्मज्ञ एवं सुकवि भी थे। उन्होंने श्रीमदशंकराचार्य की 'सौन्दर्यलहरी' नामक, देवी सरस्वती के प्रशस्ति स्तोत्र की परम्परा में, अपने सरस एवं भावमय काव्य 'गंगा-लहरी' की भी रचना की थी जो गंगामैया की उपासना करने वाले भक्तों में, अपने गेय सारस्य के कारण सदियों से बड़ा लोकप्रिय स्तोत्र रहा है। अपनी काव्य सम्बन्धी नूतन एवं गहन रुचि के कारण ही पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रमणीयतत्व' एवं 'रसतत्व' के बीच के विभेद को भली भाँति समझा और उसे अपनी विशद व्याख्या द्वारा विवेचित भी किया। भारतीय रमणीय शास्त्र के आधुनिक लालित्य शास्त्र के पुनर्निर्माण में यह ग्रंथ रत्न परम सहायक सिद्ध होता है।

'रसगंगाधर' के उक्त वैशिष्ट्य की ओर सर्वप्रथम लालित्य शास्त्रीय (अथवा अधिक प्रचलित शब्दावली में सौन्दर्य शास्त्रीय') दृष्टिकोण पर ध्यान देने का श्रेय स्व० डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त डी० लिट० को है। उन्होंने बंगला भाषा में 'सौन्दर्यतत्व' नामक एक अभिनव ग्रंथ सन १९४०-४१ ई० में ही रच कर प्रकाशित कराया था। इसमें उन्होंने पौरस्त्य (प्राच्य) तथा पाश्चात्य विद्वानों के सौन्दर्य सम्बन्धी विचारों की, विशद व्याख्या की है और उनके सम्बन्ध में, अपनी निजी भावनाओं एवं अभिमतों का भी विशद विवेचन किया है। उक्त ग्रंथ के प्रथम अध्याय में उन्होंने प्राचीन भारतीय सौन्दर्य शास्त्रियों की धारणाओं का स्पष्टीकरण करते हुए सौन्दर्य तत्व का सर्वांगीण एवं तुलनात्मक अध्ययन भी किया है।

स्वर्गीय आचार्य दासगुप्त, लखनऊ विश्वविद्यालय में दर्शन विभाग के अध्यक्ष थे एवं दर्शन शास्त्र के विद्वान के नाते उनका देश विदेश में पर्याप्त मान-सम्मान हुआ था। वे पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति के आधुनिक दृष्टिकोण से भी सुपरिचित थे। उन्होंने अपने भारतीय साहित्य शास्त्रियों एवं सौन्दर्य शास्त्रियों के विचारों पर इसी दृष्टि से अभिनव विचार भी किया है। डा० दासगुप्त का मत है कि पंडितराज जगन्नाथ के ग्रंथ रसगंगाधर में, रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को जो काव्य' की संज्ञा दी गई थी उसमें सौन्दर्य अथवा रमणीय तत्व का, रस-तत्व से भिन्नत्व वाली दृष्टि का, पर्याप्त निर्देश मिलता है। डा० दासगुप्त ने पंडितराज जगन्नाथ की उक्त उद्भावना पर विशद विचार किया है तथा रमणीयता' शब्द का तात्पर्य समझाते

हुए उन्होंने 'लोकोत्तराह्लादजनक ज्ञानगोचरता' पंक्ति को उद्धृत किया है—अर्थात लोकोत्तर शब्द का कोई विशेष लक्षण निश्चित नहीं किया जा सकता। हम उसे केवल अपने निजी अनुभव के द्वारा ही समझ सकते हैं।

'लोकोत्तरत्वम् चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापर पर्यायोऽनुभव साक्षिको जाति विशेष। कारणाञ्च तदवच्छिन्न भावना विशेष। पुन पुन अनुसंधानात्मा। नामक सूत्र की डा० दासगुप्त ने इस भाँति टीका की है कि वे हमारे चित्त में, वासना रूप से सस्थित सस्कार ही रमणीयता कहलाने वाले चमत्कार की पृष्ठभूमि तैयार करते है। अनेक सस्कारों के बार-बार प्रबोधन तथा अनुसन्धान के द्वारा ही चमत्कार की सिद्धि होती है। यह चमत्कार मुख्यत दो रूपों में, दीख पड़ता है। एक तो इसका स्वरूप लोकोत्तर होता है और दूसरे यह ज्ञान आह्लाद तथा क्रिया वृत्ति का सम्मिश्र रूप प्रस्तुत करता है। इसे 'लोकोत्तर' कहने का अभिप्राय यह है कि सासारिक प्रयोजन तृप्ति से जो आनन्द होता है यह आनन्द (काव्यानन्द) उससे विलक्षण प्रकार का ही है।

रमणीयता' के उपरिलिखित लक्षण पर ध्यान देने से यह स्पष्टतया विदित हो जाता है कि पडितराज जगन्नाथ ने 'चमत्कार' को सौन्दर्य कहा है। इसे अंग्रेजी में 'इमोशनल थ्रिल' (भावभरा रोमाच) भी कहा जा सकता है यह भाव, हमारे हृदय में किसी सुन्दर वस्तु के सौन्दर्य को देख कर, उत्पन्न होते हैं। इस भाँति हमारे मन पर किसी समय बहुत पहले देखी हुई किसी सुन्दर वस्तु का एक प्रभाव अवशिष्ट रह जाता है जिसे सस्कार कहते हैं। इन्ही सस्कारों के सहारे ही सौन्दर्य बोध होता है। सुन्दर वस्तु एव सौन्दर्य की अनुभूति की हमारे अचेतन मन पर एक चिरस्थाई छाप पड़ी रह जाती है। कालान्तर में किसी वैसी ही सुन्दर वस्तु को देखते ही वही अचेतन चित्र मानस स्तर पर फिर उभर आता है। वही अपने उसी स्वरूप में, हमारे लिये आनन्ददायी सिद्ध होता है। पुरानी सुन्दर वस्तु के समान ही, कोई नई वस्तु देख कर उसकी अकस्मात परस्पर समानता देखते ही हमारे मन में आह्लाद जाग उठता है। इसी कारण पंडितराज ने सौन्दर्य को 'अनुसंधानात्मक' कहा है। साराश यह है कि प्राचीन प्रभावों का, वर्तमान ज्ञान के साथ भावात्मक सयोग घटित करा देना ही सौन्दर्य का मूल तत्व है।[1]

पडितराज जगन्नाथ द्वारा सौन्दर्य को पुन पुन अनुसंधानात्मक तथा 'भावना विशेष' मानने से, वर्णनात्मक साहित्य सजन की समग्र कलात्मक प्रक्रिया को

---

१ सौन्दर्य तत्व (डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त पी एच० डी०, डी० लिट०) (मूल बगला में सन १९४० में रचित) (हिन्दी रूपान्तरकार डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित) (प्रथम प्रकाशन २०१७ वि० सन १९६० ई०, प्र० भारती भंडार इलाहाबाद।)

सुलझाने में, पर्याप्त योग मिलता है। कवि अथवा उपन्यासकार ने मन में, किसी समय विशेष पर, किसी सुन्दर वस्तु में, सौन्दर्य बोध के संयोग द्वारा कालान्तर में उसी के संस्कारों के, पुनः उभर आने पर वर्णन प्रक्रिया में, वे ही अव्यक्त सौन्दर्य चित्र पुनः उभर आते हैं और इस भांति, कभी कभी तो वे, अपने व्यक्त सौन्दर्य-वैभव से, स्वयं लेखक को भी चमत्कृत कर देते हैं। पाठकों के मन पर तो उनका अभूतपूर्व प्रभाव चिरस्थायी हो ही जाता है।

पण्डितराज जगन्नाथ से पहले तथा भरतमुनि के पश्चात् हमारे अनेकानेक साहित्य शास्त्रियों ने भी इसी साहित्यगत रमणीय तत्व के सम्बन्ध में, अपने-अपने निजी मन्तव्य प्रकट किये हैं किन्तु उन सभी ने प्रायः 'रसात्मक कृति' तथा 'रमणीय तत्व' इन दोनों पदों को एक दूसरे के समान अर्थों में व्यवहृत किया है। 'रस' और 'रमणीयता' दोनों की सहस्थिति सम्मान्य है किन्तु अनिवार्य नहीं। वस्तुतः ऐसे विशिष्ट वर्णन, वर्णनात्मक कला की दृष्टि से, उत्तम वर्णन कहे जा सकते हैं जो अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं तथा रसनिष्पत्ति अथवा रसात्मकता से जो सीधे आबद्ध नहीं हैं। पंडितराज जगन्नाथ ने इसी प्रसंग में स्पष्ट कहा है कि सब प्रकार की रमणीयता के साथ, रस हो तो सकता है किन्तु ऐसे भी अनेक स्थल होते हैं, जहां, 'रस' प्रधान न होकर, रमणीयता ही प्रधान होती है।' उन्होंने इसे निम्न शब्दों में समझाकर कहा है —

'रसवदेव काव्यमिति साहित्यदर्पणे निर्णीतम, तन्न। रसवत अलंकार प्रधाना नाम काव्यानाम अकाव्यत्वापत्तेः। न तष्टापत्तिः। महाकवि सम्प्रदायस्य आकुली भाव प्रसंगत। तथा च जलप्रवाह वेग पतनोत्पतनोत्पतन भ्रमणानि, कविभिर्वर्णितानि कोऽपि बालाश्चिविलासितानि च। न च तत्रापि यथा कथंचित परम्परया रसस्पर्शोऽस्त्येव इति वाच्यम्। अथ मात्रस्य विभावानुभाव्यभिवाय यतमत्वात।' (अर्थात 'रसमय वाक्य को ही काव्य मानना उचित नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने से, जिन काव्यों में वस्तु वर्णन अथवा अलंकार वर्णन ही प्रधान होगा वे सभी 'काव्य' न कहे जा सकेंगे। उन्हें काव्य न मानना भी इसलिए उचित नहीं जान पड़ता कि वैसा होने पर, कवियों की जो प्राचीन परिपाटी चली आई है उसमें गड़बड़ी उत्पन्न हो जायगी। उन्होंने स्थान स्थान पर जल के प्रवाह, वेग पतन और उत्पतन, भ्रमण आदि की क्रीड़ाओं का विशद वर्णन किया है। प्रश्न किया जा सकता है कि क्या वे सब काव्य नहीं हैं? यदि इसके समर्थन में यह कहा जाय कि ऐसे वर्णन भी उद्दीपन आदि गुणों के कारण, रस में सम्बद्ध रहते ही हैं, तब तो, चल चलता है 'हरिण दौड़ता है' आदि वाक्य भी, काव्य होने लगेंगे। क्योंकि जगत की जितनी वस्तुएँ हैं वे सब, विभाव अनुभाव अथवा संचारी भाव कुछ न कुछ तो हो ही सकती हैं। अतएव यह लक्षण ठीक नहीं।)

पण्डितराज जगन्नाथ ने इसीलिए एक बड़ा काम यह किया है कि उन्होंने वर्णनात्मक कला को, 'रस सिद्धान्त से पृथक एवं स्वतन्त्र रमणीय तत्व का अधिकारी सिद्ध कर दिया है। इसी दृष्टि से श्री श्यामसुन्दरदास ने अपने 'उपन्यास और रस' वाले प्रसंग को उठाया था तथा श्री गुलाबराय जैसे दो एवं वरिष्ठ आलोचकों ने भी उनका समर्थन किया था किन्तु वह तत्वतः एवं कलात्मक कसौटी पर यथार्थ नहीं उतरता। सम्भवतया उनकी दृष्टि में, पण्डितराज जगन्नाथ की कसौटी नहीं आ पायी थी।

आचार्य सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने, रोम विश्वविद्यालय में भारतीय कला के मूलतत्व (फण्डामेण्टल्स आफ इण्डियन आर्ट) पर अपनी भाषण माला प्रारम्भ करते हुए पण्डितराज जगन्नाथ के सम्बन्ध में निम्न प्रशंसात्मक वाक्य कहे थे जो अक्षरशः यथार्थ है —

पंडित जगन्नाथ एक ऐसे भारतीय लेखक एवं सौन्दर्य शास्त्री हुए हैं, जिन्होंने, सर्वप्रथम सत्रहवीं शती में सौन्दर्ययुक्त पदार्थों के लिए, रमणीय शब्द का प्रयोग किया और जिन्होंने साहित्य की परिभाषा करते हुए यह भी कहा था कि साहित्य वही है जो अपने अर्थों में रमणीय हो और जिसमें रमणीय अर्थ की अभिव्यंजना के लिए उपयुक्त शब्दावली का प्रयोग पाया जाये।[1]

विगत ढाई हजार वर्षों में जिन भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने समय समय पर काव्य अथवा साहित्य में, रमणीय तत्व अथवा सौन्दर्य-बोध के सम्बन्ध में प्रसंगवश कुछ ऐसी उद्भावनाएँ की हैं जिनसे प्रस्तुत प्रसंग अर्थात् वर्णनात्मकता के रमणीय पक्ष तथा उसके कलात्मक विन्यास के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार-सामग्री उपलब्ध होती है। आचार्य नन्दिकेश्वर तथा भरतमुनि के समय में और उनके पश्चात् कुछ कालान्तर तक साहित्य शास्त्रियों का ध्यान काव्य में रसात्मक तत्व के प्रतिपादक विविध तथ्यों के, सांगोपांग अनुसंधान की ओर अग्रसर रहा। यही विश्व-समीक्षा शास्त्र को भारत की सबसे बड़ी एवं अनूठी देन है। समग्र रमणीयतत्व बोध को सारूप में रखा जाना दुष्कर है फिर भी उसके मुख्य तत्व इस भांति हैं—

ईसवी शती ६०० के आसपास भामह ने अपने ग्रन्थ (काव्यालंकार) में

---

१ पंडित जगन्नाथ वाज दि फर्स्ट इण्डियन राइटर आन एस्थेटिक्स हू इन्ट्रोड्यूस्ड दि यूज आफ दि टर्म रमणीय इन दि सेवेन्टीन्थ सेंचरी इन दि सेन्स आफ 'ब्यूटीफुल' इन ए फिट कान्सोनेन्स आफ वर्ड्स एण्ड देयर मीनिंग्स। — डॉ० एस० एन० दासगुप्ता डी० लिट० (रोम विश्वविद्यालय द्वारा डी० लिट० उपाधि द्वारा सम्मानित होते समय दी गई भाषण माला— फण्डामेण्टल प्रिंसिपल्स आफ इण्डियन आर्ट — मई सन १९३९ ई० रोम। (प्र० भारतीय विद्या भवन, बम्बई ७) (१९५४ ई०)।

रमणीय तत्व बोध के लिए 'प्रीति' शब्द का प्रयोग किया, अर्थात् वे ही पदार्थ रमणीय हैं, जो प्रिय हैं या जो अच्छे लगते हैं। उपन्यासकार अपनी वर्णनात्मक कला की सम्यक् अभिव्यंजना के लिए, बहुधा ऐसे दृश्य अथवा व्यक्तियों का चित्रण करता है जो उसे अभी अभी प्रिय लगे हैं अथवा जिनकी पूर्वस्मृति उसे बारम्बार प्रिय रही है। प्रीति तत्व, लेखक को अपनी वर्ण्य वस्तु का छाँटने में ही सहायता नहीं पहुँचाता वरन् वह उसे अपनी वर्ण्यवस्तु में प्रीति अथवा निजी अनुरक्ति का रसात्मक संचार करने में भी प्रेरक होता है और यही उसकी कृति को लोकप्रिय बनाने में सबसे अधिक सहायक होता है।

भामह के ही समकालीन दण्डी के मन से माधुर्य ही रमणीय है। मधुर वर्ण्यवस्तु वर्णनीय है। जिन पदार्थों को हम आज मधुर कहते हैं उनके साथ, 'मिठास' का संस्कार जुड़ा रहता है। किन्तु कालिदास ने भी मधुर शब्द का प्रयोग सुन्दर और रमणीय के लिए किया है।[1] मधुर शब्द का प्रयोग प्रायः ऐसे ही पदार्थों के लिए होता रहा है जो प्रकृति से ही सुन्दर हो। वर्णनात्मक कला की दृष्टि से यह माधुर्य गुण, कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। प्रकृति सहज मधुर है ही। जो भी व्यक्ति अथवा पदार्थ, प्रकृति का सहज माधुर्य लिए हुए है वह वर्णन में, उतना ही अधिक आह्लादकारी होता है। इस भाँति 'प्रियत्व' से माधुर्य कहीं अधिक मनोवैज्ञानिक सत्य है। वह हमारी तर्क सिद्ध चिन्तन प्रणाली के लिए अधिक समाधानकारी भी है।

आठवीं शती ईसवी के आचार्य उद्भट ने जिन वृत्तियों का वर्णन किया है वे भी वर्णनात्मक कला की दृष्टि से इसलिए महत्वपूर्ण हैं कि अपने कलात्मक वर्णनों में कुशल उपन्यासकार अथवा कवि, जाने अनजाने, यथावसर परुषा, नागरिका कोमला, रीतियों का प्रयोग करता ही रहता है। विशिष्टतया ऐसे उपन्यासकार जिनकी कलात्मक रुचि विशेष उद्बुद्ध है भाव, भाषा और वर्ण्यवस्तु के सामंजस्य से, कभी उदासीन नहीं रहते।

आचार्य राजशेखर ने अपने काव्यमीमांसा ग्रन्थ में 'काव्यपुरुषोत्पत्ति' के सन्दर्भ में काव्यपुरुष द्वारा, विदर्भ, गौड़ और पांचाल देश के पर्यटन सम्बन्धी प्रसंगों को भी उत्तम वर्णनात्मक साहित्य कृति की विशेषताएँ उदाहृत करने के लिए समाविष्ट किया है। उत्तम वर्णनात्मक साहित्यिक कृति के लिए गौड़ी, वदर्भी, पांचाली—तीनों ही रीतियों के व्यवहार का परिज्ञान, कवि अथवा उपन्यासकार, दोनों ही के लिए आवश्यक है। औमेयी का काव्य पुरुष से परिणय, विदर्भ में पहुँच कर कराया गया है। इसका सांकेतिक अभिप्राय यह है कि शृंगार आदि प्रसंगों में, वदर्भी रीति का प्रयोग

---

१ सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥
—महाकवि कालिदास, अभिज्ञान शाकुन्तलम्' २/२६

होना ही उचित है। इसी प्रकार इसी ग्रन्थ के सातवें अध्याय[1] में भी वदर्भी गौडी पांचाली रीतियों का पुनः उल्लेख करके यह भी समझाया गया है कि इन रीतियों में साक्षात देवी सरस्वती निवास करती हैं। इस भांति राजशेखर ने वर्णनात्मक कला के इन सूक्ष्मतम तथ्यों पर विशद विचार किया है।

'ध्वन्यालोक' कार आनन्दवर्द्धन ने, ध्वनि अथवा सुझाव (सजेशन) को काव्य का प्राण बताया है अर्थात् दो टूक बात कह देना, कलात्मक नहीं होता। केवल अभिधा में किसी भाव को व्यक्त कर देना, लालित्य प्रधान नहीं हो सकता। आनन्दवर्द्धन की निर्धारित कसौटी पर सर्वथा यथार्थ वर्णन करने के आग्रही उपन्यासकार वस्तुतः कलाकार कहलाने के अधिकारी नहीं हो सकते। कैमरा के समान ज्यों के त्यों वर्णन में, कोई भी कलात्मकता नहीं है। कलात्मक वर्णन प्रक्रिया है कुछ विशिष्ट प्रतीकात्मक तथ्यों अथवा पदार्थों पर बल देना तथा अन्यों का परिहार करना।

अभिनवगुप्त ने अपने 'लोचन' नामक ग्रन्थ में ध्वनि के त्रिविध विवरणों की विशद व्याख्या की है व (वस्तुध्वनि अलंकार ध्वनि तथा रसध्वनि) न केवल उत्तम काव्य की महान विशिष्टताएं हैं वरन वस्तुतः वे ही वर्णनात्मक कला से युक्त उपन्यासगत वर्णनों की प्राण हैं। यही ध्वनियाँ वर्णनों में एक अपूर्व द्युति एवं चमत्कार का समावेश कर देती है जिसके कारण उपन्यासगत वे वर्णन चिरस्मृत हो जाते हैं।

अलंकारवादी आचार्यों की साहित्यशास्त्रीय मौलिकता एवं उनकी साहित्यिक सूझ बूझ पर पिछले दशकों में पर्याप्त अनुदार आलोचना होती रही है। सम्भवतया यह समीक्षात्मक अनुदारता हमारे राष्ट्रीय संग्राम में शृंगारिक वृत्तियों के बाधक होने की बात को लेकर ही प्रचलित हुई होगी। वस्तुतः अधिकांश आद्य अलंकार शास्त्रियों ने काव्य में सौन्दर्य-तत्व की परिव्याप्ति में सूक्ष्मतम अनुसंधान किया है। उनका दृष्टिकोण कभी भी संकीर्ण अथवा रूढ़ नहीं रहा जैसा कि उनके परवर्ती अनुयायियों में बहुत समय बीत जाने के पश्चात दृष्टिगोचर हुआ था। इन आद्य अलंकार शास्त्रियों ने (जिनके नेता दण्डी थे) साहित्य के समग्र सौन्दर्य तत्व को ही अलंकार संज्ञा द्वारा अभिहित किया है। उपन्यास रचना में यह वर्णनात्मक सौन्दर्य अथवा रमणीयत्व वर्णनात्मक दृष्टि से अत्यन्त महत्वशाली है। उपन्यास तो बहुत बड़ी संख्या में रचे जाते हैं किन्तु उनमें कोई विरले ही ऐसे होते हैं जिनमें लेखक ने वर्णनात्मक

---

१ वदर्भी गौणाया पांचाली चेति रीतियस्तिस्त्र।
आसु च साक्षात् निवसति सरस्वती तेन लक्ष्यते॥

—काव्य-मीमांसा (राजशेखर) अध्याय ७, पृष्ठ ८२

सौदय पर ध्यान दिया हो। महाकाव्य की अपेक्षा उपन्यास कहीं अधिक लोक काव्य होता है अत उसम कृत्रिम अलकरण की ओर ता वण्यवस्तु एव अलकरण के सम्यक सहजभाव को ही सर्वाधिक महत्व दिया जाता है।

अन्य आचार्यों की तुलना म पडितराज जगन्नाथ (सत्रहवीं शती ई०) कहीं अधिक निकट वर्ती जान पड़ेंगे। इसी भांति उनका साहित्य समीक्षा का अनुपम ग्रन्थ रत्न 'रस गगाधर' भी हमारे आधुनिक साहित्य मानीकरण के अधिक निकटस्थ रचना जान पड़ती है। पण्डितराज की समीक्षात्मक प्रतिभा कितनी अनूठी और मौलिक थी इस सम्बन्ध म स्व० डा० दासगुप्ता ने जो कुछ कहा है उससे अधिक क्या कहा जा सकता है? लोकोत्तरत्वम अनुसंधानात्मा।' वाला उनका सौन्दय सूत्र तो वस्तुत एक पृथक एव उत्तम समीक्षा ग्रन्थ का प्रतिपाद्य बनाये जाने योग्य ही है। उपन्यास रचना म प्रवृत्त अथवा उपन्यास रचना की ओर उन्मुख, दोनो ही कोटियो के कलाकारो के लिए यह सूत्र मन्त्र के समान, पुन पुन स्मरणीय है। हमारे चित्त म वासनारूप म सचित सस्कार ही रमणीयता चमत्कार की पृष्ठभूमि तयार करते है। अनेक सस्कारो के पुन-पुन प्रबोधन एव उनके उत्तरोत्तर अनुसधान (मौलिक सूझ) के द्वारा ही 'रमणीयता चमत्कार' की सिद्धि होती है। यह चमत्कार लौकिक पक्ष म आह्लादक अथवा मनोरजक होता है तथा आध्यात्मिकपक्ष मे 'लोकोत्तर' आनन्द का प्रदाता होता है। उपयुक्त दोनो प्रकार की मानसिक एव आत्मिक तृप्ति द्वारा ही, उत्तम औपन्यासिक कृति युग युग तक अपने पाठकों को लोकोत्तर आनन्द एव शाश्वत सुख की प्रदात्री बनती है।

पण्डितराज जगन्नाथ न, अनेक अर्थों म काव्य म (अथवा 'गद्यकाव्य' उपन्यास म) वणनात्मक कलात्मक रमणीयत्व का सम्पूण समाधान प्रस्तुत किया है। वे भारतीय रमणीयता शास्त्र (एस्थेटिक्स) की भी आधारभूत एव प्रामाणिक रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं। उत्तम उपन्यासकार अपनी औपन्यासिक कृति म उत्तम वणनात्मक प्रतिभा के सयोग द्वारा किस भांति 'रोमाचकारी आनन्द' (इमोशनल थ्रिल) को सचारित करने म समय होता है इस सूक्ष्म प्रक्रिया को भी पडितराज ने विशद रूप स समझाया है। 'रमणीयता का जन्म हमारे हृदय म किसी भी मधुर, प्रियकर अथवा सुन्दर वण्यवस्तु को देख कर होता है। यह सौन्दय-बोध हमारे मनोगत सस्कारों की प्रतिच्छवि है। कभी किसी भी स्मरणीय क्षण मे आँखो में समाया हुआ, किसी भी दृश्य पदाथ का प्रत्यक्ष अथवा रहस्यावृत्त रूप अथवा रमणीयत्व ही हमारे इन सस्कारो का मूलस्रोत है। ये सस्कार ही हमे उत्तरोत्तर सौन्दयबोध के रस विश्व म विहरन की सिद्धि प्रदान करते है। इस भांति समय के प्रवाह म सरपट गुजर जाने वाले असख्य नश्वर एव ओझल हो जाने वाले पदाथ, भी हमारे अन्तरतर म चिरकालतक, मुहुमुहु आनन्ददायी बन जाते हैं। पहले कभी देखे हुए सुन्दर अथवा रमणीय पदाथ की स्मृति, किसी वतमान म, दृष्टिपथ म आने वाले समान गुणधर्मी पदाथ द्वारा, सहसा जाग्रत एव हरी हो

जाती है और वह हमारे मन को एक विलक्षण एव अनिर्वचनीय आनन्द से आप्लावित कर जाती है। उत्तम उपन्यासकार, इसीलिए सतत पुन-पुन अनुसन्धानात्मक प्रयोगों में, रत रहता है और वह अपने सद्य दृष्ट अथवा पूर्वस्मृत वर्ण्य पदार्थों को हर बार ही, नव नव आविष्कार प्रवृत्ति के द्वारा प्रस्तुत करके हमे चमत्कृत कर जाता है।

आजकल उपन्यास गत विशिष्टताओ की समीक्षा में ऐसे अनेकानेक प्रसग भी आ जाते है जिनका सम्बन्ध पाश्चात्य जगत में किए जाने वाले समीक्षात्मक अनुसंधानों से भी रहता है। जैसा कि स्व० डा० राजबली पाडेय का मत है पाश्चात्य अभिमतों को ग्रहण करते समय हम परम विवेक से काम लेना होगा। प्राय पाश्चात्य समीक्षात्मक उद्भावनाओं का भारतीय वाङ्मय पर आरोप भ्रांति पथ तक वितर्क एव धूमिल आलोचनात्मक ऊहापोह को जन्म देने वाला ही सिद्ध होता है। इसका कारण भी प्राय प्रत्यक्ष एव सहज ही है। पश्चिम में आलोचना का सम्यक एव व्यवस्थित उद्भव एव विकास अभी कठिनाई से दो शतियो का अन्तर लाघ पाया है। अधिकांश पाश्चात्य समीक्षाशास्त्री अक्षय एव प्रभूत भारतीय काव्य विमर्श एव साहित्य समीक्षण से प्राय कोरे रहे थे। उनकी विलक्षण प्रतिभा की पहुँच का क्षेत्र एव विचारभूमि भी सीमित थी। अनेकानेक भारतीय साहित्यशास्त्रीय उपनिषदों का तो बहुतो ने नाम भी नहीं सुना था। उनमे से अनेको ने उत्तमोत्तम भारतीय साहित्यिक काव्यकृतियो एव उपन्यासो के मूल में तो क्या अनूदित रूप में भी दर्शन नहीं किए थे। इसीलिए उनकी समीक्षात्मक सरणियॉं प्राय क्षेत्रीय एव 'सामयिक' ही रही हैं। उनमे से विरले ही ऐसे मिलेंगे जिनमे भारतीय चिन्तन के औदार्य एव शाश्वत तत्व की परछाई भी दीख पडेगी। इसलिए किसी भी पाश्चात्य साहित्य-समीक्षा कला समीक्षा अथवा सौन्दर्य समीक्षा (एस्थटिक्स) के सिद्धान्तो को हम केवल अपने निजी विवेक के द्वारा ही अपने विवेचन में उपयोग कर सकते है। इसी तथ्य को सम्मुख रखते हुए यहां सक्षेप में उन्ही तथ्यो का एव कला-समीक्षा की केवल उन्ही उपलब्धियो का उल्लेख किया जाना उचित होगा जो भारतीय वाङ्मय गत वर्णनात्मक कला के अनुसधान में किसी भी रूप मे योग प्रदान कर पाएँ।

जिस रमणीयशास्त्रीय अनुसधान की परम्परा को पंडितराज जगन्नाथ ने सम्पूर्ण शास्त्रीय विवेचन की कोटि तक पहुँचा दिया था उसकी परिणति (रस गंगाधर) की तिथि सन १६५० ईसवी है। किन्तु पाश्चात्य जगत में एस्थेटिक्स नामक नूतन पद का आविष्कार १८ वी शती के मध्य में जर्मनी में बामगार्टेन नामक विचारक ने किया था। इस बात को आज कठिनाई से दो सौ वर्ष ही हो पाये है। अतएव दो सौ वर्षों के इस शिशुवत पाश्चात्य रमणीयत्व के अनुसधान की, ढाई सहस्रवर्षीय सुविकसित रमणीयशास्त्र से तुलना अकल्पनीय है—यह तथ्य तो हमे सदैव अनुस्मृत रखना ही होगा। आधुनिक आंग्ल सौन्दर्यशास्त्री हैरल्ड आसबार्न ने, अपने थियोरी

आफ ब्यूटी' ग्रन्थ की प्रस्तावना में इस रूपनिष्ठ विज्ञान (एस्थेटिक्स) के उद्भव के सम्बन्ध में यों लिखा है —

' एस्थेटिक्स' हमारे समीक्षात्मक शास्त्रों में एक कनिष्ठतर विज्ञान है। अठारहवीं शती के मध्य में बामगार्टेन ने इसको जन्म दिया था और आगे चल कर उसी का समावेश मनोविज्ञानशास्त्र में ज्ञानेन्द्रियों द्वारा संगृहीत परिज्ञानों के प्रसंग में, किया जाने लगा।'[1]

'सौन्दर्य' 'परातत्त्व' का संवेदनशील दर्शन है, सत्य 'परातत्त्व' का तर्कशील परिज्ञान है तथा मंगल 'परातत्त्व' की संकल्प-द्वारा अनुभूति है।' ऐसी रहस्यात्मक उद्भावना का जनक बामगार्टेन, जर्मनी में (सन् १७१४ १७६२) हुआ था। तत्पश्चात् जर्मनी और उसके आसपास के प्रदेशों में सौन्दर्य तत्त्व पर अनेक दार्शनिकों एवं विचारकों ने विचार विमर्श प्रारम्भ किया। उनमें विंकेलमन (१७१७ १७६७ ई०) काण्ट (१७२८ १८०४ ई०) तथा मेन्डेलसोहन (१७२९ १७८६ ई०) प्रायः सभी बामगार्टेन के समकालीन विचारक हुए। किन्तु इन आद्य विचारकों एवं दार्शनिकों के पश्चात् वस्तुतः सौन्दर्य शास्त्रीय परिज्ञान का पाश्चात्य दर्शन एवं साहित्य समीक्षा में सम्यक् निरूपण करने वाले कवि-दार्शनिक-कलाविद गेटे (जोहेन वाल्फगैंग वान गेटे) हुए, जिनका समय (१७४८ १८३२ ई०) पिछली शताब्दी के प्रथम चरण तक पहुँच जाता है। उनकी 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' की भाव विभोर प्रशस्ति के कारण उनका नाम अनेक भारतीयों की स्मृति में रहा है। वस्तुतः रमणीय तत्त्व सम्बन्धी भारतीय वाङ्मय का सर्वप्रथम अनुशीलन करने वाले यूरोपियन विद्वान गेटे ही कहे जा सकते हैं। गेटे का विचार है कि—

सौन्दर्य व्याख्यानातीत है और 'सुन्दर' एक तात्त्विक दृश्य है। वह कदापि मूर्त नहीं हो सकता। किन्तु उसका प्रतिबिम्ब सृष्टा एवं द्रष्टा की सहस्रावधि विभिन्न अन्तर्प्रेरित ज्ञान की अभिव्यक्तियों में, दृश्यमान होता रहता है तथा उसकी विभिन्न रूपता प्रकृति के समान ही असंख्यरूपा है।'

गेटे के उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि सौन्दर्य एक रहस्यमय अमूर्त तत्त्व है एवं एक सहज प्रतिभा सम्पन्न कलाकार की कृतियों में ही उसके विविध रूपों का प्रतिबिम्ब प्रतिभासित होता है। गेटे कला को प्रकृति की मात्र प्रतिकृति नहीं मानते— कला का नाम 'कला' इसीलिये है कि वह मात्र प्रकृति नहीं है।

---

१ एस्थेटिक्स इज ए जूनियर एमंग दि क्रिटिकल साइंसेज। इट वाज बिगाटेन इन दि मिडिल आफ एट्टीन्थ सेंचुरी बाइ बामगार्टेन एण्ड दस टेंडेड इन्टु दि स्टडी आफ सेंसरी परसेप्शन।' —हैरल्ड ऑस्बान 'थियरी आफ ब्यूटी' (प्रस्तावना, पृष्ठ १) (प्र० रटलेज एण्ड कीगन पाल, लन्दन, १९५२ ई०)।

गेटे के पश्चात अनेकानेक दार्शनिकों ने, अपनी अपनी भावनाओं के अनुसार, सौन्दर्य-तत्त्व की प्रासंगिक विवेचना की है किन्तु उनका चिंतन मूलतः दार्शनिक एवं रहस्यपरक ही था। उसे विशुद्ध कलात्मक एवं वाङ्मयीन कोटि का विचार विमर्श नहीं माना जा सकता। जर्मनी दर्शनशास्त्र की विगत दो शताब्दियों में ज्ञान भूमि रहा है। शिलर (१७५६ १८०५ ई०), हीगल (१७७० १८७१ ई०) तथा लाज (१८१७ १८८१ ई०) प्रसिद्ध एवं प्रख्यात नामा दार्शनिक हुए हैं। किन्तु प्रायः सभी ने परप्राकृत अथवा आध्यात्मिक सौन्दर्य तत्त्व पर ही बल दिया है।

जर्मनी के उपरान्त उसी के पड़ौसी राष्ट्र फ्रांस में भी सौन्दर्य विवेचन की चर्चा चल पड़ी और बत्तो (१७१३ १७८० ई०) दिदरो (१७१३ १७८४ ई०), ए० सी० क्वानियर दि क्विन्सी (१७५५ १८४६ ई०) तथा कजिन (१७९२ १८६७ ई०) के नाम इस प्रसंग में विशेषतया लिए जाते हैं। इन सभी में अंतिम अर्थात् विक्टर कजिन ने सन् १८१८ ई० में अपनी प्रख्यात व्याख्यानमाला 'द्यु व्र, द्यु बो एत द्यु बीन' (सत्यम् सुन्दरम् शिवम्) द्वारा सत्यम् शिवम् सुन्दरम् सूत्र को, पाश्चात्य साहित्य समीक्षा एवं कला समीक्षा में समावेश किया था। एक स्थल पर उन्होंने यह भी कहा था कि सौन्दर्य विभिन्नताओं में एकता का प्रतीक है तथा एकता में विभिन्नताओं का भी परिचायक है। कजिन का तात्पर्य यह है कि अखिल प्राकृतिक व्यापार में यदि हम किसी समान तत्त्व अथवा चेतना का अनुसन्धान करने के लिये उत्सुक हों, तो हमें सौन्दर्य के ही माध्यम का आश्रय लेना होगा।

कजिन के ही समकालीन कलामर्मज्ञ टेन के अनुसार कला का सम्बन्ध सामाजिक जातीय एवं भौगोलिक परिस्थितियों से भी पाया जाता है। इसका अभिप्राय यही है कि यद्यपि कलाकृतियों में विश्वजनीन समानताओं की प्रस्थापना की जा सकती है किन्तु फिर भी उन पर, किसी समाज विशेष, जाति विशेष, अथवा भूभाग विशेष का प्रभाव अनिवार्य है। इस भांति, टेन ने यूरोपियन कलाविदों में सर्वप्रथम कला सृजन व्यापार के मूल में, सामाजिक, जातीय एवं भूभागीय विशिष्टताओं एवं समानताओं का परिलक्षित किया है। टेन ने आगे चल कर यह भी बताया है कि—

यह तो ठीक है कि कलाकार भौतिक जगत के पदार्थों की अनुकृति तो प्रस्तुत करता है किन्तु उसकी कलाकृति, सर्वांश में अनुकृति मात्र नहीं होती। वह निरंतर अपने विवेक द्वारा उसमें से चयन करता रहता है तथा वह उसके सार मात्र का ही उद्घाटन करता है।

चार्ल्स ला। नामक एक अन्य फ्रांसीसी कलासमीक्षक भी अपनी कला सम्बन्धी उद्भावनाओं में सौन्दर्य बोध के विषय में इस प्रकार लिखते हैं —

सौन्दर्य का निवास मानव मन मात्र में है तथा कलाकार स्वयं प्रकृति से भी अधिक महान है, क्योंकि उसे सौन्दर्य का परिज्ञान है जब कि प्रकृति में तो केवल

मके प्रकाशन की ही क्षमता है। यही नहीं कलाकार, प्रकृतिगत कुरूप अपवादों का
र करके उनमें निहित विशुद्ध यथार्थ का भी परिशोधन करता है और इस भांति
र स्वर्ण को उसकी मिलावट से विलग करता है। कलाकार का काम, जीवन का
लकरण मात्र नहीं है, प्रत्युत वह 'शाश्वत' का भी अनुभव करता है तथा साथ ही
उसका उद्घाटित भी करता है। प्रकृतिगत सौंदर्य, नश्वरता से प्रभावित है कला
अपने समय और काल पर विजयी होकर अपने आपको उससे उच्चतर आसन पर
प्रतिस्थापित करती है।

बेतेट नामक एक अन्य फ्रांसीसी कलाविद् ने सौंदर्य के पांच उपकरणों अथवा
उपादानों का विश्लेषण भी किया है। उनके अनुसार—प्रकृति की व्याख्या करना,
तथा उसका पुनराकरण करना ही कला का अभिप्राय है। सौंदर्य के पंचतत्व ये हैं—
विभिन्नता, सम्पूर्णता, एकता, सानुपातता तथा परमा शोभा।

यूरोपियन सांस्कृतिक एवं कलात्मक चेतना में इटली का भी पर्याप्त योग रहा
है। साथ ही साहित्य एवं कला समीक्षा के क्षेत्र में भी वहाँ के दार्शनिकों ने, विगत
तीन चार शतियों से गंभीर चिन्तन किया है। वलारी (१६१६ १६६१ ई०) नामक
तालीनी कलाशास्त्री के अनुसार—

'कलाकार, प्रकृतिगत सौंदर्य से प्रेरित भाव रूपों को, अपनी कला के माध्यम
द्वारा, साक्षात करने का उद्योग करता है क्योंकि सम्पूर्ण सौंदर्य की उपलब्धि प्रकृति
में कदापि समा नहीं पाती। प्रकृतिगत सामग्री की पार्थिव अपूर्णता के कारण, यह
सम्भव ही नहीं है। कला प्रकृति से उत्कृष्टतर है। इस भांति कलाकार प्रकृति से
भी आगे बढ़ कर कला का सृजन करता है।

आधुनिक यूरोप के दार्शनिकों एवं सौन्दर्य शास्त्रियों में क्रोचे का स्थान महत्व
पूर्ण माना जाता है। सन् १९०१ में नेपल्स नगर में उन्होंने अपने 'सौंदर्यशास्त्र'
(एस्थेटिक) नामक महाग्रंथ की रचना की थी जिसने कि एक प्रकार से उस काल
तक प्रचलित पाश्चात्य सौंदर्य शास्त्रीय सिद्धान्तों एवं धारणाओं में, पर्याप्त उत्क्रान्ति
उपस्थित कर दी थी। क्रोचे के उक्त ग्रंथ के अंग्रेजी में रूपांतरकर्ता डगलस एन्सली ने
अपनी भूमिका में क्रोचे का परिचय निम्न शब्दों में दिया है—

बेनदेत्ता क्रोचे का जन्म इटली के एक्विला प्रांत के एब्रुजी नामक स्थान पर
सन १८६६ में हुआ था। फिर भी उन्हें नेपल्स निवासी ही मानना होगा जहाँ कि वे
चिरकाल से रहते आए हैं। नेपल्स नगर उस जादुई सागर के तट पर बसा हुआ है
जहाँ कि कभी (होमर के काव्य-नायक) यूलीसिस ने अपनी नौका पर पालें चढ़ाई
थीं। तथा जहां कि आज भी अमाल्फी के निकट हम साइरनों (सम्मोहक जलपरियों)
का संगीत सुन सकते हैं। किन्तु किसी भी साइरन के संगीत से भी अधिक विस्मय

कारी तो मुझे 'थियोरी आफ एस्थटिक एक्सप्रेशन आर द साइन्स आफ एक्सप्रेशन' (अभिव्यंजनावाद का सौंदर्य शास्त्रीय सिद्धान्त) नामक कृति जान पड़ती है।"[1]

क्रोचे ने उक्त ग्रन्थ को दो प्रमुख भागों में विभाजित किया है। उनमें से प्रथम भाग शास्त्रीय व्याख्या है जो वस्तुतः महत्व का है। सन १९०० में फरवरी से मई मास के बीच नेपल्स स्थित, 'एकेडेमिया पोंटेनियाना' नामक विद्वत परिषद् में वह प्रबन्ध रूप में दो बार में, पढ़ा गया था जिसका शीर्षक मूलतः था 'अभिव्यंजना विज्ञान—साधारण भाषाशास्त्र का एक सौंदर्यशास्त्रीय मूलाधार' और वह उक्त एकेडेमी की तासवीं जिल्द में तभी प्रकाशित भी हुआ था।

क्रोचे के मतानुसार ज्ञान के दो रूप होते हैं—एक अन्तर्प्रेरित ज्ञान दूसरा तर्कसिद्ध ज्ञान। अन्तर्प्रेरित ज्ञान कल्पना शक्ति से प्राप्य है तथा तर्कसिद्ध ज्ञान बुद्धि तत्व से ग्राह्य है। मानव जीवन में निरन्तर ही अन्तर्प्रेरित ज्ञान से काम पड़ता रहता है। क्रोचे के अनुसार—

"अन्तर्प्रेरणा, सत्य की अन्तर्दृष्टि की, भेदभाव रहित एकता है और सम्भाव्य की, सरल आकृति है। अपनी अन्तर्प्रेरणाओं में हम तार्किक प्राणियों की भाँति बाह्य सत्य से झगड़ते नहीं रहते—प्रत्युत हम अपने संस्मरणों को सरलता से रूपायित करते रहते हैं, चाहे वे कैसे भी हों।"[2]

क्रोचे की यह उद्भावना पण्डितराज जगन्नाथ के संस्कार सिद्धान्त की अनुवर्ती जान पड़ती है कि कलाकार, साहित्यकार अथवा कवि सौंदर्य के संस्कार को ग्रहण करता है और फिर समयान्तर में वह उन्हें ही अपनी कलाकृति में पुनः अवतरित कर डालता है।

क्रोचे की उक्त कला-परिभाषा द्वारा कला कृति के रूप में उपन्यासगत वर्णन प्रक्रिया पर भी कुछ नूतन प्रकाश पड़ता है। कला कृति की दृष्टि से उपन्यासकार की वर्णन प्रक्रिया की मूलभूत चेतना सहज अन्तर्प्रेरणा ही है न कि दार्शनिक तर्क वितर्क युक्त (शास्त्रीय) शास्त्राभ्यास प्रेरणा। यह अन्तर्प्रेरणा मानव मानस की सहज वर्णनात्मक कथा प्रवृत्ति से अनुविद्ध है। वस्तुतः कथा कहने और सुनने की सहज मानव अन्तः प्रेरणाएँ ही समग्र कथा साहित्य का उत्स हैं। ये सहज अन्तर्प्रेरित कथा कथन प्रवृत्तियाँ जितनी ही सरल अथवा स्वाभाविक होंगी उतनी ही वे कथा साहित्य में चिर रंजिनी वर्णनात्मक कला की श्रीवृद्धि करेंगी। कलात्मक वर्णनों द्वारा ही कथात्मक मानव प्रवृत्तियों का, सरल वाङमयीन अभिव्यंजना मिलती है।

---

१ 'एस्थेटिक (बेनेदेत्तो क्रोचे) अंग्रेजी में अनुवादक डगलस एंसली लिखित प्रस्तावना भाग पृष्ठ १९ से उद्धृत। प्रथम प्रकाशन १९०९ ई०। वर्तमान संस्करण १९५३ ई० (विजन प्रेस पीटर आवन लन्दन)।

२ वही, (बेनेदेत्तो क्रोचे) प्रस्तावना भाग, पृष्ठ ४

क्रोचे का अभिव्यंजनावाद यूरोपीय समीक्षा जगत में एक प्रसिद्ध समीक्षा-पद्धति का सूत्रपात करता है। यहाँ केवल उसके कुछ प्रसिद्ध एवं सप्रसंग तथ्यों का ही उल्लेख किया जाना संभव है। एक स्थल पर क्रोचे ने कहा है—

'अन्तर्प्रेरित मानसिक प्रक्रिया जब पर्याप्त मात्रा में भाव चित्रों को अपना लेती है तभी वह उन्हें अभिव्यंजना देने में समर्थ हो पाती है। जब अन्तर्प्रेरणा शक्ति अभिव्यंजना की ओर प्रवृत्त होती है तो भाव चित्र अथवा संस्मरण शब्दों के माध्यम द्वारा, आत्मा के धूमिल प्रदेश में से मनोगीत स्वतंत्र मनोराज्य में उभर आते हैं।'[1]

इस प्रकार क्रोचे ने अभिव्यंजना की तीन प्रक्रियाओं का परिणाम माना है—सर्वप्रथम, अन्तर्प्रेरणा शक्ति द्वारा चित्रों अथवा संस्मरणों के रूप में कलाकार के अन्तस्थल में घर कर लेना अथवा उसी में रम जाना—तत्पश्चात् अभिव्यंजन प्रेरणा से आन्दोलित होकर उनका शब्द रूप में (अथवा भाषा के माध्यम द्वारा) चेतन्य मनोदेश में स्पष्ट तथा उभर आना—तथा अन्तत एवं फलत उन्हीं का कला सृष्टि के रूप में प्रकट अथवा अभिव्यंजित होना। इसी सूक्ष्म मानसिक-व्यापार को क्रोचे ने निम्न शब्दों में भी पुन व्यक्त किया है 'सौन्दर्यानुभूति के प्रसंग में मानव स्मृति में प्रसुप्त भाव चित्रों अथवा संस्मरणों का ही मानो पुन नवीनीकरण होता है। उस जल की भाँति, जो परिशोधन प्रणाली में होकर पुन निःसरित होता है और फिर भी जिसमें किंचित मात्र सूक्ष्म अन्तर हो ही जाता है।'[2]

सत्रहवीं-अठारहवीं शती के कुछ आंग्ल विद्वानों ने भी साहित्यसृजन की प्रक्रियाओं तथा तद्गत कलात्मक उद्भावनाओं के सम्बन्ध में कुछ मौलिक विचार प्रस्तुत किए हैं। उदाहरणार्थ—एन्थोनी ऐशले कूपर (थर्ड अर्ल आफ शाफ्टसबरी) ने प्रकृतिगत महानता एवं विशालता, और उसकी भयानकता एवं कठोरता को भी कलात्मक प्रेरणा एवं सौन्दर्य सृष्टि का उद्भावक माना है। उसके अनुसार—

'प्रकृतिगत महान एवं विशाल तत्व ही नहीं वरन भयानक एवं अपरूप पक्ष भी, कलात्मक एवं सौन्दर्य सृजनात्मक प्रेरणा के उन्नायक होते हैं। अखिल प्रकृति भगवान के कल्याणकारी एवं उदार रूप का अन्तर्दर्शन है। तथा प्रत्येक तत्व यद्यपि सुन्दर न भी हो तथापि वह कलात्मक सौन्दर्य सृष्टि के निमित्त मूल्यवान अवश्य है।'[3]

---

१ फीलिंग्स आर इम्प्रेशन्स पास बाइ मीन्स आफ वर्ड्स फ्राम दि आब्स्क्योर रीजन आफ सोल इन्टु दि क्लैरिटी आफ दि कन्टेम्प्लेटिव स्पिरिट। —बनदत्ता क्रोचे, एस्थेटिक पृष्ठ ८९ (अंग्रेजी संस्करण से)।

२ 'एस्थेटिक' (क्रोचे) अध्याय २, इंटयूशन एण्ड आर्ट पृष्ठ १।

३ नाट ओनली दि ग्रेट एण्ड आल इन्स्पायरिंग बट इवन दि टेरिबल एण्ड अग्ली आस्पेक्ट्स आफ नेचर मस्ट हैव एन एस्थेटिक अपील। दि होल आफ नेचर इज ए रिवीलेशन आफ गाड्स गुडनेस एण्ड बाउन्टी एण्ड एवरीथिंग मस्ट बी, इफ नॉट ब्यूटीफुल, एट लीस्ट एस्थेटिकली वैल्यूएबल। —एन्थोनी ऐशले कूपर (आर० एल० ब्रेट कृत— दि थर्ड अर्ल आफ शेफ्टेस्बरी (प्र० प्र० १९५१ ई०) पृष्ठ १६१

शफ्टसबरी की यह उद्भावना एक प्रतिभाशाली समीक्षक की लेखनी से प्रसूत एक मौलिक सूझ-बूझ की उक्ति है। उपन्यास में वर्णनात्मक-कला के विकास में 'प्रकृतिगत महानता, विशालता, भयानकता, एवं कठोरता को भी कलात्मक उपादान मानने वाली बात के, हम उत्तम उपन्यासकारों की कृतियों में पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं यथा—स्वर्गीय श्री वृन्दावनलाल वर्मा जब अपने खजुराहो के खंडहरों से संबंधित उपन्यास 'मोचड और कमल' की इतिवृत्तात्मक सामग्री जुटाने और अपने 'दुर्गावती' उपन्यास की पृष्ठभूमि का साक्षात निरीक्षण करने कालिंजर के दुर्ग में पहुँचे तो वहाँ वे भगवती दुर्गा की एक अपूर्व सौन्दर्य से युक्त प्रस्तर प्रतिमा को देखकर—मंत्रमुग्ध अवस्था में बहुत देर तक मूर्ति के दर्शन में ही निमग्न खड़े रहे। अन्त में उनके मुख से स्वतः उच्चारित हुआ 'भीषण सौन्दर्य की यह रूपसी प्रतिमा है। कलाकार ने भीषण भाव को (अपनी छैनी की सौन्दर्य की रसात्मक गहराइयों में डुबो कर) मानो सुन्दर सौन्दर्य प्रदान किया है।' श्री वर्माजी प्रकृति के विशाल दृश्यपट पर इस भीषण सौन्दर्य-तत्व के वर्णनात्मक चित्रण के बड़े ही सिद्ध कलाकार उपन्यासकार थे इस तथ्य से उनके सभी पाठक सुपरिचित हैं।

शफ्टसबरी के समकालीन साहित्यकार एवं समीक्षक जोसफ एडीसन (१६७२-१७१९ ई०) ने भी सौन्दर्य शास्त्र सम्बन्धी कुछ समीक्षात्मक निबन्ध लिखे हैं जो तत्कालीन कला समीक्षा की दृष्टि से उल्लेखनीय माने जाते थे। एडीसन स्वयं एक कुशलक थे। उन्होंने स्वयं उपन्यास रचना तो नहीं की किन्तु कथात्मक एवं वर्णनात्मक निबंधों में वे अपनी इस विवक्त परिवर्तित सौन्दर्य-सृजन प्रक्रिया के उत्तम मूल प्रयोग प्रस्तुत कर चुके हैं। एडीसन ने प्रकृतिगत महानता एवं उदात्तता के संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए कलात्मक सृजन में उनकी प्रेरणा की इस भाँति विवेचना की है—

हमारी कल्पना किसी ऐसे पदार्थ के द्वारा अभिभूत हो जाना चाहती है अथवा उसे अवधारित कर लेना चाहती है जो उसकी क्षमता से कहीं अधिक विशाल एवं महान हो। ऐसे असीम दृश्यों को देख कर हम हर्षमिश्रित विस्मय में मग्न हो जाते हैं तथा उनकी आत्मा द्वारा मनन करने में हम एक आनन्दमयी शांति एवं विस्मय विमुग्धता का अनुभव करते हैं। मनुष्य का मन प्रकृत्या उन सभी पदार्थों के प्रति विराग अनुभव करता है जिनसे कि उसका चिंतन अवरुद्ध एवं बन्दी होने जैसा अनुभव करता है। इसके विपरीत प्रकृति का विशाल क्षितिज उसके लिए,

स्वाधीनता की प्रतिमूर्ति के समान, जा पडता है जहा कि उसकी दृष्टि का पथ निर्बाध एव विचारा की गति गहनतम, हाने म समथ है।[1]

एक अ य प्रतिभाशाली आग्ल समीक्षक एडमड बक (१७२९ १७९७ ई०) अठारहवी शती व एक सवतामुखी प्रतिभा-सम्पन्न, राजदर्शी वक्ता एव आलोचक के रूप म प्रसिद्ध हुए। सन १७५७ म उनके प्रब ध आन दि सब्लाइम एण्ड दि ब्यूटिफुल के प्रकाशन ने, तत्कालीन साहित्य एव कला क्षेत्रो म पर्याप्त हलचल पदा कर दी था। यह आलाचनात्मक कृति बक के लगभग इस वप के अध्यवसाय पूण अध्ययन का परिणाम थी। अपने उक्त प्रबध म बक ने आद्योपान्त इस तथ्य पर बल दिया है कि साहित्यिक प्रभाव, तक के माध्यम द्वारा आस्वाद्य नही है बरन उसकी मूलभूत प्रेयता मनाभावा का प्रभावित करने म ही है। बक ने वणनात्मक कला के विविध पक्षो पर भी अपने विचार व्यक्त किय है। उ होने शब्दश वणन अथवा यथाथ वणन मात्र को अपर्याप्त एव निकृष्ट माना है

शब्दश वणन यदि नग्न वणन होकर रह जाय तो वह अपने वण्य विषय की अभिव्यजना म अपर्याप्त एव दरिद्र हा सिद्ध हागा। बिना भावना यजक सजाव एव सशक्त वणन शली के माध्यम के, वणन म रचमात्र भी प्रभावोत्पादकता नही आ सकती।[2]

एडमड बक के सौन्दय-तत्त्व एव वणनात्मक कला सम्बन्धी विचारा का, आग्ल समीक्षा म पर्याप्त उत्तर प्रभाव पाया जाता है। विशेषतया साहित्यगत उदात्त तत्त्व पर बक का विवचन महत्वपूण है। उदात्त तत्त्व के विविध विभेदा का ममझाते हुए बक ने आतक (टरर) अकिम (सर्ा लमिटी) रहस्य (आब्सक्यारिटी), महाशक्ति (पावर) एकान्त (प्राइवेशन) व्यापकता (वास्टनस), शाश्वतता (इनफिनिटी), दुरूहता

---

१ "अवर इमेजिनेशन लस टु बी फिल्ड विद एन आब्जक्ट आर टु ग्रास्प एट एनीथिंग, दट इज टू बिग फार इटस कपासिटी। वी आर फ्लग इटू ए प्लीजिंग एस्टानिशमट एट सच अनबाउडेड व्यूज, एण्ड फील ए डिलाइटफुल स्टिलनेस एण्ड अमजमट इन दि सोल, एट दि एप्रीहेशन आफ दम। दि माइण्ड आफ मन नचुरली हेटस एवरीथिंग दट लुक्स लाइक ए रस्ट्रेट अपान इट, एण्ड इज एप्ट टु फ सी इटसल्फ अडर ए साट आफ काफाइनमण्ट जान दि साइट इज ए स्पशस हाराइजन इन एन इमज आफ लिबर्टी, व्हयर दि आइ हैज रूम टु रेंज एब्राड टु एक्सपशियटस एट लाज आन दि इम्मसिटी आफ इटस व्यूज।"
—जोसेफ एडीसन, स्पेक्टेटर, सख्या ४१२

२ एडमण्ड बक—'ए फिलासाफिकल ए क्वाइरी इ टू दि ओरिजिन आफ अवर आइडियाज आफ दि सब्लाइम एण्ड ब्यूटीफुल (प्रथम प्रकाशन सन १७५७ ई०—प्रस्तुत सस्करण १६५८ ई०) श्री ज० टी० बोल्टन द्वारा सम्पादित तथा नाटिंघम विश्वविद्यालय की ओर से रटलेज एण्ड कीगन पाल, लदन द्वारा प्रकाशित। जिल्द ५, पृष्ठ १७५

महाकाव्यों की सृष्टि में, रत रहा करती है। ये अभिव्यंजनाएँ जितनी ही विविधरूपा होती हैं, तथा जितनी ही अनूठी एवं मौलिक होती हैं, उतनी ही वे, उपन्यास के रमात्मक पक्ष को सबल बनाने में समर्थ होती है।

विक्टर कजिन नामक फ्रांसीसी कला समीक्षक का 'द्यु र, द्यु वो एत द्यु बोन' सूत्र, भारतीय साहित्य रचना आदर्शों से पर्याप्त मेल खाता है। जहाँ एक ओर रस सिद्ध कलाकार अथवा उपन्यासकार के लिए अपने आसपास फैले हुए रसविश्व में शाश्वत सत्य के दर्शन के लिए निरीक्षण विवेक की सूक्ष्म ही आवश्यकता होती है, वहीं उसके लिए उस सत्य शोधन का रमणीय तत्व के साथ मेल बढाना भी जरूरी हो जाता है। रमणीय तत्त्व से निरपेक्ष सत्य की अभिव्यंजना साहित्य रचना के मूलभूत उद्देश्यों की सिद्धि नहीं कर पाती और फिर उपन्यासकार के लिए अपने निजी विवेक द्वारा चुने गए रमणीय तत्वों के मांगलिक पक्ष पर भी दृष्टि रखना आवश्यक हो जाता है। जिस सत्य के कमनीय अथवा रुचिकर होने पर भी लोक मंगल के अनुष्ठान में बाधक होने की आशंका रहती है उसे उपन्यासकार को प्राय अनदेखा करके ही छोड़ देना होता है। इसलिए उपयुक्त सत्य सुंदर और शिव के सम्यक समन्वय में ही उपन्यासकार की वर्णन प्रतिभा कसौटी पर कसी जाती है। निःसन्देह यह कार्य बड़ा ही दुष्कर है किन्तु यह बात तो प्रत्येक साहित्य विधा की शाश्वत साहित्यिक गरिमा के लिए अनिवार्य मानी ही जाती है।

एक अन्य फ्रांसीसी समीक्षक टेन ने कला-सृजन प्रक्रिया में, सामाजिक, जातीय एवं भौगोलिक परिस्थितियों के योगदान पर भी विशद विचार विवेचन किया है। आज के हिन्दी उपन्यासों की प्रवृत्ति जिस तीव्रता से इसी ओर उन्मुख जान पड़ती है। आंचलिक उपन्यास उपयुक्त विशिष्टताओं के सम्यक आलेखन एवं वर्णन साफल्य का ही प्रत्यक्ष रूपायन है। टेन ने उपयुक्त परिस्थितियों के वर्णन करते समय कलाकार के चयन विवेक के महत्व पर बल दिया है। वस्तुत वही अपने देशकाल को मूर्तरूप देने वाले उपन्यासकार के लिये सबसे अधिक जोखिम का काम है। चयन विवेक के बिना ही अनेक आधुनिक उपन्यास, शाश्वत वाङ्मय की कोटि को छूने में असमर्थ रहे हैं।

कलात्मक साहित्य सृजन में निज सौन्दर्य दृष्टि से समृद्ध होने के कारण उत्तम कलाकार प्रकृति की अनूठी एवं सम्मोहक महासृष्टि से भी श्रेष्ठतर सुसंस्कृत रसविश्व की अद्भुत सर्जना में भी समर्थ होता है। अत एक अन्य फ्रांसीसी कला विद् चार्ल्स ब्लां ने कलाकार को 'प्रकृति से भी बढ़ कर वरिष्ठ स्रष्टा' माना है। उसका यह भी विश्वास है कि प्रकृतिगत मनोरमता तो क्षणभंगुर एवं कालप्रवाह में बह जाने वाली होती है किन्तु उसकी क्षणव्यापी परमशोभा को अपनी वर्णनात्मक प्रतिभा द्वारा, कलाकार तथा साहित्यकार, सदा सर्वदा के लिए शाश्वतता प्रदान

करने म समथ होता है । उप यास-स्रष्टा की यही महत्वाकाक्षा उस सदा ही, एक से एक अनूठी प्राकृतिक छवियो की शोध एव पुनसजना म, प्रवृत्त रखती है ।

जबकि वेलेट नामक फ्रासीसी समीक्षक ने सौन्दय तत्व के प्रमुख उपादानो मे अनुसधान किया और उसने—'विभिन्नता, सम्पूणता एकता, सानुपातता तथा परमा-शोभा इन पाच तत्वो के समन्वित रूप को ही सौन्दय अथवा रमणीयत्व बताया तो आग्ल कला प्रेमी एडमण्ड बक ने साहित्यगत उदात्त (सब्लाइम) तत्व के विभेदो की शोध करते हुए वणन प्रतिभा म प्रवृत्त सृजनात्मक साहित्यकार के लिए, आतक (भक्ति) रहस्य (रहस्यानुभूति) शक्ति एकाग्रता, व्यापकता शाश्वतता, प्रच्छन्नता तथा महती ज्ञानवान वो, प्रेरणा के मुख्य स्रोतो के रूप म विवेचित किया । प्रगट रूप स य सभी प्रेरक तत्व, उत्तम उपन्यासकार के लिए सदा ही सहायक सिद्ध होते रहत हैं ।

कहना न होगा कि आग्ल समीक्षक एवानी एशले कूपर (अल आफ शफ्ट-स्बरी) की यह कला विषयक गूढ कि प्रकृतिगत सुकुमार मनोमोहक शोभा ही केवल कलात्मक प्रेरणा की स्रोत नहीं बनती, जिसकी कि परपरा से हमारे कवि एव साहित्यकार अपने वणनो म प्रशस्ति गात रहे है) वरन प्रकृति म, जो उसका असीम महत्ता एव विशालता के कारण भयानकता एव कठोरता दिखायी देती है वह भी कलाकार की कलासाधना म एक एसी भययुक्त आसक्ति की जनक होती है जो उसके अपरूप एव भयद वभव को भी कलात्मक रमणीयत्व म परिणत कर देती है । इस प्रसग म महान हिंदी उपन्यासकार स्व० श्री वृन्दावनलालजी वमा की निजी धारणाओ का उल्लेख किया ही जा चुका है ।

प्रसिद्ध लातीनी समीक्षक एव दाशनिक क्रोचे के सम्बन्ध म तत्सम्बन्धी विवरण म ही पर्याप्त व्याख्या कर दी गयी है । उसके अभिव्यजनावाद का, साहित्य सजन मे एक ऐसा पक्ष विशेष भी है जो हमारे युगप्राचीन सस्कार सिद्धान्त की आधुनिक व्याख्या म सहायक सिद्ध हो सकता है । पाश्चात्य कला समीक्षा एव वणनात्मक कला से सम्बन्धित उपयुक्त गिने चुने तथ्य हमार अपने नवसजन एव नवमानीकरण मे भी अपनी अपनी दृष्टि से उपयोगी बनाए जा सकते ह किन्तु उन्ह भारतीय समीक्षा सारणी म पचा कर अपनाने का काय अत्यन्त जोखिम भरा है और कभी-कभी उत्तम समीक्षक भी, इस पाश्चात्य समीक्षात्मक जजाल म उलझ जाने स अपने को बचा नहीं पाता । पाश्चात्य समीक्षात्मक परिज्ञान का हम इसीलिए केवल अपनी समीक्षात्मक दृष्टि को अधिक उदार, व्यापक और अभिनव बनान म ही उपयोग कर सकते है । वही श्रयस्कर भा है ।

साहित्य सजन प्रक्रिया मे—विशेषतया उपन्यास नियोजना म वणनात्मकला क योगदान क सम्बन्ध म पाश्चात्य समीक्षा शास्त्रियो एव रमणीयतत्व विवचको की कतिपय साभिप्राय एव सप्रसग उद्भावनाओ की उपयुक्त परिचयात्मक समीक्षा के

उपरान्त भी यही तथ्य विचार विमर्श का सतह पर बरबस ही उभर आता है कि वर्णनात्मक कला का साहित्य सृजन प्रक्रिया में—विशेषतया श्रव्य-काव्य अथवा पाठ्य काव्य की परियोजना में, पर्याप्त महत्वपूर्ण योगदान रहता है। फिर भी वर्णनात्मक कला को प्राधान्य देते हुए अद्यावधि पाश्चात्य साहित्य समीक्षा अथवा रमणीयतत्व परिशोधना में भी किसी सुनिर्धारित सिद्धान्त का निरूपण नहीं हो पाया है।

पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र के विकासस्तर पर पहुँचने के काल से लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व भारतभूमि के साहित्य सृष्टाओं एवं शास्त्रकर्त्ताओं ने प्राय निरन्तर ही वर्णनात्मक कला के विविध पक्षों पर समय समय पर बहुमूल्य प्रकाश डाला है। सत्रहवीं शताब्दी ईस्वी तक पहुँचते पहुँचते पंडितराज जगन्नाथ ने वर्णनात्मक कला के रमणीयतापरक स्वतन्त्र अस्तित्व पर प्रकाण्ड पांडित्य एवं गहन भावनापरकता के सुसामंजस्य द्वारा जो सुविवेचित सिद्धान्त प्रतिष्ठापित किया उससे हम अपने नव युग की प्रचलित साहित्य विधाओं तथा उनके सतत् नव नव उन्मेषों को दृष्टि में रखते हुए एक सुनिर्धारित एवं सर्वांगीण वर्णना मकता मूलक समीक्षा सिद्धान्त के निरूपण के निमित्त, एक ठोस आधार प्राप्त हो जाता है इसमें सन्देह नहीं।

पंडितराज जगन्नाथ न केवल साहित्य शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे वरन वे सजनात्मक साहित्य क्षेत्र में भी अत्यन्त प्रतिभाशाली कविवर भी थे। यदि वे हरिऔध' के युग में होते तो वे उनके समान भाव भरे एवं वर्णनात्मक कला से मनोभिराम उपन्यास रचना में भी अवश्य प्रवृत्त होते। किन्तु पण्डितराज का समय गद्य रचना के उतना अनुकूल नहीं था और बादशाही अथवा सामन्ती दरबारों में उन दिनों किस्सा गोई की उतनी पूछ नहीं थी जितनी कि वाग्वदग्ध्य युक्त सूक्तियों की। किन्तु हरिऔध जी तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समय तक पहुँचते पहुँचते केवल दो शतियों में ही भारतभूमि में ही नहीं विश्व भर की राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों में एक के पश्चात् एक क्रान्तियों की लहर उठती रही तथा धीरे धीरे पद्य की सार्वभौम प्रतिष्ठा के स्थान में गद्यात्मक वाङमय का अभिनव अभ्युदय, एक ऐतिहासिक सत्य के रूप में, प्रत्यक्ष हो उठा।

वस्तुत इस भांति पंडितराज जगन्नाथ की रमणीयता तत्व प्रतिपादक वर्णनात्मक कला की स्वतन्त्र प्रस्थापना के पश्चात उसको आधुनिक साहित्य समीक्षा में महत्वपूर्ण परम्परा को श्री हरिऔध एवं श्री शुक्ल जी ने इतना कुछ आगे बढा दिया है कि हम उस पर एक नयी वर्णनात्मक कलामूलक समीक्षा पद्धति का अभिनव निर्माण भली भांति कर सकते है। प्रस्तुत हिन्दी उपन्यासों में वर्णनात्मक कला का मूल्यांकन इसी दिशा में एक अत्यन्त विनम्र प्रयास मात्र ही है।

वर्णनात्मक कला वस्तुत एक उभयमुखी कलापरक सृजन प्रतिभा है। एक ओर उसका विलास वाङमय के श्रव्य काव्य एवं पाठ्य-काव्य के क्षेत्र में देखा जा सकता है तथा दूसरी ओर इसकी इन्द्रधनुषी छटा, साहित्येतर अन्य ललित कलाओं में, रेखा, रंग,

तलिका, छेनी और नाद-तन्त्री के विविध योगदान द्वारा विराण होनी रहती है। तथापि जितना समय एव वविध्यपूण विकास, वणनात्मक कला को उपन्यास विधा मे मिल पाया है उतना अन्य वणनात्मक कला प्रवत्तियो म समाव्य नही था, इस तथ्य पर विचार वितक की भी अपेक्षा नही है। फिर भी यदि हम किसी वस्तुत सुनिर्धारित वणनात्मक-कला मूलक साहित्य सिद्धान्त का निरूपण करना चाहें तो हमे साहित्येतर अन्य ललितकलाओ के समीक्षा क्षेत्र मे प्रयुक्त शब्दावलिया एव सजन प्रक्रियाओ के सूक्ष्म विवेचन की ओर भी उन्मुख होना होगा। इसके बिना सुस्पष्ट कलात्मक विवेचना की भ्रान्तियो एव अस्पष्टताओ का निराकरण नही किया जा सकेगा। इसी दृष्टि से प्रस्तुत विचार विवेचन सरणी को वाङमय एव उपन्यास के वणनात्मक क्षेत्र से मोड कर कुछ समय के लिए हम उसे अन्यान्य कला-समीक्षा के क्षेत्र म ले जाना होगा।

कलागुरु, स्व० आचाय नन्दलाल वसु ने अपने अति उपादेय एव महत्वपूण कला विवेचन ग्रन्थ 'आन आर्ट' मे, इसी प्रसग मे कुछ विशेष मननीय विचार प्रस्तुत किए हैं। अपने उपयुक्त ग्रन्थ के प्रारम्भिक भाग मे उन्होने कलाकृतियो के अद्यतन बनते हुए मानो एव प्रवृत्तियो को दृष्टि मे रखते हुए कुछ मूल्यवान इंगित दिए ह। वे साहित्य समीक्षा के पक्ष मे भी उतने ही सत्य सिद्ध होते है जितने कि चित्रकला आदि अन्य ललित-कलाओ के नवमानीकरण के प्रसग मे। आचाय वसु का कथन है कि—

"नये मानो एव नई परम्पराओ के उद्भव एव प्रचलन के कारण दोहरे हुआ करते है। एक तो नई समीक्षा सामग्री प्रस्तुत होने पर उसकी शास्त्रीय एव वैज्ञानिक समीक्षा मे आने वाली अडचनो से पार होने की अभिलाषा तथा दूसरे, उसके समुचित प्रणयन एव अभ्युन्नति म योगदान की प्रेरणा। इसीलिए उनकी शब्दावली एव तदनुसार उनकी समीक्षागत भाषा हम ऐसी अटपटी लगती है मानो वह किसी सद्यःविकसित जगत म बोला जाने वाली कोई अद्भुत वाणी होवे।"[१]

जसा कि पूव निवेदित किया ही जा चुका है, कला एव वाङमय का यह अन्योन्याश्रित पुरातन एव घनिष्ठ सबध सदा स ही चला आया है। यदि इस दृष्टि से हम कला समीक्षा के ग्रन्थो का पर्यवलोकन करें तो हम उनसे अपनी वाङमयगत कला की सूक्ष्मताओ को जानने मे पर्याप्त सहायता मिल सकती है। इस सबध म स्व० डा० राजबली पाण्डेय के निम्न विचार भी विशेषतया मननीय है—

कला मूर्त रूपों म, प्राय उन्ही विषयों और भावों का निरूपण और

---

१ यू कैन नेवर स्टॉप, एज वल आउट आफ एन एटेम्प्ट एट यूजिंग सम न्यू मेटीरियल एण्ड दि नीड ऑफ ओवरकमिंग एनी टेकनीकल डिफीकल्टी दैट मे बी प्रेसेन्टेड बाइ इट। इट इज लाइक ए न्यू लैंग्वेज स्पोकेन इन ए न्यूली डिस्कवर्ड लैण्ड।"—कलागुरु स्व० नन्दलाल वसु 'आन आर्ट', पृष्ठ ४१

अभिव्यञ्जन करती है तथा निरूपण और अभिव्यञ्जन, साहित्य, शब्द चित्रों के सहारे करता है—अतः दोनों का बहुत निकट का संबंध है।'[1]

भारतीय साहित्य शास्त्र की सुदीर्घ परम्परा की भांति ही, भारतीय कला के उद्भव एवं विकास की चमत्कारी परम्परा, सहस्रों वर्षों में फैली हुई है। भारतीय कलाओं के विशाल एवं आनन्दित कर देने वाले प्रथम प्रभाव से विदेशी पर्यटक एवं प्राच्यविद्, प्रायः सम्मोहित हो जाते हैं। डा० भगवतशरण उपाध्याय ने इस सम्बन्ध में हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास (प्रथम भाग) के चतुर्थ खण्ड में ११३ पृष्ठों में एक अत्यन्त स्मरणीय रूपरेखा प्रस्तुत की है जिससे कि भारतीय कलाओं के इस विराट रूप की झांकी मिल जाती है। यहाँ उसी से कतिपय साभिप्राय अवतरण देने से ही उसकी अनुमिति हो जाती है :—

भारतीय कला का विस्तार बड़ा है—प्रायः पांच सहस्राब्दियों लम्बा और इस काल प्रसार में जितना और जैसा उसमें बिखरा है, वह कला समीक्षक या इतिहासकार के लिए समस्या प्रस्तुत कर देता है। भारतीय कला के इतिहास में, मध्य काल का प्रसार ६५० विक्रमीय (सन ७०० ई०) से १२५० वि० (ई० सन् १३००) तक माना जाता है। उसको पूर्व मध्यकाल (६५०–६५० वि०) एवं उत्तर-मध्यकाल (६५०–१२५० वि०) तक में दो विभागों में विभाजित किया जाता है। उक्त काल विभाजन मूर्तिकला के संबंध में विशेष सार्थक है क्योंकि स्थापत्य में मन्दिर निर्माण और उसकी कला का मध्याह्न तो वस्तुतः १२५० वि० (सन् १३०० ई०) के बाद ही आता है। चित्रकला भी अजन्ता और बाघ के पश्चात फिर से उस काल के (अर्थात सन १३०० ई०) के बाद ही तारुण्य धारण करती है। संगीत के पक्ष में तो यह और भी सही है। संगीत निःसंदेह, भारत में अति प्राचीन काल से, प्रौढ रूप में चला आता है पर उसकी काया भी मध्ययुग में यथार्थतः तथा उसके पश्चात सजती है। संगीत के अधिकांश ग्रन्थ मुस्लिम काल में लिखे गये। गायन की अनेक शैलियां हिन्दी भाषा और साहित्य की भांति मुस्लिम सम्पर्क से और अधिक विकसित हुई। संगीत-सम्बन्धी आविष्कारों की यह परम्परा सत्रहवीं-अठारहवीं शती तक अटूट चलती रही। सो मन्दिर कला, चित्रकला और संगीत का यह पिछला युग ही, सही सही (प्राचीन और मध्यकालीन) हिन्दी का प्रभावकारी समानान्तर युग है।'[2]

---

१ डॉ० राजबली पाण्डेय (साहित्य का बृहत इतिहास) प्रथम ०) '

२ 'हिन्दी साहित्य का बृहत 'कला प्रस्तावना भाग (प्र० (डॉ० भगवतशरण उपाध्याय द

इस भाँति हिन्दी साहित्य एवं भारतीय कलाओं का अभ्युदय एवं विकास, सम सामयिक होने के कारण परस्पर घनिष्ठरूपेण संपृक्त है। इसीलिए भारतीय कला समीक्षा एवं हिन्दी साहित्य समीक्षा भी परस्पर घनिष्ठरूपेण सम्बन्धित हैं। अपनी सुदीर्घ एवं महाभिराम परम्पराओं द्वारा इस भाँति हमारी कला एवं वाङ्मय उपलब्धियाँ किसी भी आधुनिक साहित्य-कला साधक को चकरा देने के लिए पर्याप्त हैं। पुरातन के स्थान पर नवीन की प्रस्थापना भी एक शाश्वत सत्य है पर वह एक सर्वांश सत्य नहीं है। पुरातन एवं नवीन कभी भी एक दूसरे से पृथक अथवा स्वतन्त्र रूप में नहीं परखे जा सकते। इस सम्बन्ध में श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त के कुछ विचार विशेष ध्यान देने योग्य हैं—

'कला अतीत की उपलब्धियों की अनुकरण मात्र ही नहीं होती, कला की परम्परा में विकास के नये मौलिक तत्व कला स्वयं ही जोड़ती चलती है साथ ही कला, अपनी अतीत की परम्परा को सहेज कर आगे बढ़ती है। कलाकार को सहस्रों वर्ष की तपस्या और साधना का फल अनायास ही मिल जाता है। वह रेखाओं से नये चित्र सजाता है रंगों के सर्वथा अपूर्व मेल वह दिखाता है। मौलिकता और परम्परा कला के दो अभिन्न पक्ष हैं। आज की कला में यह दोनों एकप्राण होकर प्रकट होते हैं।'

'अजन्ता और एलोरा के गुहा मन्दिरों की सृष्टि में अनेक पीढ़ियों का योगदान था। जिस पीढ़ी ने इनका आरम्भ किया, वह अन्त न देख सकी, जिसने इनके शृंगार में अन्तिम बार छेनी अथवा तूलिका चलाई उसने उनका आरम्भ न देखा था। यद्यपि व्यक्ति की मौलिकता कला कृति में नये प्राण फूँकती है, एक व्यापक अर्थ में, यह कहना भी अतिशयोक्ति नहीं कि मानव की सम्पूर्ण कला ही सदियों पर्यन्त उसकी सामूहिक साधना का फल है। शकुन्तला के पीछे एक दीर्घकाल की साधना और परम्परा का इतिहास है। बिना एक लम्बे इतिहास और प्रयास के, अनायास ही, इस प्रकार की उत्कृष्ट कला के दर्शन, मानव नहीं कर सकता। एक प्रकार से कला में हम सर्वथा नवीन और मौलिक, कुछ भी नहीं मिल सकता। इसी प्रकार उत्कृष्ट कला, सर्वथा प्राचीन भी नहीं हो सकती।'[1]

"कला की गति जीवन के समान होती है। जीवन के समान, कला में भी प्राचीन और नवीन एकरूप होकर प्रकट होते हैं। आधुनिक कला बड़े मनोयोग से, अतीत से टूट कर नये मौलिक रूपों में सृजन का प्रयास कर रही है। यह प्रवृत्तियाँ हम काव्य नाटक, उपन्यास चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत आदि सभी

---

१ 'आज का हिन्दी साहित्य' (श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त) अध्याय ३, (कला और परम्परा) पृष्ठ १२ १४। (प्रथम प्रकाशन १९६६ ई०, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ७)।

अभिव्यञ्जन करती है जिनका निरूपण और अभिव्यञ्जन साहित्य, शब्द चित्रों के सहारे करता है—अतः दोनों का बहुत निकट का संबंध है।"[1]

भारतीय साहित्य शास्त्र की सुदीर्घ परम्परा की भांति ही भारतीय कला के उद्‌भव एवं विकास की चमत्कमयी परम्परा, सहस्रों वर्षों में फैली हुई है। भारतीय कलाओं के विशाल एवं आनन्दित कर देने वाले प्रथम प्रभाव से विदेशी पर्यटक एवं प्राच्यविद्, प्रायः वाग्विमूढ़ हो जाते हैं। डॉ० भगवतशरण उपाध्याय ने इस सम्बन्ध में 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (प्रथम भाग) के चतुर्थ खण्ड में ११३ पृष्ठों में एक अत्यन्त स्मरणीय रूपरेखा प्रस्तुत की है जिससे कि भारतीय कलाओं के इस विराट रूप की झाँकी मिल जाती है। *यहाँ उसी से कतिपय साभिप्राय अवतरण देने से ही* उसकी अनुमिति हो जाती है —

'भारतीय कला का विस्तार बड़ा है—प्रायः पाँच सहस्राब्दियों लम्बा और इस काल प्रसार में *जितना और जैसा उसमें मिलता है वह कला-समीक्षक या इति*हासकार के लिए समस्या प्रस्तुत कर देता है। भारतीय कला के इतिहास में मध्य काल का प्रसार ६५० विक्रमीय (सन् ७०० ई०) से १२५० वि० (ई० सन् १३००) तक माना जाता है। उसको पूर्व मध्यकाल (६५०–६५० वि०) एवं उत्तर-मध्यकाल (६५०–१२५० वि०) तक के दो विभागों में विभाजित किया जाता है। उक्त काल विभाजन मूर्तिकला के संबंध में विशेष साधक है क्योंकि स्थापत्य में मन्दिर निर्माण और उसकी कला का मध्याह्न तो वस्तुतः १२५० वि० (सन् १,०० ई०) के बाद ही आता है। चित्रकला भी अजंता और बाघ के पश्चात् फिर से उस काल के (अर्थात् सन् १३०० ई०) के बाद ही तारुण्य धारण करती है। संगीत के पक्ष में तो यह और भी सही है। संगीत निःसंदेह, भारत में अति प्राचीन काल से प्रौढ़ रूप में चला आता है पर उसकी काया भी मध्ययुग में यथार्थतः तो उसके पश्चात् सजती है। संगीत के अधिकांश ग्रंथ मुस्लिम काल में लिखे गये। गायन की अनेक शैलियाँ हिन्दी भाषा और साहित्य की भाँति मुस्लिम संपर्क से और अधिक विकसित हुई। संगीत-सम्बन्धी आविष्कारों की यह परम्परा सत्रहवीं-अठारहवीं शती तक अटूट चलती रही। मूर्ति मन्दिर कला चित्रणकला और संगीत का यह पिछला युग हमारी मही (प्राचीन और मध्यकालीन) हिन्दी का प्रभावकारी समानान्तर युग है।'[2]

---

१ डॉ० राजबली पाण्डेय (सम्पादकीय प्रस्तावना) पृष्ठ ८ (हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास) प्रथम भाग (प्र० नागरी प्रचारिणी सभा काशी १९५७ ई०)।

२ 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (*प्रथम भाग*) खण्ड ४ (पृष्ठ ५६३ ६७६) 'कला' प्रस्तावना भाग (प्र० काशी नागरी प्रचारिणी सभा सन् १९५७ ई०) (डा० भगवतशरण उपाध्याय द्वारा लिखित।)

इस भाँति हिंदी साहित्य एवं भारतीय कलाओं का अभ्युदय एवं विकास, सम सामयिक होने के कारण परस्पर घनिष्ठरूपेण संपृक्त है। इसीलिए भारतीय कला समीक्षा एवं हिन्दी साहित्य समीक्षा भी परस्पर घनिष्ठरूपेण सम्बन्धित हैं। अपनी सुदीर्घ एवं महाभिराम परम्पराओं द्वारा इस भाँति हमारी कला एवं वाङ्मय उपलब्धियाँ किसी भी आधुनिक साहित्य-कला साधक को चकित करने के लिए पर्याप्त हैं। पुरातन के स्थान पर नवीन की प्रस्थापना भी एक शाश्वत सत्य है पर वह एक सर्वांग सत्य नहीं है। पुरातन एवं नवीन कभी भी एक दूसरे से पृथक अथवा स्वतन्त्र रूप में नहीं परखे जा सकते। इस सम्बन्ध में श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त के कुछ विचार विशेष ध्यान देने योग्य हैं—

"कला अतीत की उपलब्धियों की अनुकरण मात्र ही नहीं होती, कला की परम्परा में विकास के नये मौलिक तत्व, कला स्वयं ही जोड़ती चलती है, साथ ही कला, अपनी अतीत की परम्परा का सहज कर आगे बढ़ती है। कलाकार को सहस्रों वर्ष की तपस्या और साधना का फल अनायास ही मिल जाता है। वह रेखाओं से नये चित्र सजाता है रंगों के सर्वथा अपूर्व मेल वह दिखाता है। मौलिकता और परम्परा, कला के दो अभिन्न पक्ष हैं। आज की कला में यह दोनों एकप्राण होकर प्रकट होते हैं।'

'अजन्ता और एलोरा के गुहा मन्दिरों की सृष्टि में अनेक पीढ़ियों का योगदान था। जिस पीढ़ी ने इनका आरम्भ किया, वह अन्त न देख सकी, जिसने इनके शृंगार में अंतिम बार छेनी अथवा तूलिका चलाई उसने इनका आरम्भ न देखा था। यद्यपि व्यक्ति की मौलिकता कलाकृति में नये प्राण फूँकती है, एक व्यापक अर्थ में, यह कहना भी अतिशयोक्ति नहीं, कि मानव की सम्पूर्ण कला ही, सदियों पर्यन्त उसकी सामूहिक साधना का फल है। शकुन्तला के पीछे, एक दीर्घकाल की साधना और परम्परा का इतिहास है। बिना एक लम्बे इतिहास और प्रयास के, अनायास ही इस प्रकार की उत्कृष्ट कला का सृजन, मानव नहीं कर सकता। ---- एक प्रकार से कला में हम सर्वथा नवीन और मौलिक, कुछ भी नहीं सिरज सकता। इसी प्रकार उत्कृष्ट कला, सर्वथा प्राचीन भी नहीं हो सकती।"[1]

"कला की गति जीवन के समान होती है। जीवन के समान, कला में भी प्राचीन और नवीन एकरूप होकर प्रकट होते हैं। आधुनिक कला बड़े मनोयोग से, अतीत में डूब कर, नये मौलिक रूपों में सृजन का प्रयास कर रही है। यह प्रवृत्तियाँ हम काव्य नाटक, उपन्यास, चित्रकला, मूर्तिकला सभी आदि सभी

---

1 'आज का हिन्दी साहित्य' (श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त) अध्याय २, ('कला और परम्परा') पृष्ठ १२-१४। (प्रथम संस्करण १९६६ ई०, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-७)।

है। इनमें रसध्वनि की प्रमुखता होने के कारण 'रस' को ही कलानुभूति मान लिया गया है। पश्चिम में कलात्मक सौन्दर्य को बुद्धिग्राह्य ही माना गया है। और वहाँ अलंकार ध्वनि की भूमिका पर ही, रसानुभूति की स्थापना की गई है।'[1]

उक्त परिभाषा 'कला' के अध्ययन-अनुसंधानगत प्रस्तुत प्रसंग में कुछ मूल्यवान तथ्यों पर प्रकाश डालती है, यथा —

(क) मानव द्वारा श्रेष्ठ संस्कार के रूप में सौंदर्यबोध की प्राप्ति का अन्तर्भाव 'कला' शब्द के अन्तर्गत पाया जाता है।

(ख) कला विशिष्ट मानसिक सौन्दर्य की योजना है।

(ग) सौन्दर्य की मूलभूत प्रेरणा प्रकृति के रमणीय दृश्यों की प्रेरणा तथा उन्हें अपनी कला साधना के माध्यम द्वारा पुनः स्वतः निर्माण करने की सुसंस्कृत उत्कण्ठा एवं तज्जनित कलात्मक उपलब्धि ही, कला है।

(घ) कला को श्रम एवं श्रम का परिहार एवं मन का रंजन और उद्बोधन, अभीष्ट है। विशिष्ट आनन्द की उपलब्धि उसका लक्ष्य है।

(ङ) कला का आनन्द भावनात्मक मूर्त, सरल ग्राह्य सार्वजनीन, समग्र दर्शन को अपने में अंगीकार लेने में सक्षम एवं लोकोत्तर ब्रह्मानंद सहोदर से तुलनीय रसात्मक विलास है।

(च) प्राच्य ध्वनिसिद्धान्त, पाश्चात्य बुद्धिग्राह्य सौन्दर्य मान्यता की अपेक्षा कहीं अधिक सम्पूर्ण एवं वैज्ञानिक कलानिरूपण है।

इस भाँति उपन्यासगत वर्णनात्मक कला में, हिन्दी साहित्य कोश गत उक्त कला परिभाषा का ही [प्रस्तुत शोध प्रबंध में प्रभावित] वर्णनात्मक लालित्य पक्ष का, बहुत कुछ आधार माना जा सकता है।

साहित्यशास्त्र का पारिभाषिक शब्दकोश में 'कला' की व्याख्या एवं परिभाषा भी पर्याप्त ध्यान देने योग्य बन पड़ी है —

कला —प्रतिभा शक्ति और कल्पना (द० यथा०) कौशल से कतिपय रूपों में, स्वान्तः सुखाय या मनोरंजन और उपदेश के लिए किया गया जीवन का अनुकरण।

नाट्यशास्त्र (१/११३) में शिल्प के साथ और काव्यालंकार (१/२) में काव्य और चतुर्वर्ग फलों के साथ। काव्य मीमांसाकार इसे उपविद्या मानते हैं। मूल ग्रीक 'आर्ट' शब्द भी कौशल के अर्थ में था और फ्रेंच, जर्मन भाषाओं में भी इसी के पर्याय शब्द पाये जाते हैं। अट्ठारहवीं शताब्दी तक यही धारणा रही। तत्पश्चात् यह 'उपयोगी' और 'ललित' इन दो भेदों में बाँट दी गई।

---

१ हिन्दी साहित्य कोश, पृष्ठ १९९ से २०२ (ज्ञा० ज्ञानमण्डल काशी, प्रथम संस्करण सं० २०१५, सन् १९५८ ई०)।

'प्रसादजी के मत से कला की रेखायें एक निश्चित सिद्धात तक पहुँचा देती है। हीगेल, पाचा ललित कलाओ मे, अमूत्त-आधार का मात्रा के अनुसार, उनकी श्रेष्ठता बताते हैं। वास्तु कला मे मूत्त आधार सबसे अधिक रहता है, वह सबसे निचली है। दूसरे क्रम पर मूर्तिकला है क्योंकि उसम मूत्त आधार और कम हो जाता है। तीसरे क्रम पर, चित्र और चौथे पर, संगीत-कलाएँ आती है। और अत म काव्य। श्री रामकुमार वर्मा पहली चार तो सुदरता मूलक और पाँचवी (काव्य) को रमणीयता मूलक बता कर उनका भेद करते हैं। पर 'प्रसाद' ने यह वर्गीकरण, पौर्वात्यो के लिये, पाश्चात्यो जितना, सुगम नही माना है।

'महादेवी वर्मा ललित कला और उपयोगी कला म गुलकन्द और गुलाब की उपयोगिता जैसा अन्तर बताती हैं।

'शवतन्त्र म उल्लिखित ६४ कलाएँ जिनको 'उपयोगी कलाएँ मानना चाहिये, ये हैं। ।'[1]

'पारिभाषिक शब्दकोश' मे 'कला' के कुछ ऐसे तथ्यो का भी दीपित किया गया है जो उपन्यासगत वणनात्मक कला के परिशोधन मे हमारा पथ निर्देशन कर सकते हैं। उपयुक्त तथ्यो म से, उपन्यासगत वणनात्मक कला मे प्रथम तीनो तथ्य, प्रगटत, समाहित हैं। शैवतन्त्र' म वर्णित ६४ कलाओ का समग्र क्षेत्र, केवल उपन्यासगत वणनात्मक कला की सुव्यापक परिधि म ही समाविष्ट हो जाना सम्भाव्य है।

'आधुनिक सस्कृत हिन्दी कोश म कला शब्द की कुछ नूतन परिभाषाएँ भी दी गई है जो उपयुक्त परिभाषाओ म कही भी नही आ पाइ है। यथा —

'कला—(स्त्री०) भाग चन्द्रमा की सोलहकलाओ मे से एक राशि का तीसवा भाग, किसी काम का नियम अनुसार करने की विद्या, नृत्य का एक भेद, नौका जिह्वा, विभूति, तेज, शोभा, लीला।'

कामशास्त्र के अनुसार ६४ कलाएँ य हैं — १ गीत, २ वाद्य ३ नृत्य, ४ नाट्य ५ चित्रकारी, ६ तिलक के साचे बनाना, ७ चावलो और फूलो का चौक पूरना, ८ फूलो की सेज बिछाना, ९ दातो कपडो और अगो को रगना, १० ऋतु के अनुकूल घर सजाना, ११ पलङ्ग बिछाना १२ जलतरग बजाना १३ पिचकारी और गुलाबपाश का उपयोग, १४ चित्र इकट्ठे करना, १५ माला गूथना, १६ सिर के बालो म फूल लगा कर गूथना, १७ वस्त्राभूषण धारण करना, १८ कानो के लिए आभूषण बनाना, १९ इत्र निकालना, २० भूषणो की योजना, २१ इन्द्रजाल,

---

[1] साहित्य शास्त्र का पारिभाषिक शब्दकोश' (राजेन्द्र द्विवेदी एम० ए० शास्त्री, साहित्यरत्न) पृष्ठ ६२ ६३ (प्र० आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, १९५५ ई०)।

२२ पुष्पको सुंदर करना २३ हाथ की सफाई २४ अनेक प्रकार के खाने के पदार्थ बनाना, २५ पीने के लिये शर्बत अर्क तथा शराब बनाना, २६ सीना पिरोना २७ रफूगरी और जरीदा २८ पहेलियाँ हल करना २९ अन्त्याक्षरी, ३० कठिन पदों का तात्पर्य निकालना ३१ पुस्तक वाचन, ३२ नाटक देखना ३३ काव्य-सम स्यापूर्ति ३४ निवाड या बेंत से चारपाई बुनना ३५ तर्क करना ३६ बढई या मेमनगीरी का काम ३७ घर बनाना ३८ सोना चाँदी और रत्नों की परीक्षा ३९ मिली धातुओं को अलग अलग करके साफ करना ४० रत्नों के रंगों की पहचान ४१ खानों की विद्या ४२ वृक्षों का ज्ञान चिकित्सा और उन्हें रोपने की विधि, ४३ मेढ़े बटेर बुलबुल लड़ाने की विधि, ४४ तोता मैना पढ़ाना ४५ उबटन लगाना और पैर सिर आदि दबाना ४६ बालों को मलना और तेल लगाना, ४७ अक्षरों का मुष्टिका से (बात) बताना ४८ विदेशी भाषाओं का ज्ञान ४९ दैवी लक्षण जैसे बादल की गरज आदि देख कर आगामी घटना के लिए भविष्य-वाणी कहना ५० देशभाषा ज्ञान, ५१ यंत्र निर्माण, ५२ यादगिरी बढाना ५३ दूसरे को पढ़ते सुन कर उसे उसी तरह पढ लेना, ५४ दूसरे का अभिप्राय समझ कर, उसके अनुसार तुरन्त कविता करना ५५ क्रिया के प्रभाव को पलटना, ५६ छल करना ५७ अभिधानकोष, ५८ छन्द ज्ञान ५८ वस्त्रों की हिफाजत से रखना ५९ जुआ खेलना ६० पासा फेंकना ६१ बच्चों का खिलाना, ६२ विनय और शिष्टाचार ६३ विजय संबंधी विद्या का ज्ञान ६४ बेतालों की विद्या का ज्ञान।"[1]

आधुनिक संस्कृत हिन्दी कोश' में आई हुई अनेक व्याख्याएं एवं परिभाषाएं उपन्यासगत वर्णनात्मकता के कतिपय नूतन पक्षों पर प्रकाश डालती हैं। चन्द्रमा की सोलह कलाओं नृत्यकला नौका जिह्वा विभूति तेज शोभा लीला आदि से किसी न किसी अर्थ में उपन्यासगत वर्णन सम्बद्ध है। जैसा कि पूर्वोल्लिखित परिभाषा की टिप्पणी में कहा जा चुका है —कामशास्त्र के अन्तर्गत आई हुई ६४ कलाओं का सुव्यापक क्षेत्र उपन्यासगत वर्णनात्मकता में ही समाया जा सकता है।

आचार्य राजशेखर कृत साहित्य शास्त्रीय ग्रन्थ काव्यमीमांसा में कला की व्याख्या निम्न प्रसंग में आई है —

शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या। उपविद्यास्तु चतुःषष्टिः ताश्च कला इति विदग्धवादः। स आजीवः काव्यस्य। तमौपनिषदिके वक्ष्यामः।

इत्यनन्तो भियुक्तानामत्र संरम्भविस्तरः।
स्यक्तो निपुणधीगम्यो ग्रन्थगौरवकारणात्॥[2]

---

१ आधुनिक संस्कृत हिन्दी कोश — (सपादक—कृपाशंकरनाथ भट्ट) (प्र० रामप्रसाद एण्ड संस आगरा, प्रथम प्रकाशन १९५५) पृष्ठ १२३ स्तम्भ २

२ काव्यमीमांसा (राजशेखर) (अध्याय द्वितीय, शास्त्रनिर्देश, पृष्ठ १३।)

(अर्थात—'शब्द और अर्थ इन दोनों के परस्पर सद्भाव अथवा समान अंशों में परस्पर सहयोग के द्वारा, विवक्षित की गई विद्या का, साहित्य विद्या कहा जाता है। उसी के अन्तर्गत १४ उपविद्याएँ और हैं उनमें कला भी एक है ऐसा साहित्य ममज्ञों का मत है। वह समग्र साहित्य के लिए सम्पूर्ण आजीव स्थान निर्माणक सामग्री जुटाती है और इस भाँति वह काव्य का प्राणाधार है इस तथ्य को हम उपनिषदों में की हुई व्याख्या के अनुसार देखते हैं। इस प्रकार अनेक प्रकार के उपादानों का यहाँ सविस्तार वर्णन प्रारम्भ किया जाता है जिसको कि अभी तक अन्य निपुण साहित्य ममज्ञों ने छोड़ दिया था।)

आचार्य राजशेखर के मतानुसार साहित्य विद्या के अन्तर्गत ही कला' एक उप विद्या है। वह एक प्रकार से समग्र काव्य के लिये 'उपजीव्य' भी जुटाती है। यह व्याख्या उपन्यासगत वर्णनात्मक-रचना के सबसे निकट आ जाती है।

वेब्स्टर्स डिक्शनरी में (जो कि अंग्रेजी भाषा का सर्वाधिक पुरातन एवं प्रामाणिक शब्द-कोष माना जाता है) कला के अंग्रेजी भाषा में पर्याय शब्द 'आर्ट' की व्याख्या इस प्रकार दी गई है —

आर्ट—(१) कौशल, हाथ की सफाई विशिष्ट कार्यों का सतत अभ्यास द्वारा दिखाने की क्षमता, स्वाध्याय अवलोकन व्यावहारिक बुद्धि। (२) मानव उपयोगार्थ प्राकृतिक पदार्थों में उपयुक्त परिवर्तन करने का चातुर्य मानव कारीगरी का कारनामा। (४) ज्ञान की किसी भी शाखा अथवा किसी समुन्नत कला-कौशल के साधारण सिद्धान्त। (५) किसी अभीप्सित ध्येय की प्राप्ति के लिए ज्ञान अनुभव, अथवा कौशल का विधिवत उपयोग। (६) बिना उपलब्धि के अर्थ सुरुचि एवं सौन्दर्य के साथ कौशल का प्रयोग साहित्य अथवा सौन्दर्यतत्व-सम्बन्धी सिद्धान्त, किसी शास्त्र अथवा विज्ञान के आधार पर आजीविका का कोई प्रणाली सौन्दर्य-बोध के पक्ष में सुरुचि का वाचक—जो रूप, रंग, ध्वनि वाणी अथवा लय गति से सम्बद्ध होवे।'

उक्त कोश के अनुसार आर्ट (कला) के अर्थ एवं उनकी व्याख्या इस भाँति परिलक्षित होती है —अर्थसंख्या १ के अनुसार—विशिष्ट कार्यों का सतत अभ्यास द्वारा कर दिखाने की क्षमता—वर्णनात्मक कला के कलाभिराम उपन्यासगत वर्णनों में देखी जा सकती है। लेखक के पक्ष में उत्तम वर्णनों की परिकल्पना के लिए मानव एवं प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण की अपेक्षा सदैव ही बनी रहती है।

अर्थसंख्या २ में यदि वर्णन को भी हम स्थूल कार्य-व्यापार के रूप में ही ग्रहण करें तो उपन्यासकार, प्रकृति एवं पुरुष, दोनों को ही अपनी रचनात्मक सिद्धि अर्थात उत्तम वर्णनकला की सामग्री के रूप में उपयोग करता है किन्तु वह इस नैसर्गिक वर्ण्य वस्तु निधि में अपने विवेक एवं बुद्धि के अनुसार, उपयुक्त परिवर्तन कर देने के चातुर्य

'कुछ ऐसे उपन्यास भी हैं, जिनकी चित्रण शैली (अथवा 'पैटन') इतनी सुस्पष्ट एवं चित्रात्मक है कि व्यक्ति एवं दृश्य, एक के बाद एक चित्रों के अलबम की भाँति, सामने से गुजरते चले जाते हैं। यथा पर्सी लबक कृत उपन्यास 'रोमन पिक्चर्स'। और फिर अनातोले फ्रास कृत 'ताया' को ही ले लें—उसमें चित्रकला का पटन-तत्व जो इतना स्थिर एवं सीमाओं में जकड़ा हुआ है उपन्यासगत वातावरण में घुल मिल जाता है—वह सब का सब ही द्रवमान है। यदि हम पर्सी लबक के उपन्यास 'रोमन पिक्चर्स' को वर्णनात्मक कलापरक चित्रवत शैली का उपन्यास बताएँ और अनातोले फ्रास कृत 'ताया' को, 'लयात्मक शैली का वर्णनात्मक उपन्यास कहें, तो हम अपने उपर्युक्त अभिप्राय की कुछ-कुछ अभिव्यंजना कर पायेंगे।[1]

'इस भाँति, हम उपन्यास विधा में एक ऐसे तत्व की ओर, सहसा आकर्षित होते हैं जिसके बारे में, यदाकदा समीक्षक महोदय चर्चा तो करते रहते हैं, किन्तु उक्त शब्दों का प्रयोग केवल उस तत्व को व्यक्त करने के प्रयत्न में ही किया करते हैं जिसको वे, शब्दों में व्यक्त नहीं कर पाते।[2]

हम इस सम्बन्ध में केवल इतना ही और कहना चाहेंगे, कि यह चित्रलयात्मक वर्णनात्मकता, उपन्यास विधा का, सौन्दर्य-बोधात्मक, चारुत्व अथवा लालित्य तत्व (एस्थेटिक आस्पेक्ट) ही है। इस तत्व का पोषण, उपन्यास में वर्णित प्रत्येक वर्ण्यवस्तु के द्वारा सम्भव है—कभी पात्र, कभी दृश्य एवं बहुधा कथांश अथवा घटनाक्रम के बीच आने वाले वर्णना के माध्यम द्वारा वह अपनी पोषक सामग्री, प्राप्त करता चलता है। इस भाँति उपन्यास के कथातत्व में, लालित्य (सौन्दर्य) के योग से ऐसा भान होता है मानो सौन्दर्य की देवी स्वयं अपने रूप माधुर्य को दिखा कर अपने आप भी सहसा हप विस्मित हो उठी है।[3]

श्री फार्स्टर ने उपन्यास विधा में परिव्याप्त वर्णनात्मक तत्वगत लालित्य के परिशोधन में जिस मौलिक समीक्षात्मक प्रतिभा एवं सूझ बूझ का परिचय दिया है, वह अपने में स्वयं एक समीक्षात्मक दृष्टिकोण माना जा सकता है। निश्चय ही वह श्लाघ्य है परन्तु इतने महान उपन्यासकार एवं उपन्यास समीक्षक होते हुए भी वे, इस तत्व का नामकरण निर्धारित नहीं कर पाये। उन्होंने केवल इतना संकेत भर दिया है कि फिलहाल वे, उसकी मोटीमाटी परिभाषा करके ही छोड़ देते हैं। सम्भव था यदि श्री फार्स्टर का अधूरा संकल्प पूरा हो जाता तो वे, अपने इस चित्रलयात्मक तत्व का नाम उपन्यासगत वर्णनात्मकता ही बना जाते। फिर भी इस ओर उनकी सूझ बूझ ही, सबसे अधिक मौलिक एवं कुशाग्र थी, इतना तो स्वीकार करना ही होगा।

उपन्यास विधा में वर्णनात्मकता के महत्व पर यदाकदा फ्रांसीसी समीक्षकगण

१–३ 'आस्पेक्ट्स ऑफ दि नावेल'(ई० एम० फार्स्टर) अध्याय ८, पृष्ठ १३९–४०

भी प्रायः बहुत विचार कर चुके हैं। जिस भाँति श्री ई० एम० फास्टर ने 'चित्रकला से पटन' तथा संगीतकला से 'रिदम' शब्द लेकर अपनी मौलिक सूझबूझ के द्वारा उपन्यास विधा की वर्णनात्मक विशिष्टता में सर्वप्रथम खोजबीन प्रारम्भ की थी, उसी भाँति सन (१६६६) ई० में ही फ्रांसीसी भाषा के साहित्य-शास्त्र में भी चित्रकला से वर्णन सम्बन्धी एक मुहावरे को उधार लिया गया था और वह था 'कलर लोकल (स्थानीय रंग)। इस सम्बन्ध में पूर्वोल्लिखित फ्रांसीसी साहित्य एवं भाषा के इतिहासकार श्री एफ० ब्रूनो ने, अपने महत्वपूर्ण ग्रंथ 'फ्रांसीसी भाषा का इतिहास' में यह लिखा ही था —

'कलर लोकेल (स्थानीय रंग) वस्तुतः एक चित्रकला सम्बन्धी तकनीकी मुहावरा, था। फ्रांसीसी भाषा में इसका प्रयोग सन १६६६ ई० से मिलता है और अँग्रेजी भाषा में कुछ ही वर्ष के बाद उसका प्रचलन पाया जाता है। तब उसका अर्थ था हर चित्रित वस्तु की अथवा चित्र के हर अंश विशेष की (उसकी सहज पृष्ठभूमि की द्योतक) सहज स्वाभाविक रंग नियोजना।'[1] द्वितीय अध्याय में इस तथ्य की चर्चा की ही जा चुकी है कि शाटाब्रियान नामक एक फ्रेंच यात्री ने उसका आधुनिक (साहित्यिक) अभिप्राय में सर्वप्रथम प्रयोग किया था और अपने 'पेरिस से जेरुसलम का यात्रा वृतान्त' नामक ग्रंथ में — उन्होंने अपने पर्यटन क्षेत्रों के स्थानीय रंग को अपने पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए इस शब्द (कलर लोकेल) का प्रयोग किया था।[2]

डॉ० स्टीफेन उलमैन पी० एच० डी० डी० लिट० ने अपने 'स्टाइल इन द फ्रेंच नॉवेल' नामक ग्रन्थ में स्थानीय रंग सम्बन्धी एक पृथक अध्याय में इस शब्द की व्युत्पत्ति एवं प्रयोग के सम्बन्ध में अधिक विस्तार से विवेचन किया है। उन्होंने फ्रांसीसी अकादमी द्वारा प्रकाशित कोष के १८०२ ई० के संस्करण में स्थानीय रंग (कलर लोकेल) के प्रयोग के आधुनिक अभिप्राय का न रहने पर बल देते हुए लिखा है कि सन १८३५ ई० के संस्करण में ही पहले पहल उसकी आधुनिक साहित्य समीक्षात्मक अर्थों में व्याख्या मिलती है। इससे उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि सन १८०२ ई० एवं सन १८३५ ई० के अन्तराल में यह मुहावरा (स्थानीय रंग)

---

१ दि एक्सप्रेशन' कलर लोकेल वाज आरिजिनली ए टेक्निकल टर्म यूज्ड इन पेंटिंग। इट अपियर्स इन फ्रेंच एज अर्ली एज १६६६ एण्ड इन इंगलिश ओनली ए फ्यू ईयर्स लेटर एण्ड इज डिफाइन्ड एज दि कलर नेचुरल टु ईच आब्जेक्ट, आर पार्ट आफ पिक्चर।—एफ० ब्रूनो— हिस्टरी द ला लेंग्वे फ्रेंकाय', जिल्द ६ पृष्ठ ७३८

२ एस ला पेत्यार द से विग्रू सलेब्रे ने कलर लोकेल।—शाटाब्रियां 'इतिनेरेर द पारी आ जेरुसलम', प्रथम प्रकाशन, सन १८११ ई०।

साधारण प्रयोग के रूप में प्रचलित ही नहीं हो गया था वरन वह साहित्य-समालोचन की पदावली का एक विशिष्ट मुहावरा भी बन चुका था।

श्री उलमन का ही यह भी मत है कि न केवल 'स्थानीय रंग' पद फ्रांसीसी क्षेत्रों से आंग्ल समीक्षा शब्दावली में समाविष्ट हुआ वरन वह आंग्ल भाषा के रोमानी (रोमांटिक) शैली के कवियों एवं लेखकों द्वारा रोमानीपन (रोमेंटिसिज्म) के साथ साथ ही, उनकी कृतियों के सम्बन्ध में भी अधिकाधिक प्रयुक्त होने लगा। इससे समीक्षकों के दोनों अभिव्यंजनात्मक अभिप्राय सिद्ध हो जाते थे—'चित्र विचित्र वस्तु (कथा वस्तु) का आकर्षण तथा 'विशिष्ट एवं अनोखी वस्तुओं में अभिरुचि।' 'स्थानीय रंग के साहित्यिक प्रयोग के द्वारा, समाज के निम्न वर्गों, नागरिक मजदूरों ग्रामीण कृषकों एवं गडरियों आदि के जीवन को, चित्रण सम्बन्धी नव नव सम्भावनाओं के वर्णन के लिए भी, एक व्यापक क्षेत्र मिल गया था।

स्थानीय रंग को हम अनेक पक्षों एवं कोटियों में विभाजित कर सकते हैं यथा 'आंचलिक आभा' तथा 'बाह्य छवि'। 'आंचलिक आभा' में, स्थानीय वातावरण अथवा अंचल विशेष की प्रकृति का मानसिक दृष्टिकोण सूक्ष्म रूप से निहित रहता है तथा 'बाह्य छवि' में पदार्थों के, चाक्षुष वर्णनात्मक विवरण, चित्रवत् प्रस्तुत किये जाते हैं। इस भांति यदाकदा यूरोपियन समीक्षक अपने वर्णनात्मक अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए चित्रकला एवं नृत्य संगीतकला से पदावली लेकर उसका साहित्य समीक्षा में आरोप करते हैं।

हमारे अपने देश में भी स्वातन्त्र्योत्तर नव सांस्कृतिक जागरण के फलस्वरूप अनेकानेक प्रतिभाशाली लेखकों का ध्यान कला समीक्षा एवं साहित्य-समीक्षा के पारस्परिक अन्योन्याश्रित सम्बन्ध की ओर गया है। इनमें से कुछ ऐसे विशिष्ट लेखक भी हैं जिनका कार्यक्षेत्र साहित्यिक न होकर कला साधना परक रहा है। ऐसे ही एक विशेष उल्लेख्य मुलेखक हैं—चित्रकला के प्राध्यापक श्री रामचन्द्र शुक्ल। वे चित्रकला के साधक होने पर भी साहित्य में गहरी रुचि रखते हैं। अपने ग्रन्थ 'कला और आधुनिक प्रवृत्तियां' में उन्होंने 'कला और सौन्दर्य' शीर्षक अध्याय में सौन्दर्यतत्व सम्बन्धी अपने निजी विचारों की विशद व्याख्या की है। उनका एक अन्य ग्रन्थ 'चित्रकला का रसास्वादन' भी चित्रकला-समीक्षा का एक रोचक एवं पठनीय ग्रन्थ है। चित्रकला के विविध सिद्धान्तों का संक्षिप्त एवं सरल रूप से निरूपण करते हुए उन्होंने रंगों एवं वर्णों के नियोजना सम्बन्धी सिद्धान्त का उत्तम प्रतिपादन किया है।

जिस भांति उपन्यास में उपन्यासकार अपनी वर्ण्यवस्तु का चुनाव पर्याप्त

---

१ स्टाइल इन दि फ्रेंच नावेल' (डॉ० स्टीफेन उलमन पी एच० डी० डी० लिट०) प्रथम अध्याय पृष्ठ ४१ (प्रथम प्रकाशन १९५७ ई० केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस) तथा 'ला मेथोडे एन लेक्सिकोलाजी' (मातारे) पृष्ठ १०३

सूझ-बूझ के साथ करता है, उसी भांति चित्रकार की चित्रण-योजना भी बहुत कुछ उसकी तूलिका एवं रंगों के चमत्कारकारी कलात्मक प्रभाव पर ही आधारित रहती है।

भारतीय परंपरा के अनुसार चित्रकार को अपने हर चित्र की वर्ण्यनियोजना या रंगों के विन्यास को, दर्शकों अथवा सराहकों की अभिरुचि के अनुसार रखना चाहिए। उपन्यासगत वर्णनकला की क्रियात्मक साधना के अन्तर्गत कलाकार या उपन्यासकार के लिए व्यक्ति आलेख्य प्रकरण (अथवा पोर्ट्रेचर) तथा दृश्यपट आलेखन, (लैण्डस्केप) दोनों ही प्रकार की वर्ण्यवस्तु के लिए उपयुक्त रंगों का चुनाव अत्यावश्यक हो जाता है। रंग हमारे नयनों पर तात्कालिक एवं गहन प्रभाव डालते हैं। अतः उपन्यासकार को भी स्वभावतः वर्णना विवेक में प्रवृत्त होकर अपने भावों के ही समान वर्ण के विविध हल्के रंगों के अन्तरों अथवा 'नेडस' पर पूरा ध्यान देना पड़ता है। उदाहरणार्थ हम उपन्यासकार की उस कठिनाई पर विचार करें जो उसके मन में शुभ्र वर्ण की अनेक प्रतीकात्मक वर्ण्यवस्तुओं का ध्यान करने पर आती है। उसे वर्णन विशेष के अवसर एवं उसके समवेत प्रभाव पर ध्यान देने के लिए निजी विवेचन प्रतिभा से निर्णय करना होता है। श्री शुक्ल ने इस तथ्य की यों सरल व्याख्या की है —

जिस प्रकार का स्वरूप आकार तथा सज्जा हमें अधिक पसन्द आती है। हंस में रंग नहीं होता वह धवल होता है। पर हंस हमें पसन्द है। यहां रंग उतना आवश्यक नहीं जितना रूप और उसकी गरिमानता पर ध्यान रखा जाता है। सफेद रंग की चार वर्ण्य वस्तुओं अर्थात हंस, चम्पक पुष्प, खरगोश तथा चांदनी में से किसी को कुछ पसंद है किसी को कुछ।[1]

उपन्यासकार को पाठक की रुचि पर ही नजर नहीं रखनी पड़ती वरन उस वर्ण्य अवसर में प्रयुक्त रंग अथवा सूक्ष्मतर भेदों की अनुकूलता पर भी विशेष ध्यान देना होता है —

'कलाकार के सम्मुख यह प्रश्न नहीं है कि कौन वस्तु कम सुन्दर है और कौन अधिक, बल्कि यह कि कोई वस्तु क्यों सुन्दर है? अर्थात प्रकृति का वह कौन सा आधार है जिस पर वह नाना प्रकार की अपूर्व सुन्दर वस्तुओं की रचना करती रहती है? कलाकार के लिये यही ज्ञान प्राप्त करना अति आवश्यक है। यह ज्ञान हम या कलाकार को इन दो प्रकार से ज्ञात होता है—१ प्रकृति निरीक्षण से २ प्रकृति

---

१ 'चित्रकला का रसास्वादन' (रामचन्द्र शुक्ल एम० एड० पी० डिप० प्राध्यापक कला विभाग काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी) अध्याय ६ कला का सार्वभौम स्वरूप पृष्ठ ५४ ६६ (प्र० हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी १, प्रथम संस्करण १९६२)।

के अनुसार चलने से, ३ प्रकृति के रहस्य पर मनन करने से ४ प्रकृति और अपने कार्यों में एकता लाने से।"

अपने उपन्यासों में वर्णना की योजना में उपन्यासकार को भी वर्ण्यवस्तु के प्रति पाठकों के आकर्षण एवं अभिरुचि का सदैव ध्यान रखना पड़ता है। इसके लिए व्यापक प्रकृति निरीक्षण भी उपन्यासकार के लिए मूल्यवान सुझाव देने वाला सिद्ध होता है। विद्वान कला विवेचक के शब्दों में इस प्रश्न पर बारबार विचार करना प्रत्येक कलासर्जक के लिए आवश्यक है —

कौन सी चीजों को देख कर दर्शक आसानी से 'अहा हा!' कहते हैं, यह भी महत्वपूर्ण बात है जब हम विशाल तथा अनन्त नीले आकाश पर एकाग्रचित्त होते हैं या विशाल अनन्त समुद्र, वनों के समूह, जंगल, रेगिस्तान पहाड़, हरियाली सूर्य का प्रकाश, जनसमुदाय ऐसी वस्तुओं पर एक साथ, एक समय, एक स्थान पर, अनेक वस्तुओं का समूह देखते हैं या एक ही रंग एक ही रूप को, अनंत रूप में, विस्तृत होते देखते हैं, तो हमें सौन्दर्यानुभूति होती है।"

'निरंतर एक गति से बहती नदी, या झरने का बहना देख कर हम सौंदर्यबोध होता है, एकता नजर आती है, अनन्त का बोध होता है। पहाड़ों या पेड़ों को जब हम अनंत रूप से फैले हुए देखते हैं समुद्र की जलराशि को जब हम अनन्त रूप से विस्तृत देखते हैं सूर्य की लाल लाल किरणों को, समुद्र के किनारे अनन्त रूप से फैलते हुए देखते हैं किसी लम्बे चौड़े मैदान में जब घास की हरियाली अनन्त रूप से फैलती दिखाई पड़ती है तो हम एकता, सार्वभौमिकता और सौन्दर्यानुभूति का एक साथ अनुभव होता है।'

रंगों का चुनाव वर्णनात्मक चित्रकार एवं वर्णनात्मक उपन्यासकार दोनों के लिए ही महत्वपूर्ण है। इसी प्रसंग में श्री शुक्ल ने कुछ निम्न रोचक तथ्यों का भी विवरण दिया है—

'आधुनिक मनोविज्ञान तथा भौतिकविज्ञान के द्वारा रंगों के प्रभावों पर और भी महत्वपूर्ण तथ्य सामने आ रहे हैं। प्राचीन समय में भी रंगों के बारे में, बहुत सी बातें प्रचलित थीं। आज भी संस्कारगत भारतीय घरों में रंगों के बारे में बहुत सी मान्यताएँ चलती हैं। शादी या अन्य शुभ अवसरों पर लोग काले नीले या हरे रंग के वस्त्र नहीं पहनते। (पाश्चात्य देशों में लोग) अंतिम दुःखद घटना के अवसर पर काले वस्त्र पहनते हैं।

'लाल तथा पीला रंग भारतीय घरों में शुभ समझा जाता है। संन्यासी साधु संत गेरुआ वस्त्र ही अपने लिए उचित समझते हैं। भारतीय गृहस्थों में यह भी चलन

---

१ ३ 'चित्रकला का रसास्वादन' (रामचन्द्र शुक्ल) अध्याय ६, पृ० ६१ तथा ६४ ६।
४ वही—खण्ड २, अध्याय १ ('रंग'), पृष्ठ ८१

है कि यदि नया सफेद कपड़ा, खास कर धोती पहननी होती है तो उसमें एक कोने पर हल्दी लगा देते हैं। (बंगाल में तो बुनकर भी इसका ध्यान रखते हैं।)[1]

उपन्यास तो आधुनिक लोक महाकाव्य है, इसीलिए उपन्यासकार के लिए, इन लोक प्रचलित रंग सम्बन्धी धारणाओं पर अधिक ध्यान देना अनिवार्य होता है। और चित्रकला-सम्बन्धी इन तथ्यों के बारे में भी विशेष ध्यान रखना होता है। ज्योतिष शास्त्र आदि में भी रंगों के विषय में पर्याप्त चिंतन किया गया है। लेखक महोदय के शब्दों में—

ज्योतिष शास्त्र में इस प्रकार की अनेक बातें मिलती हैं जैसे—ग्रहों की शांति के लिए विभिन्न रंगों के हीरे, मानी, मूँगा, पत्थर या काँच पहनने को कहते हैं और विभिन्न देवी-देवताओं या ग्रहों के लिए विभिन्न प्रकार के अनुकूल रंग वर्णित हैं और उन्हें अनुकूल बनाये रखने के लिए उसी रंग के वस्त्रों का प्रयोग किया जाता है। (धार्मिक कृत्यों में), फूल, अन्न तथा वस्त्र के प्रयोग में रंग का ख्याल बहुत किया जाता है।'[2]

चित्रकला की परम्पराओं में चिरकाल से वर्णों को मानव भावनाओं के व्यंजक के रूप में माना जाता रहा है। अतः प्रसंगों के अनुकूल यदि विभिन्न रंगों के प्रभाव का भी ध्यान रखा जाए तो उचित होगा। भारतीय चिंतन धारा एवं चित्रकला की परम्परा के अनुसार विभिन्न वर्ण विभिन्न गुणों के परिचायक हैं यथा—

पीला—तीव्र बुद्धि विवेक	कत्थई/अंगरेजी—स्वार्थ
नीला—मुक्ति	किरमिची—लालच
बैंगनी—आत्म विवेक धर्मनता	लाल—क्रोध
गुलाबी—प्रेम, उदारता	लाखी—विषय वासना
हरा—करुणा सहानुभूति	भूसी खाकी—भय, उदासी
नारंगी—अभिमान	काला धूमिल—क्रूरता या द्वेष[4]

उपन्यासकार को उपर्युक्त अवसरों के अनुकूल पात्र पात्राओं की वेश भूषा के वर्णगत आयोजन को भी ध्यान में रखना होता है। अनुरूप वर्ण चयन द्वारा वर्णन की प्रभावोत्पादकता भी बढ़ती है और उसके कलात्मक वशिष्ट्य में भी वृद्धि होती है।

केवल पात्र-वर्णन में ही नहीं—प्रकृति चित्रण के प्रसंगों में भी रंगों का चुनाव बड़ा विलक्षण प्रभाव डालता है। विभिन्न ऋतुओं के अनुकूल प्रकृति नटी अपना पट

---

१ चित्रकला का रसास्वादन (रामचन्द्र शुक्ल) अध्याय १, पृष्ठ ८३

२ ३ वही पृष्ठ ८३

४ वही, खण्ड २, अध्याय १ (रंग), (पृष्ठ ८१ ९१) पृष्ठ ८१

परिवर्तन करती रहती है। यह परिधान, पेड़-पौधों जलाशयों के बदलते हुए रूप रंगों द्वारा नित्य बदलता रहता है। भारतीय जलवायु की अनुकूलता को ध्यान में रख कर लेखक को न केवल कुछ प्रतीकात्मक पेड़ों, फूलों तथा धरती की रंगयोजना (यथा मिट्टी का रंग और घास की चादर की वर्णगत भंगिमा) का ध्यान रखना होता है वरन उसे अपनी वर्णनगत दृश्यपटियों के उतारने में भी, वर्णयोजना के प्रतीकात्मक प्रयोग का सहारा लेना पड़ता है—

इसी प्रकार जैसे किसी चित्र में हरे भरे विस्तृत मैदान में, हरियाली के मध्य में लाल रंग की कोई वस्तु जो उस अनन्त हरियाली में, अन्यवर्णी होने के कारण, केन्द्रित हो जाती है सौन्दर्य को और बढ़ा देती है।[1]

उपन्यासों में वर्णनात्मक कला के नियोजन में इस भाँति, चित्रकला के कुछ विशिष्ट अंगों का सम्यक अध्ययन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। वर्णनात्मकता प्रधान होने के कारण, उपन्यास, स्वभाव से ही चित्रात्मकता प्रधान ही होते हैं।

'कालिदास की लालित्य-योजना' में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कलाकार की जिस समाधिस्थ अथवा स्वस्थ अवस्था का विशद विवरण दिया है उसी को चित्रकला के सभी ममज्ञ भी अनुभव करते हैं। कलाचार्य शुक्ल ने भी कलाकार की साधनावस्था का निम्न शब्दों में विवेचन किया है जो उनकी चित्रकार की निजी अनुभूति पर भी आधारित है —

यदि सारी इन्द्रियाँ शुद्ध रूप में प्रखर हों, उनको नित नये अनुभव प्राप्त होते रहें तो भावना या उद्वेग के रूप में, वे परिष्कृत होते जाते हैं और मस्तिष्क, विभिन्न प्रकार की अनुभूतियों को ग्रहण करने में, सफल होता है।

जिन व्यक्तियों की इन्द्रियाँ कुशलतापूर्वक, संसार से प्राप्त विभिन्न प्रकार के अनुभवों को मस्तिष्क तक पहुँचाती रहती है और मस्तिष्क में अंकित अनुभूति को कुशलता पूर्वक व्यक्त करने में, समर्थ होती हैं वही व्यक्ति कलाकार बन जाता है। यह विवेचना ही पृष्ठभूमि है कला की रचना की जिसका मस्तिष्क शीशे की भाँति अनुभव को साफ साफ ग्रहण करता है, और वैसे ही उसकी अभिव्यक्ति करने में भी समर्थ होता है वही कलाकार बन जाता है।[2]

हमारे देश में, कला साधना को भी, अन्य आध्यात्मिक साधनाओं के समान एक उच्च स्तरीय, उदात्त एवं तटस्थ रचनात्मक प्रतिभा का क्षेत्र माना गया है। भारतीय विचार धारा के अनुसार, कला, आनन्द की अभिव्यक्ति है तथा वह अपने विविध माध्यमों द्वारा, इस आनन्दानुभूति को व्यक्त करने में सिद्धि प्राप्त करती है।

---

१ चित्रकला का रसास्वादन' (रामचन्द्र शुक्ल) खण्ड २ अध्याय १, पृष्ठ ८३

२ वही—खण्ड १ अध्याय १० (पृष्ठ ६७–७-), पृष्ठ ७१

इसीलिए विविध ललित कलाएँ यथा चित्रालेखन मूर्तिकला स्थापत्य एवं संगीतात्मक कला-साधनाएँ मूलत अनेक मौलिक समान आधार भी रखती हैं।

कलाकार अथवा साधक, किसी भी प्राकृत पदार्थ द्वारा, अपने कलात्मक नानामेष की मानसिक परिकल्पना करता है और मनन चिन्तन एवं निदिध्यासन द्वारा वह परिकल्पना एक मूर्त एवं सजीव अस्तित्व ग्रहण कर लेती है। उस अनिर्वचनीय एवं आत्मविभोर आनन्दानुभव के क्षणों में, कला साधक के मन में उपयुक्त माध्यम की खोज सम्बन्धी प्रेरणा, उत्पन्न होती है और रामया न्तर में वह इतनी बलवती हो जाती है कि उसकी अभिव्यक्ति के बिना कलाकार प्रकृतिस्थ नहीं हो पाता।

साहित्य सर्जन भी अन्य कलाओं की भांति मानस प्रेरणा एवं कलात्मक परिकल्पना का ही एक मूर्त रूप है। भाषा के माध्यम के कारण साहित्य की व्यंजना सामर्थ्य सभी अन्य ललित-कलाओं की अपेक्षा सर्वाधिक क्षमता सम्पन्न है। उसकी प्रक्रिया परिधि भी इसीलिए अनन्त एवं अपार है। वर्णनात्मक कला, व्यावहारिक विकास है, वाङ्मय की इसी व्यंजना सामर्थ्य का। इसीलिए कला में वर्णनात्मकता का अवतरण, विकास एवं उसकी विविधा प्रक्रियाएं आद्योपान्त प्रेक्षणीय एवं मननीय है। साहित्य की सभी विधाएं न्यूनाधिक रूप से, वर्णनात्मक होती हैं किन्तु उपन्यास के लिए तो वर्णनात्मकता मेरुदण्ड के समान ही है। बिना वर्णनात्मक-कला की सिद्धि के, कोई भी उपन्यासकार ख्यातनामा नहीं हो पाया और न कोई विश्व उपन्यास ही ऐसा है जो बिना वर्णनात्मकता की सामर्थ्य के स्थायी साहित्य के स्तर को प्राप्त कर सका हो।

वर्णनात्मक कला साहित्य की एक प्रकृति विशेष का नाम है, जिसकी परिधियाँ माध्यम के अन्तर द्वारा अन्य ललित कलाओं तक भी फैली हुई है। सभी कलाओं के मौलिक उद्भव के अनुरूप ही वर्णनात्मकता लेखक अथवा कलाकार की कलाभिराम परिकल्पना में जन्म लेती है। यह कलाभिराम परिकल्पना कलाकार के मानस में तभी उदित होती है जब कि वह आनन्द की साधनावस्था में आत्मविभोर, आत्मलीन एवं आत्मसन्तुष्ट अवस्था में होता है। उसे ही कुछ कलाशास्त्री 'कला समाधि' भी कहते है। कलाकार के मानस की यह निर्विकल्प निष्काम अवस्था ही भव्य और दिव्य चिरस्मरणीय तथा चिरचमत्कारमयी वर्णना की सर्जनाभूमि बनती है। कलाकार की कलाभिराम परिकल्पना की प्रेरणा, सचराचर विश्व की किसी भी गण्य अथवा अगण्य इकाई द्वारा, आन्दोलित व प्रेरित हो सकती है।

कलाभिराम परिकल्पना की सहज परिणति वर्णना में ही होती है। इस भांति लघुकथा से लेकर उपन्यास तक समस्त कथात्मक साहित्य ही वर्णना की एक अटूट शृंखला के समान जान पड़ता है। कथात्मकता मानव की सहज साहित्यिक वृत्ति है तथा जो कथासाहित्य, अज्ञात-नाम कुलशील लोक समुदाय द्वारा प्रचलित है वह सभी वर्णनात्मक है। दूसरे शब्दों में कथात्मकता की भांति वर्णनात्मकता को भी, मानव

मात्र की सहज प्रवृत्ति का परिणाम कह सकते हैं। किन्तु जब कलाकार की कलाभिराम परिकल्पना द्वारा वही वर्णनात्मकता पुनर्कल्पित रूप में समक्ष आती है तो उसमें एक ऐसी कलात्मक रमणीयता की आभा, शोभा अथवा छटा छहराने लगती है जो साधारण से साधारण वर्णनों को भी, कलात्मक अभिरामता प्रदान कर देती है। अतः मात्र-वर्णन एवं कलाभिराम वर्णन के बीच के अन्तर को पहचानना, प्रत्येक साहित्य रसिक के लिए आवश्यक हो जाता है।

मात्र-वर्णन एवं कलाभिराम वर्णन के बीच का विवेक हम वर्णनात्मक कला के विविध उपादानों के अनुसंधान में प्रयुक्त करते हैं। प्रत्येक कलाभिराम वर्णन, लेखक की आनन्द विभोर रमणीयता अभिभूत परिकल्पना का परिणाम, होता है। अतएव ऐसा प्रत्येक वर्णन स्वयं अपने में एक कलात्मक इकाई है। उसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता भी है तथा यदि उसे उपन्यास के कलेवर से पृथक भी परखा जाय तो निश्चय ही वह पाठक को स्वतन्त्र, स्वतन्त्र रूप से भी आनन्दित करेगा। किन्तु उपन्यासगत वर्णन की कथारसता, उसे एक अनोखापन प्रदान करती है। उपन्यासकार के हृदगत कथारस, एवं वर्णन का उसकी अपनी निजी कलाभिरामता, पाठक के मन को भी एक अनिर्वचनीय कलात्मक अनुभूति का बोध करा जाती है।

कथा प्रवाह में, भिन्न भांति काई स्वतन्त्र अस्तित्व रखने वाला कलाभिराम वर्णन, कथाप्रसंग का स्मरण आते ही साहित्य विदग्ध पाठक को रोमांचित कर जाता है यह तथ्य अनुभवगम्य है—शब्दगम्य नहीं। उदाहरणार्थ जब माघ की प्रसिद्ध सूक्ति 'क्षणे क्षणे यत् नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' हमारे सम्मुख आती है तो हमारे समक्ष, रमणीय अथवा सौन्दर्यतत्व का एक झिलमिलाता किन्तु चमत्कारी चित्र, आ उपस्थित होता है। यह सूक्ति अखिल रमणीय एवं वर्ण्य पदार्थों का विशिष्ट एवं शाश्वत धर्म है। इसलिए वह अब एक साहित्यिक कहावत (सूक्ति) बन चुकी है। यदि हम इस पंक्ति को शिशुपाल वध के रैवतक पर्वत वर्णन के प्रसंग में पढ़ें और श्रीकृष्ण के कलापिपासु नयनों द्वारा, एकटक, रैवतक पर्वत को निहारा जाता हुआ देखें तो हम भी (श्रीकृष्ण के समान ही रमणीय रैवतक का दर्शन कर) कम हृप विस्मय का अनुभव नहीं होगा। बारबार श्रीकृष्ण ने इस रमणीय शैली के नैसर्गिक सौन्दर्य को बरसों निहारा था, किन्तु आश्चर्य तो इस बात का था कि हर बार वह 'कुछ और' ही नजर आता था।

इसी बात को माघ के लगभग बारह सौ वर्ष बाद एक अन्य नैसर्गिक छटा के लुब्ध हिन्दी महाकवि, श्रीधर पाठक ने अपनी 'काश्मीर सुषमा' नामक वर्णनात्मक कविता में मानो निम्न शब्दों में पुनः स्मृत सा कराया था—

> 'प्रकृति इहाँ एकान्त बैठि निज रूप सँवारति।
> पल पल पलटति भेष, छनिक छवि छिन छिन धारति।।

उक्त काव्य प्रसंग में नैसर्गिक शोभा के साथ काश्मीर की रोमानी नामरूप जुड़ जाने पर, इन पंक्तियों का रोमानी जादू कहीं अधिक बढ़ जाता है। फिर भी व अपने में ही, क्या कम हैं ?

उपन्यासों में तो ऐसे प्रसंग, इतने बहुसंख्यक हैं कि उनका सविस्तार उल्लेख आगे आने वाले तत्सम्बन्धी पृथक् परिच्छेद में सम्भव होगा। इस दृष्टि से श्री वृन्दावन लाल वर्मा द्वारा (मृगनयनी में) चित्रित चाँदनी रात में ... का प्रकृति दृश्यपट वर्णन भी अपने में एक स्वतन्त्र कलाभिराम कृति है। वह बिना किसी कथा प्रसंग के भी, स्वतः रमणीय है

खेत से थोड़ी ही दूर नदी बह रही थी। ... नाहर से डरे हुए सामरों और चीतलों की कभी तीक्ष्ण और कभी मन्द पुकारें। (इस समग्र वर्णन का मृगनयनी उपन्यास के विशद वर्णनात्मक विश्लेषण में सम्पूर्ण रूप से उद्धृत किया गया है।)

यदि किसी उपन्यास रसिक पाठक को उपर्युक्त वर्णन का कथा प्रसंग भी पुनः स्मृत हो जाए और प्रकृति के इस निस्तब्ध दृश्यपट के साथ ही साथ निन्नी अथवा भावी गूजरी रानी मृगनयनी की, रोमानी रूपछवि भी स्मृति-पट पर उभर आए तो इस वर्णन के कथारम्भ में योगदान वाले पक्ष का भी आभास मिल जाता है। इस प्रकार के कितने ही अविस्मरणीय वर्णन स्व० श्री वर्माजी के उपन्यासों की एक बड़ी एवं निजी विशिष्टता है।

वर्णनात्मकता के अभिव्यञ्जना सामर्थ्य का प्रमुख आधार शब्द है। साहित्य से इतर ललित कलाओं में जिन माध्यमों का प्रयोग होता है। जबकि शब्दों के उपयुक्त चयन द्वारा लेखक अपने वर्णनों में चित्रालेखन की साक्षात छवि तथा संगीत की वर्ण मधुरता युक्त नाद्ध्वनि दोनों का समावेश करने में समर्थ होता है। शब्दों द्वारा ही वह मूर्तिकला स्थापत्य कला आदि के भव्य चित्र भी अपने पाठक के समक्ष, समुपस्थित कर सकता है। दृश्यपट आलेखन में लेखक शब्दों की वर्ण व्यंजना का कलानुरूप समावेश करता है जिसके द्वारा उसके प्राकृतिक दृश्यपट विविध नयन रंजक एवं चित्र विचित्र छवियों द्वारा रंग जाते हैं।

शब्दों की व्यंजना शक्ति विलक्षण सामर्थ्य रखती है। शब्दों की कलारुचि परक व्यंजना द्वारा लेखक रूप रस गंध स्पर्श ध्वनि के सूक्ष्मतम विभेदों के संचार द्वारा पाठक के मन को रसाप्लावित कर देता है तथा उन सूक्ष्म अनुभूतियों को जो उस पहले कभी आह्लादित कर चुकी हैं कलात्मक पदावली के द्वारा अपने पाठकों तक पहुँचाने में और उन्हें रसासिक्त करने में वह सफल होता है।

माधुर्य के अतिरिक्त कोमल कान्त पदावली एवं श्रुति मधुर शब्दों के चयन द्वारा लेखक अपनी वर्णनात्मक शैली में एक सुकुमार कलाभिरामता का समावेश कर पाता है। इसके विपरीत कठोर प्राकृतिक दृश्यों तथा अन्य कोलाहलयुक्त वातावरण का अंकन करने के लिए वह परुषा वृत्ति का भी अवलम्बन लेता है।

प्रत्येक लेखक की वर्णन शैली की अपनी निजी विशेषताएँ भी रहती हैं, यथा कुछ लेखक समस्त पदों का प्रयोग करने में पटु होते हैं जिससे कि भावाभिव्यंजना में बड़ी सहायता मिलती है। वातावरण की प्रतीयमानता में अभिवृद्धि के हेतु स्थानीय, प्रान्तिक, आंचलिक शब्दावली का भी प्रयोग किया जाता है, जिससे स्थानीय वातावरण, पाठक के समक्ष, साक्षात हो उठता है। इसी भाँति भाषागत कलाभिरामता के लिए वाक्यों के सुघड़ विन्यास के साथ ही साथ उसमें, सरलता, सुबोधता एवं रसात्मकता भी अपेक्षित होती है।

उपन्यास में वर्णनात्मक कला का मूलाधार रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं ध्वनि के पंच ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार पर आश्रित होने के कारण, सम्पूर्णतः वैज्ञानिक एवं तर्कमूल माना जा सकता है। ज्ञानबोध की इन पांच विविध सरणियों में, वर्णनात्मक कला में प्रायः 'रूप' का सर्वाधिक बहुप्रयुक्त रूप प्रयोग है। रूप तत्व के सम्बन्ध में हमारे प्राचीन साहित्य शास्त्रियों ने पर्याप्त विवेचना की है जो योग के सिद्धान्त निरूपण से लेकर, कालिदास के काव्यों एवं नाटकों में पाई जाने वाली मार्मिक उद्भावनाओं तक, फैली हुई है। पाश्चात्य कला-साहित्य समीक्षा में भी 'रूप-बोध' की बहुत कुछ चर्चा की गई है। पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र में इस प्रसंग को रूपगत चतुः सिद्धान्त की संज्ञा प्रदान की गई है। यहाँ उसका भी संक्षिप्त उल्लेख उपादेय एवं समीचीन होगा।

श्री नीनाधर गुप्त ने अपने पाश्चात्य साहित्यालोचन सम्बन्धी उत्तम ग्रन्थ में इस प्रसंग की चर्चा चतुर्थ प्रकरण में 'एस्थेटिक अनुभव' (सौन्दर्यानुभूति) शीर्षक उपविभाग में इस भाँति की है—

रूप को समझने में आलोचना, बड़ी विभिन्नता दिखाती है। कोई कलाकार उसे किसी अर्थ में लेता है, कोई किसी और अर्थ में। यही नहीं एक ही कलाकार, भिन्न भिन्न अवसरों पर उसे भिन्न भिन्न अर्थों में लेता है। पहला रूप, शास्त्रीय अथवा परम्परागत हो सकता है—आकृति स्वरूप अथवा साधारण विधि। ऐसे रूप का निर्धारण कलाकृतियों के निरीक्षण और अध्ययन से होता है। कलाकार उनके निर्धारित रूपों को नमूने (या माडल) के रूप में ग्रहण करके, नयी रचनाओं की सृष्टि करते हैं। दूसरे रूप में किसी वस्तु का वास्तविक सार अथवा उसके अस्तित्व की पूर्ति के नियम को समझा जाता है। इस व्यापार में कला हम सब को अधिक सरल दर्शन देती है और प्रकृति और मानव जीवन में हमारे ज्ञान को दृढ़ बनाती है। तीसरे रूप से अभिप्राय है आनन्द से। कला एक दूसरे परिवर्तित संसार की सृष्टि करती है जिसका प्रयोजन, एक ऐसी तुष्टि होती है जो निर्णीत तथ्य की तुष्टि से भिन्न होता है। चौथे और अन्तिम रूप में रूप रचनात्मक रूप होता है। यही वास्तविक रूप है जिसके माध्यम द्वारा कलाकार के प्रकृति और जीवन विषयक निजी दर्शन को अभिव्यंजना प्राप्त होती है।

समझाया है कि स्वय कविकुलगुरु कालिदास बिद्ध चित्रण-कला अथवा हूबहू आलेखन को 'श्रेष्ठ कला' नहीं मानते थे। मालविका का चित्र भी ऐसा ही रहा होगा, किन्तु राजा ने जब अनुकार्य देखा, तो अनुकरण की भूल उसकी समझ म आ गई। बिद्ध चित्र भी ठीक ठीक इस कारण नहीं उतरा क्योकि चित्रकार 'शिथिल समाधि' हो गया था। कालिदास स्वय कही भी शिथिल समाधि होना पसन्द नही करते। जहाँ कही कलाकार की समाधि शिथिल हुई, वह अपने लक्ष्य स भ्रष्ट हुआ।

आचार्य द्विवेदीजी का अभिमत है कि कालिदास ने कलाकार अथवा साहित्य साधक की इस समस्या पर काफी गहराइ से विचार किया था। आग इसी प्रसग पर कविकुलगुरु का वणन कला सबधी दृष्टिकोण विद्वान विवेचक के निम्न शब्दा म अवधारणीय है—

कालिदास विधाता को भी एक कलाकार ही मानते हैं। जब वह सचमुच कोई सुन्दर रचना करता है तो समाधिस्थ होता है। दिलीप की रचना करते समय निश्चय ही उसने महाभूत समाधि धारण की होगी—'तम वेधा विदधे नूनम महाभूत समाधिना।' वस्तुत कालिदास बहुत कम अवसरो पर विधाता के पूर्ण समाधिस्थ होकर रचना करने का उल्लख करते है। विधाता की सृष्टि म भी सब वस्तुए समान रूप से सुन्दर नही बनी। कालिदास बडे ही (सु) सस्कृत चित्त के कवि थ।

अभिज्ञान शाकुन्तल म राजा दुष्यन्त ने कहा था—ब्रह्मा ने सबसे पहले शकुन्तला के रूप की मानस कल्पना की होगी। उस समय उसके चित्त मे सौन्दर्य का उफान रहा होगा। उसने चित्त का पूर्णसत्वस्थ या समाहित किया होगा। फिर उसन पुराने सौन्दर्य रत्नो से भिन्न इस स्त्री रत्न की सृष्टि की होगी ऐसा मुझे प्रतिभास हो रहा है। यह बात मेरे मनम इसलिए आती है कि एक ओर उसके मनोहर रूप को देखता हूँ और दूसरी ओर विधाता का अपार सामर्थ्य (उसकी विभुता)।[1]

विधाता के बहाने कालिदास ने यहाँ मानव कलाकार की रचना प्रक्रिया की ओर ही इगित किया है। मनुष्य अपने रूप म ही विधाता को देखता है। कालिदास ने स्वय रचना प्रक्रिया को जसा अनुभव किया होगा उसी को विधाता म घटित कराया होगा यह अनुमान असगत नही है। कालिदास उत्तम रचना के लिए समाधिस्थ चित्त को बहुमान देते हैं। मेघदूत के एक ही प्रसग मे चित्रकला के सात्विक और राजसिक भाव का बडा ही कमनीय चित्र प्रस्तुत किया है। यक्ष विरहावस्था म अपनी प्रणय कुपिता प्रिया का चित्र बनाता है। चित्र बनाने

---

१ चित्तनिवेश्य परिकल्पित सत्वयोगाद् रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।
स्त्रीरत्न सृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्या ॥
—'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' (महाकवि कालिदास)

की स्थिति में उसका चित्त पूर्ण सत्वस्थ रहता है परन्तु चित्र देख कर वह राजस भाव का शिकार हो जाता है। उसकी आँखों से अविरल अश्रुधारा बहने लगती है।'[1]

कलाकार के रूप में यक्ष सत्वस्थ रहता है। द्रष्टा के रूप में राजस भाव में—रजोगुण और तमोगुण से अभिभूत चित्त से प्राणवन्त सुकुमार सौन्दर्य नहीं निकल सकता—यह कालिदास का निश्चित मत है—'न प्रभातरलम् ज्योतिरुदेति वसुधातलात्' (धरती की सतह से प्रभा चंचल ज्योति का उदय नहीं हो सकता)।

आचार्य द्विवेदीजी के उपर्युक्त कालिदास के लालित्य सिद्धान्त का एक मुख्य आधार है—कलाकार अथवा साहित्य-साधक की यह सत्वस्थ समाधि अवस्था। जो समस्या वर्णनात्मक काव्यकर्ता की है ठीक वही—बल्कि उससे भी कहीं अधिक व्यापक अर्थों में, वर्णनात्मक उपन्यासकार की भी है।

जिस समय उपन्यासकार की सत्वस्थ समाधि-अवस्था में, अथवा उसकी आत्ममग्न तटस्थ दार्शनिक एकाग्र तन्मय अवस्था में, एक से एक विलक्षण कलाभिराम वर्णन निःसृत होने लगते हैं तो उसका उपन्यास, कार्य की श्रेष्ठावस्था में ही पहुँच जाता है। जिस समय हम किसी श्रेष्ठ उपन्यासकार द्वारा चित्रित कलाभिराम वर्णनों में अपने आपको खोया हुआ सा अनुभव करते हैं तो कथारस के अतिरिक्त, उन्हीं क्षणों में एक अपूर्व अनिर्वचनीय काव्यरस की भी अनुभूति कर पाते हैं जिसके कारण ही वस्तुतः हम साधारण उपन्यास एवं श्रेष्ठ कलात्मक औपन्यासिक कृति के बीच का अन्तर स्पष्टतया समझ पाते हैं। निश्चय ही यह सब आनन्दानुभव मात्रा तो पाठक की निजी संस्कारयुता अभिरुचि की, सानुपातिक रहती है, फिर भी वर्णनात्मक कलाभिरामता-संयुत वर्णन एवं साधारण वर्णन के बीच का अन्तर समझने पर, उपन्यास विवेक का केन्द्रीय सूत्र, हाथ में आ जाता है।

जो उत्तम वर्णन हम उपन्यासों में पाते हैं, वे सभी उपन्यासकार की समस्त मानसिक प्रवृत्तियों के अपने वर्ण्यबिन्दु पर केन्द्रित हो जाने से ही शब्दरूप ग्रहण कर पाते हैं। ऐसे वर्णनों की अवतारणा करते समय उपन्यासकार एक सर्वथा तटस्थ द्रष्टा का रूप ग्रहण कर लेता है और स्वयं भी वह एक प्रकार से अपने वर्ण्य पदार्थ अथवा वर्णनाकेन्द्र पर ही मनसा जा पहुँचता है। उस समय उसे अपने पार्थिव अस्तित्व का भी ध्यान नहीं रह पाता और वह अपने आसपास के वातावरण एवं अवरोधक परिस्थितियों के प्रभाव से सर्वथा परे, अपनी रचनात्मक प्रतिभा से प्रसूत 'रसविश्व' का

---

१ त्वामालिख्य प्रणय कुपिताम् धातुरागैः शिलायाम्।
आत्मानाम् ते चरण पतितम् यावदिच्छामि कर्तुम्॥
अस्रैस्तावन् मुहुरुपचितैः दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमम् नौ कृतान्तः॥
—'मेघदूत' (महाकवि कालिदास) उत्तरमेघ, श्लोक ४२

नागरिक ही हो जाता है। इसी को कालिदास कलाकार की स्वस्थ अध्यात्म अवस्था अथवा समाधि की अवस्था मानते हैं।

उपर्युक्त कालिदास लालित्य योजना की एक अन्य विशिष्टता जो सीधी चित्रकला से भी सम्बन्ध रखती है, वह है 'चित्रितों के भावों को लेख और रगों में फिर से प्रवेश करा देना। इसे चित्रकला की शब्दावली में 'भावानुप्रवेश' कहते हैं।'[1] प्रसंग है फिर 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का। दुष्यन्त ने शकुन्तला का चित्र बनाया था, 'उसमें रंगों के भरने से जो उच्चावच प्रदेशों की शोभा निखर आई थी, उसे देख कर विदूषक ने कहा था—वाह सखे! तुमने यह चित्र बहुत ही सुन्दर बनाया है और प्रत्येक अंग में भावानुप्रवेश दर्शनीय है।'

उपन्यासगत वर्णनात्मक कला का एक अंश है, अन्य ललितकलाओं की वर्णनों के माध्यम द्वारा यथातथ्य अनुभूति कराना। इनमें से एक विशिष्ट कला है नृत्य (एवं उसके सहचर वाद्य संगीत आदि)। आचार्य द्विवेदीजी ने नृत्यकला में भावानुप्रवेश के उदाहरण के लिए कालिदास कृत 'मालविकाग्निमित्र' के लिए नृत्य प्रसंग को उदाहृत किया है। 'मालविकाग्निमित्र' के द्वितीय अंक में आए हुए आठवें श्लोक के इस नृत्यात्मक भावानुप्रवेश को 'रागबन्ध' संज्ञा दी गई है जिसका औपन्यासिक रूपान्तर श्री द्विवेदीजी ने अपने प्रख्यात उपन्यास—'बाणभट्ट की आत्मकथा' में किया है —

मालविका के अंगों में मीनर वाणी छिपी हुई थी। उसके चरणों के विन्यास लय के साथ साथ चल रहे थे। गीत के रस में भी वह तन्मय हो गई थी जो भाव अन्य विषयों से मन को विरत करें और जिसमें नर्तकी दिखाए जाने वाले भाव में स्वयं प्रवेश कर जाए वही रागबन्ध उत्तम होता है।'[2]

आचार्य द्विवेदीजी स्वयं अनेक श्रेष्ठ एवं कलाभिराम उपन्यासों के स्रष्टा भी हैं। अतः उनके प्रत्येक उपन्यास में ललितकलाओं के चित्रविन्यास की जैसी रमणीय झांकियाँ देखने को मिलती हैं वैसी सम्भवतया किसी भी अन्य उपन्यासकार की कलाकृतियों में दुर्लभ ही हैं। 'बाण भट्ट की आत्मकथा' (१९४६ ई०) की पात्रा निपुणिका के नृत्यों में यह भावानुप्रवेश रमणीय बन पड़ा है। उपन्यास की चरम परिणति प्रायः उसी

---

१ 'कालिदास की लालित्य योजना' (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) अध्याय ६ भावानुप्रवेश यथालिखितानुभाव, पृष्ठ ६२-६८

२ अंगैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ
भावो भावं नुदति विषयाद् रागबन्धः स एव॥
—मालविकाग्निमित्र (महाकवि कालिदास) द्वितीय अंक, श्लोक ८

नृत्य के द्वारा हुई है।[1] 'चारु चन्द्रलेख' (१९६३ ई०) के अन्तर्गत 'नाटी माता' (नागर नटी) की नृत्योपासना में यह नृत्यकला गत भावानुप्रवेश पढ़ते ही बनता है[2] तथा उनके उपन्यास 'पुनर्नवा' (१९६४-६६) में वर्णित मंजुला के नृत्य में, मंजुला की नृत्य-छवि उपर्युक्त मालविका की नृत्य छवि का, सहसा स्मरण सा करा जाती है।[3]

यह भावानुप्रवेश हिंदी साहित्य के अनेक कलापूर्ण उपन्यासों में, वर्णना द्वारा ही स्थापित हुआ है यथा 'मृगनयनी' में गूजरी रानी द्वारा नृत्यकला का प्रदर्शन।

चित्रकला एवं नृत्यकला के अतिरिक्त अन्य ललितकलाओं को वर्णित करने वाले उपन्यासों में भी भावानुप्रवेश-पद्धति (भवन निर्माण कला एवं स्थापत्य के क्षेत्र में भी) सफलतापूर्वक स्थापित हुई है। यथा—'मृगनयनी' (श्री वृन्दावनलाल वर्मा) में, गूजरी महल एवं मानमंदिर की भवननिर्माण-कला के, उत्कृष्ट एवं कलाभिराम वर्णनात्मक प्रसंगों में इस पद्धति का विकास एवं विलास दर्शनीय है। यहाँ यह भावों का वास्तव रूप देने की प्रक्रिया, स्थापत्य कला के क्षेत्र में भी जा पहुँची है।

इसी प्रसंग में आचार्य द्विवेदीजी ने चित्रकला की एक अन्य पदावली 'यथा-लिखितानुभाव' का भी उल्लेख किया है। यह सहृदय दर्शक या पाठक की ओर से अनुभूत, भावदशा का ही एक अन्य नाम है, जबकि 'भावानुप्रवेश' पद, कलाकार की ओर से अपनाई जाने वाली प्रक्रिया के रूप में प्रयुक्त किया जाता है।

आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने उपर्युक्त ग्रंथ के सातवें अध्याय में चित्रकला से संबंधित विशिष्ट शब्दावली का विशद विवेचन भी किया है। ये शब्द साधारणतया चित्रकला संबंधी आलोचना में व्यवहृत हुआ करते हैं, यथा—विनिवेशन, अपवर्तन और अन्वयन—ये तीनों शब्द साहित्यिक कृतियों की आलोचना में जब व्यवहृत किये जाते हैं तो उनके अर्थ तनिक भिन्न तो हो जाते हैं, किन्तु वर्णन क्रिया के संबंध में यह पदावली स्वयं महाकवि कालिदास ने प्रयुक्त की है और उससे उनके काव्यों में आए हुए वर्णनों की सार्थकता बढ़ गई है।

सबसे पहले 'विनिवेशन' शब्द पर विचार किया जाय—कलाकार या चित्रकार अपने भाव की व्यंजना के लिए जिस सामग्री का उपयोग करता है उसे 'उपादान' कहा जाता है। तूलिका, छेनी, आदि औजारों अथवा उपकरणों को, कला की भाषा

---

१ 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी), अध्याय २०, पृष्ठ ३७५-३७६ (प्रथम प्रकाशन १९४५, पंचम संस्करण १९६३, हिंदी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बंबई ४)।

२ 'चारु चन्द्रलेख' (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) अध्याय २३ पृ० ३०८-३२५, (राजकमल प्रकाशन, प्रथम प्रकाशन १९६३ ई०)।

३ 'कल्पना' (मासिक) हैदराबाद (दक्षिण) में धारावाहिक रूप से प्रकाशित संख्या १६५, वर्ष १६ अंक ७ जुलाई १९६५, पुनर्नवा', अध्याय १, पृष्ठ १६५/१६ (आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी)।

में 'करण' कहते हैं। आचार्य द्विवेदीजी ने इन्द्रियशक्ति के सहायक औजार आदि को उपकरण तथा कला साधन पद से अनुशासित, शिक्षित इन्द्रियों को, 'करण' संज्ञा दी है। कालिदास ने कुमारसम्भवम् के प्रथम सर्ग में पार्वती के रूप वर्णन पर एक श्लोक, कहा है जिसका अभिप्राय है—ऐसा जान पड़ता है कि विश्व स्रष्टा (अथवा विधाता) सम्पूर्ण सौन्दर्य को एक ही स्थान पर देखना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने उपमा के योग्य सभी वस्तुओं को एकत्र किया उन्हें यथास्थान सजाया और उनकी सहायता से प्रयत्नपूर्वक पार्वती के रूप का निर्माण किया।[1]

इस श्लोक में कालिदास ने, 'विनिवेशन' शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ होता है, कला की सामग्री का व्यवस्थित रूप में, रक्खा जाना।

उपन्यास में अपने वर्णनों के कलात्मक नियोजन के लिए उपन्यासकार को भी यथावसर विनिवेशन करना पड़ता है। अर्थात् उपयुक्त शब्दों का, तथा उपयुक्त वर्ण्य वस्तु का जुटाना तथा फिर उनका कलाकारोचित विवेक एवं सूझ बूझ के साथ, प्रयोग में लाना।

'अन्यथाकरण' शब्द का प्रयोग तब किया जाता है जब कि चित्रकार को ठीक ठाक चित्र अंकित करने के लिए बाह्य जगत से ग्रहीत सामग्री का 'अन्यथाकरण' करना पड़ता है अर्थात् उसमें कुछ छोड़ना पड़ता है कुछ जोड़ना पड़ता है और कुछ बदलना पड़ता है। इस कौशल को अन्यथाकरण कह सकते हैं। अर्थात् जो जैसा है उसे वैसा ही न रहने देना।

उपन्यासकार को भी अपने वर्णनों की योजना में स्थान स्थान पर अन्यथाकरण करना आवश्यक जान पड़ता है। यह सत्य है कि उपन्यास में वर्णित सभी दृश्य एवं व्यक्ति उपन्यासकार वास्तविक जगत से लेकर चित्रित करता है। फिर भी अपनी वर्ण्यवस्तु को कलाभिरामता प्रदान करने के लिए यत्किंचित परिवर्तन भी करना उसके लिए आवश्यक हो जाता है। क्योंकि वास्तविक जगत के जो पदार्थ हैं उनमें कोई न कोई तो खामी रह ही जायगी जिसकी वर्णनकार मानो सम्पूर्ति करता चलता है।

अन्वयन शब्द भी जब चित्र के अर्थ में प्रयुक्त होता है तो उसका अर्थ यह होता है कि चित्रकार परम्परागत चित्रण शैली को अपनाते हुए भी अपनी ओर से उसमें कुछ सूक्ष्म विशिष्टता का अन्वयन करता है।

उपन्यास में वर्णनात्मकता के विवेचन में भी जब उपन्यासकार वास्तविक जीवन का यथा तथ्य चित्रण करता है तो वह अपने वर्णन को कलात्मक सौन्दर्य प्रदान करने के लिए उसे सूक्ष्मतया कुछ और तरह का व्यक्त कर देता है। तभी तो

---

१ सर्वोपमा द्रव्य समुच्चयेन यथा प्रदेशम्, विनिवेशितेन।
सा निर्मिता विश्व सृजा प्रयत्नात्, एकस्थ सौन्दर्य दिदृक्षयेव।।
—कुमार सम्भवम् (कालिदास) श्लोक ४९

वह 'कलात्मक वर्णन' कहलाता है। इस प्रकार के सभी वर्णनों में, मानो कलाकार, प्रच्छन्न रूप से सूक्ष्म 'अकथन' में, अवस्थित हो जाता है। चित्रकला की भाषा में 'जीवन के हूबहू चित्रण' और 'अकथित चित्रण' को क्रमश: 'विद्धचित्र' और 'रसचित्र' भी कहा जाता है। तदनुसार साहित्यिक कृतियों के कलात्मक वर्णन रसचित्र होते हैं मानचित्र (विद्धचित्र) नहीं।

इस भाँति यदि हम कालिदास द्वारा प्रयुक्त कुछ ऐसी विशिष्ट पदावली का, उपन्यास जैसी वर्णनात्मक कृति की विवेचना में, प्रयोग करें, जिसका कि कालिदास काल में चित्रकला आदि अन्य ललित कलाओं के प्रसंग में प्रयोग होता था, तो निश्चय ही, वर्णनों की कलात्मकता को सुस्पष्टता प्रदान करने, तथा कलात्मक वर्णनों के वशिष्ट्य मापन आदि में उनसे पर्याप्त सहायता मिलेगी।

'सौन्दर्य तत्व' के विद्वान प्रणेता एवं प्रख्यात भारतीय कलाविद् आचार्यप्रवर स्वर्गीय डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने 'भारतीय चित्रकला पद्धति' नामक एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ भी रचा था। उक्त ग्रन्थ में, विद्वान लेखक ने, भारतीय शिल्प, चित्रकला-पद्धति, और उससे संबंध रखने वाले सौन्दर्यतत्व का विशद विवेचन भी किया है। वे उक्त ग्रन्थ की प्रस्तावना में अपने अभिप्राय को यों समझा कर कहते हैं —

केवल शिल्प ही सौन्दर्यानुभूति का आधार नहीं है। बाह्य जगत, तरु, गुल्म, लता आदि तुषार किरीट अभ्रभेदी गिरिशृंग, सानुवाहिनी कलकलनादिनी निर्झरिणी, विस्तृत शस्यश्यामला भूमि प्रवाहित नदी, प्रभातकालीन पूर्व गगन की अरुणिमा सांध्य गगन का शोण उल्लास, पशु-पक्षी कीट पतंग के शरीरावयव और नर नारी के मुखमंडल या देह पर दमकता लावण्य आदि में यदि हम सौन्दर्य का अनुभव नहीं कर पाते तो सौन्दर्य की सृष्टि ही असंभव हो जाती। सच तो यह है कि जिस प्रकार मनुष्य के मनोयोग के बिना सौन्दर्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार, विषय का ज्ञान भी नहीं हो सकता। फिर भी सौन्दर्य को केवल चित्त का धर्म नहीं कह सकते। वस्तुतः सुन्दर वस्तु में कोई ऐसी अन्तर्निहित शक्ति होती है जिसके कारण, उस वस्तु विशेष से हमारे अन्तर का, घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है और हम उसे 'सुन्दर' कहने लगते हैं।

'इसी कारण यह स्वीकार किया जाता है कि कवि और चित्रकार हमें प्रकृति को मनोरमता देखने के लिए शिक्षित करते हैं और अभ्यस्त बनाते हैं किन्तु कवि या शिल्पी, प्रकृति में जिस सुषमा का दर्शन करता है प्रधानतः उसी को, अपने चिंतन के द्वारा एक रूप प्रदान कर देता है। साधारण मनुष्य और कवि या चित्रकार की दृष्टि में भिन्नता होती है। संभवतः इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति, हर समय प्रकृति के सौन्दर्य ग्रहण नहीं कर पाता। साधारण मनुष्य, किसी चित्र की सुन्दरता को उपयुक्त और यथार्थ प्रतिष्ठा देना नहीं जानता। चित्र रचना के समय, चित्रकार के अन्तर में, एक

प्रकार की ध्यानक्रिया चलती रहती है और उसी के साथ उस सौन्दर्यबोध भी होता रहता है किन्तु प्रकृति दर्शन के समय इन बातों के लिए अवसर नहीं रहता। फिर भी प्रकृति के सौन्दर्य को देख कर मुग्ध होने वाले कवियों तथा चित्रकारों की संख्या बहुत अधिक है। यथार्थ द्रष्टा के चित्त में, प्रकृति के दर्शन के अतिरिक्त अन्य समय में भी एक प्रकार की ध्यानावस्था उपस्थित रहती है। इसी तन्मयता के कारण, जैसे प्रकृति के साथ कवि या चित्रकार के मन की नाना प्रकार की रेखाओं और वर्णों का सामंजस्य उपस्थित होता है वैसे ही प्रकृति के नाना व्यापारों के साथ, मनुष्य के नाना व्यापारों का सादृश्य और सामञ्जस्य घटित होता है।"[1]

श्री दासगुप्त के उपर्युक्त अवतरणों में जो 'कवि' शब्द आया है उस के स्थान पर हम प्रस्तुत प्रसंग की दृष्टि से 'उपन्यासकार' शब्द को रखना होगा। उपन्यासकार जब अपने उपन्यासों में वर्णन प्रसंग लाता है तो वह भी मानो कवि या चित्रकार ही बन जाता है क्योंकि तभी तो वह अपनी कल्पनाप्रधान रमणीय वर्णन चित्रपटियाँ उपस्थित करने में कृतकार्य हो पाता है जिनसे कि उसके उपन्यास के कलात्मक वैभव में, वृद्धि होती है। उस अवस्था में एक उदार एवं उदात्त रमणीयतत्व से उपन्यास का परिवेश आवृत्त हो जाता है। क्या काव्य, और क्या उपन्यास साहित्य की सभी वर्णनात्मक विधाओं को कलाभिराम गरिमा प्रदान करने में, नैसर्गिक शोभा से सम्मोहक वर्णन प्रसंगों द्वारा, कितना गहन और निर्णायक योगदान मिलता है वह वर्णनातीत है।

रूप सौन्दर्य एवं नाद सौन्दर्य से आलोकित एवं प्रतिध्वनित उत्कृष्ट वर्णनों के वे स्थल विशेष ही—जिनका समावेश उपन्यासों को उत्कृष्ट साहित्य' के अन्तर्गत परिगणित कराता है—उपन्यास विधा गत प्रीतितत्व अथवा 'रमणीयता' का सर्वांश में प्रतिनिधित्व नहीं करते। एक अन्य पक्ष भी साहित्य गत शाश्वत तथ्य को अपने में समावेश किए रहता है किन्तु हम उसे रमणीय अथवा सुन्दर संज्ञा से अभिहित नहीं करते। इस साहित्यगत सर्वव्यापी तत्व को हमारे आचार्यों ने माधुर्य' संज्ञा दी है —सर्वावस्था विशेषेषु माधुर्यरमणीयता।[2] (अर्थात् हम जहाँ कहीं भी अपने आसपास के जगत में रमणीयतागत मनस्तुष्टिकारक कोई तत्व दिखायी देता है अथवा सुनाई देता है तो हम उसे माधुर्य संज्ञा से अभिहित करते हैं।)

जिस माधुर्य गुण को पं० विश्वनाथ ने सर्वावस्था प्राप्त माना है उसके धारण करने वाले पदार्थ अथवा पात्र के लिए यह आवश्यक नहीं होता कि वह असामान्य, अलौकिक अथवा जगमगाता हुआ ही होवे। वह तो विश्व की सामान्य से

---

१ भारतीय चित्रकला पद्धति (डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त) (हिन्दी रूपान्तर) सौन्दर्य तत्त्व', पृष्ठ २२८ २२९

२ साहित्य दर्पण (पं० विश्वनाथ) परिच्छेद ३ श्लोक ९०

सामान्य तथा तुच्छ से तुच्छ वस्तुओं एवं दृश्यों में भी पाया जाता है। स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उक्त 'माधुर्य' गुण के उदाहरण के रूप में, महाकवि कालिदास के अमर गीत-काव्य के 'पूर्वमेघ खण्ड' से कुछ अविस्मरणीय वर्णनात्मक प्रसंगों का निम्न शब्दों में उल्लेख किया है —

'महाकवि कालिदास ने बरसात में चारों ओर दिखायी पड़ने वाले, कुर्मों के पौधा, तुरन्त के जुते खेतों की सोंधी मिट्टी, और भ्रूविलास से अनभिज्ञ—गाँव की सीधी सादी स्त्रियों और पुरानी कहानी कहते हुए, बड़ों तक में, इस माधुर्य का साक्षात्कार किया है।'[1]

आचार्य शुक्लजी ने काव्यगत सौन्दर्य अनुभूति के माधुर्य पक्ष की व्याख्या, आगे चल कर और भी सुबोध शब्दों में प्रस्तुत की है —

'अतीत की स्मृति में, कौमार अवस्था के परिचित पुराने पेड़ों और उजाड़ टीलों में, किसानों के झोपड़ों में, काई और कीचड़ भरे तालों में चर कर लौटती हुई गायों के, धूल उड़ाते हुए झुण्ड में गड़रियों और ग्वालों की कमली में, ऊसर की पग डंडियों में, मन को लीन करने वाला जो गुण है, वही माधुर्य है।'[2]

स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने शब्दों या वाणी के माध्यम से, रूपविधान की सूक्ष्म प्रक्रियाओं का बड़ा ही वैज्ञानिक किन्तु सरस निरूपण किया है जो वस्तुतः उन्हीं के शब्दों में पठनीय है —

'ज्ञानेन्द्रियों से समन्वित मनुष्य-जाति, 'जगत्' नामक अपार और अगाध रूप समुद्र में छोड़ दी गई है। इसी की रूपतरंगों से ही, उसकी कल्पना का निर्माण हुआ है। उसी की रूप गति से, उसके भीतर विविध भावों या मनोविकारों का विधान हुआ है। हमारे भावों की प्रतिष्ठा करने वाले—मूल आलंबन, बाहर ही के हैं—इसी चारों ओर फैले हुए रूपात्मक जगत के ही हैं।'

'जब हमारी आँखें देखने में प्रवृत्त रहती हैं तब 'रूप' हमारे बाहर प्रतीत होते हैं (इसे हम 'प्रत्यक्ष रूप विधान' की संज्ञा दे सकते हैं)।

जब हमारी वृत्ति अन्तर्मुख होती है, तब रूप, हमारे भीतर दिखाई पड़ते हैं। (इसे हम 'स्मृत रूपविधान' की संज्ञा दे सकते हैं) बाहर भीतर दोनों ओर रहते हैं, रूप ही।'[3]

मानसिक रूप विधान का नाम ही 'संभावना' या कल्पना है। मन के भीतर यह रूप विधान दो तरह का होता है —

---

१ रसमीमांसा (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल) पृष्ठ ८५-८६ अध्याय २। ('पूर्वमेघ', कालिदास श्लोक ११-१६ एवं ३२) से उद्धृत

२ वही—अध्याय २ पृष्ठ ८६

३ वही—अध्याय ४, पृष्ठ २४९

(१) प्रत्यक्ष देखते हुए पदार्थों के रूप, रंग, गति आदि के आधार पर खड़ा किया हुआ नया वस्तु व्यापार विधान, (२) प्रत्यक्ष देखी हुई वस्तुओं का ज्यों का त्यों प्रतिबिम्ब। प्रथम को हम 'कल्पना या 'सम्भावना' कहते है तथा दूसरे को हम 'अभ्यान्तर रूप प्रतीति' या 'स्मृति' कहते है।[1]

इस भांति 'रूप विधान' के हमारे वाग्गत अथवा साहित्यगत पुनर्सृजन के तीन पक्ष हुए—(१) प्रत्यक्ष रूप विधान (२) स्मृत रूपविधान, (३) सम्भावित या कल्पित रूप विधान।

उपन्यास विधा में प्रकट रूप से उक्त तीनों प्रकार की मानसिक प्रक्रियाएँ उपन्यासकार की वर्णनात्मक प्रतिभा को अभिव्यंजना देती रहती हैं। क्या आसपास के परिवेश या देशकाल वातावरण में, अथवा क्या पात्रों अथवा चरित्रों के व्यक्तित्व के विकास-संबधी रूपविधान में उपन्यासकार अपनी वर्णन प्रक्रिया में उक्त तीनों ही मानसिक प्रणालियों के सहारे हमें आचार्य शुक्लजी द्वारा परिलक्षित 'जगत' नामक अपार और अगाध रूप-समुद्र का अवगाहन कराता रहता है। इस क्रिया प्रक्रिया में वह निरन्तर ही अपनी वर्णन-कला की प्रतिभा को अभिव्यजित करता चलता है।

वर्णनात्मकता में कला शोधन के इस प्रलम्बित विचार विमर्श के पश्चात्, वर्णनात्मक कला के उपादानों के संबध में भी कोई निर्धारित मार्ग वीथिका अपनानी होगी तथा कला की दृष्टि से वर्णनात्मकता की सफलता के निकष का भी शोधन करना होगा। उपन्यासगत सभी प्रकार के वर्णनों पर यदि विहंगम दृष्टिक्षेप किया जाय तो उनके कलाभिराम एवं साहित्य स्तरीय वर्णनों को, हम दो भिन्न कोटियों का पाएँगे। एक तो उपन्यास के इस मायावी जगत में बसने वाले असंख्य लोक समुदाय में से उभर कर आने वाली कुछ विशिष्ट नर नारियों की रूपाकृतियाँ हैं, जिन पर कि उपन्यासकार के अन्तर में बसने वाले चित्रकार एवं कवि की रूप छवि-अंकन समुत्सुक तथा उद्भावनाओं से चंचल नयन जा टिकते है। और दूसरी ओर वे प्रकृति पट पर पल-पल बदलने वाली रमणीयता की विविध रूप छवियाँ जिनकी असंख्यता एवं अक्षयता, उपन्यासकार को सदैव ही वर्णन धनी बनाए रखती है।

उपन्यास में प्राकृतिक दृश्यपटों का समावेश वस्तुतः वर्णनात्मक अभिव्यंजना का एक प्रभावशाली माध्यम है। विशेषतया वहाँ जहाँ पात्र पात्राओं के आत्मलीन आत्मविभोर भावप्रवण संवेदनशील एवं क्लो मुग्ध आनन्द अनुभूति के क्षणों को लेखक बाँध देना चाहता है। वहाँ प्रकृति के ये रमणीय एवं भव्य दृश्यपट लेखक की कृति को एक अनुपम कला वशिष्ट्य प्रदान करते हैं। रूप छवि तथा दृश्यपट आलेखन दोनों ही, वर्णनों में सांगोपांगिता का समावेश, एवं कला की गौरव वृद्धि करते है।

---

१ 'रस मीमांसा' (रामचन्द्र शुक्ल) अध्याय ४ पृष्ठ २२६ ६०

इस भाँति के दृश्यपटो मे, अनेक स्थलो पर लेखक, ध्वनि गति आदि का समावेश करके दृश्यपट की रसविश्वता को, वास्तविकता प्रदान करता है। सभी प्रकार के चित्रात्मक वर्णनो में, वर्णों, पदार्थों, ध्वनियो आदि की समरसता अपेक्षित है। कुछ कला समीक्षकों ने तो इस 'समरसता' को ही रमणीयता भी कहा है।

कलात्मक-वर्णन, जीवन की सच्ची प्रतिलिपि नही होता और न वह प्रकृति की 'यथातथ्य अनुकृति' ही होता है। वस्तुत वह तो कलाकार की आत्मलीन आनन्दानुभूति के क्षण विशेषो को, बाँध लेने का प्रयास मात्र है। यही नही, वह कलाकार की भावानुभूति का प्रतिबिम्ब भी लिए रहता है। उसमे हर्ष विषाद की छाया भी बनी रहती है। इस भाँति वह अनुकृति नहीं एक विशिष्ट कलाकृति होती है। इसे वर्णनात्मक कला में, 'प्रतिभास निबन्धन' कहेंगे क्योकि राजशेखर ने भी इसी पद का प्रयोग किया है।

राजशेखर के मन मे यह विवेचना, आनन्दवर्द्धन के 'ध्वन्यालोक' के अन्तगत, निम्न अवतरण को दृष्टि म रख कर, उदित हुई थी —

'अपार काव्य-संसार म एक मात्र कवि ही प्रजापति है। उसे जैसा रुचता है, वैसे ही वह अपने विश्व म, परिवर्तन कर देता है।'

राजशेखर ने 'काव्य मीमांसा' म उस पर या विवेचना की है, कि कवि अपने चित्रित जगत मे, मनमाना परिवर्तन नही करता, वरन वह तो, 'प्रतिभास प्रणाली' से काम लेता है। राजशेखर के मतानुसार, काव्य के अर्थ, और शास्त्र के अर्थ मूलत भिन्न हैं। अतएव एक को सत्य एव दूसरे को असत्य बनाना उचित नही है। काव्य का प्रयोजन, मात्र-स्वरूप वर्णन नही होता। विश्व म विषय जैसे दीखते हैं, उसी प्रकार काव्य म कवि उनका वर्णन करता है। शास्त्रीय वर्णन 'स्वरूप निबन्धन' होता है, काव्य म वर्णन प्रतिभास निबन्धन होता है।

कालिदास आकाश को असितश्याम कहते हैं और वाल्मीकि उसी को 'नीलोत्पल-द्युति' बताते है। यह आकाश का स्वरूप वर्णन नही है आकाश का प्रतिभास निबद्ध वर्णन है। कवि को जैसा वह प्रतीत हुआ, वैसा ही उसने उसे प्रस्तुत किया। प्रतिभास का वस्तुओ से तादात्म्य सबध नही होता। यदि ऐसा होता तो हमारी आँखें, जो सूर्य या चन्द्रमा के बिम्ब को, थाली के आकार से देखती हैं उन बिम्बो को शास्त्र म कहे गए, पृथ्वी से बडे आकार म देखती। वस्तुओ के यथाप्रतिभास रूपो का महत्त्व, शास्त्रो म होता है—काव्य म वर्णन तो पूर्णरूपेण 'प्रतिभास निबन्धन' होता है—

न स्वरूपनिबन्धनमिदं रूपमाकाशस्य सरित्सलिलादर्वा किन्तु प्रतिभास निबन्धनम्। न च प्रतिभासस्तादात्म्येन वस्तुन्यवतिष्ठते यदि तथा स्यात्सूर्याचन्द्रमसौ मण्डले दृष्ट्या परिच्छिद्यमानद्वादशांगुलप्रमाणे पुराणागमनिवन्तिधरावलयमात्रे न स्त

इति यायावरीय । एव नक्षत्रादीना सरित्सलिला दीनाम येषा च । यथाप्रतिभास च वस्तुन स्वरूप शास्त्रकाव्ययोनिव चापयोगि । शास्त्र यथा— प्रण तजलभत्यके विमल वियदम्मसि । ताराकुमुदसम्व ये हसायत इवाटुराट ।'[1]

कलात्मक वर्णना म, लेखक की कलात्मक उद्भावना की विशिष्ट छटा जहाँ दिखाई देती है वहां हम वर्णन के उस विशिष्ट एव विलक्षण पक्ष को 'भणिति वचित्र्य (स्ट्राइकिंगनेस आफ एक्सप्रेशन) कहते हैं । वर्णनो म वर्ण्यवस्तु का समान हो जाना सहज है किन्तु प्रत्यक मौलिक उद्भावना समन्वित प्रतिभाशाली लेखक, गता नुगति अथवा रीतिगत रूढता का अवलम्बन नही करना चाहता ।

वर्णनात्मकता म सिद्धि प्राप्त करना ही सुकवि अथवा उत्तम लेखक का विशि ष्टता है । इस सम्ब ध म काव्य मीमासा कार राजशेखर न बहुत कुछ विचार किया है । अपन उक्त ग्रथ क अर्थानुशासनम नामक नवें अध्याय म उन्होने यह स्पष्ट रूप से बताया है कि रस, वस्तुन पदाथ म न होकर कवि-वचन म, रहता है । यह सुकवि का माहात्म्य है कि वह नीरस पदाथ को भी सरस बना द । इसी को समझाते हुए उन्होने कहा है कि —

अस्त कवि, विप्रलम्भ से भी रसवत्ता का निकाल दता है । बात यह है कि वस्तु म रस हो या नही किन्तु वह तो कवि वचन म है ही ।[2]

वर्णनात्मक कला म प्रतीको का समावश अभि यजना म चमत्कार एव प्रभावो त्पादकता ला देता है । किन्तु इससे भी अधिक कभी कभी कुछ विशिष्ट प्रतीको की प्रतिध्वनि, समस्त उपन्यास म प्रति वनित होती हुई भी जान पडती है ।

सब मिला कर वर्णन का समग्र प्रभाव पाठक के मन म प्रतीयमानता की प्रतिष्ठा करता है । इसा क लिय उपन्यासकार को उपयु क्त कलात्मक उपादानो का प्रश्रय लेना पडता है ।

जिस भांति कलाभिराम परिकल्पना द्वारा वर्णन का मानसिक उद्भव कला कार क मनोदश म होता है उसी भाँति कलात्मक वर्णन क अनुशीलन द्वारा उक्त सभी कलात्मक उपकरणो एव उपादानो के समष्टिगत प्रभाव क परिणामत पाठक के मन म रसात्मक अनुभूति का उदय होता है जो कि वर्णनात्मकता की चरम सिद्धि है ।

वर्णनात्मक-कला यद्यपि एक उ मुक्त कला सृष्टि की प्रक्रिया है तथापि कलाओ एव साहित्य रूपो की रूढ एव परम्परागत परिभाषाओ म उस अपना स्थान नहीं

---

१ का य मीमासा' (राजशेखर) नवम अ याय — अर्थानुशासनम (अथ याप्ति) पृष्ठ ११८

२ सुकविर्विप्रलम्भेऽपि रसवत्ता निरस्यति ।
अस्तु वस्तुषु मा वा भूत कविवाचि रस स्थित ।
— काव्य मीमासा अध्याय ९ पृष्ठ १२१

मिल पाया। इसका एक कारण यह भी है कि उपन्यास के सौन्दर्यबोधात्मक लालित्य पर, विशुद्ध रूप से चिंतन करने की, अद्यावधि कोई परिपाटी नही रही है। रूढ मानो एव नियमावलियो के बल पर, यथातथ्य शास्त्र निरूपण सभव नही है। ललित कलाएँ, सभी सर्वथा निरपेक्ष, एव नीति अथवा उपयोगितावाद से परे रहने वाली रचनात्मक गतिविधियाँ है। तदनुसार वर्णनात्मकता को भी साहेश्य अथवा निर हेश्य के पचडे मे पडना उचित नही है। सरल वर्णनात्मक कला के मुख्य आधार, रजन एव वर्णना—ये उभय प्रक्रियाएँ ही है।

उपन्यास विधा गत वर्णनात्मक कला, अन्य ललितकलाओ की भाँति, मात्र अभिव्यजना नही है वरन उपन्यासकार की दी हुई रस विश्व की, एक अभिनव व्याख्या भी है। इसीलिए उपन्यास विधा की साभिप्राय एव सम्पूर्ण सर्वतोमुखी व्याख्या की दृष्टि से, वर्णनात्मकता का बडा महत्व है।

वर्णनात्मक कला, उपन्यास विधा गत सौन्दर्य अथवा लालित्य तत्त्व की, सबसे रमणीय एव सरस व्याख्या है। वर्णनात्मक कला के वर्णन क्षेत्र से बाहर, विश्व का कोई भी कक्ष या पक्ष नही है। जहा भी विश्व म सौन्दर्य अथवा लालित्य है, वही वर्णनकला का चमत्कार दर्शनीय है।

कला का उक्त निरूपण एव व्याख्या विमर्श, साहित्य के, अन्य ललितकलाओ के साथ, रागात्मक सबध के बारे म, हम कुछ मूल्यवान इगित देता है। कला, अखिल विश्वव्यापी छन्दोबद्धता, लयात्मकता, लास उल्लासमयी रमणीयता के प्रति, मानव मन, बुद्धि एव आत्मा की, आनन्दमयी अनुरक्ति की, एक अभिव्यजना मात्र है। इस रमणीय शास्त्र (कला विधा) का भी सबसे मनोरम सरल (कथा एव वर्णन की प्रवहमानता लिए हुए) सबसे रम्य रूप है, 'उपन्यास'। उपन्यास, और साहित्य की अन्य विधाओ के बीच, जिस भाँति, वर्णनात्मकता ही एक सर्वाधिक व्यापक एव कला रमक कडी है—उसी भाँति अखिल कला माला के साथ ही साथ वह साहित्य कला का सबसे सहज एव प्रभावपूर्ण सहभाव भी है। इस भाँति वर्णनात्मकता, अखिल रमणीयता रत्नाकर म छलछलाने वाली रसात्मकता की लहरियो के बीच, प्रकाश और छाया का वह चिरतन लीला है, जो अखिल रसविश्व उदधि की प्रवहमानता एव गतिशीलता को सदा ही अभिव्यजित करती रहती है। इस अभिनव दृष्टिकोण से, वाङ्मय के वभव को निहारने का हो यहा, एक मौलिक एव वैज्ञानिक आयास किया गया है। वस्तुत वर्णनात्मक कला के मूलाधार पर ही, एक अभिनव साहित्य-सहिता की रूपरेखा तयार की जा सकती है जिसकी ओर विज्ञ साहित्य-समीक्षको का ध्यान आकर्षित करने के उद्देश्य से ही, प्रस्तुत शोधप्रयास म प्रवृत्त होना पडा है।

उपन्यास की सबसे मूलभूत एव निजी विशिष्टता है, उसकी वर्णनात्मक प्रवृत्ति। वहा उसकी रमणीयता का 'सहज स्वरूप' है तथा उसी का कलात्मक

सौष्ठव, उसकी साहित्य सम्पत्ति है। अतएव उपन्यास की एक अभिनव मानीकरण सहिता, उसकी वर्णनात्मक विशिष्टताओं तथा उसके कलात्मक पक्षों को दृष्टि में रखते हुए तैयार की जाय यह आधुनिक समीक्षा जगत की एक अत्यन्त चिर अपेक्षित आवश्यकता है। इसी दृष्टि से यहाँ एक अभिनव मानीकरण सहिता का नियोजन, उपन्यास विधा के निम्न छः वर्णन-कला तत्वों के आधार पर किया गया है— वर्ण्य वस्तु, वर्णन शैली, वर्णन प्रकृति, भाव सम्पत्ति, वर्णन अनुभूति, तथा वर्णन गत रस संस्पर्श।

(१) वर्ण्य वस्तु

वर्ण्यवस्तु उपन्यास विधा की बाह्य वर्ण्य सामग्री है। कलाभिराम उपन्यासों में केवल वर्ण्य सामग्री का नियोजन पर्याप्त नहीं माना जाता—आवश्यक माना जाता है वर्णन विवेक। वर्ण्यवस्तु की नियोजना के दो पक्ष हैं—(१) उपन्यास में भाग लेने वाले व्यक्ति, तथा उनकी वर्णनात्मक रूपछवि तथा (२) वह अग्रभूमि जहाँ हम उन्हें गतिमान एवं प्राणवान कार्य व्यापार में प्रवृत्त पाते हैं।

अतः सर्वप्रथम यहाँ वर्ण्यवस्तु के अन्तर्गत आने वाले कलात्मक वर्णनों का विवेचना क्रमशः सक्रम, अक्रम, सांगोपांग, विकीर्ण 'सवर्ण विवर्ण' सस्वन निस्वन, सगति, अगति, चचल, अचचल आदि प्रमुख गुणों के आधार पर की जाती है।

सक्रम—ऐसे दृश्यपटों में वर्णन सौष्ठव की एक विशिष्टता सक्रमता होती है। सक्रम वर्णनों में उपन्यासकार अपना वर्ण्यवस्तु का दृश्यात्मक सक्रम-सम्पन्न नियोजना प्रदान करता है जिसके फलस्वरूप पाठक के कल्पना जगत में वह अपने वांछित दृश्य की पुनर्सृष्टि में कृतकार्य होता है। सक्रम वर्णनों की विशेषता यह होती है कि उनमें धरातल की ऊँचाई-नीचाई अथवा दूरी के अन्तर का दृष्टि में रखते हुए वर्ण्यवस्तु की नियोजना की जाती है। यथा गगनचुम्बी पर्वत शिखर का पृष्ठभूमि में वनप्रदेश उपत्यका नदी निर्झर सरोवर, हरित तृणदल तथा उस पर विचरने वाले जीवजन्तु क्रमशः वर्णित होते हैं।

अक्रम—जिन वर्णनों में पृष्ठभूमि की व्यापकता विस्तृतता एवं दूरी असाधारणतया सुबोध नहीं होती तथा दृश्य सामग्री का चातुर्दिक विस्तार अधिक नहीं होता वहाँ वर्णन की सक्रमता अनिवार्य नहीं होती। वर्ण्यवस्तु की प्रस्तुतकारिणी दृष्टि सहज एवं साधारण रहती है तथा यथादृष्ट पदार्थ वर्णन का अनुसरण किया जाता है। इस प्रकार के वर्णनों को यद्यपि विवेचन मानों की स्थापना की दृष्टि से, अक्रम कहा जा सकता है किन्तु इस मानि के वर्णनों में वस्तु चयन विवेक एवं निरीक्षण प्रखरता अधिक अपेक्षित होती है।

सांगोपांग—वर्णनात्मक कला की उत्कृष्टता हम ऐसे स्थलों पर अनुभूत होती

है जहाँ उपन्यासकार ने प्रस्तुत वर्णन को अपनी कलापरक प्रतिभा से प्रेरित होकर, कलात्मक सौन्दर्य की सम्पूर्णता अथवा सांगोपांगिता पर दृष्टि रखी है। निश्चय ही ऐसे वर्णन विरल होते हैं किन्तु उनमें लेखक की वर्णनात्मक क्षमता एवं कलात्मक सूक्ष्मदर्शिता का सुस्पष्ट परिचय मिलता है। मानो लेखक ने अपने अंकित दृश्य का, बारम्बार पर्यवेक्षण किया है और उसे यत्न एवं सावधानी-पूर्वक बारम्बार सँवारा है अथवा परिमार्जित किया है। मानो वह तब तक अपने वृत्तात्मक प्रवाह में अग्रसर नहीं होना चाहता, जब तक कि वह स्वयं आश्वस्त नहीं हो जाता कि उसका वर्णन, उसके निजी प्रतिभास निदर्शन का साक्षात् कराने में कृतकार्य हुआ है।

सांगोपांग वर्णन में लेखक की दृष्टि, वर्ण्य वस्तु के विवेक अथवा सक्रमत्व पर ही नहीं रहती, वरन उसकी दृष्टि में, वर्णन का समवेत प्रभाव सर्वोपरि रहता है। इसीलिए वर्ण्य पदार्थ के विविध अंगों पर उनके परस्पर प्रभावात्मक समन्वय एवं सामंजस्य पर भी, उसका ध्यान रहता है। इसीलिये सांगोपांग वर्णनों में वर्ण्य वस्तु की संकुलता अथवा विविधता के नियोजन पर ध्यान न देकर लेखक, वर्णन के विविध अंगों के समवेत सौन्दर्यात्मक प्रभाव अथवा चमत्कार पर विशेष रूप से ध्यान देता है।

विकीर्ण —यद्यपि सक्रम वर्णन एवं विकीर्ण वर्णन दोनों में ही वर्ण्य वस्तु की यथार्थ नियोजना एवं अभिव्यंजना, प्रधान रहती है तथापि उनके बीच का प्रमुख अंतर, दृश्यपट की व्यापकता का विस्तार भेद है। विकीर्ण वर्णन की प्रकृति सक्रम वर्णन से विस्तार साम्य रखती है अर्थात् विकीर्ण वर्णन का दृश्यपट भी व्यापक एवं विस्तृत होता है। किन्तु लेखक इस प्रकार की वर्णन योजना में पाठक के समक्ष, एक अविस्मरणीय छविरित्त (लैण्डस्केप) प्रस्तुत करने की चिन्ता में न रह कर अपने पाठक को एक ऐसी दृश्यात्मक रंगभूमि में ले जाना चाहता है जिसकी उपन्यास गत रूपाभा के परिवेश से वह उसे परिचित कराना चाहता है। इसके लिये वह चाहे तो एक ओर वन उपत्यका निर्झर आदि का चित्रण भी कर देता है तथा साथ ही साथ, वह सुविस्तीर्ण व्यापक दृश्य मंच पर खेती बारी पशु चारण ग्राम कुटीर आदि की झाँकियाँ भी सजो देता है। वर्ण्यवस्तु के नियोजन में वह किसी वस्तु विशेष पर, अथवा किसी दृश्य विशेष पर बल नहीं देना चाहता वरन वह मात्र प्रतीयमान दृश्य वर्णन में ही प्रवृत्त रहता है जिसमें किसी सक्रमता अथवा सांगोपांगिता की ओर उसका ध्यान नहीं रहता।

विवर्ण—सवर्ण एवं विवर्ण वर्णनों की प्रकृति में लगभग उसी भाँति का अन्तर दृश्यमान रहता है जैसा कि रेखाचित्र एवं तैलचित्र में। चित्रकार के समान ही सवर्ण एवं विवर्ण वर्णन नियोजन करते समय, लेखक की दृष्टि, वर्ण्य-वस्तु की सुवर्णता अथवा वर्ण उदासीनता से नियोजित रहती है। यही दृष्टि उसके वर्ण्य वस्तु विवेक में भी निर्णायक रहती है। विवर्ण वर्णन, या तो कथा प्रवाह के बीच ऐसे स्थलों

शैली के माध्यम द्वारा यथास्थापित एवं अभीप्सित रूप में, व्यक्त करने को आकुल हो उठता है। इस भाँति यह प्रगट है कि वर्ण्यवस्तु के नियोजन के पश्चात्, प्रत्येक वर्णन की कलात्मक सफलता, शब्द विवेक एवं शैली तथा भणिति वशिष्ट्य पर ही निर्धारित रहती है। इस वर्णन शैली की विवेचना, निम्न प्रमुख गुणों एवं प्रकारों के आधार पर की जानी चाहिए —प्रसंगानुकूल शब्द चयन 'कोमल कान्त पदावली', 'शब्दालंकार', प्रतीकात्मक शब्दावली, 'वर्णवृत्तात्मक शैली', 'युक्तिमय शैली' 'आलंकारिक शैली' आदि।

प्रसंगानुकूल शब्द चयन—यह सर्व विदित है कि एक ही वस्तु के लिये शब्द कोष में अनेकानेक पर्याय पाए जाते हैं क्योंकि भाषा के मर्मज्ञों से यह तथ्य छिपा नहीं है कि तथाकथित पर्याय वस्तुतः 'पर्याय' नहीं होते—वे तो मात्र स्थानापन्न हो सकते हैं। अर्थात् जब लेखक को उपयुक्त शब्द नहीं मिलता तो वह उसके आस पास एवं निकटतम भाव व्यंजक शब्द का ही आश्रय लेता है। लोक व्यवहार में तो यह प्रक्रिया सदैव ही प्रचलित रहती है किन्तु साहित्य क्षेत्र में उपयुक्त शब्द का महत्व बहुत अधिक गण्यमान्य है। जब कभी भी साहित्यिक कृति रचना कृति के स्तर को स्पर्श करती है तो शब्द-सम्पत्ति ही निर्णायक मानी जाती है। सिद्धहस्त साहित्यकारों की लेखनी की नोक से शब्दों की निर्झरिणी अजस्र रूप से प्रवाहित रहती है तथा कभी कभी तो लेखक को अनेक मनोरम शब्दों के बीच प्राथमिकता देने में स्वयं भी कठिनाई अनुभव होती है। ऐसी स्थिति में वह अनेक बार मनोरम शब्दों की लड़ियाँ गूँथता सा चलता है और कभी कभी वह उनकी आवृत्ति में भी प्रवृत्त होता है (यथा आवरे के आवरे)।

कोमल कान्त पदावली—शब्दों की रूप एवं ध्वनि भी, उनके चयनविवेक में लेखक की दृष्टि से निर्णायक सिद्ध होती है। उच्चारण सहज सरल लघु-आकृति वाले कर्णमधुर प्रांजल शब्दों का वर्णन-कला की समय दृष्टि वाला लेखक बहुल प्रयोग करता चलता है क्योंकि वर्णनकला की विशिष्टताओं में उसकी सादगी, सरलता प्रांजलता एवं मनोहारिता निर्विवाद गुण हैं। शब्दों का रूपलावण्य एवं ध्वनि माधुर्य अनेकानेक शब्दालंकारों का स्रष्टा बना है अतएव कलात्मक वर्णन में पद लालित्य तथा कोमलकान्त पदावली के अतिरिक्त शब्दालंकार, वर्णमैत्री, अनुप्रास आदि का भी पर्याप्त प्रयोग पाया जाता है।

प्रतीकात्मक शब्दावली—प्रसंगानुकूल शब्द चयन के अन्तर्गत ही, लेखक द्वारा ऐसे शब्दों की खोज एवं उनका प्रयोग भी आ जाता है जो किसी भाव विशेष का इंगित करते हैं। मूर्त्त पदार्थों द्वारा अमूर्त्त गुणों अथवा भावनाओं को संकेतित करने की प्रणाली को 'प्रतीकात्मक अभिव्यंजना' कहा जाता है। प्रतीकात्मक शब्दावली का प्रयोग, वर्णनात्मक कला को एक महान सार्थकता प्रदान करता है तथा जो बात वर्णित

नही की जा सकनी, उसे लेखक, प्रतीकों के माध्यम द्वारा, सकेतित करता है। इस भांति वह अपने पाठक को, एक कलात्मक आनन्द भी प्रदान करता है—साथ ही वह अपने वणन को, अथ गाम्भीय से भी, समन्वित करता चलता है।

वणनात्मक कला के मूल्याकन म लेखक द्वारा उपयुक्त शब्दो का चयन तो विशेष महत्त्व रखता ही है किन्तु प्रत्येक कुशल लेखक की अभिव्यजना एव वणना का प्रकार उसकी निजी विशिष्टताओ से युक्त रहता है, उसी को हम शली' नाम से भी अभिहित करते हैं। वण्य वस्तु योजना विवेक तथा शब्द चयन क्षमता के अतिरिक्त, प्रत्येक वणन म लेखक अपने अभिप्राय को किस भाति व्यक्त करता है कलात्मक मूल्याकन म उसका भी, अत्यन्त महत्त्व है। उपन्यास लेखक की वणनात्मक शैली को हम मुख्यत तीन उप तत्वों म विभाजित कर सकते हैं —

वणवृत्तात्मक शली—उपन्यासकार का प्रथम कत्तव्य एव कृतित्व-कथा को वह सुनाना है। अपने इसी वृत्तान्त क्रम मे वह कुछ स्थलो पर कुछ ऐसे वणन प्रस्तुत करता है जो वृत्तान्त का अश होते हुए भी अपनी वणनात्मक विशिष्टताओ के कारण, अपना स्वतत्र कलात्मक महत्व भी रखते हैं। इनम लेखक, दृश्य अथवा वण्य-वस्तु को, अपने वणन विवेक के द्वारा इस भांति व्यक्त करता है मानो वह उसके समक्ष साक्षात् ही होवे। वह अपनी सरल एव वृत्तात्मक प्रणाली द्वारा उन्हे अकित करता है। उसका दृष्टिकोण बहुत कुछ कमरा द्वारा ग्रहीत, दृश्य छवि को अकित करने के समान, माना जा सकता है।

युक्तिमय शली—वणनात्मक कला के अन्तगत अभिव्यजना शली म, अनेक लेखक, युक्तिमय प्रणाली का अनुसरण करते हैं। लेखक प्राकृतिक दृश्यो को चित्रित कर देने से ही सतुष्ट न रह कर उनके परिवतनो का काय-कारण-युक्त ब्यौरा भी प्रस्तुत करता चलता है। सासारिक व्यापारो एव दृश्यो के चित्रण मे भी वह, अपनी युक्तियो के सहित उनके काय कारण आधार की भी व्याख्या करता चलता है। इन दृश्यो म प्रस्तुत वण्य सामग्री म, परस्पर एक प्रकार का तार्किक सम्बन्ध बना रहता है।

आलकारिक शली—वणनात्मक कला के अन्तगत शली के मूल्यांकन म, आलकारिक वणना का भी विशिष्ट गौरव माना जाता है। इन वणनो म न केवल लेखक, अलकारो के माध्यम द्वारा, अपने वणन को चमत्कार एव भणिति-वचित्र्य प्रदान करता है वरन साथ ही उसम वह, अपनी गहरा दाशनिक निरीक्षण दृष्टि का समावेश भी करता चलता है। इस भांति आलकारिक वणन शली, गद्य को काव्य स्तर प्रदान करती है तथा उसकी साहित्यिक सम्पत्ति को अपने पाठक के समक्ष, मनोरम शली म साक्षात् भी कर देती है।

(३) वर्णन कोटि अथवा वर्णन प्रकृति

उपन्यास विधा में वर्णनात्मकता की सफलता के मौलिक उपादानों में वर्ण्य वस्तु के नियोजन, उपयुक्त शब्दों के चयन, समीचीन शैली में वर्णन निर्वाह आदि के पश्चात् वर्णनात्मक वर्णनों की विशिष्ट कोटियों अथवा उनकी प्रकृतियों पर भी विचार किया जाना समीचीन होगा। सभी वर्णनात्मक कला से युक्त वर्णन पाठक के मन पर गहरा प्रभाव डालते हैं। किन्तु फिर भी उनमें लेखक अपनी वर्णन कला में प्रभावोत्पादकता-तत्त्व को, विविध प्रवृत्तियों का प्रयोग करता है। यह कोटि निर्धारण, निम्न मुख्य आधारों पर किया जाना समीचीन होगा। विशद, अविशद, 'रहस्यावृत्त कल्पना उद्रेकी', मनःकल्पना प्रधान, व्यक्तित्व युक्त, दृश्य वर्णनात्मक, एवं 'शब्दचित्रवत'।

विशद—वर्णन के कतिपय स्थलों पर हम वर्णन की विशदता से प्रभावित होते हैं। लेखक अपने वर्णन में वर्ण्यवस्तु के प्रत्येक सूक्ष्म से सूक्ष्म अंगों एवं पक्षों पर प्रकाश डालता चलता है। यहाँ तक कि जान पड़ता है मानो वर्ण्यवस्तु का हम स्वयं ही साक्षात् कर रहे हैं। वर्षा के उपरान्त निर्मल वातावरण में जैसी दर्पण सी विशदता आ जाती है कुछ ऐसी ही विशदता हमें विशद वर्णनों में मिलती है जो कि वर्णनात्मक कला की सिद्धियों में से एक है।

अविशद—उक्त विशद वर्णनों से भिन्न कतिपय वर्णन परिस्थितियों एवं प्रसंगों की भिन्नता के कारण जानबूझ कर कुछ अस्पष्ट एवं धुंधले चित्रित किये जाते हैं। इनमें वर्णन के अवसर, अवसाद, आत्मग्लानता, दार्शनिक तटस्थता आदि मनःस्थितियों के तात्कालिक प्रतिरूप पाये जाते हैं। इस प्रकार अविशदता भी वर्णनात्मकता की आयोजना में एक विशिष्ट गुण माना जाना चाहिए।

रहस्यावृत्त—अविशद प्रवृत्ति के वर्णनों से मिलती जुलती ही एक और वर्णन कोटि है जिसमें लेखक जानबूझ कर कभी तो उक्त वर्णन-वैशिष्ट्य का अनुसरण करता है तथा कभी वह वर्ण्य-वस्तु के नियोजन में कुछ ऐसे तत्त्वों का समावेश करता है जिससे पाठक के कौतूहल औत्सुक्य एवं दार्शनिक जिज्ञासा को उत्तेजना मिलती है। ऐसे वर्णनों के लिये वह निर्जन प्रदेश में स्थित विस्मृत देवस्थानों समाधियों खण्डहरों अथवा श्मशानों आदि की पृष्ठभूमि का भी प्रयोग करता है। इस प्रकार के वर्णनों द्वारा लेखक के विविध अभिप्रायों की सिद्धि होती है। मानो वह किसी नाटकीय घटनाक्रम का अवतरण करना चाहता है अथवा वह परा प्राकृतिक तत्त्वों का भी आभास दे देना चाहता है। इसी प्रकार के उच्च कोटि के वर्णनों द्वारा रहस्यावृत्त अस्पष्टता के माध्यम से लेखक, पाठक की गहनतम दार्शनिक उत्सुकता को आन्दोलित करता है। इस प्रकार की वर्णनकोटि को रहस्यावृत्त वर्णन संज्ञा दी जानी उचित होगी।

कल्पना उद्रेकी—वर्णनात्मक वर्णनों में वर्ण्यवस्तु का नियोजन करते समय, कतिपय स्थलों पर, लेखक ऐसी दृश्य पटियों की अवतारणा करता है जिनके समक्ष आते ही, पाठक की कल्पनावृत्ति में, उत्तेजना अथवा आन्दोलन जागने से जान पड़ते हैं। ये वर्णन बहुधा, प्राकृतिक परिवेश से सम्बन्धित रहते हैं क्योंकि तभी लेखक, पाठक को, लोक व्यापार से सुदूर ले जाकर, उसकी प्रसुप्त कल्पनाशीलता एवं तज्जनित संवेदनशीलता को जगाने में सफल होता है। इस प्रकार के कल्पना उद्रेकी वर्णनों की अवतारणा का अभिप्राय कथाप्रवाह के आवेग अथवा रेले से, पाठक को क्षणिक विश्राम प्रदान करना भी है—साथ ही—वह अपने अभीप्सित काव्यात्मक एवं कलात्मक अभिप्राय की सिद्धि के लिये भी पाठक के मन में, उपयुक्त अवधारणात्मक स्थिति लाना चाहता है। स्व० श्री वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों में, इस प्रकार के प्रकृति-वर्णन, विशेषतया प्रभावोत्पादक रूप में पाये जाते हैं।

महत्कल्पनायुक्त—वर्णनात्मक कला में कल्पना प्रतिभा के महत्व की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। कुछ स्थलों पर लेखक अपनी भव्य कल्पना प्रतिमा के बल पर, एक विलक्षण एवं प्रभावोत्पादक प्रतीयमान वर्णवृत्त उपस्थित करने में सफल हो जाता है। कलात्मक मूल्यांकन की दृष्टि से इस वर्णन-कोटि का भी महत्व स्वीकार किया जाना अनिवार्य है। ऐसे वर्णनों की वर्ण्यवस्तु दृष्टि आकर्षक अथवा नयनाभिराम रूप से नियोजित की जाती है तथा प्राकृतिक एवं लोक-व्यावहारिक, दोनों ही धरातलों पर, उसका सृष्टिविधान, निर्मित किया जाता है। प्राकृतिक क्षेत्र में विशाल नद प्रवाह, विस्तृत झीलें, उत्तुंग शिखर एवं ढाबे, महत् शिला-खण्ड अथवा गण्डशैल, जलप्रपात आदि स्वरित दृष्टिग्राहक प्राकृतिक वर्ण्यवस्तु का नियोजन, विशेष अभिप्राय से किया जाता है। साथ ही लौकिक व्यवहार के क्षेत्र में भव्य स्थापत्य कला के द्योतक राजभवन, दुर्ग अथवा देवालय, महासमारम्भ युक्त राजदरबार अथवा लोकोत्सव आदि के समावेश द्वारा भी, यह वर्णन-कोटि सहज ही पहचानी जा सकती है।

व्यक्तित्वयुक्त—वर्णन की पृष्ठभूमि की विस्तृतता एवं व्यापकता के आधार पर जब लेखक प्रतिभास निरूपण शैली का अनुसरण करता है तो वह, मुख्यतया दो—मानुष अथवा दृश्यात्मक, वर्णन प्रवृत्तियों का आश्रय लेता है। इन्हीं में से एक है व्यक्तित्व युक्तता'। प्रकृति के चित्रण में, उसके विविध अंगों का, जड़ीभूत न मान कर जब लेखक अपनी आत्मीयता एवं कल्पना शीलता के माध्यम द्वारा, उन्हें एक निजी व्यक्तित्व अथवा सजीवता से समन्वित करता है तो वर्णनात्मक कला एक अनुपम विचित्रता एवं रमणीयता से चमक उठती है। व्यक्तित्वयुक्त वर्णनों में सब श्रेष्ठ स्थान के होते हैं—जहाँ कि सांगोपांग रूपक प्रणाली का अनुसरण करते हुए अखिल प्रकृति को ही अभिसार एवं समवेत विहार तथा भव्य व्यक्तित्व प्रदान करने में समर्थ होता है।

छवि-वृत्तात्मक—वर्ण्यवस्तु के नियोजन के प्रसंग में यह इंगित किया ही जा चुका है कि अनेक अवसरों पर लेखक भी ठीक वही कार्य करता है जो एक दृश्यपट का चित्रित करने वाला चित्रकार, अपने आलेखनपटट पर विविध रंगों एवं तूलिकाओं के द्वारा करता है। उपन्यासों में ऐसे छविवृत्त भी उसकी वर्णनात्मक कला को, ऊँचा उठाने वाले सिद्ध होते हैं और वे कृति को दार्शनिक एवं रमणीय, दोनों ही प्रकार का कलात्मक सौन्दर्य प्रदान करते हैं। इन छविवृत्तों की सक्षम एवं अक्षम योजना के सम्बन्ध में, पूर्वोल्लेख किया ही जा चुका है। इसके अतिरिक्त इतना और कह देना आवश्यक होगा कि मुख्यतया छविवृत्तात्मक वर्णन दो उपभेदों में बाँटे जा सकते हैं विहगावलोकन और चलचित्रवत।

विहगावलोकन (बर्डस आइ व्यू)—किसी पर्वत शिखर पर आरूढ़ होकर जब लेखक अपने पात्र के माध्यम द्वारा, सामने फैली हुई मनोरम घाटी पर दृष्टिक्षेप करता है तथा उसका शब्दों में चित्रण करता है तब वह अपनी वर्ण्य वस्तु को, एक विशिष्ट सूक्ष्म एवं समवेत रूप में, प्रस्तुत करता है। मानो वन पर्वतादि अखिल प्रकृति न्यूनाधिक एकाकार हो गई हो। इसे विहगम छविवृत्त' की संज्ञा दे सकते हैं क्योंकि आकाश मार्ग से पर्यटन करते समय विहग अथवा पक्षी को भी उसे देखकर कुछ इसी प्रकार की चाक्षुष अनुभूति होती होगी।

चलचित्रवत—प्रकृति अथवा लोकव्यापार दोनों में ही कतिपय वर्णनों के स्थल ऐसे भी पाए जाते हैं जहाँ विशाल दृश्यपट पर सगति वर्ण्यवस्तु योजना के अनुसार एक महान किन्तु गतिशील चलचित्र सी दृष्टि पथ से गुजरती है। पाठक को कुछ इसी भाँति का आभास सा होता है। इस भाँति के वर्णनों को चलचित्रवत छविवृत्त (पनोरमिक) कह सकते हैं। लौकिक व्यापार के क्षेत्र में राजकीय शोभा यात्रा महोत्सवों का समारोह आदि को आँखों देखा कराते से ये छविवृत्त प्रस्तुत करते हैं।

(४) वर्णन चेतना अथवा भावसम्पत्ति

वर्णनात्मक कला के भावात्मक पक्ष पर विचार करने पर प्रत्येक कलात्मक वर्णन में एक अन्तर्चेतना परिव्याप्त रहती दिखाई देती है जो विविध रूपों में पाठक को प्रभावित करती है। उसे हम भावसम्पत्ति अथवा वर्णन चेतना कहते हैं। यह भावसम्पत्ति या वर्णन चेतना निम्न प्रकारों की होती है उत्तेजक आह्लादनकारी, दार्शनिक और गहन।

उत्तेजक—कतिपय वर्णन समवेत प्रभाव की दृष्टि से 'उत्तेजक' कहे जा सकते हैं। ये वर्णन वर्ण्यवस्तु के नियोजन एवं वर्णन शैली के सहारे पाठक के समक्ष ऐसे वर्णवृत्त को प्रस्तुत करते हैं जिससे उसके मन पर उत्तेजक प्रभाव परिलक्षित होता है। यह प्रच्छन्न भाव सम्पत्ति, प्रसगानुसार, विविध रसात्मक प्रतिक्रियाओं को जन्म

देती है जो पाठक के भावात्मक जगत में तद् विषयक भावुकता को जगाती है। स्व० श्री वृन्दावनलालवर्मा कृत 'मृगनयनी' में यह गुण, विशेष रूप से उभर कर समक्ष आया है।

आन्दोलनकारी—वर्णनात्मक कलागत, भाव सम्पत्तिमय वर्णना का एक और पक्ष उपर्युक्त प्रकार से भी अधिक बलशाली होता है जो वर्णनात्मकता के माध्यम द्वारा पात्र विशेष के मन में, भारी उथल पुथल मचा देने की क्षमता रखता है और उसे एसे सकल्प में प्रवृत्त करता है जो उसके जीवन प्रवाह को, एक नई गति प्रदान करता है।

दार्शनिक—वर्णनात्मक कलागत भाव सम्पत्तिमय वर्णना का एक और भी पक्ष है—दार्शनिक। इस तत्व के अ तर्निहित रहने पर वर्णन विशेष, जीवन अथवा प्रकृति को, तटस्थ रूप से देखने और समझने के लिये, तात्कालिक विराम देता है। इस प्रकार के वर्णन दाप अनेप (उदयशङ्कर भट्ट) में विशेषतया पाये जाते है।'

गहन—उपरोक्त तीनों प्रकार की भाव-सम्पत्तियों की अपेक्षा, वर्णनात्मक कला के अन्तर्गत, एक ऐसे अन्तर्निहित प्रभाव का उल्लेख करना भी आवश्यक है जिसे पृथक स्वीकार किया जाना भी उचित है। कतिपय वर्णना की भावात्मक गहराई, अथाह सी जान पड़ती है और उसको पढ़ने पर पाठक को, एक अभूतपूर्व आध्यात्मिक अनुभव होता है। स्व० श्री वृन्दावनलाल-कृत 'टूटे काँटे' में इस प्रकार के वर्णन विशेषतया पाए जाते हैं।

(५) वर्णन अनुभूति

वर्णनात्मक कला की परिणति, अनुभूति में होना है और यही उसका लक्ष्य भी है। उपरोक्त सभी उपादानों के विवेकमय समन्वय द्वारा, वर्णन को अनुभूति कोटि प्राप्त होती है।

अनुभूति का सर्वप्रथम रागात्मक आधार सौन्दर्यबोध है। यह पद बहु विवादित है। किन्तु यहाँ इसका तात्विक अर्थों में ही प्रयुक्त किया गया है। साहित्य अथवा काव्य की रमणीयता प्रदान करने में, सौन्दर्यबोध ही रसात्मक साधारणीकरण का माध्यम बनता है। रमणीय में अनुरक्ति मानव मन की सहज चेतना है तथा उसके चेतना माध्यम चाक्षुष, श्रव्य आदि पंच ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार हैं। इसीलिए यह अनुभूति, मुख्यतया, कलात्मक वर्णना के परिणामस्वरूप निम्न प्रकार की होती है— चाक्षुष, श्रव्य, भावगत' अध्यात्मगत औचित्य बोधात्मक' मुग्धकर आवर्जक विस्मय करने वाली' और आध्यात्मिक।

चाक्षुष—इनमें भी चाक्षुष माध्यम, वर्णनात्मक कला के विविध उपादानों में सर्वाधिक महत्व रखता है क्योंकि अधिकांश कलात्मक व्यापार लगभग चाक्षुष अनुभव के प्रसार (प्रोजेक्शन) का ही परिणाम है। चाक्षुष सौन्दर्यबोध सहज एवं

त्वरित होता है, क्योंकि मनोरमता अथवा विरसता, प्रथम दर्शन में ही निर्धारित हो जाती है। चाक्षुष ज्ञान, चेतना-व्यवस्था सुवर्णता एवं सुडौलता द्वारा, मुख्यत प्रभावित होता है और उसी पर उसका राग अथवा विराग गुण आधारित है।

श्रव्य— चाक्षुष ज्ञान चेतना के पश्चात वर्णनों की वर्ण्यवस्तु नियोजना में ध्वन्यात्मक अथवा श्रव्य चेतना पर आधारित वर्ण्यवस्तु का, बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रहता है। जब वर्णनात्मक रसानुभूति, सहृदय अथवा पाठक के मन को अनुरक्त करती है तो वह श्रौतिक चक्षु चेतना के स्थान में मानस चक्षु ज्ञान चेतना द्वारा भी प्रभावित होता है। सहृदय की मानस चेतना में यदि श्रव्य ज्ञान चेतना का योग होवे तो सहृदय की चाक्षुष सौन्दर्यानुभूति अधूरी ही बनी रहती है। अतएव चाक्षुष एवं श्रव्य, युगल ज्ञान चेतनाओं का समन्वय, वाञ्छित सौन्दर्यबोध के लिये अनिवार्य हो जाता है।

मानव चक्षु चेतना की परिधि एवं क्षमता सीमाबद्ध एवं अपेक्षाकृत अल्प सामर्थ्य है किन्तु श्रव्य ज्ञान चेतना सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के कारण नितान्त संवेद्य है। विज्ञान सम्मत सिद्धान्त के अनुसार भी नाद की परिधि असीम है क्योंकि वह सतत प्रवहमान है। प्राण स्वाद एवं स्पर्श ज्ञान चेतनाएं भी वर्णनात्मक कला में सौन्दर्य बोधात्मक योगदान करती है किन्तु वे अपेक्षाकृत चाक्षुष एवं श्रव्य के समक्ष गौण हो जाती हैं।

भावगत— सौन्दर्यबोध की अनुभूति एक अत्यन्त सूक्ष्म मानस व्यापार है और वह लौकिक जगत एवं भाव जगत दोनों ही की ओर उभयमुखी है। वर्णनात्मक कला में लेखक, दोनों ही उभयमुखी रमणीय बोधात्मक अनुरक्ति का पृथक पृथक अथवा समन्वित उपयोग करता चलता है। भावगत सौन्दर्यानुभूति लौकिक सौन्दर्य बोध की अपेक्षा अधिक गहन एवं संवेद्य है। अत वर्णनात्मक कला के मानीकरण में उसका गौरव बहुत ऊंचा है।

अध्यात्मगत—अध्यात्मगत सौन्दर्यबोध की अन्तर्चेतना मानव मन की मानव सीमाओं से परे रहस्यलोक में झांकने की सहज जिज्ञासा से अनुप्राणित होती है। अतएव जिज्ञासा की तीव्रता के कारण उसकी रमणीय बोध चेतना भी प्रखर एवं गहन रहती है।

औचित्यबोध—औचित्य-बोध का भी कलात्मक अनुभूति में अपना विशेष महत्व है। देशकाल पात्र के अनुसार वर्णन का उचित पाया जाना कलात्मक अनुभूति की दृष्टि से एक बड़ी विशेषता है। अतिरंजित अथवा मताग्रह से प्रभावित वर्णन अपना औचित्य खो देता है जो वर्णन प्रतीयमान नहीं होवे एवं मनगढ़न्त एवं मनमाने रूप से चित्रित किये जाते हैं उनकी कलात्मकता में बाधा पड़ती है।

मुग्धकर—वर्णन के पारायण के पश्चात जब पाठक अपनी सुध बुध भूल कर आत्म विभोर हो उठता है, तथा बारम्बार वह उसकी पुनरावृत्ति करने को प्रेरित होता है तो उस 'मुग्धकर' अनुभूति प्रदान करने वाला वर्णन कहा जाता है।

आवसादिक—जिन वर्णनों के पढ़ने पर पाठक का मन खिन्न हो उठता हो तथा वातावरण में, अवसाद की परिव्याप्ति हो जाती हो, उनको 'आवसादिक अनुभूति से युक्त' वर्णन, कहा जायगा।

विकल करने वाली अनुभूति—कतिपय ऐसे वर्णन भी पाए जाते हैं जिनके पढ़ने के पश्चात् पर्याप्त काल तक, पाठक का मन, व्याकुलता अनुभव करता है तथा व्याकुलता का, वह कार्य कारण समाधान भी चाहता है। विकल करने वाले वर्णन बड़े प्रभावशाली होते है तथा वे पाठक के मन पर एक असन्तोष एवं बेचैनी छोड़ जाते हैं और इस भांति वे पाठक की निर्धारित विचार धारा में, एक प्रकार की उथल पुथल सी मचा जाते हैं।

आध्यात्मिक—आध्यात्मिक अनुभूतियों को व्यक्त करने वाले वर्णन भी पाठक के मन में एक अनोखी अनुभूति छोड़ जाते हैं जो लौकिक जगत से परे, एवं पराप्राकृत तत्वों से युक्त होती है।

(६) रस संस्पर्श

रस-संस्पर्श, वर्णनगत रसानुभूति की ऊँचाई तक पहुँच जाने के सूक्ष्म भाव का, संकेत है। यद्यपि किसी भी वर्णन विशेष में, स्वतन्त्र रूप से रस के परिपाक् की क्षमता सम्भाव्य नहीं है, फिर भी उत्तम उपन्यासकार के उत्तम वर्णनों में एक ऐसी स्थिति या सामारेखा स्पर्श की जाती है जहां कि वर्णन, रस कोटि में पहुँच जाते हैं। उदाहरणार्थ जब 'चारु चन्द्रलेख' (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) का कथानायक सातवाहन मृगछौने का पीछा करते करते, झाड़ झंखाड़ से भरी वनखण्डी के बीच, चन्द्रलेखा के सहसा आमने-सामने आ जाता है तो उस स्थल पर पाठक को भी सहज ही वर्णनगत रस संस्पर्श की अनुभूति होती है।

उत्तम वर्णनों का, उपन्यास में, अपना निजी अस्तित्व भी है तथा उनका प्रसंगबद्ध कथात्मक अभिप्राय भी रहा करता है। जब कथात्मक प्रसंग बद्धता के कारण कोई उत्कृष्ट वर्णन, उपन्यास की रसात्मक सिद्धि को रूपायित सा करता जान पड़ता है तो हम उसे 'रसात्मक वर्णन' की संज्ञा दे सकते हैं। वस्तुतः रस-संस्पर्शात्मक वर्णन प्रत्येक उत्तम उपन्यास में गिने चुने ही होते हैं। उनमें मानो उपन्यासकार अपनी वर्णनात्मक प्रतिभा को ही न्यौछावर कर डालने को, आतुर दिखाई पड़ता है। कभी कभी ऐसे रस-संस्पर्शान्वित उत्तम वर्णनों की उपन्यास में घटी सी लग जाती है और लेखक के समान पाठक भी उनमें रस विभोर अवस्था को प्राप्त होकर निमग्न हो जाता है। ऐसे वर्णन पाठक के मानस-पट पर, सदा के लिए अंकित हो जाते हैं और उपन्यास विशेष का नाम उच्चरित होने ही इस भांति के वर्णन, सहसा उसके मानस पट पर मानो प्रदीप्त से हो उठते हैं।

'वर्ण्यवस्तु', 'वर्णन शैली', 'वर्णन कोटि', 'वर्णन चेतना', 'वर्णन-अनुभूति', एवं 'वर्णन-गत रस-संस्पर्श', इन छः मूलभूत वर्णनात्मक तत्वों के आधार पर जिस वर्णनात्मक कला के मानीकरण की एक संक्षिप्त रूपरेखा, उपयुक्त अनुच्छेदों में प्रस्तुत की गई है उसमें, एक बहुसंख्य अभिनव संज्ञात्मक पदावली का समावेश पाया जाता है। प्रत्येक उपन्यास का, उपयुक्त सरणी पर वर्णनात्मक मानीकरण करते समय, हमें, इस लम्बी संज्ञात्मक पदावली से पद-पद पर काम पड़ता है। अतः उसे यहाँ एक मानीकरण तालिका के रूप में क्रमबद्ध किया जाना आवश्यक माना गया है।

उपयुक्त वर्णनकला गत मानीकरण-पद्धति के प्रत्येक संज्ञात्मक पद को व्यक्त करने के लिए एक अक्षर विशेष का निर्धारण कर लिया गया है। प्रत्येक वर्णन में, जो-जो वर्णनात्मक कलात्मक विशिष्टताएँ वर्तमान हैं उनका सूत्रात्मक आभास, हमें निम्न सांकेतिक अक्षर माला द्वारा मिल सकता है। अधिक कलाभिराम वर्णनों में, अधिकाधिक संख्या में ये सांकेतिक अक्षर पाए जाएँगे। उनकी संख्या एवं विविधता से ही, हम वर्णन विशेष की कलात्मक गरिमा का अनुमान, एक ही दृष्टि में कर पायेंगे। यहाँ इस समस्त संज्ञात्मक पदावली की अक्षर-संकेतित तालिका दी जा रही है—

वर्णन कलाभिराम उपन्यासों में समाविष्ट—कलात्मक वर्णनों की, संज्ञात्मक पदावली की—अक्षर सांकेतिक सूत्र-तालिका

वर्णन विवरण		
प्राकृतिक	—	प्रा
शरीर (आकृति निदान)	—	श
स्थापत्य	—	स्था
राजकीय	—	रा
नगर शोभा	—	न
बाजार वर्णन	—	बा
दुकान वर्णन	—	दु
वेष भूषा	—	व
साज सज्जा	—	स
यन्त्रादि	—	य
वर्ण्यवस्तु (च)		
सक्रम	—	स
अक्रम	—	अ
सांगोपांग	—	सा

विकीण	—	वि
सवण	—	स
विवण	—	वि
सस्वन	—	स्व
नि स्वन	—	नि
सगति	—	ग
अगति	—	ति
चचल	—	च
अचचल	—	ल

वणन प्रकृति (कृ)

व्यक्तित्वयुक्त	—	व्य
छविवृत्तात्मक	—	छ
विशद	—	द
अविशद	—	अ
कल्पना उद्रेकी	—	की
महत्कल्पना प्रधान	—	म
रहस्यावृत्त	—	र

वणन शली (श)

आलकारिक	—	आ
युक्तिमय	—	यु
वणवृत्तात्मक	—	वृ
प्रसगानुकूल श=चयन	—	प्र
श=ालकार का आश्रय	—	श
कामलकान्त पदावली	—	प
प्रतीकात्मक श=ावली	—	ती
परम्परागत	—	पग
प्रतिमास नियधन	—	प्रनि

वणन-गत रस सस्पश (रस)

शृगार	—	शृ
वार	—	वी
करुण	—	क
अद्भुत	—	भु

वर्णन चेतना अथवा भाव सम्पत्ति (ति)

उत्तेजक	—	उ
आन्दोलनकारी	—	आ
दार्शनिक	—	दा
गहन	—	ह

वर्णन अनुभूति (नु)

(१) सौन्दर्यबोध [सौ]

चाक्षुष	—	चा
श्रव्य	—	श्र
भावगत	—	भा
अध्यात्मगत	—	त

(२) औचित्यबोध	(औ)	—
(३) मुग्धकर	(मु)	—
(४) आवसादिक	(दि)	—
(५) विह्वल करने वाली (ली)		—
(६) आध्यात्मिक	(ध्या)	—

अक्षर-सांकेतिक सूत्र-तालिका की व्यावहारिक मानीकरण-पद्धति

उपर्युक्त अक्षर सांकेतिक सूत्र-तालिका का व्यावहारिक पद्धति का, कलात्मक औपन्यासिक कृतियों के मानीकरण में किस प्रकार (व्यावहारिक) प्रयोग किया जाय ? इसके उदाहरण के रूप में यहाँ एक श्रेष्ठ हिन्दी उपन्यास (श्री वृन्दावनलाल वर्मा कृत मृगनयनी) का उपर्युक्त अभिनव पद्धति पर परीक्षण किया जा रहा है। इसके द्वारा यह समझने में सरलता होगी कि प्रत्येक उपन्यास का इस अभिनव-पद्धति पर किस भाँति व्यावहारिक मूल्यांकन किया जा सकता है।

सर्वप्रथम वर्णनात्मक कला की उपर्युक्त मानीकरण कसौटी पर परीक्षित उपन्यास में समस्त कलात्मक वर्णनों की एक क्रमबद्ध तालिका वर्णनों के अवसरों के उल्लेख के साथ तैयार की जाय। यह मानीकरण पद्धति का प्रथम परीक्षण स्तर है।

तत्पश्चात् सभी वर्णनों के द्वितीय परीक्षण द्वारा कलात्मक तत्त्वों के आधार पर परीक्षित उपन्यास के सभी वर्णनों पर सांकेतिक चिह्नों द्वारा मूल्यांकन के मानों का अंकन किया जाय। यह मानीकरण पद्धति का द्वितीय स्तर है।

तुलनात्मक परीक्षण द्वारा यह ज्ञात होगा कि कलात्मक साहित्य की दृष्टि में कुछ इने गिने वर्णन सर्वोत्कृष्ट कोटि में रखे जाने योग्य हैं। यद्यपि उनमें कलात्मक

[illegible] वर्णन [illegible] गई जाती है। यह [illegible] पद्धति का [illegible] है।

तत्पश्चात् [illegible] विभिन्न [illegible] के [illegible] समीक्षात्मक [illegible] विवरण [illegible] पद्धति का [illegible] है। इस पद्धति द्वारा [illegible] के [illegible] मूल्यांकन के [illegible] अथवा [illegible] नहीं रह जाता।

परीक्षित मानस्वरूप उपन्यास—'मृगनयनी' (श्री वृन्दावनलाल वर्मा)—
के वर्गीकरण का प्रथम स्तर—वर्णन तालिका।

वर्णन सं०	वर्णन का प्रकार	सन्दर्भ
१	प्रारम्भिक वर्णन (भारत [illegible] का प्राचीन पृष्ठभूमि) (स्थान)	अध्याय १ पृ० १
२	ग्राम-वर्णन (राई ग्राम)	अ० १, पृ० १
३	[illegible]-वर्णन (प्रा०)	अ० १ पृ० ४
४	ग्राम (अन्य) का [illegible] वर्णन ([illegible])	अ० १, पृ० ११
५	[illegible]—([illegible]) (प्रा०)	अ० ३ पृ० १८
६	वन [illegible] ([illegible]) (प्रा०)	अ० ३ पृ० [illegible]
७	वन वर्णन—([illegible]) (प्रा०)	अ० ३ पृ० [illegible]
८	गूजरी [illegible] की [illegible] पृष्ठभूमि ([illegible]) (प्रा०)	अ० ३ पृ० १८
९	[illegible]—([illegible])	अ० ४ पृ० [illegible]
१०	[illegible]-वर्णन ([illegible]-वर्णन)	अ० ४ पृ० [illegible]
११	[illegible] वर्णन ([illegible]) ([illegible])	अ० [illegible]
१२	[illegible] वर्णन	अ० [illegible] पृ० [illegible]
१३	[illegible] ([illegible]) ([illegible])	
१४	वन-वर्णन—([illegible]) (प्रा०) ([illegible])	अ० ६ पृ० [illegible]
१५	ग्राम-वर्णन—([illegible]) ([illegible])	अ० ३ पृ० २०
१६	[illegible]-वर्णन	अ० ३ पृ० २०
१७	सन्ध्या-वर्णन (प्रा०)	अ० ३ पृ० [illegible]
१८	सन्ध्या वर्णन (प्रा०)	अ० [illegible] पृ० [illegible]
१९	ग्राम-वर्णन—([illegible]) ([illegible]) ([illegible])	अ० [illegible] पृ० [illegible]
		अ० [illegible]

२०	संध्या वर्णन (वर्षा) (प्रा०)	अ० ४५ पृ० ३४०
२१	गूजरी महल की मानस पृष्ठभूमि (स्था) (साम्य संकेत ८)	अ० ४५ पृ० ३४१
२२	रात्रि वर्णन (मानसिंह का गूजरी महल बनाने का मानस संकल्प) (प्रा०)	अ० ४५ पृ० ३४२
२३	गूजरी महल—(भवन निर्माण कला) (स्था०)	अ० ५६ पृ० ४०७
२४	गृह प्रवेश उत्सव—(गूजरी महल)	अ० ५६ पृ० ४०८
२५	मानमंदिर वर्णन (स्था०)	अ० ५६ पृ० ४०८
२६	गूजरी महल (मानस कल्पना की परिणति) (स्था०)	अ० ५६ पृ० ४०६
२७	नटराज की प्रतिमा का वर्णन—(भारतीय कला के प्रतीक) (मूर्ति कला)	अ० ६० पृ० ४१५
२८	भूकम्प वर्णन	अ० ६३ पृ० ४३७ ३८
२९	भूकम्प वर्णन (ग्वालियर-गूजरी महल)	अ० ६३, पृ० ४३६ ४०
३०	दुर्ग वर्णन (राई की गढी)	अ० ६६ पृ० ४५४
३१	दुर्ग वर्णन (राईगढी)	अ० ६७ पृ० ४६२
३२	पात्र वर्णन (मृगनयनी) (प्रा०)	अ० ७० पृ० ४७६

'मृगनयनी'[1] उपन्यास के कलात्मक तत्वों के आधार पर सांकेतिक चिन्हों द्वारा, मूल्यांकन मानों का, तुलनात्मक अंकन (मानीकरण पद्धति का द्वितीय स्तर)

१ ग्राम वर्णन

आसपास और दूर दूर तक के गाव उजड चुके थे। खेती का नाम निशान तक न था। बीच बीच म जगल भी काट डाला गया था। पर कटे हुए पेडो की जडो से नई शाखें फूट निकली थी और भूमि इन शाखा से ढक गई थी।

वि । अ । तृ । — । — । सो चा (अ० १ पृ० १)

२ ग्रामवर्णन—[राई ग्राम]

'ग्वालियर के पश्चिम दक्षिण म लगभग छ कोस की दूरी पर साक नदी के किनारे, राई नाम का गाव था। इसम मंदिर के साथ ही अधजले और अधटूट घरो को भी, फूस से छा लिया गया। बाकी गाव म खण्डहर बिखर कर बिथरे पडे रह गये। फसल काट कर घर म या गड्ढा म रखने की उतावली थी। परन्तु

---

१ 'मृगनयनी (श्री वृन्दावनलाल वर्मा) प्रथम प्रकाशन १९५० ई० (प्रस्तुत संस्करण सातवी आवृत्ति १९५५ ई०) स्वाधीन प्रेस झासी।

अन्न अभी कहीं रही हरा था। पौधा की लहर को देख कर, उतावला किसान, हाथ मे हँसिया लिए हुए, रह रह उठता था। हरी धान को कैसे काट डाली जलाने तक तो ठहरना ही पडेगा।' अ० । छ । तो । । सी चा (अ० १, पृ० ३)

३ उत्सव वणन (होली)

'सवेरा होते ही कुछ लोगो ने हल्दी की थोटी सी गाठा को बाटकर, रग तैयार किया और भींकने भोकते होली खेल ली। जिनकी गाँठ मे रग नही था उन्होंने रास्ते की धूल बटोरी और पानी मे घोली। पिछली विपदाओ को भूल कर, कम से कम कुछ घण्टों के लिए मतवाले हो जाने की ठान ली।

अ० । अ । व । । । दि (अ० १, पृ० ४)

४ पात्र वणन (हा०)

'अटल हट्टा कट्टा युवक था। आंखे भीग चुकी थी। सिर के बाल लम्बे थे। इसलिए सारी आकृति म सौमना आ गयी थी। कई साल के कठोर जगली जीवन न उसके लम्बे चहरे की लम्बी नाक को कुछ और लम्बा कर दिया था।'

सा । ~ । क । । । औ० (अ० ३, पृ० १३)

५ रात्रि वणन [चांदनी खेत] (प्रा०)

'चन्द्रमा का उदय हो आया था अब चादनी छिटक चली। पास के और दूर के खेतो म रखवालो की 'हा हा' हू हू सुनाई पडने लगी। ठण्डी हवा डन से मार कर सरसराने लगी। (किसी ने अपनी मोटी चादर लपेटी और अटल को दूसरी उढा दी) किसी हा हा हू हू नही कर रही थी। चुपचाप बठी हुई खेत के कोनो पर आग पसार थी। पवन के झोको के कारण कभी-कभी मेड के छोटे छोटे झाड झकूटे, हिल जाते थे तो उसको, किसी वन्य पशु के आ जान की शका हो जाती।

दो पहर रात गय, आसपास के खेतो की हा हा हू-हू कम हो गयी और दूर के खेतो की बहुत क्षीण। चाँदनी छिटक आई कि दूर का भी स्पष्ट दिखाई पडने लगा।' सा रव ग । छ अ की । अ प्र । । ह । मी रा (अ० ३ पृ० १४)

६ वन वणन [रात्रि चांदनी] (प्रा०)

खेत से थोडी ही दूर नदी बह रही थी। उसके एक सिर का पानी बहता हुआ गिरताई पर रहा था। चन्द्रमा की छिपटती हुई, झिलमिल, जान पडती थी, मानो चाँदी की चादरा के आवरा पर आवरे, चिकचिका, रह हा। छोटी छोटी सी आडी सीधी लहरें उठ उठकर, इन आवरा का पहा पहर लेती थीं। सम्पूर्ण लहरा का समूह धारा की उन चादरो का चाड लेने की, होड सी लगा रहा था। पवन के आने जाने वाले हलकोरे इन आवरा की ओर भी चचल कर रहे थे। लहरा की कलकल, डाला पर नाचती ऐंठती हुई खेता के हर पौधा की अधपकी बालो को, अपनी कोमल

उँगलियों से खिला सा रही थी। हरी पत्तियों पर जमे हुए, ओस-कण, चमक चमक कर बिखर बिखर जा रहे थे। निकटवर्ती जंगल के लंबकाय वृक्षों के बडे-बडे पल्लवों को खरभरा कर, पवन मानो किसी दूर देश को चला जा रहा था। कभी सनसनाहट और कभी सड सडाहट, इन्ही ध्वनियों में होकर नाहर से डरे हुए साभरों और चीतलों की कभी तीक्ष्ण और कभी मन्द पुकारें ।' (अ० ३, पृ० १५ १६)

स सा स स्व ग च। व्य छ अ को र। हृ प्र श ती। मु। ना ह। सौ चा श्र भा मु

७ वन वर्णन (रात्रि चांदनी—दृश्यावली) प्रा०

'पवन धीरे धीरे मन्द पडा। नदी की लहरों के अवगुंठन छोटे पड गए, और चाँदी की चादरें सी तनने लगी। खेत के पौधों की झूम, हलकी पड गई, जैसे सो गए हों। निकटवर्ती बडे पेडो की खरखराहट भी निरन्तर न रही।

एक दिशा में उन रजत लहरों के उस पार, छोटी छोटी पहाडियों के ऊपर, एक ऊँची पहाडी सिर उठा कर धूमिल नेत्रों में चांदनी को भर लेना चाहती थी। ऊँची पहाडी का शिखर धुएँ का स्थिर पुंज सा जान पडता था। नदी के उस पार दूसरी दिशा में विशाल वृक्षों की सेज के पीछे एक ऊँचा पहाड चन्द्रमा को मानो नीचे उतर आने के लिये आवाहन सा दे रहा था। बीच बीच में पतोखी, टी टी 'ची ची' कर उठती थी, जिससे न तो चांदनी विचलित हो रही थी और न पवत के ऊँचे शिखर का ध्यान ही। निन्नी की दृष्टि कभी खेत की ऊँघती हुई बालों पर कभी नदी की चमकती हुई चंचल उर्मियों पर, कभी दूरवर्ती धूमिल पहाड पर और कभी निकटवर्ती पहाड के शिखर पर जा रही थी। (अ० ३, पृ० १६ १७)

स स्व ग ल। व्य छ अ वी म र। व प्र प ती। मु। दा ह। सौ चा श्र भा मु।

८ नदी प्रकृति (रात्रि चांदनी) (प्रा०)

निन्नी मुस्कराई और खेत के ऊँघते हुए पौधों पर दृष्टि फेरती हुई नदी की उर्मियों को, चांदनी के साथ खेल करने लगी। हवा और भी ठंडी हो गई। पहाड की ऊँचाइयों जंगल के विशाल वृक्षों के बन्दनवारों बडे बने हुए पल्लवों के झरोखों, इन चमकीली चटीली लहरों, और पतोखी की उन बोलियों को कैसे एक ही स्थल पर इकट्ठा किया जाय। और उस पतोखी की बोली? मैं गाऊँगी—'जाग परी जब मैं पिय के जगाए। (अ० ३, पृ० १८)

स स्व ग च। छ द वी म र। आ प्र प। श्र। आ। सौ। चा श्र मु

९ हेमन्तोत्सव वर्णन

"दूसरे ही दिन दोज थी पुजारी ने थोडा सा लाल रंग पहले ही घोल रक्खा था। सब लोगों ने दोज की पूजा की। नई लाई हुई छोटी सी मूर्ति को प्रणाम किया। पुजारी ने घी की दो चार बूंदों से होम किया और फिर से प्रसाद रूप लाल रंग के थोडे से छींटे सबके छिटके। निन्नी के ऊपर छींटे डालने में उसका हाथ

भिझका। उसने बसर का लाखी पर पूरा कर दिया। दो एक छीटे, उसके गाला पर जा पडे। पुजारी ने अपने बेसुरे गले से एक होली गाई।

वि। अ। व। । । (अ० ४, पृ० २२ २३)

१० दुग वणन (ग्वालियर का किला) (स्थान)

'चौथे पहर का घटा बजते ही फाटक खुल गए। कोट की ऊची दीवार के भीतर कई छोटे छोटे कोट जिनमें सैनिको का आवास था। प्रत्येक फाटक पर सन्नद्ध सावधान पहरे। दक्षिण दिशा के मदान के छोर पर सास-बहू और तेली के मंदिर थे। वहा फूस के छोटे छोटे झोपडे डाले हुए, कुछ निवासी, विपद के दिन काट रहे थे। राजा का भवन उत्तरवर्ती कोट के भीतर था।

अ० वि०। । व। । । - (अ० ४, पृ० ४१ ४२)

११ पात्र वणन (आकृति) (श)

राजा मानसिंह युवावस्था के आगे जा चुका था। बडी काली आखें, भरी भौंह सीधी लम्बी नाक, चेहरा भरा हुआ कुछ लम्बा, ठोडी दृढ, होठ सहज मुस्कान वाले। सारा शरीर, जसा अनवरत व्यायाम से तपाया और कसा गया हो। कद लम्बा और छाती चौडी घनी नोकदार मूछें।

सा। द। । । । औ (अ० ८, पृ० ४२)

१२ आखेट वणन

'दोना (लाखी निन्नी) चल पडी। जगल गाव से लगा हुआ था। दूसरी ओर नदी। तेजी स बहती हुई धार कलोल कर रही थी। उसको देख कर उनकी आखें ठण्डक पा रहीं थी। इसी प्रवाह के कही समीप ही सूअर और जगली भसे पडे होगे। यह सोच सोच कर, दोना हुलसा रही थी। वे दोनो नदी के किनारे को छोड कर जगल म धँस गई। दोना ने एक हाथ म कमान और दूसरे म तीर ले लिया। जगल म धीरे धीरे आहट लेती हुई दोना बढ रही थी।

सा ग नि । द। ह। । उ। औ (अ० ७, पृ० ४९)

१३ पात्र वणन (वेषभूषा) (वे)

लू के झकोर से भूमि के बारीक ककड और बिछे हुए सूखे पत्ते उड उड कर निन्नी के तपे हुए गोर और लाखी के सावले गालों पर पड पड जा रहे थे। उन दोना न ओढनी को सिर स लपट रखा था। घुटनो तक माटे लहगा का कच्छ। उरोज कचुकी से ढके हुए पीठ से लगे हुए पेट उघाडे। गले म मूगी और काँच के छोटे बडे दानो की माला। कलाइयो पर काँच की दो दो मोटी चूडियाँ। पैरो में कांसे या पीतल तक का कडा नहीं। शरीर का पसीना, पिडलियो की धूल पर मोटी पतली रेखाएँ बनाता हुआ जा रहा था। लू से उनको ठण्डक मिल रही थी। निन्नी की बडी बडी और लाखी की कुछ ही छोटी काली कजरारी आँखें, घने पलको के

पीछे, ध्यान के साथ कुछ टटोल रही थीं। सिर और कन्धे झुके हुए मानो उछल कर किसी पर टूटने वाली ही हो। वे दोनों ऊबड़-खाबड़ जंगल में, कुछ दूर निकल गई। नदी का किनारा छूट गया था, निन्नी के होठ सूखने लगे।

सा स ग । द की । व । वी । उ । सी चा औ (अ० ७, पृ० ४६)

१४ वन वर्णन (मध्याह्न) (प्रा०)

'दोनों उसी तोल के साथ आगे बढ़ती गई। आगे एक छोटी सी पहाड़ी की ओट मिली, जो, लम्बाई में नदी की ओर गई थी। पहाड़ी के नीचे, साल सागौन, महुए और अचार के बड़े बड़े लंबे पेड़ थे। पहाड़ी के ऊपर करधई की घनी हलकी, करधई रंग की झाड़ी थी। दोनों इस पर चढ़ कर, उस ओर के नीचे के मैदान के जंगल की निरख करना चाहती थीं। परन्तु पहाड़ी की घनी करधई में धँसने के लिये, पतली पगडंडी भी नहीं थी।

स स । छ द की । व । - । उ । सी चा मु (अ० ७, पृ० ५०)

१५ पात्र वर्णन (आकृति) [शा० वे०]

दोनों ने अपने लहगों को घुटने के ऊपर समेट कर कस कर कच्छ बांधा, दोनों की गोरी गोरी जांघें आधी उघड़ गईं। लाखी की पतली सुती हुई सी थी। और निन्नी की मांसल पटठों वाली जैसे बठकें लगाने वाले किसी पहलवान की हो। दोनों करधई की घनी झाड़ी में घुस जाने के लिये सकरे छोटे से ही मार्ग की तलाश में, झुक झुक कर हाफ हाफ कर, सांस साध साध कर फिरने लगीं। एक हाथ में कमान और दूसरे में, सूर्य की प्रखर किरणों में चमक चमक जाने वाला लोहे का तीर साधे हुए। निन्नी के होठ सूख रहे थे। ततूरी के मारे लाखी के पैर जल रहे थे।' सा ग । द की । व यु । वी । उ । सी चा औ (अ०७ पृ० ५०)

१६ आखेट वर्णन

वे दोनों कहीं बैठ बैठ कर, कहीं लेट-लेट कर, रेंगने लगीं। ऊँची छातियां पत्थरों और करधई के मोटे काटे से टकरा टकरा जा रही थीं। करधई की टेढ़ी मेढ़ी डालें सिर से बांधी हुई ओढ़नी में अटक अटक जा रही थीं। गोरी सलोनी बांहों में काँटे खरोंच कर रक्त की पतली लीकें निकल रही थीं। धूल और धूप उनको सुखाकर मरहम का सा काम कर रही थी। उन दोनों ने करधई की डालों से उलझी हुई ओढ़नी को सुलझाया और कमर में कस लिया। बिना तेल के लम्बे काले केश कुन्तलों में आंधी के एक दो झोकों ने ही धूल और करधई के छोटे छोटे सूखे पत्ते भर दिये। करधई के एक बड़े झाड़ के नीचे दोनों तीर कमान साधकर खड़ी हो गईं। ■ । द की । दृ । वी । उ । सी चा औ (अ० ७, पृ० ५१)

१७ सध्या वर्णन (प्रा)

उसी दिन सवेरे से ही यकायक ठण्ढी हवा चली और तीसरे पहर तक

चलती रही। चौथे पहर थमावात तो रुका परन्तु ठण्ड बढ़ गई। पश्चिमी पहाड़ियों के ऊपर, सूर्य दमदमाती हुई, बड़ी बिन्दी की तरह, लग रहा था। ग्वालियर के उत्तर पूर्व और उत्तर पश्चिम की पहाड़ियाँ धूमर कुहासे में रहस्यमयी हो रही थी। पूर्व की दिशा की जाड़ी पहाड़ियाँ तक मैदान में किरणों ने मानो सुनहरी रज छिड़क दी हो।

मृगनयनी और मानसिंह महल की छत पर थे। ऊँची मुंडेरों की खिड़कियों, और झिलमिलियों में होकर किरणें चौक से पुर रहे थे। तुम्हारी मुस्कान के साथ सूर्य की किरणें क्या खेलने लगती हैं। (अ० ३२, पृ० २४४)

अ स नि। य छ अ की र। आ प्र प। शृ। ह। सौ चा मा मु

१८ सन्ध्या वर्णन (प्रा०)

सर्दी अपने यौवन पर थी, अस्ताचल की ओर जाने वाले सूर्य की किरणें, क्षीणता पर। उन किरणों से गरमी पाने की वांछा करने वाले को ठिठुरन और भी अधिक मिल रही थी। अपने कक्ष की छत पर झरोखे के सहारे, मृगनयनी खड़ी हो गई। साथ में लाखी। सूर्य के डूबने में अभी दो घड़ी का विलम्ब था। मृगनयनी की दृष्टि, पश्चिमी पहाड़ियों के पीछे की किसी पहाड़ी, किसी नदी और किसी गाँव की तरफ गई। राई में क्या हो रहा होगा ?—वह सोच रही थी। फिर महल के उत्तर वर्तीय बगीचे पर आँख जा पड़ी। पेड़ों के बड़े बड़े पत्तों की गहरी हरियाली पर, किरणें किलोल सी कर रही थी। उसको लगा पत्तों की वीणा सी बज रही है।
(अ० ४१ पृ० ३११) अ म। छ ज की। आ। क। ह। सौ चा मा दि

१९ पात्र वर्णन (आकृति-वेषभूषा) [श वे]

वे दोनों हँस पड़ीं। दोनों के दाँत मोती जैसे। हँसी जैसे शरत्कालीन नदी की निर्मल धारा। आँखों में अल्हड़पन। अंगों की थिरकन जैसे किसी राग की सीधी सच्ची तान हो। धीमी झूम वाले कदली पल्लवों पर से मृगनयनी की आँख लाखी के वस्त्रालंकारों पर गईं। रेशम के वस्त्र, सोने और मोती के गहने। लाखी खिल रही थी। (अ० ४१ पृ० ३१३) अ म। अ। आ। शृ। -। सौ चा मु।

२० सन्ध्या वर्णन (वर्षा) (प्रा०)

साँझ से ही बादल घिर आए। बिजली की कड़क-तड़क हुई और गरगराहट के साथ पानी बरसने लगा। चन्द्रमा ऐसा छिपा कि घोर अमावस्या की रात प्रतीत होने लगी। मृगनयनी और मानसिंह, बादलमहल के एक ऊपरी कक्ष की खिड़की के सामने मंच पर बैठे हुए थे। मानसिंह कुछ चिन्तित, मृगनयनी हर्षमग्न और प्रफुल्ल।
(अ० ४५ पृ० ३४०)

नि रर। छ अ। ना गु। श। । सौ मा

२१ स्थापत्य कला (स्था०)

'चाँदनी में चमकती नदी की दमक को समेट कर, अचल में बाँधलूं, सेनकी ऊँघती हुई घाटी और पहाड़ की उस ऊँचाई का एक ही ठौर पर, इकट्ठा कर लूँ। बड़े बड़े पेडों के बन्दनवार बनाऊँ और डालियों और पत्तों के झरोखे सजाऊँ। उन झरोखों में होकर, मोतियों के हार सी पहने हुए, नदी की लहरों को गीत सुनाऊँ और फिर एक ऐसा घर बनाऊँ जिसमें, ये सब आ जाँय। (अ० ४५, पृ० ३४१)

स सा ग । व्य म र । आ सी । गृ । दा ह । सौ भा औ मु

२२ रात्रि-वर्णन (वर्षाकाल-चाँदनी) (प्रा०)

'बादल फट गए और चान्दनी धुली धुली छिटक आई। पानी कुछ पहले रुक गया था। प्रकाश में किले की पर्वत श्रेणी स्पष्ट दिख गई। दूर के पहाड़ धूमिल ऊँघते-सोते से! मानसिंह ने कहा मवन को सौन्दर्य, लालित्य, और आस्था का मन्दिर बनाऊँगा। (अ० ४५ पृ० ३४२)

अ नि । छ अ र । आ । । ह । सौ चा भा

२३ भवन निर्माण कला (गूजरी महल) (स्था०)

ग्वालियर किले की पहाड़ी का उत्तर पूर्व वाला छोर नीचे की ओर कुछ छहर गया है। चार वर्ष में उसके ऊपर मृगनयनी का गूजरी महल बन गया। ऊपर के कोट से इसके कोट का भी सम्बन्ध जोड़ दिया गया। नीचे वाले कोट के नीचे से राइ गाँव वाली साँक नदी की ढकी हुई नहर गूजरी महल के नीचे वाले खण्डों में आ गई और उसके पानी के निकास का भी प्रबन्ध हो गया। गूजरी महल लगभग डेढ़ सौ हाथ लम्बा और सवा सौ हाथ चौड़ा। दो खण्ड ऊपर दो खण्ड नीचे। नीचे के खण्ड के बीचा बीच साँक नदी की नहर के जल के लिये हौज और चारों ओर दोखण्डी दालानें। ऊपर के खण्डों के बीच में विस्तृत आँगन चारों ओर सुरम्य अटारियाँ और छतें। बाहर और भीतर से मृगनयनी के रूप सरूप का प्रतिबिम्ब प्रबल सीधा सलोना और छबीला। कक्षा के द्वार विवाह मण्डप के लता वितान और बन्दनवारों के द्योतक। पूरे भवन में वसी गोखें मछियाँ और साज जैसे थोड़े और सुन्दर आभूषण वह पहनती थी। पूरा भवन थोड़े से अलकारों से सँजोया हुआ थोड़ में अलकारों से पूरा भवन सजाया हुआ। (अ० ५६ पृ० ४०७)

स० सा० ति० ल० । द० । आ० । । । सौं० चा० ।

२४ गूजरी महल (गृह प्रवेश उत्सव)

गृह प्रवेश के लिये होली के उत्सव की रंगपञ्चमी का मुहूर्त रक्खा गया। होली के उत्सव में जनता, वैसे ही मस्त थी रंगपंचमी के उत्सव के दिन तो मस्ती में डूबने उतराने ही लगा गृह प्रवेश का मुहूर्त आने को हुआ। सैनिकों ने केसरिया साफे बाँधे जो मानसिंह के सूर्य ध्वजों ऊँचे केसरिया झण्डे से, होड़ सी लगा रहे थे।

नगर की स्त्रियाँ रंग विशेषत में फूट पड़ी। शायद बरसों में नये कपड़े पहनने पहनते पुराने पहन लिये। वीणा का पाठा, माँजा, फूलों से सजाया और सरस्वती का पूजन किया। (अ० ५६, पृ० ४०८)

वि० स म० । ०० । प्र० । - । - । ना० मु० ।

२८ मान मन्दिर वर्णन (स्था०)

मानसिंह मृगनयनी को, गूजरी महल से, मान मन्दिर में ले आया। बीच से मान मन्दिर, ऐसा लगता था जैसे गगनचुम्बी कदली-कुञ्ज में, विष्णु ने, मुस्कान के साथ, वरद हस्त पसार दिया हो। केले के पत्तों के यथावत रंग और चित्रण ने, पत्थर की जालियों में हाथी नाहर और अन्य पशुओं के वेगवान विहार ने, मृगनयनी को यही कल्पना दी। भीतर पहुँच कर ऊपर के मण्डप के पहले आँगन में, पश्चिम की ओर, विष्णु का मन्दिर। उसके चारों ओर पत्थर में सूक्ष्म अनुपात की, विविध प्रकार की जालियाँ, आँगन के दूसरी ओर, विशाल पुस्तकालय और तीसरी ओर, सभा भवन जिसमें गायन वादन इत्यादि होता था। विष्णुमन्दिर के सामने दूसरा कक्ष था, जिसकी बनावट, साज सिंगार, पहले से कुछ भिन्न थी परन्तु उतनी ही, सुन्दरता में गुथा हुआ। (अ० ८६, पृ० ४०८)

स० स । द० की० म० । आ० । - । दा० ह० । सौ० ना० ।

२६ गूजरी महल (स्था०)

मृगनयनी को अपनी उस कल्पना की याद आ गई। रात का समय, मचान पर खेत की रखवाली के लिये बैठी हुई चाँदनी में निकट बहने वाली नदी की लहरों की चमक, और अनाज की बालों की उँगली झूम। पीछे ऊँचे पहाड़, हरे भरे विशाल वृक्षों के कुञ्ज, और जंगल में स्वच्छन्द घूमने वाले पशु। ऊपर के कलश ऐसे लगते हैं जैसे पहाड़ के लम्बे, समतल पटपरे पर गुम्मट बाँधे हुए अचार और खिरनी के पेड़ हों। मृगनयनी आनन्द मग्न हो गई। मानसिंह ने देखा, उसके चेहरे पर यौवन का लावण्य और माता का सौंदर्य एक दूसरे से होड़ सी लगा लगा कर परस्पर घुल रहे हैं। (अ० ८६ पृ० ४०६)

अ० । की० म० र० । - । शृ० । ह० । सौ० मा० मु० ।

२७ नटराज प्रतिमा वर्णन (मूर्ति-कला)

नटराज की मूर्ति एक विकसित कमल पर रक्खी थी। [illegible] पखुरियाँ से झरती हुई आभा का एक मण्डल बनाया गया था। [illegible] मूर्ति के दोनों ओर लौ निकलती हुई रक्खी गई थी। मूर्ति [illegible] हाथ में डमरू दूसरा बाँया हाथ वरद मुद्रा में। [illegible] आभा को नोक छू रही थी। [illegible] बाँये हाथ में अग्नि [illegible]

एक बौने की ओर सकेत करता आगे वाले हाथ को, दूसरे पार्श्व की लौ छू रही थी। कमर म मणियों की करधनी। कन्धे पर जनेऊ। एक कान म पुष्पा का जसे कुण्डल। दूसरे मे स्त्रियों की जसी बाली। केशजूट मे मुक्तामाला। एक लट अलग झूलती झलती हुई। एक जटा म साढे चार कुण्डलिया मारे हुए नाग। छोटा सा मुण्ड और गंगा का प्रतिबिम्ब और ऊपर चौथ का चन्द्रमा। शरीर के आधे भाग पर व्याघ्र चम। (अ० ६०, पृ० ४१५)

स० सा । द० की० म० । सौ० । । इ० । सौ० वा० । ध्या० ।

२८ भूकम्प वणन

सारी छावनी म वहाँ लौट पौट मची हुई थी। हाथी थानो पर से साकलें तोड कर चिघाड रहे थे। घोडे बिलबिला रहे थे और आदमी तुडक-पुडक कर हाय तौबा मचा रह थे।

पहाडों से पत्थर टूट टूट कर टहन्हाते हुए लुढक रहे थ। पेड जडा से उखड उखड कर चर्राटे के साथ गिर रह थे। नदियों और सरोवरों के पानी म खलबली मच गई।

भूकम्प अपने प्रचण्ड वेग पर था। (अ० ६३, पृ० ४३८)

स्व० ग० च० । । । भ्रु० । । सौ० ।

२९ भूकम्प वणन

'मानसिंह मानमन्दिर स गूजरीमहल को आ रहा था। चन्द्रमा के धुधले प्रकाश म मान मन्दिर ऐसा प्रतीत हुआ जैस ध्यानमग्न हो।

उसी समय गरगराहट सुनाई पडी। दोनो सुनने लगे गूजरीमहल कापने लगा। वन्दनवार वाले द्वार झूमने लगे। ऊपर की सीधी ऊँची पहाडी के ऊपर सीधी दीवारें झूला सी झूलने लगा।

प्रलय आ रही है'—मानसिंह क मुह से निकला। वे दोनों एक दूसरे से उलझे हुए गिर पडे। मानसिंह की आँखें मिच गई। मृगनयनी की खुली थीं। दृष्टि स्थिर। ओठ सटे हुए। मुट्ठियाँ कसी हुई। " भगवान की मुस्कान का ध्यान करिये ' (अ० ६३ पृ० ४,६ ४०)

अ० स्व० नि० च० । । । । दा० ह० । सौ० ध्या० ।

३० दुग वणन (राई की गढी)

मानसिंह के उस तरफ मुडते ही सिकन्दर ने अपने की टुकडी को, राई गढ म घेर लिया। गढी ऊँची पहाडी की चोटी पर थी। उसके दोनों ओर गहरी खोहें थीं। पूर्व की ओर गाँव और, सान नदी का तरफ गहरी ऊँचाई थी। दक्षिण, उत्तर

और पूव इस प्रकार सुरक्षित थे, परन्तु पश्चिम की दिशा म गढी के नीचे भूमि बहुत नीची न थी। उसने यही दृढता के साथ सामना करने का निश्चय किया।

(अ० ६६ पृ० ४५४) वि० । । । । । - ।

३१ दुग वणन (राई गढी)

'गढी म इस ठिये के नीचे एक बडा पेड था। जिसकी गुम्मट और शाखें ऊपर तक आई थी। इसकी छाया म व विमान पहरा देत देते मा उठे थे। लाखी उत्सुकता के साथ बठ गइ। थोडी देर बठी रह कर वह खडी हो गई। कगूरो के झरोखो म होकर नीचे की ओर देखा। अतुल अन्धकार। निबिड वन का कोई भी अश नही दिखलाई पड रहा था। ऊपर तारे छिटके हुए थे। दूर की पहाडियाँ लम्बी ताने सोती सी जान पडती थी। टेढी तिरछी बहती हुई साक नदी की पतली रेखा, जरूर झाई सी मार रही थी। दूरी पर घेरा डालने वालो के डेर की आग सुलग-सुलग कर राई गढी के सकट को जगा जगा दे रही थी। वसे राई की डाग म नाहर इत्यादि जगली जानवर रात मे प्राय बोला करते थे, परन्तु आक्रमणकारियो की रोशरोशी के मारे वे बहुत दूर खिसक गए थे। सिवाय झींगुरो की चीची के और कुछ नही सुनाई पडता था। सुनसान को छेदती हुई कभी-कभी गढी के भीतर जागते रहो जागते रहो'' की पुकारें, सुनाई पड जाती थी।

लाखी को उन शून्यवेधी पुकारो के ऊपर कगूरा के नीचे सघन अधकार के पट म, कुछ खरखराहट सुनाई पडी। दिखलाई तो कुछ पड नही रहा था।

(अ० ६७, पृ० ४६२)

सा० वि स्व० नि० । द० । दृ० प्र० ती० । - । । ली० ।

३२ पात्र वणन (मृगनयनी) (बा०)

मृगनयनी की अवस्था ढल रही थी। पर तु सौदय बढ रहा था। ऊपर का लावण्य स्थिर हो गया। भीतर का बढ्ता हुआ सौदय आखो म छा गया।

(अ० ७० पृ० ४७६) सा० । - । यु० । शृ० । । सौ० मा० औ० ।

सर्वोत्कृष्ट प्रतीकाङ्कित वर्णन चयन

(मानीकरण पद्धति का तृतीय स्तर)

वणना के उपयुक्त सूत्रात्मक अङ्कन द्वारा, यह ज्ञात हुआ कि वणन सख्या ६ ७, एव ८ अपनी कलात्मक विशिष्टताओ के कारण समग्र उपयास म, सर्वोत्कृष्ट है क्योकि उनके साकेतिक अक्षर चिह्नो की सख्या भी क्रमश २३ २२ तथा १८ है। अत इन तीनो वणनो को व्याख्यात्मक आलोचना के समुपयुक्त माना गया है।

व्याख्यात्मक आलोचना

(मानीकरण पद्धति का चतुर्थ स्तर)

'मृगनयनी' उपन्यास श्री वृन्दावनलाल वर्मा के समग्र उपन्यास साहित्य में उपन्यास-तत्त्व एवं उसके वर्णनात्मक कला पक्ष दोनों ही की दृष्टि से श्रेष्ठ है। उसमें भी कतिपय वर्णन, उपन्यास को विशेषतया साहित्यिक गरिमा प्रदान करते हैं। प्रायः उपन्यास के प्रारम्भ से ही श्री वर्माजी ने अपनी उक्त विशिष्ट प्रतिभा का परिचय दिया है। प्रथम बीस के लगभग पृष्ठों में (तीन अध्यायों में) श्री वर्माजी ने उपन्यास की प्रधान नायिका निन्नी के व्यक्तित्व को एवं जिस वातावरण में वह अनुपम व्यक्तित्व रूपायित हुआ है (था) उसको, अपनी कलाभिमुख वर्णन प्रतिभा द्वारा, पाठक के समक्ष सजीव एवं साक्षात् कर दिया है। ग्वालियर राज्य की भावी गूजरी रानी मृगनयनी समस्त राजवंश एवं राजपूतों में इसलिये लोककथाओं की नायिका बन पाई, क्योंकि उसका व्यक्तित्व प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में विकसित हुआ था।

निन्नी का व्यक्तित्व शाश्वत एवं अविनिश्वर ग्रामीण संस्कृति की ही एक इकाई था जो अकाल, महामारी, राज्य विप्लव की आंधियां गुजर जाने के बाद भी फिर बार बार लहलहा उठता है। वर्णन संख्या ५ में जिसकी आद्य भूमिका है उन्हीं राई नदी के तटवर्ती खेतों को निकटवर्ती वनान्तर से अभिन्न नाता है यह वर्णन संख्या ६ एवं ७ में अंकित है। प्रकृति वैभव लौकिक आधि व्याधियों से अछूता रहता है और वह मानव जाति से भी पुरातन है वह अजर अमर है।

वर्णन संख्या ६ में हमें उक्त दोनों ही शाश्वत इकाइयों के दर्शन होते हैं ग्रामीण संस्कृति एवं प्रकृति वैभव। इन दोनों के बीच जो नाम मात्र का अन्तर, सूर्य के तीव्र प्रकाश एवं दिन की मानवीय दौड़ धूप के कारण परिलक्षित भी होता है, उसे रात्रि का अन्धकार हर लेता है एवं चन्द्रमा की चांदनी का स्निग्ध प्रकाश एक समान चाँदी की चादर से, ढक लेता है। खेतों एवं वनान्तर की यह अखिल सृष्टि एक रूमानी एवं धूमिल छवि धारण कर लेती है। निन्नी के मन से थोड़ी ही दूर बहने वाली नदी की धारा पर चन्द्रमा की रिपटती हुई झिलमिल ऐसी जान पड़ती थी मानो चाँदी की चादरों के आवरों पर आवरण चिलचिला रहे हों ।

वर्णन संख्या ६ एवं ७ एक प्रकार से एक ही कलाकार की तूलिका द्वारा चित्रित एक ही वन प्रदेश की कुछ ही घंटों के अन्तराय में चित्रित दो चित्रपटियाँ हैं जिनमें से प्रत्येक का अपना अपना, निजी महत्त्व भी है एवं वर्णन कला के पारखी के लिये उन दोनों में, तुलनात्मक साम्य वैषम्य भी है। अब पहले वर्णन संख्या ६ में अंकित चित्रपटी पर दृष्टिक्षेप करें।

वर्णन की वर्ण्य वस्तु खेतों में लेकर पर्वत शिखर तक फैली हुई है। उसका क्रम इस भाँति है—खेत, नदी की धारा, निकटवर्ती जंगल, लम्बकाय वृक्षों की लम्बी दूर

तक चली जा रही पंक्ति, जो रह रह कर पवन के झकोरो से सनसना उठती है। उनकी गहन अंधेरी छाया म, सांभरो और चीतलो की त्रस्त दौड खरभराहट और कमी तीक्ष्ण और कमी मन्द पुकारें, और सबके पीछे ऊँची पवत माला।

उक्त चित्रात्मक, किन्तु सजीव वणन, रगा एव तूलिका की कृति मात्र ही नही है, वरन साथ ही वह गतिमान, शब्दायमान एव चलायमान नश प्रकृति के श्वास प्रश्वास से युक्त भी है। यही उपन्यासकार की चित्रकार पर निर्विवाद महत्ता है।

लेखक ने अपने इस दुष्कर कला सजन के लिये, विशिष्ट प्रतीकात्मक शब्दावली एव वाक्यावली का उपयोग किया है जिनके द्वारा वह अपने वणन को, यथार्थता के अतिरिक्त सप्राणता एव सजीवता प्रदान करने म भी समथ हुआ है—यथा चन्द्रमा की रिपटती हुई झिलमिल चांदी की चादरो के आवरा पर आवर लहरो की कलकल—शाखा पर नाचती खेलती हुई हरी पत्तियां पर ओसकण, चमक कर बिखर-बिखर जा रह थे, *वृक्षो के बडे बडे पल्लवो को खरमरा-खरमरा कर, पवन मानो किसी* दूर दश को चला जा रहा था, कमी सनसनाहट और कमी सडसडाहट, इन्ही ध्वनियो म होकर कमी तीक्ष्ण और कमी मन्द पुकारें।

उक्त शब्दावली एव वाक्यावली एक सागोपाग एव सर्वांगीण वणन की परिचायक है। रूप, रस, स्पश ध्वनि आदि विविध ज्ञान अनुभूतियो के प्रतीक शाब्दिक इगितो द्वारा लेखक, चाँदनी से प्रकाशित पहले प्रहरो म, रात्रिकालीन वनान्तर को, साक्षात प्रस्तुत करने म सफल हुआ है।

निकटवर्ती जगल के पवन किसी दूर दश को चला जा रहा था उक्त वाक्य म, लेखक ने अपनी दृश्यपटी को, सुदूर विस्तार प्रदान करने म सफलता पाई है। साथ ही वनान्तरगत शब्दायमानता के विविध पक्षो को पृथक पृथक लक्षित करने म भी लेखक को सफलता मिली है यथा— सनसनाहट शब्द से पेडो के शिखरो म होकर कोमल पत्तो को आदोलित करते हुए, वायु वेग का सूचित किया गया है तथा सडसडाहट द्वारा, अपेक्षाकृत कठोरता लिये हुए पत्तो टहनियो तथा ककरीली पगडंडियो पर दौडते हुए साभरो एव चीतलो आदि वन-जन्तुओ का चित्र समुपस्थित हो उठता है। इसी भांति कमी तीक्ष्ण और कभी मन्द पुकारो म वन जन्तुओ की निकटता और दूरी का अनुभव होता है। छोटी छोटी सी आडी-सीधी लहरें पहन पहन लेती थी।' से यह व्यक्त होता है कि उस समय तक, वनान्तर, स्तब्ध एव शान्त नही था और जल थल सभी म, चचलता एव आन्दोलन समुपस्थित था, जो वणन सख्या ७ की तुलना म प्रेक्षणीय है।

कला सृजन का एक मुख्य अभिप्राय यह है कि प्रेक्षक अथवा पाठक को उसके अतिसाधारण एव नमित्तिक व्यावहारिक जगत एव उसकी विविध विचिन्ताओ से हठात विलग करके अपने स्वकीय रस विश्व मे ले जाय, जो सदव आनन्द स्रोत एव रसात्मक बना रहता है। उक्त वणन द्वारा लेखक को इस अभिप्राय म पर्याप्त

सफलता मिली है। मसि एवं लेखनी के माध्यम द्वारा, एक अनुपम रोमानी सृष्टि का कलात्मक नवसृजन लेखक की रससिद्धता का परिचायक है। वह पाठकों की मनोगत कलापरक सूक्ष्म उद्भावनाओं को जागृत करने में समर्थ हुआ है जिनसे प्रेरित होकर, पाठक अपने निजी जीवन के तादृश पूर्वानुभवों के स्मृतिबिम्बों की सहायता से, लेखक द्वारा वाञ्छित वातावरण के, साक्षात दर्शन कर पाता है।

वर्णन संख्या ७ को वस्तुतः वर्णन संख्या ६ के सिलसिले में ही पढ़ा जाना उचित है। यद्यपि यहाँ पर भी लेखक ने वर्णन संख्या ६ में ही वर्णित रंग निशा, वन्य भूमि को ही, एक दूसरा किन्तु भिन्न दृश्यपट प्रस्तुत किया है, वहाँ उसने उसमें अपनी कलानुभूति की सूक्ष्मता द्वारा, कतिपय नवीन तत्वों रंगों तथा ध्वनियों का भी समावेश किया है। किन्तु इस दृश्यपट को चित्रित करने का मुख्य अभिप्राय कुछ और ही है जिसके कारण कि इस वर्णन का अपना निजी विशिष्ट महत्व है।

उक्त वर्णन रात्रि-कालीन वातावरण की स्तब्धावस्था का एक अनूठा शब्द चित्र है जो स्वयं वर्माजी के उपन्यासों में अन्यत्र दुर्लभ है। वर्णन संख्या ६ के समान नैशवन प्रकृति के सूचक वर्णन तो श्री वर्माजी, एवं अन्य उपन्यासकारों की कृतियों में भी मिल जाते हैं किन्तु जिन सूक्ष्म निरीक्षण एवं शब्दों तथा वाक्यों के ठीक नपे-तुले प्रयोग द्वारा, लेखक प्रस्तुत वर्णन में नैश प्रकृति की गहन गम्भीर स्तब्धता के क्षणों का बोध करने में समर्थ हुआ है वह मूल वर्णन के पाठ द्वारा ही यथातथ्य रूप में अनुभाव्य है।

लेखक ने, पवन के धीरे धीरे मन्द पड़ने की सूक्ष्म प्रक्रिया के उल्लेख द्वारा इस वर्णन का प्रारम्भ किया है। जिस धीमी धीमी गति से पवन मन्द पड़ता गया, उसी के अनुरूप नदी की लहरों के अवगुण्ठन भी छोटे पड़ते गए तथा भावरों पर भावरों वाली चाँदी की चादरें पवन के धीरे धीरे मन्द पड़ने से तनने लग गईं। तभी खेत के झूमने वाले पौधों की नर्तन गति हल्की पड़ती गई जब तक कि वह इतनी मन्द न हो गई कि वह निद्रावस्था निमग्न सी जान पड़ने लगी। वन के ऊँचे वृक्षों की खरखर ध्वनि भी, धीरे धीरे बन्द हो गई।

लेखक ने आगे चल कर जो दृश्य पट उपस्थित किया है उसके द्वारा शब्दों से उनके अतर अभिप्राय सिद्ध हुए हैं यथा दृश्यपट का विशाल विस्तार प्रदान करना, एवं वनस्पति एवं नैश प्रकृति की आत्मा की तन्द्रावस्था का व्यक्तीकरण। नदी की जलधारा भी वायु के थम जाने से तरंगायित नहीं रही अतएव अब वह, झिलमिलाना बन्द करके, मानो एक दूर तक बिछाए हुए चाँदी के गोटे की चौड़ी पट्टी जैसी दीख पड़ने लगी। यह रजत तार दृश्यपट की अग्रभूमि में खेंची गई है और उसके पीछे छोटी छोटी पहाड़ियाँ और टकरियाँ आलेखित की गई हैं और उन सभी के पीछे एक ऊँचा पर्वत शिखर उनींदा सा क्षितिज की सीप सीमा बना रहा है। क्षितिज के ऊपर रात्रि के ढलते हुए प्रहरों के चाँद (जिसकी दूरी अस्ताभिमुख होने के कारण, शिखर से कम होती जाती है) को देखकर ऐसा जान पड़ता है मानो

वह पवत शृग अपने घूमिल नेत्रो में उसकी ज्योत्स्ना को, भर लेना चाहता है । शिखर की निद्रित अवस्था को सूचित करने के लिय उस 'धुएँ का स्थिर पुञ्ज सा' बताया गया है । इस ऊँची पहाडी के भी पार आग एक उससे भी ऊँचा पहाड गगन मे सिर ऊचा किए खडा है जो चाद को अपनी ओर बुलाता सा जान पडता है ।

मानो वन प्रकृति की उक्त नैश स्त घना का दृश्यपटीकृत करन स लखक को सताष नही हुआ, अतएव उस रात्रि की स्तब्धता को और अधिक गहराई देने के लिय, अपने वण पात्र और तूलिका को रख कर, नाद का आश्रय लना पडा । इस अभिप्राय से अब उस पछी की रह रह कर टी टी चीं चीं का सहारा लेना पडा । पर फिर भी, 'न तो चादनी ही विचलित हो रही थी और न पवन के ऊँचे शिखर का ध्यान हो ।'

इतना सब कर लेने के पश्चात लेखक का ध्यान अपन उपन्यास की नायिका निन्नी पर गया, जो मचान पर बैठी हुई अपन खेत की रखवाली करन के लिय जाग रही थी । मानो इस समग्र प्रकृति की महानिद्रा के दृश्य न उसे इतना मन मुग्ध कर दिया था कि उसकी नीद न जान कहाँ उड गई थी ' और वह उस जागरण म भी एक अनिवचनीय आनन्द का अनुभव कर रही थी । वस्तुत वणनात्मक-कला द्वारा रस सिद्धि का, यही चरमस्थल है, जिसका कि लेखक ने आग चल कर नि नी के मुख से ही उस प्रसिद्ध लोकगीत की टेक गवा कर व्यक्त कराया है जो उस क्षण मे, उसके अन्तमन म सहसा ही गूज उठी थी ।

नि नी की मन्त्र मुग्ध दृष्टि कभी अपन खेत की ऊँघती हुई बाला पर जाती था कभी नदी के रजत रिबन पर कभी दूरवर्ती धूमिल पहाड पर, और कभी निकट-वर्ती पहाड के शिखर पर ।

उक्त वणन सख्या ६ एव वणन सख्या ७ के वणन युगल मे उठाई गई प्रहेलिकाओ के गूढ अथ का, लखक न वणन सख्या ८ द्वारा सुलझाया है जब कि निन्नी न अपन जीवन के उस चिरस्मरणीय जागरण क्षण म पाए हुए वनान्तर प्रकृति क उस मनमुग्धकारी स्तब्ध एव भययुक्त आसक्ति (भक्ति) जगान वाले दशन को, चिरस्थायी बनान की सवप्रथम अभिलाषा की थी । आग चल कर वही, उपन्यास के चरम सामास्थल गूजरी महल के रूप म साक्षात हो पाया ।

उक्त वणन, उपन्यासगत सघनात्मक वणना म, अपना विशिष्ट महत्व रखते हैं । बहुत अशा म व नदी, वन, पवत व रात्रि-कालीन वातावरण को साक्षात करने म सफल हुए हैं ।

वस्तु वणन की आयोजना की दृष्टि स हम इस चित्रात्मक वणन कह सकत हैं किन्तु चित्रात्मकता का मना इस भाँति क वणना का, सम्पूण रूप स समावश नहीं कर पाता । वणन म चित्रात्मकता के साथ ही साथ रूप तत्व ध्वनि-ध्वनि, नाद, रस, तत्वा के प्रतीकात्मक शब्दो एव वाक्यो द्वारा लखक न समग्र वनान्तर-वातावरण, को हा सजीवता प्रदान कर दी है ।

सफलता मिली है। मसि एवं लेखनी के माध्यम द्वारा, एक अनुपम रोमानी सृष्टि का कलात्मक नवसर्जन, लेखक की रससिद्धता का परिचायक है। वह पाठक की मनोगत कलापरक सूक्ष्म उद्भावनाओं को जाग्रत करने में समर्थ हुआ है जिनसे प्रेरित होकर, पाठक अपने निजी जीवन के तादृश पूर्वानुभवों के स्मृतिविकास की सहायता से, लेखक द्वारा वांछित वातावरण में साक्षात दर्शन कर पाता है।

वर्णन संख्या ७ को वस्तुतः वर्णन संख्या ६ के सिलसिले में ही पढ़ा जाना उचित है। यद्यपि जहां तक और लेखक ने वर्णन संख्या ६ में ही वर्णित एवं चित्रित, वर्ण्य भूमि का ही एक दूसरा किन्तु भिन्न दृश्यपट प्रस्तुत किया है वहाँ उसने उसमें अपनी कलानुभूति की सूक्ष्मता द्वारा कतिपय नवीन तत्वों रंगों एवं ध्वनियों का भी समावेश किया है। किन्तु इस दृश्यपट को चित्रित करने का मुख्य अभिप्राय, कुछ और ही है जिसके कारण कि इस वर्णन का अपना निजी विशिष्ट महत्व है।

उक्त वर्णन, रात्रि-कालीन वन्य प्रकृति की सुप्तावस्था का एक अनूठा शब्द चित्र है जो स्वयं वर्माजी के उपन्यासों में अन्यत्र दुर्लभ है। वर्णन संख्या ६ के समान नशवर प्रकृति के सूचक वर्णन तो श्री वर्माजी एवं अन्य उपन्यासकारों की कृतियों में भी मिल जाते हैं किन्तु जिस सूक्ष्म निरीक्षण एवं शब्दों एवं वाक्यों के ठीक नपे-तुले प्रयोग द्वारा, लेखक प्रस्तुत वर्णन में नश प्रकृति की गहन गम्भीर स्तब्धता के क्षणों को बांध सकने में समर्थ हुआ है वह मूल वर्णन के पाठ द्वारा ही यथातथ्य रूप में अनुमान्य है।

लेखक ने, पवन के धीरे धीरे मन्द पड़ने की सूक्ष्म प्रक्रिया के उल्लेख द्वारा इस वर्णन का प्रारम्भ किया है। जिस धीमी धीमी गति से पवन मन्द पड़ता गया, उसी के अनुरूप नदी की लहरों के अवगुण्ठन भी छोटे पड़ते गए तथा आवरों पर आवरों वाली चांदी की चादरें पवन के धीरे धीरे मन्द पड़ने से तनने लग गई। तभी खेत के झूमने वाले पौधों की नर्तन गति हलकी पड़ती गई जब तक कि वह इतनी मन्द न हो गई कि वह निद्रावस्था निमग्न सी जान पड़ने लगी। वन के ऊंचे वृक्षों की खरखर ध्वनि भी, धीरे धीरे बन्द हो गई।

लेखक ने आगे चल कर जो दृश्य पट उपस्थित किया है उसके द्वारा सम्भवतः लेखक के अनेक अभिप्राय सिद्ध हुए हैं यथा दृश्यपट का विशाल विस्तार प्रदान करना एवं वनस्पति एवं नश प्रकृति की आत्मा की तन्द्रावस्था का व्यक्तीकरण। नदी की जलधारा भी वायु के थम जाने से तरंगायित नहीं रही अतएव अब वह झिलमिलाना बन्द करके मानो पत्र दूर तक बिछाए हुए चांदी के गोटे की चौडी पट्टी जैसा दीख पड़ने लगी। यह रजत लहर, दृश्यपट की अग्रभूमि में खेंची गई है और उसके पीछे छोटी छोटी पहाड़ियां और टौरियां आलक्षित की गई है और उन सभी के पीछे एक ऊंचा पर्वत शिखर उनींदा सा क्षितिज की सीप सीमा बना रहा है। क्षितिज के ऊपर रात्रि के ढलते हुए प्रहरों के चांद (जिसकी दूरी अस्ताभिमुख होने के कारण शिखर से कम होती जाती है) को देखकर ऐसा जान पड़ता है मानो

वह पवत शृग अपने धूमिल नेत्रा में उसकी ज्योत्स्ना को भर लेना चाहता है । शिखर की निद्रित अवस्था को सूचित करने के लिये उसे धुएँ का स्थिर पुञ्ज सा बताया गया है । इस ऊची पहाडी से भी और आग एव उससे भी ऊँचा पहाड गगन म सिर ऊचा किए खड़ा है जो चाद को अपनी ओर बुलाता सा जान पडता है ।

मानो वन प्रकृति की उक्त नश स्तब्धता को दृश्यपटीकृत करने स लखक को सताप नहीं हुआ अतएव उसे रात्रि की स्तब्धता का और अधिक गहराई देने के लिये अपने वण पात्र और तूलिका का रख कर नाद का आश्रय लेना पडा । इस अभिप्राय से अब उसे पपीहे की रह रह कर टी टी ची ची का सहारा लेना पडा । पर फिर भी, न तो चादनी ही विचलित हो रही थी और न पवन के ऊँचे शिखर का ध्यान ही ।

इतना सब कर लेने क पश्चात लेखक का ध्यान अपन उपन्यास की नायिका निन्नी पर गया, जो मचान पर बठी हुई अपन खेत की रखवाली करने के लिये जाग रही थी । माना इस समग्र प्रकृति की महानिद्रा क दृश्य न उस इतना मन मुग्ध कर दिया था कि उसकी नीद न जान कहा उड गई थी ' और वह उस जागरण म भी एक अनिवचनीय आनन्द का अनुभव कर रही थी । वस्तुत वणनात्मक कला द्वारा रस सिद्धि का यही चरमस्थल ह, जिसका कि लखकने आगे चल कर निन्नी के मुख से हा एक प्रसिद्ध लाकगीत की टक गवा कर व्यक्त कराया है जो उस क्षण म, उसके अन्तमन म सहसा ही गूज उठी थी ।

निन्नी की मन्र मुग्ध दृष्टि कभी अपन खेत की ऊँघती हुई बालों पर जाती थी, कभी नदी के रजत रिबन पर कभी दूरवर्ती धूमिल पहाड पर, और कभी निकट-वर्ती पहाड के शिखर पर ।

उक्त वणन सख्या ६ एव वणन सख्या ७ के वणन युगल से उठाई गई प्रहेलिकाओ के गूढ़ अथ का, लखक न वणन सख्या ८ द्वारा सुलझाया है, जब कि निन्नी न अपन जीवन के उस चिरस्मरणीय जागरण क्षण म पाए हुए वनान्तर प्रकृति क उक्त मनमुग्धकारी स्तब्ध एव भययुक्त आसक्ति (भक्ति) जगान वाले दृश्य को चिरस्थायी बनाने की, सवप्रथम अभिलाषा की थी । आगे चल कर वही उपन्यास क चरम सामास्थल, गूजरी महल के रूप म, साक्षात हो पाया ।

उक्त वणन उपन्यासगत मर्मात्मक वणना म, अपना विशिष्ट महत्व रखते हैं, बहुत अशा म व नदी वन पवन व रात्रि-कालीन वातावरण का साक्षात्कार ... सम्पन्न हुए हैं ।

वस्तु-वणन की आयोजना की दृष्टि स हम इस भिन्ना मत ... है किन्तु चित्रात्मकता की गणना इस भाँति क वणना का ... नहीं कर पाती । वणन म चित्रात्मकता के साथ ही साथ ... स्पष्ट, तत्वा क प्रतीकात्मकता एव वाक्यों द्वारा सगठन समग्र ... को ही सजीवना प्रदान कर रही है ।

वर्णन में प्रयुक्त निम्न शब्द एवं वाक्य वांछित प्रभाव उत्पन्न करने में सफल हुए—भिलमिल, आवरे पर आवरे, तरावल, थरथराना, सनसनाहट, खड़खड़ाहट आदि, चाँदी की चादरें आवरों पर आवरे। चन्द्रमा की रिपटती हुई झिलमिल जान पड़ती थी, मानो चाँदी की चादरों के आवरों पर आवरे, खिलखिला रहे हों" 'छोटी छोटी आड़ी सीधी लहरें उठ इन आवरों को पकड़ लेती थी।' लहरों की कलकल झोंकों पर नाचती खेलती हुई *अधपकी बालों को अपनी कोमल अँगुलियों से हिला* सा रही थी। पवन मानो किसी दूर देश को चला जा रहा था आदि।

अक्षर मात्रतिक सूत्र नालिका की उपयुक्त व्यावहारिक मानीकरण पद्धति की विविध प्रायोगिक प्रक्रियाओं को यहाँ केवल एक श्रेष्ठ हिन्दी उपन्यास मृगनयनी को आधार बना कर समझाया गया है। प्रस्तुत अध्याय की परिसीमाओं का ध्यान रखते हुए यह सम्भाव्य नहीं है कि हिन्दी के अनेकानेक अन्य श्रेष्ठ उपन्यासों से कुछ विशिष्ट चुने हुए वर्णनों की भी उपर्युक्त पद्धति द्वारा व्यावहारिक परीक्षा की जाये। अतः इसी अध्याय के अन्त में एक पृथक परिशिष्ट में कुछ सप्रात्मक तथा कला वैभव समृद्ध वर्णनों की मात्राकरण समीक्षा दी जा रही है। ये वर्णन प्रेमचन्द काल (सन १६०४ ई०—१६३६ ई०) तथा प्रेमचन्दोत्तर काल (सन १६३७—सन १६६७ ई०) दोनों ही में रचे गये कुछ श्रेष्ठ हिन्दी उपन्यासों से चुने गये हैं। और वे पर्याप्त अंशों में हिन्दी उपन्यास के वर्णनकलागत रमणीयता के द्योतक हैं। इनमें से कोई भी वर्णन ऐसा नहीं है जिसे प्रस्तुत ग्रन्थ में अन्यत्र उद्धृत किया गया हो।

अध्याय ३ का परिशिष्ट

उपन्यास संख्या १, वर्णन संख्या १

मेह बरस कर आकाश स्वच्छ हो गया। दोपहर के ढल जाने से घाम पीली पड़ने लगी है। आकाश में अब बादल का एक टुकड़ा भी नहीं रहा है। हरे हरे पेड़ों पर पीली-पीली धूप पड़ कर एक नये प्रकार के रंग की परछाई डाल रही है। घास पात और लता पौधों से भूमि हरी होकर हरी मखमल का फर्श सा बिछा हुआ मालूम होता है। हरियाली फर्श पर जंगली बेलों के रंग बिरंगे पुष्प, ऐसे मालूम होते हैं रेशमी फूल, जगह जगह कढ़े हुए हों। परम वन्दनीया, श्रीकृष्णप्रिया, भगवती यमुना में, भयङ्कर बाढ़ आ रही है यमुनाजी की तरल धारा से, किनारे के करार, कट कट कर जल में गिरते और न जाने, एक ही क्षण में कहां चले जा रहे हैं। यमुना-तट के बड़े बड़े वृक्ष टूट टूट कर "अ ड ड ड ड ड न ड" शब्द करते हुए, प्रवाह की शरण ले रहे हैं। मगर और घड़ियाल बार बार, बहती हुई यमुना में सिर उठा कर, इधर उधर का दृश्य देखने के बाद, गोता लगाते और फिर बाहर निकल आते हैं। जल पक्षी यमुनाजी में तैरने की उत्कट इच्छा होने पर भी प्रवाह का वेग देख कर किनारे पर बैठे बैठे टकटकी लगा रहे हैं। पाडुब पक्षी इस आशा में पेड़ पर बैठे हैं कि, थोड़ी देर में जल का तरल शक्ति शान्त हो, तो हम मछली मारने का अवसर मिले। इसी उद्देश्य से बगुला भगत किनारे पर एक एक टांग पर खड़े-खड़े तपस्या कर रहे हैं। पेड़ों पर बैठे हुए मोरों ने "म्याओ-म्याओ" की सुहावनी मीठी आलाप लगा कर उन जीवों को डराने पर कमर बांधी है जो पानी उतरने की राह देख रहे हैं।'[1]

(बाढ़-वर्णन) (प्रा०)

व०—मा० रा स्व० ग० च०। कृ०—द० नी०। श०—आ० हि० प्र० श०। रस—भु०। त्ति०—आ। नु० चा०।

२२ 'सूर्य भगवान अस्त होने के लिये उतावले कर रहे हैं और अपनी लालिमा को अपने स्थान पर छोड़ जाने की इच्छा करते हैं परन्तु नहीं वह लालिमा,

---

१ आदर्श दम्पत्ति (पं० लज्जाराम शर्मा मेहता) प्रथम प्रकाशन १९०४ ई०। पं० खेमराज श्रीकृष्णदास बम्बई। अध्याय २६ पृष्ठ १२८-१२९

जो सध्या होने से कुछ पहले ही उनकी सेवा में उपस्थित होती है उसका अनुकरण कर रही है और साथ छोड़ना नहीं चाहती। इस समय ...की उस तिलिस्मी घाटी की कुछ विचित्र ही शोभा हो रही है। पहाड़ी की चोटी पर लालिमा की एक सुनहरी लकीर इस प्रकार की खिंच गई है, मानो सूर्य भगवान ने इस चार पहाड़ को सोने का यज्ञोपवीत पहिरा दिया है जिसे देख चारों तरफ के गुलबूटे बहुत ही प्रसन्न हो रहे हैं।[1] (स न्ध्या-वर्णन) (प्रा०)

व०—अ० म । पृ०—छ० की० । श०—आ० दृ० वर्ण० । रस—भु० ।

३ ३ चमकता हुआ सूरज पश्चिम और आकाश में, धीरे धीरे डूब रहा है। धीरे ही धीरे उसका चमकीला उजला रंग लाल हो रहा है। नील आकाश में हलके लाल बादल चारों ओर छूट रहे हैं। और पहाड़ की ऊँची उजली चोटियों पर एक फीकी लाल, जोत सी फैल गई है। जो घर की मुँडेरों के ऊपर उठती हुई धूप को पकड़ कर, किसी ने लाल रंग में रंग दिया है तो पेड़ों की हरी हरी पत्तियों पर भी लाली की वह झलक है जो देखने से काम रखती है। लाल फूलों का लाल रंग, ही औसर पाकर चटकीला नहीं हो गया। पीले ... और नीले फूलों, में भी ललाई की छींटसी पड़ गई है। ... की हरी हरी दूबा, नदी, तालाब पोखरों की उठती हुई ... छोटी लहरों वेलबूटों और झाड़ियों की गोद में छिपी हुई एक एक पत्तियों तक में ललाई अपना रंग दिखला रही है। जान पड़ता है सारे जग पर एक हलकी लाल चाँदनी सी तन गई है।[2] (सन्ध्या-वर्णन) (प्रा०)

व०—सा० स । पृ०—उ० द० की० म० । श०—आ० यु० दृ० प्र० श० प० ती० प्र० नि० । रस—भु० । लि०—ना० ह० । गु०—सी० चा० मा० मु० ।

४४ भागीरथी के निर्मल जल पर प्रभात का शीतल पवन बालकों के समान खेल रहा था—छोटी छोटी लहरियां के घरौंदे बनते बिगड़ते थे। उस पार के वृक्षों की श्रेणी के ऊपर एक भारी चमकीला और पीला बिम्ब था। रेत में उसकी पीली छाया सुनहला रंग उड़ते हुए पक्षियों के झुण्ड से आक्रान्त हो जाता था। (यमुना बजरे की खिड़की में से एकटक इस दृश्य को देख रही थी। और छत पर से मंगलदेव उसकी लम्बी उँगलियों से धारा का कटना देख रहा था।) बजरा धारा पर बह रहा था। प्रकृति चितेरी संसार का नया चित्र बनाने के लिये गंगा के ईषत नील जल में सफेदा मिला रही थी। धूप कड़ी हो चली थी।

---

१ 'भूतनाथ भाग १ (श्री देवकीनन्दन खत्री) प्रथम प्रकाशन १९०६ ई०। छठवाँ हिस्सा, ग्यारहवाँ बयान पृ० ७७ (लहरी बुक डिपो, बनारस)।

२ अधखिला फूल' (श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध) सातवीं पखड़ी—पृष्ठ ७७ ७८ प्रथम प्रकाशन १९०७ ई०। प्र० खड्गविलास प्रेस, बाकीपुर, पटना।

गगा की विस्तृत जलधारा के ऊपर सूय की उज्ज्वल किरणा का
विम्ब जैसे रात ने तारा की पुत जली जाह्नवी के शीतल वक्ष पर
ी ने बिखेर दी हो।

पीछे निजन बालू का द्वीप और सामने दूर पर नगर की सौध श्रेणी, यमुना
आँखा मे निश्चेप्ट कुतूहल का कारण बन गई।' (गगा वणन) (प्रा०)

व०—अ० वि० रा म० । दृ०—कौ० । शै०—प्र० आ० । तिं० दा० ।
मा० ।

५५ "रात्रि म यहाँ खडे होकर चारों ओर देखने से, नीचे से ऊपर, अधिक
र, बहुत बडी ऊँचाई तक आपको प्रकाश दिखाई पडेगा । मालुम होगा कि आप
ी पर खडे है और अनेक ग्रहो के निवासी अपने अपने लोक मे प्रकाश कर रहे
बात यह है कि पहाड पर जहा जिसको मौका मिला कोठियाँ बना ली
। पवत की गोद मे छुपे हुए ये छोटे छोटे भवन आपके बडे बडे महलो से
छे लगते हैं धूप निकली हुई है लेकिन अचानक बादल घिर जाते हैं। मद-
फुहारें बरस कर चल देते है। नैनीताल म नौकाएँ नाच रही हैं और
मोद पूण युवक युवती हँसते खेलते चले जाते हैं।"[1]

नैनीताल (प्रा०) (विहगम दृश्य)

व०—अ० । दृ०—कौ० । श०—आ० ए० । रस—भू० । गु०—सौ० चा०
० मु० ।

६६ 'गगातट व दूब के घडाके से मुखरित हो गया । वज्जो कुतूहल से झोपडी
बाहर चली आई। वहाँ एक घिरा हुआ मदान था। कई बीघा की समतल भूमि
मके चारा ओर, दस लट्ठे की चौडी, झाडियो की दीवार थी जिसम कितने ही सिरिस
आ, नीम और जामुन के वृक्ष थे—जिन पर घुघची सतावर और करञ्ज इत्यादि
लतरें झूल रही थी। नीचे की भूमि म सरस के चौडे चौडे पत्तो की हरियाली
। बीच बीच म कनेर न भी अपनी बँगाली डालो को इन्हीं सबो से उलझा
या था।

'वह एक सघन झुरमुट था जिसे बाहर से देख कर यह अनुमान करना कठिन
, कि इसमें भीतर इतना लम्बा चौडा समतल मदान हो सकता है।

देहात के सुदूर आकाश म, थ धकार धीरे धीरे फल रहा था। अभी सूय
अस्तकालीन लालिमा आकाश के उच्च प्रदेश म स्थित पतले बादलो म गुलाबी
आभा दे रही थी।

'कंकाल' (जयशकर प्रसाद) प्र० प्र० १६१६ ई०। खण्ड १ अध्याय ७,
पृ० ८७ ८८। भारती भण्डार प्रयाग।

[1] 'कल्याणी (मदन द्विवेदी गजपुरी) प्रथम प्रकाशन १६२० ई०। अध्याय १४,
पृ० २१६। प्रकाशक सरस्वती ग्रन्थमाला कार्यालय, बेलनगज, आगरा।

["बन्दूक की शब्द सुन कर बाहर तो आई, परन्तु वह एकटक उसी गुलाबी आकाश को देखने लगा।] काली रेखाओं से भयभीत क्रौंचकुल पक्षियों की पंक्तियाँ करररर—कर करती हुई सन्ध्या की उस शांत चित्रपटी के अनुराग पर कालिमा फेरने लगी थी।[1]
सध्या वर्णन (प्रा०)

व०—स स्व० ग०। कृ०—छ० द०। शै०—इ० प्र० प० ती०। रस—मु०। सि०—दा०। नु०—सौ० चा० मा० मु०।

७७ गंगा के उत्तर-तट पर दारागञ्ज महानगर धवल धामों के मयूख दल वाले विशाल पुष्प जैसा खिला हुआ है। ऊपर वसन्त की दिगन्त व्यापिनी ज्योत्स्ना प्लावित हो रही है—वमन के समय साक्षात लक्ष्मी की स्नेह दृष्टि जैसी। माता की गोद पर शिशु जैसा शहर सुख की मृदुल छाँह में बाहें खोले ऊर्ध्व दृग हो रहा है। कल कल हासिनी स्वच्छ जल वाहिनी जाह्नवी एक ध्वनि के अनेक अर्थों की ओर इंगित करती हुई, तरंगित हो रही है। इस अर्थ गौरव को न समझने वाले साधारण पुरुषों के चरणों पर चढ़ी पुष्पाञ्जलि से जैसे अनेक घाट युक्त हो रहे हैं। अनेक भावों से लुब्ध जीवन प्रवाह में ऐसी ही बहती रहने की मधुर इच्छा लिये हिलते हल्के हृदय वाली बालिकाएँ घी के दीपक जला जलाकर गंगा वक्ष पर प्रवाहित कर रही हैं। नगर के अगणित मन्दिरों से सान्ध्य आरती के मृदंग मुरज मञ्जीरादिकों का रव दूर प्रान्त तक के हृदय को ध्वनित कर रहा है। व्यवसाय देव दर्शन और स्वास्थ्य लाभादि अनेक कारणों से आये हुए आरोहियों को लिये, नावें सध्या की इस अपार शांति में लीन हैं। पश्चिम ओर विशाल दुर्ग नगर की रक्षा का भार लिये सक्षम सेनापति जैसा खड़ा है। वहां से दूर तक फैली गंगा की विपुल नील श्यामा पार्थिव ऐश्वर्य के प्रिय जड़ जाल से जैसे चिरकाल के लिए प्राणों को बाँध लेती है।[2]
गंगातट वर्णन (प्रा० न०)

व०—स० सा० स्व० ग० च०। कृ०—व्य० छ० वि० की। श०—आ० इ० प्र० श० ती०। सि०—भा० ह०। नु०—सौ० चा० मा० मु०।

८८ इरावती विल्ला कर पीछे हटी गिरी और मूर्छित हो गई।

ठीक उसी समय क्या है? कहती हुई कालिन्दी वहां आ कर खड़ी हो गई।

कालिन्दी के चरणों में अलक्तक और नूपुर—राग और संगीत बिखेर रहे थे। काशी का बना स्वर्ण तारों से खचित, नीला लहंगा जिसके ऊपर मेखला की

---

१ 'तितली' (श्री जयशंकर प्रसाद) प्रथम प्रकाशन १९३३ ई० खण्ड १ परिच्छेद१, पृ० १० भारती भण्डार प्रयाग।

२ प्रभावती (सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला) प्रथम प्रकाशन १९३६, अध्याय २, पृ० १५ १७। प्र० किताब महल प्रयाग।

सतलडी विशृखल हो रही थी। मणिजटित, कचुक पटट उभरे हुए वक्षस्थल पर, पीछे बधा था। मरकत का हार अपनी हरियाली की छाया, उस कम्बु कण्ठ पर डाल रहा था जिसके दोनो ओर दो बडे बडे मोती लटक रहे थे। अधरा पर ताम्बूल राग खिला पडता था। अपाग मे नीलाजन की रेखा घुघराली वेणी के ऊपर एक महीन उत्तरीय! एक हाथ म कुसुमस्तवक दूसरा कुज के द्वार पर। मादन चित्र! सम्राट जसे अप्रतिम हो रहे थे। "यह रूप! मेरे ही अतपुर म।'

कालिन्दी की दुबल काया, उसके लावण्य मे वृद्धि कर रही थी। वदूय के कक्ण स किरणें निकल रही थी। कालिदी अपने नील वसन म आकाश मे चादनी सी खिल रही थी। विच्छित्तिपूण शृगार, कला की सृष्टि कर रहा था।"[1]

(साज सज्जा) (रूप वणन) (श०)

व०—सा स। वृ०—छ० द०। श०—आ० प्र० प० पग०। रस०—शृ०। ति उ०। मु० सौ० चा० ओ० मु०।

६६ सन्ध्या होने लगी—पथ पर दोनो ओर लग वृक्षो की लम्बी लम्बी छायाएँ पड रही थीं। जब समुद्र का गम्भीर नाद सुन पडने लगा तब सध्या हो चुकी थी और आकाश मे लालिमा अधिक घनी होकर ज्योतिहीन होन लगी थी।

थोडी देर म तट परपहुँच कर एक चट्टानकी आड म समतल रेत पर बैठ कर लहरा की ओर देखने लग। देखते देखते आकाश मे सन्ध्या का अन्तिम प्रकाश भी बुझ गया।

पवन के निश्चल होने पर भी समुद्र मे एक गहरा असन्तोष सा था। फेनिल लहरें दूर म भागी हुई नहीं आ रही थी। लेकिन दूर फेनहीन हलचल थी। और तट के पास पास निरन्तर फेन का असे कराह उबल रहा था, फुफकार रहा था घट रहा था और जाने कहाँ से वह विशाल गम्भीर घोष सा हो रहा था लहरा के स्वर से अधिक भारी घोर।

उस दिन पूर्णिमा थी और समुद्र के पार पूव म चन्द्रोदय होने वाला था। उसकी अगुवानी करने को एक अकेला बादल, चारा ओर एक चाँदी की झालर से विभूषित, क्षितिज पर खडा था और उसके पीछे शीघ्र प्रकट होने वाली किसी अभूतपूव सौन्दय राशि की आभा जाग फूटी पडती थी।[2] (सागर वणन) (प्रा)

व०—म० सा० स स्व० ग० च०। कृ०—य० छ० अ० म०। शै—यु० दृ० प्र० तो० प्रनि०। रस०—भु०। ति०—ना० हृ०। नु०—सौ० चा० भा० मु०।

---

१ इरावती (श्री जयशकर प्रसाद) प्रथम सस्करण १९३७ ई०। अध्याय ७ पृ० ७९ ८० भारती भण्डार प्रयाग।

२ शेखर एक जीवनी (श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय) प्रकाशन १९४० ई०, भाग १ पृ० २०७, प्र० सरस्वती प्रेस, बनारस।

१० १० पहर दिन चढ़े उस मनोरम वसंत के प्रभात में नीलपदम प्रासाद से देवी अम्बपाली की शोभायात्रा चली। उसका विमान, विविध वर्ण के फूलों से बनाया गया था। उस पर देवी अम्बपाली केवल अन्तर्वासक और उत्तरीय पहने, लज्जावनत बैठी निराभरण होने के कारण तारिकाहीन उषा की सुषमा धारण कर रही थी। वह फूलों के ढेर में, एक सजीव पुष्प गुच्छ सी प्रतीत हो रही थी, लज्जा और संकोच से जैसे उसकी आँखें, झुकी जा रही थीं। उसका मुँह रह रह कर लाल हो रहा था। उसकी सुडौल शुभ्र ग्रीवा, उज्ज्वल उन्नत वक्ष, और लहराते हुए चिक्कण कुन्तल उसमें गूथे हुए ताजे विविध रंग के कुसुम इन सब की शोभा अपार थी।

शोभायात्रा में आगे वाद्य बज रहे थे। उसके पीछे हाथियों पर ध्वज पताका और निशान थे। उसके पीछे उज्ज्वल परिधान पहने दासियाँ स्नान और पूजन की सामग्री लिए चल रही थीं। इनके पीछे अम्बपाली का कुसुम विमान था। उसे घेर कर वैशाली के सामन्तपुत्र और श्रेष्ठिपुत्र अम्बपाली पर पुष्प गन्ध की वर्षा करते चल रहे थे। नागरजन अपने-अपने मकानों से पुष्प गन्ध फेंक रहे थे। चारों ओर रंगीन पताकाएं ही पताकाएँ चमक रही थीं और सबके पीछे नागरिकजन चल रहे थे।[1] (शोभायात्रा वर्णन) (ना० वे० स०)

व० — स० सा० स ग० । दृ० — छ० द० । श — आ० प्र० प० पग० । रस० — शृ० । ति० — उ० । गु०—सौ० चा० और० गु०

११ ११ दूसरा दृश्य वह था जब हम देवदारु के वन में पहिले पहल प्रविष्ट हुए। वह दुनियाँ का सुन्दरतम वृक्ष है, इसमें सन्देह नहीं। प्रकृति लक्ष्मी का वह जयस्तम्भ है। उसकी सीधी सरल यष्टि, जिससे निकल कर, सामने की ओर फैले हुए, सहस्रों हाथ, हाथ भी कैसे क्रम से, नीचे से ऊपर की ओर छोटे और छोटे होते होते अन्त में वृक्षराज को सुन्दर शिखर का रूप देते हैं। उन चाहरित पत्तियों पर कभी पतझड़ का प्रभाव नहीं पड़ता। उनमें सदा वसंत ही बसा करती है। नीचे तो जान पड़ता है वन देवी ने परिमलवासित कम्बलों से, सारी अरण्यानी को सींच दिया है। शताब्दियों से उसके नीचे झड़ कर एकत्रित होते हुए सूचीपत्र, नीचे की भूमि को मृदुल शय्या का रूप देते हैं। इस भूमि में गाँव नहीं दिखलाई पड़े। कहीं कहीं एकाध घर मिले जो अधिकतर पशु पालों के जब तब ठहरने के स्थान थे।[2]

(देवदारु वर्णन) (प्रा०)

व०—सा० । दृ०—प० छ० द० को० । श०—आ० ट० प्र० । ति०—दा० ह० । गु० सौ० चा० मु० ।

---

१ वैशाली की नगरवधू (आचार्य चतुरसेन शास्त्री) पूर्वार्ध, अध्याय ४ पृष्ठ ३५-३६, —प्रकाशन तिथि १९४२ ई० अपर इण्डिया पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ।

२ जय यौधेय (श्री राहुल सांकृत्यायन) अध्याय ७ पृ० ९३ प्रथम प्रकाशन १९४४ ई०, किताब महल—इलाहाबाद।

[illegible] कहीं-कहीं [illegible] बादल, धूप से, [illegible] था कि [illegible] सागर से फेन [illegible] धूप में, [illegible] थी। [illegible] पाये, [illegible] मनोहर [illegible] पूरा [illegible], [illegible] एक ओर [illegible] पड़ता था, उसी वक्त बिजली का [illegible] [illegible] [illegible] पड़ता कभी [illegible] [illegible], [illegible] गया [illegible] [illegible] हैं। [illegible]

[illegible]

[illegible] थी। [illegible] [illegible] के साथ, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] मानी [illegible] गिरे पर [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] बनती [illegible] यह [illegible]

[illegible] (प्रा०) [illegible]

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] प्रथम [illegible]

दिग्मण्डल, वृद्ध रुरु मृग की रोमराजी के समान पाण्डुर हो उठा। हाथी के रक्त से रंजित सिंह के सटाभार की भाँति, किंवा लोहित वर्ण लाक्षारस के सूत्र के समान, सूर्य किरणें आकाश रूपी वनभूमि से, नक्षत्र रूपी फूलों को इस प्रकार झाड़ देने लगीं, मानो वे पद्मराग मणि की शलाकाओं से बनी, झाड़ू हो। तारिकाएं लुप्त होने लगीं। दो एक जो अब भी बच रही थी वे पश्चिमाकाश रूपी समुद्र-तट पर, सीपियों से उन्मुक्त मुख से बिखरे हुए मुक्ता पटल की भाँति, दिख रही थी। पूर्व की ओर, प्रकाश आविर्भूत होने लगा। धीरे धीरे शिशिर बिन्दु को वहन करता हुआ पद्म-वन को प्रकम्पित करता हुआ परिश्रान्त नगर रमणियों के घर्म बिन्दुओं को विलुप्त करता हुआ, वन्य महिषों के फेन बिन्दुओं से सिंचा हुआ, कम्पमान पल्लवों और लतासमूहों को नृत्य की शिक्षा देता हुआ प्रस्फुटित पद्मों का मधु बरसा कर पुष्प सौरभ से भ्रमरों को सन्तुष्ट करते मन्द मन्द सञ्चारित प्रभात वात बहने लगा।[1]

(प्रभात-वर्णन) (प्रा०)

व०—सा० स ग०। वृ०—न्य० छ० की०। शै०—आ० वृ० ती० पग०। ति०—दा० इ०। नु०—सौ० चा० मा० दि०।

१३ १५ शिविराओं से निकलते निकलते गोधूलि काल हो गया। विलम्ब का कारण मैं ही था। गंगा तट की नौका व्यवस्था देखे बिना मट्टिनी को वहाँ भेजना मुझे ठीक नहीं जचा। गंगातीर से जब मैं लौटा तो रवि क्षीण हो आया था। सूर्य मण्डल परिणत प्रियङ्गुमञ्जरी के केसर के समान पिंजरिमा से रंगा हुआ पश्चिम समुद्र की ओर लटक चुका था। अस्तकालीन धूप दिग्वधुओं के मुख पर पड़ी हुई एक ऐसी महीन चादर के समान दिख रही थी जो कुसुम रस की अविरल वर्षा से लाल और कोमल हो गई हो। आकाश की नीलिमा बहुत कुछ दूर हो गई थी और वह चकोर की नयन तारा के समान पिंगल वर्ण की कान्ति से विलिप्त हो चुका था। कोकिल के विलोचनों के समान वभ्रुवर्ण किरणें समस्त भुवनमण्डल को अरुणायित कर रही थी। अधिक प्रकाशयुक्त एकाध नक्षत्र पूर्व गगन में उन्मिषित होते से दिख रहे थे और सारा सन्ध्या मोहनवेश गैरिकधारिणी किसी भैरवी के समान चण्डी मण्डप में उतर रही थी।[2]

(सन्ध्या वर्णन) (प्रा०)

व०—सा० सा० स नि०। वृ०—न्य० छ० द० म०। शै०—आ० वृ० प्र० प० ती० प्रति०। ति०—न्या० इ०। नु०—सौ० चा० मा० दि०।

१४ १८ अभिजात पुरुष एवं कुलस्त्रियाँ, पर्व (मधुपर्व) के योग्य और अपने वर्ण के अनुकूल वस्त्राभूषण धारण किए थे। ब्राह्मण स्वर्ण के तार से मढ़े,

---

१ बाणभट्ट की आत्मकथा (हजारीप्रसाद द्विवेदी), प्रथम प्रकाशन १९४४ ई०। चतुर्थ उच्छवास पृ० ३७। हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई।

२ वही—षष्ठम उच्छवास, पृष्ठ ६८

लाल रेशम के उष्णीष से सिर के केशो को बाधे थे। उनके मस्तक और भुजा पर श्वेत चन्दन का खौर था। श्मश्रु मुडे हुए थे। उनके कण्ठ की मालाओ मे कृष्ण रुद्राक्ष शोभित थे। कन्धो से लहराते हुए उत्तरीय के नीचे स्पष्ट झलकती रेखा, कटि से नीचे, स्वच्छ अन्तर्वासक पर पीत यज्ञोपवीत के रूप मे प्रकट थी। स्वच्छ श्वेत नवसाक पदत्राण का स्पर्श कर रहे थे।

कुछ स्त्रियो के प्रसाधन और केश विन्यास मे विशेष लालित्य था। मुक्ता लड़ियो द्वारा, विविध प्रकार से गूथे हुए उनके केशो पर पुष्पो के अर्ध चन्द्र किरीट शोभायमान थे। अनेक वलयाये, झीने उत्तरीय के नीचे पीठ मेरुदण्ड पर कसे कञ्चुक वस्त्र, सम्मुख की ओर फलकर, सुविन्यस्त वर्तुलो से उभर आए थे मेखला बन्ध से उनके शाटक मयूरपुच्छ के रूप मे, पल कर आलक्त रंजित और आभूषणो मे वेष्टित चरणो के नीचे स्निग्ध आस्तरणो का स्पर्श कर रहे थे ।"[1]

(वेशभूषा साज सज्जा) (व० स०)

व०—सा० स। ष्ट०—द०। गै०—आ० व० प्र० श० प० पम०। रम—श्टृ०। गु०—सौ० चा० औ०।

१५१७ आसमान पर डरावनापन छाने लगा। चारो ओर भयानक खूनी रग दीख रहा था। जैसे आकाश मे सघन रक्त बूद बूद करके इकट्ठा हो गया हो। नगरवासियो ने घरो से निकलकर देखा। समझ नही सके यह क्या था। ऐसा तो पहले कभी नही हुआ।

स्त्रियो का हृदय भय से सहम गया। इसके बाद पीला अधेरा छा गया। आकाश की ललाई अपने आप पीलेपन मे बदल गई। जैसे जल पृथ्वी और आकाश एकदम डर गए थे। सिधु का गम्भीर जल भी एकदम कपिश दिखाई देने लगा। दूब पीला हो गया था। चावल पीले हो गए थे। क्या था जो एकदम पीला नही था।

मद्य की दूकान मे बठे विलासी भी डर गए थे। चचला की बडी बडी आँखों मे भी सफेदी के स्थान पर पीलापन छा गया था। उसकी पीली लीली आखें भयानक लग रही थी। और फिर हवा तेज होती जा रही थी। कभी कभी धूल सरसराती। दूर पेडो के हिलने का शब्द सुनाई देता और लगता अहेरी की भाति प्रभजन अपने किसी शिकार का वेग से पीछा करता भागता चला जा रहा है।[2]

(आधी वणन) (प्रा०)

व०—अ० म स्व० ग०। कु०—य०। श०—नी०। लि०—आ०। गु०—नि० ली०।

---

१ दिव्या (यशपाल) प्रथम प्रकाशन १९४५ ई०, पृ० ९–१०। विप्लव प्रकाशन लखनऊ।

२ 'मुर्दों का टीला' (रागेय राघव), प्रथम प्रकाशन १९४६ ई०, अध्याय १६, पृष्ठ ४१०। किताब महल इलाहाबाद।

१६.१८ चेरापूंजी [illegible] विचित्र स्थान जान पड़ा। आकाश ढँका रहता था, बादलों से और बादल ऐसे वैसे नहीं—घनघोर घटाएँ निरन्तर दौड़ने वाली, गरजनेवाली, चमकने वाली, बरसने वाली। ये बादल आकाश में ही नहीं पहाड़ों, वृक्षों, मकानों यहाँ तक कि चलते फिरते प्राणियों के सिरों पर भी छा जाते। दौड़ते फिरते ये बादल, पहाड़ों पर ही नहीं घरों तक में, [illegible] घुसे आते कमरों के अन्दर बरस कर वहाँ की सब वस्तुओं को भी गीला कर जाते। कभी-कभी घूमते हुए दम्पति के बीच में भी ये मेघ आ जाते और कुछ क्षण एक दूसरे से अदृश्य कर देते। [illegible] गरजन तो ये मेघ इस गम्भीरता से कि मालूम होता कि पत्थरों की वर्षा ही नहीं हो रही है पर पर्वतों के ऊँचे ऊँचे शिखर लुढ़काए जा रहे हैं। चपला की चमक, पल-पल पर नेत्रों को चकाचौंध कर उन्हें पलकों की शरण लेने को बाध्य करती है। [illegible] वर्षा भी निरन्तर होती रहती और वृष्टि का यह वारि अगणित जल प्रपातों का रूप [illegible] चेरापूंजी की पर्वतमालाओं से लगातार गिरता रहता।[1]

(पावस पथ-प्रयाण) (प्रा०)

[illegible]

१७.१९ [illegible]

([illegible]) (प्रा०)

[illegible]

---

1. [illegible] प्रथम संस्करण १९५० ई०। [illegible] पृ० [illegible]
2. [illegible] प्रथम [illegible] पृ० [illegible]

१७२० तीसरे पहर फिर, घूमने पहाड पर आजान की बात थी। पर उन्होंने देखा, बादल का एक बडा सा सफेद साँप झील के एक किनारे से, उमड कर आ रहा है और उसकी बेडौल गुञ्जलक, धीरे धीरे सारी झील पर फैली जा रही है। थोडी देर में वह सारी झील में बैठ जायगा, और फिर शायद उसका फन ऊपर पहाड की ओर बढ़ेगा। बादल धीरे धीरे झील पर छाते हुए। जब वह घाटी से उमड कर आया, तब उसका बडा स्पष्ट आकार था। पर झील पर आकर वह बिखरने लगा था। बादल की अपेक्षा एक धुँध की तरह ही झील की सतह को दुलराता हुआ झील बिलकुल छिप गई केवल एक सफेद धुँध की दीवार, कहीं कोई दिशा नहीं, क्षितिज नहीं दोनों धुँध में खो गए तम्बू का चंदोवा और धुँध धुँध, व्यापक धुँध।[1] (कोहरा वर्णन) (प्रा०)

व०—वि० वि नि ग०। कृ०—व्य० अ० की०र०। शै०—मु० प्र० प्रति०। रस—भ्रु०। ति—दा०। गु०—चा० मा० दि०।

१८२१ 'साधु की अँगुली के साथ ही झींगुर की दृष्टि गंगा पार सामने की ओर घूम गई। समूचा किला दीपावली मनाता हुआ आलोक स्नान कर रहा था। कार्तिक कृष्ण अष्टमी की सन्ध्या थी। पश्चिम में अग्निगोलक तिरोहित हो चुका था, परन्तु पूर्व में अभी स्वर्णगोलक की रेखा भी प्रगट न हो पाई थी। गोधूलि समाप्त होते होते अन्धकार छा गया। उस काली पृष्ठभूमि में प्रकाशोज्ज्वल किला, उस चित्र के समान दिखलाई पड़ रहा था जिसमें, कृष्ण केशों की व्यापक सघनता में चित्रकार ने किसी सुन्दरी के चन्द्रमुख का आलेखन किया हो।[2]

(गंगा पार का वर्णन) (प्रा०)

व०—च० स०। कृ०—व्य० छ० की०। श०—आ० दृ० प्र० सी०। ति०—दा० ह०। गु०—सौ० चा० मा० मु०।

१६२२ "काशी के बाग में, गुलमुहर की बडी बडी डालियाँ लाल लाल फूलों से जलती हुई हवा के हल्के झोंकों में हिलडुल रही थी। अमलतास के पीले फूल, नववधू की पीली ओढ़नी की याद दिला रहे थे। योजनगन्धा शाम की हवा में पागलपन बिखेर रही थी। शिरीष के फूलों की पंखुरियाँ मंगल आशीष की तरह झड रही थी।

'चैत की गोधूली में, अपनी सारी तेजी खोकर सूरज ने श्याम सलोनी सन्ध्या के आँचल में अपना मुँह छिपा लिया था। दूर तक फैली हुई, ताड़ की पत्तियाँ

---

१ नदी के द्वीप (श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'), प्रथम प्रकाशन १९५१ ई० (भुवन) पृ० १४६। सरस्वती प्रेस इलाहाबाद।

२ 'बहता गंगा (शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' काशिकेय) प्रथम प्रकाशन १९५२ ई०। पृ० १६४–१६५ राजकमल प्रकाशन मन्दिर, दिल्ली।

कुछ मटमैली, कुछ सिंदूरी सी पृष्ठभूमि में गदन ऊँची करके, सूरज को, अतल गहराई में डूबते देख रही थी। गाय और बैलों के साथ घर लौटते हुए चरवाहे सावित्री नाच का गीत गा रहे थे।[1] (वसन्त वर्णन) (ग्रा०)

व०— सा० स स्व० म० च०। कृ०—छ० द० मी० व्य०। श०—आ० ह० प्र० प० ती०। ति०—दा०। गु—सौ० चा० भा० मु०।

२० २३ 'मुझे दीप्ति का व्यक्तित्व जाने क्यों बहुत प्रिय लगता था। वह बड़ी ही हँसमुख, गोठ स्वस्थ और सुन्दर लड़की थी। अपनी माँ से उसने थोड़ी सी मोटाई पाई थी और अपने पिता से लम्बाई। उसका नाक सा नेत्रों भी उपयुक्त अनुपात में, गोलाई लिये हुए लम्बा था। एक परवल को लम्बा चीरने पर जो दो फाँकें बन जाती हैं वसी ही बड़ी और तनी हुई उसकी दो उज्ज्वल आँखें दो सुडौल भौहों की छत्र छाया के नीचे अठखेलियाँ करती थी। नाक लम्बी उभरी हुई और कुछ-कुछ नुकीली थी। दाँतों की दो सफेद पत्तियाँ सीधी और सामंजस्यपूर्ण थीं। ओठों की दो पतली रेखाएँ ६३ के अंक की तरह जान पड़ती थी। पर उसका वास्तविक सौन्दर्य उसके मुख की इस सुन्दर सजावट और बनावट पर निर्भर नहीं करता था। उसके कुण्ठा रहित उदार और भावपूर्ण अन्तर की जो अव्यक्त छाया उसके चेहरे पर पड़ती थी वह किसी विशेष दर्शक पर गहरा प्रभाव छोड़े बिना न रहती। जब-जब मैं उसे देखता था तब-तब मुझे ऐसा लगता था जैसे कोई अजन्ता की किसी गुफा से कोई सुन्दर चित्र सजीव, बनकर सामने सचरण कर रहा है।

(रूप वर्णन) (श०)

व०—स० सा०। कृ०—व्य० छ०। श—आ० यु० क० प्र० ती०। रस—शृ०। ति०—हृ०। गु०—सौ० भा० मु०।

२१ २४ मुझे वह सब बिलकुल तो याद नहीं है। पर वह रात का वक्त था। चाँदनी पहाड़ों के ढालों पर खिसकती हुई आकर मैदान में फैल गई। कास के चिलकते पके पीले तनों में भुरभुरे अंडों पर पड़ कर वह कितनी बेहोश सी दिखलाई देती थी कि मुझे और कुछ नहीं भाता था ।

पूरा चाँद निकला हुआ था, झील में उतर आया था वर्द्धमान चाँदी की नाव बना कर, जिस पर किरणों की लड़कियाँ बैठ कर आई थी। पानी की लहरों में आकर उस नाव डूब गई थी। और वे लड़कियाँ लहरों पर बहने लगी थी।

---

१ मैला आँचल (श्री फणीश्वरनाथ रेणु) प्रथम प्रकाशन १९५४ ई०। अध्याय २८ पृष्ठ १६३। राजकमल प्रकाशन दिल्ली।

२ 'जहाज का पंछी (श्री इलाचन्द्र जोशी) प्रथम संस्करण १९५५ ई० पृ० १६०। राजकमल प्रकाशन दिल्ली।

"रमगन के पेटा के पतले पतले, पत्तो के पीछे से जब मैं देखता तो दूर तक फैला हुआ जगल बहुत ही खूबसूरत दिखाई देता।' [1] (चादनी वर्णन) (प्रा०)

व०—चि० नि च० । कृ०—य० छ० नी० । श०—आ० रू० प० तो० । ति०—उ० दा० । नु०—सौ० चा० मा० मु० ।

२१ २४ दोपहर की वेला ढलने लगी थी। गाव थका सा पड़ा था। डगरो मे कीचड़ थी। क्योकि पानी बरस चुका था और उनमे गाड़ियो के पहियो के चलने मे गहरी लीकें पड़ गई थी। जिनमे पानी भर कर स्थिर हो गया था। पनिहारिने जब निकलती तो घुटनो तक कीचड़ म सन जाती। मेघो ने अधेरा कर रखा था। ऊने ऊने घन घने दल के दल छा गए थे। सारा आकाश ढक रहा था। कभी-कभी उनमे गर्जन हो उठता। बादल अलग अलग दिखाई नहीं देते थे। वहा तो आसमान ही बादल हो गया था। एक छोर से दूसरे छोर तक फैल कर जैसे अनन्त वारि राशि से वह अछोर हो गया था। जैसे निराश व्यक्ति के सामने विपत्तिया ही विपत्तिया छा रही हो। सर्दी कड़कड़ाती पड़ रही थी—जगह जगह अलाव जल रहे थे। लोग आग सीने से लगाए बैठे थे। बाहर जाने का धर्म नहीं था। क्योकि हवा चीरे डालती थी। और दात से दात बजाती हुई वह अपनी झाझ सी बजाती पेड़ो म लात मार मार कर ठहाके लगाती थी। फिर कभी बरसते मेघो की गिरती जलधारा को पकड़ने जाती तो वे बौछारें तिरछी हो जाती और धरती पर सीधी चोट न कर, आड़ी हाकर मारने का प्रयत्न करने लगती। झील पर धुआसा छा गया था। वह लबालब भर गई थी। यह महावट आई थी। चना का उखारने नहीं, बिला भीग कर और लाल निकल आया था। हरे पेड़ ठिठुर हुए से भीग रहे थे। जिन पर कभी कभी मोर कभी कभी करुण चिल्ला उठते। और फिर वही दमघोट नीरवता काटने लगती ।' [2] (शीतकालीन वर्षा वर्णन) (प्रा०)

व०—अ० वि० वि स्व० ग० । कृ०—प्र० अ० । श०—प्र० तो० । ति० —दा० । गु०—चा० श्र० भा० दि० ।

२२ २६ गहरा तश्तरी सरीखा गुमगम अभी नीद के खुमार म सोया हुआ था। धानी घास की मखमल मुरझ के झुरमुट म मूगी के रग की गहरा हरा दिखाई दे रहा थी। मग का नाना घास के उस मैदान म अजगर सा सोया

---

१ 'कब तक पुकारू' (रागेय राघव) अध्याय २ पृ० १३–१४। प्रथम प्रकाशन १९५७ ई०। राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली।

२ वही अध्याय ३५ पृ० ६२५–६२६।

पड़ा था। पगडण्डियाँ घास में सोई खाई सी बेहोश थीं। सामने खालसा होटल, और परे दाईं ओर बाजार की एक जमी दूकानों की कतार स्तब्ध सन्नाटे में मौन थी। और बाईं ओर अपरावट के नीचे से नाला की दूधिया नहरें उन तकिया सी मौन उदास लेटी थीं जिनकी स्वप्निल खुली आँखों में, प्यार की निगाहों ने अभी न झाँका हो।"[1] (पर्वत वर्णन) (प्रा०)

व०—अ० वि० स नि ति० । कृ—व्य० छ० की० । श०—आ० यु० प्र० प० ती० । ति०—दा० ह० । नु०—सौ० चा० मा० मु० ।

२३ २७ सामने कतार में खड़े पहाड़ बर्फ की झालरदार पोशाक पहने खड़े दिखाई देते। किन्नर और गन्धर्वों के उस प्रदेश में हवा थिरक कर गाती नाचती दिखाई देती। जल की लहरियाँ ताल देती। वनराजि झूम कर प्रशंसा करती। वंश वृक्षों से नफीरी बजाता एक विस्तृत आनन्द चारों ओर लहराता। जंगली पशुओं के स्वतन्त्र विचरण से लगता जैसे प्रकृति ने रोएदार मोटे कपड़े पहना कर चिन्तामुक्त कर दिया। चमरी मृगों मस्त और मन्द चाल से चलने वाली बकरियों गायों से वह प्रदेश ऐसा लगता जैसे प्रकृति के अलावा और किसी का बोलना यहाँ मना है। बर्फीले पहाड़ों पर सूर्य की किरणें उतर कर गठन्दलियों में कई इन्द्रधनुष बनातीं और मिटा देतीं। लगता जैसे वह प्रकार के रंगीन कपड़े पहनाने पर भी उनका जी नहीं भर रहा है। ऊपर जाने पर तालाबों में बर्फ के तौदे घाटों का निर्माण करते। सारे पानी में जैसे सफेद चादर किसी ने बिछा दी। इतना सौन्दर्य इतनी शान्ति इतनी निर्जनता, इतनी नीरवता देख कर कमल का मन प्रफुल्ल हो उठा, वह कल्पना में देखा, यही स्वर्ग है।[2] (पार्वत्य शोभावर्णन) (प्रा०)

व०—सा० स स्व० म० च० । कृ—य० छ० द० की० म० । श०—आ० यु० प्र० श० प० ती० । रस—भु० । ति०—दा० ह० । नु०—सौ० चा० ध० मा० त० ।

२४ २८ विश्वनाथजी के मन्दिर के स्वर्ण कलश पर अस्ताचलगामी अंशुमाली की हिरण्य उज्ज्वल किरणें जैसे दिव्यता बरसा रही थीं कम से कम उस पार प्रायः स्थिर तनी नौका पर विजया की तरंग में प्रायः स्थिरभाव से बैठे लीलाधर मस्तक के भावुक मन को ऐसा ही लग रहा था। उसने दोनों हाथ जोड़े। मन्दिर के दिव्य कलश को पहले नमस्कार किया और फिर दीर्घ स्वर में—सन्नाटे में मीलों तक सुनाई पड़े, ऐसे स्थिर अकम्पित स्वर में आवाज—लगाई

म हा दे व !

---

१ पत्थर अल पत्थर (उपेन्द्रनाथ अश्क) पृष्ठ १२२ प्रथम प्रकाशन १९८० नीलाभ प्रकाशन इलाहाबाद।

२ नए अनेप (उदयशंकर भट्ट) पृष्ठ ३१२ प्रथम प्रकाशन १९५८ ई०, प्रकाशक—भारती साहित्य मन्दिर दिल्ली।

इस पर सैकड़ों नौकाओं से यही आवाज प्रतिध्वनित हुई—

म हा दे व

और उस पार वाली काशीवाले तट पर अस्सीघाट से राजघाट तक महान मायामय मोहक मेला सा फैला हुआ ऐसा लगता था जैसे आनन्द, उल्लास और रस की नौकावाहिनी सेना ने वाराणसी पर चढ़ाई कर दी हो और उसे गुदगुदा गुदगुदा कर हथिया लिया हो। निराला रंग बिरंगा मेला मालूम पड़ता था जैसे सान्ध्य गगन से उतर कर इन्द्र धनुष काशी के वक्ष में हँसीली हँसनी-सा सुशोभित हो गया हो। चारों तरफ तट पर नौकाओं पर अनन्त दीप राशियाँ जगमगा रही थीं। जैसे गगन मगन के अगन सितारे विश्वनाथेश्वरी की शोभा देखने को उतर आए हों। कोलाहल यों हो रहा था मानों राजा के घर महाराजा की बारात आई हो। पचासों पटी हुई नौकाओं पर नाच गान का विधान, रंग रंग के मनोरंजन का सामान रोशन चौकी शहनाई, वेश्याओं का नाच, भांड नौटंकी और सब के ऊपर काशी की गजब गलबाज गायिकाओं का गन्धर्व विमोहन गान। उस पार इतना आकर्षण था इतना कि इस पार वालों की नौकाओं के रसिया मन रंगिया अनायास ही उधर खिंचे जा रहे थे जैसे शक्तिशाली चुम्बक से लोहे के चूर आकर्षित हों। धनिक महाजन उसके महामोही प्राण मेले में ही थे। उस साल के बुढ़वामंगल के मेले का वह अन्तिम मंगल और मेला था।[1] (काशी, बुढ़वा मंगल, नगर शोभा-वर्णन) (न०)

व०—सा० सां० सं रूव० म०। रू०—ह० द०। पै०—आ० यु० रू० प्र० ना० प०। रस—शृं० अ०। लि०—उ०। गु०—सी० चा० श्र० मा० मु०।

२४ २७ रात अंधेरी थी और नदी का पानी बिलकुल काला दीख रहा था। सिर्फ लालटेन की पीली रोशनी उस रंग में, नजर को धोखा देने के लिए भेद पैदा कर रही थी। कहीं-कहीं लम्बी लहरें पड़ गई थीं। रात में वह भी काली सपाट मैदान की तरह दीखती। पानी का हलका रह रहकर एक प्रकार का आवाज पैदा कर देता था। कभी कभी तो परवतियों का लगता कि नाव खड़ी है और पानी चल रहा है। डालो के भीतर उसमें एक बार अपनी चादरी देखी जिसमें सोहाग के कई लाल पीले तारे लगे थे और जिनके छोर पर कई फुन्ने झूल रहे थे।[2]

(नौका यात्रा-वर्णन) (प्रा०)

व०—अ० स ग० च०। रू०—ह० द० की। श०—रू० प्र० प० सी० आ०। लि०—उ०। गु०—सी० चा० मा० मु०।

---

१ फागुन के दिन चार (पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र) अध्याय १ पृष्ठ १—२। प्रथम प्रकाशन १६६६ ई०। (प्र०) रणजीत प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स, दिल्ली।

२ नदी फिर बह चली' (श्री हिमांशु श्रीवास्तव) अध्याय १ पृष्ठ ३, प्रथम प्रकाशन १६६१ ई०। हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी।

२५.३० सड़क की अगल-बगल में जो पेड़ थे उन पर पंछी चहचहाने लगे थे। वे बार-बार अपने डैने फड़फड़ाते और चें-चें की रट लगाते। कौए कांव-कांव करने लगे थे। बैलगाड़ी आगे बढ़ती जा रही थी और पूरब के आसमान पर सूरज की लाली ऐसी लग रही थी जैसे रात की रानी ने एक चुटकी से दूर छितरा दिया हो। सुबह का सुहावना वक्त ऐसा लग रहा था जैसे धरती ने कंचन थाल में सूरज के स्वागत के लिये केशर चन्दन भर गया हो। दूर-दूर तक हल्का-हल्का कुहासा फैल गया था जैसे आरती के लिये धरती ने इतनी सफेद रुई बटोर रखी हो। छबीला बार-बार बैलों को ललकारता और बैल झूमते हुए आगे बढ़ रहे थे और चलते-चलते मेला नजदीक दिखलाई देने लगा। उधर से सूरज का लाल गोला भी पूरब के आसमान को फाड़ता हुआ निकला आ रहा था।[1]

(प्रभात वर्णन) (ग्रा०)

व०—वि० स० स्व० ग०। दृ०—द०। श०—आ० व० तौ०। गु०—सौ० चा० श्र०।

२६.३१ नीरू की आखें गीली हो उठीं। उसने गीली आंखों को सन्ध्या के ऊपर बिछा दिया। स्निग्ध चमकीला मुंह जिस पर चांदनी फिसल रही थी। बड़ी-बड़ी मासूम आंखें जिनमें कुंकुम का रंग घुल गया था। अबीर की हल्की-हल्की आभा से रंजित बड़े-बड़े बाल कान पर से जो उसकी पीठ के साथ अगल-बगल लहरा कर फैल रहे थे। स्वस्थ गोरी-गोरी देह, जिस पर एक महीन बासन्ती साड़ी खिल रही थी जिस पर रंगों के गुलाब उभर आए थे। वह मुस्करा रही थी मानो ज्योत्स्ना में नहाती हुई स्वयं सन्ध्या ही उतर आई हो।[2] (रूपवर्णन) (ग्रा० व०)

व०—सा० स०। दृ०—श्य० छ०। श०—ब० प्र०। रस—शृं०। त्ति०—उ०। गु०—सौ० चा० ओ० मृ०।

२६.३२ पानी नहीं बरसा किन्तु किसान बार-बार इन्तजार करते बादल का। जलती धूल में ही बीज छींटन लगे क्योंकि बावग का मौसम चला रहा था। किन्तु आज सुबह से ही मौसम कुछ रंग बदल रहा था। हवा चलने लगी थी और आसमान भी कुछ श्यामल आभा से रंजित हो रहा था। निखहर होते-होते बादल घिर आए! सनसना कर हवा लहर गयी और आसमान धरती की छाती पर अपने को निछावर करने लगा। झर-झर झर फुहारों ने एक मास में जमीं को सिंचा दिया। बादलों की ठंडी-ठंडी तरल परछाइयां किसानों की आंखों में उतरने लगी। पशु पंछी आन-

---

१ नदी फिर बह चली (हिमांशु श्रीवास्तव) अध्याय २१ पृष्ठ १४८, प्रथम संस्करण १९६१ ई०। (प्र०) हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय वाराणसी।

२ 'पानी के प्राचीर' (श्री रामदरश मिश्र) अध्याय २ पृ० १८ प्रथम संस्करण सन् १९६७ ई०। हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी।

से हूँकन भूकने लग। पानी के स्पश से ब्याकुल प्राणिया के रोयें खिल गए। झर झर झर झर फुहारा ने आसमान को कुहरे के समान ढक दिया। धरती से सोंधी सोंधी सुगध फलन लगी। पानी बरसता रहा बरसता रहा। पानी की मोटी मोटी धाराएँ गलियों और नालियों से हरहराती हुई गड्ढों और पोखरों की ओर दौड़ने लगी और देखते देखते ताल भर गए।[1] (वर्षा वर्णन) (प्रा०)

व०—स० सा० स्व० ग०। छ०—छ० द०। ग०—यु० व० प्र० प्रा० प०। गु०—चा० ओ० मु०।

२७ ३३ वैसी ही सूखी सी, कठोर और निस्तब्ध पड़ी थी वह घाटी, जसी मेजर नाहरसिंह न पिछली बार देखी थी, वसा ही प्राणहीन और सहमा हुआ सा वातावरण। उस पथरीली घाटी म नदी के सूखे और पथरीले तल पर, लम्बे लम्बे डग रखते हुए, मेजर नाहरसिंह चले जा रहे थे

'फूलों वाली घाटी म जब वह पहुँचे, तब उन्हें लगा कि वहाँ की गध और प्रखर हो गई है। वहाँ से वह आगे बढ़े, तेजी के साथ और प्राय पाँच मील चलने के बाद उन्होंने अपना रास्ता रोके हुए, टूटे पहाड़ों का एक अम्बार सा दिखा और मेजर नाहरसिंह वहीं खड़े होकर, प्रकृति के उस रौद्र रूप को देखने लगे। उनके बायें हाथ वाला ऊँचा सा पहाड़ आधा तटका खड़ा था और आधा खण्ड-खण्ड होकर रोहिणी के तट पर आ गया था, उनके दाहिने ओर वाले पहाड़ से सम्पक स्थापित करते हुए। कितना भयानक दृश्य था वह।

मेजर नाहरसिंह न अपना सर उठा कर ऊपर की ओर देखा, वहाँ से दाहिनी ओर, उस अम्बार के ऊपर, दबलकर खड़ा था यहीं आदय! मेजर साहब! देखिये कितनी बड़ी झील बन गई है। यहाँ पर—बिलकुल एक समुद्र की भाँति। जहाँ तक दृष्टि जाती है एक अपार जलराशि। देखिये आकर कितना सुन्दर दृश्य है यहाँ।

बड़े परिश्रम के साथ रखते हुए मेजर नाहरसिंह ऊपर चढ़े दूसरी ओर रोहिणी नदी एक बहुत बड़ी झील के रूप म, तीन ओर पहाड़ों की बन्दिनी थी। मीलों तक अपार जलराशि फैली हुई थी। स्वच्छ निर्मल जल अपने अक म आकाश की नीलिमा को भर हुए, जहाँ तहाँ उजला जल नीचे के शिलाखण्ड भी दिख रहे थे।'[2] (नदी घाटी वर्णन) (प्रा०)

व०—अ० सा० वि० स नि ल०। कु०—य० छ० द० का० प्र० र०। श०—व० प्र० तो०। रस— उ०। त्ति—आ० दा० ह०। गु०—सौ० चा० मा० ली०।

---

१ पानी के प्राचीर (श्री रामदरश मिश्र) अध्याय २३, पृ० १३२। प्रथम सस्करण सन १९६१ ई०। हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी।

२ 'सामर्थ्य और सीमा' (श्री भगवतीचरण वर्मा खण्ड ६ अध्याय ५, पृ० २८६ ६०, प्र० प्र० १९६२ ई०) राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

२८ ३४ "सूरज डूब गया। चादनी की आभा छागई। चन्दन और गुजा हरी दूब से भरी दूर करईल माटी की बड़ी चौड़ी छवरी से चलने लग थे। बलिहार अभी डेढ मील था। सप्तमी की चादनी छवरि के दानों ओर, जौ गेहूं के पके हुए खेतो पर पूरी तरह छागई थी। शात, स्थिर, वातावरण म हल्क हवा क झौंके, खेतो मे खडे अनाज के पके डठलो को तहरा कर, खनखना देते थे। दूर दूर तक फले हुए करईल माटी के खेतो म, बराबर ऊचाई तक उगी हुई फसलो पर यदि थाली सरका दी जाए, तो कुछ दूर तक बिना गिरे बालियो पर फिसलती चली जाए। ऐसे थे दूर तक फले हुए, पक चले अनाज क लहराते भरे खेत जिनम जहा तहां खडे छोटे छोटे बबूल के पड पहरेदारो की तरह लगते थे।"[1] (कृषि वर्णन) (प्रा०)

व०—अ० सा० स स्व० ग० च०। वृ—छ० द०। शै०—आ० यु० व० प्र०। तु०—सौ० चा० औ० मु०।

---

[1] कोहबर की शर्त (श्री केशवप्रसाद मिश्र) खण्ड १, अध्याय ६ पृष्ठ ५८, प्रथम प्रकाशन सन १९६५ ई०। (प्र०) राजकमल प्रकाशन दिल्ली।

४

भारतीय साहित्य में उपन्यास-साहित्य का सर्वेक्षण

प्रथम प्रकरण भारतीय उपन्यास-साहित्य का आदिकाल

भारतीय साहित्य में उपन्यास विधा की परम्परा भी पर्याप्त पुरातन एवं वैभवमयी रही है। यदि हम विश्व उपन्यास का सम्यक इतिवृत्तात्मक आकलन अथवा अवधारण करना चाहें तो केवल भारतीय उपन्यास साहित्य ही उसके अध्ययन अनुसंधान का मूलाधार बन सकता है। वह दिन दूर नहीं है जब कि भारतीय वाङमय की इस विशाल एवं व्यापक विभूति निधि का विशेष अध्ययन एवं अनुशीलन, विश्व भर की अध्ययन संस्थाओं में विशेष मनोयोगपूर्वक किया जाने लगेगा। भारतीय उपन्यास साहित्य की वर्णनात्मक कला की इन्द्रधनुषी छवि तो अरसिक से अरसिक पाठक अथवा श्रोता को भी, रसविभोर करने में सक्षम है। निश्चय ही इस दृष्टि से तो वह विश्व उपन्यास साहित्य की मुकुटमणि कहलाने योग्य है। मात्र उल्लेख तथा सार कथन द्वारा तो वह अनुमेय भी नहीं है।

भारतीय कथा-साहित्य विश्व भर में प्रचलित कथाओं का, आदिस्रोत रहा है। उसकी अजस्र प्रवहमान परम्परा हमें प्रागैतिहासिक काल से अद्यावधि समुपलब्ध है। इस विशाल एवं प्रभूत कथात्मक साहित्य के दो उल्लेखनीय अंग रहे हैं—वैदिक उपनिषद-कथाचक्र तथा बौद्ध जातक कथाचक्र। ये कथाएँ बहुत ही प्राचीन हैं। इनमें से कुछ स्वतंत्र कथाएँ हैं जिनमें आध्यात्मिक विषयों की व्याख्या का प्रच्छन्न अभिप्राय सन्निहित रहा है। कुछ कथाएं, एक समान कथा की विविध कड़ियों के रूप में एक दूसरे से सूक्ष्म कथासूत्र द्वारा, संयोजित हैं एवं कुछ ऐसी कथाएं भी हैं जो आधुनिक उपन्यास प्रणाली का आद्यरूप मानी जा सकती हैं। इनमें मुख्य कथा अपनी सहायक कथाओं के प्रवाह को लेकर, अग्रसर होती है।

भारतीय कथा वाङमय के उक्त दोनों प्रधान कथाचक्रों में भी उपनिषद कथाएँ विश्व की सबसे अधिक प्राचीन कथा निधि मानी जाती हैं। उनकी साहित्यिक

एवं दार्शनिक गहराई को देख कर, पाश्चात्य विद्वान तो हक्के बक्के से रह जाते हैं। इनका आद्य रचनाकाल इतिहासकारों ने ईसवी पूर्व ८०० के लगभग माना है। किन्तु आजकल जिन १०८ उपनिषदों का सकलन हमें उपलब्ध है, उनमें से केवल ईश, कठ, केन, प्रश्न श्वेताश्वतर, मुण्डक माण्डूक्य बृहदारण्यक छान्दोग्य ऐतरेय, तैत्तरीय, मैत्रायण और कौषीतकी तो निश्चय ही उतनी प्राचीन कृतियाँ हैं ही। शेष उपनिषद् एवं उनमें आई हुई कहानियाँ ईसवी पूर्व ८०० से ईसवी सन के प्रवर्तन काल तक की मानी जाती है।

आचार्य प्रवर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस उपनिषद साहित्य को ब्राह्मण ग्रन्थों का उपसहार रूप माना है। उनके मत में आरण्यक एवं उपनिषद दोनों प्रकार के कथा साहित्य, वस्तुतः वैदिक साहित्य के व्याख्यात्मक आख्यान ही है। उन्होंने अखिल वैदिक वाङमय के तीनों उपभेदों पर विचार करते हुए उनके पारस्परिक सम्बन्ध की भी विवेचना की है —

'वैदिक साहित्य को पण्डितों ने तीन भागों में विभक्त किया है—संहिता (मूल वेद—ऋग साम अथर्व तथा यजु) ब्राह्मण और उपनिषद। 'ब्राह्मण' गद्य में लिखे गए हैं इनमें कर्मकाण्ड की प्रधानता है तथा इनमें जगह जगह ऐतिहासिक और परम्परा प्राप्त कहानियाँ भी हैं जो बाद में चल कर पुराण और इतिहास का रूप धारण करती हैं। ब्राह्मणों के अन्त में दार्शनिक अध्यायों के रूप में, 'आरण्यक' और 'उपनिषद्' हैं। इनमें आध्यात्मिक बातों का बड़ा गम्भीर विवेचन किया गया है। उपनिषदों की सख्या वैसे तो बहुत (१०८ तक) है, पर १२ प्राचीन हैं—ऐतरेय और कौशीतकी (ऋग्वेद से सम्बन्धित) छान्दोग्य और केन (सामवेद से सम्बद्ध) तैत्तरीय कठ और श्वेताश्वतर (कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध), बृहदारण्यक, ईश (शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध) तथा प्रश्न मुण्डक तथा माण्डूक्य (अथर्ववेद से सम्बन्धित) हैं। महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री का विचार है कि ईसवी सन से एक हजार वर्ष पूर्व तक यहाँ तक का साहित्य निश्चित रूप में रचित हो चुका था।'[1]

ईसवी पूर्व ८०० के आसपास रचित इस उपनिषद साहित्य में हम अखिल भारतीय कथा साहित्य एवं उपन्यास साहित्य के बीज रूप उपलब्ध होते हैं। भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त विश्व के प्रायः सभी उन्नत एवं विकसित कथा साहित्यों में उपनिषद साहित्य की प्रेरणा एवं अन्तर्वेदना दूर दूर तक परिव्याप्त है। उदाहरणार्थ, सोमरसेट माम का प्रख्यात उपन्यास द राजस एज (क्षुरस्य धारा) कठ उपनिषद् से एक आख्यान एवं एक सूक्ति वचन की प्रेरणा से ही प्रतिफलित हुआ है।

---

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) परिशिष्ट १, 'संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त परिचय' (पृष्ठ १२७ २८) (सातवां संस्करण १९६३ ई०), प्र० हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर बम्बई।

भारतीय कथासाहित्य के विकास इतिवृत्त की दूसरी कड़ी मानी गई है—बौद्ध कथाओं एवं आख्यायिकाओं की वृहद् संहिताएं। इन्हें भी 'जातक' एवं 'अवदान' नामक दो विभागों में विभक्त किया जाता है। जातकमाला की कथाएँ, एक हल्के एवं सूक्ष्म समान कथातन्तु से सम्बद्ध हैं क्योंकि सभी कथाएँ बुद्ध की करुणा आप्लावित आत्मा की अनवरत साधना को व्यक्त करने के उद्देश्य से ही लिखी गई हैं। अवदान कथाएँ वस्तुतः गौतम बुद्ध एवं उनके कतिपय निकट एवं अंतरंग सखाओं एवं अनुयाइयों के साक्षात जीवन से सम्बद्ध हैं। कुछ अवदानों के संकलनों में हम घटना-क्रम का संयोजन, जीवन चरित्रात्मक उपन्यास साहित्य की शैली से मिलता जुलता दिखाई पड़ता है।

उपर्युक्त बौद्ध कथासाहित्य का प्रवर्तन गौतम बुद्ध के जीवन काल से ही माना जाता है। इतिहासकार, भगवान बुद्ध का जन्म सन ५२६ ई० पू० में मानते हैं एवं उनकी निधन तिथि ४८६ ई० पू० मानी जाती है। तदनुसार हम बौद्ध कथा साहित्य का प्रवर्तन ईसवी पूर्व पांचवी शती के उत्तरार्ध से ही मानते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस कथासाहित्य के प्रवर्तन के काल के सम्बन्ध में विशेष खोज बीन की है—

एक श्रेणी के बौद्ध लोगों का विश्वास है कि लंका, स्याम, ब्रह्मा आदि देशों में प्रचलित और पाली भाषा में लिखित, जो बौद्ध ग्रंथ मिले हैं उनमें से प्रधान प्रधान बुद्धदेव के श्रीमुख से उच्चरित हुए थे। लेकिन त्रिपिटक तो उक्त ग्रंथों से भी स्पष्ट है कि बुद्धदेव ने स्वयं कोई ग्रंथ नहीं लिखा। उन्हीं से यह भी पता चलता है कि ये संग्रह समय समय पर आहूत बौद्ध संगीतियों (महासम्मेलनों) में बड़े बड़े आचार्यों के निर्णयानुसार संग्रहीत हुए थे। पाली ग्रंथों में कुल मिला कर ऐसी तीन संगीतियों का उल्लेख है। प्रथम संगीति, बुद्धदेव के महानिर्वाण के कुछ ही दिनों बाद राजगृह में स्थविर महाकाश्यप के उद्योग से हुई थी। दूसरी महत्वपूर्ण संगीति बुद्ध निर्वाण के सौ वर्ष बाद वैशाली (वशाली) में हुई थी। तीसरी संगीति सबसे महत्वपूर्ण है जिसे अशोक संगीति भी कहते हैं। [लंका की परम्परा के अनुसार यही तीसरी संगीति है।] स्थविर तिस्स (तिष्य) ने चुने हुए एक हजार भिक्षुओं की सभा बुलाई थी जो नौ महीने के बाद तीन पिटकों का संग्रह करने में समर्थ हुई।[1]

उक्त विचार विमर्श से यह प्रकट है कि पाली में रचित प्राचीनतम बौद्ध कथा साहित्य का काल ईसवी पूर्व पाँचवी शती से तीसरी शती तक का है। आगे चल कर संस्कृत भाषा में भी, पाली ग्रंथों के रूपान्तर होते चले गए। संस्कृत भाषा में उपलब्ध बौद्ध कथा-साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंग है 'अवदान साहित्य', उनमें भी

---

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) परिशिष्ट ४, 'बौद्ध साहित्य', पृष्ठ १५१ १५२

'महावस्तु अवदान', बौद्ध धर्म की हीनयान शाखा का, एक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है। 'महावस्तु अवदान' के बारे में आचार्य द्विवेदीजी ने निम्न परिचयात्मक टिप्पणी दी है—

"यह पुस्तक महासांघिक सम्प्रदाय की लोकोत्तरवादी शाखा का 'विनयपिटक' है। लोकोत्तरवादियों के मत से बुद्ध लोकोत्तर चरित्र के पुरुष हैं। वे केवल लीला के लिए शरीर ग्रहण करते हैं, परमार्थतः नहीं। 'महावस्तु अवदान' में वस्तुतः बुद्धदेव का जीवन चरित्र ही वर्णित है। सारे ग्रंथ में बुद्धदेव के लोकोत्तर चरित्र और उनकी बातों का वर्णन है। यद्यपि यह पुस्तक बुद्धदेव की जीवनी है पर यह जीवनी सिलसिलेवार नहीं लिखी गई है। बीच बीच में जातकों की कहानियाँ और धार्मिक व्याख्याएँ आदि प्राय आते रहते हैं। इस ग्रंथ में ऐसी जातक और अवदान कथाएँ भी पाई जाती हैं जिनका पाली (बौद्ध साहित्य) में कोई पता नहीं चलता।

'अवदानों में भी जातक कथाओं की भाँति ही बुद्धदेव के पूर्वजन्मों की उल्लेख-योग्य घटनाओं का निरूपण होता है। अवदान शतक में सौ अवदान संगृहीत हैं। इस ग्रंथ का अनुवाद ईसवी सन के प्रवर्तन के दो सौ वर्ष बाद चीनी भाषा में हो गया था। कहानियाँ अनितनर संस्कृत गद्य में लिखी गई हैं। अनुमान है कि इसका वर्तमान रूप अंतिम बार ईसवी सन् की चौथी शताब्दी में निश्चित हो गया होगा। 'दिव्यावदान' में उपगुप्त और अशोक की ३४ कथाएँ हैं। अवदान शतक की कहानियों को अधिकांश में उपजीव्य मान कर लिखी हुई एक अन्य पुस्तक है 'विशावदान'। अवदान-साहित्य का अंतिम महत्वपूर्ण कृति प्रसिद्ध काश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र की 'अवदान कल्पलता' है जो ग्यारहवी शताब्दी में लिखी गई थी। तिब्बत में इस पुस्तक का बहुत मान है।"[1]

बौद्ध साहित्य के सम्बन्ध में प्राप्त अन्य प्रामाणिक विवरणों से भी प्रकट है कि यद्यपि पाली भाषा में प्राचीनतम बौद्ध कथा साहित्य का आद्य प्रवर्तन ईसवी पूर्व पाँचवीं शती से ईसवी पूर्व तीसरी शती के बीच हो चुका था किन्तु संस्कृत भाषा में उपलब्ध आद्य बौद्ध अवदान-साहित्य हमें ईसवी सन के प्रवर्तन की प्रथम दो शतियों में ही उपलब्ध होता है। संस्कृत गद्य में लिखा गया उसका सुविकसित एवं परिष्कृत रूप ईसवी सन की चौथी शती का माना जाता है। यह बौद्ध कथा साहित्य, पर्याप्त काल तक संस्कृत उपन्यास साहित्य के समानांतर भी चलता रहा था।

'उपनिषद् कथाचक्र' तथा बौद्ध अवदान साहित्य ने, भारतीय उपन्यास के आद्य आविर्भाव तथा उसकी मुख्य प्रवृत्तियों पर अपना अपना प्रभाव भी छोड़ा है। उपनिषद् कथाओं ने भारतीय उपन्यास साहित्य को सूक्ष्म दार्शनिक निरीक्षण वृत्ति

---

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका' (आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी) परिशिष्ट ५, बौद्ध संस्कृत साहित्य, पृष्ठ १६३ १६४

एवं विचारगत गहनता प्रदान की है। आज भी यदि हम भारतीय उपन्यास साहित्य को, विश्व की अन्य भाषाओं में प्रचलित उपन्यास-साहित्य से तुलना करें, तो पता चलेगा कि अन्यदेशीय उपन्यास साहित्यों में, भारतीय उपन्यास साहित्य की तुलना में दार्शनिक गहनता कितनी विरल है। उपनिषद साहित्य ने, एशिया के अन्य भाषा साहित्यों की उपन्यास विधा को भी, पर्याप्त चिंतनशीलता एवं गुरु गम्भीरता प्रदान की है। कथारस की दृश्यमान वस्तु के नीचे, गहन दार्शनिक चिंतन धारा की सूक्ष्म थिरकन के कारण ही, हम प्राच्य एवं पाश्चात्य उपन्यास के बीच के अंतर को, सहज ही पहचान जाते हैं।

जीवन और जगत के सरलतम सत्य ही, वस्तुतः, मानव के लिए, जटिलतम पहेलियाँ हैं। उपन्यासकार के इस दार्शनिक समाधान-पक्ष को, उपनिषदों ने सरल सहज कथाओं द्वारा समझाया है। इन कथाओं की प्रणाली ही कुछ ऐसी है कि वे आदि-अंत हीन जान पड़ती है। चाहे हम उन्हें पृथक कथा व्याख्यायें समझ लें, चाहे उन सब का परस्पर तारतम्य में रख कर, 'उपन्यास' मान लें। उनके पात्र, घटनाएँ एवं तथ्य, सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक हैं। हमारा उपन्यास साहित्य भी इन्हीं विशिष्टताओं के कारण गरिमामय है तथा वह, विश्व-साहित्य की चरम ऊँचाइयों को छूने वाला है।

उपनिषद कथाचक्र की भांति बौद्ध अवदान साहित्य की भी अपनी निजी देन है। भारतीय उपन्यास साहित्य एवं विश्व उपन्यास साहित्य पर, बौद्ध कथा साहित्य के प्रभाव की एक निजी विशिष्टता है उपन्यास में अनेकानेक जन्म जन्मान्तरों की महागाथाओं का समावेश। उसमें मानव जीवन का विस्तार एवं कार्य व्यापार उसके पार्थिव एवं सीमित नश्वर जीवन तक ही सीमित नहीं है वरन उसके जीवन-सूत्र तथा कर्मसूत्र, अनादि और अनन्त हैं। यह रूप परिवर्तन, पार्थिव शरीर परिवर्तन से, कहीं अधिक गहन एवं मूलभूत है जिसकी जड़ें, अनश्वर आत्मा में जमी हुई हैं। इसी तथ्य का परिचायक है, बौद्ध कथासाहित्य।

मानव जीवन में उदात्त एवं सतोगुणी प्रवृत्ति के प्रदर्शन के लिए अनेक अवसर समुपस्थित होते हैं। यदि मानव आत्मा को बारम्बार भी जन्म लेना पड़े और उसे लोक विश्वास के अनुसार 'लख चौरासी जून' (चौरासी लाख योनियों—पार्थिव शरीर परिवर्तन चक्र) में होकर बहुसंख्य रूप भी धारण करने पड़ें, तब भी उसकी दैवी सम्पत्ति (परहित, सर्वभूत दया, परदुःख कातरता एवं आत्मोत्सर्ग जैसे सद्गुण) सदैव ही उसके साथ बनी रहती है। आत्मा की इसी अविनश्वरता एवं उदात्तता को, कथासाहित्य में सुलभ एवं मनोहर माध्यम द्वारा, मानव मात्र में परिव्याप्त करना ही, साहित्य की सर्वोत्कृष्ट चेतना है। बाण की 'कादम्बरी' जन्म जन्मान्तर की कहानी है। आधुनिक भारतीय उपन्यास साहित्य में भी, जन्म जन्मान्तर की कथा-परम्परा, निर्मूल

नहीं हुई है। उदाहरणार्थ, बंगला भाषा में विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय कृत 'देवयान' हिन्दी में श्री प्रेमचन्द कृत 'कायाकल्प' (एवं अन्य अनेक हिन्दी उपन्यास) तमिल भाषा में 'कल्कि' द्वारा लिखित 'सोलमल की राजकुमारी' तथा कन्नड़ भाषा में रचित आचार्य के० वी० अय्यर कृत 'शान्तला' आदि में, यह अजस्र परम्परा सर्वत्र ही अपनी उच्चतम साहित्यिक गरिमा से अन्वित, समुपलब्ध है।

बौद्ध कथासाहित्य के 'अवदान-साहित्य' को, भारतीय उपन्यास साहित्य की परम्परा में, जीवन चरित सम्बन्धी समस्त उपन्यास साहित्य का आद्यरूप कहा जा सकता है। ये जीवनियां लोकोत्तर विशिष्टताओं एवं चमत्कारी कार्य कलापों से विस्मय विमुग्धकारी है। महापुरुषों, राष्ट्रीय वीरों एवं सन्तों की जीवनियों से सम्बन्धित, सभी भारतीय उपन्यासों में, उक्त सभी लक्षणों का, जाने या अनजाने, आ जाना स्वाभाविक ही है।

बौद्ध अवदान साहित्य, तथागत के जीवन से सम्बन्धित घटनावली तक ही सीमित नहीं रहा तथा उसमें, उपगुप्त एवं अशोक आदि के जीवन सम्बन्धी अनेक कथाप्रसंग भी समाविष्ट हो गए। लोकोत्तर चरित गाथाओं के पात्रों के समान उन्हें भी उदात्त एवं चामत्कारिक परिवेश में प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार अवदान साहित्य ने (भारतीय उपन्यास साहित्य परम्परा में) मानवीय पात्रों की जीवनियों से ली गई उदात्त एवं लोकोत्तर घटनाओं की भूमि पर उपन्यास रचना की दिशा में मार्गदर्शन किया है। आधुनिक हिन्दी उपन्यास साहित्य में भी लोकोत्तर चरितों को व्यक्त करने वाली अनेक ख्यातनामा औपन्यासिक कृतियाँ रची गई हैं जिनमें स्व० श्री वृन्दावनलाल वर्मा कृत 'विराटा की पद्मिनी' तथा 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' एवं श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'बाणभट्ट की आत्मकथा' तथा 'चारु चन्द्रलेख' विशेष तया उल्लेख्य हैं।

उपनिषद् कथा साहित्य तथा बौद्ध जातक अवदान कथा साहित्य के कथाचक्रों के पश्चात् संस्कृत भाषा में उपलब्ध महान् सुविकसित एवं समृद्ध उपन्यास-परम्परा के पूर्ववर्ती अपभ्रंश भाषाओं में प्रवर्तित, विशाल एवं विलक्षण बृहत् कथा साहित्य को भी भुलाया नहीं जा सकता। इस विशाल कथा साहित्य ने शतियों तक, भारतीय जनसाधारण को, उत्कृष्ट साहित्यिक मनोरंजन एवं सात्विक आनन्द प्रदान किया है। इसका प्रवर्तन-काल हम सातवाहन राज्यवंश काल से (अथवा प्रथम ईसवी शताब्दी से) लेकर, ईसवी ग्यारहवीं शती तक मान सकते हैं। इस बृहत् कथा साहित्य ने भारतीय भाषाओं में प्रचलित उपन्यास साहित्य का ही नहीं, वरन् विश्व भर में प्रचलित कथा-साहित्य को भी असंख्य कथानक प्रदान किए हैं।

प्राचीन भारतीय लोकभाषाओं में न जाने कितने रस सिद्ध कथाकारों ने अपनी अद्भुत एवं विलक्षण महाकथाओं अथवा उपन्यासों की रचना की थी। किन्तु उस समग्र कथा रत्न माला में, गुणाढ्य सुमेरु माने जाते हैं। उन्होंने आज से लगभग द

सहस्र वर्ष पहले पैशाची भाषा में, अपनी विश्वविश्रुत महागाथा 'वृहत कथा' का प्रणयन किया था। वस्तुतः गुणाढ्य की यह अनूठी कृति भारतीय कथा वाङ्मय में एक नई परम्परा की प्रवर्त्तिका बनी। प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश भाषाओं में 'वृहत कथा-कथावक्र' के अनेकानेक ग्रंथों की रचना, सुदीर्घ काल तक होती रही। स्वयं वृहत्कथाकार गुणाढ्य के सम्बन्ध में अनेकानेक देशी और विदेशी विद्वानों ने बहुत कुछ अनुसंधान किया है तथा उनकी कृति की अनेकानेक विशद व्याख्याएं भी की हैं। आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने गुणाढ्य एवं उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा 'पैशाची' तथा गुणाढ्य के देशकाल पर पर्याप्त विचार विमर्श किया है —

'लगभग दो हजार वर्ष पहले, पैशाची प्राकृत में वृहतकथा' नाम का कथाग्रंथ लिखा गया था। यह मूलग्रंथ खो गया है पर उसके संस्कृत रूपान्तर, (जिनमें 'कथा सरित सागर', 'वृहत्कथा मंजरी', वृहत्कथा श्लोकसंग्रह आदि मुख्य हैं) पाये जाते हैं। इन कहानियों का आश्रय करके संस्कृत में अनेक कथा ग्रंथ लिखे गये हैं।'[1]

पैशाची भाषा, लोकभाषा थी और संभवतया वह 'आभीरी प्राकृत' का ही अन्य नाम है। आभीरी प्राकृत का प्रचार, जिन प्रदेशों में अधिक बाहुल्य के साथ पाया जाता था वे थे—पंजाब का हरियाना प्रदेश (प्राचीन नाम 'टक्क'), राजस्थान का मारवाड़ प्रदेश (प्राचीन नाम 'त्रवण') गुजरात का सोरठ प्रदेश (प्राचीन नाम 'सुराष्ट्र') मध्यप्रदेश का बुंदेलखण्ड प्रदेश (प्राचीन नाम 'भादानक') आदि। जिस काल का प्रसंग प्रस्तुत है उसमें अपभ्रंश भाषा का नाम ही आभीरी था। आचार्य द्विवेदी जी आभीरी को प्राकृत की आदि भाषा ही मानते हैं —

अपभ्रंश भाषा सन ईसवी के प्रथम शतक में आभीरी नाम से लक्ष्य की गई थी और भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर सीमान्त में बोली जाती थी। आभीरों का विशेष प्रकार का स्वर वर्धिष्य, और उच्चारण प्राबल्य, इसका प्रधान लक्षण था। यद्यपि यह आभीरी नाम से पुकारी गई पर थी वह आर्य भाषा ही (आदिवासियों की आदिम भाषा नहीं)।

सन ईसवी छठी शताब्दी में इस भाषा को भामह और दण्डी जैसे आलंकारिकों ने भी उल्लेख योग्य समझा। तब भी यह आभीरों से विशेष रूप से सम्बद्ध मानी जाती थी। अनुमान है कि आभीरों के हाथ में राज्य सत्ता आने के साथ ही इसमें काव्य लिखे जाने लगे होंगे।[2]

---

१ 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) परिशिष्ट १, संस्कृत साहित्य का परिचय पृष्ठ १०५ (हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बंबई)।

२ वही, अध्याय १, पृष्ठ २२-२३

कारण उसका जो कुछ अश यज्ञाग्नि म झोका जाने से बच गया था वही, परम्परागत लोकसाहित्य म, चिरकाल तक प्रचलित रहा तथा ग्यारहवी शती मे क्षेमेन्द्र एव साम देव ने उन बिखरी हुई अगणित कथाओ को सस्कृत भाषा म सपादित एव सकलित कर डाला।

सौराष्ट्र के प्रख्यात लोकवार्त्ताविद् एव राष्ट्रीय महाकवि श्री झवेरचन्द मेघाणी ने भी अपनी व्याख्यान-माला म, उक्त गुणाढ्य सम्बन्धी प्रसग का बडे ही मार्मिक एव भावुक शब्दो म उल्लेख किया है—

'वह काल, सस्कृत, साहित्य एव सस्कृति का सुवर्णयुग था। ब्राह्मणो के घरो म शुक सारिकाएँ तक, सस्कृत म वार्त्तालाप करती थी एव राज दरबारो म भी उसी का आदर होता था। यहा तक कि वाद विवादो, शास्त्रार्थो, गप्पाष्टको, पान-गोष्ठियो, गीतो एव कथाओ म भी, एकमात्र सस्कृत भाषा के अतिरिक्त, किसी भी वाणी का माध्यम स्वीकार नही किया गया था। ऐसे काल म एक राजा की विद्वत मण्डली मे एक व्यक्ति ने प्रवेश किया और वह व्यक्ति था पैशाची भाषा की लोककथाओ का प्रख्यात मालाकार गुणाढ्य।'[1]

गुणाढ्य कौन थे? कहाँ और कब हुए? इस सम्बन्ध म अभी तक बहुत सी भ्रान्तियाँ एव अनुमितिया प्रचलित हैं। किन्तु 'बृहत्कथा' म पाए गए उल्लेखो के आधार पर, तथा ग्रथ म आभासित देशकाल के प्रतिबिम्ब को दृष्टि म रखते हुए, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि गुणाढ्य प्रतिष्ठान (पठन महाराष्ट्र) के प्रतापी सातवाहन सम्राट श्री शातकर्णी के काल मे हुए थे। इतिहासकार भी इस बात म सहमत हैं कि वे एक सातवाहन राजा के दरबार म रहे थे।[2]

गुणाढ्य की महान कथाकृति मे पाये जाने वाले अन्त साक्ष्य एव बहि साक्ष्य के आधार पर, यह भी माना जा सकता है कि वे मध्य देशवर्ती बुन्देलखण्ड के ही निवासी रहे होग और सम्भवतया वे अपनी बृहत्कथा को लेकर सर्वप्रथम, पाटलिपुत्र के काण्वशीय राजा के दरबार म उपस्थित हुए थे। अशोक के पश्चात तथा ह्रासमान मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात शुगवशीय एव काण्ववशीय राजाओ के काल म न केवल बौद्ध धर्म का ही तीव्र प्रतिरोध किया गया वरन उनके द्वारा प्रोत्साहित लोकभाषा अथवा प्राकृत का भी तीव्र प्रतिषेध किया गया था।

---

१ 'लोकसाहित्य नु समालोचन' (ठक्कर वसनजी माधवजी व्याख्यान माला १९४१ ४२—बम्बई विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित) व्याख्याता—श्री झवेरचन्द मेघाणी, व्याख्यान प्रथम 'बाल्य भाषानी साहित्य मीमासा', पृष्ठ १ २ सन् १९४३

२ भारत का इतिहास पृष्ठ ११० (ईश्वरीप्रसाद सिंह) हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, कलकत्ता (१९५०),

पश्चात विलासी एव निर्बल सम्राट, पुरुगुप्त के वृद्ध एव निर्बल हाथों मे, गुप्त साम्राज्य का राजदण्ड विचलित हो उठा था। देश पर विदेशी आक्रमण के बादल मडरा रहे थे। सुबन्धु को इस सकटकाल ने सहसा स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य की याद दिलायी (जिनका निधन सन ४६७ ईसवी मे हो चुका था) अपने ग्रन्थ के एक ही प्रस्तावना गत श्लोक के द्वारा, मानो सुबन्धु ने अपनी कृति के रचनाकाल तथा उसमे परिव्याप्त घोर अराजकता, दोनो का ही पर्याप्त स्पष्ट सकेत दे दिया है

'सा रसवत्ता विहता, न वका विलसन्ति चरति नो कक ।
सरसीव कीर्तिशेषम गतवति भुवि, विक्रमादित्ये ॥ १० ॥

[जिस प्रकार सरसी या तलया के पक्मात्र या स्थलमात्र शेष रह जाने पर वह सारस पक्षियो से विहीन हो जाती है—यहा तक कि उसम वगुन तक भी नहीं दिखाई पडते (क्रौञ्च) और न हो वहाँ कक पक्षी ही विचरते हैं, उसी प्रकार, पृथ्वी पर विक्रमादित्य के कीर्तिशेष हो जाने पर वह रसवत्ता (रस म विभोर हो जाने की आत्ममग्नता) भी विनष्ट हो गई है। नये-नये कविगण (या अधिकारीगण) अपनी अपनी शान बघारने लग और माण्डलिक राजागण अपना अपना गुणगान करने कराने लग। भला आज कौन किसको खा जाने को उत्सुक नहीं है ?[1]]

'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण करने वाले तथा अश्वमेध यज्ञ द्वारा 'दिग्विजयी सम्राट' कहाने वाले तीन महान नृपति, गुप्त राजवश म हुए हैं। उनके नाम क्रमश ये हैं—चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, समुद्रगुप्त विक्रमादित्य तथा स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य। यदि सुबन्धु ने अपनी अनूठी औपन्यासिक कृति 'वासवदत्ता' की रचना उक्त तीनो प्रतापी गुप्तवशीय सम्राटों मे से पहले दोनो में से किसी एक के राजत्वकाल म की होती तो फिर उसके स्वर म इतनी गहन निराशा तथा इतना घना विषाद कैसे पाया जा सकता था ? अत उक्त प्रस्तावित श्लोक मे अन्तर्साक्ष्य के आधार पर ही यह बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि सुबन्धु की 'वासवदत्ता' की रचना, स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के निधन (सन ४६७ ई०) के ठीक पश्चात् ही की गई थी। स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के निधन के बाद अर्थात ईसवी सन् ४६७ ई०, से ४७६ ई० तक क्रमश पुरुगुप्त (स्कन्दगुप्त का भाई) नृसिंहगुप्त (पुरुगुप्त का पुत्र) तथा कुमारगुप्त (द्वितीय) ये तीन सम्राट केवल ९ वर्षों के अन्तराय म सिंहासनारूढ़ हुए। उनके पश्चात बुद्धगुप्त भानुगुप्त आदि अनेक गुप्त नरेश और भी हुए। भानुगुप्त के पश्चात गुप्त साम्राज्य केवल पूर्व म सिमिट कर रह गया और अन्त म

१ वासवदत्ता (सुबन्धु) (टीकाकार प० शकरदेव शास्त्री, प्रस्तावना विषयक प्रारम्भिक श्लोक १०) (चौखम्बा विद्याभवन बनारस १) (विद्याभवन सस्कृत ग्रन्थमाला २), २०११ विक्रमी (प्रथमावृत्ति)।

वह, आठवीं शती के अन्त म, काल कवलित ही हो गया। सुबन्धु ने जब अपनी औपन्यासिक कृति 'वासवदत्ता' की रचना की, वह स्कन्दगुप्त के निधन के पश्चात, गुप्त साम्राज्य की विषादमयी सध्या तो था ही, साथ ही वह राष्ट्र भर की सुरक्षा, शाति एव जनजीवन के लिए भी, एक महान राष्ट्रीय सकट की वला भी थी। यही तथ्य, उक्त अत्यन्त मार्मिक एव साकेतिक प्रस्तावना गत श्लोक द्वारा, समर्थित होता है। इस भाति 'वासवदत्ता' की रचनातिथि निश्चित रूप स सन ४७० ई० के आस पास की ही थी।

'वासवदत्ता मे कुसुमपुर की राजकन्या वासवदत्ता' के स्वयवर आदि के प्रसगा में, पाखण्डी बौद्ध एव जैन साधुओ के प्रति, उपन्यासकार की तीव्र विरक्ति भी झलक आई है। इन्हीं के धार्मिक षडयन्त्रा तथा उनके द्वारा फलाई गई तत्र मन्त्र एव लोकोत्तर सिद्धिया आदि की भ्रात धारणाओ ने ही विलासी पुरुगुप्त के राज्य सिंहासन पर आरूढ होते ही, अपना सिर उठाना प्रारम्भ कर दिया था। आगे चल कर य षडयन्त्र ही गुप्त-साम्राज्य के विनाश का एक प्रबल कारण सिद्ध हुए। धार्मिक असहिष्णुता, विदेशियों के आक्रमण के द्वार खोल ही देती है। हूण अपने को बौद्ध बताते थे, अतएव बौद्ध भिक्षुगण सदव ही उन्ह, गुप्त सिंहासन पर बिठाने मे प्रयत्नशील रहे। वे अपनी अन्धी धम भक्ति के नशे मे, देशभक्ति को भूल गए थे।

तत्कालीन गद्य महाकाव्या या उपन्यासा के प्रारम्भ मे श्लोकबद्ध प्रस्तावना एव मगलाचरण आदि रखे जाने की परिपाटी थी। सुबन्धु ने भी अपने उपन्यास के प्रारम्भ म १० श्लोक आर्या छन्दमे रचे हैं और तब अपनी मूल कथा प्रारम्भ की है। प्रथम श्लोक म सरस्वती वन्दना द्वितीय मे गोवधन पवत उठाने के कारण किंचित शिथिल भुजाओ वाले श्रीकृष्ण की श्रम सस्कृति प्रवतक छवि का स्मरण, तीसरे मे श्रीकृष्ण की वपु शोभा का वणन तथा चौथे म चन्द्रचूड शिव की वन्दना है। शेष नौ श्लोक प्रस्तावना रूप हैं।

इस प्रस्तावना भाग मे सुबन्धु ने क्रमश सज्जन स्तुति पिशुन निन्दा दुजन निन्दा, निन्दक भरसना, सज्जना की कीर्तिवधन की आकाक्षा, विक्रमादित्य के निधन के पश्चात भारत दुदशा का उल्लेख, रससिद्ध कविया की वाणी की प्रशस्ति, उत्तम आलोचका का गौरवगान तथा अन्त म अपना वश-परिचय दिया है। अपने परिचय म सुबन्धु ने केवल इतना बताया है —

सरस्वती दत्त वर प्रसाद चक्रे सुबन्धु सुजनैक बन्धु।
प्रत्यक्षर श्लेषमय प्रबन्ध विन्यास वदग्ध्य निधि निबद्धम ॥'

[सरस्वती देवी ने अपने वरदान के द्वारा जिस पर अपना कृपाभाव दिखाया है जो एकमात्र सज्जनो का ही बन्धु है उस (सुबन्धु) ने, प्रति अक्षर म,

श्लेषार्थ को समर्पित करके, प्रबन्ध विन्यास में, विदग्धता की निधि के समान इस 'वासवदत्ता' का निबन्धित किया है।]'

सुबन्धु ने इस भाँति अपने प्रस्तावना भाग के १३ श्लोकों में से, प्रथम एवं अन्तिम श्लोकों में 'सरस्वती' की ही वन्दना की है। अतएव यह मान लेना सहज ही है कि सुबन्धु की मातुश्री का नाम 'सरस्वती' ही था। उक्त श्लोक से ही यह भी ध्वनित होता है कि उन्होंने अपने पिता का भी स्मरण माता के साथ ही साथ किया है। उनका नाम 'दत्तात्रय' था। श्लोक के अन्तिम चरण से यह भी जान पड़ता है कि सुबन्धु का पालन पोषण उनकी माता ने ही किया था और पिता का आश्रय उन्हें अधिक काल पर्यन्त नहीं प्राप्त हो सका। वे अपने माता पिता के इकलौते बेटे थे और इसीलिए उन्होंने सुजनों को ही अपना एकमात्र बन्धु माना है।

उक्त अन्तर्साक्ष्य के पश्चात्, 'वासवदत्ता' नामक इस अलौकिक एवं प्रतिभा प्रसूत आद्य उपन्यासिका की अनोखी वर्णनात्मक कला पर भी ध्यान देना उपयुक्त होगा। मंगलाचरण का चौथा श्लोक इस वर्णन प्रतिभा का यत्किंचित आभास दिला जाता है —

> 'स जयति हिमकर लेखा चकास्ति यस्योमयो सुकान्तिहिता।
> नयन प्रदीपकज्जलजिघृक्षया रजत शुक्तिरिव ॥'[2]

[उस हिमकर लेखा (चन्द्रमा की सूक्ष्म रेखा) से अंकित चन्द्रमाल शिव की जय होवे, जो उस रजत शुक्ति (चाँदी की आभावाली सीपी) के समान जान पड़ती है जिसे भगवती गौरी ने दीपज्योति के समान प्रज्वलित मध्य के तीसरे नेत्र पर माना अपने नयनों में आँजने के लिए काजल उतारने की इच्छा से टिका रखी है।]

उक्त आर्या में हिमकरलेखा 'रजतशुक्ति नयनप्रदीप' पदों में जो दृश्यमान सौन्दर्य घोल दिया गया है उसका मर्म कोई कुशल चितेरा ही समझ सकता है।

वासवदत्ता' की कथा भी अन्य सभी लोकप्रिय लोककथाओं की भाँति ही एक राजा था'।[3] से प्रारम्भ होती है। राजा का नाम था चिन्तामणि। वे उन सभी राजोचित गुणों से युक्त थे जो आदर्श माने जाते थे। उनका शासनकाल सुखद एवं प्रतापयुक्त था। सभी भाँति की सुख समृद्धि फैली हुई थी। प्रजा निरापद थी। न्याय आदर्श था। राजा में सभी दिव्यगुण पाए जाते थे। और उसे सुरक्षिणा

---

१ वासवदत्ता' (सुबन्धु), श्लोक १३

२ वही, श्लोक ३

३ वही—'अभूतपूर्वपूर्व सर्वोर्वीपति राजा चिन्तामणि नाम।—पृ० ७ ११

नामक अपूर्व रूपशील-सम्पन्ना महारानी भी मिली थी। उसी से कन्दर्पकेतु नामक राजकुमार का जन्म हुआ।

वासवदत्ता' के कथाप्रवाह के बीच भी अनेकानेक स्थलो पर ऐसे उल्लेख आए हैं जिससे कवि के देशकाल के सम्बन्ध म विविध रोचक तत्त्व समक्ष आते हैं। यथा वासवदत्ता के स्वयवर वर्णन से ठीक पहले, दक्षिण पवन के सचरण मार्ग का विवरण देते हुए सुबन्धु ने कर्णाट (कर्णाटक) अपरान्त (पश्चिमी घाट) केरल, आन्ध्र एव मालव (मध्यप्रदेश) की रमणियो की विशिष्ट वेशभूषा एव आकृति निदान सम्बन्धी अनूठे वर्णन प्रस्तुत किये हैं जिससे प्रकट है कि सुबन्धु ने दक्षिणापथ का धुर दक्षिण तक व्यापक भ्रमण देशाटन भी किया था।[१]

स्वयवर के समय कुछ राजकुमार तो अपने कालक्षेप के लिए जैमिनि के अभिमत की युक्तियों द्वारा बौद्धमत के खण्डन मे प्रवृत्त थे[२] तथा कुछ वृहत्कथा' के प्रसगो को सुना कर 'गुणाढय' होने का दावा कर रहे थे। उक्त दो उल्लेखो से दो तथ्य सामने आते हैं—देश म बौद्ध धर्म के अवलम्बियो तथा उनके मार्गदर्शक ढोगी बौद्ध साधुओ के प्रति पर्याप्त आक्रोश था क्योकि वे बहुधा धर्म का आचरण छोड कर राजनतिक षडयत्रो मे उलझे रहते थ। दूसरे इस बात का भी पता चलता है कि सुबन्धु के काल मे भी गुणाढय एव वृहत्कथा की लोकप्रियता अक्षुण्ण रूप से बनी हुई थी।[३]

फिर कथाकार राजा एव रानी का गुणानुवाद छोड कर राजकुमार कन्दर्प केतु के गुणगान एव शीलप्रशस्ति म प्रवृत्त होता है। यह विवरण पर्याप्त ऊहापोहयुक्त है और पृष्ठ २१ से पृष्ठ ३१ तक प्रसरित है। इसके पश्चात मुख्य कथा का सूत्रपात होता है। राजकुमार ने रात्रि के चौथे पहर म एक विचित्र एव सुखद स्वप्न देखा। उक्त प्रारभिक जटिल एव दुरूह चमत्कारपूर्ण आमुख के पश्चात सुबन्धु ज्योंही कथा कहने के रस स प्रभावित होते हैं उनकी लेखनी एक से एक उत्तरोत्तर नयनाभिराम चित्रपटियाँ चित्रित करने मे प्रवृत्त हो जाती है। सुबन्धु ने कथाप्रवाह के बीच बीच जिन वर्णनो का समावेश किया है उनमे से अधिकाश म हम कल्पना विलास एव सौन्दर्य विभूति के भव्य दर्शन होते हैं और वह लेखक की कलादृष्टि एव भावप्रवणता दोनो का ही परिचायक है।

वासवदत्ता नामक गद्य महाकाव्य (उपन्यास) मे आए हुए विशिष्ट वर्णनो एव उनकी वर्णनात्मक कलागत विशेषताओ का सागोपाग एव विशद विवेचन तो

---

१ 'कन्दर्प केलि सम्पत मलयमारुत ययौ।' वाला अवतरण, वासवदत्ता' पृ० १२० १२२

२ केचित जैमिनि मतानुसारीणा इव तथागत मतध्वसिन।

— वही पृष्ठ १२७ १२८

३ केचित् वृहत्कथा अनुबन्धिन इव गुणाढया।'—वही, पृष्ठ १३१

सागरतटवर्ती ऋषि के आश्रम में जा पहुँची। उसके हरण कर लेने के प्रयास में दो दस्युदलों में भीषण युद्ध हुआ और आश्रम नष्ट भ्रष्ट हो गया। इस घटना से क्षुब्ध ऋषि के शापवश, वासवदत्ता, प्रस्तर प्रतिमा बन गई। किंतु जब कन्दर्पकेतु ने भटकते भटकते उसे देखा तो उसके छूने ही वह पुनः जीवित हो गई। इससे पूर्व वासवदत्ता की खोज में भटकते हुए कन्दर्पकेतु ने, जब सौराष्ट्र के तटवर्ती 'गिर' नामक महाकान्तार में प्रवेश किया तो उसने देखा कि वह—

'नवीन हरे भरे नरकुल, उशीर कमलिनी बेंत, सई, अशोक सरल, बिल्व, बकुल करंज बेल आदि वृक्षों से परिव्याप्त प्रदेश था। प्रचुरता से बनी हुई भिन्न भिन्न प्रकार की पर्णशालाओं के आंगनों में, जंगली मल्लिका की झाड़ियां फूलों से भरी थीं। सुन्दरी नामक वृक्ष के कुंज उत्कंठित भ्रमर दलों के गुंजन से, मनोहर थे। भली भांति वेत्रलताओं से आवेष्टित एवं प्रच्छन्न नवीन वरुण वृक्ष की शाखाओं पर भ्रमरावली शोभित हो रही थी। वृक्षों के अग्र स्थल गोलांगुलों (लंगूरों) द्वारा तोड़े हुए मधु छत्रकों से टपकते हुए मधु की वर्षा से भीग रहे थे।

वहां लवंग (लौंग) चम्पक (चम्पा) मधूक तमाल लोध्र, कर्णिकार (कनेर) कदम्ब आदि वृक्षों के सघन वन थे। मुचकुन्द नामक वृक्षों के स्कन्धदेश (तने) हाथियों के कपोल-मर्दन के कारण मदजल से स्नात हो रहे थे। अचिर प्रसूत कुक्कुटियों ने वहां कुटज कोटर को अपनी कुटिया बनाई हुई थी। चटका (चिड़िया) से प्रेरणा पाकर वहां बकवादी और खुशामदी चातक (चिड़ा) शोर मचा रहा था। वहां के शिलातल चकोर चकोरियों के युग्मों की क्रीडास्थली होने के कारण विख्यात थे। वहां शिलाजीत की गंध से सुगंधित शिलाओं पर खरगोश के शिशु आनन्दपूर्वक लेटे हुए थे। वहां गोधा (गोह) के शिशु शेफालिका के जटा छिद्रों में, विश्वस्त होकर लोट लगा रहे थे। वहां रुरु नामक मृगों के समूह निःशंक होकर क्रीडा मग्न थे। मनोहर पिक आम्र मंजरियों का भोग लगा रही थी। उन आम्र कुंजों के नीचे चामरी (चामर मृग) नीलगाएं जुगाली कर रही थी।

निकटवर्ती पहाड़ी ढाल पर से उतरते हुए झरनों के श्रुति मधुर शब्द को सुनने के कारण निद्रा के आनन्द से अलसाए हुए हाथी अपने कर्ण-तालों से दुन्दुभी जैसा शब्द कर रहे थे। कृष्ण मृगों के झुण्ड वहीं पास में ही किन्नरियों के संगीत का रस ग्रहण करने में मुग्ध स्थित थे। बनैले सुअर के शिशु अपनी थूथनी, हरिद्रा (हल्दी) के रस से पीली कर रहे थे। वहीं कहीं घुंघची (गुंजा) के कुंजों में विडाल (वनबिलाव) के बच्चे, एकत्रित हो रहे थे। पाटली (द्राक्षा) लता के पुष्पवृन्तों में मंडराने वाली नन्हीं मधुमक्खियों के द्वारा काटे जाने के कारण, वानरों के बच्चे, उन्हें अपने तीखे नखों द्वारा नोच रहे थे। वहीं सघन वन के बीच कहीं केसरी सिंहों (बब्बर शेरों) के अयाल मतवाले जंगली हाथियों के गण्डस्थलों के रक्त कणों से, रक्त बिन्दु-अंकित दिखाई दे रहे थे।'

महासागर के निकटस्थ ऐसे कच्छ नामक सागरतटीय जलह्रद प्रदेश के पास, कन्दर्पकेतु ने कुछ दूर जाने पर सागर को देखा।[1] सुबन्धु वर्णित महासागर का यह विलक्षण वर्णन सम्भवतया पुरातन भारतीय उपन्यासों के वर्णनों में सर्वथा अनुपम एवं अनूठा है। वस्तुतः बहुत कम प्राचीन संस्कृत उपन्यासकारों ने सागर-वर्णन का चित्रण किया है। इसे इसलिये चिरस्मरणीय वर्णन को एक अन्य स्थल पर आगे चल कर (छठे अध्याय में) उद्धृत किया जा रहा है।

पाँचवीं शती (ईसवी) के अन्त में रचित 'वासवदत्ता' तथा सातवीं शती ईसवी के प्रारम्भ में रचित 'हर्षचरित' के बीच लगभग सवा सौ वर्ष के अन्तराल में (सुबन्धु तथा बाण के बीच) भी अनेक प्रतिभा-सम्पन्न उपन्यासकारों ने उपन्यास साहित्य का प्रणयन अवश्य किया होगा। किन्तु जब तक इस काल की प्रामाणिक औपन्यासिक कृतियाँ उपलब्ध न हो जाएँ तब तक केवल इस कालान्तर की कुछ देशकाल गत उन विशिष्ट परिस्थितियों पर ही विचार किया जा सकता है, जिनके कारण उक्त सवा सौ वर्षों के व्यवधान का कारण सहित समाधान हो सके।

इतिहासात्मक तथ्यों से प्रगट है कि 'वासवदत्ता' के रचनाकाल (सन् ४६७ ई०) से लेकर, 'हर्षचरित' के रचनाकाल (६१६ ई०) के बीच का युग विशेषतया उत्तरी एवं मध्यवर्ती भारत के लिए बड़े ही राष्ट्रीय संकट का काल रहा था। सुबन्धु के समय से ही उत्तर भारत के एकमात्र सार्वभौम शासन (गुप्त साम्राज्य) पर विदेशी आक्रान्ताओं के आक्रमणों का दौर शुरू हो गया था जो लगभग तीन शतियों तक प्रायः निरन्तर ही चलता रहा। किन्तु वासवदत्ता के रचनाकाल के पश्चात् लगभग आधी शती तक तो भीषण राज्य विप्लववादि के कारण, एक प्रकार से साहित्य-सृजन तो क्या, समग्र जनजीवन ही अस्तव्यस्त सा हो गया था।

उस काल की जो भी साहित्यिक कृतियाँ आज हमें उपलब्ध हैं, वे गुप्तकाल के विच्छिन्न हो जाने के पश्चात्, मुख्यतया तीन राज्य केन्द्रों से सम्बद्ध रही हैं। आधुनिक मध्यप्रदेश में स्थित मन्दसौर में, (जो गुप्त साम्राज्य के मालवा प्रदेश की पुरानी राजधानी थी), यशोवर्मन ने, एक नवीन एवं सबल राज्य की स्थापना की थी। उत्तर प्रदेश के दक्षिण मध्य में स्थित, कान्यकुब्ज या कन्नौज में, मौखरी वंश के ईशानवर्मन ने एक प्रभावशाली राज्य स्थापित किया था, जिसका प्रसिद्ध राजा गृहवर्मा भी, मालवा के यशोवर्मन की भांति विद्वानों का आश्रयदाता एवं गुणी नरेश हुआ। थानेश्वर के प्रसिद्ध सम्राट हर्षवर्धन की बहिन राज्यश्री उसे ही ब्याही थी।

---

१ महासागर कच्छापान्तेन कतिपयमध्वानम गत्वा जलनिधिमपश्यं। (मूल पाठ, पृष्ठ २३४-२३६) तुलनीय 'कच्छाप्रान्त — जलप्राय मनूपम् स्यात् पुंसि कच्छ तथाविध (अमरकोष)

नई बात को जानने के लिए मेरे मन मे, तुरत ही, कुतूहल का ऐसा आवेग उठता है, कि मैं उससे स्वय भी लाचार हो जाता हूँ।"

अजिरवती नदी के किनारे बसे हुए मणितारा नामक ग्राम के सन्निकट पडे हुए सम्राट हर्ष के साथ शिविर मे जब बाण, हर्ष से पहले पहल भेंट करने गए थे, तो वे सम्राट से भेंट करने के प्रसग को भूल कर, सहज ही, हर्ष के प्रख्यात हाथी—'दर्पशात' को देखने चल दिए। केवल यह एक छोटी सी घटना बताती है कि बाण कितने विकट जिज्ञासु थे एव जीवन के प्रतिक्षण निरीक्षण म दृढ श्रद्धा रखने वाले कैसे अल्हड और घुमक्कडी प्रवृत्ति वाले, मनमौजी साहित्यकार कलाकार थे। वे निरन्तर ही, ससार का, अपनी आखों से देखा हुआ अनुभव प्राप्त करने को, उन्मत्त से हो उठते थे।[1] बाण की 'चित्रग्राहिणी बुद्धि' का परिचय श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस भाति दिया है।

'बाण की बुद्धि चित्रग्राहिणी थी। उस पर फोटो की भाँति प्रत्येक नये चित्र की गहरी छाप पड जाती थी। और उसम उन सब दृश्यो का सागोपाग रूप रेखा जा सकता था। सूक्ष्म दर्शन, बाण की विशेषता है बाण की सूक्ष्मावलोकन शक्ति और कवि सुलभ प्रतिभा के अनेक प्रमाण हम 'हर्षचरित और कादम्बरी म मिलते हैं। ये दो ग्रथ भारतीय इतिहास की सास्कृतिक सामग्री के लिये अमृत के झरने हैं। सौभाग्य से बाण का समय निश्चित है इसलिए यह साक्षी और भी अधिक मूल्यवान है। बाण वर्णनात्मक शैली के धनी थे। बाण के वर्णन ही उनके काव्य की निधि हैं। कवि ने अपने वर्णनो के द्वारा चित्र पट पर जो चित्र लिखा है उसकी प्रत्येक रेखा सार्थक है और चित्र का समग्र रूप प्रस्तुत करने म सहायक है। जिस प्रकार रगवल्ली की विभिन्न आकृतियो से भूमि सजाई जाती है उसी प्रकार बाण ने अपने काव्य की भूमिका मण्डन करने के लिये अनेक वर्णनो का विधान किया।[2]

बाण की वर्णन शैली भी अन्य सभी उपन्यासकारो से निराली एव अनूठी है। वे अपनी उक्त दोनो महाकथाओ अथवा उपन्यासो म जिस वर्णन शैली का प्रयोग करते हैं उसको हम तीन उपशैलियो मे विभाजित कर सकते हैं—(अ) दीर्घसमास शैली अथवा उत्कलिका (आ) अल्पसमास शैली अथवा चूर्णिका तथा (इ) समासमुक्त सरल शैली अथवा आविद्ध। बाण ने अपनी महान कृतियो म उक्त त्रिविध वर्णन

---

१ हर्षचरित—एक सास्कृतिक अध्ययन—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल पृ० ६४

२ हर्षचरित' (बाण भट्ट), प्रथम उच्छवास पृष्ठ १

३ 'हर्षचरित—एक सास्कृतिक अध्ययन' (डा० वासुदेवशरण अग्रवाल) प्रथम उच्छवास पृष्ठ २

शैलियों का किस भांति प्रयोग किया है इसको भी, श्री वासुदेवशरणजी ने इस भांति सारीकृत किया है —

'चतुर शिल्पी की भांति बाण इन शैलियों को अदल बदल कर, इस प्रकार काव्य म सजाते हैं कि वर्णन वोभिन्नवन कर कहीं पाठक के मन को आघात न कर दें। उनकी रीति है कि समास बहुल उत्कलिका शैली के बाद, फिर ढील छोड देते हैं। प्राय बडे बडे वर्णनो मे उत्कलिका शैली का आश्रय लिया गया है। यथा— प्रचण्ड निदाघ काल (पृष्ठ ४६ ४७) उसम चलने वाली गर्म लू (४८ ५०) और वन को जलाती हुई दावाग्नि (५० ५२) के वर्णनो मे, उक्त शैली की अच्छी झांकी मिलती है।'[1]

बाण भट्ट बड़े ही व्यापक अनुभव वाले सर्वतोमुखी कलाकार थे। उदाहरणार्थ उनके 'हर्षचरित मे प्रथम उच्छ्वास म ही भवन निर्माण कला सम्बन्धी, रोचक पारिभाषिक शब्दावली उपलब्ध होती है। यथा—वाह्यस्थानमण्डप मुक्तास्थान मण्डप राजद्वार अलिन्द धवन गृह चतुश्शाल प्रग्रोवक चन्द्रशाला, प्रासादिकुक्षि, दीर्घिका (गैलरी) स्नानभूमि, प्रतोहार गृह, प्रनाली गवाक्ष आदि।

प्रकृति वर्णन म भी बाण अनुपम हैं। उदाहरणार्थ उन्हें सध्या वर्णन बहुत ही प्रिय था। उन्होने साझ की विविध भाव भगिमाओ को न जाने कितने विविध रगों मे चित्रित किया है। केवल 'हर्षचरित मे ही कम से कम चार स्थानो पर, विस्तृत सध्या वर्णन आया है।[2] यहाँ उ ही म स एक अनुवाद स या यगत उद्धृत किया जा रहा है —

तरुण कपि के मुख की भांति लाल सूर्य अस्ताचल को चले गए। आकाश ऐसे लाल हो गया मानो विद्याधरी अभिसारिकाओ के चरणो म लगे महावर से पुत गया हो। मञ्जा की कुसुमी लाली दिशाओ को रगती हुई रक्त चन्दन की भांति आकाश म बिखर गई। भ्रमर तालो म कमलो का मधु पीकर छके हुए ऊँघने लगे। रात की सास की तरह वायु म द मन्द बहने लगी। पके तालफल की त्वचा की श्यामता मिला ललाई की भांति सध्या की लाली के साथ पहला अन्धेरा, धरती पर फैल गया। कुञ्जो के जगली फूलों की तरह तारे नभ म छिटक गए। निशा-लक्ष्मी के कान मे खोंसी हुई चम्पा की कली जैसे दीपक, बढते हुए अन्धेरे को हटाने लगे। चन्द्रमा के हलके और पीले उजाले स अ धकार के हटने पर पूर्वी दिशा का मुख ऐसे निकला मानो मुखते हुए नीले जल के छटने से जमना का बालू

---

१ हर्षचरित एक सास्कृतिक अध्ययन'—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रस्तावना भाग 'क'।

२ वही पृष्ठ १४ १८, ८० ८१ २१८ २१९, २४७ २५८

भरा किनारा निकला हो। अँधेरा घटता हुआ आकाश छोड़ कर, धरती पर, नीले खिले कमलों के सरोवरों में छा गया।[1]

वर्णनात्मक कला की दृष्टि से 'हर्षचरित' का गौरव, बाणकृत अन्य किसी भी कृति से, न्यून नहीं कहा जा सकता किन्तु व्यक्तियों के भाग्य के समान ही ग्रन्थों का भी अपना निजी भाग्य होता है। 'कादम्बरी' इसका जीता जागता प्रमाण है। यह सत्य है कि 'कादम्बरी' विश्व साहित्य में, अपनी तरह की सर्वथा अनूठी औपन्यासिक कृति है, फिर भी जितनी ख्याति 'कादम्बरी' को प्राप्त हुई उतनी किसी भी औपन्यासिक रचना को, वाङमय के अखिल इतिवृत्त में, सम्भवतया कभी भी प्राप्त नहीं हुई। विश्व भर में 'कादम्बरी' ही पहला उपन्यास है, जिसे 'उपन्यास विधा' का पर्याय नाम प्राप्त हुआ है। 'कादम्बरी' शब्द आज भी अनेक भारतीय भाषाओं में, उपन्यास विधा का ही परिचायक माना जाता है।

कादम्बरी की ख्याति बाण के अनवरत रचना धर्म एवं अभूतपूर्व वर्णन चमत्कार का ही प्रतिफल है। यह बाण की प्रौढ़ एवं महत् आयोजना पर निर्मित एक ऐसी गद्य महाकाव्य शैली में रचित अनूठी औपन्यासिक रचना है जिसको पढ़ कर, पाठक आह्लादित एवं चकित हो जाता है। विज्ञजन इसे पढ़ कर, स्तम्भित रह जाते हैं। पण्डितजन लेखक की विद्वत्ता पर, इसलिए हैरान हैं कि भला किसी एक व्यक्ति की स्मृति में समग्र विश्व कोश कैसे समा सकता है? बाण पर न जाने कितने विज्ञजनों ने कितनी चिरस्मरणीय उद्‌भावनाएँ की हैं। प्रख्यात प्राच्यविद वेबर ने बाण की 'कादम्बरी' को पढ़ कर अपने मनोभाव को निम्न शब्दों में व्यक्त किया था —

'बाण का गद्य भारतीय महा-अटवी के समान है। उसे भली भाँति समझ पाने के लिए पहले पाठक को, उसमें होकर, अपना मार्ग काट कर निकालना पड़ता है। बाण के पास नूतनतम शब्दों का ऐसा अक्षय कोष है कि उनकी कृतियों में होकर गुज़रने पर, किसी पाठक के मन में भी यह आशंका सतत बनी ही रहती है कि किसी विचित्र अन्य जन्तु की भाँति न जाने किस अनूठी एवं विचित्र शब्दावली से उसका कब सामना हो जाए। वनस्पति एवं जीव जन्तुओं के सम्बन्ध में बाण की वर्णन शैली, इतनी समृद्ध है मानो कोई भी सृष्टिगत पदार्थ ऐसा नहीं है जो बाण की पैनी दृष्टि से बच पाया हो। पौराणिक कथाएँ एवं लोककथाएँ, तो बाण की कृतियों में पद पद पर मिलती हैं। वे सचमुच ही इन सभी क्षेत्रों में वर्णन-कला के अधिपति हैं।'[2]

---

१ हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन', पृष्ठ १६ प्रथम उच्छ्वास।

१ 'ए हिस्टरी आफ संस्कृत लिटरेचर' (आ० ए० मेकडोनेल, एम० ए० पी एच०डी०), प्र० मुन्शीराम मनोहरलाल, दिल्ली–६, पंचम संस्करण, १९५८ ई०, अध्याय ९ गद्य रोमांस, पृष्ठ ६८

बाण के विशेष अध्येता स्व० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'हर्षचरित के समान कादम्बरी' पर भी एक बडा विद्वत्तापूर्ण एव मनोरम सास्कृतिक अध्ययन ग्रन्थ रचा है। उन्होंने कादम्बरी' महा उपयास को एक रूपक द्वारा यो समझाया है —

'कादम्बरी' महाकवि बाण भट्ट की अमर कृति है। 'चन्द्रापीड और कादम्बरी, इस सुवर्ण हस के दो पख हैं, जिनके बल पर कवि की कल्पना ने पृथ्वी और आकाश के बीच म ऊँचे उठने का प्रयत्न किया है। 'हर्षचरित इसी पृथ्वी की तथ्यात्मक आख्यायिका है, पर 'कादम्बरी', दिव्यलोक को भूतल पर लाने वाली, काय कल्पना है, जिसमे कवि का मानस, अपने युग के उस विराट मानस मे अ तर्लीन हुआ मिलता है, जब देव और मानव, एक दूसरे स मिलने के लिए, निकटतम आ गए थे।'

'कादम्बरी का जा सुरभित सौ दय है, उसम, किसी देवलोक का अपूव सौगन्धिक यश मिला हुआ है। सचमुच संस्कृति के उस विकास म, भारतीय मानव, देवो के विराट भाव का सस्पर्श कर रहा था। गगा को अन्तर्वेदी मे, कलास के उस अट्टहास की साक्षात् उपलब्धि हो रही थी, जिसकी ओर पूवयुग के महाकवि ने राशीभूत प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहास कह कर सकेत किया था। भारतीय मानस हस, गन्धर्वो के दिव्यलोक का अन्तरग वरण करन के लिए आकुल थे।[1]

कादम्बरी' के प्रस्तावना–भाग मे (बारहवें श्लोक म) बाण ने सुबन्धु कृत 'वासवदत्ता तथा गुणाढ्य कृत 'बृहत्कथा का भी स्मरण किया है, और अपनी कृति को उन दोना से बढ कर ही माना है। उनके शब्दो मे यह कृति वासवदत्ता और बृहत्कथा दोना से, विशेष अतिशय रखने वाली (दोनो को मात कर देन वाली) है। सुबन्धु कृत 'वासवदत्ता' तथा बाण कृत 'कादम्बरी की आयोजना शली म फिर भी अनेक अर्थों म साम्य है।

श्लेष प्रधान शब्दो की अदभुत योजना, बाण की शली की भी एक बडी विशेषता है। कादम्बरी के पूवभाग म पहले बीस श्लोका म ग्र थ की प्रस्तावना दी गई है। प्रारम्भ के तीन श्लोको म उन्होन क्रमश ब्रह्मा, शिव और विष्णु की वन्दना की है। यह तत्कालीन भारतीय अध्यात्म के सास्कृतिक समन्वय एव उदार भावना का प्रतीक है। इसी प्रस्तावना भाग म बाण न इतिहास प्रसिद्ध मौखरी सम्राटा का उल्लेख किया है जिनस व निजी तौर पर भी सम्बद्ध रह थे। इसके अतिरिक्त बाण न अपने पूव पुरुषो का भी स्मरण किया है। 'हर्षचरित' एव कादम्बरी' दोना ही ग्रन्थो म बाण न अपनी विद्याव्यसनी कुल परम्परा का सोत्साह वणन भी किया है।

अपने गुरुवर श्री मत्सु की व दना करते हुए बाण कहत हैं कि मौखरि राजा

---

1 कादम्बरी'—एक सांस्कृतिक अध्ययन, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, अध्याय १, पृष्ठ १।

उनके चरण कमलों की पूजा करते थे। ये कन्नौज (कान्य कुब्ज) के शव वर्मा, अवन्ति वर्मा आदि नरेश होने चाहिए। इसी प्रकार वात्स्यायन-वंश में उत्पन्न 'कुबर' नामक उनके पूर्वज की अर्चना, अनेक गुप्तवंशी अधिप करते थे। कुबेर बाण के पितामह थे। उनका सम्मान देने वाले ये गुप्त राजा मगध के उत्तर कालीन गुप्तवंशी राजा थे जिनमें कृष्णगुप्त, जीवितगुप्त (५४० ई०), दामोदरगुप्त (५७५ ई०), महासेन गुप्त (६०० ई०) और माधव गुप्त (६३०–६५० ई०) की राज्य-परम्परा इतिहास से प्रमाणित होती है। माधव गुप्त, हर्ष के मित्र थे। बाण ने हर्षचरित में जो पूर्वज सूची दी है वह कादम्बरी के उक्त श्लोकों में दी गई सूची से, केवल एक स्थान पर, भिन्न है। हर्षचरित के अनुसार कुबेर पाशुपत अर्थपति, चित्रभानु बाण यह क्रम था। कादम्बरी की सूची के अनुसार क्रम इस प्रकार है—कुबेर अर्थपति चित्रभानु बाण। बाण के प्रपितामह पाशुपत का नाम इसमें छूट गया है।'[1]

समस्त 'कादम्बरी' महा उपन्यास 'उत्कलिका' वर्णन शैली का आश्रय लेकर रचा गया है। उत्कलिका शैली तो बाण की निजी विशेषता या सफलता है। जिस प्रकार कैमरे द्वारा बड़े चलचित्र तैयार किया जाता है उसी प्रकार समासों द्वारा अनेक लघुचित्रों का समष्टि से बाण अपने महाचित्र प्रस्तुत करते हैं। स्व० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने उनकी इस विशिष्ट शैली की निम्न शब्दों में विवेचना की है —

'विन्ध्याटवी में खड़े होकर कवि की चित्रग्राहिणी दृष्टि एक बार पृथिवी से आकाश तक घूम जाती है और सैकड़ों खण्ड चित्रों की छाया कवि के मन पर, छप जाती है। उसे ही हम समासों में अनुक्रम से सजाई पंक्तियों में प्रत्यक्ष देखते हैं। जब हम इन वर्णनों के भीतर प्रविष्ट होकर उस चित्र को पुनः अपने मानस पटल पर उतारने लगते हैं तो एक एक समासरूप वाक्य, अपनी रेखा और बिंदुवत्ता से चित्र के स्वरूप को पूरा करता हुआ जान पड़ता है। इस स्थिति में पहुँचा हुआ सहृदय पाठक, लम्बे वर्णनों से ऊबता नहीं। उसे तो अपने चारों ओर व्यंजक रंगों का इन्द्रधनुष सा फैला हुआ दिखाई देता है।'[2]

बाण भट्ट कृत 'कादम्बरी' एक से एक उत्तमोत्तम वर्णनों की कलात्मक प्रदर्शनी सी जान पड़ती है। उपन्यास में आए हुए कुछ चिरस्मरणीय वर्णन हैं। प्रथम कथा के अन्तर्गत अनुच्छेद ३ में राजा शूद्रक की राजधानी विदिशा का नगरवर्णन तथा अनुच्छेद १७ में विन्ध्याटवी का वर्णन द्वितीय कथा के अन्तर्गत अनुच्छेद २० में पम्पा सरोवर का वर्णन अनुच्छेद २१-२३ में शाल्मली वृक्ष का प्रसिद्ध वर्णन, अनुच्छेद २४

---

१ कादम्बरी' (एक सांस्कृतिक अध्ययन) डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, अध्याय १, पृ० १–१५

२ वही, पृष्ठ १२

र प्रभात वणन, अनुच्छेद ४२ मे सध्या वणन एव अनुच्छेद ४३ म च द्रोदय वणन बडे ही मनोरम बन पडे हैं।

ततीय कथा के अतगत अत्यत उल्लेख्य एव कलापूण वणनो म अनुच्छेद ४४ ४५ मे उज्जयिनी नगरी का वणन, अनुच्छेद ७६ ७७ म इन्द्रायुध अश्व वणन, अनुच्छेद ६४ म सध्या वणन, चतुथ कथा के अन्तगत अनुच्छेद १२७ १२६ म अच्छोद सरोवर वणन, अनुच्छेद १३१ १३२ म शिव म दिर वणन, अनुच्छेद १३३ १३५ में महाश्वेता रूप-वणन, अनुच्छेद १६८ म च द्रोदय वणन, अनुच्छेद १८५ १८७ म (भवननिर्माण कला से सम्बद्ध) कुमारी अत पुर वणन तथा अनुच्छेद १६० मे श्रीमण्डप वणन अनुच्छेद १६१ मे कादम्बरी रूप वणन, अनुच्छेद १६८ २०० मे मणिगृह तथा क्रीडा पवत वणन तथा अनुच्छेद २०३ मे सध्याकाल के अत्यत रमणीय वणन, पाठक के मन को आह्लादित कर जाते है।

पाचवी कथा भी वणना से समृद्ध है। उसके अन्तगत अनुच्छेद २१५ म घू य महाटवी का वणन, अनुच्छेद २१६ म महिषासुर मर्दिनी दवी म दिर तथा उसके वृद्ध द्रविड पुजारी का भयप्रद वणन, अनुच्छेद २४४ म सध्या-काल वणन, तथा अनुच्छेद २८७ २८६ म काल जलद (वर्षा) वणन अधिक उत्तम बन पडे हैं। छठी कथा मे उत्तम वणना का अभाव है कि तु सातवी कथा म आदिवासियो (पक्वण या चाण्डालो) की बस्ती म विचित्र वणन तथा अनुच्छेद ३४३ (आठवी कथा) म, बस त ऋतुवणन आदि बाण की अनूठी वणन प्रतिमा का, माना हम साक्षात्कार ही करा जाते हैं।

बाण ने अपनी इस महाकथा का समारम्भ, बड भ य एव नाटकीय ढग से किया है, जो पाठक को सहसा ही 'कथारस' म विमुग्ध कर दता है। विदिशा नामक नगर म राजा शूद्रक का, जब ठाटबाट से दरबार जुडा तो प्रतिहारी, राजा के समक्ष निवेदन करता है कि एक चाण्डाल-कया राजदरबार म एक तोता लेकर, स्वय उपस्थित होना चाहती है और उसकी रामकहानी (तोत की पूवज म-कथा) राजा के समक्ष सुनाना चाहती है। राजाज्ञा पाकर प्रतिहारी उस चाण्डाल-क या को राज दरबार म ले आया। बाण ने उसकी वेषभूषा और यक्तित्व का चित्रण चरकीने रगो म किया है जो भारतीय रगो की परम्परागत योजना के अनुसार सम्पूण बन पडा है। प्रसिद्ध भारतीय चित्रकार श्री रवि वर्मा न इसी भ य वणन को अपन प्रसिद्ध दृश्यपट के लिए चुना था। बाण ने, शब्दो म, उसका यो अनूठा चित्रालेखन किया है —

' साँवले रग की वह चाण्डाल क या, विष्णु के उस मोहिनी रूप [illegible] मिलती थी जो उन्होंने असुरो के हाथ म पहुँचे हुए अमृतघट को, वापस लाने क लिए धारण किया था। वह क या क्या थी माना चलता फिरता नीलम की पुतली थी। उसका शरीर, गुल्फो (टखनो) तक लटकते हुए नीले कचुक से ढका हुआ

था। उसके ऊपर उसने मजीठी रग का रेशमी ओढनी (रक्तांशुक रचितावगुंठनाम) धारण की हुई थी। उसके एक कान म हाथी दांत का पत्ता था। माथे पर कुछ कुछ पीले रग की गोराचना का, तिलक था, जो मानो तीसरे नेत्र की सी छटा दे रहा था। मानो स्वय भगवान शिव के किरात वेश धारण करने पर, भगवती पार्वती ने भी किराती वेश धारण कर लिया होवे। वह विष्णु की देह काति से सावली हुई लक्ष्मी सी लगती थी, अथवा वह शिव की क्रोधाग्नि म दग्ध, कामदेव की धुधुआती देह से, मलिन बनी हुई रति सी, जान पडती थी। वारुणी छके बलराम ने अपने हल से जब यमुना को खींचना चाहा तो वही कालिंदी मानो भाग कर, यहा आ गई थी।

'उसके पर, घने आलते के रग म रग हुए थे। उसके परो की ललाई लिए हुए, अगुलियो के नख भी लाल थे जिनकी परछाइ मणियो के फश पर पड रही थी। ज्ञात होता था कि कठिन भूमि म सुकुमार परो को टिकाने के लिए वह पल्लव बिछाती हुई चल रही थी। उसके नूपुरो की कुछ लाल-पीली रश्मिया शरीर को रजित कर रही थी। वह अपने जघन भाग मे मेखला कठ म मुक्ताफलो का उज्जवल हार कानो म चन्दन पल्लवो के अवतस और कई रगो के जडाऊ कर्णाभरण धारण किए हुए थी। उसके हाथ म लीलाकमल था। उसका रूप अछूता था। वह चित्रलिखित सी जान पडती थी। उसका कटिभाग अत्य त विरल था मानो कामदेव की चापयष्टि हो। उसके सिर पर अलकावली सुशोभित थी और उसने अभी अभी यौवन के प्रारम्भ म पर रखा था।

'भुवनालोक प्रासाद शैली (स्थापत्य कला सम्ब धी पारिभाषिक शब्दावली) म चित्रित, प्रसिद्ध शाल्मली वृक्ष का वणन ही मानो कादम्बरी की महाकथा रूपी अटवी म से आकाश मडल म सिर उठाए खडा है। (भुवनालोक प्रासाद— प्रासाद की चोटी पर सबसे ऊँचे कक्ष के लिए एक नाम था— जहा बैठ कर गृहपति चन्द्रिका का आनन्द लेते थे और विविध ऋतुओ म प्रकृति निरीक्षण किया करते थे।) शाल्मली वृक्ष का यह अविस्मरणीय वणन आद्योपात ही पठनीय है —

'इस भाँति आकाश म ऊँचा सिर उठाए हुए वह वृक्षराज ऐसा जान पडता था, मानो वन देवताओ ने, भुवनो का दशन करने के लिए एक अवलोकन प्रासाद बनाया हो, अथवा वह दण्डक वन का राजा हो, या सब वनस्पतियो का नायक हो, या वि ध्याचल का सखा हो जिसने अपनी शाखारूपी भुजाओ से, विन्ध्याटवी का आलिंगन कर रखा था।

'सरोवर के पश्चिमी किनारे पर वह पुराना बडा शाल्मली (सेमल) का पड खडा था। समीप म ही उसका साथी वह जीण ताड वृक्ष था जिसे त्रेतायुग म राम, अपने बाणो से जजर कर गए थे। उसकी जड म सदा ही एक बडा अजगर लिपटा रहता था जसे किसी ने वृक्ष के लिए थावला बना दिया हो। वृक्ष के ऊचे गुच्छो से

लटकते हुए उस सप के केंचुल, वायु मे हिलते हुए, ऐसे लगते थे माना उस महावृक्ष ने, भीने उत्तरीय आढे हो। दिशाओ का प्रसार कहाँ तक है, यह जानने के लिए ही मानो उसने, आकाश म अपनी सहस्रा शाखा प्रशाखाएँ फलाई हुई थी। उह देख कर जान पडता था, मानो वह प्रलयकाल म ताण्डव के लिए सहस्रो भुजाएँ फलाए हुए भगवान शकर से, होड सी लगा रहा होव।[1]

विध्याटवी के बीच दण्डकवन मे स्थित महामुनि अगस्त्य का आश्रम था जिसे तीन ओर से गादावरी की धारा ने घर रखा था। उसी आश्रम के आसपास, का पवत उपत्यका की वैभवमयी भूमि म, रात्रि के अवसान एव प्रभात के अवतरण के समय, प्रकृति-पट मे, पल पल बदलने वाले रगा की रग बिरगी आभा को, बाण की कल्पनाशील आँखा ने मानो जी भर कर निहारा है। बाण के इन सभी एक से एक अनूठे वणनात्मक कला समृद्ध वणनो का यहा उदधृत किया जाना सम्भाव्य नही है। तथापि बाण द्वारा चित्रित विशाल नैसर्गिक पृष्ठभूमि पर अकित किए गए अनेकानेक महान दृश्यपटा की छवि का आभास कराने वाले एक प्रति निधि वणन अर्थात अच्छोद सरोवर से सम्बद्ध प्रभात वणन को यहाँ उदधृत किया जा रहा है—

यह सोच कर कि इधर कोई जलाशय होना चाहिए, कुमार जिस माग से आया था, उसी ओर लौट पडा। कलास की तलहटी म इस भाति कुछ दूर जाकर उसने, उसी पवत के पूव उत्तर की दिशा म लम्ब चौड वृक्षा की एक वनखण्डी देखी। सामने से आती हुई शीतल मन्द, सुगन्ध वायु और कमलो के मधुपान से मत्त कलहसो के कोलाहल स आकृष्ट होकर उसन उसी मे प्रवेश किया।

उस वनखण्डी म कही खदिर, साखू और सलई के पेड थ, किन्तु वे सभी, शाखाएँ कम होने के कारण विरल जान पडते थे। कही लाल रग की मोटी बालू (बजरी) बिछी हुई थी और चट्टानों के कारण घास भी कम थी। कही जगली हाथियो से चुनी हुई मनसिल (गेरु) के कारण भूमि लाल हो रही थी। कही पाषाणभेद लता की, टेढामेढी मजरी, ढोका के बीच मे से निकलती हुई उन पर फल गई थी, मानो कुटिल-पत्र भग के अलकरण, उत्कीण किए हुए हो। कही गुग्गुलु (गूगल) के वृक्षा का द्रव चट्टाना पर टपक रहा था। कही पवत के शिखर पर से बह कर आया हुआ शिलाजीत का रस, पत्थरो को गीला कर रहा था। कही घोडा की टापरूपी टाँकिया स उठी हुई, हरताल की धूल, जमी हुई थी। कही चूहा स खोदा हुआ सोने का चूण, बिलो के बाहर बिखरा पडा था। कही चौरी

---

१ कादम्बरी (वणन सख्या २१, पृष्ठ सख्या ३७) (हिन्दी रूपान्तर भाग) उपयुक्त सस्करण से।

गाय और कस्तूरिया हिरण के खुरों की छाप धान् पर अंकित थी। कहीं रकु और रलक हिरणों के राएँ यरकर गिरे थे। कहीं चकोग के जोड़े ऊँचे नीचे पत्थरों पर बठे हुए थ। कहीं वनमानुषों के जोड़े गुफाओं के मुह के पास, सट कर बैठे थे। कहीं गन्ध पाषाण (ग धक) की तीव्र महक उठ रही थी और कहीं वनलताओं के कुंजो मे, बाँस उग रहे थे।

(वहाँ प्रवेश करते ही कुमार ने वनखण्ड के मध्य भाग मे एक अति मनोहर और आह्लाद दायक सरोवर देखा जिसका नाम अच्छोद था। कादम्बरी की कथा म अच्छोद सरोवर का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि कथा के समस्त पात्र, यहीं धीरे धीरे एकत्र हो जाते हैं।)

यह सरोवर ऐसा आभायुक्त था, मानो पृथिवी देवी ने अपने निवास के लिए स्फटिक का भूमिगृह रच रखा हो। वह ऐसा गम्भीर था मानो समुद्रों न पाताल से ऊपर आने का मार्ग बनाया हो। वह क्षितिज के छोर तक फैला हुआ था मानो दिशाओं के भीतर से उनका ही रस चूकर एकत्र हो गया हो। वह इतना विस्तृत था मानो आकाश का अवतार हो। उसके जल की शुभ्रता ऐसी थी मानो रजताद्रि कैलास ही द्रवित हो उठा था। वह ऐसा शीतल था मानो तुहिनाद्रि हिमालय ही पिघल गया हो। उसका जल ऐसा अमृतमय था मानो चन्द्रमा की ज्योत्स्ना, जलरूप मे परिवर्तित हुई हो। उसकी धवलता से ज्ञात होता था मानो शिव का अट्टहास ही जल बन गया हो। वह ऐसा सुखदायक था मानो त्रिभुवन का पुण्य ही सरोवर के रूप म मूर्त हो उठा हो। उसकी नीली आभा से ऐसा लगता था, मानो वैदूर्य पर्वत सलिल के रूप मे से झलक रहा हो। उसकी उज्ज्वलता ऐसी थी मानो शरदाकाश की मेघमाला, गल कर पृथिवी पर आ गई हो। प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की स्वच्छता के कारण वह वरुण के दर्पण जैसा प्रतीत होता था।

'किसी ने मुनियों के मन की सज्जनता के गुणों की किरणों की निर्मलता की एवं मोतियों की स्वच्छता को लेकर ही उसका निर्माण किया था। भरा हुआ होने पर भी उसके भीतर की सब वस्तुएं दिखाई पड़ती थी मानो वह रीता ही हो। उसके ऊपर वायु जलतरगों के छींटे उड़ा रही थी। उन पर पड़ती हुई सूर्य की किरणों से ज्ञात होता था मानो सहस्रों रंग बिरंगे इन्द्रधनुष उसकी रक्षा कर रहे हों।

बीच म खिले हुए कमलों स और चारों ओर फैले हुए शैलवन एव आकाश के नक्षत्र और ग्रहों की जलमध्य म पड़ती हुई परछाइ से वह त्रिभुवन को उदर म रखने वाले, नारायण के समान जान पड़ता था। पास मे स्थित कैलास से भगवान शिव अनेक बार स्नान के लिए वहाँ आते थे। उस जलक्षोभ से हिले हुए चन्द्रमा का अमृतरस, और उनकी देह के वामार्ध भाग मे स्थित पार्वती के कपोल से धुला हुआ लावण्य, मानो उसके जल म समा गए थे।[1]

---

१ 'कादम्बरी अनुच्छेद १२७ १२८

उपर्युक्त शली के एक से एक अनूठे नैसर्गिक छटा का चित्रित करने वाने महान दृश्यपटो पर अकित, वनपवत उपत्यकाओ एव सरोवरो क वणनो को पढ जाने पर ही, बरबस प्रख्यात पुरातत्वविद, श्री एम० वि टरनिज के मन मे यह विस्मय विमुग्ध उदभावना, अत मुखरित हुई थी—

भारतीय और जमन लोगो को, नैसर्गिक छटा का दरसाने वाले वणनो से, गहन अनुराग है। अतएव भारतीय तथा जमन महाकवि, प्रकृति एव मानव के हृप विवाद के परस्पर सामजस्य को दरसाने म हार्दिक सुखानुभव करते हैं।"[1]

सुब धु बाण तथा दण्डिन प्राचीन भारतीय उपन्यास की यह बहृत्नयी अपनी वणनात्मक प्रतिभा के लिए अनुपम है। दण्डी इस 'त्रयी' के अन्तिम उप यास कार थे। यद्यपि बाण की कृतिया पर सुब धु की कृतियो का बहुविध प्रभाव पडा था कि तु दण्डी पर अपने उक्त दानों पूववर्त्ती लेखका की कृतियो का कोई सीधा प्रभाव दिखाई नही दता। बल्कि उनकी कृतिया पर गुणाढय की बहत्कथा' का प्रभाव ही कही अधिक सुस्पष्ट है—कथावस्तु एव जीवन चित्रण दानो ही दृष्टि से बहत्कथा' और 'दशकुमार चरित मे पर्याप्त समानता पायी जाती है। उपन्यास रचना की सहज एव मौलिक प्रतिभा, तथा वास्तविक जावन के चित्रण, दानों ही दृष्टिया स दशकुमार चरित' बडी समथ रचना है। कलात्मक दृष्टि से यदि बाण इस त्रयी' के सिरमौर हैं तो दण्डी भी अपनी सहज कथा रसात्मकता के कारण, अद्वितीय हैं। सुबन्धु को श्रेय है परिनिष्ठित सस्कृत म रचित उपन्यास साहित्य के आद्य प्रवतन का। कथारम का, पद्य काव्य के आलकारिक बधना स मुक्त करने का प्रथम प्रयत्न सुब धु ने किया था। बाण म काव्यरस एव कथा मा धुय का कलात्मक साम जस्य है, किन्तु दण्डी की कृति म हम काव्य नियमा से उन्मुक्त सहज कथाप्रवाह के प्रथम दशन हात हैं। इस भाँति, तीना हो रससिद्ध कथाकारा का तुलनात्मक सम न्वित अध्ययन, प्राचीन भारतीय औपन्यासिक साहित्य क विकास क सम्यक अनु सधान की दृष्टि स, बडा ही महत्वपूण है। कहना न हागा कि इन्ही तीन प्रथम सुविकसित औपन्यासिक कृतियो न, न कवल हि दी उपन्यास की वणनात्मक शैली को ही एक विशिष्ट कलात्मक सौदय की भगिमा प्रदान नही की वरन उ हान समस्त आधुनिक भारतीय भाषाओ मे रचित उपन्यास साहित्य का भी विविध रूपा म, कलात्मक एव रूपात्मक मागदशन किया है।

—

१ 'ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर' (एम० विन्टरनिज प्राग विश्व विद्यालय म भारतीय विद्या विभाग के अध्यक्ष) जिल्द १, भाग १ (द्वितीय सस्करण १९२९ ई०)।

'दशकुमार चरित' का मुख्य उद्देश्य था, अखिल जनजीवन की विभिन्न झलकियाँ प्रस्तुत करना। इस उपन्यास के कथा प्रसंगों में हम जादूगरों, पाखण्डी साधुओं, राजकुमारियों, राजा महाराजाओं, वेश्याओं, चोरों तथा मतवाले कामुकों, सभी का कुशल चित्रण पाते हैं। यहाँ तक कि राक्षसों तक का भी कभी कभी दर्शन हो जाता है पर देवता बेचारों का कथानक में कहीं भी जगह नहीं मिल पाई है। वस्तुतः दण्डी बड़े ही क्रान्तिकारी एवं स्वाधीन प्रवृत्ति वाले साहित्यकार थे। उन्होंने न केवल काव्यशास्त्र की रूढ़ परम्पराओं को ही छिन्न भिन्न कर डाला वरन् तत्कालीन समाज में प्रचलित धार्मिक एवं रूढ़ि सामाजिक मान्यताओं के प्रति भी, उन्होंने खुला विद्रोह घोषित किया है।

इस उपन्यास में दण्डी ने अनेक स्थलों पर अपने कथानायकों के मुख से परस्त्री हरण और खून खराबा तक को उचित साबित करने के लिए, शास्त्रों के वचन उद्धृत कराये हैं। अपहारवर्मन चोरों का राजा है जो कर्णीसुत मूलदेवकृत चौर्यशास्त्र के अध्ययन के सहारे चोरी करता है हालांकि उसकी चोरी का उद्देश्य एक लुटे हुए भलेमानस की सहायता करना ही है और नगर के केवल कंजूसों को लूटना और उनके धन का अपहरण करना ही उसे अभीष्ट है। धोकेबाजी से अपने एक साथी को बचाने के लिए मन्त्रगुप्त विशुन दुर्गा के नाम का सहारा लेता है। दण्डी ने न केवल कट्टर ब्राह्मणों का ही उपहास किया है वरन् उन्होंने दिगम्बर जैन और पाखण्डी बौद्ध श्रमणों की भी खूब खबर ली है। हिन्दू व्यापारी का बेटा वसुपालित काममंजरी नामक वेश्या द्वारा लुटा जाकर दिगम्बर साधु बन बैठता है पर वह अपहारवर्मन से स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करता है कि लोभ त्याग और उपवास से उसे बड़ी तकलीफ अनुभव होती है। कुछ बौद्ध भिक्षुणियों को कुटिटनियों के रूप में भी चित्रित किया गया है। इस भांति सारा उपन्यास रूढ़ धर्म के पाखण्डी रूप का घोर विरोधी है।

इस भांति तेरहवीं शती में रचे गये चीनी भाषा के उपन्यास 'सुई हु चुआन' (झीलतराई उपन्यास) के भी प्रायः छः शती पहले दण्डीरचित यह 'दशकुमार चरित' उपन्यास ही वस्तुतः विश्व का सर्वप्रथम लोक उपन्यास कहलाये जाने का अधिकारी है। आद्य भारतीय उपन्यासकारों में साधारण जनजीवन को यथार्थ भूमि पर चित्रित करने का श्रेय सर्वप्रथम दशकुमार चरितकार दण्डी का ही है। दशकुमार चरित' के प्रधान पात्र तो अत्यन्त सजीव हैं ही साथ ही मारीचि ऋषि, व्यापारी वसुपालित, वारवधू काममंजरी, मुर्गों की लड़ाई का विशेषज्ञ बूढ़ा ब्राह्मण, पांचाल शर्मा, राजकुमारी का प्रणयार्थी कोतवाल कांतक आदि पात्रों का चित्रण भी दण्डी ने अपनी प्रतिभाशालिनी लेखनी से कुछ ऐसी अनूठी वर्णन प्रतिभा से किया है कि वे पाठक के समक्ष मानो सदेह आ उपस्थित होते हैं।

संक्षेप म, मात्र तीव्र कथारम्भ से छनछनाती हुई अपनी वर्णन प्रधान कहानी को कहने के लिए ही दण्डी ने 'दशकुमार चरित' की रचना की है। उपदेश देने की प्रवृत्ति यहा कम से कम है। कहानी कहने के लिए सीधी सादी भाषा चाहिए, इसीलिए गुणाढ्य की मनोहारी शैली का, दण्डी ने खुल कर उपयोग किया है। अलकारों और समासो की मदद से, शैली म गम्भीरता देने का प्रयत्न 'दशकुमार चरित' म कहीं नही दिखाई देता। संस्कृत गद्य के तो दण्डी, सम्पूर्ण अधिकारी लेखक माने जाते हैं। उनकी भाषा, सीधी सादी और आडम्बर रहित है। ठीक ठीक भावप्रधान तो उनकी शैली की, जान ही है। शब्दयोजना ऐसी है कि जिससे स्वय ही (सहज ही) रस छलक पडता है। उनके वर्णनो म कही भी पुनरावृत्ति नही पाई जाती। दण्डी कृत रूपवती राजकन्याओ के नखशिख वर्णन अद्वितीय बन पडे हैं। एक जगह प्रभातशोभा का भी सुन्दर शाब्दिक चित्रपट है। एक भयकर अकाल का वर्णन करते हुए प्रतिभा सम्पन्न उपन्यासकार ने, कथा साहित्य मे यथार्थवादी चित्रण का भी सजीव उदाहरण प्रस्तुत किया है।

प्राचीन भारतीय उपन्यास साहित्य म बहुधा तीतर, बटेर मेढो और मुर्गों की लडाई के उल्लेख पाये जाते हैं। इन लडाइयो मे खूब बाजी लगाई जाती थी। 'दशकुमार चरित' म मुर्गों की लडाई का एक जगह बहुत ही सजीव चित्रण मिलता है। श्रावस्ती जाते समय प्रमति, एक निगम मे पहुँचा, जहा नगम लोग, मुर्गों की लडाई देखने म मस्त थे। मुर्गों को देख कर वह जरा मुस्कराया—एक बूढे ब्राह्मण विट ने इसका कारण पूछा—इस पर उसने जवाब दिया—पूरब का नारिकेल जाति का मुर्ग पश्चिम के बलाका जाति के मुर्ग से, कभी नही जीत सकता, इसीलिए उसे हँसी आ गई थी। ब्राह्मण उसकी राय से सहमत हो गया। अन्त मे 'बलाका' ही लडाई म जीता।

'दशकुमार चरित' के पचम उच्छवास म, 'मुर्गों की लडाई' की भाति एक अन्य लोकप्रिय भारतीय लोक मनोरजन—'जादूगरी के खेल' का भी, दण्डी ने अपनी अनुपम रिपोर्ताज शैली म चित्रवत वर्णन किया है। यह उपन्यासकार के निजी मन मौजी स्वभाव का भी यथार्थ परिचायक है। मानो उपन्यासकार स्वय भी कभी मुर्गों की लडाई वाले तमाशे म (राजकुमार प्रमति की भांति) भीड म घुस कर तमाशा देखने को उत्सुक रहता है कुछ उसी भांति की समुत्सुकतायुक्त वर्णनशैली के दर्शन, हम जादूगरी के निम्न खेल के वर्णन म मिलते हैं। विधेश्वर जादूगर ने नगरवासियों की भीड, अपने चारो ओर एकत्र कर रखी है। तभी —

विधेश्वर का इशारा पाते ही उसके सभी साथियो ने बाजे बजाने आरम्भ कर दिये। गायिकाएँ गाने लगीं। मन्द मन्द बादल की गूज की तरह उनकी खूब मीठी व सुरीली तानें उठने लगी। बाजा और गानेवालियो का ऐसा जोड मिला कि दर्शकों का ध्यान उधर ही खिंच गया। गाने का खूब समा बँधा। दर्शक लोग इतनी

में तन्मय हो गए और सभी का चित्त प्रसन्न हो गया। तमाशा दिखाने वालों ने इसी बीच अपनी सब तैयारी कर ली और मोर पंखियाँ घूमने लगीं। इस समय तक खेल के चारों ओर खूब भीड़ जमा हो गई थी और लोगों पर वहाँ के वातावरण का, पूरा पूरा असर हो चुका था। विश्वेश्वर अपनी अधमुँदी आँखों से सबकी ओर देख रहा था। वह थोड़ी देर चुप बैठा रहा फिर उसने अपना काम शुरू किया।'

'लोगों ने एकाएक देखा कि कहीं से बहुत से फनियर सर्प निकल पड़े हैं। ये सबके सब बड़ा तेज और भयानक जहर उगल रहे थे। साँपों के सिरों पर मणियाँ रखी हुई थीं जो चमचमा रही थीं। ये साँप इस समय वहाँ फिरते हुए ऐसे दिखाई पड़ रहे थे मानो दिया लेकर राजपथ की आरती उतार रहे हों। उन्हें देख कर, दर्शकों को बड़ा ही डर लगा। इतने में न जाने कहाँ से बहुत से गिद्ध उतर आए। उन्होंने उन बड़े बड़े नागों को अपनी चोंचों में दबा लिया और फिर वे उन्हें लिए हुए ही आसमान में उड़ने लगे।'[1]

'दशकुमार चरितकार' दण्डी ने अपने आस पास के समाज एवं जनजीवन को द्रष्टा भाव से सूक्ष्मतम दृष्टि से देखा था और उन्होंने प्रायः ऐसे सामाजिक वर्गों की गतिविधियों एवं प्रवृत्तियों में भी खोजबीन की थी जिनकी ओर से सहज ही हम उपेक्षा से अपनी नजरें हटा लेते हैं। दण्डी ने अपने इस विचित्र विचित्र कथा लोक में पेशेवर अपराधियों तथा चोरों तक को पर्याप्त स्थान दिया है। 'चौर्यशास्त्र' कार कर्णीसुत की कृतियों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने वाले राजकुमार अपहारवर्मा के अनुभवों एवं दुःसाहसपूर्ण कार्य कलाप का मानो लेखक ने स्वयं ओट में छुप कर, पर्यवेक्षण किया है। अपहारवर्मा ने नागरिकों से हेलमेल बढ़ाने के लिए कुशल जुआरियों से उनकी हाथ की सफाई व दाँव पेंच सीखे। उपन्यास के पृष्ठ १६१ से पृष्ठ १६३ तक जुआरियों की निंदा एवं अपहारवर्मा के जिगरी दोस्त विमर्दक का बड़ा ही रोचक शब्दचित्र प्रस्तुत किया गया है। तत्पश्चात उक्त चोर राजकुमार द्वारा चौरकार्य का क्रियात्मक एवं सांगोपांग वर्णन भी मिलता है—

'अब मैंने अपने पिछले निश्चय के अनुसार चोरी के मुहिम पर निकलने का इरादा किया। उस रात को जब बहुत घना अंधकार था मैं चल दिया।' वह रात मुझे बहुत अच्छी तरह याद है। उसका अंधेरा इतना घना था कि शायद महादेवजी के गले की कालोंच भी इतनी ज्यादा काली न होगी। बाहर चलने से पहले मैंने नीले रंग के कपड़े का लबादा ओढ़ा और एक तेज कटार सेंध लगाने का सन्देश कतरनी जंबूर नपैना गोह रस्सी आदमी के सिर का लकड़ी का खोल कृत्रिम चेहरा, बेहोश करने वाली बुकनी जादू की सलाई जेबी लालटेन, दिया बुझाने वाले

---

१ 'दशकुमार चरित' (दण्डी) (आमुख—डा० मोतीचन्द्र) (प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली बम्बई) पृष्ठ ११६ ११७

पनगा को डिबिया आदि सभी सामान सावधानीपूवक बाध लिया और अपने मुहिम पर रवाना हुआ।

मैंने एक बडे कजूस रईस के मकान मे सेंध लगाई। सेंध के छेद म से एक दूरबीन के सहारे मैंने घर के भीतर की समस्त गतिविधि पर नजर रखनी प्रारम्भ की। जब मैंने ठीक मौका देखा तब बेधडक, मैं उस कजूस के घर मे घुस गया, माना वह अपना ही घर हो। अन्दर जाकर टटोलने पर सहज ही वह थसनी मेरे हाथ लग गई जिसमे माल भरा था। इसे लेकर मैं बाहर निकल आया और सडक पर आ पहुँचा।"[1]

एक अय अवसर पर अपहारवर्मा ने एक राजप्रासाद म भी सेंध लगाई। चोरी करने के लिए थोडी सी दीवार तोडी और उसने दरार म से एक अत्य त विस्मयकारी दृश्य देखा। उस दृश्य का वणन स्वय चोर राजकुमार की ही जुबानी सुनने योग्य है—

एक स्थान पर वह क्या देखता है कि इधर उधर चारो तरफ तो बहुत सी सखी सहेलिया और दासिया लेटी हैं और उनके बीच मे एक राजकुमारी सो रही है। कमरे के बीचोंबीच एक बढिया पलग लगा हुआ है। इसके सिरहाने और पैताने की तरफ तरह-तरह के बहुत से फूल बिखरे पडे हैं। पलग के ऊपर हसो के मुलायम परो से भरा हुआ खूब गुदगुदा गदेला बिछा है और एक खूबसूरत तकिया रखा हुआ है। इस पलग के पाये हाथीदात के थे और सोये हुए सिंहो के आकार क बने हुए थे। इन सिंहों की देह म जगह जगह खूब बडे बडे और कीमती नग जडे थे। उसी पलग पर राजकुमारी प्रगाढ निद्रा म निमग्न थी। राजकुमारी की गदन तनिक मुडी हुई और बडी प्यारी लग रही थी। इसमे निखरे हुए सोने की लडी पडी थी जिसके अन्दर, एक बडे से माणिक्य का, तरल (लाकेट) पिराया हुआ था। कुण्डल कान के नीचे निश्चल पडा था और अपनी अधूरी झलक दिखला रहा था। कान के ऊपर कनौती म जडाऊ कणफूल लगा था। इसमे से किरणा पर किरणें फूटी पडती थी, जिनके कारण कनपटियो पर की लटें पीली सुनहरी सी दिखाई पड रही थी।

बायां हाथ गालके नीचे स, पीछे की ओर जरासा निकला हुआ था। उसकी उगलियाँ जरा जरा ऊपर की ओर, कान की तरफ मुड रही थीं। राजकुमारी की दोनो आँखें मुँदी थी। उन्हें देख कर यह मालूम पडता था मानो दो नीले कमल मुँदे हुए रखे हो। माथे पर कहीं-कहीं पसीने की नन्ही-नन्ही बूँदें छलक रही थी जिनसे कि उसके माथे पर लगा हुआ चदन का तिलक, धुल सा चला था। एक बहुत ही सफेद चादर पर राजकुमारी की चमचमाती हुई निश्चल देह कुछ आडी

1 दशकुमार चरित (हिन्दी), पृष्ठ १६४

मालादपि सद्‌बोधम् कारिणी, कणपेशला ।
तथापि प्राकृता भाषा, न तेषामभिभासते ॥
उपाये सति कर्त्तव्यम् सर्वेषाम चित्तरंजनम् ।
अत तदनुरोधेन संस्कृतेयम करिष्यते ॥"

(अर्थात् यद्यपि इस समय देश की प्रमुख दो भाषाएँ हैं—संस्कृत एव प्राकृत, फिर भी उनमे से, संस्कृत भाषा ही, पंडितजनो एव विज्ञजनो के हृदय मे घर कर चुकी है। यह तो सही है कि छोटे छोटे बालको के लिए भी प्राकृत भाषा कण मधुर है और सदबोध को बढाने वाली है फिर भी साहित्यिक क्षेत्रो म उसका, आज भी प्रचार अथवा समादर नही पाया जाता। सज्जनों का यह कर्त्तव्य है कि वह सभी का मनोविनोद एव चित्तरजन करें। इसीलिए मैं उन विज्ञजनो के अनुरोध पर, अपना यह ग्रन्थ, संस्कृत मे ही लिख रहा हूँ।)[1]

सिद्धर्षि द्वारा, संस्कृत भाषा म प्रणीत, उक्त बहुचर्चित आत्म कथात्मक उपन्यास *उपमिति भावप्रपच कथा' (९०० ई०) एक सासारिक व्यापार मे निमग्न* व्यक्ति के, विविध घटनायुक्त जीवन का चित्रण है, जिसने कि अन्त म, सन्यास ग्रहण कर लिया था। अनेक अर्थों मे यह उपन्यास भी, अपनी कथावस्तु की दृष्टि से दश कुमार-चरित' के समान ही यथार्थवादी शैली का उपन्यास कहा जा सकता है। अन्तर है केवल दण्डी द्वारा अवलंबित 'आनन्दवादी आर्य दर्शन तथा सिद्धर्षि द्वारा प्रतिपादित सन्यास मूलक जैन दर्शन' का। सिद्धर्षि के पश्चात ईसा की दसवी शती से सत्रहवी शती तक रचे गए प्रभूत औपन्यासिक एव कथात्मक साहित्य म संस्कृत भाषा मे प्रणीत कुछ अन्य विशिष्ट *उपन्यास* भी हैं। *उनमे भी विशेषतया, धनपाल* रचित 'तिलक मजरी (रचना-काल ९७० ई०) हेमचन्द्र-कृत 'त्रिषष्टिशलाका-पुरुष' (१००० ई०) ओडमदेव वादीभसिंह कृत गद्य चिन्तामणि (११०० ई०) सोड्ढल कृत 'उदयसुन्दरी कथा (१४०० ई०) तथा इनके भी पश्चात ईसवी १७०० के आस पास रचे गए अगस्त्य-कृत 'कृष्ण चरित' और वामनभट्ट बाण कृत वेमभूपाल चरित आदि (संस्कृत भाषा म रचे गये,) प्रौढ उपन्यास भी अपनी साहित्य श्री एव वर्णनात्मक विशिष्टताओ के कारण विशेषतया उल्लेख्य हैं।

धनपाल कृत 'तिलक मजरी के सम्बन्ध म अनेक उत्तम टीकाकारो ने विशद व्याख्याएँ लिखी हैं (इनमे निर्णयसागर प्रेस बम्बई द्वारा प्रकाशित प० भवदत्त शास्त्री द्वारा सपादित टीका, उत्तम मानी जाती है)। अपनी कृति के प्रारम्भ म धनपाल ने, एक विशद प्रस्तावना भी दी है जिसके अनुसार, उनके आश्रय दाता वाकपतिराज थे, जिन्होने गौडवध नामक महाकाव्य की रचना भी की थी। वे हर्षदेव के पुत्र थे। उन्होने महाकवि भवभूति का भी अनेक बार समादर किया था। इसके अतिरिक्त

---

१ उपमिति भावप्रपच कथा' (सिद्धर्षि) (१ ५१ ५२)

कल्हण कृत 'राज तरंगिणी' में भी वाकपतिराज को, उत्तम कवि तथा सुयोग्य शासक बताया गया है। 'हलायुध कोश' में भी वाकपतिराज की दानशीलता को सराहा गया है और उसे सभी सहायता चाहने वालों के मनोरथों के लिए 'कल्पतरु' बताया गया है। कोशकार के अनुसार, वाक्पतिराज वस्तुतः मालव नरेश मुंज का ही एक काव्य-उपनाम था।[1] तिलक मंजरी में तत्कालीन कलाकौशल तथा सांस्कृतिक जीवन की मनोरम झाँकियाँ प्रस्तुत करने वाले आकर्षक एवं विशद् वर्णन पाये जाते हैं।[2]

संस्कृत भाषा में, जैन विद्वानों एवं जैन मुनियों द्वारा रचित कथा साहित्य (ईसवी शती, दशवीं ग्यारहवीं) का एक बड़ा महत्त्व यह रहा है कि अनेक अंशों में, वह प्राचीन भारतीय कथात्मक संस्कृत वाङमय, एवं आधुनिक भारतीय भाषाओं में रचित उपन्यास साहित्य के बीच की कड़ी के रूप में, अवस्थित है। वह संस्कृत साहित्य में उपन्यास विधा के अभ्युदय काल का परवर्ती है एवं आधुनिक भारतीय भाषाओं के उपन्यास-साहित्य का पूर्ववर्ती है। साथ ही यह बहुत अंशों में, सुरक्षित एवं उपलब्ध भी है।

सन् १९६० ई० में प्रकाशित श्री वाचस्पति गरोला द्वारा रचित संस्कृत साहित्य का इतिहास में अनेक ऐसी औपन्यासिक कृतियों का भी उल्लेख मिलता है, जो अभी तक विलुप्त मानी जाती थी। उन्होंने अपने उक्त विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ के अठारहवें अध्याय (कथा साहित्य की समृद्धि) में अन्तर्गत सुबन्धु द्वारा प्रवर्तित संस्कृत उपन्यास साहित्य की परम्परा का क्रम बद्ध विवेचन किया है। उससे यह सत्य प्रमाणित होता है कि पाँचवीं शती ईसवी से लेकर अद्यावधि—प्रायः पन्द्रह सौ वर्षों के सुदीर्घ अन्तराय में होकर भी संस्कृत उपन्यास की यह अक्षय मन्दाकिनी किसी न किसी रूप में अब भी प्रवाहित है। उन्नीसवीं शती में रचे गए संस्कृत उपन्यास साहित्य के परवर्ती पुनरुत्थान के प्रमाण में श्री गरोला ने श्री अम्बिकादत्त व्यास के आधुनिक उपन्यास 'शिवराज विजय (रचनाकाल १८४० ई०) की साहित्यिक गरिमा को स्वीकार करते हुए उन्हीं के समकालीन श्री हृषीकेश भट्टाचार्य (१८५०-१९१३ ई०) कृत एक अन्य उत्तम उपन्यास 'प्रबन्ध मंजरी' का भी उल्लेख किया है। इसी प्रसंग में उन्होंने प्रायः उसी समय की रचित कुछ अन्य औपन्यासिक कृतियों

---

१ तिलक मंजरी' (धनपाल) (संपादक प० भवदत्त शास्त्री) (प्र० श्री काशिनाथ पांडुरंग परब) (द्वितीय संस्करण १९३८ ई०, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई)।
२ इंडियन कल्चर' (अक्टूबर १९३५ ई०, पृष्ठ १५६ २१०)।

की भी चर्चा की है जिनका कि पीटर्सन नामक प्राच्यविद् ने, स्वप्रकाशित शोध प्रबन्ध—'संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थो का सूचीपत्र' मे समावेश किया है।[1]

जैन आचार्यों एवं मुनिजनो ने संस्कृत भाषा मे उपन्यास रचना, केवल इसलिए की थी कि जिससे वे अपने दार्शनिक एवं नैतिक विचारो को, तत्कालीन सुशिक्षित एवं पण्डित समुदायो तक पहुँचा पाएँ। किन्तु जो विशाल औपन्यासिक कृतियो का भण्डार हमे आज भी प्राकृत भाषा मे उपलब्ध है उससे पता चलता है कि अनेक शतियो तक जैन विद्वान एवं साहित्यकार, संस्कृत एवं प्राकृत दोनो ही भाषाओ, मे समानान्तर रूप से, उपन्यास रचना करते रहे। प्राकृत भाषा मे रचित, इस काल की औपन्यासिक सामग्री परिमाण की दृष्टि से पर्याप्त अधिक मात्रा मे, अद्यावधि समुपलब्ध है। इस भाँति हम संस्कृत एवं प्राकृत दोनो ही भाषाओ मे—आधुनिक भारतीय भाषाओ मे *उपन्यास विधा के प्रवर्तन एवं विकास काल तक—न्यूनाधिक मात्रा मे, उपन्यास रचना* की परम्पराएँ पाते हैं। उपर्युक्त दोनो परम्पराओ मे, अन्तर वस्तुतः इतना ही है कि जबकि संस्कृत उपन्यास साहित्य की परम्परा ईसवी शती पाचवी से लेकर अद्यावधि, एक अटूट शृंखला के रूप मे प्रवर्तित पाई जाती है प्राकृत के उपन्यास साहित्य की परम्परा, ईसवी शती १७०० के आसपास ही समाप्त हो गई। सहसा अभ्युदय देखने के पश्चात, वह सत्रहवी शती ई० के पश्चात् ह्रास का सामना करने में सफल नहीं हो पाई। इस भाँति आधुनिक भारतीय भाषाओ मे रचित आद्य उपन्यास साहित्य को, अपनी पूर्ववर्ती संस्कृत एवं प्राकृत दोनों परम्पराओ का प्रभूत रिक्थ प्राप्त हुआ है। किन्तु प्राकृत उपन्यास की परम्परा की कडी आधुनिक भारतीय औपन्यासिक साहित्य के प्रवर्तन से पहले ही टूट चुकी थी। इस भाँति आज के भारतीय उपन्यास को, हम संस्कृत उपन्यास साहित्य का ही उत्तराधिकारी मान सकते हैं—प्राकृत उपन्यास साहित्य का नही।

संस्कृत उपन्यास गत वर्णनात्मक समृद्धि ही, आधुनिक भारतीय भाषाओ मे रचित उपन्यास साहित्य में पाये जाने वाले वर्णनात्मक कला गत परस्पर साम्य की, प्रमुख आधारभूमि बनी। इस दृष्टि से आधुनिक काल मे रचित संस्कृत उपन्यासो का ब्यौरा और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। संस्कृत भाषा मे रचित कथा साहित्य का स्वर्णकाल तो तभी रहा था जबकि संस्कृत को देश की राज्यभाषा एवं सार्वभौम साहित्य भाषा होने का गौरव प्राप्त था। समयान्तर मे उसका स्थान क्रमश विभिन्न अपभ्रंशो एवं उनसे प्रसूत प्रादेशिक भाषाओ ने ले लिया। अत यह तो स्वाभाविक ही

---

१ संस्कृत साहित्य का इतिहास'—(वाचस्पति गैरोला) (अध्याय १८ उपशीर्षक 'उत्तरवर्ती गद्य कृतिया, पृष्ठ ९३४ ९३५) (चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी १, प्रथम प्रकाशन १९६० ई०)।

था कि आधुनिक काल म संस्कृत भाषा म साहित्य सजन का परिमाण, अ य नव्यतर भाषाओं की तुलना म, अपेक्षाकृत थोडा ही पाया जाये। किन्तु फिर भी इस बात से इकार नही किया जा सकता कि संस्कृत भाषा की लोकप्रियता एव उसके प्रति जनसाधारण की गहरी आस्था की जडें, इतनी गु ढ रही हैं कि भारत म नवागत अंग्रेजी राज को, संस्कृत भाषा के पराभव के लिए, विशेष एव व्यापक, योजना बद्ध अभियान करना पडा। संस्कृत के प्रचार प्रसार का दमन करने के पश्चात ही मे अंग्रेजी भाषा को इस देश म थोडा बहुत आगे बढा पाय।

भारत म आग्ल सत्ता क ठीक स्थापन स पूव सारे देश मे संस्कृत पाठ शालाओ का जाल बिछा था और इस क्रम मे, मुगलो क शासनकाल म भी कोई व्यवधान नही आने पाया। विभिन्न राज्य व्यवस्थाओं मे भी संस्कृत पाठशालाओं को राजा और प्रजा, दोनो की ओर स सदव ही सहायता एव सहयोग मिलता रहा था। यह सहज ही था कि भारत म अपने राज्य को जमाने का प्रयास करने हुए ईस्ट इडिया कम्पनी क डाइरेक्टरो का इस वस्तुस्थिति को देख कर भारी चिन्ता हुई। तत्कालीन संस्कृत के पडितजन यूरोपियन लोगो को अस्पृश्य मानत थे और इस भाँति, जनसाधारण म भी, वे यूरोपियन विरोधी भावना को उत्तेजना देते थे। अतएव भारत म अंग्रेजी राज ने सवप्रथम काय यह किया कि संस्कृत पाठशालाओ को राजकीय सहायता से वचित कर दिया। इस भाँति संस्कृत पढने पर, न तो कोई आर्थिक साधन शेष रह गया और न संस्कृत के पठन-पाठन के पश्चात् राज्य सेवा म नियुक्ति की ही संभावना रही। इस भाँति वह वर्ग, जो इस देश म सुप्राचीन काल से संस्कृत के प्रचार प्रसार एव उसम साहित्य सृजन का गुरुतर भार वहन करता रहा था, धीरे धीरे विघटित होता चला गया।

तृतीय प्रकरण प्राकृत उप यास साहित्य का अभ्युदय और ह्रास

प्राकृत भाषा मे रचित उक्त उपन्यास साहित्य का प्रवतन तो संस्कृत उपन्यास साहित्य के आसपास ही हो चुका था किन्तु गुप्त साम्राज्य के अभ्युदय काल से ही संस्कृत भाषा को सारे देश म भारी समादर प्राप्त हुआ एव उसके व्यापक प्रचार एव लोकग्राह्य होने के कारण प्राकृत भाषा म रचित रचनाओं की लोकप्रियता तथा साहित्यिक गरिमा (संस्कृत उपन्यासो की तुलना म) म द और फीकी ही बना रही। अनकानेक संस्कृत भाषा क उप यासकारो को इतनी अभूतपूव अ तराष्ट्रीय कीर्ति एव ख्याति प्राप्त हुई, कि तु अनेक प्राकृत उपन्यासकारो क तो नाम तक आज इस देश के वासी तक भी नही जानत। फिर भी भारतीय उपन्यास साहित्य म वणनात्मक कला के अध्ययन की दृष्टि से इस विशाल उप यास साहित्य का संक्षिप्त विवेचन आवश्यक हो जाता है।

प्राकृत कथा साहित्य का प्रचार प्रसार ईसवी शती चौथी स लेकर, सत्रहवी

गया तब चलता रहा। इस सम्बन्ध में सबसे प्राचीन एवं महत्वपूर्ण औपन्यासिक कृति-गुणाढ्य के समकालीन माने जाने वाले परम विद्वान, पादलिप्ताचार्य—कृत 'तरंगवई कहा' (तरंगवती कथा) है। डॉ० जगदीशचन्द्र जैन ने 'प्राकृत साहित्य का इतिहास' नामक एक बृहद् ग्रन्थ (प्रथम प्रकाशन १९६१ ई०) रचा है जिसमें उन्होंने प्राकृत उपन्यास-साहित्य के बारे में, पर्याप्त उपादेय सामग्री संचित की है। प्रस्तुत अध्ययन अनुसार में अनेक स्थलों पर प्रामाणिकता के लिए, उसका भी सहारा लिया गया है। इसके अतिरिक्त अनेक स्थलों पर गवेषणा के अन्य आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के प्रख्यात ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' से भी अनेकानेक मूल्यवान संकेत प्राप्त हुए हैं तथा उनके महान उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के प्रस्तावना भाग से भी सहायता ली गई है।

(पादलिप्त सूरि) पालित्त सूरि सातवाहन-वंशी राजा हाल की विद्वत्सभा के सुप्रतिष्ठित कवि माने जाते थे। स्वयं हाल भी एक प्रतिष्ठित कवि थे। उन्होंने अपनी 'गाथा-सप्तशती' में गुणाढ्य और पादलिप्त आदि प्राकृत के अनेक कवियों की रचनाओं का संकलन भी किया है। सुप्रसिद्ध गुणाढ्य भी हाल की सभा में कभी रहे थे, ऐसी भी किंवदन्तियाँ पाई जाती हैं। गुणाढ्य ने पैशाची भाषा में 'बृहत्कथा' और पादलिप्त ने प्राकृत भाषा में 'तरंगवई कहा' (तरंगवती कथा) लिखी। उद्योतन सूरि कृत एक अन्य महान प्राकृत उपन्यास 'कुवलयमाला' में सातवाहन के साथ ही साथ पादलिप्त है एवं उनकी 'तरंगवती-कथा' का भी उल्लेख है। 'प्रभावक चरित' में पादलिप्त को कौशल देश का निवासी बताया गया है और उनके पिता का नाम फुल्ल और माता का नाम प्रतिमा बताया गया है। उन्होंने बाल्यावस्था में ही जैनधर्म में दीक्षा लेकर मथुरा, पाटलिपुत्र, लाट, सौराष्ट्र, शत्रुंजय आदि स्थानों का भ्रमण किया था। धनपाल ने अपनी 'तिलक मंजरी' में भी 'तरंग कथा' की प्रशस्ति की है। दुर्भाग्य से अब यह महान उपन्यास सर्वांश में अप्राप्य है। प्रो० लायमन ने इसका समय ईसा की दूसरी तीसरी शताब्दी स्वीकार किया है।

'तरंगवई कहा' का संक्षिप्त रूप 'तरंगलोला' नाम से प्रसिद्ध है जो मूल ग्रन्थ की रचना से कोई १००० वर्ष पश्चात् तैयार किया गया है। इसके कर्ता हैं (वीरभद्र आचार्य के शिष्य) नेमिचन्द्र जिन्होंने १६४२ गाथाओं में इस ग्रन्थ की पुनरचना की है। नेमिचन्द्र ने अपनी प्रस्तावना में भी उक्त प्राचीन महा उपन्यास पर, प्रकाश डाला है —

पादलिप्त सूरि ने 'तरंगवई कहा' की रचना, देशी वचनों में की थी। इस कथा को न कोई कहता था न सुनता था। वह विद्वानों के ही योग्य थी। साधारण जन उससे लाभ नहीं उठा सकते थे। पादलिप्त ने देशी पदों में जो गाथायें

लिखी, उन्हें यहां संक्षिप्त करके यहां लिखा गया है कि जिसमें इस कृति का सर्वथा उच्छेदन न हो जाए।[1]

'तरंगवई कहा' नामक महाकाव्य का सार इस भांति है—धनपाल नामक सेठ राजगृह में रहता था। उसके घर के पास की वस्ती में, कुमार-ब्रह्मचारिणी, सुव्रता नाम की गणिनी, अपने शिष्य परिवार सहित रहती थी। एक बार सुव्रता की शिष्या तरंगवती, धनपाल के प्रासाद में सेठानी के पास भिक्षार्थ आई। उसका अद्भुत रूपयौवन देख कर सेठानी ने उसकी पूर्वकथा जाननी चाही—तरंगवती ने उसे अपनी कथा कह सुनाई—वत्सदेश में कौशांबी नगर है, जो मध्यदेश की शोभा माना जाता है। वह जमुना के किनारे बसा है। वहाँ उदयन नामक राजा, रानी वासवदत्ता सहित राज्य करता है। नगर में ऋषभसेन नामक सेठ है। उनके आठ पुत्र और एक पुत्री (तरंगवती) हुए। आठ वर्ष की अवस्था में ही तरंगवती ने लेख, गणित, रूप आलेख्य, गीत, वादित्र नाट्य आदि कलाओं की शिक्षा प्राप्त कर ली।

एक बार वसंत ऋतु में, राज उपवन में क्रीडा करते समय उसने, एक चक्रवाक पक्षी को देखा और उसे देखते ही उसे अपने पूर्वजन्म की कथा याद आ गई। वह पूर्वजन्म में अपने चकवे के साथ चंपा नगरी में गंगा के किनारे जलक्रीडा कर रही थी। किसी व्याध ने जंगली हाथी पर एक बाण फेंका पर वह उसके चकवे को आ लगा। वह गिर कर मर गया। व्याध ने उसके लिए पश्चात्ताप किया और चिता जला कर उसका दाह संस्कार किया। चकवी उसी में कूद पड़ी और जल गई। तब उसने 'तरंगवती' नाम से एक अत्यंत धनवान सेठ के घर में जन्म लिया। उसने अपने पूर्वजन्म के स्वामी को ढूंढ निकालने का निश्चय करके—एक सुंदर रेशमी वस्त्र-पट पर, पूर्वजन्म की घटना का चित्र आलेखित करके 'कौमुदी महोत्सव' के अवसर पर राजमार्ग पर रखवा दिया। उसे देख कर नगर के धनदेव सेठ के पुत्र पद्मदेव को भी, अपने पूर्वजन्म की कथा याद आ गई। धनदेव सेठ ने तरंगवती के पिता से प्रार्थना की कि वह उसके पुत्र पद्मदेव से अपनी पुत्री तरंगवती के विवाह का प्रस्ताव स्वीकार कर ले। किन्तु तरंगवती के पिता ने कहा कि मैं तो किसी महाधनिक के घर में ही, अपनी कन्या दूंगा।

तरंगवती ने भोजपत्र पर एक पत्र लिख कर अपनी सखी के हाथ पद्मदेव को

---

१ तरंगलोला' (नेमिचन्द्र), (नवीन संस्करण— नेमिविज्ञान-ग्रन्थमाला में प्रकाशित सन १९४३ ई०) प्रो० लायमन द्वारा जर्मन भाषा में तथा गुजराती भाषा में श्री नरसिंह भाई पटेल द्वारा अनूदित ('जैन साहित्य-संशोधक' नामक पत्र में धारावाहिक रूप में तथा बाद में पुस्तक रूप में प्रकाशित) प्रथम संस्करण नवनचन्द्र केशवलाल मोदी अहमदाबाद, सन १९२४ ई०।

भिजवाया। परस्पर परामर्श के अनुसार वे दोनों नाव में बैठ कर जमुना नदी के उस पार चले गये और फिर उन्होंने गंधर्व विवाह कर लिया। कुछ समय बाद वहाँ चोरों का आक्रमण हुआ और वे इन दोनों को पकड़ कर ले गए। वे कात्यायनी के मंदिर में ले जाकर उनकी बलि देना चाहते थे। तरंगवती की प्रार्थना पर, चोरों ने उन्हें मुक्त कर दिया और अनेक नगरों एवं देश देशान्तरों का परिभ्रमण करने के पश्चात वे फिर कौशाम्बी आये। तब उनका धूमधाम से प्रथानुसार विवाह करा दिया गया। कुछ समय बाद तरंगवती ने साध्वी चन्दनबाला से जैन धर्म की दीक्षा ली और अब वह उन्हीं के साथ उस नगर (राजगृह) में आई है। तरंगवती से जब सेठानी ने यह अपूर्व *आत्मकथा* सुनी तो उसने भी श्राविका के बारह व्रत स्वीकार किए। तरंगवती भिक्षा ग्रहण करके अपने उपाश्रय में लौट आई। तरंगवती ने केवल ज्ञान प्राप्त करके सिद्धि पाई और पद्मदेव भी सिद्ध हो गए।

इस महा उपन्यास में वर्णनों की विविधता एवं विचित्रता विशेषतया दर्शनीय है। विविध भाँति के बहुसंख्यक वर्णनों के अतिरिक्त वन अटवी उद्यान जलक्रीडा, सूर्योदय चन्द्रोदय सूर्यास्त, नगर वर्णन युद्ध वर्णन, आदिवासियों (भीलों) द्वारा आक्रमण मदन महोत्सव सुतजन्म उत्सव विवाह उत्सव स्वयंवर उत्सव, जन मुनियों का नगर प्रवेश समारोह दीक्षाविधि आदि अनेकानेक विषयों का सरस वर्णन भी उपलब्ध होता है जिससे *तत्कालीन देशकाल परिस्थितियों का आँखोदेखा ब्यौरा* सा, पाठक के समक्ष समुपस्थित हो जाता है।

उद्योतन सूरि कृत 'कुवलयमाला (रचनातिथि सन ७७९ ई०) भी एक चिरस्मरणीय प्राकृत उपन्यास है। उसमें विजयानगरी के किसी छात्रों के मठ' का *अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण किया गया है। उस मठ में लाट, कर्णाटक महाराष्ट्र* श्रीकण्ठ, सिन्धु मालव सौराष्ट्र आदि दूर दूर देशों से आए छात्र लकुटि युद्ध बाहुयुद्ध, आलेख्य गीत नृत्य, वाद विवाद तथा भाड़ (अभिनय प्रहसन कला) आदि विद्याओं की शिक्षा प्राप्त किया करते थे। वे दुर्विनीत और गर्विष्ठ भी थे तथा वे बहुधा सुन्दर युवतियों पर दृष्टिपात करने के लिए लालायित रहा करते थे। समस्या पूर्ति द्वारा, 'कुवलयमाला' को प्राप्त करने के प्रसंग में, छात्रों के परस्पर वार्तालाप द्वारा इस मनोवृत्ति का व्यंग्य मय चित्रण किया गया है।

इस चित्र विचित्र उपन्यास में, व्यापारी वर्ग द्वारा अपने अपने प्रवहणों (जलपोतों) में विविध प्रकार का माल भर कर चीन सुवर्ण भूमि और टंकण (टॉन किन) आदि दूर देशों की सागर यात्रायें करने का अत्यन्त विशद वर्णन पाया जाता है। इनमें प्राचीन भारतीय प्रवहणों की वडिम (वडा) वगड, सिल्ल (सित पाल) आवत (गोल नाव) खुरप (होडी) बोहित्थ, खरकुल्लिय आदि विविध प्रवहणों (जहाजों) का सूक्ष्म विवरण सहित वर्णन उपलब्ध होता है। साथ ही 'कुवलयमाला में गोल्ल,

मगध, अन्तर्वेदी, कीर, ढक्क, सि धु मरु, गुजर, लाट, मालवा आदि देशो के रहने वाले वणिकों का भी उल्लेख है जो अपने अपने देशो की लाव भाषाओ मे बातचीत किया करते थे।

ईसवी सन् ६ १०वी शती पूव जन आचार्यों द्वारा, प्राकृत भाषा मे रचित, चरितात्मक ग्रन्थो मे पउमचरिय (पदमचरित्र)' हरिवश चरिय' (हरिवश चरित्र), 'वसुदेव हिण्डी', 'समराइच्चकहा' (समरादित्य कथा) तथा शीलाचाय कृत चउपन्नमहापुरि चरिय' (चौपन महापुरी चरित्र) आदि भी अपनी साहित्यिक गरिमा एव वणन छवि के लिए विशेष उल्लेख्य हैं। तत्पश्चात ग्यारहवी बारहवी शताब्दी ई० मे श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विद्वानो म अभूतपूव जागृति पाई गई। फलस्वरूप इन दो तीन सौ वर्षो मे, सकडा अभिनव कथा ग्रन्थो का निमाण हुआ। इस नवजागृति का एक कारण यह भी था कि उस समय गुजरात मे चालुक्य, मालवा मे परमार तथा राजस्थान मे गुहिलोत और चाहमाण राजा भी, जनधम के प्रति अभिरुचि रखने लगे थे। फलत गुजरात, मालवा और राजस्थान के राजदरबारो मे, जैन महामात्यो दण्डनायको, सनापतिया और श्रेष्ठिया का प्रभाव काफी बढ चला था। इसी काल मे अणहिल्लपुर, खभात भडाच भिन्नमाल (सौराष्ट्र गुजरात), जाबालिपुर (मध्य प्रदेश), अजयमेरु चित्तौड (राजस्थान), उज्जैन ग्वालियर और धारानगरी (मालवा) आदि नगर जन आचार्यों की प्रवृत्तियो के मुख्य केन्द्र बन गए थे।[1]

जसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि सुब धु बाण दण्डी के, बृहतत्रयी युग के बीत जाने पर भी, सस्कृत उपन्यास साहित्य की रचना, अबाध रूप से (आधुनिक काल तक) चलती ही चली आ रही है। उसकी लोकप्रियता भी दिनोदिन बढती ही रही है, और आज भी हमारे देश म, सस्कृत उपन्यासो की रचना होती है। पिछली दो शतियो मे तो सस्कृत साहित्य मे एक से एक उत्तम उप यास भी रचे गए हैं जबकि प्राकृत उपन्यास परम्परा पिछली तीन शतियो से नि शेषप्राय हो चुकी है।

चतुथ प्रकरण आधुनिक सस्कृत उप यास साहित्य की रूपरेखा

भारत म अग्रेजी राज्य का सम्पूण समठित रोष, जिस भाँति सस्कृत वाडमय तथा उसके सभी अ ययन के द्रो को नि शेष करने म नियोजित हुआ इसका उल्लेख सस्कृत उप यास साहित्य का स्वणकाल' शीषक प्रकरण के अ त म किया ही जा चुका है। इस प्रकार आतक एव पक्षपात के वातावरण म अग्रेज शिक्षाविदो एव अधिकारियो ने इस मिथ्या प्रवाद एव प्रचार का प्रसार किया कि सस्कृत केवल भारतीयो की एक पुरातन एव धमप्र था की अतीतकालीन भाषा है जो आज मृत हो चुकी है और जिससे आधुनिक (तत्कालीन उन्नीसवी शती के) जनसाधारण,

---

१ 'प्राकृत साहित्य का इतिहास' (श्री जगदीशचन्द्र जैन) चौखम्भा प्र० वाराणसी।

सर्वथा अपरिचित हैं। उन्होंने अपनी इसी दुरभिसन्धि को, 'घड़ियाल के नकली आँसुओं से छुपाने का छल भी किया और अपने निजी तत्वावधान में उड़ाने काशी के पण्डितों के उग्र एवं प्रभावशाली विरोध से आशङ्कित होकर (उसके शमन के अभिप्राय से) एक 'क्वीन्स संस्कृत कॉलेज' नामक राजकीय विद्यालय की भी स्थापना की। इसी कालेज के एक प्रतिष्ठित प्राध्यापक प० बालकृष्ण भट्ट ने, अपनी स्वतन्त्र एवं राष्ट्रीय विचारधारा के कारण (बंग भंग के विरोध में, पूर्वीय भारत में उठे हुए जनरोष के प्रतीक रूप) अपनी सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दिया था। भट्टजी ने 'हिन्दी प्रदीप' द्वारा, हिन्दी उपन्यास साहित्य को भी बड़ा बल प्रदान किया था और स्वयं भी अनेक उत्तम उपन्यासों की रचना की थी। इसी क्वीन्स कॉलिज के सर्वप्रथम स्नातकों में एक थे, प० अम्बिकादत्त व्यास।

अंग्रेजी आतंक, पक्षपात एवं अन्याय से भयभीत न होकर तथा उन्हीं के द्वारा चलाए गए उपर्युक्त संस्कृत विद्यालय में शिक्षण-कार्य करते हुए भी संस्कृत भाषा एवं साहित्य के इस तपोनिष्ठ अनन्य सेवक ने हिम्मत नहीं हारी और वे निडर होकर प्राणपण से उत्तम साहित्य सर्जन करते रहे। श्री व्यास जी के पूर्वज राजस्थान के रहने वाले थे किन्तु उनके पितामह श्री राजाराम व्यास, काशी आकर बस गए थे। उनके प० दुर्गादत्त एवं प० देवदत्त नामक दो सुपुत्र हुए। बड़े भाई प० दुर्गादत्त ही श्री अम्बिकादत्त व्यास के पिता श्री थे। प० अम्बिकादत्त जी का जन्म सन् १८५७ ई० के महान स्वातंत्र्य संग्राम से केवल पाँच वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ल अष्टमी को हुआ था। केवल पाँच वर्ष की अवस्था से ही उन्हें विद्या अध्ययन में लगा दिया गया और उतनी थोड़ी अवस्था में ही व्यास जी ने 'शब्द रूपावली' और 'अमरकोष' का कण्ठस्थ करना प्रारम्भ कर दिया था।

श्री अम्बिकादत्त व्यास ने अपने वंश परम्परागत संस्कृत भाषा अनुराग को, मनोयोग द्वारा स्वाध्याय के बल पर और भी दृढ़तर बनाया और अपनी किशोरावस्था में ही वे निर्दोष संस्कृत पद्य एवं गद्य में रचनाएँ करने लगे। प० बालकृष्ण भट्ट की भाँति ही सन् १८७६ ई० के आसपास श्री व्यासजी ने काशी के सरकारी संस्कृत कालिज में अध्यापनार्थ प्रवेश किया (जो आज स्वराज्य में, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के रूप में परिवर्तित हो चुका है)। अपने अध्यापन काल में ही सन् १८८१ ई० में उन्होंने, वहीं से साहित्याचार्य परीक्षा भी उत्तीर्ण कर ली। उस समय सन् १८५७ ई० के प्रथम भारतीय स्वाधीनता संग्राम को केवल दो दशक ही बीते थे। जब व्यासजी का जन्म हुआ तब समग्र उत्तरी भारत स्वाधीनता संग्राम की तीव्रतम लपटों में था। उसकी विफलता के गहन राष्ट्रव्यापी विषाद की छाया में, उनका बचपन बीता था, किन्तु तब भी ब्रिटिश राज्य के दमन एवं अत्याचारों की कहानियाँ, बनारस की गली गली में गूँज रही थी। अतः

जब श्री व्यासजी ने तरुणाई पाई तो यह स्वाभाविक ही था कि उनके मन में, देशप्रेम एवं स्वाधीनता आन्दोलन के प्रति अदम्य उत्साह उमड़ता।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र स्वयं भी गहरे देशप्रेमी थे किन्तु सरकारी कोप भाजन को वे, खुले तौर पर आमन्त्रित करने योग्य कठोर स्वभाव के व्यक्ति न थे। काशी में उस समय एक ओर तो राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द का ब्रिटिश भक्ति सम्प्रदाय जोर पकड़ रहा था, दूसरी ओर भारतेन्दु के नेतृत्व में, आज की दृष्टि से नरमदलीय देशभक्ति सम्प्रदाय धीरे धीरे बढ़ता जा रहा था। किन्तु श्री अम्बिकादत्तजी व्यास को वे दोनों ही मत अग्राह्य थे। तभी उनके पिता प० दुर्गादत्तजी स्वर्गवासी हुए और श्री अम्बिकादत्त व्यास ने काशी नगरी से विरत होकर, कलकत्ते के लिए प्रयाण किया।

अपने कलकत्ता नगर के प्रवास काल में श्री व्यासजी को संस्कृत भाषा की सामर्थ्य एवं राष्ट्रीय एकता शक्ति का और भी व्यावहारिक अनुभव प्राप्त हुआ। जो लोग उनसे धाराबाहिक हिन्दी भाषा में बातचीत नहीं कर पाते थे, वे सभी बंगला भाषी विद्वान, संस्कृत भाषा में धड़ल्ले से वार्तालाप करते थे। उस समय तक बंगाल में भी ब्रिटिश विरोधी भावना का सूत्रपात हो चला था और प्रसिद्ध क्रान्तिकारियों की पहली पीढ़ी, अपनी तरुणाई की ओर बढ़ रही थी। वहीं उन्हें बंगाली-लोगों पर प्रताप और शिवाजी की वीरगाथाओं के जादुई प्रभाव का भी अनुमान हुआ। अतः उन्होंने तभी यह निर्णय किया था कि वे संस्कृत भाषा में ही, भारतीय स्वाधीनता भावना के परिपोषक किसी वीररसपूर्ण उपन्यास की रचना करेंगे। यह मात्र संयोग न होकर, एक इतिवृत्तात्मक तथ्य स्वीकार किया जाना चाहिए कि जिस वर्ष, श्री अम्बिकादत्त व्यास कलकत्ते में प्रवासी थे, उसी वर्ष बंकिम बाबू का (राष्ट्रीय गद्य खण्डकाव्य के समान) प्रसिद्ध क्रान्तिकारी उपन्यास 'आनन्दमठ' (सन् १८८२ ई०) प्रकाशित हुआ था। संस्कृत भाषा में रचे गए श्री अम्बिकादत्त व्यास के 'शिवराज विजय' नामक उपन्यास का प्रथम प्रकाशन, 'आनन्दमठ' के केवल एक वर्ष पश्चात ही हुआ था। कलकत्ता से लौट कर जब श्री व्यासजी काशी आए तो उन्हें अपने नये विचारों का, वहाँ कहीं भी स्वागत नहीं मिला। अतः वे बिहार-स्थित मधुबनी में, एक संस्कृत विद्यालय में अध्यापन करने लगे। वहीं उन्होंने संस्कृत संजीवनी समाज, की भी स्थापना की और बिहार में संस्कृत भाषा और साहित्य के लिए उन्होंने मधुबनी को एक सुदृढ़ प्रचार-केन्द्र बनाया। तत्पश्चात श्री व्यासजी क्रमशः (पटना के निकटस्थ) बाकीपुर मुजफ्फरपुर तथा भागलपुर नामक स्थानों में संस्कृत अध्यापन कार्य में रत रहे। साथ ही वे संस्कृत भाषा एवं साहित्य के प्रचार एवं प्रणयन में भी प्राणपण से जुटे रहे। दरभंगा-नरेश प्रसिद्ध संस्कृत प्रेमी थे अतः तभी उनसे प्रोत्साहन पाकर श्री व्यासजी ने, संस्कृत भाषा में अनेक मौलिक नाटकों

एवं यथार्थ ग्रंथों की भी रचना की। उनमें, 'सामवत' नामक संस्कृत नाटक तथा 'शिवराज विजय' नामक प्रसिद्ध उच्चकोटि का साहित्यिक एवं वर्णन प्रधान आधुनिक संस्कृत उपन्यास भी थे।

महाराजा दरभंगा ने श्री व्यासजी के संस्कृत भाषा प्रेम से प्रभावित होकर उनकी नियुक्ति पटना के संस्कृत कालेज में भी करनी चाही किन्तु व्यासजी ने, फिर अंग्रेजी सरकार की नौकरी करना स्वीकार नहीं किया। अतः उन्होंने उनसे अस्वस्थता का बहाना बना कर, सार्वजनिक विद्यालयों में ही अध्यापन कार्य जारी रखना पसन्द किया।

श्री अम्बिकादत्त व्यास का विविध भारतीय भाषाओं का ज्ञान विलक्षण था। हिन्दी एवं संस्कृत तो उनकी मातृभाषाएँ थी ही। साथ ही वे बंगला, मराठी गुजराती और अंग्रेजी के भी अच्छे ज्ञाता थे। वे यह भी चाहते थे कि नये युग की माँग के अनुसार हिन्दी साहित्य एवं संस्कृत साहित्य में, नई धाराओं का प्रवर्तन होवे। श्री द्विजेन्द्रलाल राय के बंगला नाटकों के समान ही, श्री व्यासजी ने हिन्दी रंगमंच के लिए अनेक ऐतिहासिक देशभक्तिपूर्ण नाटकों की स्वयं रचना की और उन्हें अभिनीत भी कराया। उनकी अमर रचना शिवराज विजय एक उच्च कोटि का, देशकाल के अनुरूप सरस एवं प्राञ्जल संस्कृत भाषा में रचित, उत्तम ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमें कितने ही वर्णन कलाभिराम हैं और वर्णनात्मकता की दृष्टि से वे श्री व्यासजी की रचना शैली की मौलिक प्रतिभा का परिचय देते हैं।

श्री अम्बिकादत्त व्यास का असमय निधन सन् १९०० ई० में हो गया जबकि उनकी अवस्था केवल ४८ वर्ष की थी। इतनी थोड़ी अवस्था पाकर भी वे इतनी महान राष्ट्र सेवा एवं साहित्य सेवा कर गये—यह स्वयं में भारतीय नव जागृति के इतिवृत्त का एक चिरस्मरणीय प्रसंग है।

श्री अम्बिकादत्त व्यास कृत शिवराज विजय उपन्यास के कितने ही वर्णन अपनी कलाभिराम सुघरता एवं नैसर्गिक शोभा चित्रण विषयक रमणीयता के कारण, अब चिरस्मरणीय बन चुके हैं। उपन्यास का कथानक इतिहास प्रसिद्ध स्वातन्त्र्य सेनानी श्री शिवाजी महाराज के जीवन और संघर्ष से सम्बन्धित है। प्रथम दो वर्णनों की पृष्ठभूमि महाराष्ट्र स्थित पश्चिमी सागर तट से अनतिदूर महाबलेश्वर नामक प्राचीन तीर्थ (एवं आधुनिक ग्रीष्म निवास) तथा उसके निकट ही निर्मित प्रसिद्ध ऐतिहासिक प्रतापगढ़ दुर्ग जैसे प्राकृतिक शोभा से आवृत्त स्थलों को चित्रित करने वाली है। प्रथम वर्णन में पार्वत्य नदियों के वर्षाकालीन भयावह प्रवाह का दृश्य है तथा दूसरे में प्रतापगढ़ के आकाशचुम्बी दुर्ग की ऊंची अटारी पर से भुवनाव लोक प्रासाद चन्द्रिका (बाण द्वारा प्रवर्तित) में चाँदनी रात की शोभा की छटा प्रस्तुत की

गई है। साथ ही उसम उपन्यास के नायक, वीर शिवाजी की रूपछवि की रूप रेखा भी अंकित की गई है —

'प्रताप दुर्ग के पास ही वन प्रदेश मे, भीमा नदी फैलती हुई तरगो के टूटने से उत्पन्न हुए सैकड़ो भवरो से, डरावनी थी। वह पश्चिम समुद्र के पार्वत्य प्रान्त मे, पर्वत समूह की गुफाओ के मध्य से निकली थी और पूर्व दिशा के समुद्र को चूमने मे चतुर थी। उसने पवन से गिरे हुए मोटे पत्थरो को धो दिया था। उसका प्रवाह, झरनो की जलधाराओ से पूरित और प्रबल था।

वीर शिवाजी अपनी अटारी म सन्ध्योपासन करके, बठे हुए थे। वह अटारी चाँद को चूम रही थी उसकी दीवारें गाढे चूने से लिपी हुई थीं। उसम धूप की झलक आ रही थी। उसम खूटिया पर, अनेक प्रकार की छरियाँ और तलवारें लटक रही थी। उसमे सोने के पिजरो मे लटकते हुए तोते, कोयल, चकोर सारिका (मैना), अपनी मीठी बोली बोल रहे थे। वीर शिवाजी के चारो ओर उनके मित्रमडल एव मन्त्री उनकी भव्य मूर्ति को देख कर प्रसन्न होते हुए चटाइयो पर बठे थे।'[1]

उपन्यास के अंतिम परिच्छेदो मे जब शिवाजी ने मुगलो की कैद से छूट कर, जमुना की धारा को पार कर लिया तो फिर उनकी प्रतीक्षा करती हुई मरहठा सेना ने, उनका हर्षोल्लास से स्वागत किया। वीररसपूर्ण सगति वर्णन पद्धति पर चित्र विचित्र शली मे चित्रित, ये वर्णन, बहुत ही उत्कृष्ट बन पडे हैं। इनमे रगो की छटा और रूप की छवियो का बड़ा ही कलात्मक सामजस्य हुआ है।

इधर पीछे कवच पहिने हुए व्यक्तियो की कतार खडी हो गई। उनके सिरो पर लाल पगडियाँ थी। वे हाथो म धनुष वाण लिये हुए थे वे कवच पहिने हुए थे। वे घोडो की सटा (गर्दन के बालो) को थपका दे रहे थे। उनके सोने के कवच, खिलते की चोटों के दागो से कठोर, कलाइयो मे हिल रहे थे। बीस बीस घोडो क बीच में, नीलगिरि की चोटिया के समान सुन्दर हाथी स्थित थे। उनके शुण्डादण्ड, भाँति भाँति के भूषणो से सुशोभित थे। वे अपने गालो को, मोतियो के गुच्छो से बार बार चूमी हुई मदजल धारा की वर्षा द्वारा, धो रहे थे और वे अपनी सूँड की बूँदो के पास ठहरे हुए, घुडसवारों के अगो की चादरो को सींच रहे थे। उन पर बहुत से ब्राह्मणो के लडके, पुष्पो से भरे हुए पात्रो को, हाथ म लिये चढ़

---

१ 'शिवराज विजय' (प० अम्बिकादत्त व्यास, (मूलग्रन्थ प्रकाशन तिथि, सन् १८८३ ई० प्रस्तुत हिन्दी रूपान्तर प्रकाशन तिथि १८८७ ई०, हिन्दी रूपान्तरकार मूलजी मनुज शास्त्री, मुलतान निवासी) (प्र० मेहरचन्द लक्ष्मणदास संस्कृत पुस्तकालय, सैदमिट्ठा बाजार, लाहौर) (निश्वास २, पृष्ठ २८ २९)।

चढ़े। दा नो हाथियों के अनन्तर, अन्य हाथी भी खड़े किए गए। उन पर नगारा, वमी, वीन, मृदग, मुरज (ढोल) और सडनाल बजाने वाले चढ़े हुए थे।'

'महाराष्ट्र राज (शिवाजी) ने देखा कि बायीं तरफ भगवती यमुना बह रही है। उसके नीचे जल का, मनुष्यों से चलाई गई, 'मयूर कारण्डव' आदि भांति भांति के आकार की, लम्बी चौड़ी छोटी बड़ी छतवाली, छत से रहित, तम्बुओ वाली, तम्बुओं से रहित यात्रियों वाले चप्पुओं के फेंके जाने की छप छप ध्वनि वाली व्यापार की वस्तुओं से लदी हुई, एव क्रीड़ा के शौकीन नगरवासियों से भरी हुई, हजारों नावें, पानी में आलोडन कर रही हैं। '[2]

प्रतापगढ़ दुर्ग के नीचे कुछ दूरी पर ही शिवाजी महाराज के स्वागत के लिए तोरण द्वार सजाए गए थे और सभी मांगलिक स्वागत-सत्कारों का नियोजन किया गया था —

'तीसरे पहर प्रताप दुर्ग से चार कोस तक सुगन्धित केवड़े, गुलाब आदि के जल से छिड़काव किया गया। मार्ग के दोनों ओर, केले के लम्बे वृक्ष लगाए गए। केसर से चर्चित एव जल से भरे हुए कलश रखे गए। अशोक के पत्तों की मालाएँ लटकाई गई। केसर के रग से रगी गई झंडियाँ लगाई गई। दिशाएँ सैकड़ों बाजों के बजने से निकली हुई बड़ी भारी ध्वनि से मानो बहरी हो गई।'[3]

'इसी समय महाराष्ट्र राज (शिवाजी) इस सुन्दर मार्ग में आ पहुँचे। ऊपर गर्दन उठाए हुए अपने आपको भूले हुए सब मनुष्य उन्हें टकटकी लगे हुए नेत्रों से, मानो पी रहे थे दुर्दिन से सूखे हुए भारत के सौभाग्य को वे फिर बरसाने से हर्षमय दूसरा सुदिन बना कर दिशाओं को भी हसाने लगे। पृथ्वी को भी पुलकित करने लगे। जगत प्राण (वायु) को भी सप्राण करने लगे। वृक्षों को भी हर्षित करने लगे। आशीर्वादों से उनका अभिनन्दन होने लगा। उन पर पुष्प फेंके जाने लगे। उनका सुख, जयध्वनि श्रवण से ऊपर की ओर उठा। उनकी स्तुति की जाने लगी। उनके आगे घोड़ा नचाते हुए सैकड़ा योद्धा सवार थे। उनके पीछे नंगी तलवारें हाथ में लिये हजारों पदल थे। उनके पीछे बन्दूकें हाथ में लिये वीरवरों की कतारें थीं। उनके पीछे प्रशस्त भालों को कन्धों पर रखे हुए अच्छे अच्छे पहलवानों की श्रेणियाँ थीं। उनके पीछे भूषण कवि, मुरेश्वर (मोरोजी पन्त) माल्यश्री, तानाजी, अन्नाजी, गौरसिंह श्यामसिंह, रघुवीरसिंह, आदियों से घिरे हुए वही

---

१ शिवराज विजय' निश्वास १२ पृष्ठ ३८०
२ वही, निश्वास ११ पृष्ठ ३५८ ३५६
३ वही, निश्वास ११, पृष्ठ ३६७

भारत भूमि मण्डल के भाग्य, दक्षिण दिशा की पृथ्वी के इन्द्र, धर्म धुरन्धर, महाराष्ट्र पृथ्वी पति स्वय महाराज शिवाजी थे।'[1]

आधुनिक संस्कृत उपन्यास साहित्य के सम्बन्ध में मद्रास विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष, डा० राघवन द्वारा प्रकाशित सक्षिप्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आधुनिक काल मे भी लगभग १०० औपन्यासिक कृतियां, संस्कृत भाषा मे (सन १९५८ ई० तक) लिखी जा चुकी थी। निश्चय ही डा० राघवन का विवरण, सभी आधुनिक संस्कृत उपन्यासो का सम्पूर्ण ब्यौरा नही है फिर भी वह यह मानने के लिए एक ठोस आधार अवश्य प्रस्तुत करता है कि संस्कृत भाषा, आज भी, भारतीय सास्कृतिक साहित्यिक जीवन को, एक समान सूत्र मे बाधने वाली, समृद्ध राष्ट्रीय वाणी है जिसका साहित्यिक गौरव, आज भी अक्षुण्ण है।

डॉ० राघवन द्वारा प्रस्तुत 'आज का भारतीय साहित्य'[2] मे 'बीसवी शती मे संस्कृत भाषा में प्रणीत उपन्यास साहित्य की उपयुक्त सक्षिप्त रूपरेखा' के अनुसार, (बीसवी शती मे) संस्कृत उपन्यास साहित्य का प्रारम्भ बगला के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार श्री बकिमचन्द्र चटर्जी के उपन्यासो के स्वतन्त्र छायानुवादो से हुआ। दक्षिण महाराष्ट्र मे स्थित प्रथम वाई से तथा बाद मे कोल्हापुर से प्रकाशित होने वाली, सामयिक पत्रिका 'संस्कृत चन्द्रिका' मे बकिम कृत 'लावण्यमयी' का छायानुवाद श्री अप्पा शास्त्री द्वारा धारावाहिक रूप से प्रकाशित कराया गया था। यह पत्रिका सन् १९०७ ई० तक वाई से फिर १९२० तक कोल्हापुर से, तथा तदनन्तर धारवाड (कर्नाटक) से प्रकाशित होती रही थी। बकिम की 'लावण्यमयी' का रूपान्तर सन १९०७ ई० म प्रकाशित हुआ था।

सन १९३० ई० म मूल संस्कृत म ही, रचित कुछ महत्वपूर्ण उपन्यासो का प्रकाशन भी कलकत्ता से हुआ। उनके रचयिता थे, उपेन्द्रनाथ सेन। उनके उपन्यासों के नाम क्रमश थे 'पल्लिछवि', 'मकरन्दिका' और 'कुन्दमाला'। इसके अतिरिक्त, लगभग उसी काल मे एक अन्य बगाली उपन्यासकार, श्री हरिदास सिद्धान्त वागीश कृत एक अन्य मौलिक संस्कृत उपन्यास 'सरला' भी प्रकाशित हुआ। श्री ए० राजगोपाल चक्रवर्ती ने मसूर से प्रकाशित होने वाली 'उदय' पत्रिका मे 'विलास कुमारी सगर' नामक एक मौलिक उपन्यास भी धारावाहिक रूप से प्रकाशित कराया था।

---

१ 'शिवराज विजय' (निश्वास १२ पृ० ३८१ ८२)।

२ 'आज का भारतीय साहित्य', अध्याय १३ संस्कृत पृष्ठ २८६ ३५२, 'उपन्यास उपशीर्षक' पृ० ३२० ३२३। (प्रथम हिन्दी सस्करण १९५८, साहित्य अकादमी प्रकाशन, नई दिल्ली)।

वाली सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं में रचित उपन्यास साहित्य से सर्वाधिक पुरातन, प्रगतिशील एवं वविध्यपूर्ण पाया जाता है। आज का हिन्दी उपन्यास साहित्य विश्व भर के औपन्यासिक वाङमय में अग्रगण्य उपन्यास साहित्यों में से एक बन चुका है तथा उसकी प्रगति एवं विकास की गति उत्तरोत्तर तीव्र सशक्त एवं नवनवभंगिमामयी होती जा रही है।

संस्कृत उपन्यास साहित्य की वर्णनात्मक कला ने वैसे तो सभी आधुनिक एवं प्रगतिशील प्रादेशिक उपन्यास साहित्यों को अपना अपूर्व एवं समृद्ध रिक्थ प्रदान किया है किन्तु उन सभी में भी हिन्दी उपन्यास ने, अपनी दो शतियों की प्रगति एवं विकास-यात्रा में संस्कृत उपन्यास साहित्य की एक से एक अनूठी वर्णनात्मक शैलियों को नयी से नयी मौलिक साज सज्जा, नव वाङमय विकास की नई से नई भंगिमा प्रदान करने में अपूर्व सफलता पाई है। संक्षेप में हमें इस सार्वभौम तथ्य को सदैव अपने समक्ष रखना चाहिए कि भारतीय उपन्यास साहित्य की इस सुदीर्घ वर्णनात्मक परम्परा की धरोहर ही आधुनिक भारतीय भाषाओं के उपन्यास साहित्य के विकास में परम सहायक रही है। उसने हमारे आधुनिक उपन्यास साहित्य को एक महान सांस्कृतिक दार्शनिक गरिमा भी प्रदान की है। इसके अतिरिक्त साहित्यिक उच्च स्तरीयता एवं कलात्मक साधना की उदात्तता भी उसे संस्कृत औपन्यासिक परम्परा से ही उत्तराधिकार में प्राप्त हुई है। वस्तुतः विश्व के किसी भी अन्य राष्ट्र के साहित्यिक इतिवृत्त में ऐसी सुदीर्घ एवं सुस्थिर औपन्यासिक परम्परा उपलब्ध नहीं है।

बृहत्कथाकार' गुणाढ्य द्वारा प्रवर्तित यह उपन्यास परम्परा हमारे देश में प्रायः डेढ़ हजार वर्ष पुरानी हो चली है। इस बीच में न जाने कितने पट परिवर्तनों में होकर राष्ट्र को गुजरना पड़ा है। सर्वप्रथम उपन्यास रचना लोकभाषा में प्रारम्भ हुई थी। तत्पश्चात सुबन्धु बाण एवं दण्डी की बृहद्कथा ने परिनिष्ठित संस्कृत उपन्यास को एक स्थायी साहित्यिक गरिमा प्रदान की। तत्पश्चात प्राकृत उपन्यास साहित्य की विकासधारा, सहज एवं आध्यात्मिक नैतिक भावना से स्वाधीन न हो सकने के कारण, बारम्बार मुरझाती रही। अन्त में वह साम्प्रदायिक-नकलिनक की मरुभूमि में समा गई। प्राकृत भाषा का उपन्यास इस भाँति अपनी निषेधपरक एवं वैराग्यपरक परम्परा के कारण स्वयं में एक विडम्बना बन कर ही रह गया।

उपन्यास का मौलिक आधार उसकी जीवनमूलक आस्था ही है। साथ ही वह सत चित आनन्द की क्रीडा और लीला तो है ही। अतः कला और साहित्य का, सम्प्रदायगत संकीर्णता से कभी भी सामंजस्य नहीं हो सकता। जब भी कभी ऐसा प्रकृति विरुद्ध उद्योग किया भी जाता है तो हजार प्रयत्न करने पर भी उसका परिणाम, विघटनकारी एवं ह्रासकारी ही सिद्ध होता है। आज का भारतीय उपन्यास साहित्य भी इस इतिवृत्तात्मक घटनाक्रम से, अपनी प्रगति एवं विकास यात्रा में पर्याप्त शिक्षा ग्रहण कर सकता है।

यद्यपि भारतीय उपन्यास साहित्य के नवोत्थान का प्रवतन, ईसवी उन्नीसवीं शती से माना जाता है, किन्तु कोई भी साहित्य विधा वस्तुत, सन् संवतवार प्रवर्तित नहीं होती। साहित्यिक प्रवृत्तियाँ भी, इतिवृत्तात्मक प्रवृत्तियों की भाँति ही, अपनी एक तथसिद्ध परम्परा रखती हैं। उनसे विच्छिन्न करके उनका सम्यक अध्ययन, अधूरा एवं भ्रान्तिमूलक ही बना रहता है। जहाँ तक कि हिन्दी म उपन्यास साहित्य के प्रवत्तन का प्रश्न है—वह हिन्दी गद्य के प्रवत्तन के इतिवृत्त के साथ, घनिष्ठ रूप से, जुड़ा हुआ है। जब सन् १८०० १८०१ ईसवी मे लखनऊ के प्रसिद्ध कवि एवं साहित्यकार सैयद इशाअल्लाखा ने अपनी पहली हिन्दी उपन्यासिका 'रानी केतकी की कहानी' अथवा 'उदमान चरित' की रचना की, तब हिन्दी गद्य की प्राजलता, इतनी सुबोध एवं सरल अवस्था म पहुँच चुकी थी कि उसमे, उपन्यास जैसी प्रवाहमयी गद्य रचना, सहज सभाव्य हो गई थी। क्या 'इशा' से पहले हिन्दी साहित्य म उपन्यास रचना अथवा औपन्यासिक प्रणाली की गद्यरचना का सवथा अभाव था? यदि ऐसा नही था तो हिन्दी उपन्यास साहित्य के उन्नीसवी शती पूव साहित्य का भी यही उपन्यासिका सपूण रूप से प्रतिनिधित्व क्यों करती है? इन प्रश्नो के समाधान की जिज्ञासा हमे हिन्दी गद्य एव कथा साहित्य की आद्य परिस्थितियों म खोज-बीन करने को प्रेरित करती है।

हिन्दी भाषा एव साहित्य के सभी इतिवृत्तकार, यह तो मानते हैं कि ईसवी नवी शती स लेकर, ग्यारहवी शती तक के कालान्तराय म, आधुनिक भारतीय भाषाओ ने अपना रूप ग्रहण किया। इससे पूव, भारतीय जनता, अपभ्रंश (प्राकृत) भाषा का अपने नित्यप्रति के जीवन म व्यवहार करती थी। अत इस कालान्तर से पूव हमे आधुनिक भारतीय भाषाओ म पद्य अथवा गद्य रचनाएँ नही मिलती। ग्यारहवीं शती के वैयाकरणो और आलकारिकों ने स्पष्ट लक्ष्य किया था कि अपभ्रंश' नाम की कोई एक भाषा नही है—बल्कि स्थान भेद से ही वह अनेक प्रकार की है। अर्थात् उस काल तक 'अपभ्रंश का अथ लोकभाषा ही माना जाता था। आचाय श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी का इस सम्बन्ध मे यह सुनिर्धारित मत है कि —

'इस देश म मुसलमानी सत्ता की प्रतिष्ठा के बहुत पूव से ही, निश्चित रूप से लोकभाषा को राजकीय सम्मान प्राप्त हो चला था। सम्पूण साहित्य में ऐसा कोई कथन नही मिलता जिससे यह सिद्ध हो सके कि लोकभाषा म लिखने के कारण कोई कवि अपने को छोटा समझ रहा हो। पृथ्वीराज का दरबारी कवि चन्द बलद्दिय (चन्द बरदाई) हिन्दी भाषा का आदिकवि माना जाता है। असल म वह अपभ्रंश का अन्तिम कवि अधिक है और हिन्दी का आदि कवि कम'।

---

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका, (आचाय हजारीप्रसाद द्विवेदी), अध्याय १, पृष्ठ २

आचाय द्विवेदीजी ने इसी प्रसग मे एक बडे काम की बात यह भी बताई है कि अपभ्रश तथा अपभ्रश के विकेन्द्रीकरण द्वारा उद्भूत एव विकसित, भारत के विविध प्रदेशो म पुष्पित पल्लवित भाषा रूपो म एक बडा मौलिक अन्तर यह पाया जाता है, कि जब कि अपभ्रश (अथवा प्राकृत) साहित्य मे सस्कृत भाषा के तत्सम शब्दो का सवथा बहिष्कार किया गया था—अपभ्र श की परवर्ती लोकभाषाओ ने, सस्कृत के तत्सम शब्दो को ही बहुत बडी मात्रा म अगीकार किया है। इस बारे मे आचाय द्विवेदीजी प्रसिद्ध मराठी साहित्यकार एव समीक्षक श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य के निम्नांकित अभिमत से सहमत हैं —

इसी समय (ईसवी सन ८०० ९०० वष के उपरान्त) सस्कृत भाषा के प्रचार मे शाकर मत की विजय से सहायता मिली होगी। शकराचाय का उत्कप ईसा की आठवी शताब्दी के आसपास हुआ। उनके मत की छाप सवसाधारण पर पडी। उक्त मत का प्रसार सस्कृत भाषा के माध्यम द्वारा ही होने के कारण, सवसाधारण की भाषा म सस्कृत शब्द आ गए और धीरे धीरे सस्कृत से ही हिन्दी, बगाली मराठी, गुजराती आदि सस्कृत प्रचुर भाषाए बनीं।'

आचाय द्विवेदीजी ने श्री वद्य की उक्ति को और भी सुस्पष्ट करते हुए लिखा है कि

तमिल आदि भाषाओ का इतिहास भी ऐसा ही है। इसलिए तुलसीदास और सूरदास की भाषाओ म सस्कृत शब्दो की प्रचुरता होना अपभ्रश के स्वाभाविक विकास के विरुद्ध नही ले जाता —और न उसम किसी प्रकार की प्रतिक्रिया का भाव ही सिद्ध होता है।[1]

भारतीय कथा साहित्य की इतिवृत्तात्मक क्रम शृखला या माननी होगी उपनिषद्-ब्राह्मण कथा साहित्य पाली एव प्राकृत कथा साहित्य परिनिष्ठित साहित्यिक सस्कृत भाषा मे रचित उपन्यास साहित्य सस्कृत उत्तर प्राकृत भाषा का कथा साहित्य एव आधुनिक भारतीय भाषाओ म रचित कथा साहित्य। यह तथ्य कदापि विस्मरणीय नही है कि आधुनिक भारतीय भाषाओ म पुष्पित पल्लवित उपन्यास साहित्य वस्तुत पाली अथवा प्राकृत कथासाहित्य से नहीं वरन् सीधे सस्कृत कथासाहित्य से ही अपना वशानुगत उत्तराधिकार पाता रहा है। जब भी हम अपने

---

१ 'हिन्दी साहित्य की भूमिका (आचाय हजारीप्रसाद द्विवेदी) अध्याय १ पृष्ठ २४ २५

आधुनिक भारतीय उपन्यास साहित्य के तर्कसिद्ध एव वैज्ञानिक अनुसधान म प्रवृत्त होंगे तो इस तथ्य को स्मरण न रखने स, भारी उलझनें पैदा होंगी।

आधुनिक भारतीय भाषाओ म रचित उपन्यास साहित्य की प्रेरणाभूमि और भाषा भाव एव शैली सभी के आद्यरूपो की दृष्टि से जो बात हिन्दी बगला एव मराठी जैसी प्रमुख भाषाओ के बारे म सत्य है वही भारत की सभी आधुनिक भाषाओ के उपन्यास साहित्य के पर्यवेक्षण की दृष्टि से भी मान्य है। जिस भाँति एक समान कथा साहित्य भाषा ने स्थानीय एव प्रादेशिक परिवेशो एव विशिष्टताओ को आत्मसात करके विविध आधुनिक भारतीय भाषाओ के कथासाहित्य मे नवरग आभा धारण की है—इसको प्रतिबिम्बित करने वाला भव्य एव विशाल साहित्यिक दृश्यपट उपन्यास साहित्य के तुलनात्मक अन्वेषक को अभिभूत एव विस्मयविमुग्ध कर देता है।

हिन्दी उपन्यास-साहित्य का सर्वेक्षण प्रारम्भ करते समय उन प्रमुख प्रश्नो पर विचार करने की आवश्यकता जान पड़ती है जिनके कारण हिन्दी उपन्यास साहित्य की इतिवृत्तात्मक अस्पष्टताओ एव भ्रान्तियो को बल मिलता रहा है। वस्तुत विश्व की सर्वाधिक विकसित एव बहुभाषित भाषाओ म से चतुर्थ स्थान पाने वाली हिन्दी भाषा की इस सर्वाधिक लोकप्रिय विधा, उपन्यास के उद्भव एव विकास के बारे म, जो धारणाएँ यत्रतत्र साहित्य समीक्षाओ म दिखाई देती रही हैं—वे सर्वथा परिवर्जनीय हैं। उक्त विभिन्न मतमतान्तरो का मुख्य आधार वस्तुत तथ्यो पर आधारित न होकर केवल साहित्यिक किम्वदन्तियो पर ही आश्रित है। जब भी ऐसी किम्वदन्तियो को प्रामाणिकता की कसौटी पर कसा जाएगा वे कृत्रिम अथवा कल्पित ही सिद्ध होंगी। एक ऐसी ही लोकभ्रान्ति का सुदृढ विरोध श्री किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने उपन्यास 'प्रणयिनी परिणय' की प्रस्तावना म किया था जिसका प्रकाशन [सन १८८९ ई० म] आज से लगभग तीन चौथाई शती पूर्व हो चुका था। यह थी भारतीय उपन्यास-साहित्य के विदेशी उपन्यास साहित्य से प्रेरित एव उद्भव होने वाली बात। इस भ्रान्त धारणा का सागोपाग निराकरण उपन्यास भाष्य की विवेचना म किया ही जा चुका है। न जाने यह धारणा, हिन्दी साहित्य के इस समीक्षात्मक युग म भी (बीसवी शती ईसवी के सातवें दशक मे भी) क्यो चलती ही चली जा रही है? उदाहरणार्थ सन १९६२ ई० म प्रकाशित शोधप्रबन्ध—प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी उपन्यास के अध्याय द्वितीय के पृष्ठ ४६ का निम्न उल्लेख विचारणीय है —

हिन्दी उपन्यास को भारतीय कथा परम्परा का विकास मात्र स्वीकार करना एक भ्रान्त धारणा का समर्थन करता है क्योंकि वह निश्चय ही यूरोप से बगाल होकर हिन्दी क्षेत्र म आया है।[1]

---

१ प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी उपन्यास (डा० कैलाश प्रकाश) (प्रथम प्रकाशन १९६२ ई० (प्र०) हिन्दी साहित्य ससार दिल्ली ६)

ऐसी निश्चयात्मक बुद्धि का व्यवस्थित समाधान, आज तक भी यूरोप से बंगाल होकर, हिन्दी क्षेत्र में आने वाली किम्वदन्ती के समर्थक विद्वान नहीं कर पाए हैं। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में लगभग डेढ़ हजार वर्ष के इस लम्बे उपन्यास सर्वेक्षण की इसीलिए आवश्यकता पड़ी कि भविष्य में इस प्रकार की भ्रांतियों एवं किम्वदन्तियों को और आगे प्रचार प्रसार न मिल पाए। यदि कोई भी निरपेक्ष पर्यवेक्षक, हिन्दी उपन्यास के उद्भव एवं विकास के पूर्व के भारतीय उपन्यास का सर्वेक्षण सरसरी तौर पर भी करे, तो उसे यह बात समझने में क्षण भर का भी विलंब न होगा कि जिस देश में उपन्यास साहित्य का इतना भव्य, कलात्मक एवं वर्णन-क्षमता से देदीप्यमान विकास, विगत पन्द्रह शतियों से होता आया है, भला वह उन देशों से अपनी ऐसी साहित्य विधाओं की सम्पूर्ति के लिए कर्ज या उपहार क्यों स्वीकार करेगा? और वह भी इंग्लैण्ड जैसे देश से, जहाँ कि आज से केवल एक सहस्र वर्ष पूर्व भी सभ्यता संस्कृति शिक्षा दीक्षा एवं साहित्य का नामोनिशान तक नहीं पाया जाता था?

एक अन्य उपन्यास साहित्य के विद्वान समीक्षक भी जिनके ग्रंथ 'हिन्दी उपन्यास एक सर्वेक्षण' का प्रकाशन सन् १९६२ ई० में हुआ है—बड़े सरल एवं निश्चयात्मक रूप से कहते हैं —

हिन्दी उपन्यास का इतिहास प्रायः ८० वर्ष पुराना है हिन्दी और हिन्दी में ही नहीं—समस्त आधुनिक भारतीय भाषाओं में उपन्यास पश्चिम की देन है।[1]

इस भाँति के असावधानीपूर्वक लिखे गए, निश्चयात्मक अभिमतों के प्रत्युत्तर में, केवल यही तथ्य बारबार दुहराया जाना होगा कि भारतीय उपन्यास का उद्भव एवं विकास एक सर्वथा स्वदेशीय एवं स्वतः विकसित साहित्यिक परम्परा है। ऐसी भ्रान्त पूर्व धारणाएँ कि भारतीय उपन्यास को सीधी प्रेरणा, आंग्ल उपन्यासों से ही प्राप्त हुई—आंग्ल साम्राज्यवाद द्वारा प्रचलित (भारतवर्ष [illegible] एवं नितान्त मिथ्या स्थापनाओं के समान ही) एक और [illegible] निराधार दुरभिसंधि मात्र ही समझी जानी चाहिए।

आंग्ल साम्राज्यवाद का सर्वप्रथम [illegible] और [illegible] यह कहा जा सकता है कि सन् १८५७ तक यहाँ समस्त आंग्ल-साम्राज्यवादी मान्यताओं का प्रचार-कार्य एवं प्रसार कार्य रहा। अतएव इसमें [illegible] बात नहीं है कि अंग्रेज़ी [illegible] द्वारा इस भ्रान्त धारणा को, [illegible] कि [illegible] की प्रेरणा, आंग्ल उपन्यास से और हिन्दी उपन्यास की प्रेरणा बंगला उपन्यास से मिली।

---

१ हिन्दी उपन्यास एक सर्वेक्षण (प्रो० महेन्द्र चतुर्वेदी) [illegible] प्रथम प्रकाशन १९६२ ई० [illegible] पृ० ४।

बगला उपन्यास का उदभव एव विकास, हिन्दी उपन्यास के उदभव एव विकास का परवर्ती है, पूववर्ती नहो, यह ता आगे के पृष्ठो मे बगला उपन्याम के पथक सर्वेक्षण म ही सुस्पष्ट किया जाएगा।

उन्नीसवी शती के प्रारम्भ मे ही हिन्दी उपन्यास साहित्य का ये तीन प्रारम्भिक प्रसिद्ध कृतियाँ रची गइ—'उदयभान चरित' या 'रानी केतकी की कहानी (सयद इशा अल्ला खाँ 'इशा') (सन १८०१ ई०), प्रेमसागर' (श्री लल्लूजीलाल कवि) (सन १८०२ ई०) तथा 'नासिकेतोपाख्यान' या चन्द्रावती की कथा' (प० सदल मिश्र) (सन १८०३ ई०)।

इस भाँति 'उदयभान चरित' या 'रानी केतकी की कहानी' की रचना तिथि (१८०१ ई०) हिन्दी साहित्य का उपन्यास विधा के इतिहास म चिरस्मृत रहगी। इसके लगभग एक सौ वष के सुदीघ अन्तराय के पश्चात श्री प्रेमचन्द न १६०४ ई० म अपने प्रथम उपन्यास 'प्रेमा की रचना की जो हिन्दी उपन्यास के जीवन म एक और युगा तर की सूचक, तिथि मानी जाती है। इसीलिए सन् १८०१ से सन १६०३ ई० तक के हिन्दी उपन्यास विकास के युग को, बहुधा, 'प्रेमचन्दपूव काल नाम स अभिहित किया जाता है।

प्रेमचन्दपूव काल अथात् उदमान चरित या रानी केतकी की कहानी' और 'प्रेमा के बीच रची गई लगभग ४०० समुपल ध औपन्यासिक कृतिया के चित्र विचित्र विकास पर एक विहगम दृष्टिक्षेप करने पर, इस बात स इकार नहीं किया जा सकता कि इन शताधिक वर्षों मे, विविध शलियो वाली इस वणनात्मक औप न्यासिक सृष्टि ने सुविस्तीण हिन्दी भाषा क्षेत्र के कोटि कोटि पाठको एव श्रोताओं को, अनुरजित एव आह्लादित किया है।

रानी केतकी की कहानी' के सुविख्यात लेखक सैयद इशाअल्लाह खाँ 'इशा दिल्ली तथा लखनऊ क राजदरबारो के सम्मानित कवि के रूप म सुविख्यात रहे हैं। इनक पूवज (रूमी) तुर्किस्तान के प्रसिद्ध सास्कृतिक के द्र समरक द से भारत आए थ और पहल व कश्मीर के शासको द्वारा सम्मानित हुए थे। तत्पश्चात वे दिल्ली के मुगल दरबार द्वारा सम्मानित हुए। इशा के पिता माशाअल्लाहखाँ स्वय एक अच्छे कवि एव हकीम थे। मुगल साम्राज्य की अवनति के काल म वे मुर्शिदाबाद (बगाल) क नवाबो के यहा चले गए थे। इशा का जन्म वहीं हुआ था। जिस समय बगाल की नवाबी पर ईस्ट इडिया कम्पनी की साम्रा य वादी घटाएँ छा गइ तो इशा' को विवश होकर शाहआलम के मुगल दरबार म दिल्ली चले आना पडा। उस समय मुगल साम्राज्य का कोष रिक्त हो चुका था, अतएव राज्य सम्मान मिलने पर भी, इशा को आर्थिक कठिनाइयो म ही रहना पडा

और अन्त में, उन्हें वहां से लखनऊ के लोकप्रिय नवाब, आसफुद्दौला के दरबार में, प्रश्रय के लिये जाना पड़ा। अपने लखनऊ के प्रवास में ही उन्होंने 'उदभान चरित' अथवा 'रानी केतकी की कहानी' की रचना सन १८०१ में की। इस भाँति 'इंशा' उर्दू के सुप्रसिद्ध शायर होने के अतिरिक्त हिन्दी उपन्यास के पुरस्कर्ता भी कहाये। जैसा कि उनकी रानी केतकी की कहानी से प्रकट है, इंशा बड़े ही स्वतन्त्र एवं मनमौजी साहित्य साधक थे। अतएव सन् १८०६ के लगभग उनकी, अपने आश्रयदाता से, किसी प्रसंग को लेकर, अनबन हो गई और सन १८१६ में अपनी जीवन यात्रा संपूर्ण करने से पूर्व उन्होंने अपने अंतिम वर्ष, अत्यन्त निर्धनता एवं कष्टों में बिताये। चाहे उनकी उर्दू फारसी में रचित काव्य कृतियाँ कभी, केवल बुद्धि विलास एवं विशिष्ट विद्वत् समाजों तक ही सीमित हो जायं फिर भी उनकी रानी केतकी की कहानी' ही उन्हें लोक अनुरंजन के प्रसंग से, सदा सर्वदा के लिए, एक मौलिक एवं उत्कृष्ट उपन्यासकार के रूप में, लोकप्रिय रखने में समर्थ रहेगी।

श्री इंशा' के कृतित्व एवं जीवन पर, हिन्दी साहित्य समीक्षकों में सर्वप्रथम, स्वर्गीय श्री ब्रजरत्नदास ने अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया। श्री ब्रजरत्नदास ही हिन्दी समीक्षकों में सबसे पहले और समर्थ साहित्य मर्मज्ञ थे जिन्होंने उदभान चरित अथवा रानी केतकी की कहानी' को, हिन्दी का सर्वप्रथम उपन्यास घोषित ही नहीं किया वरन् अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए वे इंशा और उनकी कृतियों के बारे में, आजीवन छान बीन भी करते रहे। इंशा की कृति की कुछ प्रतियाँ फारसी लिपि में भी यहां वहां मिलती रही थीं। उन्होंने इस कृति के पाठ को शुद्ध करने के लिए उनसे भी सहायता ली थी।

श्री ब्रजरत्नदास ने अपनी अंतिम अस्वस्थता के काल में भी इंशा 'उनका काव्य तथा रानी केतकी की कहानी नामक ग्रन्थ को सम्पूर्ण कर लिया था। उसी की प्रस्तावना में उन्होंने 'इंशा की उक्त कृति के कुछ दुर्लभ संस्करणों का भी ब्यौरा दिया है —

सन १८५२ ई० में 'रानी केतकी की कहानी बंगाल एशियाटिक सोसायटी के 'जर्नल में फारसी अक्षरों में छपी थी। सन १८७४ ई० में राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने उत्तर प्रदेश सरकार के शिक्षा विभाग के लिये 'हिन्दी की पाठ्य पुस्तक (गुटका) तैयार की तो उन्होंने अपने गुटके में, इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' को भी स्थान दिया।

इंशा की रानी केतकी की कहानी अपने पाठकों में कितनी लोकप्रिय है इसके बारे में भी श्री ब्रजरत्नदास ने अपनी उक्त प्रस्तावना में कुछ रोचक तथ्य दिए हैं —

'इंशा उनका काव्य तथा रानी केतकी की कहानी(स्व० ब्रजरत्नदास) भूमिका

'सन १८४६ ई० (पौष सुदी १, स० १९०३ वि०) में काश्मीरी यन्त्रालय, कलकत्ता से प्रकाशित कहानी रानी केतकी की के अन्त मे, इसकी सूचना निम्नांकित रूप म दी हुई है —

'यह कहानी बहुत दिन पहले मुशी इशीराम पडितजी ने देवनागरी अक्षर म छापी थी। पर अब नहीं मिलती और बहुत लोगो को ठेठ हिन्दी बोली में इन दिनों कहानी पढने की चाह रहती है। इसलिए मुशीजी की मूल कहानी को, दूसरी बार, सन १८४६ म छपवाया।'[1]

रानी केतकी की कहानी के पश्चात् सन १८०२ एव १८०३ म रची गई दो अन्य आद्य हिन्दी औपन्यासिक कृतियों का आविर्भाव हिन्दी साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत, एक विचित्र सयोग से हुआ। सन १८०० म ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ओर से, अपनी नव निर्धारित भाषा सम्बन्धी नीति को क्रियान्वित करने की दृष्टि से, कलकत्ते म फोर्ट विलियम कॉलिज की स्थापना की गई, जिसके सचालक पादरी डा० जान बार्थविक गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से, उक्त कालिज म नियुक्त, दो हिन्दी पडितो—श्री लल्लूजीलाल कवि एव प० सदल मिश्र द्वारा क्रमश प्रेमसागर एव 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना की गई।

सन १९५९ ई० म, साहित्य अकादमी द्वारा हिन्दी के प्रतिनिधि उपन्यासों की एक प्रामाणिक सूची प्रकाशित की गई थी जिसमे कि 'नासिकेतोपाख्यान' भी एक है। कालक्रम की दृष्टि से यह उक्त सूची म प्रकाशित सभी कृतियो म सर्वप्रथम ठहरती है।[2] नासिकेतोपाख्यान' की प्रकाशन तिथि सन १८०३ ई० है और यह रानी केतकी की कहानी से तीन वर्ष बाद की कृति है। साहित्य अकादमी जैसी प्रामाणिक राष्ट्रीय सस्था द्वारा नासिकेतोपाख्यान को प्रतिनिधि हिन्दी उपन्यासों की सूची म सम्मिलित किये जाने स भी, इसी मत को समर्थन मिलता है कि हिन्दी उपन्यास का प्रारम्भ उन्नीसवी शताब्दी के प्रवर्तन के साथ ही माना जाना इतिहाससम्मत एव प्रामाणिक है।

---

१ इशा उनका दा प तथा रानी केतकी की कहानी —स्व० श्री ब्रजरत्नदास (भूमिका भाग) तथा हिन्दी कथा साहित्य और उसके विकास पर पाठकों की रुचि का प्रभाव' (पटना विश्वविद्यालय की डी० लिट० उपाधि (१९६४ ई०) के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध) डा० गोपालराय एम० ए०, डी० लिट०, तृतीय अध्याय, पृष्ठ ६५, (ग्रथ निकेतन पटना ६)।

२ सदल मिश्र—नासिकेतोपाख्यान, इण्डियन लिटरेचर, (साहित्य अकादमी, नई दिल्ली का मुखपत्र) अप्रैल सितम्बर १९५९ जिल्द २ न० २ बुक्स इन हिन्दी पृष्ठ १२७–१४४ क्रम सख्या २९ पृष्ठ १४४

और अन्त मे, उन्हें वहाँ से लखनऊ के लोकप्रिय नवाब, आसफुद्दौला के दरबार म, प्रश्रय के लिये जाना पडा। अपने लखनऊ के प्रवास मे ही उन्होने उदमान चरित अथवा 'रानी केतकी की कहानी' की रचना सन १८०१ मे की। इस भाँति 'इशा' उर्दू के सुप्रसिद्ध शायर होने के अतिरिक्त हिन्दी उपन्यास के पुरस्कर्ता भी कहाये। जसा कि उनकी 'रानी केतकी की कहानी' से प्रकट है इशा बडे ही स्वतन्त्र एव मनमौजी साहित्य साधक थे। अतएव सन १८०६ के लगभग उनकी, अपने आश्रयदाता से, किसी प्रसग को लेकर, अनबन हो गई और सन १८१६ म अपनी जीवन यात्रा सम्पूर्ण करने से पूर्व उन्होने अपने अतिम वर्ष, अत्यन्त निर्धनता एव कष्टो म बिताये। चाहे उनकी उर्दू फारसी मे रचित काव्य-कृतियाँ कभी, केवल बुद्धि विलास एव विशिष्ट विद्वत समाजो तक ही सीमित हो जायें फिर भी उनकी 'रानी केतकी की कहानी' ही उन्हे लोक अनुरजन के प्रसग से, सदा सवदा के लिए, एक मौलिक एव उत्कृष्ट उपन्यासकार के रूप म, लोकप्रिय रखने मे समर्थ रहेगी।

श्री इशा के कृतित्व एव जीवन पर, हिन्दी साहित्य समीक्षको मे सवप्रथम स्वर्गीय श्री ब्रजरत्नदास ने अत्य त महत्वपूर्ण काय किया। श्री ब्रजरत्नदास ही हिन्दी समीक्षको मे सबसे पहले और समर्थ साहित्य मर्मज्ञ थे जिन्होने 'उदैभान चरित' अथवा 'रानी केतकी की कहानी' को, हिन्दी का सवप्रथम उपन्यास घोषित ही नही किया वरन अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए वे इशा और उनकी कृतियो के बारे मे, आजीवन छान बीन भी करते रहे। इशा की कृति की कुछ प्रतियाँ फारसी लिपि मे भी यत्र तत्र मिलती रही थी। उन्होने इस कृति के पाठ को शुद्ध करने के लिए, उनसे भी सहायता ली थी।

श्री ब्रजरत्नदास ने अपनी अतिम अस्वस्थता के काल म भी इशा 'उनका काव्य तथा रानी केतकी की कहानी' नामक ग्रन्थ को सम्पूर्ण कर लिया था। उसी की प्रस्तावना मे उन्होने इशा की उक्त कृति के कुछ दुर्लभ सस्करणो का भी ब्यौरा दिया है —

सन १८५२ ई० म 'रानी केतकी की कहानी' बगाल एशियाटिक सोसायटी के जनल म फारसी अक्षरो मे छपी थी। सन १८७४ ई० म राजा शिवप्रसाद सितार हिन्द ने उत्तर प्रदेश सरकार के शिक्षा विभाग के लिये हिन्दी की पाठ्य पुस्तक' (गुटका) तयार की तो उन्होने अपने गुटके म इशा की रानी केतकी की कहानी को भी स्थान दिया।

इशा की रानी केतकी की कहानी अपने पाठको म कितनी लोकप्रिय हुई इसके बारे मे भी श्री ब्रजरत्नदास ने अपनी उक्त प्रस्तावना म कुछ रोचक तथ्य दिए हैं —

---

१ इशा उनका काव्य तथा रानी केतकी की कहानी (स्व० ब्रजरत्नदास) भूमिका भाग (१९६४ ई०)

'सन् १८४६ ई० (पौष सुदी १, सं० १९०३ वि०) में काश्मीरी यन्त्रालय, कलकत्ता से प्रकाशित 'कहानी रानी केतकी की' के अन्त में, इसकी सूचना निम्नांकित रूप में दी हुई है —

'यह कहानी बहुत दिन पहले, मुंशी इंशाअल्लाह खाँ पंडितजी ने देवनागरी अक्षर में छापी थी। पर अब नहीं मिलती और बहुत लोगों को ठेठ हिन्दी बोली में इन दिनों कहानी पढ़ने की चाह रहती है। इसलिए मुंशीजी की मूल कहानी को, दूसरी बार, सन् १८४६ में छपवाया।'[1]

'रानी केतकी की कहानी' के पश्चात् सन १८०२ एवं १८०३ में रची गई दो अन्य आद्य हिन्दी औपन्यासिक कृतियों का आविर्भाव, हिन्दी साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत एक विचित्र संयोग से हुआ। सन १८०० में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ओर से, अपनी नव निर्धारित भाषा सम्बन्धी नीति को क्रियान्वित करने की दृष्टि से, कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालिज की स्थापना की गई जिसके संचालक पादरी डा० जान बार्थविक गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से, उक्त कालिज में नियुक्त, दो हिन्दी पंडितों—श्री लल्लूजीलाल कवि एवं पं० सदल मिश्र द्वारा, क्रमश 'प्रेमसागर' एवं 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना की गई।

सन १९५९ ई० में, साहित्य अकादमी द्वारा हिन्दी के प्रतिनिधि उपन्यासों की एक प्रामाणिक सूची प्रकाशित की गई थी, जिसमें कि 'नासिकेतोपाख्यान' भी एक है। कालक्रम की दृष्टि से यह उक्त सूची में प्रकाशित सभी कृतियों में सर्वप्रथम ठहरती है।[2] 'नासिकेतोपाख्यान' की प्रकाशन तिथि सन १८०३ ई० है और वह 'रानी केतकी की कहानी' से तीन वर्ष बाद की कृति है। साहित्य अकादमी जैसी प्रामाणिक राष्ट्रीय संस्था द्वारा 'नासिकेतोपाख्यान' का प्रतिनिधि हिन्दी उपन्यासों की सूची में सम्मिलित किये जाने से भी, इसी मत को समर्थन मिलता है कि हिन्दी उपन्यास का प्रारम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के प्रवर्तन के साथ ही माना जाना, इतिहाससम्मत एवं प्रामाणिक है।

---

१ इंशा उनका काव्य तथा रानी केतकी की कहानी—स्व० श्री ब्रजरत्नदास (भूमिका भाग) तथा हिन्दी कथा साहित्य और उसके विकास पर पाठकों की रुचि का प्रभाव (पटना विश्वविद्यालय की डी० लिट० उपाधि (१९६४ ई०) के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध) डा० गोपालराय एम० ए० डी० लिट०, तृतीय अध्याय पृष्ठ ६५ (ग्रन्थ निकेतन, पटना ६)।

२ सदल मिश्र—नासिकेतोपाख्यान इण्डियन लिटरेचर, (साहित्य अकादमी', नई दिल्ली का मुखपत्र) अप्रेल सितम्बर १९५९ जिल्द २ नं० २ 'बुक्स इन हिन्दी', पृष्ठ १२७-१४४ क्रम संख्या २६ पृष्ठ १४४

देश और जाति के इतिवृत्त की भाँति ही, साहित्यिक इतिहास में भी कुछ साहित्यकार एवं उनकी कृतियाँ, विशेष भाग्यशाली होती हैं और कुछ ऐसी भी होती हैं, जो शीघ्र ही भुला दी जाती हैं अथवा विस्मृति के गर्भ में सो जाती हैं। जब हम हिन्दी उपन्यास साहित्य के उपरोक्त प्रथम विकास के युग में पदार्पण करते हैं तो उसकी चित्र विचित्रता एवं कुतूहलवर्धक रमणीयता से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। हिन्दी उपन्यास के विकास का यह प्रथम चरण, वस्तुतः अपनी नवरंग छविधारा से चित्र विचित्र एवं रमणीयता सम्पन्न है। वह प्रथम विकास के उत्साह एवं आह्लाद से सप्राण होने के कारण अकृत्रिम और बंधनमुक्त भी है। 'रानी केतकी की कहानी' या 'उदयभान चरित' के उदयगिरि के शिखर पर खड़े होकर जब हम इस मायावी कथाविश्व पर एक दृष्टिक्षेप करते हैं तो न जाने कितने आकर्षक एवं जीवन रस से छलछलाते हुए कृतित्व उसमें दीख पड़ते हैं। कितनी दृश्यपटियाँ कितनी रंगबिरंगी यवनिकाएँ कितनी संगति घटनावलियाँ हमारी आँखों के सामने से मानो एक मनोरम चलचित्र के समान, गुजरती चली जाती हैं?

हिन्दी उपन्यास के प्रथम प्रवर्त्तक सैयद इंशाअल्लाह खाँ कवि थे, साहित्यकार थे—तथा भाषाविद् भी थे। वे फारसी और अरबी साहित्यों में नियमानुकूल सम्पूर्ण शिक्षा पा चुके थे। इसके अतिरिक्त वे संस्कृत खड़ी बोली अवधी एवं ब्रजभाषा आदि के भी अच्छे ज्ञाता थे। किन्तु इससे भी बढ़ कर वे एक नम्बर के मनमौजी भी थे। जैसा कि पहले उल्लेख किया ही जा चुका है, इसीलिए अपने जीवन की संध्या में, उन्हें पर्याप्त परेशानी उठानी पड़ी थी। कहा जाता है कि अंतिम समय में वे अकेले ही जीवन बिता रहे थे। उनके सामने राख का एक बड़ा ढेर था। मानो इंशा को घर फूंक तमाशा देखने में भी एक आनन्द का ही अनुभव होता था। मानो वह उनके सुदीर्घ जीवन के रंगीन सपनों की भस्म का ही ढेर था। फिर भी वे अपने में सुखी और संतुष्ट थे क्योंकि उनके रस की निराली दुनिया उनके आसपास बिखरी रहती थी। मानो वे उसी रस विश्व के ही वासी होवें।

ऐसे मनमौजी साहित्यकार की लेखनी से वर्णन क्या निस्सृत हैं—मानो तुषार मंडित चट्टानों से निर्झर फूट पड़ते हैं या मधुमास में गुलमोहर या अमलतास के विशाल वृक्षों से फूलों की वर्षा होती है। इंशा केवल वर्णनात्मक कला के ही धनी न थे—वे अपनी वर्णन कला को कदम कदम पर, कथा रस में डुबाते भी चलते हैं। उनकी गद्यशैली में, पद्य जैसी झंकार है, पर है वह एकदम अकृत्रिम एवं सहज। वे चुने हुए मुहावरों और शब्दावलियों के जड़िया हैं किन्तु वे उनकी लेखनी की नोक पर बिना प्रयास के ही आते चले जाते हैं। इंशा की शब्द चित्रण प्रतिभा और उनकी मौलिक सूझबूझ, अनुपम थी। वे कथा कहते हैं और वर्णन करते हैं—वर्णन करते हैं और कथा कहते हैं। पाठक के लिए यह कठिन हो जाता है कि वह इन दोनों के बीच कहीं भी विभेद कर पाए।

'इशा' की दुनिया, वस्तुत कल्पना की दुनिया है। कुछ समीक्षक उनसे इसलिए भी रुष्ट हो गए कि जिस जगत का उन्होने चित्रण किया है—वह एकदम मसनूई या कृत्रिम है। उपन्यास को तो यथार्थ जीवन का चित्रण होना चाहिए—ऐसा 'इशा' की कृति मे नाम को भी न था। देश और काल के बन्धन म भी वे बधना पसन्द नही करते थे। फिर भी जिन शाश्वत सत्यो एव तथ्यो का, इशा ने, अपनी इस रमणीय 'उपन्यासिका' मे समावेश किया है क्या उनकी अविनश्वरता अथवा दार्शनिक सत्यता मे कोई सन्देह कर सकता है?

'इशा' की वर्णन प्रतिभा के वर्णनात्मक-कला सम्बन्धी दृष्टिकोण को सुस्पष्ट करने के अभिप्राय से उनका केवल दो चार वर्णन विशिष्टताओ की ही यहाँ एक विहगम झलक दी जा सकती है। कथा के प्रारम्भ म ही चरितनायक उदभान का रूप-वर्णन सम्बन्धी निम्न अवतरण अवलोकनीय है —

' सब घर के लोग उसे उदभान करके पुकारते थे। सचमुच उसके जीवन की जोत मे सूरज की एक सोत आ मिली थी। उसका अच्छापन और भला लगना, कुछ ऐसा न था जो किसी के लिखने और कहने म आ सके।[1]

अतिमानवीय लहजे म लिखे गये कैलास पर्वत तथा उस पर तपस्यारत साधु महेन्द्रगिर के वर्णन अद्भुत रस से सयुक्त हैं—'कैलास पहाड जो एक डौल चादी का है। उस पर गुरु महेन्दरगिर ध्यान नान म कोई ६० लाख अतीता के साथ, ठाकुर के भजन म, दिन रात लगा रहता था। सोना, रूपा, ताँबा राँगा का बनाना तो क्या? गुटका मुह म लेकर उडना, पर रह उसको और बातें इस ढब की ध्यान म थी, जो कहने सुनने से बाहर हैं ।[2]

रानी केतकी की कहानी म प्रकृति वर्णन सौन्दय का निरीक्षण करके भी पाठक का हृदय प्रफुल्लित हो उठता है यथा — जितने टहडहे और हरियावल फल वाल थे सबने अपने हाथ म चहचही मेहदी की रचावट की सजावट के साथ जितनी समावट म समा सके कर लिए सारे बनो और पहाड तलियो म लाल पटा की झमझमाहट रातो को दिखाई देने लगी। और जितनी झीलें थी, उनम कुसुम और टेसू और हरसिंगार पड गया है और केसर भी थोडा थोडा घोने म आ गई। [3]

काशी और लखनऊ दोनो ही अपने नौका उत्सव मेला के लिए प्रसिद्ध थे। लखनऊ म ऐसे ही नौका मेले का आँखो देखा वर्णन यो है—कोई क्या कह सके,

---

१ उदभान चरित' या रानी केतकी की कहानी'—इशाअल्लाह खाँ (प्रस्तुत सस्करण पचम १९५० प्रकाशक—नागरी प्रचारिणी सभा काशी) पृ० ३

२ वही पृ० ११

३ वही, पृष्ठ २२

प्रकाशक लाला बजनाथ केडिया ने, अपनी हिन्दी पुस्तक एजेंसी के तत्वावधान में प्रकाशित कराया था। इसका सम्पादन स्व० रामदास गौड जैसे प्रकाण्ड एवं भाषाविद् समीक्षक द्वारा किया गया था। प० रामदास गौड ने उपर्युक्त संस्करण के प्रारम्भिक वक्तव्य मे हिन्दी उपन्यास के उदभव एवं विकास की देशकालगत परिस्थितियों का, भाषाशास्त्र एवं साहित्यिक इतिवृत्तात्मक दृष्टिकोण से भी विशद विवेचन किया है। उनका सपादकीय वक्तव्य तो वस्तुत आद्योपान्त ही अध्ययनीय है। यहाँ केवल कुछ सम्बन्धित एवं आवश्यक तथ्य उसी से उद्धृत किए जा रहे हैं —

सवा सौ वर्ष पहले (अब से लगभग एक सौ सत्तर वर्ष पहले) हिन्दी गद्य की भाषा भी प्रान्त भेद से भिन्न होती थी। खडी बोली की नेव (नींव) तो दिल्ली मे, आठ सौ वर्ष पहले (बारहवीं शती ई० मे) पड चुकी थी जब अमीर खुसरो ने अपनी पहेलियाँ मुकरियाँ बनाई। इस तरह की भाषा उस समय की दिल्ली की साधारण बोली थी। खुसरो के पौने चार सौ वर्ष पीछे भी राजस्थान का जटमल खडी बोली की ओर झुकते हुए भी खुसरो की सी दिल्ली की बोली नहीं लिख सका। उसी समय के लगभग, 'चौरासी वष्णवों' के वार्ताकार तो ब्रजभाषा के समान ही गद्य लिखते हैं दिल्ली भी ब्रजभाषा के माधुर्य को मानती थी किन्तु उसके लिए मध्यम मार्ग अर्थात रेखता' को अपनाना ही सरल जान पडा। यह हिन्दी के साधारण बोल चाल के पाँच सात सौ शब्दों को लेकर फारसी की शब्दावली से सजाने का भावगत प्रयास मात्र था। रेखता (या उर्दू) का व्याकरण धातुकोष और अव्यय सभी वही थे जो कि दिल्ली मेरठ और बुलन्दशहर की गवारी' हिन्दी मे प्रयुक्त थे। इन तथाकथित गवारी' बोलियों का नाम पडा भाखा'।

यद्यपि मोहम्मदशाह के सामने ही दिल्ली बरबाद हो गई तथापि रेखता गोई का यही सबसे महत्व का काल था। 'सौदा और मीर दिल्ली की बरबादी का वर्णन करते हैं और नयी राजधानी लखनऊ की शरण लेते हैं। दिल्ली की बादशाहत पुरानी थी, पुराणप्रिय लोग फारसी का जल्दी न छोडते थे पर लखनऊ की शाही नई थी। अब रेखता (या उर्दू) दरबारी भाषा हो गई, जिसके लिए वह तरसती थी। हिन्दी की शुद्ध दिल्ली वाली खडी बोली का आरम्भ हम मुंशी सदासुख से मानते हैं। वे दिल्ली के पूर्व निवासी थे और शायरी मे सौदा के शागिर्द थे। फारसी अरबी के विद्वान थे और शाहे अवध के अखबारनवीस। उनका काव्य नाम 'निसारे देहलवी था। अपनी विविध भाषा विभूषित 'श्रीमदभागवत (सुख सागर), वे दिल्ली की खडी बोली मे ही लिखते हैं।

' इनके बाद इशा ने शुद्ध हिन्दुवी' लिखने का उद्योग किया और एक छोटी सी पोथी 'उदयभान चरित लिखी। यह पोथी, अनुप्रासों से सजी, और विशुद्ध

लखनवी मुहावरों से रजीपुरी, बडी सीधी सादी, पर विदेशी शब्दों के कडे बहिष्कार के कारण, अनोखी भाषा में लिखी गई है। साहित्यिक दृष्टि से भी ऊँची श्रेणी की है। कुछ ही वर्षों बाद, गिलक्रस्ट की सरक्षता में लल्लूजी ने 'प्रेमसागर' नाम की बडी पोथी लिखी। प्रस्तुत पुस्तक, उसी का, मूलपाठ वाला सस्करण है। इसमे भी, अनुप्रासो की, वही सजावट है। इस समय दरबार की रौनक, लखनऊ से उठकर, कलकत्ते को आ रही थी कलकत्ते के गद्य निर्माण का काम भी मैकॉले आदि की राष्ट्र विरोधिनी नीति से रुक गया। 'प्रेमसागर, खडी बोली के साहित्य में, प्रारम्भ काल की सबसे बडी पोथी है आधुनिक खडी बोली के इतिहास का 'प्रेमसागर' सिहद्वार है।'[1]

'प्रेमसागर की 'ग्रन्थकार की भूमिका' मे प० लल्लूजीलाल लिखते हैं—' श्री श्रीयुत गुन गाहक गुनियन सुखदायक जान गिलक्रिस्त महाशय की आज्ञा से सवत १८६० मे श्री लल्लूजीलाल कवि ब्राह्मण गुजराती सहस्र अवदीच, आगरे वाले ने यामनी भाषा छोड, दिल्ली आगरे की खडी बोली मे, कह नाम प्रेम सागर' धरा।'[2]

प्रेमसागर की मुद्रित प्रतिया भी अब विरल होती जाती हैं यद्यपि बीसवी शती के प्रारम्भ मे वह, पर्याप्त लोकप्रिय पुस्तक रही थी और उसके कम से कम दो सस्करण, कलकत्ते से ही प्रकाशित हुए थे। 'प्रेमसागर' का प्रस्तुत सस्करण ३४४ पृष्ठो मे मुद्रित है। अन्त मे प० रामदास गौड द्वारा लिखित 'उपन्यासकार का सक्षिप्त जीवनचरित भी दिया गया है जिससे कुछ महत्वपूर्ण तथ्य यहाँ सकलित किए जाते हैं —

इनका नाम लल्लूलाल, लालचन्द या लल्लूजी था। कविता का उपनाम 'लाल कवि' था। ये आगरा निवासी, गुजराती औदीच्य ब्राह्मण थे और वहीं के गोकुलपुरा मुहल्ले की बलकावस्ती मे, रहते थे। पिता का नाम, चनसुखजी था, जो बडी दरिद्रावस्था मे, पुरोहिताई की आकाशवृत्ति से, किसी प्रकार काम चलाते थे। लल्लूजीलाल अपने पिता के सबसे बडे पुत्र थे। उनके तीन छोटे भाई और थे— दयाल जी मोतीरामजी और चुन्नीलालजी। इनका जन्म सन १७६५ ई० मे हुआ था। सन १७८५ ई० मे पिताजी के स्वर्गवासी होने पर ये आगरे से चल दिए। आजीविका की खोज मे सन् १७८८ ई० मुर्शिदाबाद आए। यहा कृपासखी के शिष्य, गोस्वामी गोपालदासजी के परिचय मे मुर्शिदाबाद के नवाब मुबारकुद्दौला के दरबार मे इनकी पहुँच हो गई। नवाब ने प्रसन्न होकर, इनकी जीविका बाँध दी। वे वहाँ

---

१ 'प्रेमसागर (स्व० लल्लूजीलाल) 'वक्तव्य' रामदास गौड (प्र० हिन्दी पुस्तक एजेन्सी कलकत्ता १९२४ ई०)।

२ वही ग्रन्थकार की भूमिका।

एक अन्य सरस काव्यशैली में रचित औपन्यासिक कृति, 'माधव विलास' (माधो विलास) का प्रकाशन सन १८१० ई० में हुआ था। प० लल्लूजीलाल अपनी इस रोचक औपन्यासिक रचना का प्रारम्भ इस भाँति करते हैं —

श्री गुरुदेव के चरण कमल को ध्यान धर 'माधव सुलोचना' की कथा श्री लल्लूजीलाल ने उक्ति युक्ति करि याको नाम माधव विलास राख्यो अरु निज छापेघर में छपवायो, संवत १८६७ आश्विन मास में इति।

इस औपन्यासिक कथा का सार इस भाँति है कि लालध्वज नामक नगर के राजा विक्रम के कोई संतान नहीं थी। सत्संग के प्रभाव से बहुत दिन बाद उस राजा के माधव नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। एक बार मृगया खेलते समय संयोगवश भेंट हो जाने पर बहुवीर की पत्नी, चन्द्रकला ने 'प्लक्ष द्वीप की चम्पावती नगरी के राजा गुणाकर और उनकी सुशीला पत्नी की कन्या सुलोचना के रूप, गुण, शील विद्या आदि का उल्लेख किया और दोनों को एक दूसरे के योग्य बताकर उसे, सुलोचना को प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित किया। माधव और सुलोचना का विविध बाधाओं के पश्चात मिलन हुआ। नीच सेवक के कारण उन्हें विरह कष्ट सहने पड़े किन्तु अन्त में जब माधव, प्राणत्याग करने के विचार से गंगासागर गया तो वहाँ उसकी भेंट सुलोचना से फिर हो गई। वहाँ के राजा सुसेन को जब उसका परिचय मिला तो उसने माधव को अपना आधा राज्य दे दिया और अपनी कन्या जयन्ती का विवाह भी माधव से कर दिया। वहीं रहते हुए माधव ने सुखपूर्वक धर्मराज्य चलाया।

'माधोविलास' की उपर्युक्त लोककथा आधारित कथावस्तु के कारण लेखक को अपनी वर्णनात्मक कला के उन्मुक्त विकास का पर्याप्त अवसर मिला है। उसमें लोकजीवन का चित्रण भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है जो कि लेखक के निजी जीवन काल के जनजीवन से बहुत भिन्न नहीं जान पड़ता। प० लल्लूजीलाल के छापेखाने से मुद्रित इसकी एक पुरानी प्रति लंदन स्थित इण्डिया आफिस लाइब्रेरी में भी सुरक्षित बताई जाती है। सन १८६८ में कलकत्ते के श्री भुवनचन्द्र बासक ने भी, इस ग्रंथ का एक संस्करण निकाला था। प्रख्यात यूरोपियन (फ्रांसीसी) प्राच्यविद तासी ने अपने हिंदुई हिंदुस्तानी साहित्य का इतिहास ('इस्तुआर दे ला लितरेच्योर ए दुइ एन्दुस्तानी') के द्वितीय खण्ड में प० लल्लूजीलाल कृत 'माधोविलास' का भ्रांतिवश श्रीकृष्ण लीला वर्णन युक्त एक काव्यग्रंथ के रूप में उल्लेख कर दिया था।[1] इसी कारण बहुत से विद्वानों ने तासी की बात पर विश्वास करके उसे

---

१ माधोविलास — ले प्लेजिस दे माधो (कृष्ण) — 'पोयम हिंदी त्रेदुइत दे संस्कृत आगरा १८७३–इन ८ (बिब्लियोथिका ओरियंटेलिस' तं० ११, पृ० ३०५ सेत अवर एज एस्त आसी साइत दान्स ले राग कल्पद्रुम) एत आसी आगरा १८७६ इन ८ आवेक ले तित्र एग्लाए दे ए टल आफ माधा एण्ड सुलोचना इन इन्दु हिन्दी। —गार्सां द तासी— ('इस्तुआर दे ला लितरेच्योर ए दुइ एन्दुस्तानी') जिल्द २ पृष्ठ २३२ २३३।

पद्य ग्रंथ ही मान लिया था। वस्तुतः माधोविलास, सहज प्रांजल ब्रजभाषा शैली अभिमुख, सरल हिन्दी गद्य में लिखित, एक मनोरम एवं वर्णन कलाभिराम औपन्यासिक कृति ही है जिससे कुछ वर्णन परिशिष्ट भाग में उद्धृत किए गए हैं।

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने भी अपने ग्रंथ 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका' (१७८६-१८५७ ई०) के नये संस्करण में माधवविलास का उल्लेख किया है। तन्नुसार 'माधोविलास' का मंगलाचरण भाग, पद्य में लिखित है किन्तु मुख्य कथा, गद्य में ही है। कथा का आधार 'पद्मपुराण' में आया हुआ 'योगसार' प्रकरण बताया गया है किन्तु वस्तुतः यह ग्रन्थ एक सर्वथा मौलिक औपन्यासिक कृति ही है। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय की राय में—

'भाषा की दृष्टि से प्रियादास और लल्लूलाल की कृतियाँ आदरणीय ठहरती हैं और वे ब्रजभाषा गद्य परम्परा की अन्तिम महत्वपूर्ण कृतियाँ कही जा सकती हैं।'[1]

हिन्दी उपन्यास के उद्भव तथा विकास के इतिवृत्त का अनुसंधान करने वाले प्रत्येक अध्येता को यह तथ्य अखरता है कि हिन्दी की ये सभी आद्य औपन्यासिक कृतियाँ, उन्नीसवीं शती के प्रथम दशक में ही रची गई थीं। तदुपरान्त हिन्दी उपन्यासों की क्रमबद्ध अनुक्रमणिका में, लगभग आधी शती का अवान्तर दिखाई पड़ता है। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में, हमें औपन्यासिक कृतियों का पुनः बाहुल्य मिलता है तो क्या सन् १८१० ई० में 'माधोविलास' के प्रकाशन से ले कर सन् १८५६ ('नलप्रसंग' की रचना तिथि प्रायः आधी शती) तक हिन्दी में एक भी उपन्यास नहीं रचा गया ?

पटना विश्वविद्यालय की डी० लिट० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध हिन्दी कथा साहित्य और उसके विकास पर पाठकों की रुचि का प्रभाव में डा० गोपालराय, एम० ए०, डा० लिट० ने 'रानी केतकी की कहानी' के बारे में जो शंकाएँ प्रस्तुत की हैं, उनमें एक यह भी थी कि —

'रानी केतकी की कहानी' के बाद ७० वर्षों तक किसी मौलिक गद्य कथा पुस्तक की रचना नहीं हुई और 'रानी केतकी की कहानी से 'हिन्दी उपन्यास का आरम्भ' मानना उपन्यास विषयक प्रारम्भिक धारणा की भी अवहेलना करना है।'[2]

---

१ 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका' (डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय), (लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद १) (पृष्ठ २५६-२६५)।

२ 'हिन्दी कथा साहित्य और उसके विकास पर पाठकों की रुचि का प्रभाव' (डॉ० गोपालराय, डी० लिट०) तृतीय अध्याय, पृष्ठ १५

डा० गोपालराय के मतानुसार लगभग ७० वर्षों तक किसी मौलिक गद्य कथा पुस्तक की रचना ही नहीं हुई। वस्तुतः यह अन्तराय केवल ४८ वर्ष का ही है—७० वर्ष का नहीं। फिर भी अन्तराय इतना अधिक सुदीर्घ अवश्य है कि उसे आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता। अतः उन कारणों एवं परिस्थितियों पर विचार करना भी आवश्यक है जिनके कारण, एक प्रकार से, देश भर की समग्र राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक साहित्यिक चेतना, स्तब्ध सी होकर रह गई थी।

सन १८१० ई० से लेकर सन १८५९ तक ४८ वर्ष के अन्तराय के सम्बन्ध में तिथि क्रमानुसार उपन्यासों की सूची में जो अवकाश अथवा रिक्तता दिखाई पड़ती है वह निर्विवाद रूप से खटकने वाली है। किन्तु इससे यह कदापि नहीं माना जाना चाहिए कि 'माधो विनास' और 'नल प्रसंग' के बीच में हिन्दी साहित्य में कोई सृजनात्मक और मानसिक प्रवृत्ति रही ही नहीं। वस्तुतः समयान्तर में जब कभी इस ऐतिहासिक अन्तराय की विलुप्त अथवा खोई हुई साहित्यिक सम्पत्ति के अनुसन्धान की ओर, साहित्य मर्मज्ञों की जिज्ञासा एवं कार्यशीलता बढ़ेगी तो अनकानेक औपन्यासिक कृतियां निश्चय ही प्रकाश में आएंगी। और जिन कृतियों की उपलब्धि न भी हो पाएगी उनके सम्बन्ध में भी समाधानकारी उल्लेख अवश्य प्राप्त किए जा सकेंगे। प्रस्तुत प्रबन्ध में तो इस अर्ध शती अन्तराय के उन ऐतिहासिक राजनैतिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक तथ्यों को अति संक्षिप्त रूप में ही संकलित किया जा सकता है जिनसे कि उसकी इतिवृत्तात्मक प्रतीयमानता की पाठक को स्वयं अनुभूति हो पाये।

वस्तुतः ये ४८ वर्ष अंग्रेजी व्यवसायवाद एवं साम्राज्यवाद की सभी सगठित शक्तियों के विरुद्ध भारतीय जनता के प्रतिरोध के निरन्तर संघर्ष के सूचक ही माने जायेंगे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के वाणिज्य व्यवसाय में सफल होने के पश्चात् सुरक्षित बाजारों की स्थापना के उत्साह उन्माद से प्रेरित होकर तथा दक्षिण भारत में साम्राज्यवादी प्रसार में प्राप्त सफलता से प्रोत्साहित होकर उत्तर भारत पर उसके व्यावसायिक एकाधिकार तथा तदर्थ राज्य विस्तार में प्रवृत्त होने का यह आरम्भ काल माना जा सकता है। जबकि श्री लल्लूजीलाल तथा पण्डित सदल मिश्र अपनी उपयुक्त औपन्यासिक कृतियां लिख रहे थे तो कम्पनी को मद्रास से लेकर कलकत्ते तक के पूर्वीय सागर तट पर अधिकार करने में सफलता मिल रही थी। उधर पश्चिमी सागर तट के निकट पूना के पेशवा बाजीराव द्वितीय तथा बड़ौदा के गायकवाड को भी कम्पनी के दबाव में आकर उनकी सहायक सेना रखने को सहमत हो जाना पड़ा था। इस भांति दोनों दक्षिणी बाजुओं से हिन्दी प्रदेश की ओर, विदेशी सत्ता का आक्रमण सन १८१० से नियमानुसार प्रारम्भ हो चुका था।

इधर सन् १८१० से लेकर सन् १८४१ तक हिन्दी प्रदेश की उत्तरी चौकी

नेपाल के पर्वतीय राज्य को हस्तगत करने के हथकण्डे, कर्नल नाक्स के 'नेपाली अभियान' से प्रारम्भ हो ही चुके थे। हिंदी प्रदेश के पूर्व की ओर स्थित बंगाल को पूर्णतया हथिया लेने के पश्चात् हिंदी प्रदेश के पश्चिमोत्तर सीमान्त, मणिपुर, असम (और पूर्वी बिहार) में भी, कम्पनी की प्रसारवादी कार्यवाहियां सन १८२२ के वर्मी अभियान से ही प्रारम्भ हो चुकी थी। इसका निर्णायक अंत सन १८४८ में वर्मी पराजय के पश्चात, कम्पनी द्वारा मणिपुर, असम आदि प्रदेशों पर, प्रभुत्व, प्राप्त कर लेने में हुआ।

हिंदी प्रदेश पर इस प्रकार चारों ओर से फैलाए जाने वाले चक्रव्यूह का सबसे प्रबल मोर्चा, स्वभावतः, महाराष्ट्र का समीपवर्ती दक्षिण पश्चिम हिंदी प्रदेश ही रहा। क्योंकि समग्र उत्तर भारत पर अंग्रेजी सत्ता को चुनौती देने वाला उस समय, वस्तुतः मुगल साम्राज्य न होकर, पेशवा साम्राज्य ही था। जहां तक कि हिंदी प्रदेश की पश्चिमोत्तर सीमा का प्रश्न है, अफगान लोग तो फिरंगियों से जन्मजात घृणा रखते ही थे और उन्हें 'विनीत' करने के सभी प्रयत्नों का, उन्होंने मुंहतोड़ उत्तर भी दिया था। सन १८४१ ४२ में काबुल से लौटते हुए अंग्रेज रेजिमेन्ट का जो प्रतिमट सहार हुआ उसके कारण कितने ही वर्षों तक अँग्रेजी सेनाओं को उस ओर देखने तक का साहस न हुआ। सन १८०४ से सन १८३० तक बाजीराव पेशवा द्वितीय, के नेतृत्व में, मध्य हिंदी प्रदेश के प्रतिरोधी दलों द्वारा अंग्रेजों के प्रबल प्रतिरोध के कारण पंजाब तथा सिन्ध की ओर भी, अँग्रेजी फौजों के बढ़ने की हिम्मत नहीं हो पाई। इधर सन १८३० से लेकर सन १८४६ के बीच महाराज रणजीतसिंह ने एक प्रबल सिक्ख राज बना डाला था। इसीलिये अंग्रेजों का उधर भी विस्तार नहीं हो पाया। जब कि महाराज रणजीतसिंह, बाजीराव पेशवा तथा नेपाल के सेनापति तीनों के मिल जाने का भय अँग्रेजों को हुआ तो उन्होंने अपने कौशल से रणजीतसिंह से तुरत मित्रता सधि कर ली। फिर भी अंग्रेजों को सन १८४३ ई० तक सिंध पर अधिकार करने में सफलता मिल गई, जो कि राजस्थान के हिंदी प्रदेश की पश्चिमी सीमा पर स्थित था।

वास्तव में भारत में अँग्रेजी राज्य का सच्चा, सशक्त एवं निरंतर प्रतिरोध तो, प्रारम्भ से आज तक, हिन्दी प्रदेश ने ही किया है। इस प्रतिरोध की घटनाएं इतनी इतिहास प्रसिद्ध हैं तथा वे इतनी बहुसंख्यक हैं कि उनके लिये तो तत्कालीन समग्र इतिहास का ही पर्यवेक्षण करना होगा। दिल्ली के मुगल वंश तथा अवध की नवाबों के अतिरिक्त कितने ही नवाब और राजा भागे न, अपनी स्वातन्त्र्य प्रिय प्रजा के सहयोग से, अंग्रेजों के साथ कितने ही विभिन्न मोर्चे लिए जिसकी पूर्णाहुति सन् १८५३ ५८ के अखिल हिंदी प्रदेशीय स्वाधीनता संग्राम के रूप में दी गई थी, तथा जिसकी कि प्रस्तावना सन् १८०३ की उस निर्णायक लड़ाई से हुई थी जिसमें कि ब्रिटिश सेनाओं के हाथों हिन्दी प्रदेश के सीमान्त पर मराठा मध्य शक्ति की निर्णा

यक पराजय का सामना करना पडा था। इस युद्ध के पश्चात ही, अंग्रेजो को दिल्ली, आगरा तथा काशी के राज्य केन्द्रो पर प्रभुत्व स्थापित करने का अवसर मिला। और इसी के परिणामस्वरूप राजस्थान एव मध्यभारत के अधिकाश राजा रईसो को (सन् १८१८ तक) किसी न किसी रूप मे, अग्रेजो की सत्ता को स्वीकार करना पडा।

वस्तुत फोर्ट विलियम कालिज की स्थापना भी अंग्रेजो साम्राज्याकाक्षिया की प्रसार योजना के अन्तगत ही, एक राजनतिक घटना मानी जानी चाहिए, जिसका कि सम्बन्ध सयोगवश (प० सदल मिश्र एव श्री लल्लूलाल के प्रसग से) हिन्दी साहित्य के इतिहास से भी जुड गया है। अंग्रेजी महत्वाकाक्षी राज-नेताओ के सम्मुख अपने नये शासन के अतगत आने वाली जनता के साथ सम्पर्क स्थापित करने की दृष्टि से, एक भाषा माध्यम की समस्या आ उपस्थित हुई थी। पर इस समय मे उन्होने हिन्दी प्रदेश की प्रतिरोधी एव स्वाधीनताप्रिय जनता की मनोवृत्ति का भी पर्याप्त परिचय पा लिया था। यह प्रदेश सन्तों एव धर्म प्रचारको की जन्म भूमि रही थी तथा इसी के अन्तगत हिन्दू सस्कृति एव धर्म के दुर्ग सभी तीर्थस्थान एव प्राचीन विद्या केन्द्र अवस्थित थे। इसीलिये उन्हे इस राष्ट्र के हृदयो पम प्रदेश मे (दक्षिण भारत एव बगाल की भाति) अग्रेजी भाषा के सुगमतापूर्वक तीव्र गति से प्रचलन कराने म, प्रारम्भ स ही सफलता की कोई आशा नही थी।

सबसे बडी बाधा या कठिनाइ थी हिन्दू जीवन एव सस्कृति म जनता के सुदृढ विश्वास की। यहा के निवासियो की सुविकसित, धार्मिक एव दार्शनिक पृष्ठ भूमि भी इसके लिए बहुत कुछ उत्तरदायी थी जिसके कारण कि अंग्रेज जाति के लिए, भारत भूमि को भी अफ्रीका कनाडा आस्ट्रेलिया या अमेरिका की भाति, अपना ब्रिटिश उपनिवेश बनाने म सुगमता अनुभव नही हो रहा थी। उन्हे इस महान और कठिन काय के लिए एक गहरे सास्कृतिक एव धार्मिक विस्फोटक षडयन्त्र की भी भारी अपेक्षा थी, जिसके लिय उन्हे रोमन कैथोलिक कट्टर पादरियो का सहयोग, सरलता स प्राप्त हो गया। मुद्रण यन्त्रो का प्रचार तथा जनता की भाषा हिन्दी या हिन्दुस्तानी की परिशोधना का उद्देश्य भी मूलत हिन्दी प्रदेश म बाइबिल प्रचार द्वारा, यहाँ के जनसाधारण म अपने निजी एव प्राचीन धार्मिक एव सामाजिक सास्कृतिक सस्कारो एव आचार विचारो के प्रति वितृष्णा तथा सदिग्धता उत्पन्न करना ही था।

भारतीयो के मन म अपनी सस्कृति के प्रति वितृष्णा घृणा व उदासीनता उत्पन्न करने के उद्देश्य से ही सन १७९४ ई० म बगाल के मदनावती नामक स्थान म केरे द्वारा पहला मुद्रण यन्त्र स्थापित किया गया जिसम कि सवप्रथम उत्तर भारतीय भाषा म प्रकाशित बाइबिल का अनुवाद मुद्रित हुआ। इसके कुछ ही समय

पश्चात बैप्टिस्ट मिशनरियों ने, कलकत्ते से १५ मील की दूरी पर, श्रीरामपुर में, १८वीं सदी के अन्त तक, अपना एक प्रेस भी स्थापित कर लिया था। सन् १७९८ से लन्दन की मिशनरी सोसाइटी ने, बंगाल से प्रारम्भ करके, पूर्वी भारत में भी मत प्रचार का कार्य आगे बढ़ाया। सन् १८०९ में मूर द्वारा, पटना के पास दीगाह में, एक मिशन कायम किया गया तथा सन १८१० में आगरा में बैप्टिस्ट मिशन की स्थापना हुई। इस भाँति 'माधो विलास' की रचना एवं प्रकाशन तिथि तथा पं० लल्लूजीलाल की जन्मभूमि, हिन्दी प्रदेश एवं ब्रजभूमि के हृदयस्थल, मुगलकालीन भारत की राजधानी आगरा में, ईसाई मिशनरियों के मठस्थापन की तिथियों का संयोग, मात्र-संयोग न समझा जाकर, एक तर्क सिद्ध इतिहासात्मक घटना के रूप में ही समझा जाना चाहिए।

सन् १८१४ में आगरा और इलाहाबाद में एक-एक मिशन, एक साथ, और कायम हुए। इससे कुछ समय पूर्व सन् १८११ में आगरे में ही 'सिकन्दरा मिशन' की स्थापना के रूप में (पादरी करी द्वारा ईसाई धर्म में नव दीक्षित) पादरी अब्दुल मसीह द्वारा, हिन्दी भाषी भारतीयों में ईसाई धर्म प्रचार की दुरभिसन्धि का प्रारम्भ हुआ। सन् १८४१ तक आगरा का सिकन्दरा मिशन एक महत्वपूर्ण उत्तर भारतीय-प्रचार केन्द्र बन चुका था और उसकी ओर से, एक प्रेस की स्थापना भी की गई थी, जहाँ से 'लोकमित्र' नामक पत्र भी प्रकाशित किया जाने लगा था। सन् १८२० में लन्दन मिशनरी सोसायटी ने, बनारस में एक बड़ा प्रचार मिशन स्थापित किया जो विलियम बावरी नामक पादरी का एक बहुत बड़ा प्रचार-केन्द्र बना।

भारत में बाइबिल के प्रचार की दृष्टि से सन् १८२३ में कलकत्ता क्रिश्चियन ट्रैक्ट एण्ड बुक सोसाइटी कायम हुई थी जिसने १८२७ ई० में, हिन्दी में भी कार्य का आरम्भ कर दिया था। सन् १८२९ में बनारस-ट्रैक्ट सोसाइटी का जन्म हुआ और सन् १८३६ में लन्दन मिशनरी सोसाइटी ने मिर्जापुर में ऑर्फनेज प्रेस, तथा इलाहाबाद में अमरिकन प्रेसबीटेरियन प्रेस, कायम किए जिनके द्वारा, हिन्दी प्रदेश में, बाइबिल साहित्य प्रचार का कार्य व्यापक रूप से बड़ी तीव्रता के साथ किया जाने लगा। इन्हीं वर्षों में काशी के एक मुहल्ले सिगरा में रेवरेंड विलियम स्मिथ और सी० डी० लियोपोल्ड ने धुआंधार प्रचार कार्य प्रारम्भ किया। इसके पश्चात् बनारस का सिगरा मिशन एक के पश्चात एक बहुभाषाविद् पादरियों का प्रचार-केन्द्र बन गया जिनमें मैथ्यू टॉमसन एडम, जेम्स रॉबटसन विलियम बायस, ज० ए० मैथर तथा राबर्ट सीमोर आदि विशेष उल्लेखनीय थे। जेम्स रॉबटसन बहुभाषाविद् थे और भाषा का प्रचार करके वे, मूर्तिपूजा का मूलोच्छेदन करना चाहते थे।

आगे के उन्नीसवीं सदी में दूसरे स्थान से ही धर्म प्रचारकों ने बनारस को

हिन्दू धर्म का केन्द्र मान कर, उसे अपना प्रसार केन्द्र भी बनाने का निर्णय कर लिया था। वहाँ पर उन्होंने अपना स्कूल स्थापित करके पाश्चात्य शिक्षा का भी प्रारम्भ किया।[1] ज्ञात होता है कि बनारस के निकटस्थ लमही निवासी, प्रख्यात हिन्दी उपन्यासकार, श्री प्रेमचन्द ने, अपने शैशव में ही, सिगरा के कट्टर ईसाई पादरियों की कहानियाँ, सुन ली होंगी। उन्हीं की अन्त प्रेरणा से प्रेरित होकर ही सिगरा के ईसाई समाज को उन्होंने, अपने प्रथम महाकाय उपन्यास 'रंगभूमि' में, इतना विवरणात्मक स्थान प्रदान किया है। बनारस के निकट ही मिर्जापुर को भी, जेम्स केनडी, डब्ल्यू० पी० लिओन तथा आर० सी० मेयर ने एक प्रभावशाली प्रचार केन्द्र बना लिया था।

सन् १८३७ में मध्य हिन्दी प्रदेश में जो भयानक दुर्भिक्ष पड़ा, उसमें कितने ही दुर्भिक्ष पीड़ित लोगों को लालच देकर ईसाई बना लिया गया। सन १८४६ ई० में मुजफ्फरपुर में भी मिशनरियों द्वारा एक प्रेस कायम किया गया। सन १८४८ में काल गौटलीब फेन्डर द्वारा, आगरे में ट्रेक्ट एण्ड बुक सोसाइटी कायम की गई। वे इससे पूर्व, सन १८३७ में फारस से निकाल भी जा चुके थे। तब उन्होंने अपना कार्य क्षेत्र भारत को बनाने का विचार किया और १८४१ से १३ वर्ष तक, वे आगरे में काम करते रहे। फिर १८५८ में उत्तर प्रदेश की राजधानी, आगरे से इलाहाबाद चली गई। तब सोसाइटी का प्रधान कार्यालय भी इलाहाबाद पहुँच गया। यही नहीं प्रभावशाली ईसाई मिशनरियों ने समय समय पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डायरक्टरों पर भी इस बारे में काफी दबाव डाला था कि भारत में, केवल ईसाई धर्म के प्रचार की ही अनुमति दी जाय तथा 'मोहोमदनिज्म' और ब्राह्मणइज्म' के प्रचार प्रसार पर कानूनी पाबन्दी लगा दी जाय।[2]

ब्रिटिश शासक कम्पनी ने अपनी राजनैतिक आर्थिक सांस्कृतिक एवं धार्मिक पक्षपात एवं दमन की नीति, इतने विविध रूपों में अपनाई कि उसका संक्षिप्त विवरण भी यहाँ दिया जाना सम्भव नहीं है। किन्तु उसकी सभी दुरभिसन्धियों का लक्ष्य, इस देश की सर्वमान्य भाषा हिन्दी के प्रचार प्रसार को रोकना था और

---

१ 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका' (डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय) पृ० ५५७

२ नाट [illegible] काउंटेनेंस आर सबसन अनी अदर रिलीजन अन्डर दन अवर आन बिकाज वी आर नाट टु एनक्रेज एन्ड सड्क्शन फाल्सहुड। एस्पेशली वी मुड नाट सक्शन माहोमदनिज्म एण्ड ब्राह्मनिज्म दि टु फाल्स रिलीजन्स आफ इण्डिया बिकाज दे आर इडनस [illegible] मन, अयोन्ट टु शाइस्ट एण्ड इन्सल्टिंग टु गाड। —बप्टिस्ट रेवरेन्ड वि० नोएल (इंगलैंड एन्ड इण्डिया, प्रकाशन तिथि १८५९ ई०)

कम्पनी और उसके समर्थकों—धार्मिक पादरियों आदि सभी का वह समान उद्देश्य था। विश्व के इतिहास में कहीं भी ऐसे उदाहरण नहीं मिलेंगे, जहां कि शासकीय कानून के बल पर, किसी भी देश की स्वदेशीय भाषा को निर्मूल करने का, इतना सगठित प्रयत्न किया गया हो। इस सम्बन्ध में केवल दो तीन ऐतिहासिक तथ्यों का और उल्लेख किया जाना आवश्यक है जिसके कारण, हिन्दी भाषा में ग्रन्थ रचना विशेषतया जनता में सबसे अधिक प्रचार पाने योग्य लोकप्रिय उपन्यासों की प्रगति को, कानून एवं सत्ता के बल पर अवरुद्ध किया गया।

सन १९४५ में, सैयद नुरुल्ला एवं श्री जे० पी० नायक द्वारा सम्पादित ग्रन्थ 'हिस्टरी आफ एजुकेशन इन इण्डिया' का प्रकाशन हुआ। उसमें कुछ ऐसे सरकारी आदेशों तथा कानूनों का विवरण भी मिलता है जिनसे पता चलता है कि किस भांति हिन्दी भाषा के पठन पाठन पर भी कानूनी प्रतिबन्ध लगाए गए थे —

'सन १८३५ (२ फरवरी) को मेकाले ने अपना वह कुख्यात संशोधन प्रस्तुत किया, जिसके अनुसार, देशी भाषाओं के माध्यम से शिक्षा देने वाली संस्थाओं को, बन्द करने, या उन्हें सरकारी सहायता न देने का सुझाव, दिया गया था। मेकॉले ने अपने उक्त टिप्पणी में क्षेत्रीय भाषाओं के अध्ययन को निरर्थक बताते हुए लिखा था —

"न तो उनमें साहित्य है और न विज्ञान जिस पर वे इतनी निर्धन और अनपढ़ हैं कि जब तक किसी दूसरी दिशा से वे समृद्ध नहीं बनाई जाती, उनमें किसी भी महत्वपूर्ण ग्रन्थ का, अनुवाद तक भी सम्भव नहीं है।[1]

क्षेत्रीय भाषाओं को इस भांति शिक्षा के माध्यम की दृष्टि से सर्वथा अनुपयुक्त सिद्ध करने के बाद मेकाले ने प्राच्य भाषाओं के साहित्य को, अध्ययन अध्यापन के सर्वथा अयोग्य बताया और बड़ी दृढ़ता के साथ कहा कि— अंग्रेजी भाषा का ज्ञान रखने वाला व्यक्ति आसानी से नने पीढ़ियों के क्रम में, पृथ्वी भर के बुद्धिमान राष्ट्रों के द्वारा, अर्जित और संचित विशाल बौद्धिक सम्पत्ति को ग्रहण कर सकता है। अंग्रेजी भाषा हमारी प्रजाओं के लिए अत्यन्त उपयोगी होगी।[2]

प्रिंसेप की लिखी गई डायरी के उद्धरणों से भी यह स्पष्ट है कि गवर्नर जनरल की काउंसिल के 'प्राच्यवादी' सदस्यों को काउंसिल की बैठक में, अपना मत

---

१ नुरुल्ला और नायक सम्पादित 'हिस्टरी आफ एजुकेशन इन इण्डिया', अध्याय १, पृष्ठ ६२ (प्रकाशक मैकमिलन एण्ड कम्पनी बम्बई, प्र० प्र० १९४५ ई०)।

२ वही, भगवानदयाल द्वारा लिखित निबन्ध 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी की शिक्षा सम्बन्धी नीति अध्याय १ पृष्ठ ६२

रखने का अवसर भी नहीं दिया गया और मैकाले की टिप्पणी का उत्तर देने के कारण स्वयं प्रिंसेप की भर्त्सना की गई।

७ मार्च, १८३५ ई० की विज्ञप्ति द्वारा लॉर्ड विलियम बेंटिक ने मैकाले के सभी सुझावों को मान लिया और इस भाँति, क्षेत्रीय भाषाओं के विकास का मार्ग, अनिश्चित काल तक के लिए, कानूनन रूप में, अवरुद्ध कर दिया गया। विज्ञप्ति के अनुसार —

'सरकार, भारतीयों में, अंग्रेजी भाषा के माध्यम से यूरोपीय साहित्य एवं विज्ञान की शिक्षा का प्रसार करेगी और शिक्षा के लिए निश्चित समस्त निधि, केवल अंग्रेजी शिक्षा पर ही खर्च की जायगी।'[1]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में लिखा है कि किस भाँति सन १८३७ ई० में अदालती भाषा-सम्बन्धी इसी अधिनियम के स्वीकृत होने के बाद, अदालतों में, लिखा है कि किस भाँति शनैः शनैः उर्दू का एकाधिपत्य स्थापित हो गया—

'इसी समय सरकार ने प्रभावशाली मुसलमानों को उकसाया कि वे विरोध करें कि हिन्दी किसी भी शिक्षण-संस्था में न पढ़ाई जाए और सर्वत्र उर्दू ही की शिक्षा, 'क्षेत्रीय भाषा' के रूप में दी जाए। अन्त में सन १८४८ में निम्न सरकारी विज्ञप्ति प्रकाशित कर ही दी गई — ऐसी भाषा का जानना सब विद्यार्थियों के लिए आवश्यक ठहराना, जो मुल्क की सरकारी और दफ्तरी जुबान नहीं है हमारी राय में ठीक नहीं है। इसके सिवाय मुसलमान विद्यार्थी जिनकी संख्या देहली कालिज में बड़ी है इस अच्छी नजर से नहीं देखेंगे।'[2]

सन् १८६१–६२ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय के सीनेट ने एक कानून पास किया कि मैट्रिकुलेशन की परीक्षा में विशिष्ट निर्देश प्राप्त किए बिना सभी विषयों की शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी ही रहेगा। इसका परिणाम यह हुआ कि तत्पश्चात सारे भारत में हाईस्कूल परीक्षा के लिए शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी ही हो गया। कम्पनी की कोर्ट लैंग्वेज फारसी ही बनी रहेगी।[3] यह उल्लेख भी इसी चार्टर में किया गया था।

---

१ हिस्ट्री आफ एजुकेशन इन इण्डिया, अध्याय १, पृष्ठ ६२

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास' (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल) (सं० २००६ का संस्करण, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (पृ० ४३३

३ 'दि राइज एण्ड ग्रोथ आफ हिन्दी जर्नलिज्म (१८२७–१९४५) लेखक—रामरतन भटनागर पृष्ठ ११ (किताब महल, इलाहाबाद)।

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने 'फोर्ट विलियम कालेज' नामक एक उत्तम इतिवृत्तात्मक ग्रन्थ लिखा है। उसी की प्रस्तावना मे उन्होंने लिखा है —

कम्पनी के अधिकारियों को भी फारसी को राजभाषा बनाए रखने मे सुविधा थी। वे स्वयं इस देश की भाषाए नहीं जानते थे, और जिन सरकारी कर्मचारियों की सहायता से (नवाबी शासन काल मे राजकाज चलता था) उन्हें ही देश पर शासन करना था। वे फारसी जानते थे और फारसी के माध्यम से ही, कार्य करने के अभ्यस्त थे। अत यह स्वाभाविक ही था कि कम्पनी के अधिकारीगण, अच्छी तरह या काम चलाऊ फारसी जानने वाले कर्मचारियों पर, विशेष कृपा रखते।' १८६६ ई० तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी की राजभाषा फारसी बनी रही।"[1]

वस्तुत अंग्रेजी सरकारी मशीनरी द्वारा, हिन्दी भाषा एव साहित्य के विरुद्ध यह सगठित प्रचार जानते बूझते ही, किया जा रहा था कि हिन्दी ही वास्तव मे देश की सर्वप्रिय एव सर्वसुलभ भाषा है। स्वय अंग्रेज शासक-वर्ग भी, इससे अपरिचित नहीं थे। इसके प्रमाण के रूप मे एडवर्ड ईस्टविक द्वारा लिखी गई 'प्रेमसागर' की भूमिका (सन १८५८ ई० के संस्करण) का, निम्न अवतरण विशेष ध्यान देने योग्य है —

जब हम यह स्मरण करते हैं कि हिन्दी भाषा, भारत के वृहत्तम भाग की भाषा है, जो अपनी विविध बोलियो मे, सभी ग्रामीणों और कृषकों द्वारा, बिहार, अवध नेपाल बुन्देलखण्ड, राजपूताना के एक बड़े भाग, सिन्ध और पजाब मे, बोली जाती है तो यह नहीं सोचा जा सकता कि इसके अध्ययन का महत्त्व, बढा चढा कर कहा जाता है। अत बंगाल सरकार ने निर्देश दिया है कि पश्चिमोत्तर प्रान्तो मे जाने वाले पदाधिकारियों को हिन्दी की परीक्षा मे उत्तीर्ण होना होगा। सैनिक पदाधिकारियों के लिए तो यह और भी आवश्यक है।[2]

यह भी स्मरणीय है कि उस समय तक हिन्दी के प्रश्न को अंग्रेजी सरकार, साम्प्रदायिक विवाद का प्रश्न बनाने मे सफल नहीं हुई थी और भारत के हिन्दू और मुसलमान सभी जनसाधारण, उसके (हिन्दी के) महत्व को भली भांति समझते थे और उसका यथावसर प्रतिपादन भी करते थे। उदाहरणार्थ—प० लल्लूजीलाल कवि द्वारा रचित सिंहासन बत्तीसी के सन् १८६६ के संस्करण (जो लन्दन मे प्रकाशित हुआ था) मे प्रस्तावना-लेखक सयद अब्दुल्ला ने इस भांति लिखा था —

---

१ 'फोर्ट विलियम कालिज' (लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय) २००४ वि०, हिन्दी परिषद, इलाहाबाद पृष्ठ २।

२ प्रेमसागर (लल्लूजीलाल) (श्री एडवर्ड ईस्टविक की लिखी हुई प्रस्तावना से) (इस्ट इण्डिया कम्पनी के तत्वावधान मे, लन्दन से प्रकाशित, सन् १८५८ ई० मे एक पुरातन संस्करण से)।

के कारण ही जान पडता है विज्ञ आलोचकों ने विवश होकर सरलतम मार्ग ग्रहण करने की, पुरातन मानव प्रवृत्ति का ही अनुसरण किया है। इसीलिये, भारतेन्दु काल से ही, हिंदी उपन्यास का उन्भव एवं विकास का श्रीगणेश हुआ, ऐसी पूर्वधारणा का हिंदी आलोचना में धीरे धीरे प्रचलन हो चला और समयान्तर में उसने परम्परा का रूप धारण कर लिया। इस भाँति की, निराधार एवं अध्ययन अनुसंधान के मार्ग में अकारण असंगतियों का अम्बार लगा देने वाली साहित्यिक परम्पराओं एवं किम्वदन्तियों का निराकरण करने के लिए ही उन्नीसवीं शती के दूसरे दशक से लेकर छठे दशक के भारत की उपयुक्त अर्धशती-व्यापी संक्षिप्त राजनैतिक एवं सांस्कृतिक रूपरेखा का प्रस्तुत किया जाना अनिवार्य हो गया था। उपयुक्त समग्र अकाट्य इतिवृत्तात्मक आधारों एवं राजकीय रिकार्डों की साक्षी में, सहज ही हम, इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिन्दी उपन्यास का प्रथम उत्थान एवं उदमत्र अठारहवीं शती ईसवी के अन्तिम चरण में एवं उन्नीसवीं शती के प्रथम चरण में परिलक्षित हुआ। तत्पश्चात लगभग आधी शती की हिंदी औपन्यासिक कृतियाँ, अभी भी प्रकाश में नहीं आ पाई हैं। धीरे धीरे ज्यों ज्यों अनुसंधित्सुओं को अपने एवं दूसरों के देशों में उपलब्ध साहित्य भंडारों एवं राजकीय अभिलेख भंडारों की खोजबीन के साधन उपलब्ध होते जाते हैं इस विलुप्ति काल की कृतियाँ भी एक एक करके, दृष्टिपथ में आती जा रही हैं और यह कार्य अभी भी पूरा नहीं हो पाया है।

सन १८५६ ई० में प्रकाशित श्री दाऊजी अग्निहोत्री कृत 'नल प्रसंग महाभारत' के एक सुप्रसिद्ध लोककथात्मक कथानक के आधार पर रचा गया सरल हिन्दी उपन्यास ही इस भाँति माधव विनोद (प० लल्लूजीलाल) की प्रकाशन तिथि के पश्चात इन ४६ वर्षों के दूसरे छोर पर अवस्थित है। इस अवान्तर में जिस भाँति हिन्दी साहित्य को तथा हिन्दी भाषा को विदेशियों द्वारा एक हाथ में तलवार और दूसरे में बाइबिल वाले अभियान का सामना करना पड़ा उसका विवरण सहित विवेचन किए बिना हिन्दी उपन्यास विधा की विलक्षण अपराजेयता को समझ पाना भला कैसे सम्भाव्य था? हम अपने राष्ट्रीय अथवा जातीय साहित्य के उदभव एवं विकास को इसी नये प्रकाश में देखना चाहिए। संसार के किसी भी देश ने विदेशी सत्ता से निरन्तर जूझते जूझते इस प्रकार की विलक्षण उपन्यास साहित्य की निधि का निर्माण भी किया होवे, विश्व साहित्य के इतिहास में, ऐसी प्रेरणामयी गौरव गाथा दुर्लभ ही नहीं अप्राप्य ही है।

अब सन १८५६ ई० से सन १८८२ ई० तक के २३ वर्षों के अन्तराय में रचित औपन्यासिक कृतियों एवं उनके वर्णनकला गत सौष्ठव पर भी एक विहगम दृष्टिक्षेप आवश्यक है। कारण यह है कि हिन्दी उपन्यास साहित्य के अनेक इतिवृत्तकार हिन्दी उपन्यास के उद्भव एवं विकास की कहानी को परीक्षागुरु' (ला० श्रीनिवासदास) से प्रारम्भ किया करते हैं। (हिन्दी का पहला उपन्यास कौन सा है? इस सम्बन्ध में विस्तृत समीक्षा परिशिष्ट भाग में द्रष्टव्य है।) इन २३

वर्षो मे जो अधिक ख्यातनामा हिन्दी उपन्यासकार हुए, उनम पडित गौरीदत्त शर्मा, भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, प० बालकृष्ण भट्ट, श्री श्रद्धाराम फिल्लौरी श्री राधा कृष्णदास आदि भी थे। इस कालान्तर म उनकी प्रौढ एव प्राञ्जल औपन्यासिक रच नाओ ने, अपनी वणनात्मक भगिमा द्वारा, हिन्दी उपन्यास की कलात्मक शोभा मे पर्याप्त अभिवृद्धि की। जो कृतिया परीक्षागुरु' के प्रकाशन से पूव समुपलब्ध हैं, उनकी एक क्रमबद्ध सूची यहाँ दी जा रही है। इस सूची म रचना की तिथि, एव उसके रचयिता का नाम भी दिया गया है —

	तिथि	उपन्यास	उपन्यासकार
१	१८०१ ई०	'उदैमान चरित' या 'रानी केतकी की कहानी'	सयद इशाअल्लाह खा 'इशा'
२	१८०२ ई०	'प्रेमसागर'	प० लल्लूजीलाल
३	१८०३ ई०	'नासिकेतोपाख्यान' या 'चन्द्रावती की कथा'	प० सदल मिश्र
४	१८१० ई०	'माधव विलास	प० लल्लूजीलाल
५	१८५६ ई०	नल प्रसग'	दाऊजी अग्निहोत्री
६	१८७० ई०	देवरानी जिठानी की कहानी	प० गौरीदत्त शर्मा
७	१८७१ ई०	'मनोहर उपन्यास'	प० सदानन्द शम्भूनाथ मिश्र
८	१८७२ ई०	'वामा शिक्षक	प० गौरीदत्त शर्मा
९	१८७३ ई०	वामा शिक्षक'	मुशी ईश्वरीप्रसाद तथा मुशी कल्याणराय
१०	१८७६ ई०	एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती	भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र
११	१८७६ ई०	'किस्सा मृगावती	यामिनी भान
१२	१८७७ ई०	'नूतन ब्रह्मचारी'	प० बालकृष्ण भट्ट
१३	१८७७ ई०	भाग्यवती	श्रद्धाराम फिल्लौरी
१४	१८७९ ई०	नलचरितामृत	श्यामलाल श्यामल
१५	१८७९ ई०	'रहस्यकथा उपन्यास	प० बालकृष्ण भट्ट
१६	१८८१ ई०	नि सहाय हिन्दू	बाबू राधाकृष्णदास
१७	१८८१ ई०	मालती और माधव की कथा	प० शालिग्राम मिश्र
१८	१८८२ ई०	'गुप्त वैरी	प० बालकृष्ण भट्ट
१९	१८८२ ई०	'परीक्षागुरु	लाला श्रीनिवासदास

'नल प्रसंग' के पश्चात पं० गौरीदत्त शर्मा-कृत 'देवरानी जिठानी की कहानी' तथा 'वामा शिक्षक', ये दो वर्णनात्मक औपन्यासिक कृतियाँ, प्रेमचन्द पूर्वकाल के अध्येता का ध्यान विशेषतया आकृष्ट करती हैं। शर्माजी उत्तर प्रदेश के नामी नागरी प्रचार आन्दोलन के प्रवर्त्तक एवं उन्नायक थे। उनकी हिन्दी प्रचार गत सेवाओं का, आचार्य शुक्लजी ने भी, अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में साभार स्मरण किया है। 'देवरानी जिठानी की कहानी' वास्तविक जन जीवन के चित्रण की दृष्टि से, एक उत्तम वर्णन प्रधान सामाजिक उपन्यास है जिसमें कथारस की सतत प्रवहमानता पर भी, पर्याप्त ध्यान दिया गया है। 'वामा शिक्षक' कुछ अधिक मुखर समाज-सुधारक लहजे में लिखा गया है फिर भी रोचक है। कथावस्तु की दृष्टि से ये दोनों ही उपन्यास, गार्हस्थ्य जीवन एवं सामाजिक रहन सहन को व्यक्त करते हैं। अतः उन्हें हिन्दी में सामाजिक अथवा समाज-सुधारक धारा की प्रवर्त्तक कृतियाँ भी माना जा सकता है।

'देवरानी जिठानी की कहानी' (पं० गौरीदत्त शर्मा) हिन्दी का प्रथम कौटुम्बिक उपन्यास है जिसमें गार्हस्थ्य जीवन की समस्याओं पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। शिक्षित गृहिणी और अशिक्षित गृहिणी के चरित्रों के तुलनात्मक विवेचन द्वारा स्त्री शिक्षा के महत्त्व पर बल देने के सदुद्देश्य से ही उपन्यास की रचना की गई थी। यह सामाजिक उपन्यासों की परम्परा की भी एक सजीव कड़ी मानी जा सकती है। उपन्यास की कथ्य वस्तु एवं वर्णनात्मक शैली की कुछ विशिष्टताएँ निम्नांकित अवतरण द्वारा संकलित होती हैं —

'स्त्रियों में क्या क्या अन्तर है? बालकों का पालनपोषण किस प्रकार होता है और किस प्रकार होना चाहिए? स्त्रियों का समय किस किस काम में व्यतीत होता है और क्योंकर होना उचित है? अपढ़ी स्त्री जब एक काम करती है उसमें क्या क्या हानि होती है? पढ़ी हुई स्त्री जब उसी काम को करती है तो उससे क्या-क्या लाभ होता है? स्त्रियों की वह बातें जो आज तक नहीं लिखी गईं मैंने खोल कर सब लिख दी हैं और इस पुस्तक में ठीक ठीक वही लिखा है जैसा आजकल बनियों के घरों में हो रहा है—बाल बराबर भी अन्तर नहीं है।'[1]

किन्तु पं० गौरीदत्त शर्मा की वर्णन प्रतिभा भी बड़ी स्वाभाविक है तथा वह जीवन का ज्यों का त्यों चित्रण करती चलती है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा खड़ी बोली हिन्दी के गढ़ मेरठ के जनसाधारण की बोलचाल और नित्य प्रति के जीवन के रोचक वर्णनों द्वारा, यह उपन्यास एक उत्तम एवं प्रतिनिधि हिन्दी उपन्यास कहाने का अधिकारी है। पं० गौरीदत्त ने आजीवन हिन्दी प्रचार का काम किया था और इसीलिए उन्होंने सोचा कि उपन्यास ही सबसे अच्छा हिन्दी प्रचार का माध्यम

---

१ 'देवरानी जिठानी की कहानी' —पं० गौरीदत्त, (भूमिका भाग से)।

भी होगा। (प्रस्तुत उपन्यास अब अप्राप्य है इसीलिये उसमे एक सनात्मक अवतरण परिशिष्ट भाग मे भी दिया गया है।)

'वामा शिक्षक' भी 'देवरानी जिठानी' की ही शली म रचित एक समाज सुधार परक उपन्यास है। इसमे पात्रो और स्थानो की नवीनता पाई जाती है तथा नारी आदश सम्बन्धी कुछ अधिक उदाहरणो एव प्रसगो का समावेश किया गया है। 'वामा शिक्षक' म भी एक सीधी सरल कहानी के द्वारा स्त्रियो को आदश नारी बनने का उपदेश दिया गया है। लेखक के अनुसार आदश नारी के जो भी गुण हो सकते हैं, वे सभी मथुरादास की बहू तथा उनकी लडकियो (गगा और किशोरी) मे भर दिये गय हैं तथा स्त्रियो म जितने भी दुगुण सम्भव हो सकते हैं वे जमुनादास की पत्नी तथा उसकी पुत्रिया (राधा और पावती) मे समाविष्ट किय गये हैं। एक आद्य उपदेशात्मक सामाजिक उपन्यास की दृष्टि से ही उसका साहित्यिक मूल्याकन करना समीचीन होगा।

आधुनिक हिन्दी साहित्य की विविध विधाओ के उन्नायक एव जन्मजात रचनात्मक प्रतिभा के धनी, भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र (जन्म सन १८५० ई० निधन १८८५ ई०) हिन्दी भाषा मे उपन्यास रचना के बारे म भी पर्याप्त उत्साह रखत थे। उनके कुछ अपूण उपन्यास उनके असमय दिवगत हो जाने के कारण पूरे नही हो पाये। उनम एक कहानी कुछ आपबीती कुछ जगबीती नामक एक आत्मकथात्मक उपन्यास, अत्यन्त महत्त्व की रचना थी। उसी का प्रस्तावना भाग (जिसमे काशी के मुहल्लो मे पाये जान वाले, तत्कालीन जीवन के दृश्य हाट बाजार की झाकिया आदि अत्यन्त रुचिकर शला म चित्रित की गई हैं) मूल मे ही अवलोकनीय है —

'सवत १९३० (सन १८७३ ई०) में जब मैं तेईस बरस का था, एक दिन खिडकी पर बठा था। बसन्त ऋतु हवा ठण्डी चलती थी, साम फूली हुई—आकाश मे एक ओर चन्द्रमा—दूसरी ओर सूय—पर दानो लाललाल। अजब समां बँधा हुआ। कसरु गडेरी और फूल बेचन वाले, सडक पर पुकार रहे थे' ।[1]

भारतेन्दु काल के एक अत्य त महत्त्वपूण उपन्यासकार हुए, पण्डित बालकृष्ण भटट। श्री भटटजी का जन्म प्रयाग म सन् १८४४ ई० मे हुआ था। ७० वष की दीर्घायु प्राप्त करके वे स्वगवासी हुए। उन्होंने अनेक उपन्यासो की रचना की है जिनमें दो उपन्यास 'नूतन ब्रह्मचारी (१८७७ ई०) 'सौ अजान एक सुजान (१८९०) अपने सम्पूण रूप म उपलब्ध हैं। शेष रहस्यकथा उपन्यास, 'गुप्त वैरी',

---

१ एक कहानी कुछ आपबीती कुछ जगबीती (भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र) कवि वचन सुधा, भाग ८ वशाख कृष्ण पक्ष (सवत १९३३ वि०) तथा 'भारतेन्दु ग्रथावली, भाग ३ पृष्ठ ८१४ १५

रसातल-यात्रा', 'दक्षिणा' आदि कुछ अन्य उपन्यास भी उन्होंने अपने द्वारा ही सम्पादित प्रसिद्ध मासिक पत्र 'हिन्दी प्रदीप' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित कराये थे।

श्री भट्टजी के उपन्यासों में अपने काल की सामाजिक परिस्थितियों का मार्मिक चित्रण पाया जाता है। वर्णनात्मकता की झाँकियाँ भी यत्र-तत्र पायी जाती हैं। श्री बालकृष्ण भट्ट सभी मौलिक भारतीय उपन्यासकारों की परम्परा में ही, प्रकृति वर्णन के बड़े रसिक कथाकार थे। उन्होंने नासिक के आसपास के अंचल के बहुत ही मनोरम वर्णन (अपने उपन्यास 'नूतन ब्रह्मचारी' में) प्रस्तुत किए हैं। उक्त वर्णनों में नैसर्गिक छटा के सूक्ष्म अंशों पर भी, ध्यान दिया गया है। लेखक ने बीच बीच में उपदेशात्मक प्रवचन भी समाविष्ट कर दिये हैं जो उस काल की समाज सुधारक प्रवृत्ति का परिचय देते हैं। वस्तुतः वही श्री भट्टजी के समय के समग्र साहित्य का मुख्य स्वर था। 'नूतन ब्रह्मचारी' उपन्यास वन वर्णनों से परिपूर्ण है। ये वन वर्णन गोदावरी के अंचल, तथा नासिक से कुछ दूरी पर अवस्थित वनों की शोभा को, मनोरम शैली में चित्रित करते हैं—

'यहाँ पर थोड़े से पेड़ों का विरल भाव उस रम्य स्थान के सुहानेपन को बढ़ाता सा था। जंगल काहे को था? वह माली जिसका नाम प्रकृति है उसके हाथ का लगाया हुआ एक छोटा सा उद्यान सा था। पहाड़ों की ऊंचाई भी इस स्थान की भयावनी न थी। ... बनली घासों से ढँके हुए पहाड़ियों के छोटे छोटे टीले, बहुत ही सोहावने दीख पड़ते थे ... ।[1]

एक और दृश्य भी प्रकृतिगत वर्णनात्मक कला की अनूठी उद्भावनाओं के कारण विशेषतया अवलोकनीय है। इसमें उपन्यास के दो प्रमुख पात्र (पंडित विट्ठलराव एवं उनकी धर्मपत्नी) वन मार्ग से प्रातःकाल की रमणीय वेला में पैदल चले जा रहे हैं। उसी समय के प्रसंग को उपन्यासकार की जुबानी ही सुनिए —

'प्रातःकाल जैसा पक्षियों का कलरव होता है वह अभी समाप्त नहीं हुआ था। क्योंकि दिननाथ सूर्य भगवान प्रभाकर, कुछ निकले थे और कुछ आकाश वितान से अपना मुंह ढांपे थे। ... और उन ऊँचे पेड़ों में जिनकी पत्तियाँ बारहो महीने हरी भरी बनी रहती हैं उनकी फुनगियों से फूट फूट कर किरण अपनी झलक दिखला रही थी। और उन्हीं पेड़ों की पत्तियों को थोड़ा थोड़ा हिलाते हुए जो प्रातःकालीन मन्द मारुत बह रहा था जिसमें गरमी अभी लेशमात्र भी

---

१ नूतन ब्रह्मचारी (प० बालकृष्ण भट्ट), परिच्छेद २, पृष्ठ ५ प्र० महादेव भट्ट अहियापुर प्रयाग (कि० स० सन् १९११ ई०)

नहीं आई थी। उसी शीतल मन्द सुगन्ध, त्रिविध समीरण का सुख उठाते, विट्ठलराव और उनकी स्त्री ठाकुर साहब की गढ़ी को जा रहे थे। "[1]

भारतेन्दु के समकालीन एव उत्तर पश्चिम भारत म, हिन्दी के प्रबल प्रचारक प० श्रद्धाराम फिल्लौरी एक प्रसिद्ध वक्ता एव सुलेखक भी थे। उन्होंने (आचार्य शुक्लजी के ही शब्दों में) सन १८७७ ई० म 'भारतीय शैली का प्रथम उपन्यास' भाग्यवती रचा था। वस्तुत यह एक सामाजिक उपन्यास था जिसमे उपन्यासकार न अपने देशकाल का चित्रण और वणन बहुत ही यथातथ्य शैली तथा वणनात्मक सामथ्य के साथ किया है। सवत १९३४ वि० (१८७७ ई०) म, अपने निवास-स्थान फिल्लौर (जिला जालन्धर) से लिखित अपने प्रथम सस्करण की भूमिका म, लेखक ने अपनी कृति क अभिप्राय को निम्न शब्दों में स्वय ही सुस्पष्ट किया है।

'बहुत दिनों से इच्छा थी कि कोई ऐसी पोथी हिन्दी भाषा म लिखूँ कि जिसके पढ़ने से भारत खण्ड की स्त्रियों को, गृहस्थ धम की शिक्षा प्राप्त हो इस कारण मैंने यह ग्रथ सुगम हिन्दी भाषा म लिख के, नाम इसका भाग्यवती' रखा। ग्रन्थ म मुख्य प्रसग एक भाग्यवती' नामक स्त्री का है, जो काशी नगर म प० उमादत्त के घर मे उत्पन्न हुई थी। चाहे प्रसग तो इसमे काशीवासी लोगो का है परन्तु वहाँ की बोली पूरबी और कुछ रूखी सी होने के कारण, इस ग्रन्थ म, वही हिन्दी भाषा लिखी है कि जो दिल्ली आगरा सहारनपुर अम्बाला क इद गिद के हिन्दू लोगो म बोली जाती है और पजाब के स्त्री-पुरुषो को भी, समझना कठिन नहीं है। इस ग्रन्थ म जिस देश और जिस भाति के स्त्री पुरुषों की बातचीत हुई है, वह उसी की बोली और ढब स लिखी है जो कोई जसा बोला, उसी की बोली धरी हुई है।'[2]

उपन्यास की प्रधान नायिका भाग्यवती और उसके परिवार वाले हरिद्वार के कुम्भ मेले म सम्मिलित होने के लिए रवाना हुए उस समय के कुछ वणन पठनीय हैं जिनके पारायण द्वारा तत्कालीन जनसाधारण के लोक जीवन का एक अविकल चित्र साक्षात हो जाता है। १९वीं शती क चतुथ चरण में हिन्दी प्रदेश की जनता क जीवन क सास्कृतिक पक्ष पर भी उनसे पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उनम कुम्भ मेलों एव तीथ यात्राओं का जसा यथातथ्य वणन पाया जाता है वसा विरल ही अन्य उपन्यासो म मिल पाएगा।

---

१ नूतन ब्रह्मचारी (प बालकृष्ण भट्ट) परिच्छेद ८, पृ० ३८

२ भाग्यवती' (प० श्रद्धाराम फिल्लौरी) (मूललेखक की भूमिका सन् १८९० ई० के सस्करण) ■ पृ० ३४ [स०—विजयशङ्कर मल्ल, प्र० हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी-१]

श्री राधाकृष्णदास का 'नि सहाय हिन्दू' नामक उपन्यास, वस्तुत अपना देशकाल गत परिस्थितियो को दृष्टि मे रखते हुए एक पर्याप्त नई शली का उपन्यास जान पड़ता है। विशेषतया इस उपन्यास मे वर्णनो का प्रकार, पुरातन वर्णन प्रभावों से, सर्वथा स्वतन्त्र एव मौलिक भी जान पड़ता है। वर्णन ही उपन्यास है—इस तत्व को श्री राधाकृष्णदास ने अपनी सहज उपन्यासकार की प्रतिभा से, केवल सोलह वर्ष की अवस्था मे ही समझ लिया था,—यह एक और भी विस्मयजनक तथ्य है।[1] 'नि सहाय हिन्दू' के वर्णन एकदम तटस्थ दार्शनिक कलाकार की दृष्टि से अवलोकित, आस पास के परिवेश के यथातथ्य चित्रण हैं—अपनी अल्पायु मे भी लेखक ने क्या वर्णनीय है क्या नहीं—इसका पर्याप्त ध्यान रखा है। इसके उदाहरण के रूप म यहाँ केवल दो एक वर्णन ही उदाहृत किए जा रहे हैं —

'निदान यह कि इस समय विचित्र शोभा थी। कही डोगिया जाती थी जिनमे से तरह तरह की बोलियाँ आती थीं। कही लोग नहा रहे थे। कही तख्तों पर बठ कर सध्या कर रहे थे। कही बुरजो पर शास्त्रार्थ हो रहे थे। श्री गगाजी हिल रही थी, जिससे कि लोगो का जी खिच जाता था इस समय, गगा तट पर, विचित्र समा दिखाई देता था, जिसका आनन्द देखने से ही होता था। ठण्डी हवा से जल हिलता हुआ सूर्य की लाल घाम म गले हुए सोने की धारा सा बहता था। उस पर जो रग बिरगे पक्षी बठे थे सुवर्ण नदी म जवाहिर से जडे देख पडते थे।

देखिए सध्या कसी फूल रही है। सूर्य की परछाही मेघो पर पड़ती है और उसकी ज्योति पृथ्वी पर कसी सोहावनी मालूम होती है मानो मनुष्य पृथ्वी सभी सोने की हैं।' ऊच ऊँचे मकान अपना ठाठ बाट अलग दिखा रहे थे। चटाइयाँ और छाते जो कि घाम से बचने के लिए घाटो पर लगे थे कुछ लडके कबडडी खेल रहे हैं कुछ आकाश ही को देख रहे हैं—जहाँ देखा कि कोई गुडडी कटी झट दौड़े—जो गुडडी गगाजी मे गिरी तो आप भी वहीं मौजूद।'[2]

---

१ मेरी अवस्था अभी केवल सोलह वर्ष की है और इस अवस्था के लोग बालक कहे जाते हैं। इसीलिए यह लेख भी बालक है और इसी से इसमे बहुत सी भूल हैं। इससे मैं निवेदन करता हूं कि इस बालक की धृष्टता को क्षमा करेंगे।—राधाकृष्णदास (निवेदन नामक प्रस्तावना से) नि सहाय हिन्दू'—एक वियोगान्त उपन्यास। (स्व० बाबू हरिश्चन्द्र की आज्ञानुसार श्री राधाकृष्णदास लिखित) (प्रथम प्रकाशन १८८१ ई०) (बनारस विक्टोरिया प्रेस सन १८९० ई० म प्रकाशित। [(चिरजीव पुस्तकालय आगरा के सौजन्य से प्राप्त) (प्रस्तुत सस्करण १८९० ई०)।]

२ वही, श्री राधाकृष्णदास पृ० ३२

उपर्युक्त, वर्णन कला-समृद्धि से ओतप्रोत दोनों उत्कृष्ट वर्णनों को देख कर आश्चर्य होता है कि उन्नीसवीं शती के चतुर्थ चरण में पहुँचते पहुँचते, हिन्दी की उपन्यास विन्यास कला ने, वर्णनात्मक कला में कितनी मनोरम उच्चस्तरता प्राप्त करली थी। श्री राधाकृष्णदास ने अपनी किशोरावस्था में ही इतनी प्रौढ़ वर्णनात्मक औपन्यासिक कृति को रूपायित कर डाला यह और भी विस्मयजनक तथ्य है। गंगाजी के सांध्य लालिमाम जल में, सांध्य-गगन में उड़ने वाले तथा तटवर्ती रंग बिरंग पक्षियों के प्रतिबिंब को गले हुए सुवर्ण की धारा, तथा उसमें मीना कला से जड़े हुए मणि माणिक्य द्वारा चित्रित स्वर्णाभूषण-कला में उपमित किया गया है। प्रतिभाशाली उपन्यासकार ने, अपनी वर्णगत चित्र विचित्र मनोगत छवि को शब्दों में किस वर्णन-कलात्मक सूक्ष्म बूझ से उतारा है, यह देख कर, सचमुच चकित रह जाना पड़ता है। गंगा के घाटों की सन्ध्या का ऐसा हृदयग्राही एवं कलाभिराम चित्रमय वर्णन तो परवर्ती उपन्यासों में भी दुर्लभ ही है।

यह कहा ही जा चुका है कि व्यक्तियों की भांति ही साहित्यिक कृतियों का भी अपना-अपना भाग्य होता है। इस दृष्टि से 'परीक्षागुरु' (सन् १८८२ ई०) भी एक विशिष्ट आद्यकालीन हिन्दी उपन्यास माना जाएगा। इस उपन्यास में, मौलिक उपन्यास कला की दृष्टि से बड़ी कमी केवल यही है कि उसके भाषा और भाव, सहज न होकर कृत्रिम ढांचे में ढाले हुए हैं। हर सर्जनात्मक कला अपने सहज नैसर्गिक विकास में ही खिलती है। इस दृष्टि से 'परीक्षागुरु' का कलात्मक सौंदर्य अथवा लालित्य कृत्रिम अंग्रेजी रंगढंग के कारण म्लान अथवा आहत हो गया है। भारतभूमि पर पाश्चात्य प्रभाव के अभियान के, उस पर आक्रमण चिह्न अवशिष्ट हैं। तो भी यह औपन्यासिक रचना, भारतीय है और आंग्ल वेशभूषा के होते हुए भी वह वस्तुतः 'विदेशी' नहीं बन पाई है।

लोक-जीवन के जिस खण्ड का चित्रण 'परीक्षागुरु' में किया गया है वह दिल्ली और काशी नगरों की पृष्ठभूमि पर प्रसरित है। बिगड़े हुए रईसों की चालढाल, चाटुकार मित्रों के हथकण्डे तथा सच्चे मित्रों के चरित्र आदि नैतिक शिक्षात्मक अन्तर्चेतनाओं पर आयोजित, इस उपन्यास का वर्णनात्मक पक्ष भी पर्याप्त सुपुष्ट है। केवल उसका कथोपकथन पक्ष ही, उसकी मुख्य निर्बलता है। इस तथ्य से यह भी सिद्ध होता है कि उपन्यास मूलतः श्रव्य काव्य या कथा काव्य है—दृश्य काव्य या कथोपकथन विधा नहीं। वर्णन ही उसकी मुख्य प्रकृति है—कथोपकथन नहीं। यदि कथोपकथन अनिवार्य होवे ही, तो लेखक को उसे अपने निजी देशकाल के परिवेश के चौखटे में, कुछ इस ढंग से बिठाना होगा कि जिससे वे सम्भाषण भी वर्णनों के सहज ताने-बाने के अंगरूप ही जान पड़ें। जो भी हो, परीक्षागुरु का यह वाक्य विन्यासात्मक एवं कथोपकथन-परक अंग्रेजी लहजा इसलिए भी क्षम्य है कि उस काल में उपन्यास रचना में नवीन प्रयोगों का उत्साह था और नापागत वैविध्य

पर उतना अंकुश नहीं था। किन्तु हिंदी उपन्यास के सौभाग्य से, उस समय के लेखक वर्ग में से किसी ने भी 'परीक्षागुरु'-कार का अनुकरण नहीं किया।

'परीक्षागुरु' उपन्यास का उद्देश्य, वस्तुतः अपने समय के बिगड़े हुए या बिगड़ते हुए रईसों के प्रमादी एवं विलासी जीवन का प्रतिबिम्ब दरसाना ही था, जिसमें लेखक को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। किन्तु उसकी यह सफलता भी, उस वर्णन कला पर ही आधारित है जिसके 'परीक्षागुरु' में पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। ऐसा ही एक वर्णन है, लाला मदनमोहन के अपने विहार उपवन, दिलपसन्द का। इसमें बाग की कलात्मक शोभा एवं सजावट प्रेक्षणीय है—जो निश्चय ही लेखक की सुरुचि एवं कला अनुराग की परिचायक है। साथ ही उसमें रईसों के समय बिताने के साधनों आदि का उल्लेख करके वर्णन को सजीव एवं यथातथ्य भी बना दिया गया है —

निदान लाला मदनमोहन इन बग्गियों का देखभाल कर वहाँ से सीधे हसनजान के तबेले में गये। और वहाँ तीन घोड़े पाँच हजार पाँच सौ रुपये में लेने करके, वहाँ से सीधे अपने बाग दिलपसन्द को चले गए। यह बाग सब्जीमण्डी से आगे बढ़ कर नहर की पटड़ी के किनारे पर था। इसकी रविशों के दोनों तरफ, रेलिंग की कतार सुहावनी क्यारियों में रंग रंग के फूलों की बहार कहीं हरी हरी घास का सुहावना फर्श कहीं घनघोर वृक्षों की गहरी छाया कहीं बनावट के झरने और वट कहीं पेड़ और टट्टियों पर बेलों की लपट। एक तरफ को संगमरमर के एक कुण्ड में तरह तरह के जलचर अपना रंग ढंग दिखला रहे थे। बाग के बीच में एक बड़ा कमरा हवादार बहुत अच्छा बना हुआ था। उसके चारों तरफ संगमरमर के साईबान के गिर्द फव्वारों की कतार लगी थी। जिस समय वे फव्वारे छूटते थे जेठ बैसाख को सावन भादों समझ कर मोर नाच उठते थे।

बीच के कमरे में रेशमी गलीचे की उम्दा बिछायत थी और बढ़िया साटन की मढ़ी हुई सुनहरी कोच कुर्सियाँ जगह जगह मौके से रखी थीं। दीवार के सहारे संगमरमर की मेजों पर बड़े बड़े आठ काच आमने सामने लगे हुए थे। छत में बहुमूल्य झाड़ लटक रहे थे। गोल बजई और चौकूटी मेजों पर फूलों के गुलदस्ते हाथी दांत चन्दन आबनूस चीनी सीप और काच वगैरह के उम्दा उम्दा खिलौने मिसल से रखे थे। चाँदी की रकबियों में इलायची सुपारी चुनी हुई थीं। समय तारीख वार महीना बताने की घड़ी हारमोनियम बाजा आटा खेलने की मेज अलबम सरबीन सितार और शतरंज वगैरे मन बहलाने का सब सामान अपने अपने ठिकाने पर रखा हुआ था। दीवारों पर बेल के फूल पत्तों का सादा काम अभ्रक की चमक से, चाँदी, की डली के समान चमक रहा था। इसी मकान के लिए हजारों रुपयों का सामान, हर महीने नया खरीदा जाता था।[1]

---

१ परीक्षागुरु (लाला श्रीनिवासदास) प्रकरण ४ पृष्ठ ३३ ३४ ज्ञान प्रकाशन चावड़ी बाजार दिल्ली, (१९५८ ई० का संस्करण)।

'परीक्षागुरु' के पश्चात्, रचे गए, पुराने प्रेमचन्द-पूर्व उपन्यासों म, श्री रत्नचन्द प्लीडर-कृत 'नूतन चरित्र' (सन् १८८३ ई०) भी अनेक विशिष्टताओं के कारण उल्लेख्य है। कुतूहलपूर्ण घटनाओं के आधार पर आधारित इस उपन्यास का प्रकाशन, श्री देवकीनन्दन खत्री-कृत 'चन्द्रकान्ता' से केवल तीन वर्ष पूर्व हुआ था। इसीलिए उसकी कुछ विशिष्टताओं पर थोड़ा ध्यान दिया जाना उचित होगा। उपन्यास का कथानक दो प्रेमी युग्मों की रोमानी कथा पर आधारित है, जिसमें 'चन्द्रकान्ता' जैसे तिलिस्मी ऐय्यारी उपन्यासों की सी झलक मिलती है। पहला युग्म है विवेकराम और चित्रकला का—दूसरा चेतराम और चित्रवल्लभा का। उपन्यास की अधिकांश घटनाएँ चमत्कारपूर्ण हैं एवं आधुनिक समीक्षात्मक भाषा म, वे 'अस्वाभाविक' भी हैं। जिस गाड़ी पर विवेकराम और चित्रकला सवार होकर दिल्ली के लिए प्रस्थान कर रहे हैं—वह संयोगवश विपरीत दिशा से आने वाली एक अन्य गाड़ी से टकरा जाती है। गाड़ी उलट गई थी, किन्तु इतनी बड़ी ट्रेन-दुर्घटना म सिवाय विवेकराम के और किसी को चोट ही नहीं आई और गाड़ी यथा-क्रम फिर थोड़ी देर म दिल्ली के लिए रवाना हो गई।

उपन्यास म तिलिस्मी उपन्यासों जैसे रोमानी वातावरण का सूत्रपात करने वाली एक और घटना है चेतराम की। किसी अनाम महिला का फोटो देख कर तत्काल उसकी ओर आसक्ति, तथा उसके फलस्वरूप रुग्णशय्या पर पड़ जाने की बात मानो पौराणिक कथाओं अथवा काव्य-कथानकों से ले ली गई है। इसी भाँति जब चित्रवल्लभा संयोगवश चेतराम को देखती है तो वह तत्काल ही सुधबुध भूल कर नाचने लगती है और देखते देखते हवा की तरह जमीन में गायब हो जाती है। इसी भाँति तिलिस्मी उपन्यासों की शैली पर ही, प्रस्तुत उपन्यास म, पात्रों के बेहोश करने और उन्हें होश म लाने के उपाय, आज एकदम अस्वाभाविक से लग सकते हैं। उपन्यास म आई हुई घटनावली म भेष बदलने और इस भाँति अपनी कार्यसिद्धि का रास्ता निकालने जैसे तिलिस्मी उपन्यासों के सभी उपायों का समावेश किया गया है। घटनाओं को रहस्यात्मक बनाने का पर्याप्त प्रयत्न किया गया है। उपन्यास म तिलिस्मी ढंग की इमारतों मकानों, सुरंगों आदि के वर्णन भी आए हैं। सब मिला कर लेखक का प्रधान उद्देश्य पाठकों का कुतूहलवर्धन एवं मनोरंजन ही जान पड़ता है किन्तु दुर्भाग्यवश उसके पास श्री देवकीनन्दन खत्री जैसी जन्मजात वर्णन प्रतिभा नहीं थी। फिर भी यह विस्मृत एवं अब दुष्प्राप्य आवृत्ति, एक प्रकार से, प्रेमचन्द पूर्व काल की हिन्दी उपन्यास विधा म, तिलिस्मी-ऐय्यारी शैली का सूत्रपात करने वाली, मानी जा सकती है।

हिन्दी उपन्यास साहित्य म सर्वप्रथम ऐतिहासिक उपन्यास रचना की ओर ध्यान देने का श्रेय श्री राधाचरण गोस्वामी को है। गोस्वामी जी वृन्दावन से, भारतेन्दु

नामक मासिक पत्र भी प्रकाशित करते थे। उनके अधिकांश ऐतिहासिक उपन्यास 'भारतेन्दु' में ही धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुए थे। दुर्भाग्यवश ये पृथक् पुस्तक रूप में, पुनः मुद्रित न हो पाए। पत्रिका की फाइलों में यत्र तत्र उनके स्फुट अंश बिखरे पड़े हैं और दुर्भाग्यवश अभी तक, जिन ऐतिहासिक उपन्यासों का विवरण मिल पाया है, वे सभी, अपूर्ण ही पाये जाते हैं। ये सभी उपन्यास, प्रायः सन १८५७ ई० के स्वाधीनता संग्राम एवं तत्पश्चात् की उत्तर भारतीय राजनैतिक परिस्थितियों के उलटफेर को लेकर नियोजित किए गए थे। उनके नाम ये— विधवा विपत्ति' (१८८३ ई०) नवन्यास कल्पलता बाल विधवा', वीरबाला सर्वनाश एवं 'सौदामिनी' (१८८४ ई०)। श्री गोस्वामीजी की कृतियाँ इसलिए उल्लेख्य हैं कि वे एक प्रकार से प्रेमचन्द पूर्व कालीन हिन्दी उपन्यास-साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यासों की सूत्रपात करने वाली कही जा सकती हैं। श्री राधाचरणजी गोस्वामी, इस भाँति उस काल के अन्य ऐतिहासिक उपन्यासकारों, यथा श्री गंगाप्रसाद गुप्त श्री जयरामदास गुप्त, मुन्शी देवीप्रसाद, पं० बलदेवप्रसाद मिश्र, ठा० बलभद्रसिंह आदि के पूर्ववर्ती माने जा सकते हैं।

ठाकुर जगमोहनसिंह का उपन्यास श्यामा-स्वप्न एक काव्यात्मक' उपन्यास कहा जा सकता है। इसके प्रकृति वर्णन तो जान पड़ता है समग्र हिन्दी उपन्यास साहित्य में सदैव ही बेजोड़ रहेंगे। यह एक भावप्रधान एवं कल्पनाप्रधान उपन्यास है। इसके वर्णन भी पाठक को काव्य जैसा आनन्द प्रदान करते हैं। वह प्रसिद्ध वर्णन चित्र जिसे आचार्य शुक्लजी ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में, अवतरित किया है वस्तुतः वर्णनात्मक कला का एक उत्कृष्ट नमूना ही है —

जहाँ की निर्झरिणी के तीर, वानीर से घिरे मदकल-कूजित विहंगमों से शोभित है—जिनके मूल में स्वच्छ और शीतल जलधार बहती है—और जिनके किनारे के श्याम, जम्बू के निकुंज फलभार से नमित जनाते हैं नर्मदा के दक्षिण में दण्डकारण्य का एक देश दक्षिण कोशल नाम से प्रसिद्ध है मैं कहाँ तक इस सुन्दर देश का वर्णन करूँ ? कहीं विहंगों का रोर कहीं निष्कूजित निकुंजों के शोर कहीं नाचते हुए मोर कहीं विचित्र तमचोर कहीं बड़े बड़े भीम भयानक आकार अजगर, सूर्य की किरणों में घाम ले रहे हैं।[१]

प्रेमचन्दपूर्व काल की ये सभी आद्य स्मरणीय औपन्यासिक कृतियाँ प्रायः आधुनिक आलोचक वर्ग का ध्यान, बहुत कम आकर्षित कर पाती हैं। कारण कि उनमें से अनेक तो दुष्प्राप्य हैं और जो समुपलब्ध भी हैं उनमें उपन्यास का आधुनिक टेक्नीक नहीं है। फिर भी वर्णन वैभव में वे सभी धनी हैं समृद्ध हैं।

---

१ श्यामा स्वप्न' (ठा० जगमोहनसिंह) पृष्ठ ४०। प्रथम प्रकाशन १८८५ ई०। (सं० डा० श्रीकृष्णलाल, प्र० नागरी प्रचारिणी सभा, काशी १९५४ ई०)

उपन्यास के इस पक्ष पर ध्यान न देने के कारण ही, वस्तुत प्रेमचन्द पूर्व-काल के उपन्यास, अध्ययन-अनुसधान से पर की चीज होत जाते हैं।

श्री देवकीन दन खत्री रचित 'चन्द्रकान्ता' (१८८६ ८७ ई०) को स्व० डा० श्रीकृष्णलाल ने हि दी का 'प्रथम साहित्यिक उपन्यास घोषित किया था। उनकी इस प्रतिक्रिया का आधार सभवत आचाय शुक्ल द्वारा अपने इतिहास म लिखित, निम्न वाक्य रहा होगा —

'यहा पर यह कह देना आवश्यक है कि इन उपन्यासो (श्री दवकीनन्दन खत्री रचित उपन्यास साहित्य) का लक्ष्य, केवल घटना वचित्र्य रहा—रस विचार, भाव विभूति या चरित्र चित्रण नही। य वास्तव म घटना प्रधान कथानक या किस्से हैं जिनम जीवन क विविध पक्षो के चित्रण का कोई प्रयत्न नही। इससे यह साहित्य कोटि म नही आता।[१]

फिर भी आगे चलकर स्वय श्री शुक्लजी ने चन्द्रकान्ता' क लेखक की अभूतपूव लोकप्रियता, और हिन्दी उपन्यास के प्रति जनसाधारण म नया उत्साह उत्पन्न करने की क्षमता को, स्वीकार भी किया है। किस भाति कितने ही उर्दू जीवी लोगो ने केवल 'चन्द्रकान्ता' पढन के लिय हिन्दी सीखी इस बात का भी उन्होने उल्लेख किया है। उन्होन यह भी लिखा है कि कितन ही नवयुवक, इसे पढ कर हिन्दी के लेखक हो गये।'[२]

श्री अयाध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध का कथन भी इस सम्बन्ध म स्मरणीय है कि इस उपन्यास से भी हिन्दी भाषा क प्रचार मे कम सहायता नही मिली। और उससे उपन्यास क्षत्र मे युगान्तर उपस्थित हो गया।[३]

चन्द्रकान्ता की इस चामत्कारिक सफलता क मूल म, वस्तुत उसकी विशिष्ट वणनात्मक शली ही थी। इस शली की सफलता का रहस्य वस्तुत जीवन का यथाथ चित्रण नही वरन कल्पित विश्व का, एक प्रतीयमान चित्रण है। इसके लिय उन्होन स्थान वणन और भौगोलिक परिवेश का क्षेत्र 'काशी चुनार नवगढ अचल' की पृष्ठभूमि मे रक्खा है और वास्तविक स्थानो क साथ भी, कल्पित कथा प्रसगा का, अपूव सरस शली म समन्वित कर दने का विलक्षण करिश्मा भी कर दिखाया है।

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी न अपने ग्रन्थ हिन्दी कथा साहित्य' म 'आधुनिक कथा साहित्य का आदिकाल शीषक प्रसग म, इसी सम्बन्ध म बडा सरस

---

१ २ हिन्दी साहित्य का इतिहास आचाय रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४६८ ६६

३ हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास (श्री अयाध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, भाग २, गद्य मीमासा पृष्ठ ५२४ (किताब महल, दिल्ली, १६५८ ई०)।

साहित्य समीक्षा की है। उसमें श्री देवकीनन्दन खत्री की वर्णनात्मक कला का मानो सम्पूर्ण परिचय ही आ गया है —

चुनार कहाँ है ? गया और रोहतासगढ़ किधर है ? इनकी भौगोलिक स्थिति और ऐतिहासिक विवरण से मुझे कोई प्रयोजन नहीं था। मैं तो यह स्वीकार कर चुका था कि चुनार से थोडी ही दूर, लम्बा चौड़ा घना जंगल है—वह सैकड़ों कोस चला गया है। उसमें बड़े बड़े पहाड़ घाटियाँ दर्रे और सात पहाड़ों पर टूट फूटे आलीशान किले हैं। ये किले अपने चारों तरफ के ऊँचे पहाड़ों के बीच में छिपे और दबे हुए हैं कि एकाएक किसी का वहाँ पहुँचना और पता लगाना मुश्किल है। उन्हीं स्थानों में, पहाड़ियों के बीच, आलीशान इमारतें बनी हुई हैं। ये सभी इमारतें रमणीय स्थानों में बनी हुई हैं। कोई-कोई स्थान चारों तरफ से चार खूबसूरत पहाड़ियों से घिरा हुआ है। वहाँ की प्राकृतिक शोभा दर्शनीय है। उसमें फूलों और फलों के पेड़ हैं। बीच में बड़े बड़े तीन झण्डे लहरा रहे हैं। चारों तरफ पहाड़ों पर से गिरा हुआ जल उन झरनों में तीव्र गति से बहता है। एक पहाड़ी के नीचे पहुँच कर वे तीनों झरने मिल जाते हैं और एक गड्ढे में गिर कर न मालूम कहाँ चले जाते हैं।

मैं ऐसे भवनों में रह चुका हूँ और चन्द्रकान्ता सन्तति के पात्रों के साथ उन तरुणियों से भी परिचित हो चुका हूँ जिनकी सौन्दर्य छटा से वे भव्य भवन सदैव प्रदीप्त रहते थे। रात के समय में भी रोहतासगढ़ के जंगलों में घूम चुका हूँ। रोहतासगढ़ के जंगल साधारण नहीं थे। वे बड़े घने थे। उनमें शीशम, साखू, साल आदि बड़े बड़े पेड़ों की घनी छाया से दिन में भी अन्धकार बना रहता था कि उसमें भूले हुए आदमियों को मुश्किल से छुटकारा मिलता था। उसमें हजारों आदमी इस तरह छिप सकते कि हजार सिर पटकने और खोजने पर भी उनका पता लगाना असम्भव था। मैं विचित्र सुरंगों के भीतर प्रविष्ट हो चुका हूँ और तिलिस्म के भीतर जा चुका हूँ और उसे तोड़ चुका हूँ।[1]

श्री देवीप्रसाद शर्मा उपाध्याय रचित सुन्दर सरोजिनी (सन् १८९३ ई०) के बारे में तत्कालीन सामयिक पत्र पत्रिकाओं में पर्याप्त प्रशंसात्मक समीक्षाएं निकली थीं। यथा कलकत्ता के हिन्दी बंगवासी नामक दैनिक की जून १८९३ ई० की सम्मति 'सुन्दर सरोजिनी अपनी चाल ढाल की हिन्दी की पहली ही पुस्तक है।' भारत जीवन काशी की २ जून १८९४ की सम्मति में सुन्दर सरोजिनी में, घटनाओं का विचित्र वर्णन है। उपन्यास रसीला है तथा हिन्दोस्तान की १६ दिसम्बर १८९३

१ हिन्दी कथा साहित्य (श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी) (प्र० हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई—४), अध्याय ३—भारतीय कथा साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ ३३ ३४

की सम्मति के अनुसार— यह उपन्यास आश्चर्य घटनावलियों के वर्णन से पूरित, ऐसी सुन्दर रीति पर लिखा गया है कि जिसके पढ़ने से चित्त को अधिक आनन्द मिलता है।[1]

'सुन्दर सरोजिनी' उपन्यास का नायक 'सुन्दर' है और नायिका सरोजिनी। उपन्यास में भारतीय कथा साहित्य की पुरानी पद्धति, अर्थात् स्वप्न दर्शन द्वारा परस्पर अनुरक्ति का घटना क्रम का प्रेरक तत्व बनाया गया है और कलकत्ते से लंका तक की सागर यात्रा आदि के रोचक एवं विलक्षण वर्णनों के कारण, उपन्यास की सरसता में अभिवृद्धि हुई है। यह हिन्दी का पहला उपन्यास है, जिसमें सागर का चाक्षुष दृश्य, इतनी सुन्दर शैली में वर्णनबद्ध किया गया है—(विशिष्ट वर्णन के लिए देखिये परिशिष्ट भाग)।

प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी उपन्यास साहित्य के प्रस्तुत संक्षिप्त विवरण में, श्री भुवनेश्वर मिश्र द्वारा लिखित दो ऐसे उपन्यासों का उल्लेख करना भी आवश्यक है, जिनमें ग्रामीण समस्याओं, ग्राम्य जीवन जमींदारों द्वारा भूमिहीन कृषकों पर अत्याचार तथा आंचलिक परिवेश को कथा की पृष्ठभूमि बनाया गया है। इनमें हम, आद्य आंचलिक उपन्यास रचना के प्रारम्भिक प्रयास के दर्शन होते हैं। किसी रूप में यथार्थवादी उपन्यास रचना का भी यहीं से श्रीगणेश माना जा सकता है। श्री भुवनेश्वर मिश्र कृत 'घराऊ घटना' की रचना सन् १८९३ ई० में और 'बलवन्त भूमिहार' की रचना सन् १८९६ ई० में हुई। ये दोनों ही बिहार की पृष्ठभूमि पर लिखे गए हैं। 'बलवन्त भूमिहार' उपन्यास का नायक बलवन्त, भूमिहीन कृषक है। हिन्दी उपन्यास में पहली बार यहाँ जमींदार कृषक संघर्ष भी दिखाया गया है। दोनों ही उपन्यास वर्णन बहुल हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासों का आविर्भाव प्रेमचन्द पूर्वकाल में श्री राधाचरण गोस्वामी द्वारा किया ही जा चुका था। स्वयं श्री 'भारतेन्दु' ने भी 'हम्मीर हठ' नामक एक उपन्यास लिखा था जो सम्पूर्ण नहीं हो पाया। फिर भी इस काल के सर्वप्रथम समर्थ उपन्यासकार बाबू गंगाप्रसाद गुप्त ही हुए जिनके सर्वप्रथम उपन्यास 'कुँवरसिंह सेनापति' में एक सफल एवं समर्थ ऐतिहासिक उपन्यास के लक्षण पाए जाते हैं। [ग्रन्थ का दुर्लभ (प्रथम संस्करण) चिरंजीव पुस्तकालय, वेलनगंज, आगरा में सुरक्षित है। प्रस्तुत अध्ययन में उसी का उपयोग किया गया है।] उपन्यास, वर्णन प्रधान इतिवृत्त कथा की एक मौलिक शैली का प्रवर्तन करता है। [परिशिष्ट

---

१ 'सुन्दर सरोजिनी' (प० देवीप्रसाद शर्मा उपाध्याय रामनगर (चम्पारन) निवासी) (प्रथम प्रकाशन १८९३ ई० ।) (प्रस्तावना भाग से) लेखक द्वारा ही काशी में मुद्रित एवं प्रकाशित। (चिरंजीव पुस्तकालय, आगरा के सौजन्य से प्राप्त एक दुर्लभ संस्करण से।)

भाग में, बलवन्त भूमिहार (पंडित भुवनेश्वर मिश्र) तथा 'कुंअरसिंह सेनापति' (बाबू गंगाप्रसाद गुप्त) के कुछ अलभ्य एवं वर्णन-कला की दृष्टि से विशेष उल्लेख्य वर्णन भी अवलोकनीय हैं।]

प्रेमचन्द पूर्वकाल के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं वर्णनकला मर्मज्ञ उपन्यासकार स्व० श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की सर्वप्रथम कलाभिराम औपन्यासिक कृति का उल्लेख किया जाना भी यहां अत्यन्त आवश्यक होगा क्योंकि उसके द्वारा, हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में, प्राञ्जल वाङ्मयी भाषा में, उपन्यास रचना की एक मात्र प्रधान प्रणाली को और अधिक संस्कारयुक्त एवं समृद्धिशालिनी बनाया गया है। एक प्रकार से यह भी कहा जा सकता है कि श्री 'हरिऔध' रचित 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' (१८९९ ई०) हिन्दी का सर्वप्रथम साहित्यिक वर्णन कलाभिराम शैली में रचित श्रेष्ठ उपन्यास है। इस उपन्यास की, सुप्रसिद्ध हिन्दी प्रेमी सर जार्ज ग्रिअर्सन ने बड़ी प्रशंसा की थी। श्री उपाध्यायजी ने अपनी पुस्तक श्री ग्रिअर्सन को ही समर्पित की थी—तब श्री ग्रिअर्सन ने, श्रीजायसवाल को लिखा था कि —

मेरी इच्छा है कि और लोग भी हरिऔध के बताए हुए ठेठ हिन्दी का ठाठ के स्टाइल में लिखने का उद्योग करें, और लिखें। जब मैं देखूंगा कि पुस्तकें वैसी ही भाषा में लिखी जा रही हैं तो मुझे हार्दिक प्रसन्नता होगी। उससे उस भाषा का भी अच्छा होगा, जिसका कि मैं तीस वर्ष से आनन्द के साथ पढ़ रहा हूँ।'[1]

इस भांति प्रेमचन्द पूर्वकालीन हिन्दी उपन्यास ने, अपनी वर्णन कलाभिराम चित्र विचित्र शैलियों से रमणीय इन्द्रधनुषी छवि सम विभिन्न वर्णा मनोरंजक प्रथम शैली-यात्रा सम्पूर्ण की। अपने इन १०२ वर्षों के अवान्तर में, हिन्दी उपन्यास ने प्रायः सभी दिशाओं में, वर्णनात्मक प्रयोग कर लिए थे, जिनका कुछ कुछ अनुमान, उपर्युक्त इतिवृत्त द्वारा भलीभांति किया जा सकता है। इस अवान्तर पर पुनः एक विहंगम दृष्टिपात करने पर, इसके दो स्थल हमें सबसे अधिक दृश्यमान एवं जाज्वल्यमान जान पड़ते हैं।

सन् १८०१ ई० में 'इंशा' ने अपनी 'रानी केतकी की कहानी अथवा उदभान चरित' की रचना की और सन् १९०४ ई० में श्री प्रेमचन्द ने अपनी प्रारम्भिक औपन्यासिक कृति 'प्रेमा' का प्रणयन किया। इस १०२ वर्षों के अन्तराय को ही 'प्रेमचन्द पूर्व युग' की संज्ञा दी गई है। एक सौ अथवा उससे दो और वर्षों का अन्तर, किसी देश या जाति के जीवन में कोई बहुत बड़ा अन्तराय नहीं माना जाता—विशेषतया भारत जैसे देश में—जहाँ कि हर सांस्कृतिक चेतना की धारा सहस्राब्दि

---

१ 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' (श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'), भाग ३, अध्याय ५, पृष्ठ ५२९

वर्षों तक प्रवाहित रही हो। किन्तु कोई एक शती भी, देश या जाति के जीवन में, कभी कभी ऐसी चिरस्मरणीय हो जाती है, जिसके कारण, मानो समग्र जनजीवन का ही कायाकल्प हो जाता है। हिन्दी उपन्यास साहित्य के इतिवृत्त के इस प्रथम उत्थान की शती पर, एक विहंगम दृष्टि डालते ही यह तुरन्त पता चल जायगा कि यह शती, उसके समग्र इतिहास में भी, कितनी महत्वपूर्ण उपलब्धियों की शती है।

इन सौ से अधिक वर्षों में, हिन्दी उपन्यास जगत में, एक से एक निराले लेखक हुए। इन्होंने अपने अपने समय का उद्भासित करते हुए, एक से एक अनूठी कृतियों का निर्माण किया। उनमें से कुछ लेखक तो, भोर की तारिकाओं के समान अथवा 'छायागगन' में उदित होने वाली नक्षत्र माला की भांति, और भी अधिकाधिक तीव्र प्रकाश से चमक कर हमें अपनी ओर आकर्षित करते रहते हैं। उनमें से हर एक की आभा एवं शोभा निराली जान पड़ती है। कुछ अपने युग के पाठकों को ही आनन्दित कर गये हैं। किन्तु कुछ का प्रभाव, जान पड़ता है, अभी शतियों तक दिखाई देता रहेगा।

प्रथम प्रकरण प्रेमचन्द काल
(१९०४ से १९३६ ई०)

हिन्दी की उपन्यास विधा के विकास एवं अभ्युत्थान की दृष्टि से प्रेमचन्द काल (सन् १९०४ ई० १९३६ ई०) का वही महत्व माना जायगा जो भक्ति काल का, हिन्दी काव्य की महती प्रतिष्ठा के निर्माण में, समझा जाता है। इस काल में हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में एक से एक विलक्षण प्रतिभाशाली एवं महान् उपन्यासकारों ने पदार्पण किया, फिर भी हम इस काल को यदि श्री 'प्रेमचन्द' के नाम से ही अभिहित करते हैं तो इसका कोई कम औचित्य नहीं है। प्रेमचन्द पूर्व कालीन हिन्दी उपन्यास की प्रगति यात्रा में, प्रायः प्रत्येक नई शैली एवं वर्णन प्रणाली का आविष्कार किया जा चुका था। फिर भी हिन्दी उपन्यास अथवा भारतीय उपन्यास को जिस सुनिर्धारित सयमित एवं सोद्देश्य मार्ग प्रदर्शन की अपेक्षा थी, उसे श्री प्रेमचन्द के निराले एवं एकाकी व्यक्तित्व ने ही प्रदान किया।

हिन्दी उपन्यास एवं भारतीय जनसाधारण की राजनतिक, सामाजिक एवं सास्कृतिक आकाक्षाओं का अत्यन्त घनिष्ट एवं निकट सम्बन्ध, उसके आदिकाल से ही रहा है। उसका जन्म भारत में अंग्रेजी राज के धूमकेतु के उदय की, छाया में अवश्य हुआ था किन्तु हिन्दी उपन्यास ने फिर भी कोटि कोटि भारतीय जनता की स्वाधीनता आकाक्षा की कथात्मक अभिव्यंजना का बीड़ा उठाया था। हिन्दी उपन्यासकारों की एक लम्बी परम्परा ने, भारत में विदेशी सत्ता के प्रभुत्व एवं आधिपत्य को चुनौती भी दी थी और इस भांति इसी ब्रिटिश सत्ता के कोप भाजन बनने का जोखिम भी स्वेच्छा से ही लिया था। पं० बालकृष्ण भट्ट,

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एवं उनके कितने ही अन्य सहयोगियों ने, जानबूझ कर ही ब्रिटिश कृपा की, अवहेलना की थी। श्री प्रेमचन्द ने भी स्वेच्छापूर्वक असहयोग आंदोलन की सहानुभूति में, अपनी सारी अध्यवसाय द्वारा प्राप्त की गई सरकारी नौकरी से, स्तीफा दिया था। उनका उपन्यास साहित्य इसीलिए भारतीय स्वाधीनता संग्राम की महान गाथा सा जान पड़ता है।

श्री प्रेमचन्द लिखित 'सोजे वतन' नामक देशभक्तिपूर्ण कहानियों के संग्रह को तत्कालीन ब्रिटिश कलेक्टर ने मँगवा कर आग लगवा दी थी। सन १९०६ ई० की उपर्युक्त घटना के पश्चात रची गई श्री प्रेमचन्द कृत उपन्यास माला (सेवासदन', 'कायाकल्प, रंगभूमि प्रेमाश्रम कर्मभूमि, एवं गोदान) यदि एक क्रम में पढ़ी जावे तो आज से सहस्रावधि वर्ष पश्चात भी उसके पाठक के सामने, भारतीय जनता के महान स्वाधीनता संघर्ष तथा उसके उज्ज्वलतम बलिदानों की गौरवगाथा चलचित्र के समान घूम जायगी। वस्तुतः वही, भारत की बीसवीं सदी की राजनैतिक, सामाजिक सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक भावनाओं की सच्ची इतिवृत्तात्मक कहानी रहेगी तथा उसीमें, आने वाले पाठक वर्ग को भारतीय कृषकवर्ग एवं मध्य-वर्ग के जीवन की सच्ची वर्णनात्मक झाँकियाँ भी मिल पायेंगी।

प्रेमचन्द काल (१९०४ १९३६ ई०) हिन्दी उपन्यास साहित्य का स्वर्ण काल' माना जाता है क्योंकि इसी काल में कुछ ऐसी अपूर्व साहित्यिक गरिमा वाले उपन्यास रचे गये जिनके कारण उपन्यास विधा को प्रथम बार हिन्दी साहित्य में वास्तविक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। जिस समय श्री प्रेमचन्द ने हिन्दी उपन्यास रचना के क्षेत्र में पदार्पण किया था हिन्दी उपन्यास अपने लिए प्रगति के नये नये मार्गों के अन्वेषण में प्रवृत्त था। वर्ण्यवस्तु गत एवं शैलीगत सभी प्रारम्भिक प्रयोग, हर दिशा में, किये जा चुके थे किन्तु फिर भी अभी तक कोई ऐसी अपूर्व प्रतिभा वाला समर्थ उपन्यासकार नहीं हुआ था जो हिन्दी उपन्यास (अथवा गद्यमहाकाव्य) को पद्य महाकाव्य का समकक्ष महत्व दिला सकता। यह कार्य श्री प्रेमचन्द ने ही किया।

हिन्दी उपन्यास के सर्वेक्षण एवं समालोचन में एक विडंबना यह भी रही है कि उसके काल विभाजन के सम्बन्ध में भी विविध मत प्रचलित रहे हैं। उदाहरणार्थ अधिकांश समीक्षक एवं पर्यवेक्षक भारतेन्दु के समय से ही हिन्दी उपन्यास के इतिवृत्त का प्रारम्भ करते हैं। तत्पश्चात प्रेमचन्द काल का प्रारम्भ प्रायः सन १९१६ ई० से माना जाता रहा है। सेवासदन ही बहुधा 'प्रेमचन्द काल' की पहली औपन्यासिक कृति मानी जाती रही है। इस भाँति सन १९०४ से १९१६ ई० तक की समस्त औपन्यासिक कृतियाँ 'प्रेमचन्द पूर्वकाल' में ही समझी जाती रही हैं। इसी कारण वे प्रायः समीक्षा परम्परा में उपेक्षित सी ही रह जाती हैं। वस्तुतः १९०४ ई० से १९३६ ई० तक के काल के सभी उपन्यासों पर, एक साथ ही विचार किया जाना चाहिए।

तभी 'प्रेमचन्द काल' के हिन्दी उपन्यास की, सभी विशिष्टताओ एव प्रवत्तिया को, अधिक वज्ञानिक ढग पर आँका जा सकेगा।

'प्रेमा' उपन्यास की रचना सन् १९०८ ई० म हुई थी फिर भी सन १९०४ ई० से श्री प्रेमचन्दजी क कृतित्व का प्रारम्भ क्या नहीं माना गया ? क्या हमारे अधिकाश हिन्दी उपन्यास साहित्य के पयवेक्षक सेवासदन से ही श्री प्रेमचन्द की उपन्यास कला का, श्रीगणेश मानत हैं। इसके भी अनेक कारण रहे हैं। श्री प्रेमचन्द सेवासदन' की रचना (१९१४ ई०) से भी लगभग बीस वष पहले, कथा साहित्य के प्रणयन म प्रवृत्त हुए थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा उसकी उत्तराधिकारिणी भारत की अग्रेजी सरकार की हिन्दी विरोधिनी नीति के बारे में, विवेचन किया ही जा चुका है। सभी मध्यम वग क लोग अपन बालको को पहले उदू फारसी पढाते थे और तत्पश्चात अग्रेजी। श्री प्रेमच द जिस परिवार और जाति म जनमे थे उसमे नौकरी का पेशा स्वाभाविक एव परम्परागत आजीविका के साधन के रूप म चला आता था और हिन्दी भाषा का पठन पाठन तो उसके अन्त पुर की गृहिणियो तक ही सीमित पाया जाता था। हिन्दी के जन्म प्रदेश म उदू फारसी को बढावा देने का अभिप्राय स्पष्टत विदेशी शासन द्वारा देश की बहुसख्यक जनता के जनमत की अव हेला करना था। बलात आरोपित उदू फारसी के प्रचलन-द्वारा 'एक पन्थ दो काज' की नीति बरती गई थी। एक ओर तो भारतीयो की जातीय अथवा राष्ट्रीय वाणी का दमन तथा दूसरी ओर देश के एक वग मे दूसरे वग के प्रति साम्प्रदायिक विद्वेष को उकसाना—य दोनो ही दुरभिसधिए काम कर रही थी। इन दोनो ही का समन्वित उद्देश्य यही था कि राष्ट्रीय जागृति को गहरी चोट पहुँचायी जाये और इस भांति, विदेशी आधिपत्य को और भी सशक्त बनाया जाये।

जब श्री प्रेमचन्द ने उदू कथा साहित्य के क्षेत्र म पदापण किया तो उनके विचारो का उस क्षेत्र म पर्याप्त स्वागत नही किया गया। सन १९०४ ई० का वष समग्र एशिया महाद्वीप के राष्ट्रीय स्वाभिमान का स्वण विहान के वष था। तभी एक एशियाई जाति (जापान) ने रूस जापान महायुद्ध मे, जार की रूसी सेनाओ को, रण क्षत्र म पराजित किया था। इससे इस पुराने ऐतिहासिक दुष्प्रचार को करारी चोट पहुँची थी कि यूरोपियन लोग सदा ही, अपराजेय होते हैं। इसके विपरीत नाटे कद के एशियाई जापानियो ने लम्बे तगडे यूरोपियन रूसी सनिको को करारी हार दी थी। उस समय रूस म जार की अत्याचारी सामतशाही का बोलबाला था और इग्लण्ड के राज घराने से रूस के राज घराने की रिश्तेदारी भी थी। भारत म भी इस घटना की, पर्याप्त प्रतिक्रिया हुई थी। उधर सन १९०४ मे ही भारत की अग्रेजी सरकार ने, जिसकी राजधानी उन दिनो कलकत्ते मे थी बगालियो की राष्ट्रीय भावना का दमन करने के लिए बग प्रात के दो टुकडे करने की घोषणा की थी। इसके फल स्वरूप विदेशी शासन के विरुद्ध वहा जो असन्तोष की आंधी उठी थी, उसने देश के

विभिन्न मार्गों में नवयुवकों को भी पर्याप्त प्रभावित किया था। श्री प्रेमचन्द भी उन्हीं में से एक थे। उर्दू पत्र पत्रिकाओं म उनकी प्रारम्भिक औपन्यासिक कृतियां प्रकाशित भी होने लगी थीं, किन्तु तत्कालीन उर्दू पाठकों मे राष्ट्रीय चेतना का प्राय सर्वथा अभाव था। इसीलिए श्री प्रेमचन्द जैसे देशाभिमानी समाज सुधारक एव प्रगतिशील विचार धारा वाले युवक लेखक को उर्दू के साहित्य-क्षेत्रों में, कोई विशेष प्रोत्साहन नहीं मिल पाया।

श्री प्रेमचन्द को यह तथ्य समझने म देरी न लगी कि उर्दू नहीं, हिन्दी ही भारत की राष्ट्रीय विचारधारा को व्यक्त करने वाली समर्थ वाणी है अत वे तभी से तीव्रता से मात्र हिन्दी मे ही लेखन की ओर मुडे। 'प्रेमा' का प्रकाशन उन्होंने स्वय ही, *प्रयाग के इण्डियन प्रेस से कराया था। यह सन १९०४ ई० की बात है।* 'प्रेमा' के मुखपृष्ठ पर लेखक का छद्मनाम छपा था बाबू नवाबराय बनारसी। इस लघु उपन्यास का अभिप्राय था भारतवासियो का ध्यान बाल विधवाओ की दयनीय दशा की ओर आकर्षित करना और इसके निराकरण के रूप म विधवा विवाह का प्रतिपादन करना। यह श्री प्रेमचन्द का समाज-सुधार विषयक उपन्यास साहित्य मे एक प्रकार से अपना प्रारम्भिक योगदान था जो उस समय के हिन्दी के अनेक समर्थ उपन्यास लेखको का अपनी ओर आकर्षित कर रहा था।

यह श्री प्रेमचन्द द्वारा हिन्दी उपन्यास साहित्य की इसी समाज सुधार आन्दोलन प्रवृत्ति को एक निश्चित एव रचनात्मक मोड देने का साहित्यिक उद्योग था जिसने उनके अनेकानेक, जागृत विचारो क, सहयोगी उपन्यासकारों को भी अपनी अभिव्यजना का क्षेत्र चुन लेने के लिए आकृष्ट किया था। व्यक्ति को सदाचार का केन्द्रीय माध्यम मान कर तदनुकूल समाज को, एक सामाजिक न्याय परक सामूहिक जीवन की ओर प्रवृत्त करने के उद्देश्य से ये प्रतिभाशाली उपन्यास कार, पुरातन सामाजिक मा यताओ को छिन्न भिन्न भी नहीं करना चाहते थे। प० लज्जाराम शर्मा मेहता इस उपन्यासकार वग का नेतृत्व कर रहे थे और उन्होने ठीक उसी समय *उपन्यास रचना क्षेत्र* मे पदार्पण किया था जिस समय कि प्रेमचन्द का कृष्ण अथवा किशना उपन्यास उर्दू के 'जमाना' मे, धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो रहा था।

इसीलिए यहाँ श्री प्रेमचन्द के कृतित्व के प्रथम चरण की लेखन प्रवृत्तियो की, तत्कालीन हिन्दी उपन्यास की मुख्य धारा के साथ तुलनात्मक अनुमिति भी आव श्यक जान पडती है। उसके बिना उनकी विलक्षण वर्णनात्मक गरिमा के रहस्य-सूत्र से हमे वचित ही रहना पडेगा। प० लज्जाराम के उपन्यास साहित्य पर एक विहगम दृष्टि डालने पर पता चलेगा कि एक प्रतिभाशाली उपन्यासकार को पुरातन परम्पराओं की रक्षा करते हुए सदाचरण गत आदर्शवाद की सामूहिक रूप से प्राण प्रतिष्ठा करने के उद्योग म, कितना महान अध्यवसाय करना पडता है। फिर भी

श्री मेहता, हिन्दी पाठक-वर्ग में, अपने उपन्यासों के लिए, तीव्र जिज्ञासा एवं आकर्षण उत्पन्न करने में आजीवन कृतकार्य न हो पाये। श्री 'प्रेमचन्द' ने भारतीय समाज की समस्याओं को पहली बार यथार्थवादी दृष्टिकोण से आँका और तब बहुत सोच विचार कर उन्होंने अपनी लेखनी उठाई। उनके उपन्यासों ने इस भाँति हिन्दी उपन्यास की धारा को, नवयुग के विशाल शस्य श्यामल अंचल में लाकर, चिरकाल के गत्यवरोध से, उन्मुक्त कर दिया।

'श्री प्रेमचन्द' एवं प० लज्जाराम मेहता के उपन्यास साहित्य के तुलनात्मक पर्यवेक्षण से अनेक रोचक एवं महत्वपूर्ण तथ्य ध्यान में आएँगे। श्री मेहता के 'स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी (१८९९ ई०) हिन्दू गृहस्थ' (१९०२ ई०) 'आदर्श दम्पति (१९०४ ई०) 'सुशीला विधवा (१९०७ ई०) तथा 'आदर्श हिन्दू' (१९१४-१५) नामक सभी उपन्यासों का प्रतिपाद्य एवं उनकी वर्णनात्मक वर्ण्यवस्तु का क्षेत्र, वही समाज है जिसको श्री 'प्रेमचन्द' ने अपने प्रारम्भिक उपन्यासों में वर्णित किया है। (उर्दू में लिखी गई) उनकी सर्वप्रथम कृति 'कृष्णा' या 'किशना' (१८९९ ई०) के पश्चात् (हिन्दी में प्रकाशित) 'प्रेमा (१९०४) वरदान' (१९०५) रूठी रानी' (१९०६), तथा सेवा सदन' (१९१४) सभी का वर्णनात्मक क्षेत्र एवं आदर्श प० मेहता के ही समान है। किन्तु जब कि प० मेहता की कृतियों को लोग आज भुला चुके हैं, प्रेमचन्द' की कृतियों को, पाठक आज भी चाव से पढ़ते हैं।

प० लज्जाराम शर्मा मेहता ने अपने 'आदर्श दम्पति' (१९०४ ई०) नामक उपन्यास की प्रस्तावना में अपने उपन्यास लेखन सम्बन्धी दृष्टिकोण को निम्न शब्दों में व्यक्त किया था—

'कान्ता सम्मित शासन धर्म की अवधि के भीतर, मनुष्य का आनन्द देकर, आमोद प्रमोद के ब्याज से चरित्र शोधन की शिक्षा देने वाले—मैंने अब तक जितने उपन्यास लिखे हैं वे सभी इसी उद्देश्य से लिखे हैं।'[1]

वस्तुतः आदर्श दम्पति हिन्दी के आद्य उपन्यास साहित्य में विशेष महत्व रखता है क्योंकि उपन्यास में आए हुए वर्णन, वर्णनात्मक रचना की दृष्टि से उच्च कोटि के हैं।

श्री प्रेमचन्द के प्रारम्भिक उपन्यासों का उद्देश्यगत स्वर भी श्री मेहता के विचारों के ही अनुरूप जान पड़ता है। श्री मेहता ने अपने उपन्यास साहित्य में केवल सदाशा सद्भावना सदादर्श स्थापित करके ही आत्म सन्तोष कर लिया था। किन्तु श्री प्रेमचन्द ने केवल इतना करके, अपने कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं मानी थी। 'प्रेमा और वरदान' में उन्होंने भारतीय सती नारी के पुरातन आदर्श का पर्याप्त

---

१ 'आदर्श 'दम्पति' (प० लज्जाराम शर्मा मेहता), प्रथम प्रकाशन १९०४ ई० (श्री वेंकटेश्वर कार्यालय, कालबादेवी, बम्बई)।

निर्वाह किया है। फिर भी श्री मेहता द्वारा प्रतिपादित शास्त्र धर्म की अवधि को, वे पूर्णतया मानने के हामी कभी भी न हो पाये। श्री प्रेमचन्द जैसे एक नवीन लेखक को, जिसने कि प्रारम्भ मे हिन्दी-लेखन की क्षमता एव सफलता मे तनिक सन्दिग्ध रहने के कारण सकोचवश पहले अपनी लेखनी, उर्दू मे लिखने में प्रवृत्त की, दो परस्पर विरोधी वर्णनात्मक औपन्यासिक प्रवृत्तियो के बीच सघर्ष करते हुए उपन्यास रचना म अवतीर्ण होना पडा था। एक ओर, उन्हे अपने पूर्ववर्ती लोकप्रिय एव वरिष्ठ उपन्यासकार, प० किशोरीलाल गोस्वामी की उपयुक्त आकर्षक कृतियो के रोमानी तिलिस्मी ऐय्यारी एव ईरानी (फारसी) लहजे की शक्ति एव सौन्दर्य का अहसास था दूसरी ओर वे प० मेहता के उच्च आदर्शवाद को दृढता से पकडे रहना चाहते थे। ऐसे ही समय मे उनका सम्पर्क, सयोग से, श्री मन्नन द्विवेदी गजपुरी जसे सरस प्रतिभाशाली साहित्यकार एव उपन्यासकार से हो गया—उत्तर प्रदेश सरकार के शिक्षा विभाग मे स्कूलो के इन्स्पेक्टर के रूप म श्री प्रेमचन्द की, तहसीलदार के रूप म, प० द्विवेदी से यह भेंट हिन्दी साहित्य के इतिहास मे एक निर्णायक घटना के रूप म प्रतिफलित हुई और उसने श्री प्रेमच द की उपन्यास रचना धारा को, वह *दृढता प्रदान की, जो आज हिन्दी साहित्य की गौरवमयी सम्पत्ति बन* चुकी है।

सक्षेप म, जब कि श्री प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती एव सहयोगी उपन्यासकार, उपन्यास रचना को कवल काव्य शास्त्र विनोद तक ही सीमित रखना चाहते थ श्री प्रेमचन्द की महान मानव सहानुभूति न, उनके अन्तर को विलोडित कर डाला था—उसी भाति जैस कि सहस्रो वष पूव आदि कवि के उर म उसने करुण रस का स्रोत प्रस्फुटित किया था। अपने परिवार की दरिद्रता अपनी बस्ती की दरिद्रता अपनी मातभूमि की दरिद्रता सभी के बीच आखें खोलने वाले इस भाव प्रवण युवा के मन मे, तूफान ने मौजें लेना शुरु किया और आदर्शवाद म प्रबल पूवसंस्कार तथा मानवमात्र के लिए सहज करुणा एव प्रेम ने उन्ह मसिजीवी आजीविका के असि *धाराव्रत की ओर प्रवृत्त किया। अन्त मे उसी की पनी धार पर उन्होने अपने प्राणों* के सुकोमल सुमनो तक को योछावर कर दिया। ऐसे लेखनी के शहीद की खून पसीने से आद्र साहित्यधारा ने सचमुच ही भारतीय उपन्यास जगत का कायाकल्प कर डाला।

महाकवि भवभूति के समान ही श्री प्रेमचन्द के भाव प्रवण मन का नारी की आत्त करुण चीत्कार ने ही, साहित्यक्षेत्र म सवप्रथम आह्वान किया था। उनके प्रारम्भिक उपन्यास (जिन्ह अब पाठक एव समीक्षक प्राय भूलते जाते हैं) नारी की करुणा की प्रतीक भारतीय विधवा की दुरवस्था के लिए न्याय चाहते हैं। प्रेमा', 'वरदान (व्रजरानी), 'रूठी रानी' (उमा द) सेवासदन (सुमन) निमला', तथा 'गबन (जालपा) आदि सभी उपन्यास तथा उसकी प्रमुख पात्राओ की राम कहानी

भारतीय नारी की पीडा, पराधीनता एव परावलम्बिता के प्रति याय का आह्वान करने वाली महान वणनात्मक गाथाएँ हैं। वस्तुत उनकी विविध धाराएँ, एक ही भारतीय समाज के विविध स्तरो एव वर्गों के बीच, सभी निवासिता सीता' की करुणा एव निष्ठा की विविध परछाइया ही हैं। अकिंचन कृषको के कुटीरो एव निम्न मध्यम श्रेणी के सकीण घरो से लेकर राजमहलो, के सुन्ध प्राचीरों के बीच, सभी म श्री प्रमचन्द की याय प्रेरित करुण उदार आत्मा, अपने रस विश्व की महान पात्राओ की शोध मे, परिभ्रमित रही है। वह उनके लिए कोई रचनात्मक समाधान भी छोड जाने को समाकुल है।

कहना न होगा कि धीरे धीरे श्री प्रेमच द को यह परिज्ञान हुआ कि उनकी ये उपेक्षिता महामानविता, वस्तुत भिन्न भिन्न नहीं हैं—वरन वे सभी तो ग्रामवासिनी मलिन वसना, शस्य श्यामला—फिर भी पराधीनता से जडित, भारत माता की ही विभिन्न प्रतिकृतियाँ ही हैं। इस भाँति उ होने भी, श्री बकिम के 'आनन्द-मठ की 'मा के प्रथम भ व दशन किये। 'प्रेमाश्रम (१६१८) 'रगभूमि (१६२४), 'कायाकल्प (१६२८) 'कमभूमि' (१६३२) गोदान (१६३५ ३६) तथा मगलसूत्र' (मुख्य नायिका शय्या) सभी मे विदेशी शासन मे, पराधीन भारत जननी के ही महान एव दिव्य दशन होते हैं। इस भाति अपने इन युग युग तक अविस्मरणीय सामाजिक आर्थिक, सास्कृतिक एव राजनैतिक सघष के महान 'दास्ता सुनाते-सुनाते ही' अन्त को सन १६३६ ई० मे अपने इसी मगलसूत्र को अधूरा ही छोड-कर, श्री प्रेमचन्द, भारतीय उपन्यास के रगमच पर स (प्राय ३५ वर्षों तक छाये रहने के उपरान्त) अकस्मात ही तिरोहित हो गए। इस भाँति अपने जीवन काल के अन्तिम क्षण तक (जिन्हें अपनी दिवगत जननी की सुधि बचपन म भी नहीं मिली थी) अपनी धरती माता, जिसकी ममतामयी गोद ही उ होंने शशवकाल से पहिचानी थी—की सेवा में, अपने रक्त की अन्तिम बूद सुखा कर, वे भारतीय उपन्यास साहित्य के महान राष्ट्रीय शहीद बन कर अमर हो गए।

प्रेमा (१६०४ ई०) के पश्चात और 'रूठी रानी से पहले श्री प्रेमचन्द की एक अन्य रचना है वरदान (१६०५ ई०)। 'वरदान' एक ऐसी कथा है कि जिसमें एक देशभक्तिपूण माँ यह कामना करती है, कि यदि उसके कोई पुत्र होवे तो वह, स्वदेश के लिए बलि हो जाए। अन्त म उसकी यह आकाक्षा पूरी होती है और कथा का पयवसान आत्मोत्सग की उदात्त भावना के साथ होता है। 'वरदान' में ही हम श्री प्रेमचन्द को सवप्रथम, ग्रामीण-जीवन के वणन मे भी प्रवृत्त पाते हैं, जो आगे चल कर उनके उपन्यासो की, एक बडी विशिष्टता के रूप में पूणतया विकसित हुआ। इस भाँति हम श्री प्रेमचन्द की तीनों आद्य कृतियो को एक प्रकार से बीसवी शती हिन्दी उपन्यास की तीन विशिष्ट धाराओ की प्रतीक भी, मान सकते हैं। ये तीनो प्रमुख धाराएँ रही हैं—सामाजिक एव पारिवारिक उपन्यास, ग्रामीण

जीवन पर आधारित, राजनतिक तथा आर्थिक विषमताओ के विरुद्ध आवाज उठाने वाले क्रान्तिकारी उपन्यास, तथा ऐतिहासिक उपन्यास। प्रेमचन्द काल एव प्रेमचन्द उत्तर काल की हिन्दी उपन्यास की सवश्रेष्ठ उपलब्धिया वस्तुत इन्ही तीनो कोटि के उपन्यासो म ही पाई जाती हैं। श्रेष्ठ वणनात्मक कला से सयुक्त एव समृद्ध, समग्र हिन्दी उपन्यास साहित्य ही, वस्तुत उक्त तीनो शलिया म रची गई कृतिया से ही ओतप्रोत जान पडता है।

श्री प्रेमचन्द के समग्र उपन्यास साहित्य मे प्रारम्भिक रचनाओ म, 'वरदान' तथा सेवासदन, तथा परवर्ती एव प्रौढ कृतियो म रगभूमि एव कायाकल्प', सर्वोत्कृष्ट वणनात्मक कला समृद्ध एव अविस्मरणीय कथा कृतिया हैं। यहाँ श्री प्रेमचन्द' की आद्य वणन कला का, एक प्राचीन उदाहरण, उनकी 'वरदान नामक आद्यकृति मे, उदाहृत किया जा रहा है। व्रजरानी अपने ग्रामीण घर से अपने पति कमलाचरण को उसके प्रयागस्थित होस्टल के पते पर, एक पत्र माला लिखती है। इस पत्र माला म ही सवप्रथम श्री प्रेमचन्द ने, ग्रामीण जीवन का आखोंदेखा वणनात्मक वृत्तान्त, प्रारम्भ किया था, जो आगे चल कर उनके उपन्यास साहित्य का, सवप्रधान वशिष्टय बन गया था और जिसके अनुकरण पर, हिन्दी म ग्रामीण जीवन का चित्रण करने वाली, एक से एक अनूठी ग्रामीण एव आचलिक औपन्यासिक कृतियो ने, साहित्य श्री को अभिवृद्ध किया। वरदान म ग्रामीण जीवन की एक झलक (व्रजरानी के गाव के आसपास के परिवेश मे) यहा मिलती है—

भोर हो गया था, शीतल म द पवन चल रहा था कि स्त्रियो के गाने का शब्द सुनाई पडा। स्त्रिया अनाज काटने जा रही थी। झाक कर देखा तो दस बारह स्त्रियो का एक एक गोल था। सबके हाथों मे हँसिया कन्धो पर गठिया बाँधने की रस्सी और सिर पर भुने हुए मटर की छबडी था। दोपहर तक बडी कुशलता रही। अचानक आकाश मेघाच्छन्न हो गया। आँधी आ गई और ओले गिरने लगे। आलू स बडे और ऐसी तेजी से गिरे, जस बन्दूक से गोली। क्षण भर म पृथ्वी पर एक फुट ऊँचा बिछावन बिछ गया। चारा तरफ कृपक भागने लगे। गायें बकरियाँ भेडें सब चिल्लाती हुई पडो की छाया ढूढनी फिरती थी।—काशी भर का भविष्य प्रवचन प्रमाणित हुआ। होली की ज्वाला का भेद प्रकट हो गया।[1]

जसा कि कहा ही जा चुका है श्री मन्नन द्विवदी गजपुरी, श्री प्रमचन्द के अन्तरग मित्रा मे से एक थे। व लोकसाहित्य के बडे प्रेमी थे और लोकगीतो के सग्राहक भी थे। श्री मन्नन द्विवदी गजपुरी न 'रामलाल (सन १९१४ ई०) नामक ग्रामीण जीवन पर आधारित एक विलक्षण उपन्यास रचा। इसे हिन्दी मे आचलिक

१ वरदान (प्रेमचन्द) अध्याय १७ पृष्ठ ८० (व्रजरानी के पत्र) पत्र सख्या ५

उपन्यासों का जनक भी बताया गया है। आगे चल कर प्रेमचन्द उत्तरकाल में, आंचलिक उपन्यासों ने, बड़ा ही मव्यरूप धारण किया। 'रामलाल' नामक इस सीधे सादे नाम वाली, औपन्यासिक कृति का, हिन्दी उपन्यास के इतिवृत्त में प्राय 'सेवासदन' जैसा ही महत्व है। रचनाकाल में भी वह 'सेवासदन' का सम सामयिक (रचना काल (१९१४ ई०) भी है। बहुत अंशों में वह 'सेवासदन' से भी बढ़ कर, आंचलिक परिवेश को व्यक्त करने वाली, ठेठ देहाती रचना है। इस शैली को केवल श्री शिवपूजनसहायजी ने ही, अपने उपन्यास 'देहाती दुनिया' (१९२६ ई०) में लगभग १२ १३ वर्ष पश्चात् अग्रसर किया। 'रामलाल', 'रंगभूमि' और 'गोदान' के समान ही, ग्रामीण गाथा का चित्रण करने वाला महान आंचलिक उपन्यास है। हमारे आधुनिक आंचलिक उपन्यासकारों में भी इतनी ग्रामीण तादात्म्यता एवं जन जीवन में इतनी गहन पैठ दुर्लभ है।

इस दृष्टि से श्री मन्नन द्विवेदी गजपुरी के 'रामलाल' (१९१४ ई०)[1] एवं 'कल्याणी' (१९२० ई०) दोनों ही श्री प्रेमचन्द कृत सेवासदन (१९१४), 'प्रेमाश्रम (१९१८) एवं रंगभूमि' (१९२४) के साथ ही साथ, तुलनात्मक दृष्टि से भी अध्ययनीय हैं। वे प्रेमचन्द कालीन हिन्दी उपन्यास की वर्णनात्मक कला के, सरल एवं सहज रचनात्मक उदाहरण भी हैं। 'रामलाल' की प्रस्तावना में, श्री गजपुरी जी डोमरियागंज (जिला बस्ती—उत्तरप्रदेश) से यों लिखते हैं—

'इस उपन्यास में ग्रामीण जीवन का चित्र खींचा गया है। नगर और नागरिक लोग भी कहीं कहीं आगए हैं लेकिन मुख्य पात्र और घटनाएं गाँवों से सम्बन्धित हैं। इस विषय पर एक उपन्यास की बड़ी आवश्यकता थी। लेकिन यह उपन्यास इस अभाव की पूर्ति करेगा, इसमें सन्देह मालूम होता है। सन्देह का कारण अपनी अयोग्यता है। यदि विषय के उपयुक्त कोई बात मुझ में है तो केवल यह कि मैं ग्रामीण हूँ।'

डोमरियागंज — मन्नन द्विवेदी गजपुरी
(जिला बस्ती) — [२८ ११ १४]

श्री गजपुरीजी ने अपने उपन्यास की भौगोलिक एवं आंचलिक पृष्ठभूमि की स्वयं ही व्याख्या करते हुए अपने उपन्यास के पहले बयान में 'पुरानी बातें' शीर्षक

---

१ प्रेमचन्द काल का यह दुर्लभ उपन्यास रत्न कितने ही वर्षों से अप्राप्य था। संयोगवश वह दो वर्ष पूर्व आगरा के चिरंजीव पुस्तकालय में मिल गया। उसी के खोज में से उसका प्रस्तुत शोधकार्य में उपयोग किया जा सका है।

२ 'रामलाल' (ग्रामीण जीवन का एक सामाजिक उपन्यास) (श्री मन्नन द्विवेदी गजपुरी, बी० ए० एम० आर०, ए० एस०) (प्र० इंडियन प्रेस प्रयाग) प्रथम प्रकाशन १९१७। रचनातिथि १९१४ ई०।

से, कविवर श्रीधर पाठक की निम्न पंक्तियों को उद्धृत करके, अपना औपन्यासिक अभिप्राय बड़ी गूढ़ शैली में समझाया है —

'ललित छ्बीसे ग्राम, सरस पटपर में भीने।
सुरस सुखमा की खानि, परम प्रिय भावन जी के॥
घसे गए तुम खेल, गई सोभा सब तेरी।
हिय बस रापन हारिनि, मनमोहनी घनेरी॥'
—'ऊजड़गांव' (श्रीधर पाठक)

'सौ बरस से भी अधिक हुए कि गोरखपुर का जिला नवाब लखनऊ के अधिकार में था। छोटे छोटे राजा राज करते थे और कभी-कभी नवाब को माल गुजारी देते। गोरखपुर, खास और उसके नजदीक मौआ पार का राज, अभी भर लोगों के अधिकार में था। रामी नदी जिसे के पास से टकराती हुई माना इनकी निश्चिन्त करती थी कपकियाँ दे दे कर सुलाती थी। श्रीनगर में पहाड़ी टूटट बटटे श्रीनेतों ने आराम तलब भरों का राजकाज ले लिया। जहाँ खवन ठमकते थे, वहाँ आल्हा के बड़खे गाये जाने लगे। गोरी गोरी भर बालिकाएँ, अपनी सी आँखोंवाली मृगिया के जंगल में गाएँ चराने लगी। बड़े बड़े महान आज ऊँचे टील बन बन कर, भरों के राजकाज के स्मारक बन रहे हैं।'

श्रीनेतों के धावे शुरू हुए। देखते देखते दो एक जिलों के सब राजा परास्त हुए। इनके सैनिक मौआपार से उठे हुए गजपुर में, १० कोस पर रुकते थे और दम की दम में, रुद्रपुर में दूधनाथ को दूध चढ़ाते थे। लेकिन समय सदा एक सा नहीं रहता। सन् १८०३ में गोरखपुर, कम्पनी के हाथ में आया और नवाबी मिट गई हथियार अभी नहीं छीने गये थे। यही कारण था कि भरभुरे ठाकुर कभी कभी महाजन बनियों के घर, लूटपाट लेते थे। ऐसी ही दशा में ५० बरस से ज्यादा बीत गये। सन १८५७ का बलवा' (सुप्रसिद्ध स्वाधीनता संग्राम) हुआ। पल्टन वाले चाहे भले ही सरकारी खजाने लूटते रहे हों लेकिन साधारण बलवाइयों का ध्यान लौंदवालों के घर पर ही अधिक था।

'(नेपाल के प्रधान सेनापति) राणा जंगबहादुर की मदद से 'बलवाई' परास्त हुए। अंग्रेजी कचहरी कायम हुई। बलवाइयों को दण्ड भी खूब मिला। कितनों ही को सूली हुई, और कितनों के ब्लाके जब्त हुए। अब समय बिल्कुल बदल गया, लेकिन बलवे के वक्त के कुछ आदमी, अभी जीते जागते हैं। कभी कभी जब लंका काण्ड रामायण का पाठ होता है तो उनको पुराने लूट-पाट का ध्यान आ जाता है। बड़ी बड़ी सफेद मूँछें खड़ी हो जाती हैं, बिना दाँत के मुँह से लड़खड़ाते वाक्य निकल पड़ते हैं—

'बरस अठारह छत्री जीयें, आगबाजीवन को धिक्कार'।

जेठ की उजेली रात मे, गर्मी स बचने के लिए, जब अहीरा के लडके, रामी के किनारे, भस चराते हैं तब बिजरा मे पानी पिला, काधे पर लटठ रख कर घर की ओर चलत हैं, तो कभी कभी गा उठते हैं —

'गोरखपुर मे हाकिम तप, पकरि मँगावै।
ब हूसिघ के बच्चनसिंह क, फसिया दिआव ॥
डिपटी मेल, सिपटी रय मेल पया।
लेदि लेदि मारल, रुधवली के भैया ॥
ओही मखिरा, बधनसिंह बबुआइन का।'

'समय जाते कुछ देर नहीं लगती। तब के और अब के गोरखपुर म, जमीन-आसमान का अन्तर हो गया है। जिस तरह अग्रेजी के आग, पुरानी रीति रिवाज मिट गई वैसे ही पुराना गोरखपुर, अपनी जान बचाने के लिए, या अपना अतिम सस्कार करा देने के लिए, गोरखनाथ की शरण मे, महाब्राह्मणो के मुहल्ले म जा छिपा। तब सिफ एक अग्रेजी स्कूल था। एक बडा भारी गढा था, चु गी कचहरी के कूडा करकट से गढा अभी भरा नहीं गया था। गोरखपुर बक को भी तब शेर की कोठी नसीब न थी बक अभी कायम हुआ था या नहीं, याद नही आता।'[1]

सन १८५७ ई० के स्वाधीनता-सग्राम के देशव्यापी दमन एव निमम अत्याचारों की पृष्ठभूमि की उपयु क्त ग्रामीण झलक दिखाते हुए श्री द्विवेदीजी ने, सरकारी नौकरी म होत हुए भी (सो भी उन दिनों की 'तहसीलदारी' जो भारतीया को दुलभ थी) गोरखपुर और बस्ती जिलो के सन् ५७ क अमर शहीदो, रुधवली के शहीद भ्राताओं—स्व० श्री बिनयसिंह (ब हूसिघ) तथा स्व० श्री बचनसिंह (बधनसिंह या बच्चनसिंघ) को भी, अपनी इस आचलिक कथा म चिरस्मृत किया है।

श्री प्रेमचन्द के सामाजिक या समाज-सुधारक उपन्यास सेवासदन के वणनात्मक वमव की ओर, बिरले ही समीक्षको का ध्यान गया है। वसे प्रेमचन्द-साहित्य की समीक्षा इन वर्षों में बहुल एव महाकाय रूप ले ही चुकी है किन्तु कम समीक्षको ने ही उनके रचना रहस्य के सर्वोत्कृष्ट पक्ष—वणनात्मक कला की बारीकियो पर प्रकाश डाला है। कारण यह रहा है कि बहुधा आलोचकों के समक्ष, श्री प्रेमच द का सावजनिक, या लोकमगल पक्ष ही रहा है—सहज कलाकार पक्ष नही। सेवासदन उपन्यास के दो एक अविस्मरणीय अवतरण देकर ही फिलहाल इस प्रसग का यही छोड कर, उनकी वणनात्मक विशिष्टताओं क दोप पक्षो पर विचार विमश करना होगा —

---

१ 'रामलाल (श्री मन्नन द्विवदी गजपुरी) पहला बयान पुरानी बातें पृष्ठ, १५

'सदन अब मल्लाहों का नेता था। उसका झोपड़ा तैयार हो गया था। भीतर एक तख्ता था—दो पलग, लम्प एवं कमरा बैठने का था। एक खाने पकाने का, एक सोने का। द्वार पर इंटों का चबूतरा था। उसके इर्दगिर्द गमले रखे हुए थे। दो गमलों में लताएँ लगी हुई थीं जो झोपड़े के ऊपर चढ़ती जाती थीं। यह चबूतरा अब मल्लाहों का अड्डा था। वह बहुधा यहीं बैठे तमाखू पीते।'[1]

'जैसे सुन्दर भाव के समावेश से कविता में जान पड़ जाती है और सुन्दर रंगों से, चित्रों में उसी प्रकार, दोनों बहनों के आने से झोपड़े में जान आ गई है। अंधी आँखों में पुतलियाँ पड़ गई हैं। नित्यप्रति प्रातःकाल इस झोपड़े से, दो तारे निकलते हैं और जाकर गंगा में डूब जाते हैं। उनमें से एक बहुत स्निग्ध और द्रुतगामी है, दूसरा मध्यम और मन्द। एक नदी में थिरकता है नाचता है दूसरा अपने वृत्त से बाहर नहीं निकलता। प्रभात की किरणों में उन तारों का प्रकाश मन्द नहीं होता, वे और भी जगमगा उठते हैं।'[2]

'संध्या का समय है। आकाश पर लालिमा छाई हुई है और मन्द वायु गंगा की लहरों पर क्रीड़ा कर रही है उन्हें गुदगुदा रही है। वह अपने करुण नेत्रों से मुसकराती है और कभी कभी खिलखिलाकर हँस पड़ती है—तब उसके मोती के दाँत चमक उठते हैं। सदन का रमणीय झोपड़ा आज फूलों और लताओं से सजा हुआ है। दरवाजे पर मल्लाहों की भीड़ है। अन्दर उनकी स्त्रियाँ बैठी सोहर गा रही हैं। आँगन में मटठी खुदी हुई है और बड़े बड़े हण्डे चढ़े हुए हैं। आज सदन के यहाँ नवजात पुत्र की छठी है यह उसी का उत्सव है।'[3]

प्रेमचन्द काल के बहुविध प्रतिभाशाली उपन्यासकारों में, स्व० श्री शिवपूजन सहाय ने भी आज से कोई २२ वर्ष पहले देहाती दुनियाँ नामक विलक्षण उपन्यास, ग्रामीण आँचल के परिप्रेक्ष्य में लिखा था। उसकी सहज सरल रमणीयता तत्कालीन, सरल प्राञ्जल एवं अकृत्रिम शैली के वर्णनात्मक कला से समृद्ध उपन्यासों की, मणिमाला में, मानो एक अनुपम वदूर्यमणि पिरो जाती है —

चैत का महीना था। गोधूली वेला थी। गोपाल, केदार और हम राम सहर के पक्के मंदिर के ऊँचे चौतरे पर बैठे हुए थे। रसे रसे हवा डोलती थी। आम के मजराने नीम के फूलने और महुए के गदराने से दसों दिसाएँ गमगमाती थीं। पास ही की घनी अमराई में, कोयल कुहुकती थी। हम लोग जितना ही चिढ़ाते थे, वह उतना ही उमड़ती जाती थी। दिन भर खेतों में दाना चुग कर, अपने बसेरे

---

१ 'सेवासदन' (श्री प्रेमचन्द) (प्रथम प्रकाशन १९१४ ई० प्रकाशक सरस्वती प्रेस, बनारस), अध्याय ४८, पृष्ठ २६५

२ वही अध्याय ५१ पृष्ठ ३१५

३ वही अध्याय ५४, पृष्ठ ३३४

पर आती हुई, चिड़ियाएँ अपने कुछ अगफोड बच्चो को, पखो के आँचर मे, छिपा कर चहचहाती थीं। बस्ती के इर्द गिर्द, झाडो के झुरमुट मे, गौरया और छोटी मना चहक रही थीं। खेत खलिहानो म, बूढे, जवान किसान, अपनी मौज मे, 'चत का राग अलापते थे।

"बडे हुलास का समय था। एसा सुहाना था कि इतना माता था कि चती बहार की मस्ती से मन नाच उठना था। पीपल, पाकड, नीम के लहलहे दूसे, बडे सुहावने देख पडते थे। लहलहाट फूले हुए टेसू की ललाई, अपने चारो ओर की हलकी हरियाली पर, गजब रग बरसा रही थी।[1]

श्री प्रेमचन्द की औप यासिक कृतियो में आचलिक या ग्रामीण पक्ष की ओर तो कतिपय समीक्षक महानुभावो का ध्यान गया भी है परन्तु श्री प्रेमच द के मन में ऐतिहासिक उपन्यासकार बनने की भी कभी उमग उठी होगी, इस ओर, कम ही विद्वानों का ध्यान गया है। जिस समय श्री प्रेमचन्द ने हिन्दी म उप यास रचना प्रारम्भ की उस समय, उनके पूववर्ती किन्तु समसामयिक लेखको मे, दो विशेष प्रसिद्ध हुए—एक तो श्री किशोरीलाल गोस्वामी जिनके ऐतिहासिक उप यासो ने हिन्दी उपन्यास विधा मे नाटकीय शली का प्रवतन किया था, तथा दूसरे हि दी मे जासूसी उपन्यास के प्रवतक, श्री गोपालराम गहमरी। श्री किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास, अद्भुत एव विलक्षण वणन विवरणो से युक्त हैं। उनके नवाबी जमाने के ठाठबाट को दरसाने वाले कुछ उप यास तो चिरस्मरणीय हो गये हैं। श्री गोस्वामी ने ऐतिहासिक उपन्यासो की एक ऐसी शली का आविष्कार किया था जिसम इतिहास की कुछ प्रसिद्ध घटनाओ एव कुछ प्रसिद्ध पात्र पात्राओ के प्रसग को लेकर, लेखक की कल्पना प्रतिमा अपनी उ मुक्त विलास लीला द्वारा हमारे सामने एक चलता फिरता रगमच सा प्रस्तुत करती चलती है। इसम नवाबी समय के महलो के ठाठ बाट और आरा यशी सामान हैं। यहाँ तक कि गोस्वामीजी बहुधा राजपूतो और नवाबो के रहन सहन, या ठाठबाट म कोई अतर ही नही मानते थे ऐसा भी जान पडता है।

ये ऐतिहासिक उपन्यास, एक प्रकार से नाममात्र को ही इतिवृत्तात्मक' कहे जा सकते हैं। इनम वीररस की अपेक्षा शृगार का ही आधिपत्य रहा है। प्रणय प्रसग, एकदम रोमानी शली के है। कथोपकथन पारसी रगमच की याद दिलाते है। भाषा सजीव एव चमत्कारपूण है। यहाँ तिलस्मी और ऐयारी का भी कथारस, पाठक को आकृष्ट करता है। छुपे द्वारा तहखानो से निकलने वाली सुरगो, भेष बदलने और बेहोश करने आदि सभी के उपकरण भी यहाँ जुटा दिए गए हैं जिनका प्रवत्तन श्री देवकीन दन खत्री कर ही चुके थे। कहीं कहीं जासूसी उपन्यास जस

---

१ 'देहाती दुनिया' (प्रथम प्रकाशन १९२६ ई०) (श्री शिवपूजनसहाय) पृ० १२४, अध्याय ७, (प्र० श्री शिवपूजनसहाय ग्रथमाला कार्यालय पटना, १९५१ सस्करण)

प्रसग भी आ गए हैं। श्री गोस्वामीजी के उपन्यासो की भाषा और शैली, जन साधारण की न होकर, प्राय साहित्यिक ही है। इस बारे म श्री खत्रीजी और श्री गहमरीजी से वे पर्याप्त भिन्न दिखाई देत हैं। वणनात्मक कला भी, श्री गोस्वामीजी की, उक्त दोनों महानुभावो से, उच्चतर कोटि की है।

श्री प्रेमचन्द की एक आद्य औपन्यासिक कृति थी—उनकी ऐतिहासिक उपन्यासिका 'रूठी रानी' (रचनाकाल १९०६ ई०)। इस उपन्यास की वणन शली, उनके सभी परवर्ती उपन्यासो से पर्याप्त भिन्न जान पडती है। श्री प्रेमचन्द के जीवनकाल तक, भारत म ब्रिटिश साम्राज्यशाही द्वारा सुरक्षित, अज्ञान, अधकार, अभाव एव अशिक्षा के जगलो के समान देशी रियासतो म अबाध तानाशाही के नीचे, भारतभूमि की लगभग एक तिहाई आबादी पिसती रही थी। जब कि भारत के ब्रिटिश शासन द्वारा सीधे शासित प्रदेशो मे, नये विचारो एव राष्ट्रीय चेतना का, धीरे धीरे प्रसार होता जा रहा था, तब भी भारत की देशी रियासतें, अच्छी खासी तिलस्मी दुनियाँ की प्रतीक मानी जाती थी। उनका प्रधान गुण था मदिरा सेवन, नृत्यगान और विलासपूण जीवन। रूठी रानी में कुछ वणनो म राजपूत रियासतो के अन्त पुरो की एक ऐसी ही झाँकी प्रस्तुत की गई है। आगे चल कर, रियासती जनता के सघष को भी श्री प्रेमचन्द ने, अपने अमर उपन्यासो—'रग भूमि' एव 'कायाकल्प' म, मार्मिक शली म वर्णित किया है।

फिर भी रूठी रानी', साम ती सस्कृति का पर्याप्त सच्चा चित्रण है। वह, श्री प्रेमचन्द की एकमात्र ऐसी औपन्यासिक कृति है, जिसम सामन्ती जीवन एव चरित्र के दुराग्रह मिथ्याभिमान, परम्परागत वश वर, अदूरदर्शिता विलासिता वीरता, शौय आत्मबलिदान आदि सभी परस्पर विरोधी गुणो अवगुणो की कथात्मक आवृत्ति, पूर मनोयोग पूवक प्रस्तुत की गई है। राजस्थानी लोकगीता, किम्वदन्तियो एव इतिवृत्त का समावेश करने का भी यहाँ पर्याप्त सफल औपन्यासिक प्रयोग है। श्री प्रेमचन्द एव श्री किशोरीलाल गोस्वामी की उपन्यास रचना शली की तुलनात्मक समीक्षा, श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध के शब्दो म पठनीय है।

यह सभी जानते हैं कि श्री 'हरिऔध' उक्त दोनो ही उपन्यासकार महानुभावो के समकालीन साहित्यकारो म से एक थे और वे स्वय भी उस समय, उपन्यास रचना म प्रवत्त हो चुके थे। श्री हरिऔध श्री प्रेमचन्द के, हिन्दी उपन्यास क्षेत्र म पदापण करने का स्वागत करते हुए लिखते हैं कि—

'इस काल के प्रसिद्ध उपन्यास लखक प० किशोरीलाल गोस्वामी और श्री प्रेमचन्द हैं। गोस्वामीजी ने ६० से अधिक उपन्यास लिखे हैं बाबू दवकीन दन खत्री के बाद यदि किसी ने हिन्दी जगत का अपनी ओर अधिक आकर्षित किया है तो वे गोस्वामीजी के उपन्यास ही हैं। इसके बहुत पीछे, बा० धनपतराय बी० ए० (प्रेमचन्द)

हिन्दी क्षेत्र मे आए। परन्तु जो सफलता उन्होने, थोडे दिनो मे ही प्राप्त की है वह गोस्वामीजी को कभी प्राप्त नहीं हुई। कारण इसका यह है कि प्रेमचन्दजी के उपन्यासो म सामयिकता है और रुचि-परिमाजन भी। गोस्वामी के उपन्यासो मे यह बात नहीं पायी जाती। इसलिए उनकी उपस्थिति मे ही उपन्यास क्षेत्र पर प्रेमचन्दजी का अधिकार हो गया।[१]

श्री 'हरिऔध' का समीक्षात्मक विवेक असदिग्ध है। उन्होने श्री प्रेमचन्द की, उपन्यास रचना की विशिष्टताओ की ऐसी दो बातो की ओर ध्यान दिलाया है, जिनके कारण श्री प्रेमचन्दजी अपने काल के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार कहलाए। वे हैं, उपन्यासो की सामयिकता तथा उनमे पाया जाने वाला रुचि परिमाजन। श्री प्रेमचन्दजी की हिन्दी उपन्यासो को सबसे बडी देन वस्तुत यही रुचि परिमाजन है। श्री प्रेमचन्द ने हिन्दी उपन्यास को, जो नतिक शालीनता प्रदान की है तथा जीवन के चित्रण को उन्होने, जिस सयमित सुलझुल का प्रतीक बनाया है, उससे कुरुचिपूण अथवा ग्राम्यता दोष पूण, औपन्यासिक कृतियो का, हिन्दी उपन्यास क्षत्र म आहत होना सदा सवदा के लिए बद हो गया। और तभी से हिन्दी उपन्यास, ज्ञानवान और शालीनता, नतिक निष्ठा एव सावजनीन उदारता का, प्रतीक माना जाने लगा। उपन्यास रचना मे रुचि परिमाजन ही उसकी समग्र कलात्मकता एव लालित्य योजना की प्राण चेतना है। इस भाति श्री प्रेमचन्द ने हिन्दी उपन्यास की कलामिराम वणना का एक ऐसा सौष्ठव एव शील प्रदान किया है जिसकी ओर श्री हरिऔध' के अतिरिक्त अय समीक्षको ने बहुधा कम ही ध्यान दिया है।

हिन्दी उपन्यास साहित्य का अधिकाश पयवेक्षण करने वाले प्राय यह भूल जाते हैं कि श्री प्रेमचन्द के अतिरिक्त, उसी काल मे हिन्दी उपन्यास साहित्य क्षेत्र म एक अय महान मनीकार भी हो चुके थे। श्री अयोध्यासिह उपाध्याय हरिऔध का सवप्रथम उपन्यास ठठ हिन्दी का ठाठ (१८९९) अपनी शली का विशिष्ट हिन्दी उपन्यास है। ठेठ हिन्दी का ठाठ तथा उससे आठ वष पश्चात् प्रकाशित, 'अधखिला फूल (१९०७ ई०) ऐसे दो हिन्दी उपन्यास है जिन्होंने हिन्दी उपन्यासो म एक ऐसी अभिनव शली का सूत्रपात किया है, जो न तिलस्मी है न जासूसी, न ऐतिहासिक है न सामाजिक न राजनतिक है न आर्थिक। य उपन्यास, अपने मे, स्वत रमणीय हैं अर्थात् यदि उनका, देशकाल गत परिवेश से पृथक करके मात्र

१ हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास (पटना विश्वविद्यालय म बा० रामदीनसिंह रीडरशिप के सम्बन्ध मे दिए गए भाषणो का सकलन) —अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध। (किताब महल, दिल्ली १९५८) भाग३, अध्याय ६, पृष्ठ ५३४ ५३५

कथासाहित्य के रूप में भी, पारायण किया जाए तो भी वे, पाठक को, लगभग उसी प्रकार का आनन्द प्रदान कर पाएंगे जैसा कि उन्हें किसी उत्तम काव्य को पढ़ने के पश्चात् प्राप्त होता है। इस भाँति वे, पुरातन भारतीय उपन्यास एवं अर्वाचीन भारतीय उपन्यास के बीच, सेतुसम रचनाएँ मानी जा सकती हैं।

भावना प्रधान एवं कल्पना प्रधान रोमानी परिवेश में कथित ये गद्यकाव्य कथाएँ अपनी वर्णनात्मक शोभा से आद्योपान्त छविमान रहती हैं। उदात्त प्रेमसाधना ही उनकी मुख्य अंतर्चेतना रही है। प्राकृतिक शोभा उनके कथा रस में अभिवृद्धि करती चलती है। श्री हरिऔध' की इस गद्यकाव्यात्मक शैली का अनुकरण करने वालों में प्रथम श्री व्रजनन्दन सहाय का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने पाँच उपन्यासों की रचना की है जिनमें सौन्दर्योपासक (१९११ ई०) सर्वप्रशंसित कृति रही है। अन्य महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं—राधाकान्त (१९१२ ई०) तथा 'अरण्य बाला' (१९१५ ई०)। सरस्वती मासिक पत्रिका में 'पुस्तक परीक्षा' स्तम्भ में स्वर्गीय कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने सौन्दर्योपासक पर निम्न टिप्पणी लिखी थी—

'हिन्दी उपन्यास लेखकों के जितने उपन्यास मैंने देखे हैं उनमें से किसी भी हिन्दी उपन्यासकर्त्ता की अपनी निज की रचना ऐसी भावपूर्ण मैंने नहीं देखी।' —[सरस्वती (प्रयाग) दिसम्बर १९११ ई०।]

श्री चण्डीप्रसाद हृदयेश का मंगलप्रभात (सन् १९२५ ई०) भी कुछ इसी शैली का उपन्यास था। इसी भाँति श्रीमती उषादेवी मित्रा का उपन्यास 'जीवन की मुस्कान' (१९३६ ई०) भी एक गद्य महाकाव्य जैसे रमणीय वर्णनों से युक्त, उपन्यास था। प्रेमचन्द उत्तर काल में गद्यमहाकाव्य शैली में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के दो तीन उत्तम उपन्यास प्रकाशित हुए हैं — बाणभट्ट की आत्मकथा (१९४६ ई०) चारु चन्द्रलेख (१९६५ ई०) तथा पुनर्नवा (१९६६ ई०)। भाव प्रवण, गद्यकाव्य शैली में रचित, ये कृतियाँ इतिवृत्त का परिधान पहने हैं किन्तु इतिहास तत्व इनमें नाम मात्र को ही रहता है। इतिवृत्त के भावनात्मक पक्ष के साथ सामंजस्य का आचार्य द्विवेदीजी ने बड़ी विलक्षण प्रतिभा से निर्वाह किया है।

'मंगल प्रभात' (१९२५ ई०) के लेखक श्री चण्डीप्रसादजी 'हृदयेश' प्रेमचन्द के सहयोगी उपन्यासकारों में एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। वे अनेक वर्षों तक झाँसी स्थित 'सरस्वती विद्यालय' नामक राष्ट्रीय सार्वजनिक शिक्षण केन्द्र के, हैडमास्टर पद पर कार्य करते रहे। विचारों में वे भी श्री प्रेमचन्द के समान ही प्रगतिशील एवं देशानुरागी थे। उनके भूतपूर्व विद्यार्थियों में डा० रामविलास शर्मा, बहुधा उनका अत्यन्त स्नेह एवं श्रद्धापूर्वक स्मरण किया करते हैं। यह संस्था असह

योग आन्दोलन के परिणामस्वरूप ही स्थापित हुई थी। 'हृदयेश' जी के व्यक्तित्व ने, कितने ही होनहार सुलेखको को प्रेरणा दी थी। हृदयेशजी उच्च पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त करके भी, भारतीय संस्कृति मे परम निष्ठावान थे। 'मगलप्रभात' उनका द्वितीय उपन्यास था। इससे दो वर्ष पूर्व (१९२३ ई० मे) उनका 'मनोरमा' नामक एक अन्य उत्तम भावपूर्ण उपन्यास भी प्रकाशित हो चुका था।

'मगल प्रभात'-कार, महाकाव्य प्रणाली की (सुबन्धु एव बाणभट्ट द्वारा प्रवर्तित) वर्णनात्मक उपन्यास शैली का हिन्दी मे पुनरावर्तन करने के अनुरागी थे। तत्सम बहुल प्राजल, एव मनोहर लालित्यमयी भाषा म रचित उनका 'मगल प्रभात' प्रेमचन्द युग का एक चिरस्मरणीय गद्यमहाकाव्य है जिसकी पृष्ठ-सख्या कुल ७५० है। यह अपने समय का बृहत्तम हिन्दी उपन्यास भी माना गया था। हिन्दी उपन्यास म वर्णनात्मक कला की दृष्टि से तो यह उपन्यास अत्यन्त महत्वशाली है। हिन्दी उपन्यास के समीक्षको एव इतिवृत्तकारों की दृष्टि 'मगलप्रभात' के बारे म विभिन्न रही है। सुप्रसिद्ध उपन्यास साहित्य के इतिवृत्तकार श्री शिवनारायण श्रीवास्तव ने 'मगल प्रभात' के वर्णनात्मक पक्ष को विशेष पसन्द नही किया है, यद्यपि उन्होने भी 'मगल प्रभात' के नवीन महायोग की सराहना की है—

हमारे प्राचीन संस्कृत साहित्य म गद्यबद्ध साहित्यिक आख्यायिकाओ के परिच्छेदों के प्रारम्भ मे, अच्छे अलकृत दृश्य-वर्णन होते थे परन्तु उपन्यास के नवीन कलेवर के गृहीत हो जाने पर, ऐसी प्राचीन ढग की रचनाए कृत्रिम और हास्यप्रद समझी जाने लगी हैं। हमारे साहित्य म चण्डीप्रसाद 'हृदयेश', एक कलेवर का विकास कर रहे थे जिसम आधुनिक ढग आदि रहे ही, साथ साथ भारतीय वर्णन प्रणाली का भी निर्वाह होता चले। 'मगलप्रभात' एक बृहद्काय उपन्यास है। उसकी सब से बड़ी विशेषता है, इसकी वर्णन प्रणाली। प्रत्येक परिच्छेद के आरम्भ म लम्बे-लम्बे अलकृत वर्णन हैं। यदि इस उपन्यास मे से अनावश्यक वाक्य निकाल दिये जायँ, तो ७५० पृष्ठो म से कम होकर, इसका आवरण २०० पृष्ठ रह जाय।'[1]

वर्णनात्मक-कला की कसौटी पर न कसे जाकर जब तक उत्कृष्ट औपन्यासिक कृतियो को हम परम्परागत एव रूढ माना पर आँकते रहेंगे वे कभी भी समीक्षा न्याय की अधिकारिणी न हो पाएँगी। 'मगल प्रभात' उपन्यास भी अपने प्रकाशन के पश्चात यद्यपि विद्वद्वर्ग द्वारा सराहा गया था किन्तु उसकी पुनरावृत्तियाँ न हो पाई और पुराना सस्करण भी धीरे धीरे विरल होता गया। आगरा (बलनगज) के चिरजीव पुस्तकालय के सौजन्य स ही उसका भी वर्णनात्मक अनु

---

१ 'हिन्दी उपन्यास' (श्री शिवनारायण श्रीवास्तव) प्रकरण तृतीय, पृ० १८६ १८७ (१९६८ सस्करण, प्र० सरस्वती मन्दिर, वाराणसी)।

संधान सभा य हो पाया है। उप यास से न्दो एक वणनाभिराम अवतरण यहा दिए जा रहे हैं। पहला, 'प्रभात' का एक मनोरम वणनात्मक चित्रण है। यह 'मगल प्रभात' उपन्यास का ध्वन्यात्मक सकेत भी है —

'सूर्योदय हो चुका था। प्रत्येक तुषारकण मे, अनेक सप्तवण रजित इन्द्रधनुषो की सृष्टि करती हुई प्रभात सूय की कोमल किरण राशि गुलाब दल पर नृत्य कर रही थी। यमुना अपने असीम चिरसगीत को गाती हुई प्रवाहित हो रही थी। उसके नीलाबर पर स्वणरेखाओ की भाँति, सूयदेव की किरण पड कर, एक अत्यन्त सुन्दर दृश्य उपस्थित कर रही थी। चिडियां चहचहा रही थी। कृषक कुमारियो का समूह मधुर मस्त रागिनी गाता हुआ यमुना तट से जल लेकर लौटा आ रहा था। रात्रि की उस चरम शाति के पश्चात (उवरा त) वह सगीत जागृति की मधुर कलकल ध्वनि के समान, प्रतीत होता था। नया जीवन था और उस नये जीवन का भी वह सुरभित प्रभात। रगपुर की रगभूमि पर, नूतन जागृति का विमल नृत्य प्रारम्भ हुए एक घडी के लगभग बीत चुका था।'[1]

दूसरे अवतरण म, रगपुर ग्राम की आचलिक आभा के पाठक को आह्लादजनक दशन मिलते हैं — शरद ऋतु की दोपहर म गाव की अपूव मनोहर शोभा हो जाती है। हरे हरे खेतों के बीच मे, फूली हुई पीली सरसो, ऐसी प्रतीत होती है, मानो प्रकृति देवी के नीले शाल पर कारचोबी क काम की बूटिया हो। उसके ऊपर जब, निमल नीलाकाश से उतर कर सूयदेव की सुवणमयी किरण राशि, क्रीडा करती है, और जब, शीतल मृदुल वायु का हिल्लोल उस शाल के अचल को चचल बना देता है उस समय वह चपल शाभा एक देखने की वस्तु होती है। रगपुर की शोभा इस समय किसी भी रगमच से कम नही थी। एक ओर प्रवाहित हो रही थी मृदु कलकल वाहिनी नील सलिला यमुना। और चारो ओर लहलहा रहा था, महामाया प्रकृति देवी का नील अचल। कृषक समुदाय का यह उत्सव काल था सुन्दर सरल कृषक किशोर कही-कही अपने खेतो म, आनन्द से गा रहे हैं।'[2]

श्री प्रेमचन्द के अतरग एव घनिष्ट मित्रों एव सह उपन्यासकारो मे, हिन्दी उपन्यास की वणनात्मक धारा को महामहाकाव्योपम गरिमा प्रदान करने वाले, अपूव प्रतिभा सम्पन्न महान उपन्यास स्रष्टा स्व० व दावनलालवर्मा का नाम सर्वाग्रगण्य है। वे प० मन्नन द्विवेदी गजपुरी और प० बद्रीनाथ भटट वे भी अतरग सखा थे और एक ऐसा भी समय था जब ये तीनो ही महान साहित्यकार सामयिक पत्र-पत्रिकाओं

---

१ मगल प्रभात' (श्री चण्डीप्रसाद हृदयेश) छठा परिच्छेद — दिव्य वाणी', पृष्ठ ८१ (प्रकाशक—चाँद कार्यालय, प्रयाग प्रथम सस्करण १९२५ ई० से)।

२ वही ८वा परिच्छेद (सुभद्रा की सखी) पृष्ठ १००।

मे, अपने छद्म नामो से, रोचक साहित्यिक वाद प्रतिवाद एव सामयिक विवेचना चलाया करते थे। स्व० श्री वर्माजी, वय अवस्था मे श्री प्रेमचन्दजी से ८-९ वर्ष छोटे थे, पर फिर भी प्रेमचन्दजी, उनका और उनकी आद्यकृतियो का, बडा आदर करते थे।

वस्तुत स्व० श्री वृन्दावनलाल वर्मा के सर्वश्रेष्ठ एव महानतम उपन्यास, प्रेमचन्द उत्तरकाल मे ही रचे गए। क्योंकि इधर केवल दो तीन प्रारम्भिक उपन्यास लिखने के बाद, दीर्घकाल तक, श्री वर्माजी, उपन्यास रचना कर ही न पाए और इसी बीच उधर श्री प्रेमचन्द जी चल बसे। उपन्यास रचना म प्रवृत्त होने ही श्री वर्माजी ने (सन् १९२७ ई० म), लगन नामक उपन्यास रचा था। वह 'ऐतिहासिक' उपन्यास न होकर लोककथात्मक एव लोक जीवन परक ही है। श्री 'प्रेमचन्द' को श्री वर्माजी ने जब उसकी प्रति भेजी तो वे उसे पढ कर, बडे प्रसन्न हुए और उन्होने श्री वर्माजी का बडे उत्साहपूर्वक स्वर मे अभिनन्दन करते हुए लिखा था—यह उपन्यास नहीं—'ग्रामीण गद्यकाव्य ('पेस्टोरल पोएट्री)' ही है। यहाँ उसी 'लगन' उपन्यास का, एक सहज वर्णन कलाभिराम अश, उदाहृत किया जा रहा है—

देवीसिंह कुछ कर्त्तव्यवश, कुछ रुचिवश पशु पालन का काय किया करता था। जेठ का आरम्भ था। सन्ध्या हो चुकी थी। देवीसिंह, नदी तट पर, एक जगह जो घर से पाव मील थी, गया। आजकल यह स्थान 'मरौल घाट' कहलाता है। नदी के उस पार, एक कोस पर, मरौल नाम का गाव है इसीलिए इस नाम से यह तट विख्यात है। नदी के उस पार, पहाडियो के खिरखिरे लम्बे लम्बे समूह, बढते हुए अन्धकार म एक लम्बी तिरछी स्पष्ट रेखा की भाँति भासित हो रहे थे। सघन वन के ऊपर, पल्लवहीन करधई की क्षीण लालिमा और रेंवजा तथा करौंदी की गहरी हरियाली की घुँधरी चादर सी तन गई थी। नदी म टिटहरी बोल रही थी। किनारे के वृक्षों पर श्यामा चिडिया चहक उठी। नदी म मछली उछल उछल कर शोर करने लगी और मगर खुले स्थान से खिसक कर, पानी म समा गया। सन्ध्या हो गई। देवीसिंह स्वच्छ स्थान पर बठ कर कुछ गाने लगा ...।[1]

'विराटा की पद्मिनी' (१९३० ई०) श्री वृन्दावनलाल वर्मा की वह यशस्वी कृति थी जिसने उन्ह सहसा ही प्रेमचन्द-काल के सवश्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासकार के सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर दिया था। प्रेमचन्द उत्तरकाल मे तो श्री वर्माजी की एक से एक बढ कर औपन्यासिक उपलब्धियो ने सवत्र देश विदेश में जो आदर और मान पाया है वह समग्र हिन्दी साहित्य के लिए एक विशिष्ट गौरव की

---

१ लगन (श्री वृन्दावनलाल वर्मा) अध्याय २ पृष्ठ १७ (प्रथम प्रकाशन १९२७ ई०) (गगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ)।

वस्तु है। इन अर्थों में 'विराटा की पद्मिनी' का, हिन्दी उपन्यास साहित्य के इतिवृत्त में, अविस्मरणीय स्थान रहेगा। प्रकृति वर्णन को श्री वर्माजी जिस सहज रमणीय एवं कलात्मक कौशल से इतिवृत्त की मार्मिक घटनाओं के साथ जोड़ते थे, वह वर्णन चमत्कार, सर्वप्रथम इसी उपन्यास में सुविकसित हुआ था। उनके परवर्ती श्रेष्ठ उपन्यास 'मृगनयनी' (१९५० ई०) में, इस वर्णनात्मक विशिष्टता का चरम विकास हुआ था। उनकी अन्य वर्णनात्मक प्रतिभा प्रमाणित कृतियों में भी न जाने कितने सूक्ष्म विभेदों में, यह 'वर्णन सामंजस्य कला' दृष्टिगोचर होती है। झांसी की रानी लक्ष्मीबाई (१९४८) कचनार (१९४६) तथा टूटे कांटे (१९५४) में यह वर्णनात्मक कलावैविध्य विशिष्टतया अवलोकनीय है। वैसे तो उनका समग्र उपन्यास साहित्य ही अपनी निजी वर्णनात्मक विशिष्टता के कारण हिन्दी उपन्यास के वर्णन कला विकास के अध्ययन के लिए अध्ययनीय है ही। यहाँ 'विराटा की पद्मिनी' से दो एक उत्कृष्ट कलाभिराम अवतरण दिए जा सकेंगे, यथा—

जिस समय गोमती मंदिर में पहुँची कुमुद, वेतवा के पूर्वतट के उस ओर, वन में जंगली पशुओं की आवाजें सुन रही थी। सन्ध्या हो चुकी थी। पश्चिम दिशा का क्षितिज सुनहले रंग से भर चुका था और पूर्व की ओर से अंधकार के पल्लव के पल्लव नदी की स्वर्णरेखा पर मानो आवरण डालने वाले थे। मंदिर के चारों ओर, नदी की प्रशस्त धाराएँ अंधकार और वन्य पशुओं की चीत्कारों से, कुमुद की एकान्तता को, अलग सा कर रही थी।[1]

'कुंजरसिंह मुसावली में एक अहीर के घर ठहर गया था। घर से लगा हुआ कांटों की बिरवाई से घिरा हुआ एक बेड़ा था। उसमें कुंजरसिंह घोड़ा बांधकर स्वयं घर के एक कोने में अकेला आ बसा। बिरवाई से लगे हुए ३ ४ महुए के पेड़ थे। महुओं के पीछे से, एक चक्करदार नाला निकला था। दूसरी ओर यह पहाड़ी थी, जो 'मुसावली पाठा' कहलाती थी। एक ओर बीहड़ जंगल। कुंजरसिंह महुओं के नीचे गया। अहीर की कुछ भैंसें नाले के पास चर रही थीं। कुछ महुओं के नीचे ऊँघ रही थीं। एक लड़का कुछ धूप, कुछ छाया में, सोता हुआ जानवरों की देखभाल कर रहा था। घास आधी हरी आधी सूखी थी। करधई के पत्ते पीले पड़ पड़ कर, गिरने लगे थे, नाले का पानी अभी नहीं सूखा था। कुछ भैंसें उसमें लोट लोट कर शब्द कर रही थीं। चिड़ियाँ, इधर से उधर उड़कर, शोर कर रही थीं। सूर्य की किरणों में कुछ तेजी और हवा में थोड़ी उष्णता आ गई थी।'[2]

---

१ विराटा की पद्मिनी (श्री वृन्दावनलाल वर्मा) अध्याय १६ पृ० ६५ (गंगापुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ)।

२ वही अध्याय ४२, पृष्ठ १३३।

प्रेमचन्द काल के एक अन्य उत्तम हिन्दी उपन्यासकार हुए महाकवि श्री जयशंकर प्रसाद'। उनके दोनो सपूर्ण उपन्यास 'ककाल' (१९२९ ई०) एव 'तितली' (१९३३ ई०) श्री प्रेमचन्द के जीवनकाल मे ही प्रकाशित हो चुके थे। ये दोनो ही कला कृतियां 'प्रसाद जी की वर्णनात्मक प्रतिभा से छविमती हैं। 'इरावती' प्राय मगलसूत्र' की समकालीन ही अधूरी कृति है। ये दोनों ही अधूरे उपन्यास हिन्दी के दो महानतम *कथा कलाकारो के, विधाता द्वारा असमय विच्छेद के, मानो स्मारक रूप अवशिष्ट रह* गये हैं। फिर भी दोनो पर ही, उनके कलाकृतित्व की छाप अमिट रह गई है। 'प्रसाद' जी के पहले दोनो उपन्यास, अर्वाचीन जीवन के परिप्रेक्ष्य मे रचे गए थे और तीसरा (इरावती) शुगकालीन भारत के, प्राचीन जन-जीवन का चित्र विचित्र वर्णन लेखा था। तीनो ही उपन्यास (विशेषतया तितली और 'इरावती') अपने कलात्मक वर्णनो के कारण ही, प्रिय एव मनोरम हैं।

श्री प्रसादजी एव श्री प्रेमचन्दजी इन दोनो ही महान उपन्यासकारो पर, काशी को समान रूप से गर्व है। दोनो ही पर्याप्त सकोचशील और प्रकाशन प्रदर्शन से विरत रहे। दोनो ने ही काशी और उसके आसपास के अचल को अपने उपन्यासो में चित्रित करके शाश्वत चिर जीवन प्रदान किया है। श्री प्रेमचन्दजी *तो काशी से बाहर अनेक वर्षों तक यहाँ वहाँ रहे भी किन्तु प्रसादजी का काशी* और गगा की धारा से अत्यन्त घरेलू ममता थी। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने अपने 'आज का हिन्दी साहित्य' में, उनके बारे में जो राय दी है उसमे 'प्रसाद जी के वर्णनात्मक कला वभव का पर्याप्त सत्य एव यथातथ्य निरूपण हो जाता है—

प्रसाद का पूर्ण जीवन, काशी मे गगा तट पर ही बीता था जहाँ प्रतिक्षण प्रतिपल गगा की धारा, भारतीय जीवन के कूल कगारो से टकराया करती है। नदियो का जसा वर्णन हम 'प्रसाद' के उपन्यासो मे पाते हैं वह अन्यत्र दुर्लभ है। *प्रयाग, हरिद्वार, और काशी में गगा की हर हर मथुरा और वृन्दावन मे यमुना का* उद्दाम प्रवाह सीकरी के अन्तर्प्रान्त में अल्हड़ सी डोंगी नदी (तितली मे) गगा के किनारे बाबा रामनाथ का बनजरिया इरावती मे शिप्रा गगा और शोण नदियो का गहरा नाद, सभी, इस भारतीय इतिहास और जीवन में इन नदियो के महत्व का स्मरण दिलाते हैं।[1] 'प्रसाद' कहते हैं 'मनुष्य के आचरण में, कर्म में नदी की धारा की तरह प्रवाह होना चाहिए। तालाब के बँधे पानी सा उसका जीवन का जल, सड़ने और सूखने के लिए होगा तो वह जड और स्पन्दन विहीन होगा।'[2]

---

१ आज का हिन्दी साहित्य' (श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त) अध्याय १० पृ० ६१ ६२ (नेशनल पब्लिशिग हाउस दिल्ली ७ प्रथम प्रकाशन १९६६ ई०)।

२ तितली' (श्री जयशकर 'प्रसाद'), पृष्ठ १७२

श्री 'प्रसाद' कवि एवं उपन्यासकार के अतिरिक्त मर्मज्ञ कलाविद् और कला समीक्षक भी थे। एक प्रकार से उनका सारा जीवन ही कला साधना का एक अनवरत उद्योग कहा जा सकता है। इसीलिए जब श्री 'प्रसाद' जी को ऐसा अनुभव हुआ कि वे पद्य के माध्यम द्वारा, उस सर्वव्यापी वर्णनात्मक सौंदर्य के विविध चित्रों को उतने संश्लिष्ट और व्यापक रूप में नहीं उतार पाते जितना कि उनकी वर्णनात्मक चित्रण कला की असीम आकांक्षा थी, तो उन्होंने उपन्यास रचना में प्रवृत्त होने का निर्णय किया, जहाँ कि उनकी वर्णनात्मक प्रतिभा को, उन्मुक्त विकास मिल पाया है। 'तितली' उपन्यास ही उनकी वर्णनात्मक प्रतिभा को सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि रचना मानी जा सकती है। अतः उनके 'तितली' उपन्यास से ही दो अत्यन्त मनोरम वर्णनात्मक छवियाँ उद्धृत करने के पश्चात, प्रेमचन्द-काल के हिन्दी उपन्यास के, इस वर्णनात्मक पर्यवेक्षण में विराम लेना होगा —

'सायंकाल था। खेतों की हरियाली पर, कहीं-कहीं, डूबती हुई किरणों की छाया अभी पड़ रही थी। प्रकाश डूब रहा था। प्रशान्त गंगा का कछार शून्य हृदय खोले पड़ा था। करारे पर सरसों के खेत में बसंती चादर बिछी थी। नीचे शीतल बालू में कराकुल चिड़ियों का एक झुण्ड, मौन होकर बैठा था। कन्धों से, सरसों के फूलों के, घने परदे को चीरते हुए इन्द्रदेव ने उस स्पन्दन विहीन प्रकृति खण्ड को आन्दोलित कर दिया। भयभीत कराकुल झुण्ड के झुण्ड, उस धूमिल आकाश में मँडराने लगे।'[1]

अन्नों को पका देने वाला पश्चिम पवन सर्राटे से चल रहा था। जौ गेहूँ के कुछ कुछ नीले बाल उसकी झोंक में लोट पोट हो रहे थे। वह फागुन की हवा, मन में नई उमंग बढ़ाने वाली थी। कुतूहल से भरी ग्राम वधुएँ एक दूसरे की आलोचना में हँसती हुई अपने रंग बिरंगे वस्त्रों में ठीक शस्य श्यामल खेतों की तरह तरंगायित और चंचल हो रहीं थीं। वह जंगली पवन, उनके वस्त्रों से उलझा था। युवतियाँ उसे समेटती हुई अनेक प्रकार से अपने अंगों को मरोड़ लेती थीं। गाँव की सीमा में निधनता थी। पीली पीली धूप तीसी और सरसों के फूलों पर पड़ रही थी। बसंत की व्यापक कला से प्रकृति सजीव हो उठी थी। सिंचाई से, मिट्टी की सोंधी महक वनस्पतियों की हरियाली, और फूलों की गन्ध उस वातावरण में उत्तेजनात्मक मादकता, ढाल रही थी।'[2]

---

१ 'तितली' (श्री जयशंकर 'प्रसाद') खण्ड २ अध्याय १०, पृष्ठ १२७ (प्रथम प्रकाशन १९३३ ई० भारती भण्डार, प्रयाग)।

२ वही खण्ड ३, अध्याय ३, पृष्ठ १५९।

सप्तम प्रकरण प्रेमचन्द - उत्तर काल (१९३७–१९७२ ई०)

हिन्दी उपन्यास को जो प्रभूत वर्णन समृद्धि श्री प्रेमचन्द ने प्रदान की है, उसी से पोषित एवं प्रेरित होकर हिन्दी साहित्य के अनेकानेक शीर्ष आधुनिक उपन्यासकारो ने, अपनी स्वतन्त्र उपन्यास शैलियो का प्रवर्तन किया है। उनमे से कितने ही किस रूप मे, और किस भांति, प्रेमचन्द द्वारा प्रभावित हुए तथा लाभान्वित हुए यह समीक्षात्मक चर्चा, एक बडे विस्तृत क्षेत्र की ओर इंगित करती है। अतएव प्रेमचन्द-काल के अवसान पर सन १९३७ ई० के हिन्दी उपन्यास के इस चरम शिखर पर खडे होकर, अब हमें, प्रेमचन्द-काल की दृश्यावली से, हठात अपनी आखो को हटा कर, प्रेमचन्द उत्तरकाल (१९३७ १९७२ ई०) के साढ़े तीन दशको मे फैली हुई भव्य एव आश्चर्यजनक हिन्दी उपन्यास की रस सृष्टि की, अत्यन्त आकर्षक एव सर्जनात्मक उपलब्धियों की ओर, उन्मुख होना होगा।

सन १९०४ ई० से सन १९३६ ई० (प्रेमचन्द काल) के पश्चात् अद्यावधि भी, श्री प्रेमचन्द के उपन्यास साहित्य की अक्षय वर्णनात्मक समृद्धि एव उसके अनन्त वर्णनात्मक कलात्मक प्रयोगो ने, प्राय प्रत्येक भारतीय उपन्यास लेखक को किसी न किसी रूप मे, प्रेरणा प्रदान की है तथा अक्षय वर्ण्य-सकेत भी प्रदान किये हैं।

आधुनिक हिन्दी साहित्य की उपलब्धियाँ वस्तुत परम महती हैं। दो सहस्र वर्षों के अनूठे वर्णनात्मक वैभव के 'रिक्थ' ने उन्हें विकास और विन्यास का सुदृढ आधार प्रदान किया है। 'प्रेमचन्द उत्तरकाल', हिन्दी उपन्यास मे नये प्रयोगों एव नई शैलियों का युग भी कहा जा सकता है।

हिन्दी उपन्यास के इस प्रेमचन्द उत्तरकाल के प्रभूत साहित्य पर एक विहंगम दृष्टि डालने पर हम ज्ञात होगा कि इस काल मे स्व० श्री वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासो ने प्राय अद्यावधि अपना वर्णनात्मक वैशिष्ट्य एव महत्व बनाए रखा है। 'दुर्गावती' (१९६६ ई०) और 'सोती आग' (१९६७ ई०) तक भी स्वर्गीय श्री वर्माजी की लेखनी, वर्णन-क्षेत्र के नव-नव विलास मे विहरने से, विश्रान्ति लेने का नाम नहीं लेती थी। वे हमें प्रेमचन्द काल के वर्णनात्मक वैभव का मानो बारम्बार पुन स्मरण करा जाते हैं। प्रेमचन्द काल के वर्तमान उपन्यासकारो मे श्री जनेन्द्र कुमार, अपनी उपन्यास रचना मे नये नये प्रयोग करते ही चले जा रहे हैं जिनमे उनका रेडियो पर धारावाहिक रूप से प्रसारित उपन्यास 'अनन्तर' भी उल्लेख्य है। मुक्तिबोध (१९६५ ई०) उनका अकादमी द्वारा पुरस्कृत परवर्ती उपन्यास है तथा अनामस्वामी 'त्यागपत्र की उत्तरार्ध-कथा है, जो प्रयोग की दृष्टि से नूतनता लिये है।

श्री जनेन्द्र प्रेमचन्द काल के सर्वप्रथम 'नवीन उपन्यास विधा' के उन्नायक भी रहे हैं। उन्हें वर्णनात्मक उपन्यासकारों की पांति में जानबूझ कर ही नहीं खड़ा किया गया। वस्तुतः श्री जनेन्द्रजी उपन्यासकार नहीं दार्शनिक हैं। उन्होंने उपन्यास माध्यम का उपयोग केवल अपने विचारों को अधिक ग्राह्य एवं सुलभ बनाने के लिए ही किया है। यही बात उनके कतिपय अन्य सहयोगियों—यथा श्री अज्ञेय आदि के बारे में भी घटा बढ़ा कर कही जा सकती है। इन उपन्यासकारों का विश्व एक बौद्धिक विश्व' है। वे अपनी वर्णनात्मक असमर्थताओं से स्वयं परिचित भी हैं। इसलिए उन्होंने अपने लिए, अलग रास्ता निकाल लिया है—जो ठीक भी है।

प्रेमचन्द उत्तर काल (१९३७-१९७२ ई०) ने हमें कुछ महान एवं मौलिक, वर्णन कला मर्मज्ञ प्रतिभाएं भी प्रदान की हैं यथा श्री इलाचन्द्र जोशी, स्व० श्री 'रांगेय राघव' स्व० श्री राहुल सांकृत्यायन, आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी श्री यशपाल श्री फणीश्वरनाथ 'रेणु' श्री 'नागार्जुन' श्री भगवतीचरण वर्मा, स्व० श्री उदयशंकर भट्ट, श्री देवेन्द्र सत्यार्थी स्व० श्री रुद्र काशिकेय श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव, श्री भैरवप्रसाद गुप्त, डा० देवराज, श्री मोहन राकेश तथा लगभग एक दर्जन अन्य प्रतिभाशाली उपन्यास स्रष्टा। स्व० आचार्य चतुरसेन शास्त्री यद्यपि श्री प्रेमचन्द के समकालीन एवं सहयोगी उपन्यासकार रहे थे फिर भी उनकी वर्णनात्मक कला का चरम विकास श्री प्रेमचन्द के निधन के पश्चात् ही प्रकाश में आ पाया था। यही बात श्री भगवतीचरण वर्मा के बारे में भी कही जा सकती है, जिनके साथ ही साथ कदम बढ़ाते चलने वाले, श्री अमृत लाल नागर भी एक समर्थ वर्णनात्मक उपन्यासकार हैं।

इन सभी प्रतिभाशाली सरस्वती सुमनों द्वारा रचित महान हिन्दी उपन्यास साहित्य आज विश्व का सर्वोत्कृष्ट उपन्यास साहित्य कहाने का अधिकारी हो गया है। वर्णनात्मक कला के असंख्य एवं सूक्ष्म प्रयोगों में उन्होंने न जाने कितनी स्मरणीय सफलताएं पायी हैं। इन प्रतिभाशाली उपन्यास स्रष्टाओं में से कुछ की सर्जनात्मक कृतियों के उत्कृष्ट वर्णनों का समावेश 'वर्णनात्मकता में कला और उसके उपादान' शीर्षक अध्याय में किया ही जा चुका है। फिर भी यहां प्रेमचन्द उत्तर काल के तीन विशिष्ट एवं महान वर्णनात्मक प्रतिभा के धनी कलाकारों की कृतियों की, एक विहंगम झांकी प्रस्तुत करके ही सन्तोष करना होगा। सन १९४२ में हमारे श्रेष्ठ निबन्धकार तथा समीक्षक आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी 'बाणभट्ट की आत्म कथा' लिख कर हिन्दी साहित्य के उपन्यास पाठकों को पर्याप्त चौंका दिया था किन्तु उनके वर्णनकला के और भी अधिक चमत्कारी प्रयोग, तो आगे चल कर अर्थात् १९६३ ई० में 'चारु चन्द्रलेख' तथा १९६८ ई० में 'पुनर्नवा' द्वारा किए गए हैं। ये श्रेष्ठ औपन्यासिक कृतियाँ, आधुनिक हिन्दी उपन्यास साहित्य की, चरम उपलब्धियाँ भी मानी जा सकती हैं।

सन् १९५४ ई० मे श्री फणीश्वरनाथ 'रेणु' ने अपनी निराली औपन्यासिक सृष्टि 'मैला आंचल' द्वारा हिन्दी उपन्यास के पाठकों को एक नये प्रकार की वर्णनात्मक शैली प्रदान की। आगे चल कर इस कृति ने, हिन्दी साहित्य में 'आंचलिक' उपन्यासों की लोकप्रियता को, पर्याप्त बल दिया। परती परिकथा (१९५७ ई०) मे श्री 'रेणु' का वर्णनात्मक प्रतिमा अधिक प्रौढ एवं व्यंजनाप्रधान हो गई है। वस्तुत कालान्तर में यही कृति उनकी कला की प्रतिनिधि रचना मानी जाएगी। १९५६ ई० में स्व० श्री उदयशंकर भट्ट ने सागर, लहरें और मनुष्य नामक अपने नये ढंग के उपन्यास की सृष्टि की। इसने हिन्दी उपन्यासकारों का ध्यान, अपने देश की महान नदियों के तटों पर तथा भारत की लम्बी सागर पट्टी पर बस रहने वाले, मछुआरों के जीवन की ओर भी आकृष्ट किया, जो अब तक हिन्दी उपन्यासकारों द्वारा प्राय उपेक्षित और तिरस्कृत थे। साथ ही इस उपन्यास द्वारा उन्होंने सागर-तटवर्ती प्रकृति वर्णन के, नये नये दृश्यपटों का भी उद्घाटन किया।

स्व० उदयशंकर भट्ट द्वारा रचित कोंकण-तटवर्ती मछुआरों के जीवन से सम्बद्ध, इस औपन्यासिक कृति सागर, लहरें और मनुष्य के प्रकाशन पर, उनसे परिचित समीक्षकों को, पर्याप्त आश्चर्य हुआ। कारण कि श्री भट्टजी पक्के ब्राह्मण, और विशुद्ध शाकाहारी आचार विचार के व्यक्ति रहे थे। अस्पृश्यों के समान मछुआरों के जीवन का, इतना घनिष्ट चित्रण और वर्णन, उनकी लेखनी से कैसे सम्भव हो पाया? यह जिज्ञासा सहज ही थी। बंगला भाषा मे रचे गये उत्कृष्ट 'गंगा' नामक उपन्यास के तरुण लेखक समरेश बसु अनेक वर्षों तक मछुआरों के साथ, उनकी खतरनाक जल यात्राओं एवं सागरयात्राओं में साथ साथ घूमे भटके थे तब कहीं उन्होंने, सन १९६६ ई० में 'गंगा' की रचना की थी। क्या कभी श्री भट्टजी को भी मछुआरों के जीवन का, प्रत्यक्ष अनुभव एवं सहवास उपलब्ध हुआ था? इस सहज प्रश्न को जब श्री रणवीर रांग्रा ने उनसे अपनी एक भेंट में पूछा तो श्री भट्टजी ने उन्हें निम्न उत्तर दिया था। उससे उनकी उपन्यास-गत वर्णन कला के अनेक सूत्रों पर मूल्यवान प्रकाश पड़ेगा —

मछुओं के जीवन से मेरा सीधा सम्बन्ध, कभी नहीं रहा, जाति और कर्म से भी नहीं। बात मार्च १९५३ ई० की है। मुझे अपने एक निकटतम सम्बन्धी को जो विदेश यात्रा पर जा रहे थे विदा करने, बम्बई जाना पड़ा। यों मैं इससे पूर्व भी कई बार बम्बई गया हूँ और समुद्र दर्शन, समुद्र स्नान की लालसा, मेरे भीतर सदा ही रही है। समुद्र के किनारे किनारे घूमना एकान्त में बैठ कर गर्जन सुनना लहरें देखना यह मेरा 'शौक' था और उन दिनों भी वही हुआ। बम्बई जाकर, अपने को मैं रोक नहीं पाता। आज भी समुद्र के किनारे किनारे

घूमना पसन्द करता हूँ। उस समय मुझे लगता है समुद्र भी, इस पृथ्वी की तरह, अनन्त संसार है।'[1]

'तो उस दिन मैं, अपने एक साथी के साथ, घूमते घूमते, वरसोवा नामक ग्राम की ओर जा निकला। यहाँ मुझे एक नई दुनियाँ दिखाई दी। लहराता समुद्र और वहाँ का जन जीवन देख कर एक उत्सुकता एक अभिव्यक्ति की बेचैनी, मेरे भीतर फूटने को आतुर हो उठी। मचान पर फली मछलियाँ किनारे पर नावों में बैठे मल्लाहों की मस्ती, उनके गीत, उनके जीवन दर्शन ने मुझे आकृष्ट किया। मैं बहुत दूर तक खड़ा खड़ा, उस दृश्य को देखता रहता। उस समय मुझे लगा जैसे मैं भी, इसी समुद्र और इन प्राणियों में से एक हूँ। उनके गीतों की जो तान उठ रही थी, उसमें जैसे मुझे, समुद्र ताल देता लगा। एक तन्मयता की प्रतीति हुई। मुझे लगा, जैसे लहरें उनके हर गान, तान ओजस्वी लय को, आत्मसात करतीं, बढ़ रही हों और मेरा सर्वाङ्ग उन गीतों पर ताल देकर गुनगुनाने लगा। मैं उस समय अपने को भूल गया। मैंने अनुभव किया सागर की भी एक कहानी है, तो सागर-पुत्रों की भी।'

'वैसे मैं रामेश्वरम्, धनुषकोटि, कन्याकुमारी, जगन्नाथपुरी, द्वारिका, आदि के समुद्र के भी दर्शन कर चुका था। उस समय मेरे मन में यह विचार कई बार उठा कि हिन्दी साहित्य में समुद्र का नितान्त अभाव है। इस सम्बन्ध में मुझे जब तब साहित्यिक मित्रों से भी, चर्चा करने का अवसर मिला। उस समय मछुओं के जीवन ने मुझे उत्साहित किया। मैंने निश्चय किया कि यदि मैं इस जीवन को, साहित्य में चित्रित कर सकूँ तो कदाचित् हिन्दी साहित्य के अंश मात्र के अभाव की पूर्ति कर सकूँगा। मुझ में एक उत्साह जागा और मैं फिर अपने काम में जुट गया।'

बम्बई के आसपास उत्तरकोंकण के सागर-तट पर बसी मछुआरों की बस्तियों तथा उनके रहन सहन, वहाँ की संकर आदिवासी नागरी-संस्कृति अपभ्रंश खिचड़ी भाषा तथा संकटपूर्ण मछुआरों के आदिम तामसी राजसी वृत्तियों से युक्त जीवन को दर्शाने वाला, उपन्यास सागर, लहरें और मनुष्य अपने प्रथम पृष्ठ और प्रथम वर्णन से ही मानो अपने पाठक को, अभिभूत कर लेता है —

'उस दिन मंगलवार था पूनों की रात। आकाश से दूध की धार बरस रही थी। धरती का कोना कोना हंस रहा था। समुद्र की सतह पर जहाँ तक निगाह जाती मोतियों का चूरा बिछा था। लहरों की आवाज घूमने वाली ऊँची दीवारों

---

१ ३ उदयशंकर भट्ट व्यक्ति और साहित्यकार', अध्याय १७, भट्टजी के उपन्यास उनकी दृष्टि में, पृष्ठ ११७ १२० (प्र० आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली)

के किनारो पर, फेनी की गोट लगी दीख पडती थी। अभिमान की तरह लहरें, ऊंची से ऊँची उठ रही थी। सारा समुद्र, एक महान खिलाडी के उल्लास उमग से, उत्तरग हो रहा था। पहले पहर की उसी रात को बम्बई के पश्चिम-तट पर बसा हुआ मछलीमारो का गाँव, बरसोवा, उनींदा हो रहा था। उस समय बरसोवा मे आदमी कम, बच्चो बूढो की गिनती अधिक थी। जो आदमी थे, वे बाहर से आये दूकानदार थे। प्राय सभी मछलीमार, समुद्र के भीतर उमग की तरह तरने वाली मछलियां को पकडने निकल पडे थे। अँधेरा कोनो मे छिपा बठा था, उजाला मदाना मे नाच रहा था। धीरे धीरे और भी सन्नाटा बढा। गाव के लटा और समुद्र की छाती की धडकन कम हो रही थी।"

'इसी समय बादलो के टुकडे, पश्चिम के क्षितिज से चोरो की तरह झाकने लगे। हवा की सास घुटने लगी। लहरो की हिम्मत टूटी। जो दो चार चिडियाँ आसमान म मँडरा कर, समुद्र की छाती पर उभरती मछलियो का शिकार करने मे व्यस्त थीं, उनका अब कहीं नाम निशान नहीं रह गया था। सन्नाटा और बढ़ा। हवा और कम हुई। लहरो के गीत सोम लगे। इसी समय, साहसी डाकुओ की तरह, काले लबादो में लिपटे मेघ समूह से, तीरों और लम्बे बासो के समान मोटी धार, आसमान से गिरने लगी। सब ओर इस्पात की तरह ठोस अँधेरा गहराने लगा—निगाहों की सुई के लिये भी असम्भव।"

'चारो ओर अँधेरा। मोटे सूत की रस्सियो से भी मोटी वर्षा की जलधार। न कुछ सुनाई दे रहा था, न दिखाई। एक प्रलय सा समुद्र मे उठ रहा था। एक भीषण ध्वनि की दहाड से सारा समुद्र उमड रहा था। किनारे पर खडे लोगो के परो, घुटनो से, लहरें टकराइ तो लोग ऊपर आ गए। जब यहा भी पानी ने घेरा, तो डर से भागते चिल्लाते लोग अपनी झोपडियो के पास आ खडे हुए। समुद्र-तट से आधे फर्लांग तक पानी ऊपर चढ आया था। अहकारी पेडा का पता न था। सहमता लताएँ और पास की पत्तियां झुक गईं। झोपडियो के पास खडे लोग उडे जा रहे थे। उस अँधेरे मे मालूम होता था, सारी पृथ्वी डूब जायगी। हवा आधी बन गई और आधी झंझा। आकाश के एक किनारे से दूसरे किनारे तक गडगडाहट के साथ बिजली कौंध जाती। उससे लगता जसे समुद्र और आसमान एक हो गए हैं।'

श्री फणीश्वरनाथ रेणु ने लोककथाओं एव लोक अनुश्रुतियों को अपने आसपास के फैले हुए धूल धूसरित प्रदेश के आंचलिक चित्रण के लिए, जब उपन्यास विधा का

१३ सागर लहरें और मनुष्य' (उदयशकर भट्ट), पृष्ठ १४, अध्याय १, (प्र० आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। १९६४ ई० के सस्करण से।)

आश्रय लिया तो उन्हें, स्वयं भी पता न होगा कि एक दिन उनकी यह शैली, हिन्दी उपन्यासों में एक नवीन धारा की प्रवर्तक मानी जाएगी। हमारा महान भारत देश, न जाने कितनी आंचलिक इकाइयों में बँटा हुआ है और उनमें से प्रत्येक की, अपनी निजी आंचलिक विशिष्टताएँ हैं। वे सभी, उपन्यासकार की वर्णनात्मक प्रतिभा को मानो चुनौती देती हैं। रूप और रंग शब्द एवं नाद की विविधताओं का यहाँ अन्त नहीं है। वर्णन का क्षेत्र यहाँ अबाध है और लोकगाथाओं की अक्षय सम्पत्ति, यहाँ किसी भी उपन्यासकार को, लेखन प्रेरणा प्रदान करने में समर्थ है।

रेणु ने अपने प्रथम उपन्यास के लिए, पूर्णिया जिले के कुछ ऐसे गाँवों और कस्बों को चुना है जो कभी निलहे साहबों की जागीर में रहे थे। वह आतंक बेगार और निर्धनता का युग था जहाँ गरीब ग्रामीण पिसता था और टूटता था। वहीं किसी निलहे साहब की भूतिया खण्डहर कोठी देख कर लेखक को उपन्यास रचना की प्रेरणा मिली। उपन्यास में सन १९४२ ई० की क्रांति एवं उसकी प्रतिक्रियाओं द्वारा, सामयिकता एवं प्रतीकमानता लाने का यत्न भी किया गया है। किन्तु वस्तुतः रेणु की वर्णनात्मक कला (जो मैला आँचल में प्रस्फुटित हुई थी) उनकी परवर्ती कृति 'परती परिकथा' में ही सुविकसित हो पाई है। यहाँ उसी से कुछ सारात्मक वर्णन लक्ष्य की वर्णनात्मक विशिष्टता का परिचय देने के अभिप्राय से, उद्धृत किये जा रहे हैं —

घूसर, वीरान अन्तहीन प्रान्तर।
पतिता भूमि परती जमीन वन्ध्या धरती।

'धरती नहीं धरती की लाश जिस पर कफन की तरह फैली हुई हैं—बालू चरों की पंक्तियाँ। उत्तर नेपाल से शुरू होकर, दक्षिण गंगातट तक पूर्णिया जिले के नक्शे को दो असम भागों में विभक्त करता हुआ—फैला फैला यह विशाल भू भाग। लाखों एकड़ भूमि जिस पर सिर्फ बरसात में क्षणिक आशा की तरह, दूब हरी हो जाती है। संभवतः तीन चार सौ वर्ष पहले इस अंचल में कोसी मैया की यह विनाशलीला हुई होगी। लाखों एकड़ जमीन—एक विशाल भूभाग हठात् कुछ से कुछ हो गया होगा! सफेद बालू से, कूप तालाब नदी नाले पट गए! मिटती हुई हरियाली पर हल्का बादामी रंग धीरे धीरे छा गया। कथा होगी अवश्य इस परती की भी। व्यथाभरी कथा वन्ध्या धरती की![1]

इस भाँति यद्यपि परती परिकथा का प्रारम्भ गहन अवसाद की छाया में होता है किन्तु उसका अन्त, एक आशावादी नवविहान में होता है। कोसी-योजना के

---

१ परती परिकथा (श्री फणीश्वरनाथ रेणु) पृष्ठ १ (प्र[illegible] प्रकाशन १९५७ ई०) (राजकमल प्र[illegible]नी)।

कारण, परती धरती के कायाकल्प होने की रूपरेखा बनती है। लोकनाट्यकार इसी को रूपक-द्वारा रंगमंच पर प्रस्तुत करते हैं। उसी समय की इस महा उपन्यास की अंतिम झांकी की वर्णनात्मक छवि, इस भांति अंकित की गई है —

'दशकों की आंखों में तरल तरंग ! आनंदोल्लास ! काशका महारानी कौन ? ताजमनी ? 'रेशमी पटोर मया फाडि के फेंकाउनी सोना के गहनवा मया गाव में बटाउली। छम्म छम्मा। घर घर कांदे धरती मैया। एक दीप टिमटिमा उठा। उजाला हुआ। दुलारीदाय? मलारीदाय ? दोनों रे, बहिनियाँ रामा गला जोड़ी बिलखय ! प्राणों के नये नये रंग उमरेंग। वीरान धरती का रंग बदल रहा है धीरे धीरे हरा, लाल पीला बैंगनी हरे हरे खेत ! परती पर रंग की लहरें सेमलवनी के आकाश में अबीर गुलाल उड़ रहा है। आसन्न प्रसवा धरती हँस कर करवट बदलती है !' [१]

जिस शुभ घड़ी में आचार्य श्री हजारीप्रसादजी द्विवेदी ने, उपन्यास रचना में हाथ लगाया, वह हिन्दी साहित्य एवं हिन्दी उपन्यास विधा की वर्णनात्मक गरिमा की दृष्टि से, एक मांगलिक घड़ी थी। उनकी 'बाणभट्ट की आत्मकथा' हिन्दी उपन्यासों की सहस्रावधि पंक्ति में अकेली खड़ी थी और पाठकों को पर्याप्त हर्ष एवं विस्मय प्रदान करती थी। किन्तु यह बात थी आज से लगभग १८ वर्ष पहले की और लोगों ने शायद मान लिया था कि अब द्विवेदीजी उपन्यास लेखन के जगत में सम्भवतया और प्रयत्न नहीं करेंगे। पर सन १९६३ ई० में लगभग एक दशक के अंतर के बाद उन्होंने, अपने पाठकों और समीक्षकों को एक और आश्चर्यजनक धक्का दिया। 'चारु चन्द्रलेख' (१९६३) उपन्यास, न केवल हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में, वर्णनात्मक गद्य महाकाव्य शैली में, एक नई उपलब्धि है वरन उसने प्रायः सभी प्रकार की विविध शैलियों में एवं विभिन्न भाषाओं में उपन्यास रचने वाले, नये पुराने उपन्यासकारों के सम्मुख, एक चुनौती भी रखी है। यहां हम एक साथ वर्णनात्मक वैभव और साहित्यिक गहराई, वाग्विदग्धता और का यशास्त्र विनोद, इतिवृत्त और लोकवृत्त, धर्म और संस्कृति तान्त्रिक सिद्धियें काल्पनिक रस विश्व, यथार्थवादी आधुनिक चुनौतियां और आंचलिक परिवेश की छटाएं प्रकृति पट की रोमांचवियें और बत्तीस लक्षणयुता, मंगल मूर्तिसम, शालीन रूपसियें सभी एक स्थल पर देखने को मिल जाती हैं और पाठक हैरान और हक्का-बक्का, इस परम रोचक, परम रमणीय एवं वर्णनकला के वैभव से परम मनोरम, कथा को पढ़ने में निमग्न सा हो जाता है।

'चारु चन्द्रलेख' वास्तव में, वर्णनात्मक कलाभिराम उपन्यास शैली की, एक अत्यन्त उच्चतम उपलब्धि है और इस दृष्टि से वह पृथक एवं विशेष अध्ययन की

---

१ 'परती परिकथा', पृष्ठ ५२६ तथा ५२८

अपेक्षा रखता है, जो यहाँ सम्भाव्य नहीं है। इस चिरस्मरणीय उपन्यास से, प्रारम्भ के वर्णनांश भी, लेखक की विलक्षण एवं कलाभिभूषित वर्णन शैली का आभास करा देने में समर्थ है, यथा —

'इस घोर जंगल में, मैं क्या देख रहा हूँ ? जिसे मैंने लाल पल्लवों वाली लता समझा था वस्तुतः वह एक अपूर्व सुन्दरी देवबाला थी। उसके कौसुम्भी वस्त्रों को देख कर, मुझे लाल लाल किसलयों का भ्रम हो गया था। उसके एक हाथ में थाली थी, दूसरे में भृंगार। मृगछौना उसकी साड़ी में मुँह छिपा कर, इस प्रकार सो गया था जैसे भयग्रस्त बालक माँ की गोद में सो जाता है। मुझे समझ में नहीं आता कि मैं क्या देख रहा हूँ। ध्यान से देखा तो उसकी साड़ी फटी हुई थी उसके पैरों में जाने कितने काँटे लगे हुए थे और वह व्याकुल भाव से मेरी ओर देख रही थी। क्या देख रहा हूँ ? क्या कोई दूसरा स्वप्न है ? इस घने जंगल में भरी दोपहरी में, जहाँ मनुष्य तो क्या, जंगली जानवर भी नहीं दिखाई दे रहे हैं, वहाँ यह अपूर्व सुन्दरी कहाँ से आ गई ! मुझे रंचमात्र भी सन्देह नहीं रहा कि यह कोई वन देवी है। मैंने हाथ जोड़ कर अपराधी भाव से कहा —

देवि ! अपराध मार्जित हो !'[1]

अष्टम प्रकरण

हिन्दी उपन्यास-साहित्य का शैलीगत वर्ग विभाजन और उसकी वर्णनात्मक विवेचना

हिन्दी उपन्यास साहित्य के इस विहंगम पर्यवेक्षण से यह तथ्य तो सुस्पष्ट हो ही जाता है कि भारत की आद्य औपन्यासिक कृतियों से लेकर, आधुनिक हिन्दी उपन्यास साहित्य तक, औपन्यासिक रचना की मुख्य प्रवृत्ति वर्णनोन्मुख एवं वर्णन प्रिय रही है। किन्तु उपर्युक्त सर्वेक्षण में कुछ वर्गों अथवा शैलियों के उपन्यासों को विशेष महत्व प्रदान किया गया है तथा कुछ वर्गों एवं शैलियों की औपन्यासिक कृतियों को अपेक्षाकृत कम स्थान दिया गया है और उनके महत्व को भी अधिक नहीं स्वीकारा गया है। प्रकट रूप से, समीक्षात्मक सर्वेक्षण की यह पद्धति अपनाने का कारण यही है कि कुछ विशिष्ट प्रकार एवं प्रकृति के उपन्यास वर्गों में वर्णनों का बाहुल्य रहता है और कुछ वर्गों अथवा शैलियों में रची गई औपन्यासिक कृतिएं, अपेक्षाकृत वर्णन विरल पाई जाती हैं। फिर भी उनका हिन्दी उपन्यास साहित्य में जो ऐतिहासिक एवं प्रवृत्तिगत अथवा शैलीगत महत्व है उससे इन्कार नहीं किया जा सकता। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए यदि हम समग्र हिन्दी उपन्यास साहित्य

---

१ 'चारु चन्द्रलेख' (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) अध्याय १ पृष्ठ १६ (प्रथम प्रकाशन १९६३ ई०) (प्रकाशक राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली ६)।

का एक बार पुन वणनात्मक परीक्षण कर डालें तो उपयुक्त विषयय का अनेक अशो म समाधान हो जायेगा।

उदाहरणाथ इस समग्र हिन्दी उपन्यास साहित्य की आद्य उपन्यासिका 'उदमान चरित' अथवा 'रानी केतकी की कहानी' को उसके आधुनिक उपन्यास रूप से इतना भिन्न होने पर भी, इतना अधिक महत्व दिया गया है। शली अथवा वग-विभाजन की दृष्टि से हम इसे रोमानी' कोटि म पायगे। किन्तु 'रानी केतकी की कहानी' केवल 'रोमानी' कृति ही नही है, यद्यपि उसका मूलाधार विशुद्ध 'रोमास' तत्व ही रहा है। इस उपन्यासिका के मजे हुए कथाकार एव कलाकार 'इशा', एक सहृदय सरस कवि भी थे अत लेखक की भावप्रवण रसात्मकता, पाठक को आद्योपान्त अभिभूत किये रहती है। इस दृष्टि स इशा की कृति ने न केवल हिन्दी उपन्यास मे 'रोमानी कोटि के उपन्यासो का सूत्रपात किया है वरन साथ ही, उसने 'भावना प्रधान' उपन्यासो का भी प्रवतन किया है। वणनात्मक कला की दृष्टि से तो वह एक अनुपम मणि-जटित चन्द्रहार सी ही जान पड़ती है।

उपर्युक्त 'भावना प्रधान रोमानी उपन्यास, कोटि ने हिन्दी उपन्यास म आद्योपान्त विकास एव उन्मुक्त विलास पाया है। इशा' की कृति से प्राय एक शती पश्चात (सन १८८५ ई०) में रची गई एक अन्य भाव विभोर औपन्यासिक कृति 'श्यामास्वप्न' भी इस दृष्टि से अविस्मरणीय बन पडी है। उसके रचयिता ठा० जगमोहन सिंह ने प्रकृति के मनोरम अचल म बसे दण्डकारण्य प्रदेश मे अपना कथासूत्र प्रारम्भ किया है—'जहाँ की निर्झरिणी के तीर, वानीर से घिरे मैं कहाँ तक इस सुन्दर देश का वणन करूँ ? आदि पक्तियाँ, चिरकाल तक पाठक की हृतन्त्री को झकृत करती रहती हैं।

एक बहुधा विस्मृत किन्तु निजी विशिष्टतायुक्त उल्लेखनीय वणन प्रधान उपन्यास 'सुन्दर सरोजिनी (सन १८९३ ई०) म भी इशा' की रोमानी शली को, और अधिक आधुनिक परिवेश मे, अपनाया गया है। इसम हिन्दी उपन्यास साहित्य में सवप्रथम हम सागर वणन का चाक्षुष चित्रण पाते हैं। ठाकुर जगमोहनसिंह ने प्रकृति वणन का अपने उपन्यास के प्रारम्भ के लिए उपयोग किया है जबकि सुन्दर सरोजिनी' कार प० दवीप्रसाद शर्मा उपाध्याय ने सागर वणन का उपयोग, कथा के उत्तराध को अधिकाधिक कुतूहलपूण बनाने के हेतु किया है।

उपयुक्त भावना प्रधान रोमानी उपन्यास शैली को और आगे चल कर श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध' ने अपनी कलात्मक साहित्यिक गरिमा से विभूषित किया। उनकी प्रथम औपन्यासिक कृति 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' (सन १८९९ ई०) उन्नीसवी शताब्दी क अवसान एव बीसवी शताब्दी के विहान की युगसन्धि मे रचीगयी थी। उनका दूसरा विशिष्ट वणन समृद्ध उपन्यास 'अधखिला फूल (सन् १९०७ ई०

भी अपने मनोरम वर्णनों के कारण चिरस्मरणीय रहेगा। प्रकृति की मनोरम शोभा समृद्धि, एवं भावनापूर्ण अनुभूति का मानव जीवन के साथ जिस कलापूर्ण वर्णन कौशल से समन्वय किया गया है, उसके कारण एक प्रकार से श्री 'हरिऔध' ही उपर्युक्त भावना प्रधान रोमानी उपन्यास शैली के उत्कृष्ट उन्नायक माने जायेंगे। श्री चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' का महान वर्णन प्रधान रोमानी एवं भावावेश से ओतप्रोत 'बृहत् उपन्यास मंगलप्रभात' (सन १९२५ ई०) एक प्रकार से अनुपमेय कृति है। उसकी वर्णन कला भाषा एवं भावों की जटिलता के कारण कहीं कहीं दुरूह हो गई है अतः पाठकों के शुद्ध मनोरंजन की दृष्टि से वह यथावदा रसात्मकता में बाधक हुई है। तथापि उपर्युक्त उपन्यास कोटि के विकास में श्री हृदयेश का अपना निजी स्थान एवं गौरव है। प्रकृति के एक से एक रम्य एवं भव्य दृश्यों की ऐसी वर्णनात्मक चित्र पटी कथारूप में सजाई गई है कि वह पृथक् एवं विशद विवेचना की ही अपेक्षा रखती है।

उपर्युक्त भावना प्रधान रोमानी उपन्यास कोटि ने हिन्दी उपन्यास के वर्णन वैभव एवं वर्णनात्मक कलापरक विकास के और भी अधिक गौरवशाली कीर्तिमान स्थापित किये हैं। इस शैली के अत्यधिक प्रख्यात कलाकारों में से श्री जयशंकर प्रसाद, श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, श्री चतुरसेन शास्त्री एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि महानतम उन्नायकों में गिने जायेंगे। विशुद्ध रोमानी रंग के कारण निराला' के उपन्यास अप्सरा (१९३० ई०), अलका' (१९३३ ई०) तथा प्रभावती (१९३६ ई०) बहुत सरल एवं प्राञ्जल वर्णन-कला के उदाहरण माने जायेंगे। श्री जयशंकर प्रसाद रचित तितली (१९३३ ई०) में अनेकानेक प्रकृति वर्णन चित्रात्मक दृश्यपट शैली की उत्कृष्ट उपलब्धि हैं। श्रीमती उषादेवी मित्रा रचित उपन्यास — पिया (१९२७) वचन का मोल (१९३६ ई०) एवं जीवन की मुस्कान (१९३६ ई०)— रोमानी एवं भावनामयी गद्यकाव्य प्रधान वर्णनात्मक शैली की भावविभोर परिणति माने जायेंगे। उन सभी में कथा में आई हुई घटनाओं का रूपक प्रणाली द्वारा वर्णित किए जाने की विशिष्टता भी पाई जाती है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री एवं आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के प्रखर पाण्डित्य पूर्ण कल्पना वैभव के कारण उपर्युक्त भावना प्रधान रोमानी उपन्यास शैली ने जो विलक्षण चमत्कारपूर्ण आयाम प्राप्त किये हैं उनका सार रूप में अनुमान कराया जाना भी सम्भव नहीं जान पड़ता। आचार्य चतुरसेन शास्त्री को कुछ विवेचकों ने ऐतिहासिक उपन्यासकारों की श्रेणी में रखा है किन्तु उन्होंने स्वयं ही अपनी विलक्षण कृति वैशाली की नगरवधू की विस्तृत भूमिका में ऐतिहासिक कथानकों के समावेश का उपन्यास के रूपशिल्प में उपयोग मात्र 'इतिहास रस' की अवतारणा ही माना है। अतीत में, मानव के सहज रोमानी कुतूहल का उपयोग, वे अपनी विलक्षण कल्पना प्रधान वर्णन प्रतिभा के माध्यम मात्र के रूप में करना चाहते हैं और उसम

उन्हें उल्लेख्य सिद्धि प्राप्त हुई है। आचार्य चतुरसेन की वर्णन शैली मे रोमानी कल्पना, साहसिक अय्यारी एव जासूसी तथा विचित्र चमत्कारपूर्ण घटनाक्रम के अवतरण को भी, वर्णनक्षम भाषा के प्रबल सामर्थ्य के बल पर, सफलतापूर्वक समाविष्ट किया गया है।

इसके विपरीत आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी की रोमानी एव भावपूर्ण शैली ने उच्चकोटि की औपन्यासिक सिद्धि प्राप्त की है। अपने तलस्पर्शी अध्ययन एव साहित्यानुशीलन द्वारा उन्होंने न केवल श्रेष्ठ पुरातन सस्कृत एव प्राकृत उपन्यासकारो की वर्णन भगिमाओं को अपने उपन्यासो मे सफलतापूर्वक समाविष्ट किया है वरन् उन्होने अतीतकालीन सामाजिक एव सास्कृतिक जीवन का वर्तमान के सन्दर्भ म नवीनीकरण भी किया है। श्री द्विवेदीजी भी मुख्यतया एक रोमानी उपन्यासकार हैं। उनकी भाव प्रवणता, सयमित एव शीलान्वित है। उनकी कल्पना, कला की सूक्ष्मतम बारीकियो एव रगीनियो से इन्द्रधनुषी छवि धारण करती चलती है। वर्णन प्रतिभा के वे आश्चर्यजनक रूपेण धनी हैं। इसीलिए उन्होंने अपने कथानको के लिए बाण जसे वर्णन प्रतिभ कथा नायको को चुना। जगनिक एव चन्द बरदाई जैसे महाकाव्यकारो की वर्णन प्रतिभा से उन्होने रचनात्मक प्रेरणा ग्रहण की और नत्य, सगीत चित्रकला एव प्रसाधन कला के उच्चतम वर्णनो से उन्होने अपने उपन्यासों को प्रतिमा मण्डित किया। जिस प्रकार अनानोत ख स घटनाओ का अन्धड बहाते चलते हैं श्री द्विवेदाजी रूपछवि वर्णनो को एक विलक्षण अव्याहतहीन प्रवाहशीलता प्रदान करते हैं। चारु चन्द्रलेख उपन्यास के प्रारम्भ म आया हुआ लम्बा एव मनोरम रूपछवि वर्णन उनके समग्र उपन्यास साहित्य म अनूठा बन पड़ा है, जिसमे कि विद्वान एव भावुक प्रतिभासम्पन्न कथाकार ने अपने उपन्यास की प्रधान नायिका 'चन्द्रलेखा' की रूपछवि का वह अविस्मरणीय वर्णन प्रस्तुत किया है जिससे कि हिन्दी उपन्यास का यह सर्वेक्षण सपूर्ण किया ही गया है। इस भाति 'इशा' के 'उदमान चरित' से लेकर श्री द्विवेदीजी रचित चारु चन्द्रलेख तक हिन्दी उपन्यास की रोमानी भावपूर्ण शैली ने, लगभग पौने दो शताब्दियो के अवान्तर म विलक्षण वर्णन विलास एव वर्णन विकास प्राप्त किया है।

हिन्दी उपन्यास के आदिकाल मे उपर्युक्त रोमानी एव भावपूर्ण उपन्यास शैली के अतिरिक्त विद्वान समीक्षको ने अनेक अन्य कोटियो का भी निरूपण किया है यथा 'सामाजिक' 'एतिहासिक', 'पारिवारिक' (गार्हस्थिक), मनोरजन प्रधान, 'लोककथा आधारित', पुरातन आख्यानो से प्रेरित आदि। किन्तु इन सभी शैलियो के उपन्यासो ने अपने प्रारम्भिक काल म वर्णनात्मक कला के विकास म उतनी सफलता नहीं पाई कि उन्हें उपन्यास विधा को 'साहित्यिक श्रेणी म प्रतिष्ठित किया जाता। वस्तुत इन सभी शैलियां अथवा कोटियो न आगे चल कर बीसवी शती के प्रथम एव द्वितीय चरण म ही उपयुक्त एव सपूर्ण विकास प्राप्त किया है।

जिन उपन्यास-कोटियों ने, हिंदी उपन्यास के आदिकाल मे ही, वर्णनात्मक गरिमा प्राप्त करली थी उनमे वे 'मात्र मनोरंजन के उद्देश्य से रचित' 'कल्पना प्रधान' एव घटना प्रधान शैलियाँ ही मुख्य मानी जायेंगी जिन्हें हम तिलस्मी, 'अय्यारी' एव 'जासूसी' उपन्यास शैलियों के नाम से अभिहित करते हैं। उपर्युक्त कोटियों के उपन्यासों की रचना प्रक्रिया मे कल्पना शक्ति एव कल्पना प्रतिभा का चमत्कार, दर्शनीय है। इन शैलियों के उपन्यासकार, वर्णनकला मे तो पारगत हैं ही साथ ही वे अपनी विलक्षण कल्पनापरक प्रतिभा द्वारा अपने पाठकों के समक्ष, एक ऐसे कल्पित किन्तु कुतूहल प्रधान विश्व की पुनरचना मे भी समर्थ हैं जिसके लिए जन्मजात कल्पनाशीलता एव वर्णन प्रतिभा अनिवार्य गुण माने जा सकते हैं। हिन्दी उपन्यास की प्रथम शती मे इस कल्पना प्रतिभा का बाहुल्य, सर्वत्र ही दृष्टिगोचर होता है। किन्तु यह कल्पनात्मक प्रतिभा, किस भाँति वर्णन कला मे परिणत होती रहती है यह स्वय मे एक परिशोधनीय तथ्य है। यह रचनात्मक अथवा सर्जनात्मक कल्पना प्रक्रिया प्राय समग्र प्रथम कोटि के साहित्य की जननी एव धात्री है। फिर भी मन की उडान और कल्पना की निर्बाध त्वरित यात्रा की दृष्टि से, यह सर्जनात्मक कल्पना प्रक्रिया उपन्यास विधा मे ही अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ अवतरित एव प्रतिफलित होती है। यह सर्जनमयी मानस प्रक्रिया, ऐसे ऐसे विलक्षण वर्णनों की सृष्टि करती चलती है जिनके समान वास्तविक अथवा यथार्थ रूप अथवा दृश्य इस पार्थिव जगत मे भी यत्र-तत्र बिखरे हुए मिल सकते हैं। फिर भी भौगोलिक अथवा ऐतिहासिक इकाइयां होने के अतिरिक्त इन वर्णनात्मक विवरणों का रूप पर्याप्त 'मायावी' अथवा 'कामरूप' होता है। अत उन्हें हम उनके पार्थिव समान रूपों से समान जानते हुए भी, एक विचित्र एव विलक्षण नवरूप मे देखते हैं, जो समान होकर भी, 'असमान' से जान पडते हैं।

इस सर्जनात्मक कल्पना की विविध प्रक्रियाओं को समझाते हुए मनोविज्ञान के अन्वेषकों ने हमे बताया है कि मानव कल्पना के दो प्रमुख रूप स्पष्टतया परिलक्षित होते हैं— 'मौलिक कल्पना' जो हम प्रकृत्या उपलब्ध है तथा 'उत्तरजात कल्पना' जो हमारी मौलिक कल्पना क्रिया मे अपनी कलापरक अथवा सौन्दर्यपरक सस्कारमयी रुचि के अनुकूल यथारुचि हेरफेर करती रहती है। विद्वानों का कहना है कि 'यथार्थ जीवन में निरन्तर सम्पर्क एव व्यक्तिगत लगाव के कारण हमारी दृष्टि विकृत हो जाती है और उससे पदार्थों पर मानो, 'अरोचकता' की तह जम जाती है। असुन्दरता के इसी 'बाह्य आवरण' को विनष्ट करने की अपूर्व शक्ति 'उत्तरजात कल्पना' मे ही निहित होती है।'[1]

---

१ 'साहित्य सिद्धात' (डा० रामअवध द्विवेदी), अध्याय ६, पृष्ठ १०२। प्रकाशक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।

यही नही 'उत्तरजात कल्पना', अकस्मात दृश्यो को उद्दीप्त कर देती है, और वे हमे विशेष आकर्षक जान पड़ने हैं।' यह मत था आग्ल महाकवि वर्ड्सवर्थ का जिसकी कृतियाँ में साधारण दृश्यपटो एव अति सामान्य पदार्थों को, उद्दीप्त एव अनुरजित कर देने की, विलक्षण प्रतिभा थी। यही प्रतिभा, हमारे महानतम छायावादी कवियो एव सर्वोत्तम उपन्यासकारो की कृतियो म, सवत्र ही बिखरी हुई दिखाई देती है। श्री रामअवध द्विवेदी की तो यह भी धारणा है कि हमारे प्राचीन आचार्यों के अभिमतो एव रस सिद्धान्त की प्रस्थापना म भी, मानव मन के इस 'कल्पना' पक्ष पर विचार किया गया है। उनके अनुसार 'इस समस्या को सुलझाने के लिए आरोप, अनुमान, भावकत्व भोजकत्व, अभिव्यजना आदि विभिन्न काव्य व्यापारों को मान्यता प्रदान की गई है। रससिद्धान्त मे जिन भावनाओ की चर्चा की गई है और जिनको अपूर्व महत्त्व प्रदान किया गया है, उनके अन्तराल तथा परिपार्श्व मे विद्यमान रह कर, अपना अद्भुत काम करने वाली वह विधायिनी शक्ति कदाचित कल्पना ही है। कल्पना को हम रस सिद्धान्त का आधारभूत तत्व मान सकते हैं ।'[1]

हमारे प्राचीन साहित्य शास्त्रियो ने भी, कल्पना शक्ति के चमत्कारी पर बहुत पहले ही विचार किया है। उन सभी मे आचार्य रुद्रट ने तो उपयुक्त 'सजनात्मक कल्पना का 'उत्पाद्या प्रतिभा' कह कर पहले ही नामकरण भी कर दिया है। सक्षेप मे उपयुक्त आचार्यों ने, जहाँ कही भी कल्पना प्रक्रियाओ की चर्चा की है, बहुधा उसे 'प्रतिभा' पद के अन्तर्गत ही अन्तर्भुक्त कर लिया है। 'काव्य प्रकाश' कार आचार्य मम्मट ने काव्य अथवा साहित्य के प्रधान हेतु के रूप म, 'प्रतिभा' को मान्यता प्रदान की है और शक्ति व्युत्पत्ति, और अभ्यास को इस प्रतिभा या कल्पना के पोषक तत्व माने हैं। पडितराज जगन्नाथ ने साहित्यकार की सजनात्मक प्रतिभा को 'केवला प्रतिभा' कहा है। उनकी प्रतिभा की इस प्रख्यात परिभाषा से सभी साहित्य-शास्त्रविद सुपरिचित हैं ही—'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता'।

हिन्दी उपन्यास साहित्य मे जिन अत्यन्त प्रतिभा सम्पन्न आद्य उपन्यासकारो ने उपयुक्त 'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा' का उपन्यास रचना मे विलक्षण प्रयोग किया उनमे चन्द्रकान्ता कार श्री देवकीनन्दन खत्री का नाम सर्वोपरि स्मरण हो आता है। श्री जयशकर प्रसाद' की भाँति श्री खत्री भी एक सम्पन्न व्यापारी परिवार मे जन्मे थे और सयोगवश वे अपनी गया स्थित कोठी' का कारोबार देखने के उपरान्त काशी चले आये और उन्होने काशी-नरेश से, चकिया और नौगढ के सघन जगलो का ठेका लिया। इस प्रसग मे वे इस रमणीक प्राकृतिक प्रदेश मे यत्र तत्र बहुत घूमे फिरे। अनेक पुरातन दुर्गों एव ध्वसावशेषो से जहाँ तहाँ जडे हुए,

---

१ 'साहित्य सिद्धान्त' (डा० रामअवध द्विवेदी), पृष्ठ १०८।

इस विजन प्रदेश के विचित्र परिवेश ने, उनमे एक अनूठी कथा सृष्टि की प्रेरणा जाग्रत की। चुनार, नौगढ आदि पुराने ऐतिहासिक स्थल अनेकानेक दन्तकथाओ एवं लोक कथाओं मे अनुश्रुत थे ही। खोह घाटियां सघन वन, निर्झर गुफाएँ वन्य फल फूल सभी यहां आसपास बिखरे पडे थे। उन्होंने उन्हीं की अपनी विलक्षण सृजनात्मक प्रतिभा द्वारा नूतन पुनसृष्टि कर डाली। 'चन्द्रकान्ता' एवं उसकी परवर्ती औपन्यासिक कृतियों ने इस भांति हिन्दी उपन्यास साहित्य में उस कल्पना प्रधान रोमानी शैली का प्रवर्त्तन किया जिसे हम बहुधा तिलस्मी एवं अय्यारी के ओपन्यासिक ह-के फु के नामों से स्मरण करते हैं।

इसी काल मे श्री गोपालराम गहमरी भी एक अन्य कल्पना समृद्ध उपन्यास कार हुए, जिन्होंने हिन्दी उपन्यास-साहित्य में जासूसी उपन्यास परम्परा का प्रवर्त्तन किया। उन पर भी अनेक अंशो मे श्री खत्री की वर्णन शैली का प्रभाव यत्रतत्र देखा जा सकता है। श्री किशोरीलाल गोस्वामी कृत रोमानी शैली मे रचित तथाकथित 'ऐतिहासिक उपन्यासो मे श्री खत्री की तिलस्मी वर्णन शैली का प्रभाव अत्यन्त सुस्पष्ट एवं गहरा दिखाई पड़ता है। उन्नीसवी शती ई० के अंतिम चरण में तथा बीसवी शती के प्रथम दशक में हिन्दी उपन्यास साहित्य में उपर्युक्त कल्पना प्रधान शैली बहुत लोकप्रिय रही। एक प्रकार से आज का विज्ञान प्रसूत उपन्यास साहित्य (साइंस फिक्शन) भी उपर्युक्त पुरानी परम्परा का वैज्ञानिक नवीनीकरण ही माना जा सकता है। विज्ञान के अधुनातम आविष्कारो ने उपन्यासकार की कल्पनात्मक प्रतिभा को अबाध विस्तार दिया है और कितनी ही नव नव कथा शैलियों को भी जन्म दिया है। किन्हीं अंशों में तो हम इस शैली का प्रभाव आचार्य चतुरसेन शास्त्री कृत विख्यात उपन्यास वैशाली की नगरवधू आदि अपेक्षाकृत आधुनिक उपन्यासो में भी देख पाते हैं। अतएव यह वर्णनात्मक विशिष्ट परम्परा, हिन्दी उपन्यास का एक जीवन्त तथ्य मानी जानी चाहिए।

श्री प्रेमचन्द द्वारा प्रवर्तित सामाजिक उपन्यास परम्परा ने हिन्दी उपन्यास साहित्य में पहली बार, ग्रामीण जीवन के विवरणों एवं वर्णनों को, साहित्यिक प्रतिष्ठा प्रदान की। इसका सूत्रपात श्री ब्रजनन्दन सहाय एवं श्री मन्नन द्विवेदी गजपुरी अपने चिरस्मरणीय वर्णनात्मक उपन्यासो— अरण्यबाला एवं 'रामलाल द्वारा पहले ही कर चुके थे। कहना न होगा कि देहाती दुनियां की ओर उपन्यासकारो की लेखनी के इस वर्णनात्मक प्रवर्त्तन का एक प्रत्यक्ष प्रभाव, हमारा आधुनिक 'आंचलिक उपन्यास' भी है जिसने सरल मानव अनुभूतियों से ओतप्रोत एक बहुत कुछ अछूती जगती को सहस्रावधि वर्णन माला द्वारा साकार एवं पुनर्सजित किया है।

ऐतिहासिक उपन्यासों में वर्णनात्मक प्रतिभा किस भांति साहित्यिक रसात्मकता की उच्चतम सीमाओं को छू सकती है। इसका प्रमाण है स्व० श्री वृन्दावनलाल वर्मा

की ऐतिहासिक उपन्यास माला। वर्णन प्रतिमा की उत्कृष्ट एव कलापूर्ण अभिव्यजना के उदाहरण हमें श्री वर्माजी के सभी ऐतिहासिक उपन्यासो म मिल सकेंगे। ऐतिहासिक उपन्यास' कोटि की इस वर्णन-समृद्धि के दो पक्ष स्पष्टतया दृश्यमान हैं—प्रकृति का मानव अनुभूतियो से रागात्मक तादात्म्य तथा प्राचीन ऐतिहासिक स्मारकों एव ध्वसावशेषो के रोमानी वातावरण की रहस्यपूर्ण पुनरावतारणा। श्री वृन्दावनलालजी के उपन्यासो मे हमे इन दोनो प्रकार की वर्णनात्मक सिद्धि के भव्य दर्शन होते हैं। ऐतिहासिक उपन्यासो मे वर्णनात्मक प्रतिभा, न केवल पुरातन ध्वसावशेषों मे अतीत के रोमानी परिवेश की पुनर्सर्जना में कृतकार्य होती है वरन् उसकी सहायता से उपन्यास के पात्र एवं पात्राओं के रूपशील वर्णन मे भी अपूर्व सिद्धि प्राप्त होती है। रूपाकन प्रणाली (पोर्ट्रेचर) की चित्रण-पद्धति अपना कर इतिवृत्तिख्यात पात्रो एव पात्राओ को चाक्षुष प्रतीयमानता प्रदान की जाती है और यही 'उपन्यास रस' की सिद्धि मे निर्णायक सिद्ध होती है।

'मनोवैज्ञानिक' (अथवा 'मनोविश्लेषणात्मक' या 'मनस्तत्व सम्बन्धित) उपन्यासों के अतिरिक्त 'प्रवाहवादी', 'पत्रात्मक', सम्भाषण प्रधान, 'डायरी परक' आदि अनेक उपन्यास शलियो ने हिन्दी उपन्यास म, आधुनिक युग मे, अनेकानेक नूतन प्रयोग हुए हैं और कुछ अब भी किये जा रहे हैं, यद्यपि उनके प्रथम सर्जन उत्साह का आवेश अब बहुत विरल होता जा रहा है। इन सभी उपन्यास शलियो मे वर्णनात्मक प्रतिभा के विकास का अवसर कम मिलता है एव स्वगत भाषण तथा कथावाचकत्व का क्षेत्र कहीं अधिक होता है। स्पष्टतया उपयुक्त कोटियो के उपन्यासो की सर्जना का मुख्य अभिप्राय 'मनोरजन न होकर उपन्यासकार के निजी जीवन दर्शनात्मक आख्यान एव मानव मन की गहराइयो में अवगाहन की मनोविश्लेषणात्मक योग्यता का प्रदर्शन ही, रहा करता है। कथा सुनाने वालो के क्षेत्र म इस भाँति का 'अतिक्रमण' पुरातन युग म धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के प्रचार के लिए किया जाता था और आधुनिक युग म मानव मन सम्बन्धी वैज्ञानिक खोजो तथा आर्थिक एव सामाजिक न्याय के लिए उठाए गये आधुनिक आन्दोलना एव विचारधाराओ के प्रतिपादन के लिए, किया जाता है। व्यक्ति स्वातन्त्र्य की उद्घोषणा, ऐसे उपन्यासो म कभी-कभी 'अराजकता-पोषण' तक पहुँच जाती है। सक्षेप मे साहित्य रचना म 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' की युगप्राचीन मान्यता के विरुद्ध इस भाँति की उपन्यास रचना प्रवृत्तियों को, 'खुला विद्रोह' भी माना जा सकता है।

हिन्दी उपन्यास-साहित्य मे इस शैली के प्रवर्तन का श्रेय, मुख्यत श्री इलाचन्द्र जोशी एव श्री 'अज्ञेय' को दिया जा सकता है। निश्चय ही उनकी उन नवोत्साह युक्त कृतियों में हमें नये आन्दोलन की चेतना एव रचना शली की ताज़गी के दर्शन होते हैं। इसका एक प्रमुख कारण यह भी था कि इन उपन्यासकारों ने, उपन्यास की वर्णन-विशिष्टता को भी समझा था एव उसका यथावसर उत्तम प्रयोग भी किया था।

1020

किन्तु धीरे धीरे श्रीजैनेन्द्रकुमार की अन्तर्मुखी चिन्तन धारा से प्रेरणा लेकर एव पाश्चात्य युग एव फ्रायड के मनस्तात्विक ग्रथो के सूत्रो का ग्रहण करके, अनेक उत्साही उपन्यास कारो ने, इस ओर लेखनी सचालन किया। वे क्रमश अधिकाधिक, हिन्दी उपन्यास की मौलिक प्रकृति से परे हटते गए और वे अग्रेजी भाषा के एक विशिष्ट वर्ग के उपन्यास कारो—यथा—स्टीनबैक, काफ्का, जेम्स ज्वायस तथा वर्जीनिया वूल्फ आदि के उपन्यास साहित्य से अभिभूत होते चले गए। इसका परिणाम यह हुआ कि धीरे धीरे हिन्दी उपन्यास साहित्य में इस 'वर्णन विरल' उपन्यासशैली की नूतनता एव ताजगी भी मुरझाती चली गई और आज वह हमारे उपन्यास साहित्य के विकास की एक कडी मात्र बन कर रह गई है। पाश्चात्य अनुकरण एव प्रेरणा इस घटना में इसलिए विशेषतया उत्तरदायी बनी कि भारतीय जनसाधारण के जीवन में अभी भी अमेरिका एव यूरोप की वे विषम सामाजिक परिस्थितियाँ नही उत्पन्न हो पाई हैं जिन्होने वहाँ के लोकमानस को, सर्वथा अनास्थावादी एव भ्रान्त बना डाला है। इस प्रकार के सप्रयास औपन्यासिक प्रयोग, हिन्दी उपन्यास, क्षेत्र में इसीलिए एक आरोप का आभास देते हैं।

आचार्य श्री रामअवध द्विवेदी जैसे कुछ साहित्य मर्मज्ञो ने उपर्युक्त मनो वैज्ञानिक औपन्यासिक प्रवृत्तियो में पुरावृत्त के ही आदि भ्रूण देखे हैं। उन्होने यह भी बताया है कि किस भाँति हिन्दी साहित्य में पुरावृत्त कथाओं की सफल नियोजना हुई है। श्री रामअवध द्विवेदी का निश्चित मत है कि 'आज के हिन्दी मनोवैज्ञानिक उपन्यासो मे भी पुरावृत्त का पुट मिलता है। कदाचित फ्रायड और युग की नई खोजो से प्रभावित होकर हमारे उपन्यासकार पुरावृत्त की ओर अधिकाधिक झुक रहे हैं।'[1]

पुरावृत्त से प्रेरित प्राचीन भारतीय साहित्यिक परम्पराओं में प्रतिबिम्बित स्वप्नो प्रतीको एव बिम्बो का बडा महत्व है। इस भाँति जब आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार, उपर्युक्त रहस्यात्मक तत्वो की सूक्ष्म प्रतिक्रियाओ को अपने उपन्यास साहित्य में उतारते हैं तो वे सम्पूर्णत पाश्चात्य प्रभाव के आरोप के दोषी नही माने जा सकते। केवल सप्रयास शैली अनुकरण ही उनकी रचनाओ में पाश्चात्य प्रभाव का सूचक है। अब हिन्दी उपन्यास में वर्णन विरहित मनोवैज्ञानिक उपन्यास धारा की परम्परा को छोड कर एक नवीन वर्णन प्रधान परम्परा का उदय हो रहा है। श्री अमृतलाल नागर कृत 'अमृत और विष' इस सम्बन्ध मे सफल रचना मानी जा सकती है जिसके उपसहार में उपन्यास लेखक के पुत्र के दुर्घटनाग्रस्त होने की रहस्यमय सूचना उसकी माता के अकस्मात् चाय पीते पीते जीभ के झुलस जाने के प्रतीक द्वारा अभिव्यञ्जित की गई है। इसी शैली का पूर्वप्रवर्त्तन श्री रागेय राघव एव

---

१ साहित्य सिद्धान्त (डा० रामअवध द्विवेदी), अध्याय १२ पृष्ठ १४२।

श्री भगवतीचरण वर्मा भी किन्हीं अर्थों मे कर चुके हैं। श्री भगवतीचरण वर्मा-कृत 'सामर्थ्य और सीमा' की मुख्य अन्तर्चेतना—रोहिनी नदी के प्रतिशोध एव नाहरसिंह के मन मे उसके पूर्वाभास द्वारा, बडे ही वर्णन कौशल द्वारा समझाई गई है। इस भाँति यह तथ्य भी स्पष्टतया उभरता आता है कि यदि हिन्दी उपन्यास को अपनी मनोवैज्ञानिक विशिष्टता को बनाए रखना है तो उसे वर्णन विरलता का परित्याग करना होगा एव वर्णनकला का उत्तमोत्तम समावेश करते रहना होगा।

पत्रो के रूप मे कथा-कथन, एक नवीनता अवश्य है किन्तु वह केवल गद्य काव्य का ही एक औपन्यासिक रूपान्तर प्रयोग मात्र माना जा सकता है। 'उग्र'-लिखित 'चन्द हसीनो के खुतूत' के पश्चात् कोई भी 'पत्र शैली उपन्यास' समग्र रूप मे प्रस्तुत नहीं हो पाया। 'सम्भाषण' नाटक का प्राण है। उपन्यास मे वह कला विमुख प्रयोग है एव प्रसिद्ध है कि श्री प्रेमचन्द जैसे रससिद्ध उपन्यासकारो के उपन्यास तक, कहीं कही अपने लम्बे सभाषणों के कारण रसभग प्रस्तुत करने वाले हो जाते हैं। डायरी परक उपन्यास भी मन चिन्तन एव वैयक्तिक अनुभूति के नूतन प्रयोग मात्र माने जायेंगे। वस्तुत उपर्युक्त सभी उपन्यास कोटियो की कथ्य-वस्तु, उपन्यास विधा की अन्तरग धारा, वर्णन कला अभिव्यजना के अनुकूल नहीं पडती। व्यक्तिगत आत्म निवेदन अथवा दार्शनिक सिद्धान्त प्रतिपादन की साधक एव रससिद्ध अभिव्यजना के लिए, 'महाकाव्य' अथवा 'मुक्तक काव्य' के साहित्य रूप, अधिक उपयुक्त हैं।



वर्णनात्मक कला की दृष्टि से, उपन्यास सृजन का, विशाल दृश्यपट पर अवलोकन करने पर यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है, कि हिन्दी प्रदेश नैसर्गिक दृष्टि से, एक परम रमणीय प्रदेश है। इसमे, हिमालय पर्वत माला, तराई के वन और दल दल, विन्ध्य मेखला का वन प्रान्तर-पार्वत्य प्रदेश, मालवा का पठार, राजस्थान का मरु प्रदेश गगा यमुना, बेतवा चम्बल, नर्मदा ताप्ती, गण्डक-कोसी आदि नदियो के शस्य श्यामल और रम्य अचल—ये सभी चित्र विचित्र प्राकृतिक दृश्यावलियाँ, पाई जाती हैं। यह प्रदेश वाल्मीकि और व्यास से लेकर, कालिदास और बाणभट्ट आदि, सभी महाकवियो द्वारा भूरि भूरि प्रशसित रहा है। इसमे काशी प्रयाग, हरिद्वार मान्धाता, ओंकारेश्वर आदि तीर्थ भी अवस्थित हैं। इसीलिये हिन्दी प्रदेश के उपन्यासों मे, देशकालगत वर्णनात्मक विविधता एव रमणीयता, एक सहज तत्त्व के रूप मे, पुष्पित एव पल्लवित हुई है।

हिन्दी उपन्यास के उदभव एव विकास पर, इतिवृत्तकार की भाँति एक विहगम दृष्टि डालने पर ज्ञात पडेगा कि लगभग १७२ वर्षों मे हिन्दी उपन्यास ने जितनी प्रगति, जितना विस्तार, जितनी कलात्मक सिद्धि, जितना शैली एव वस्तुगत

वविष्य, एव इन सभी से अधिक, जितनी मानव मन को विशुद्ध रजन रमणीयत्व प्रदान करने की क्षमता, प्रकट की है, उसकी तुलना, विश्व के समग्र साहित्यिक इतिहास मे भी दुलभ है। यदि कोई विदेशी साहित्यकार अथवा साहित्य ममन हमसे अचानक पूछ बठे कि आपके देश ने, पिछली दो शतियो म साहित्य के किस क्षेत्र म, सर्वाधिक उन्नति की है ? तो हम नि सकोच उसे तत्काल उत्तर दे सकते हैं—उपन्यास क्षेत्र म !

आचाय रामचन्द्र शुक्ल-कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' से लेकर 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास' के युग तक, न जाने कितने विज्ञजनो ने, उपन्यास विधा के सर्वेक्षण पर, क्या क्या लिखा है ? और क्या नहीं लिखा है ? किन्तु अद्यावधि हिन्दी उपन्यास विधा के व्यवस्थित सर्वेक्षणो के नाते, केवल दो उल्लेख्य कृतियाँ ही सवसाधारण को उपलब्ध रही हैं। एक तो स्व० श्री व्रजरत्नदास कृत 'हिन्दी कथा साहित्य' तथा दूसरी श्री शिवनारायण श्रीवास्तव-कृत 'हिन्दी उपन्यास (ऐतिहासिक अध्ययन)'। *इन दोनों कृतियों को यदि मिला कर पढ़ लिया जाए तो हिन्दी उपन्यास* साहित्य के बारे म, एक कामचलाऊ धारणा बनाई जा सकती है। किन्तु भारतीय उपन्यास-साहित्य के समग्र परिप्रेक्ष्य के बिना, क्या हिन्दी उपन्यास विधा की विशिष्ट गरिमा का कभी उद्घाटन हो पाएगा ? वस्तुत हमारे देश के सास्कृतिक जीवन के किसी भी पक्ष विशेष पर अलग अलग विशद विवेचन सभव ही नहीं है। सस्कृति एव कला के हर क्षेत्र मे हमारी सहस्राब्दिवर्षीय राष्ट्रीय उपलब्धियाँ हैं—उन्ही के परिप्रेक्ष्य मे, पिछले दो सौ वर्षों म जो भी काय हो पाया है उस अखिल भारतीय एव राष्ट्रीय रूप म ही आँका जाना समुचित है।

भारतीय कथा साहित्य के इन दो सहस्र वर्षों मे जिन असख्य एव प्रतिभा शाली उपन्यासकारो ने अपनी सहस्रो औपन्यासिक कृतिएँ बहुमूल्य सास्कृतिक रिक्थ के रूप मे छोडी हैं वे वस्तुत किसी प्रदेश विशेष अथवा अचल विशेष की उपलब्धिया नहीं मानी जा सकती। जसे कालिदास और बाणभट्ट समग्र भारत के थे, उसी भाति हमारे उपन्यासकार भी, सारे भारत की रूपछवि के चित्रण मे रत, उपन्यास गत वणन-योजना मे निरत, रस सिद्ध कलाकार थे। वे उत्तर दक्षिण पूरब पश्चिम, सभी दिशाओं से, भारत की समान पुरातन भाषाओं मे चिरकाल से अपनी अपनी सुमनांजलि अर्पित करते आए थे। आधुनिक भारतीय भाषाओ के विकास के पश्चात सवप्रथम उपन्यास रचना हिन्दी भाषा म हुई। कारण कि हिन्दी प्रदेश को, साहित्य, सस्कृति, एव धम, सभी के केन्द्र स्थान उपलब्ध थे और हिमालय गगा यमुना, और विन्ध्य मेखला सभी ने उसे, अक्षय प्राकृतिक छबिपटियाँ प्रदान की थीं। यह स्वाभाविक ही था कि हिन्दी भाषा मे ही सबसे पहले और सबसे प्रभूत मात्रा मे, उपन्यास रचना होती। किन्तु हिन्दी उपन्यास के उदभव के लगभग

आधी शती पश्चात् ही समग्र भारतीय प्रदेशों मे, अपनी अपनी मातृ भाषाओं मे साहित्य रचना का उत्साह, उमड चला और इस भांति सन् १८५६ ईसवी से, भारत की अनेक प्रादेशिक भाषाओं मे भी, उपन्यास साहित्य की सर्जना, प्रारम्भ हो गई। इस तुलनात्मक विकास और प्रगति को, निम्न तालिका द्वारा कालक्रमानुसार समझा जा सकेगा —

भाषा	प्रथम उपन्यास की रचना तिथि	उपन्यास का नाम	उपन्यासकार
हिन्दी	सन १८०१ ई०	'उदमान चरित' या 'रानी केतकी की कहानी'	श्री इशाअल्लाह् खा 'इशा'
बगला	सन् १८५६ ई०	'आलालेर घरेर दुलाल'	प्यारेचाद मित्र उपनाम 'टेकचन्द ठाकुर'
मराठी	सन १८५६ ई०	'मुक्तामाला	लक्ष्मण मोरेश्वर शास्त्री हळवे
गुजराती	सन १८६४ ई०	सासु बहुनी लडाई'	रावसाहेब महीपतराम
तेलुगु	सन १८७८ ई०	'राजशेखर चरितम्	वीरेशलिंगम
तमिल	सन १८७९ ई०	'प्रताप मुदालियर चरितम	मायावरम एस० वेदनायकम पिल्लै
असमिया	सन १८८० ई०	'सुधमर उपाख्यान	श्रीमती पद्मावती देवी
कन्नड	सन १८८२ ई०	'इन्दिरा'	गुलाबी वेंकटराव
मलयालम	सन १८८६ ई०	'कुन्दलता	टी० एम० अप्पु नेडुगाडी
उडिया	सन १८८८ ई०	पद्ममाली	रमेशचन्द्र सरकार

प्रादेशिक भाषाओ के उपन्यास-साहित्य का सर्वेक्षण

नवम प्रकरण बगला उपन्यास साहित्य की रूपरेखा

भारतीय उपन्यास साहित्य के उद्भव एव विकास की इस महान् गाथा की वर्णनात्मक पुनरावृत्ति के क्रम मे, आधुनिक भारतीय भाषाओ मे उपन्यास विधा के विकास के काल क्रम मे, हम हिन्दी भाषा के पश्चात सर्वप्रथम दो भारतीय आधुनिक (प्रादेशिक) भाषाओं मे, आद्य उपन्यास उपलब्ध होते हैं—बगला एव मराठी। इन दोनो ही भाषाओ मे उपन्यास रचना का तिथिक्रम प्राय समान सा ही रहा है। फिर भी बगला उपन्यास साहित्य की धारा अपने उद्भव एव विकास से ही, अपने सहगामी मराठी उपन्यास साहित्य की अपेक्षा, कही अधिक उत्साह एव

उल्लासयुता रही है। यही नहीं, आधुनिक भारतीय भाषाओं में, उपन्यास विधा के बहुविध प्रयोगों की दृष्टि से भी बंगला उपन्यास, हिन्दी उपन्यास से प्रायः होड लगाता सा जान पडता है। मराठी भाषा एवं साहित्य में आज भी, उपन्यास रचना, प्रथम कोटि के साहित्य व्यापार की प्रतिष्ठा प्राप्त करने में, अकृतकार्य ही रही है तथा रंगमंच एवं काव्य की अपेक्षा विद्वज्जनों में, उसका सम्मान, आज भी पर्याप्त गरिमामय नहीं हो पाया है। इन्हीं इतिवृत्तात्मक एवं तुलनात्मक परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए, हिन्दी उपन्यास साहित्य के सर्वेक्षण के पश्चात् बंगला उपन्यास में वर्णनात्मक कला के विकास पर ही सर्वप्रथम एक विहंगम दृष्टिक्षेप, आवश्यक जान पड़ता है। वैसे यह तथ्य तो बारम्बार दुहराया ही जा चुका है कि भारतीय उपन्यास विधा की सबसे सशक्त समान एवं योजक, रिक्थ परम्परा—संस्कृत उपन्यास परम्परा ही रही है। बंगला साहित्य के विद्वानों ने इस तथ्य को स्पष्टतया और साभार स्वीकार भी किया है।

आधुनिक भारतीय भाषाओं में, हिन्दी भाषा के पश्चात, (भाषा एवं साहित्य दोनों ही की दृष्टि से) सर्वाधिक समृद्ध भाषा, बंगला ही है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की ओर से पिछले दिनों विश्व भाषाओं का उनके बोलने वालों की संख्या की दृष्टि से, सर्वेक्षण किया गया था, उसके अनुसार भी, आधुनिक भारतीय भाषाओं में केवल दो भाषाओं की गणना, विश्व की सर्वाधिक बोली जाने वाली बारह भाषाओं में की गई है, वे हैं—हिन्दी और बंगाली। तदनुसार, हिन्दी भाषा का स्थान, चतुर्थ एवं बंगला भाषा का स्थान अष्टम माना गया है।

आचार्य जगदीशचन्द्र घोष (जो अपने समय के सब से बड़े साहित्य ममज्ञ विद्वान माने जाते थे), अपने सुप्रसिद्ध बंगला साहित्य ('बंगाली लिटरेचर' नामक आंग्ल भाषा में लिखित एवं आंग्लदेश में मुद्रित प्रकाशित) ग्रन्थ में लिखते हैं —

बंगाली पर संस्कृत का प्रभाव वैसा ही था जैसा कि अंग्रेजी पर लातीनी का—किन्तु यह प्रभाव उससे भी कहीं महत्तर इसलिए था कि संस्कृत कोई परदेसी भाषा नहीं थी और जब बंगला भाषा का जन्म हुआ तब वह एक जीवित एवं प्राणवान भाषा भी थी।

केवल मुस्लिम प्रभुत्व के पश्चात ही संस्कृत जीवन्त भाषा न रह पाई किन्तु फिर भी उसका प्रभाव निरंतर बना रहा और पंद्रहवीं सोलहवीं शतियों में होने वाले साहित्यिक सांस्कृतिक नवजागरण के युग में बंगला को अपने पैरों पर खड़े होने योग्य क्षमता प्राप्त हुई।

'बंगला भाषा पर संस्कृत का प्रभाव सत्रहवीं अटठारहवीं शतियों तक भी चलता रहा तथा उन्नीसवीं शती के पूर्वार्ध में बंगला गद्य के रूप ग्रहण में भी, संस्कृत की सहायता ही लेनी पड़ी।

'बगला, सस्कृत की अनेक अर्थों मे ऋणी है—क्या व्याकरण, क्या काव्य शास्त्र क्या भाषाशास्त्र सभी क्षेत्रा म, बगला, सस्कृत की ऋणी है। उसका अधिकाश शब्दकोष भी, सस्कृत से ही लिया गया है। बगला साहित्य को अपनी सभी शलिया, साहित्यरूपा, प्रेरक चेतनाओ तथा आलकारिक सौष्ठव आदि के लिए, उन्नीसवी शती तक, सपूर्णतया सस्कृत पर ही निभर एव जीवित रहना पडा। इससे भी बढ कर बात यह है कि बगला को, सस्कृत की महान आध्यात्मिक एव बौद्धिक पृष्ठभूमि एव उसकी महती समृद्धि उत्तराधिकार म प्राप्त हुई, जो वस्तुत पुरातन भारतीय सस्कृति की अभिव्यजक बनी रही है।

'उन्नीसवी शती तक तथा इसके पश्चात् भी (यद्यपि अपेक्षाकृत कम मात्रा म) सस्कृत भारत की आध्यात्मिक एव धम समन्वयवादी सस्कृति की, माध्यम भाषा होने के कारण सावभौम सत्ता प्राप्त भाषा बनी रही और वह पुरातन ज्ञान विज्ञान एव इतिहास विद्या की, भाण्डार मानी जाती रही। वह भारत की महान परम्परा की साक्षात् विग्रह मानी जाकर देव भाषा क रूप म, सावजनीन एव सावभौम श्रद्धा सम्मान की, अधिकारिणी भी बनी रही।

सस्कृत उस समय भी भारत की सास्कृतिक चेतना की अभिव्यजनकारी भाषा के रूप म प्रतिष्ठित थी, जब कि पालवशीय (नवीं शती ईसवी से ग्यारहवी शती ईसवी) एव सेनवशीय (ग्यारहवीं-बारहवी शती ईसवी) राजाओ के राजत्व काल में, बगला भाषा का ज म हुआ।

सस्कृत आज भी भारतीयो की आध्यात्मिक प्रेरणा की स्रोत बनी हुई है किन्तु हमारे (बगला) लखक उसकी शरण म, विशुद्ध साहित्यिक स्रोत के रूप मे ही आते हैं।[1]

बगला भाषा म लिखित सवप्रथम उपन्यास का नाम था 'आलालेर घरेर दुलाल'। इसक लेखक थे श्री प्यारेचाद मित्र उपनाम थी टकचाद ठाकुर (जन्म तिथि सन १८१४ ई०)। व कलकत्ते के एक सम्भ्रात परिवार म, ईस्ट इण्डिया कम्पनी क यान म ज मे तथा उन्होंने बगला एव अग्रेजी भाषा की तत्कालीन सामयिक पत्र पत्रिकाओ म निरतर, विभिन्न विषयो पर लिखा। उनका उपयुक्त उपन्यास पहले बगला भाषा की सामयिक पत्रिका 'मासिक पत्रिका' म, धारावाही रूप म प्रकाशित हुआ था। तत्पश्चात् वह सन १८५७ ई० म पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। उसक प्रकाशित होते ही उसकी समालोचना 'कलकत्ता रिव्यू' मे निकली थी जिसमे उसे 'बगला भाषा का सवप्रथम उपन्यास बताया गया था।

---

१ बगाली लिटरेचर (आग्लभाषा म प्रकाशित) (प्रो०) जे० सी० घोष एम० ए० (प्रस्तुत सस्करण १९४८ ई०, प्रकाशक आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, लन्दन) पृष्ठ १३ तथा २१।

वर्णनात्मक कला की दृष्टि से उपन्यास में, तत्कालीन 'नई कलकतिया संस्कृति' में पले हुए सम्भ्रान्त बंगला समाज का, व्यञ्जनापूर्ण चित्रण पाया जाता है। उनके दूसरे उपन्यास 'अभेदी' (सन् १८७१ ई०) में आंग्ल संस्कृति से प्रभावित विभिन्न पात्रों के शब्द चित्र अत्यन्त रोचक बन पड़े हैं। श्री बङ्किमचन्द्र चटर्जी से पहले, बंगला भाषा के साहित्यकारों में, श्री 'टेकचन्द ठाकुर' का महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है।

बंगला साहित्य के इतिहासकार डा० सुकुमार सेन की राय में, "बंगला उपन्यास के आदि प्रवर्तक श्रीभूदेव मुखर्जी (१८२५ १८९४ ई०) थे। उनकी औपन्यासिक कृति का नाम था 'ऐतिहासिक उपन्यास'। इसका प्रकाशन सन् १८६२ ई० में हुआ था। इसमें दो उपन्यासिकाएँ, एक ही जिल्द में छपी थीं जो इतिवृत्तात्मक कथानकों के आधार पर रची गई थी। श्री भूदेव मुखर्जी ने एक अन्य लघु उपन्यास 'अंगुरीय विनिमय' भी रचा था। इसमें सम्राट औरंगजेब की पुत्री और एक बन्दीगृह में बंदी राजपूत राजकुमार की प्रणय कहानी वर्णित है। जहाँ तक 'आलालेर घरेर दुलाल' का प्रश्न है—उसमें ईस्ट इण्डिया कम्पनी काल के कलकतिया रईसों के जीवन, एवं उन दिनों के कलकत्ता के नागरिक जीवन के वर्णनों की, उत्तम व्यंग्यात्मक छटा दिखाई पड़ती है। वर्णनात्मक प्रतिभा की दृष्टि से, श्री 'टेकचन्द ठाकुर' एक प्रभावशाली उपन्यास लेखक थे। उनका एक अन्य उपन्यास 'अभेदी' भी था जिसकी प्रकाशन तिथि १८७१ ई० है।"[१]

फिर भी बंगला उपन्यास को उच्च साहित्यिक स्तर पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय, श्री बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय को ही है। सौभाग्य से उनकी प्रायः सभी कृतियों के, हिन्दी भाषा में, अनेकानेक रूपांतर हो चुके हैं और अधिकांश उपन्यास प्रेमी, 'बंकिम' और उनके उपन्यासों के नामों एवं उनमें से कुछ पात्रों तक से, परिचित हैं। बंकिम की वर्णन प्रतिभा बड़ी विलक्षण थी और वे, अतीत को इस भाँति, अपने मनोहारी वर्णनों द्वारा चित्रित कर देते हैं कि अतीत का समग्र विश्व ही, हमारे सामने, पुनरुज्जीवित सा हो उठता है। प्राकृतिक वैभव के 'बंकिम' बड़े अनुरागी थे। इस तथ्य का सबसे चिरस्मृत प्रमाण है 'वन्देमातरम्' गीत जो वस्तुतः उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'आनन्द मठ' में ही मूलतः लिखा गया था। (आनन्दमठ में चाँदनी रात में, बियाबान जंगलों में, जब महेन्द्र, तापस युवक के साथ चला जा रहा था तो सन्यासी युवक ने उसे 'माँ' का परिचय कराया। वे वस्तुतः भारत माँ ही थीं।) इस उपन्यास की रचना, बंकिम ने सन १८८२ ई० में की थी।

उनके एक अन्य अति प्रसिद्ध उपन्यास देवी चौधरानी (सन् १८८४ ई०) में वर्णित कलापूर्ण बजरों के भीतर और बाहर की चित्रपटियाँ, क्या भुलाई जा सकती हैं? बहुत अर्थों में 'देवी चौधरानी' वर्णनों से भरपूर उपन्यास है। 'कपाल-कुण्डला' (सन १८६६ ई०) में तान्त्रिक युग की एक झाँकी है। श्मशान आदि के दृश्य इस

१ 'हिस्टरी आफ बंगाली लिटरेचर' (डा० सुकुमार सेन, एम० ए०, पी एच० डी०) अध्याय उन्नीसवाँ।

भाँति चित्रित किए गए हैं कि पाठक उन्हें चाहने पर भी भुला नहीं पाता। बंकिम बाबू के सर्वप्रथम उपन्यास 'दुर्गेश नन्दिनी' (१८६४ ई०) की कथा बहुश्रुत है। दुर्गपति की कन्या आयशा की आत्मोत्सर्ग की गाथा पर आधारित, यह करुण रसात्मक उपन्यास, कुछ अविस्मरणीय दृश्यवर्णना एवं पात्रवर्णनों द्वारा, चिरस्मरणीय हो गया है।

श्री रमेशचन्द्र दत्त (१८४८-१९०९ ई०) बंगला भाषा के एक और महान् उपन्यासकार हुए। उनके उपन्यास भी बहुधा इतिहासात्मक रोमांस पर आधारित हैं। वर्णन शैली सौम्य, मधुर एवं प्रांजल है। 'बंगविजेता' (१८७४ ई०), 'माधवी कंकण' (सन १८७७ ई०), 'महाराष्ट्र जीवन प्रभात (सन् १८७८ ई०), 'राजपूत जीवन संध्या' (सन १८७९ ई०) आदि उनकी सर्वप्रिय रचनाएँ हैं। श्री रमेशचन्द्र दत्त एवं श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बीच के अन्तराय में, अनेक प्रतिभाशाली बंगला उपन्यासकारों ने, अपनी वर्णन प्रतिभा द्वारा, बंगला उपन्यास को समृद्ध किया है। इनमें सर्वश्री हाराणचन्द्र राहा (कृति 'रणचंडी' १८७६ ई०), शिवनाथ शास्त्री (कृति 'मेजाबऊ' १८७१ ई०), श्रीशचन्द्र मजूमदार, (कृति — शक्तिकानन' १८७७ ई०), तथा श्री त्रैलोक्यनाथ मुखर्जी (कृति — कंकावती सन् १८९२ ई०) आदि विशेष उल्लेख्य थे।

विश्वकवि श्री रवीन्द्रनाथ टाकुर की सर्वतोमुखी प्रतिभा से, भला कौन भारतीय परिचित न होगा? एक कुशल उपन्यासकार के रूप में, उनकी अनेक महान औपन्यासिक कृतियाँ भी चिरस्मरणीय हैं। 'बहुरानीर हाट (१८८३ ई०) तथा 'राजर्षि' (१८८५ ई०) दोनों ही उपन्यास, अतीतकालीन जीवन का चित्रण करते हैं। शब्द द्वारा वातावरण का निर्माण करने की क्षमता श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर में अपरिमेय थी। यह तथ्य भी सर्वविदित है ही कि वे एक महाकवि एवं कुशल चित्रकार भी थे। उनका सामाजिक उपन्यास 'चोखेर बालि' (आँख की किरकिरी) बड़ी ही सजीव कथा है जिसमें एक सरल कथानक में, विलक्षण कथारस का उद्रेक हुआ है। नौका डूबी' (१९०८) जीवन के उतार चढ़ाव को दरसाता है। इसमें नदी में बाढ़ और तूफान के वर्णन बड़े रमणीय हैं। गोरा एक बृहद उपन्यास है जो तत्कालीन जीवन का एक व्यापक प्रतिबिम्ब है। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कितनी ही औपन्यासिक कृतियों में, उनकी विलक्षण प्रतिभा के दर्शन होते हैं। सबुज पत्र' (सन् १९१५ ई०), तथा चतुरंग (सन १९१६ ई०) उनकी परवर्ती कृतिएँ हैं।

प्रख्यात पुरातत्ववेत्ता एवं ऐतिहासिक उपन्यासों के महान सर्जक श्री राखाल दास बंद्योपाध्याय के गुरु महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री भी एक बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न, धुरंधर विद्वान थे। उपन्यास क्षेत्र में, उन्होंने कुछ श्रेष्ठ रचनाएँ छोड़ी हैं जिनमें अधिक उल्लेख्य है बेनेर मय (सन १९२० ई०)। श्री राखालदास

बंद्योपाध्याय, अतीत के जीवन को, अपनी अनुपम शब्दचित्रण प्रणाली द्वारा पुनरुज्जीवित करने में, पटु थे। उन्होंने भारतीय ऐतिहासिक उपन्यास रचना में, एक नई शैली का सूत्रपात किया जिसमें इतिवृत्त के सांस्कृतिक पक्ष का समावेश करके, उन्होंने, उपन्यास विधा को वह रमणीय प्रतीयमानता प्रदान की है, जो उन जैसे वर्णन प्रतिभाशाली समर्थ लेखकों द्वारा ही साध्य थी। राखालबाबू की अधिकांश कृतियाँ हिन्दी में रूपान्तरित हुई हैं और वे अत्यन्त लोकप्रिय भी हुई हैं। उनकी प्रथम कृति है 'पाषाणेर कथा' (सन १९१४ ई०) जो साँची के स्तूप निर्माण के प्रसंग को लेकर रची गई है। 'शशांक' (१९१४ ई०) में कान्यकुब्ज सम्राट हर्षवर्धन के समसामयिक एवं प्रतिद्वंद्वी वीर शशांक की जीवन गाथा चित्रित है। नदी द्वारा नौका यात्राओं आदि के वर्णन, इसमें बड़े उत्तम बन पड़े हैं।

श्री राखालदास बंद्योपाध्याय कृत 'करुणा' (सन १९१७ ई०), उपन्यास वर्णनों की दृष्टि से और भी महत्त्वपूर्ण कृति मानी जायगी। इसमें अतीत कालीन जीवन के चलचित्र से प्रस्तुत कर दिए गए हैं और पाठक को लगता है वह ठीक उसी युग में पहुँच गया है, जिसके सांस्कृतिक परिवेश में उपन्यास की कथावस्तु खड़ी की गई है। राखालबाबू की अन्य कितनी ही अपेक्षाकृत कुछ कम प्रख्यात कृतियाँ यथा 'मयूख' (१९१० ई०) असीम (सन १९१४ ई०) धर्मपाल (सन १९१५ ई०), आदि में भी वर्णनों की विचित्रविचित्रता और भी निखर आई है।

श्री शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय (सन १८७६-१९३८ ई०) हिन्दी पाठकों में इतने लोकप्रिय थे कि लोग उन्हें बंगला उपन्यासकार के रूप में देखते ही नहीं थे। वे बंकिम एवं रवीन्द्र से भी अधिक अखिल भारतीय हो गए थे क्योंकि उन्होंने अपने अन्तर की छलछलाती हुई उदार करुणा द्वारा हर दुखी भावुक हृदय को दुलारा है, और अपने और अपने पाठकों के बीच एक ऐसा रसविश्व स्थापित करने में सफलता पाई है जो विरले ही भाग्यशाली उपन्यास लेखक, अपने जीवनकाल में कर पाते हैं। शरत, जन्म से ही घुमक्कड़ प्रकृति के जीव थे। भ्रमण उनके जीवन की कहानी है। अपने भ्रमण में देखे गए अनन्त दृश्यों को वे अपने उपन्यासों में अंकित करते चलते हैं। चित्रपट की भाँति जीवन के चलचित्र उतारने में शरत की वर्णन प्रतिभा इतनी विलक्षण थी कि वह जन्मजात ही कहा जा सकता है। यदि कोई और बंगला उपन्यास लेखक न भी होता और अकेले श्री शरत का ही उपन्यास साहित्य अस्तित्व में आ जाता तो भी वे बंगला भाषा और बंगला उपन्यास विधा को अपनी अद्वितीय वर्णना द्वारा अजर अमर बना जाने में समर्थ हो जाते।

शरत की मातृभाषा बंगला थी किन्तु उनका जन्म बिहार में भागलपुर में, हुआ था। सारे जीवन, वे भारत के विभिन्न प्रदेशों और ब्रह्मदेश की चप्पा चप्पा भूमि में घूम आए थे। अन्याय के प्रतिकार और दीनों पर प्यार की वे प्रतिमूर्ति थे।

उनके 'पथेर दावी' उपन्यास को अंग्रेजी सरकार ने जब्त कर लिया था। 'श्रीकान्तेर भ्रमण काहिनी (सन १९१० १९३३ ई०) उनके अदम्य विद्रोही जीवन की, महागाथा के रूप मे पढी जा सकती है। 'शेष प्रश्न' म उन्होंने आने वाले नए समाज का सपना खडा किया है। उनके उपन्यासो के नाम हर जबान पर हैं। उनकी वर्णन बहुलता के कारण चित्रपट निर्माताओं ने, उनके अनेक उपन्यासो पर उत्तम चित्रपटो की रचना की है, किन्तु बिना सेल्यूलाइड के माध्यम के भी वे उनने ही दृश्यमान बन पडे है। 'उत्तम वर्णन प्रतिभा और वर्णन ही उपन्यास है'—इस सूत्र के वे साक्षात उदाहरण हैं।

शरत कितने ही तरुण बंगला उपन्यासकारो के आदर्श एवं प्रेरणा के स्रोत बने, जिनमे इन्दिरादेवी (सन १८८० १९२२ ई० प्रसिद्ध कृति 'स्पर्श मणि सन १९१८ ई०), अनुरूपादेवी (सन १८८२ १९५८ ई० प्रसिद्ध कृति, वाग्दत्ता सन १९१४ ई०), निरुपमा देवी' (१८८३ १९५१ ई०, प्रसिद्धकृति 'अन्नपूर्णार मन्दिर सन् १९१३ ई०) आदि, अनेक प्रमुख बंगला उपन्यास लेखिकाएँ भी रही हैं।

आधुनिक बंगला उपन्यास भी हिन्दी उपन्यास की भांति ही, बडी तीव्रता से प्रगति के पथ पर बढ रहा है। उसमे एक से एक नये वर्णनात्मक प्रयोग उपन्यास विधा मे किए जा रहे हैं। शैलजानन्द मुखोपाध्याय यथार्थवादी उपन्यासकार हैं और विभूतिभूषण बन्धोपाध्याय ने अपनी कृति पथेर पाचाली' (सन् १९२९ ई०) की रचना द्वारा, वर्णनात्मक पद्धति की नयी सिनेमैटिक पद्धति' का सूत्रपात किया है। उनके देवयान' (सन १९४४ ई०) नामक उपन्यास मे स्वर्गलोक और देवताओ की संस्कृति का काल्पनिक चित्रण है। श्री ताराशंकर बनर्जी बंगला के आंचलिक उपन्यासकारो म शीर्ष कलाकार माने जाते हैं। उनकी लोकप्रियता कहा जाता है कि शरत के पश्चात आधुनिक बंगला उपन्यास म सर्वाधिक रही है। उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं — धात्रदेवता (१९३९ ई०) 'कवि' (सन १९४१ ई०) 'ग्रामदेवता (सन १९४२ ई०) 'हसुली बाकर उपकथा' (सन १९४७ ई०) आदि।

श्री माणिक बंद्योपाध्याय (सन १९०८ १९५६ ई०) भी बडे प्रतिभाशाली उपन्यासकार हुए हैं। उन्होंने मछुआरो के जीवन पर उत्तम उपन्यास पद्मा नदीर माझी (सन १९३७ ई०) रचा। पुतुलनाचेर इतिकथा' (१९५ ई०) श्री बंद्योपाध्याय की अन्तिम वर्णनात्मक कलाभिराम कृति थी। यहा उनके पद्मा नदीर माझी' से उदाहरणस्वरूप दो एक वर्णन अवतरित हैं। उनसे उपन्यासकार की सूक्ष्म व वर्णन दृष्टि तथा वर्णन सामर्थ्य का अनुमान किया जा सकता है —

बरसात के दिन थे। पदमा नदी म मछली पकडने का यही समय था। रात दिन मछलियाँ पकडी जाती थीं। जहाज घाट पर खडे होते थे शाम के समय मछुओं की नावो पर सैकडो टिमटिमाती रोशनियाँ दीख पडती थी। कभी-कभी तो आधी रात बात जाने पर भी जबकि सब स्थानो पर लोग सो गए होते तब भी, नावो पर

मछलियो का पकडा जाना चालू रहता। नावो की तली मे, सफेद हिलसा मछलियाँ इकट्ठी होती जाती और टिमटिमाती लालटेन की झिलमिलाती रोशनी में, उनके पलकविहीन नेत्र, नीलम से पारदर्शी दीख पडते थे।

'नाव कुछ विशेष बडी नही थी। पीछे की तरफ, जरा सी छाजन थी, जिसके नीचे बूँदा-बाँदी होने पर मुश्किल से दो तीन आदमी सिर छिपा पाते थे। शेष सब खुली जगह थी। मछलियाँ पकड पकड कर इस जगह से, नाव के पेंदे में इकट्ठी की जाती थीं। बगल की ओर से जाल फेंका जाता था। जाल को एक तिकोने फ्रेम में लगा रखा था, जिसके बाँसो के ही दो सिरा से, मूठ का काम भी लिया जाता था और उन्ही को पकड कर, जाल को पानी म डाला और उठाया जाता था। रस्सी पकड कर बाँस को गहरे पानी म उतार दिया जाता था और मछली के फसने पर, जब डोरी द्वारा मछुए को पता लग जाता, तो उसी के द्वारा, पानी के भीतर ही, जाल का मुँह ब द कर दिया जाता था।'[1]

कुछ अ य अत्यन्त विशिष्ट आचलिक उप यासों मे श्री प्रफुल्लराय-कृत 'पूर्वा पावती' भी है। यह उपन्यास, नागा प्रदेश के आदिवासियों के विषय मे है। नागा प्रदेश के आदिवासियो के बीच लेखक ने, लगभग छ मास बिता कर, उनके जीवन पर यह उप यास रचा है। इस उपन्यास मे आचलिक होने के नाते यहाँ के स्थान वणन और प्रकृति वणन बडे ही सु दर बन पडे हैं। नागा प्रदेश प्राकृतिक दृष्टि से बडा धनी है। वन, पवत, घाटी, बीहड जगल आदि यहाँ की विशिष्टताएँ हैं। इन सभी का बडा ही सजीव चित्रण इस उपन्यास मे चित्रात्मक शली मे किया गया है। श्री समरेश बोस कृत गगा' उपन्यास म, हुगली के तट पर, हिलसा मछली का, वर्षाकाल की बाढ मे साहसपूण शिकार करने वाले मछुआरो के जीवन की, जीवत गाथा वर्णित है। यह भी एक आचलिक उपन्यास है। 'पदमा नदीर माझी के समान ही, इस उपन्यास म भी, स्थानवणन, प्रकृतिवणन, मछुआरो की वेश भूषा, आकृति निदान आदि का वणन बडा ही सजीव और सु दर बन पडा है। गगा' उपन्यास से यहाँ कुछ वणन इसीलिए उवधृत किए जा रहे हैं। उपन्यासकार ने अनेक महीनो तक मछुआरों के साथ साहसी जल-यात्राएँ की थी और उनके जीवन और व्यवसाय के सभी पक्षा का क्रियात्मक अध्ययन किया था। इसीलिए श्री समरेश बसु की वणन शली मे नदी की धारा की तरलता एव गतिशीलता, यथातथ्यता दशनीय है —

---

१ 'पद्मा नदीर माँझी' श्री माणिकलाल बद्योपाध्याय (रचनाकाल १९३७ ई०) पृष्ठ ६ १० अध्याय १। (हिन्दी रूपा तर सविता बद्योपाध्याय), प्रकाशक सुबोध प्रकाशन, दिल्ली (१९५९ ई०)।

'भाटे के खिचाव से, अगले दल की तीन नावें, पूरब क्रिस्टोपुर का नहर गेट पार करके, इस उस नदी-नाले को छोड़ते हुए सरसर करके नीचे उतर आई। तीन चुनी चुनाई नावें, दौड़ की होड़ वाली। पूरब से आइ। खड़े पूरब से नही पूरब दक्खिन से। दो पुरोखोड़ माझी से। और एक धलतीता गाव की। और भी आ रहीं हैं पीछे-पीछे। तेंतलियाँ, सारापुर, पुरोखोड माझी, फतुल्लपुर फरीदकाठी, वीरपुर तमाम पूरब-उत्तर और पूरब दक्खिन को खाली करके, चले आ रहे हैं, सो मत्स्यजीवी। मछुए, कवत्त, निरकरी, चुनुरी मालो—सभी आ रहे हैं। उधर के राज वशी भी अब, जोत जमीन गवा कर, मत्स्यजीवी होगए हैं। वे भी आ रहे हैं।

खेदे लिए आ रही हैं, दखिनी बाओड यानी समदरी आधी। लोने पानी की नदियो के ढाले दिन हैं ये। मीठे पानी की नदियो के अच्छे दिन आ रहे हैं। और भी आएँगे। पास पड़ोस के पूडया, आतुड, इंटिडे, दडीरसट, टाकी—तमाम मच्छीमारों के घर तैयारी की धूम पड गई है। एक एक करक सभी आएँगे। गोपालपुरा के जोर जमुनियाँ को दाँए छोड, दूर-पश्चिम मे छोड, सन्देशावली हरनयाबाद के नीचे से आएँगे।'

'आरहे हैं, सभी आ रहे हैं इधर। क्या रात, क्या दिन, चले आरहे हैं। नजर हो तो ऊपर चढ कर एक बार पूरब की तरफ ताकते ही दिख जाएँ कि कितने आ रहे हैं। कतार की कतार, अगल बगल। दक्खिन की बिस्कुल ढलान से, सब ने ज्वार के प्रवाह मे, पाल खोल दिया है। जिसके जिधर से भी बन पाता है, उधर से ही, गगा मे आ रहा है। गगा का पानी गदला है लेकिन मीठा। सभी मच्छीमारा का रोटी कपडा जिसके पास बधा है।

'सब कुछ छोड कर सब गगा मे जाएगे जहा का पानी, लोन नहीं है। यहाँ दखिनी आँधी की वह बला नही। पूरब दक्खिन के खारे जल के सभी अड्डो को छोड, गगा के मीठे पानी के प्रवाह में खूँटे गाड कर सब नावें बाँधेगे। मछली तो पानी से भी आजाद। गगाजी न जची तो चली जायगी, मातला, इछामती पसन्द न आए तो कतार बाँध कर पहुँच गई गगा के मुहाने। पोथी पत्रा के हिसाब को भी गलत करती हुई, चलती हैं, मीनेश्वरी। पत्रा ने लिखा मछली का हिस्सा दस। अन्त तक हुआ जाकर पाँच। या फिर एक बारगी डेवढा या दुगना, पन्द्रह से बीस हिस्सा।'[1]

श्री विमल मित्र का महा उपन्यास साहब, बीबी, गुलाम बगला उपन्यास-विधा मे, रहस्यावत्त शली की तो एक अनुपम कृति है ही, साथ ही ह्रासमान जमीदारी जीवन का भी तीव्रता से बिखरता हुआ चित्र उसमें प्रस्तुत किया गया है। उपन्यास पर, प्रसिद्ध हिन्दी चित्रपट बन जाने के कारण उसकी कथा और परिवेश सवसुलभ

---

१ गगा (समरेश बसु) पृष्ठ १ ३ प्रथम प्रकाशन १९६४ ई०, (हिन्दी रूपान्तरकार हसकुमार तिवारी) (१९६७ ई० के सस्करण से—प्र० सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली)

हो गए हैं। किन्तु वर्णनात्मक कला की दृष्टि से उपन्यास बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। पुराने कलकत्ता का, जैसा यथार्थ जीवन, विमल मित्र ने चित्रित किया है वैसा कोई भी उपन्यासकार नहीं कर पाया है। विमल मित्र का एक और भी वृहद उपन्यास (सन १९६७ ई० में) प्रकाशित हुआ है—नाम है कौड़ी दिए किन लाम। इसका अनुवाद हिन्दी में हो चुका है। भारतीय उपन्यासों में आकार में यह सबसे वृहद् उपन्यास है। यहाँ श्री विमल मित्र के साहब, बीबी गुलाम उपन्यास का सर्वप्रथम वर्णन उद्धृत किया जा रहा है —

'इधर बहूबाजार स्ट्रीट और इधर सेन्ट्रल एवेन्यू। बीच की साँप जैसी, आकी बाकी गली, आज तक इन दो राजपथों को मिलाने का काम, करती रही लगता है रातोंरात बन गई यह बनमाली सरकार लेन। इतनी पुरानी गली। इसी के पश्चिम से बिन्दपुर और सूतानूटी के समय से बनमाली सरकार के पुरखे राज कर गए थे। कहावत सी चल पड़ी थी—उमीचाद की दाढ़ी और बनमाली सरकार की बाहा। गोरदाव और बहार शायद दोनों ही की एक सी थी। उस जमाने में सद्गोप बनमाली सरकार को ईस्ट इण्डिया कम्पनी से पटने की दीवानी मिली थी और कलकत्ते के मातहत व्यापार करने का अधिकार। बहुत बहुत पहिले की हैं यह बातें। तब की जो कुम्हार गली थी उसमें, उन्होंने लाट साहब के मुकाबिले का एक मकान बनवाया। उनकी देखादेखी निमतल्ले में एक मकान बनवाया उस समय के एक दूसरे बड़े आदमी मथुर सेन ने। मगर कहाँ बनमाली सरकार का मकान और कहाँ वह? कोई मुकाबिला ही नहीं! उसके बाद कहाँ तो गया कुम्हार सैली का मकान? कहाँ गए खुद बनमाली सरकार। और कहाँ गए मथुर सेन!'[1]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हिन्दी के बाद बंगला का, भारतीय भाषाओं के उपन्यासों में महत्त्वपूर्ण स्थान विभिन्न दृष्टियों से है। बंगला में अनेकानेक उत्तम ऐतिहासिक उपन्यासों की भी रचना हो चुकी है साथ ही सामाजिक और आंचलिक उपन्यास भी इस भाषा में उत्तमोत्तम कोटि के रचे गये हैं। हिन्दी के समान ही आंचलिक उपन्यास बंगला में भी बड़े लोकप्रिय हैं और बंगला उपन्यासकार और बंगला उपन्यास पाठक दोनों ही इस शैली को बहुत पसन्द करते हैं। इस प्रकार वर्णनात्मक कला की दृष्टि से बंगला उपन्यास बहुत समृद्ध बन पड़ा है। प्रारम्भिक कृतियों की अपेक्षा, अधुनातम बंगला औपन्यासिक कृतियों में, वर्णन बहुत उभर कर आए हैं और वे बड़े सजीव, कलात्मक और लालित्यमय भी हैं।

---

१ 'साहब बीबी गुलाम' (श्री विमल मित्र) अध्याय १, पृष्ठ १ (प्र० प्र० १९६० ई०) (हिन्दी रूपान्तर श्री हंसकुमार तिवारी) (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली)।

दशम प्रकरण मराठी उपन्यास साहित्य की रूपरेखा

मराठी उपन्यास साहित्य की प्रथम गवेषणा करने पर यही ज्ञात होता कि सब प्रथम मराठी उपन्यास सन् १८५७ ई० में रचा गया था और उसके रचयिता थे, पादरी बाबा पद्मनजी। किन्तु कुछ काल पूर्व सयोगवश, स्व० श्री लक्ष्मण मोरेश्वर शास्त्री हलदणकर कृत 'मुक्तामाला' का प्रथम रचना तथा प्रकाशन के सम्बन्ध में, कुछ नये तथ्य भी सामने आये। उससे पता चला कि मराठी उपन्यास के प्रथम प्रवर्तन की तिथि भी, बंगला के समान ही सन् १८६१ ई० ही है।

जिस प्रकार हिन्दी साहित्य समीक्षा में इस विषय पर बहुत दिनों तक विवाद चलता रहा कि पहली औपन्यासिक कृति किसको माना जाय, इसी प्रकार मराठी भाषा में भी पहली औपन्यासिक कृति के निर्धारण में बहुत समय लगा और विभिन्न विद्वानों ने अपने अपने मत के अनुसार अलग अलग कृतियों को, 'प्रथम औपन्यासिक कृति' ठहराया। बाबा पद्मनजी कृत 'यमुना पर्यटन' को स्व० श्रीमती कुसुमावती देशपाण्डे ने, अपने ग्रंथ 'मराठी कादम्बरी'[1] में, पर्याप्त विचार विमर्श के पश्चात्, मराठी का पहला उपन्यास घोषित किया। इससे पूर्व भी अनेक विद्वानों ने, इसी कृति को मराठी का पहला उपन्यास बताया है जिनमें श्री दण्डवते[2], श्री सरवटे[3], श्री वि० ह० कुलकर्णी[4] विशेष उल्लेखनीय हैं।

श्री गंगाधर बालकृष्ण सरदार[5] ने भी मराठी भाषा में स्वतन्त्र उपन्यास रचना का श्रेय बाबा पद्मनजी नामक ईसाई पादरी को ही दिया है। लेखक का मत है कि वास्तव में मराठी का पहला उपन्यास तो यही था परन्तु क्योंकि इसमें ईसाई धर्म को हिन्दू धर्म की अपेक्षा अधिक उदार प्रदर्शित करने की चेष्टा की गई है, इसीलिए, उपन्यास के सुलिखित होने पर भी, उसको विशेष लोकप्रियता नहीं मिल पायी।

श्री कृष्णलाल सरशोदे 'हंस' के मत में— 'मराठी साहित्य में सबसे पहले उपन्यास लेखन का कार्य संवत् १९११ (सन् १८५४ ई०) में विष्णु शास्त्री चिपलूणकर ने, डा० जानसन द्वारा लिखी गई 'रासेलस' के स्वतन्त्र मराठी रूपान्तर से, प्रारम्भ किया। पर मौलिक उपन्यासों का आरम्भ, संवत् १९१४ (सन् १८५७ ई०) में, बाबा पद्मनजी ने 'यमुना पर्यटन' लिख कर किया।'[6]

---

१ 'मराठी कादम्बरी—पहिले शतक' (१८५० १९५० ई०) कुसुमावती देशपाण्डे।

२ कादम्बरी ची गोष्ठ—दण्डवते।

३ 'मराठी साहित्य समालोचन'—सरवटे।

४ अर्वाचीन मराठी साहित्य—वि० ह० कुलकर्णी।

५ 'अर्वाचीन मराठी गद्याची पूर्वपीठिका'—गंगाधर बालकृष्ण सरदार, अध्याय २ कथात्मक वाङ्मय पृ० २७ ७३ (पृष्ठ ५८)।

६ 'मराठी साहित्य का इतिहास' (श्री कृष्णलाल सरशोदे 'हंस') अध्याय ६ उपन्यास साहित्य, पृ० ३०६ १८।

प्रसिद्ध मराठी आलोचक द्वय श्री बापट एव गोडबाले की सम्मति में 'यमुना पयटण' को 'कादम्बरी' (उपन्यास) मानना उचित नही है क्योंकि उनके अनुसार, साधारणतया, 'बृहदाकार कथा' को ही उपन्यास माना जाना चाहिए। इसीलिए उनके विचार से यमुना पयटण' की गणना उपन्यास-साहित्य मे न की जाकर, 'रामोजी गणोजी सम्प्रदाय के धार्मिक साहित्य के अ तगत' की जानी चाहिए थी।[1]

रेवरे ड बाबा पद्मनजी, एक ईसाई मिशनरी थे जो महाराष्ट्र में ही बस गए थे। उनके नाम से जान पड़ता है वे मूलत गुजराती थे। उन्होंने १८५७ ई० में *'यमुना-पयटण नामक उपन्यास लिखा। किन्तु यमुना-पयटण को कई मराठी विद्वान* 'उपन्यास' मानते भी नहीं हैं, क्योंकि वास्तव मे यह एक ईसाई धम के पक्ष मे, प्रचारात्मक रचना है। उनका कहना है कि पुस्तक में आद्योपान्त भारतीयो की पुरातनपथी विचारधारा एव विधवाओ के प्रति निदय व्यवहार आदि के प्रश्नो को लेकर, एक ऐसी कथा खडी की गई है जिसमे, वास्तविक तथ्यो को तोडा मरोडा गया है और येनकेन प्रकारेण हिन्दुओ के धम एव रहन सहन की तुलना मे, ईसाई धम एव सस्कृति को, ऊँचा ठहराने का उद्योग किया गया है।

'यमुना पयटण' के सम्बन्ध मे श्री प्रा० ग० मा० निरन्तर, एम० ए० के विचार पर्याप्त सतुलित एव तथ्यपूण जान पडते हैं। उनके अनुसार भी पहली स्वतन्त्र कादम्बरी यमुना-पयटण ही है। परन्तु उन्होने इस उपन्यास की तुलना मे, लक्ष्मण शास्त्री हळवे-कृत 'मुक्तामाला' (१८६१ ई०) को ही पहला वास्तविक मराठी उपन्यास माना है। श्री दत्तो वामन पोतदार ने 'यमुना पयटण को मराठी गद्य का उत्तम आद्यरूप तो अवश्य माना है परन्तु इस कृति के लिए उन्होंने, कही भी 'कादम्बरी' (उपन्यास) शब्द का प्रयोग नही किया है।

कुछ आलोचको ने, मराठी उपन्यास साहित्य का प्रारम्भ 'मजुघोषा नामक कृति से माना है। इसके लेखक नारायणराव सदाशिव रिसबुद (१८३८ से १९००ई०) थे। इस उपन्यास की रचना सन १८६८ ई० में हुई थी। इस उपन्यास मे लेखक मे 'अलिफ-लला' जसी कथा बाधा शली को अपनाया है। यह उपन्यास वणन प्रधान उपन्यास है और वणनात्मक शली म रचित है। इसीलिए पाठको मे यह बहुत शीघ्र ही लोकप्रिय हो गया और कुछ ही वर्षों मे इसके चार सस्करण भी निकल गए जब कि उन दिनो यह एक अनहोनी घटना, मानी जाती थी।

कुछ अन्य मराठी आलोचक, श्री रामचन्द्र भीकाजी गुञ्जीकर (१८४३ १९०१ ई०) के ऐतिहासिक उपन्यास 'मोचनगड' से ही, मराठी उपन्यास का प्रारम्भ मानते हैं। इस उपन्यास की रचना सन १६७१ ई० मे हुई थी। इस उपन्यास का जन साधारण द्वारा अत्यधिक स्वागत हुआ क्योंकि इसम, प्रादेशिक और आचलिक आभा को

---

१ मराठी कादम्बरी —'तत्र व विकास', पृष्ठ ६६।

चित्रित करने वाले उत्तम वणन पाए जाते हैं। वणनात्मक दृष्टि से यह, मराठी का एक बहुत विशिष्ट उपन्यास है।

फिर भी जितने आलोचकों ने 'यमुना पयटण' को मराठी का पहला उपन्यास बताया है, उतना किसी अन्य को नहीं। इन पक्तियो की लेखिका को लगभग सात-आठ वष पहले 'यमुना-पयटण' का (कोल्हापुर म) मूल रूप मे पारायण करना पडा तो ज्ञात हुआ कि 'यमुना-पयटण' वास्तव म उपन्यास नही, वरन् उपन्यास रचना की दिशा मे, एक प्रयोग ही माना जा सकता है। उपन्यास की रूप रेखा तो उस मे है किन्तु साहित्यिक गरिमा अथवा कलात्मक लालित्य—दोनो का ही, उसमें समुचित रूप म समावेश, नहीं हो पाया। 'रानी केतकी की कहानी तथा 'आलानेर घरेर दुलाल' की तुलना मे, यमुना पयटण, बहुत साधारण कोटि की कृति जान पडती है। वस्तुत साहित्यिक कृति, मूलत कभी भी उपदेशात्मक या प्रचारात्मक नहीं होती। उपदेश तथा प्रचार, उपन्यास-साहित्य की सबसे बडी कमी मानी जाती है। उपन्यास का उद्देश्य लोकरजन है। भले ही का ता-सम्मित उपदेश के माध्यम से, वह कुछ शिक्षा भी पाठक को दे दे। परन्तु प्रचारात्मक दृष्टि को ध्यान मे रख कर ही जिस उपन्यास की रचना की जाती है, वह एक उत्तम कोटि का उपन्यास नहीं बन सकता।

डॉ० अ० ना० देशपाण्डे ने स्व० श्री लक्ष्मण मोरेश्वर शास्त्री हळवे-कृत 'मुक्तामाला' उपन्यास का नया सम्पादन किया है। तद्नुसार ज्ञात होता है कि यद्यपि 'मुक्तामाला का पुस्तक रूप मे प्रकाशन, सन् १८६१ ई० मे ही हो पाया था किन्तु 'मुक्तामाला, चन्द्रिका नामक मासिक पत्रिका में सन् १८५६ ई० मे ही, धारा-वाहिक रूप से प्रकाशित हो चुकी थी। श्रीलक्ष्मण मोरेश्वर शास्त्री, स्वय ही 'चन्द्रिका' पत्रिका के सस्थापक थे। इसी पत्रिका म उनका दूसरा उपन्यास 'रत्नप्रभा' भी धारा वाहिक रूप से प्रकाशित हुआ था। 'रत्नप्रभा' का पुस्तक रूप में प्रकाशन, 'मुक्तामाला से, ५ वष पश्चात, अर्थात सन १८६६ ई० मे हुआ था। ये दोनों ही उपन्यास सरस, साहित्यिक एव विशुद्ध भारतीय उपन्यास-परम्परा मे रचित तथा वणनात्मक कला की विविध विशिष्टताओ से सयुक्त हैं। विशेषतया 'मुक्तामाला' वणनात्मक कला की दृष्टि से 'यमुना पयटण की तुलना मे कहीं उत्कृष्ट साहित्यिक कृति है। डा० देशपाण्डे ने बडे परिश्रमपूवक 'मुक्तामाला एव उसके रचयिता श्री लक्ष्मण मोरेश्वर शास्त्री के जीवन वत्तात-सम्बन्धी, सभी आवश्यक तथ्य जुटा लिए हैं। उन सभी के आधार पर, यह बात अब निर्विवाद रूप से स्वीकार करली जानी चाहिए कि 'मुक्तामाला' ही, मराठी उपन्यास साहित्य की सवप्रथम कृति है।

श्री लक्ष्मण मोरेश्वर शास्त्री का जन्म, दक्षिण महाराष्ट्र के प्रसिद्ध धार्मिक एव सास्कृतिक केन्द्र, वाई मे, गगापुरी मुहल्ले मे, पचायती मन्दिर के पास, उनके

पूर्वजों के गृह में, सन १८३१ ई० में हुआ था। उनके पिता एवं पूर्वज संस्कृतज्ञ थे और पंडित थे। उसी परम्परा में श्री लक्ष्मण शास्त्री की भी शिक्षा-दीक्षा हुई थी। वे थोड़ी ही अवस्था में वेदशास्त्र के ज्ञाता हो गए और वाई में अपना अध्ययन सम्पूर्ण करके, वे बम्बई चले गए। यद्यपि श्री लक्ष्मण मोरेश्वर हळवे ने, नियमानुसार कोई परीक्षा पास नहीं की थी किन्तु बम्बई के विद्वद्वर्ग ने उनका पांडित्य देख कर उन्हें, 'शास्त्री' की सम्मान्य उपाधि प्रदान की थी। बम्बई प्रवास में, उनका सम्बन्ध 'इंदु प्रकाश' नामक प्रसिद्ध पत्र के व्यवस्थापकों से हुआ जो आजीवन बना रहा और वे उसके सम्पादनकार्य में, सदैव ही रुचि लेते रहे। बम्बई में उन्होंने 'परमहंस-सभा, नामक सांस्कृतिक संस्था की नींव डाली थी। आगे चल कर यही प्रार्थना-समाज' नाम से प्रसिद्ध हो गई। श्री शास्त्री ७४ वर्ष तक निरंतर साहित्य एवं समाज की सेवा करने के उपरांत, सन् १९०५ ई० में दिवंगत हुए। उनके पौत्र अभी तक जीवित हैं। 'मुक्तामाला' का तत्कालीन मराठी आलोचकों ने अच्छा स्वागत किया था जिनमें स्व० श्री विष्णु शास्त्री चिपलूणकर भी थे।[1]

'मुक्तामाला' उपन्यास का प्रारम्भ ही बड़े भव्य प्राकृतिक दृश्य-वर्णन से होता है। एक प्रकार से वह उनके जन्मग्राम वाई की ही वन पर्वत उपत्यकामय पृष्ठ भूमि है। 'वाई' दक्षिण महाराष्ट्र के सबसे अधिक प्रकृतिरम्य स्थलों में गिना जाता है और तीर्थयात्रियों एवं पर्यटकों का एक प्रिय विहार केन्द्र रहा है। यहाँ मूल उपन्यास से ही प्रथम वर्णन उद्धृत किया जा रहा है—

'वर्षाऋतु समाप्त हुआ और शरदकाल का प्रादुर्भाव हुआ, अर्थात् पर्वत-शिखरों पर प्रातःकाल में एक दृष्टि डालने पर विचित्र मनोहर चमत्कार दिखाई पड़ता है। पृथ्वीतल भी भिन्न भिन्न प्रकार के धान्यों के खेतों से हराभरा नजर आता है। उनमें से किसी में फूल आ रहे हैं तथा किसी में दाने भी पड़ गए हैं। आम नारियल, पोफली (पपीता) आदि के बगीचों की लम्बी पंक्ति मार्ग के दोनों ओर दूर तक चली जा रही है। इस भाँति समग्र पृथ्वीतल ही मानो एक चित्रविचित्र रंगों से बने हुए गलीचे के समान बिछा हुआ सा, जान पड़ता है। अपने दोनों पाटों के बीच भरपूर जल से आपूर्यमाणा नदी का प्रवाह सर्पाकार गति में प्रवाहित बड़ा ही शोभा मय दिखाई देता है।

'किसी किसी स्थान पर, जहाँ तहाँ तालाब भी दिखाई पड़ते हैं उनमें अनेक प्रकार के रंगबिरंगे कमल खिल रहे हैं। वे अपने आसपास के विविध रमणीय पदार्थों में भी सबसे अधिक, चित्त को आनन्द प्रदान कर रहे हैं। इधर उधर, नगर और

---

१ निबंध माला —('भाषा पद्धति' शीर्षक निबंध) पृष्ठ १४२ (श्री विष्णु शास्त्री चिपलूणकर)।

ग्रामीण भूभागो में भी, इस समय, एक अपूर्व स्फूर्ति एवं चमत्कार दिखाई पड़ता है। उनमे से कई चूल्हों के सुलगाने से उठा हुआ धुआ, आकाश मडल की ओर बढता नजर आता है। उसने अनेक घरो को मानो अपने आवरण में ढँक सा रखा है। उन सभी के बीच देवालय के गगन उत्तुग शिखर भी मानो, अपने सिरो को निकाल निकाल करके, अपनी उत्सुकता प्रगट करते से जान पडते हैं कि देखें तो सही! आज पृथ्वी तल पर कैसा आनन्ददायक चमत्कारपूर्ण दृश्य दिखाई दे रहा है!

'जिधर, जिधर अपन ध्यानपूर्वक देखते हैं उधर उधर ही, एक निराला ही दृश्य दिखाई देता है—सभी लोग अपने अपने काम धधो मे लगे हुए जान पडते हैं। रास्ता चलने वालो में कोई पैदल, कोई घोडे पर कोई गाडी मे, भिन्न भिन्न मार्गों से आ जा रहे हैं। किसान ग्वाल अपने-अपने बैलो और मवेशियो को लेकर, गाँव की सीमा से बाहर निकल रहे हैं। कोई अनाज, घी दूध, लकडी, साग भाजी इत्यादि बिक्री के पदार्थ लेकर बेचने के लिए निकले हैं। कोई नदी के तट पर नाव पर बैठ कर, चल देते हैं। पक्षीगण मानो एक दूसरे का आह्वान कर रहे हैं। सभी मिल कर ऐसी कर्ण मधुर चहचहाहट कर रहे हैं जो सुनते ही बनती है। पर्वत मालाओ मे कोई समीप और कोई सुदूर दिखाई देती है—वे सब मिल कर एक विचित्र मनोहर दृश्य उपस्थित कर रही हैं। उनमें कही गुफाएँ दिखाई पड रही हैं। कहीं उनमे से भारी चट्टानें टूट कर लुढक पडी हैं ऐसा दिखाई पडता है। किसी जगह सघन वन व भयकर झाड झखाड हैं। कही छितरे हुए वृक्ष दूर दूर खडे हैं। कही शिलाएँ बिछी हैं तो कहीं मात्र चरागाह ही दिखाई पड रहे हैं।'[1]

अधिकांश आद्य मराठी उपन्यासकारो की रुचि ऐतिहासिक उपन्यास रचना की ओर ही अधिक रही थी। सामाजिक उपन्यास के विकसित होने मे इसीलिए काफी विलम्ब हो गया। किन्तु ऐतिहासिक उपन्यास रचना में भी मराठी उपन्यास कारों ने पर्याप्त वर्णन प्रतिभा का परिचय दिया है।

मराठी भाषा में उपन्यास का नाम 'कादम्बरी' प्रचलित है। यह इस बात का परिचायक है कि मराठी के उपन्यासकार परम्परागत संस्कृत कथाशैली के प्रति श्रद्धालु हैं। प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास होने की दृष्टि से श्री रामचन्द्र भीकाजी गुजीकर द्वारा रचित उपन्यास 'मोचनगड' (१८७१ ई०) एक चिरस्मरणीय कृति है। इस उपन्यास का प्रारम्भ श्री शिवा प्रशस्ति से ही हुआ जिसका कि चरम विकास हम श्री हरि नारायण आप्टे के उपन्यासो मे देख सकते हैं। उपन्यास का विन्यास

---

१ 'मुक्तामाला (श्री लक्ष्मण मोरेश्वर शास्त्री हळबे) रचनातिथि १८५६ ई०, भाग पहिला पृष्ठ १२। (स० डॉ० अ० न० देशपाडे एम० ए०, पी एच० डी०), प्रस्तुत सस्करण १९५९ ई० (माडर्न बुकडिपो पूना २)

यद्यपि पुरानी शैली का है फिर भी महाराष्ट्र प्रदेश की झाँकियों के चित्रण एवं इतिवृत्त-तत्व के निर्वाह, दोनों ही दृष्टियों से 'मोचनगढ' आदरास्पद है।

श्री गुंजीकर ने इतिहास परक उपन्यास रचना की प्रेरणा, कहा जाता है कि श्री मोरोबा कान्होबा से पाई थी। उनका एक इतिवृत्त आधारित उपन्यास 'घासीराम कोतवाल' का प्रकाशन, पूना से, सन १८६३ ई० में हो चुका था। किन्तु उपन्यास का विन्यास जटिल होने के कारण एवं प्रारम्भिक प्रयोग होने के कारण उसे, श्री गुंजीकर के उक्त उपन्यास के समान ख्याति न प्राप्त हो पाई। 'मोचनगढ' के पश्चात् मराठी के ऐतिहासिक उपन्यास क्षेत्र में तब तक किसी विशिष्ट प्रतिभा के दर्शन नहीं होते, जब तक कि श्री हरि नारायण आप्टे ने अपने महान ऐतिहासिक उपन्यास नहीं रचे।

श्री हरि नारायण आप्टे (जन्म सन् १८६४ ई०, निधन १९१९ ई०) का सर्वप्रसिद्ध उपन्यास 'उष काल' हुआ। उपन्यास में महाराष्ट्र का चित्रवत् दृश्य-ज्ञान पाया जाता है तथा स्थान वर्णन की दृष्टि से वह एक विशिष्ट कृति मानी जाती है। श्री हरि नारायण आप्टे के अन्य चिरस्मरणीय ऐतिहासिक उपन्यास हैं—'सूर्योदय', 'गड आला पण सिंह गेला' सूर्यास्त, रूपनगर की राजकन्या —आदि। 'सूर्योदय' एवं सूर्यास्त' में मराठी शक्ति के उदय एवं पराभव का चित्रण किया गया है तथा 'गड आला पण सिंह गेला' में वीरवर तानाजी की सिंहगढ के उद्धार अभियान में, वीरगति प्राप्त करने की लोमहर्षक वीरगाथा वर्णित है। इन सभी उपन्यासों में, स्थान वर्णन, प्रकृति वर्णन, युद्ध वर्णन आदि भरे पड़े हैं और प्रकृति वर्णन तो एक से एक अनूठे बन पड़े हैं।

श्री आप्टे को उक्त उपन्यासों के रचने की प्रेरणा सन १८९६ ई० में, रायगढ में, बड़ी धूमधाम से मनाई गई 'शिवाजी जयन्ती' से प्राप्त हुई। उसके प्रवर्तक, भारतीय स्वराज्य के प्रथम अध्वर्यु, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक थे। श्री आप्टे के युवक हृदय पर लोकमान्य के देशानुराग का गहरा प्रभाव पड़ा और वे उनके 'केसरी' (मराठी दैनिक) एवं 'मरहठा' (अंग्रेजी साप्ताहिक) के नियमित पाठक बन गये। श्री आप्टे ने महाराष्ट्र में लोकमान्य द्वारा प्रवर्तित 'शिवाजी उत्सव' नामक राष्ट्रीय त्यौहार को लोकप्रिय बनाने में भी सक्रिय योग दिया था।

श्री आप्टे ने मराठी उपन्यास-साहित्य को प्रचुर समृद्धि प्रदान की है। उनके जिन इतिवृत्तात्मक उपन्यासों का उल्लेख ऊपर किया गया है उनके अतिरिक्त, उन्होने भारतीय इतिहास के कतिपय अन्य गौरवशाली प्रसंगों पर भी, उपन्यास रचना की है। 'चन्द्रगुप्त आणि चाणक्य' भी एक ऐसा ही उत्तम ऐतिहासिक उपन्यास है। इनका एक और समर्थ उपन्यास 'वज्राघात' भी है। इसमें श्री आप्टे ने, विजय

नगर साम्राज्य के पतन को, कथावस्तु का आधार बनाते हुए, तत्कालीन दक्षिण भारत की झाँकी प्रस्तुत की है।

श्री द्वारकानाथ माधवराव पितळे उपनाम 'नाथमाधव' का यथार्थ अर्थों में श्री आप्टे का उत्तराधिकारी कहा गया है। उनका जन्म सन् १८८२ ई० में हुआ था। जब श्री पितळे, बम्बई सरकार के वन विभाग में काम कर रहे थे तो एक बार वे, सिंहगढ़ के जंगलों में, शिकार का पीछा करते हुए ६० फुट की ऊँचाई से गिरने के कारण, चलने फिरने से विवश हो गए। इस शारीरिक असमर्थता के कारण, मनोरंजन की दृष्टि से, उन्होंने, ऐसे उपन्यासों की सृष्टि प्रारम्भ कर दी जिनमें कि कार्यशीलता एवं घटनाओं की तीव्रता का बाहुल्य था। क्योंकि उन्होंने महाराष्ट्र प्रदेश के वन पर्वतों का पर्याप्त भ्रमण किया था अतएव, महाराष्ट्र के अतीत-काल को आधार बना कर उन्होंने, एक से एक उत्तमोत्तम उपन्यासों की रचना प्रारम्भ कर दी, जिनमें वनों, पर्वतों और जंगलों के वर्णन बहुत विविध रूपों में पाए जाते हैं।

श्री 'नाथमाधव' का पहला उपन्यास, 'तरुण राजपूत सर्दार' सन् १९०९ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसका कथानक शिवाजी के काल का था। इसके पश्चात् उन्होंने अपनी वह प्रसिद्ध 'स्वराज्यमाला' प्रारम्भ की जिसमें कि स्वराज्याचा श्री-गणेश, 'स्वराज्याची स्थापना, 'स्वराज्यावरील संकट', स्वराज्याचा राज्य-कारभार', 'स्वराज्याची घटना', स्वराज्याचा विनाश' आदि सभी उपन्यास थे, जो पर्याप्त लोकप्रिय हुए। इन सभी में मराठा काल के अभ्युदय एवं उसके विनाश की वीरगाथा को उपन्यास रूप दिया गया है। सभी उपन्यास, प्रादेशिक रूपाभा से समृद्ध हैं तथा तत्कालीन महाराष्ट्र का जीवन और पृष्ठभूमि उनमें प्रतिबिम्बित है।

श्री चिंतामणि विनायक वैद्य (सन् १८६१ १९३८ ई०) मराठी भाषा के प्रसिद्ध उपन्यासकार हुए हैं। उन्होंने कुछ ऐतिहासिक उपन्यासों की भी रचना की है जिनमें कि शिवाजी चरित्र एवं 'दुर्दैवी रंग', प्रस्तुत प्रसंग की दृष्टि से अधिक उल्लेखनीय हैं। दुर्दैवी रंग' में पेशवाओं के युग के जनजीवन का चित्रवत् वर्णन पाया जाता है। श्री चिंतामणि गणेश भानु ने भी अनेक उत्तम ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की। उनके 'शृंगेरी की लक्ष्मी (सन् १९२४ ई०) नामक उपन्यास में, शृंगेरी *के मठ पर मुसलमानों के आक्रमण तथा उसके प्रतिकार की कथा वर्णित है।* कथावस्तु नाना फड़नवीस के काल से ली गई है।

श्री हरि नारायण आप्टे तथा श्री 'नाथमाधव' की परम्परा को अग्रसर करने वाले श्री विट्ठल वामन हड्प ने लगभग एक दर्जन उपन्यासों की रचना करके, पेशवाओं के समस्त इतिहास को उपन्यास रूप में साक्षात् कर दिखाया है। इनके उपन्यासों में, महाराष्ट्र के अनेकानेक ऐतिहासिक नगरों, दुर्गों, प्राकृतिक स्थलों तथा

जन साधारण के रहन सहन के विविध पक्षों का, पर्याप्त प्रामाणिक वर्णन पाया जाता है। इनके उपन्यास 'पेशवाईवरील कादम्बरी माला' नाम से प्रकाशित हुए हैं।

सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी स्वर्गीय डा० नारायण दामोदर सावरकर का ऐतिहासिक उपन्यास 'मरणाची लग्न मी, बाजीराव पेशवा के काल के महाराष्ट्र को प्रतिबिम्बित करने वाली एक चिरस्मरणीय कृति है।

सन् १९६३ ई० में प्रकाशित श्री ना० स० इनामदार का ऐतिहासिक उपन्यास, भेप, एक नवीन शैली का सूत्रपात करने वाला सफल वर्णनात्मक उपन्यास है। इसमें पेशवाओं के समय में, अंग्रेजी राज्य के बढ़ते हुए चरणों को रोकने के, एक हार्दिक एवं आत्मबलिदानी प्रयास को, उपन्यास रूप में चित्रित किया गया है। इस कृति से जान पड़ता है, मराठी का ऐतिहासिक उपन्यास भी एक नया मोड़ ले रहा है।

यद्यपि मराठी पाठकों में ऐतिहासिक उपन्यास सबसे अधिक लोकप्रिय रहे हैं, फिर भी कुछ अन्य क्षेत्रों एवं शैलियों में भी मराठी उपन्यास ने पर्याप्त प्रगति दिखाई है। सामाजिक उपन्यासों से लेकर आंचलिक उपन्यासों तक बहुत से अभिनव औपन्यासिक प्रयोग भी किए गए हैं। जिन उपन्यासकारों की ख्याति अब चिरस्थाई हो गई है उनमें से कुछ का उल्लेख ही यहाँ किया जा सकता है।

श्री वामन मल्हार जोशी के उपन्यास 'रागिणी' में एक नये दृष्टिकोण का उदय हुआ है। उसमें, मराठी पारिवारिक जीवन के बदलते हुए स्वरूप, तथा नारी के नये सामाजिक स्तर के चित्रण का प्रयत्न तो था ही, साथ ही उसमें बौद्धिक प्रतिभा की और विचारों की उदात्तता भी थी।

डा० केतकर, श्री वा० म० जोशी के ही समकालीन सुयोग्य लेखक थे। उन्होंने उपन्यास की सृजन-कला को गम्भीर विचार विमर्श की वस्तु नहीं बनाया और उसे केवल मनोरंजन प्रधान ही माना। उन्होंने उपन्यास के माध्यम से भारतीय सामाजिक ढाँचे की, सहज समस्याओं को पाठकों के सम्मुख रखा। उनकी 'ब्राह्मणकन्या' में चरित्र चित्रण के व्याज से, पात्रों के वर्णन सजीव बन पड़े हैं।

सन् १९२१ ई० के बाद रचित आधुनिक मराठी उपन्यास पर अपनी विशिष्ट छाप छोड़ देने वाले सर्वाग्रणी लेखक हैं फड़के, देशपांडे, माडखोलकर आदि। फड़के की धारणा है कि आनन्द देना ही कला का प्रमुख लक्ष्य है। ये 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के प्रतिपादक रहे हैं और इस दृष्टि से मराठी उपन्यास कला को उन्होंने पर्याप्त परिष्कृत किया है। 'जादूगर' आदि उपन्यासों में शैली की सुगमता और चरित्र चित्रण की कुशलता अनुपम है। वे सन् १९२० से लगभग ३० उपन्यास लिख चुके हैं।

श्री वि० स० खाडेकर के उपन्यासों में, फड़के के उपन्यासों से, अनेक सर्वथा विपरीत लक्षण पाए जाते हैं। फड़के सदा सजग कलाकार हैं और पाठकों के चित्त को रंजनमय करने की दृष्टि से ही लिखते हैं तो खाडेकर ऐसे आदर्शवाद से प्रेरित होकर लिखते हैं कि उनका चरित्र चित्रण बहुधा भारी भरकम हो जाता है। शैली भी कृत्रिमता एवं अलंकरण से बोझिल हो जाती है। परन्तु आधुनिक विचारधारा के, मराठी जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव का उन्हें सदा ध्यान रहता है। उनके 'उल्का' तथा 'क्रौंचवध' नामक उपन्यास, मराठी साहित्य में युग प्रवर्तक हैं। उनके परवर्ती उपन्यास 'ययाति' का पर्याप्त आदर हुआ है।

माडखोलकर का उपन्यास 'मुक्तात्मा' मराठी का प्रथम आधुनिक राजनीतिक उपन्यास माना जाता है। यद्यपि इस श्रेणी के उपन्यासों का सूत्रपात स्व० हरि नारायण आप्टे, आजच या कर्मयोग' द्वारा पहले भी कर गए थे। माडखोलकर पत्रकार थे अतएव समसामयिक घटनाओं, व्यक्तियों एवं आंदोलनों आदि से वे सम्यक्तया परिचित थे। संस्कृत बहुला, अग्राम्य एवं नागरिक वर्णन शैली, उनकी अनुपम विशेषता है। उनके सर्वोत्तम उपन्यास 'चन्दनवाडी' में नागपुर के औद्योगिक क्षेत्र में रहने वाली एक हरिजन लड़की का सहानुभूतिपूर्ण चरित्र चित्रण है। नागपुर के अनेक स्थान वर्णनों से भी यह उपन्यास समृद्ध हुआ है।

विगत दस वर्षों में विविधता और विषय परिवर्तन की दृष्टि से मराठी उपन्यास ने पर्याप्त उन्नति की है। र० वा० दिघे के उपन्यासों की एक विशेषता है—ग्राम-जीवन का चित्रण। इनमें आदिमजातीय भीलों के जीवन का चित्र भी खींचा गया है। उनके आसपास की बरसाती हवाओं और हरीभरी खेती, विनाशकारी बाढ़ तथा पार्वत्य जीवन के वर्णनों से, उपन्यास में एक नयी दृश्यमान छटा आ गई है।

सन् १९५० ई०, मराठी उपन्यास की युगीन आवश्यकता की दृष्टि से, एक महत्त्वपूर्ण वर्ष माना जाना चाहिए। इसी में श्रीमती विभावरी शिरूरकर का 'बली' उपन्यास निकला और विवलकर ने नोआखाली काण्ड को लेकर 'सुनीता' नामक एक नये ढंग का उपन्यास रचा।

श्री ना० पेंडसे ने 'एलगार', 'हद्दपार', 'गारंबीचा बापू' आदि उपन्यास रचे हैं। उनकी उपन्यास कथाएँ महाराष्ट्र के कोंकण प्रदेश की हैं जिनमें वहाँ के परिवेश को शब्द चित्रण शैली में, चित्रित किया गया है। इसमें लेखक का अपने प्रदेश का अपार ज्ञान तथा वहाँ के आदिवासियों के प्रति अनुराग, उभर कर आया है। एक प्रकार से ये आंचलिक उपन्यास ही हैं। कोंकण प्रदेश की प्रकृति की पलपल परिवर्तित होने वाली आभा को, उपन्यासकार ने मानो एक चित्रकार की तूलिका से चित्रित किया है।

श्री बालकृष्ण भगवन्त बोरकर का भावप्रधान शैली में लिखा गया सफल वर्णन बहुल उपन्यास 'भावीण', मराठी उपन्यास-साहित्य में, गद्य महाकाव्य शैली का सूत्रपात करता है। देवदासी प्रथा को लेकर, गोआ के श्री मंगेश देवालय के आसपास के मनोरम प्राकृतिक परिवेश में अवस्थित कथानक बड़ा ही हृदयग्राही बन पड़ा है। कुछ वर्णन तो गद्यकाव्य जैसे सरस हैं। वास्तव में यह प्रदेश, है ही प्राकृतिक रूप से बहुत धनी। लेखक ने उसका वर्णन भी बहुत ही कलात्मक ढंग से यथातथ्यता के साथ किया है। इसका हिंदी अनुवाद 'देवदासी' नाम से प्रकाशित हो चुका है।

श्री गोपाल नीलकण्ठ दाण्डेकर इस युग के एक बड़े समर्थ एवं प्रभावशाली उपन्यासकार हैं। उनके अनेक आंचलिक उपन्यास प्रकाशित हुए हैं जिनमें 'पवना-काठाचा धोंडी' (सन १९५५ ई०) एक समर्थ कृति है। श्री दाडेकर का महा उपन्यास 'आम्ही भागीरथा च पुत्र' (सन १९५६ ई०) एक बड़ा समर्थ वर्णन प्रधान उपन्यास है। भाखड़ा नांगल बाँध के ऐतिहासिक युगान्तरकारी निर्माण की पृष्ठभूमि में, हिमाचल प्रदेशवासियों के आंचलिक जीवन का बड़ा ही सफल वर्णन, इस महा उपन्यास में पाया जाता है तथा अनेक स्थलों पर उपन्यास, महाकाव्य की ऊँचाई का छू गया है।

श्री रणजीतराय का 'स्वामी' नामक नूतन उपन्यास, वर्णनात्मक कला की दृष्टि से, एक उच्चकोटि का उपन्यास है। उपन्यासगत वर्णन, चित्रवत कलात्मकता से परिपूर्ण, तथा लालित्यमय बन पड़े हैं।

एकादश प्रकरण गुजराती उपन्यास साहित्य की रूपरेखा

आधुनिक भारतीय भाषाओं के उपन्यास साहित्य के इस विहंगम सर्वेक्षण में अगली प्रादेशिक कड़ी है गुजराती उपन्यास-साहित्य की। गुजराती भाषा का क्षेत्रीय विस्तार जिस भूभाग में प्रसरित है उसे उत्तर में हिमालय की बर्फीली चोटियों का सान्निध्य नहीं मिल पाया वरन् उसे थार (सिन्ध) और मारवाड़ (राजस्थान) के मरु प्रदेशों की निकटता प्राप्त हुई है। उसके दक्षिण में बंग-सागर की सुनील जलराशि न होकर, कोंकण का वन पार्वत्य प्रदेश पाया जाता है। पूर्व दिशा में इसे सघन वनों, चंचल गति पहाड़ी नदियों एवं पर्वत मालाओं का नीचा ऊँचा प्रदेश मिला है (जो विन्ध्य मेखला के नाम से अभिहित है।) इसके पश्चिम में गंगा-जमुना के हरे भरे मैदान न पाये जाकर, अरब सागर की उत्ताल तरंगें लहराती हैं जिनके द्वारा पहले पहल इस देश में पाश्चात्य व्यापारी वर्ग का पदार्पण हो पाया। उससे भी बहुत वर्षों पूर्व, पश्चिम उत्तर से आक्रमण करने वाले तुर्क एवं अरब आक्रान्ताओं का भी, पहले पहल इसी प्रदेश को सामना करना पड़ा। संघर्ष आत्म रक्षा, सैनिक अभियान एवं नित्य संकटमय परिस्थितियों के कारण इस प्रदेश का जन जीवन विगत आठ शताब्दियों से आलोडित रहा है। इसलिए इतिवृत्त के प्रति उसका अनुराग एवं ममत्व सहज ही है।

महागुजरात क्षेत्र को हम सौराष्ट्र काठियावाड एवं गुजर (गुजरात) इन तीन उपक्षेत्रों में विभाजित, किन्तु साथ ही, सुग्रथित भी पाते हैं। इस प्रदेश में लोकगीतों एवं लोकवार्ता साहित्य की प्रेरणा ने, इसके उपन्यासों की सृष्टि में, एक विशिष्ट इतिवृत्त परक प्रादेशिक रस का समावेश किया है। इसीलिए इस प्रदेश के उपन्यास-साहित्य के सम्यक अध्ययन के लिए, इसकी प्रभूत लोकवार्त्ता सामग्री की ओर भी ध्यान देना अनिवार्य है।

आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व, एक सामयिक पत्रिका में गुजराती साहित्य के आद्य आलोचक एवं मर्मज्ञ श्री कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी ने 'काठियावाड का लोक साहित्य' नामक एक महत्वपूर्ण निबंध प्रकाशित कराया था। तदनुसार —

'काठियावाड का अपना निजी लोकसाहित्य है। उसकी विशिष्टता, न केवल उसके भाषागत निरालेपन में है, वरन् उसमें, इस प्रदेश में रहने वालों के सामाजिक जीवन की झाँकियाँ भी, परिव्याप्त हैं। वे सभ्यता-संस्कृति की कृत्रिमता से अछूती, स्वच्छंद उच्छृंखल, रोमानी एवं वीरादर्श प्रधान रही हैं। वे काठियावाड के अतीत से चली आती परम्परा की द्योतक हैं—गहरे रंगों में छबिमयी, सैनिक पौरुष से ओजस्वी एवं भावातिरेक से रोमांचित ऐसे लोकगीतों एवं लोकवार्त्ताओं में हीरामण जेठवा का दूहा', 'उजालीबाई मेहजेठवा', 'आठोग्राम', 'होडलद पदमणी', 'लाखो फूलणवे', 'राणकदेवी रा माण्डलिक', 'रा खंगार' आदि मुख्य ऐसी ही लोकवार्त्ताएँ हैं जिनके पात्र-पात्राएँ सभी ऐतिहासिक रहे हैं किन्तु समयान्तर में उन्होंने, रोमानी ख्याति प्राप्त करली है। इन अतीतकालीन रोमानी लोकगाथाओं ने गुजरात के उपन्यासकारों के लिए असंख्य कथानक संकेत एवं कथा सामग्रियाँ प्रस्तुत की हैं।'[1]

स्वर्गीय श्री झवेरचन्द मेघाणी एवं श्री गोकुलदास रायचुरा ने, इस व्यापक लोकसाहित्य-सामग्री का संकलन एवं पुनरुद्धार करने में बड़ा कार्य किया था। श्री मेघाणी तो स्वयं एक अत्यन्त यशस्वी, इतिवृत्त प्रधान एवं प्रादेशिक विशिष्टताओं से युक्त उपन्यास शैली के, पुरस्कर्त्ता ही हुए हैं।

गुजराती उपन्यास का आविर्भाव सन् १८६४ ई० से माना जाता है। इस वर्ष में रावसाहब महीपतराम रूपराम ने अपना सामाजिक उपन्यास 'सासु वहुनी लढाई' लिखा था। इसके केवल दो वर्ष पश्चात् ही रावबहादुर नन्दशंकर तुलजाशंकर ने, अपने सुप्रसिद्ध उपन्यास 'करणघेलो' की रचना की थी। गुजराती उपन्यास में

---

१ ईस्ट एण्ड वेस्ट — काठियावाड का मौलिक साहित्य (कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी एम० ए० एल एल० बी०) जुलाई १६१३ के अंक से। तथा—
'माइलस्टोन्स इन गुजराती लिटरेचर' (श्री कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी) (१६१४ ई० का संस्करण बम्बई।)

ऐतिहासिक उपन्यास, इस भाँति लगभग एक शती से लोकप्रिय रहे हैं। इस प्रदेश में इतिवृत्तात्मक लोककथाएँ, बाहुल्य म पाई जाती थी। इधर आंग्लभाषा के सुपठित विद्वानों का ध्यान, सर वाल्टर स्काट जसे सिद्धहस्त आंग्ल उपन्यासकारो की कृतियो की ओर गया और वे स्वय भी, अपन प्रदश की अस्मिता से ओतप्रोत लोकगाथाओ एव इतिवृत्त-वृत्तान्तो को, नवीन उपन्याम शली म प्रस्तुत करने का प्रयत्न करन लगे। इस सम्बन्ध म प्रथम सफल औपन्यासिक प्रयोग की दृष्टि से करणघेलो इसीलिय उल्लेख्य है।

'करणघेलो के रचनाकार रावबहादुर श्री नन्दशकर ने अपने उपन्यास की प्रथम आवृत्ति का प्रस्तावना म ही इस उपन्याम की विकास सरणी पर प्रकाश डाला है।[1] 'करणघेलो म सौराष्ट्र क एक सुप्राचीन राजवश क पतन की कहानी को अपन उपन्यास का आधार बना कर श्री न दशकर ने, अहिलपुर पाटन म कन्द्रित उस ग्यारहवीं शती के गुजराती जन जीवन की रूपाभा प्रस्तुत की है जो कि कितनी ही स्थानीय कथा वार्ताओ एव तत्कालीन सामाजिक जीवन की, चित्रवत विशिष्टताओ के कारण आज भी पठनीय एव मननीय है। उपन्यास म उपयुक्त प्रदश म फल हुए, विविध दुर्गों, दवालयो एव ऐतिहासिक स्थना क स्मरणीय वणना के अतिरिक्त उसके प्राकृतिक वातावरण का भी बडी प्रभावशाली शली म वर्णित किया गया है। उदाहरणाथ पवत शिखर पर अवस्थित कालिकादेवी के देवालय एव उसके आसपास के रहस्यमय वातावरण का चित्रण पढ़न ही बनता है।

गुजराती भाषा क सवप्रथम उपन्यासकार रावसाहब महीपतराम रूपराम (१८२६ १८९१ ई०) एक उत्तम ऐतिहासिक उपन्यासकार भी थ। वे सौराष्ट्र प्रदेश के लोकजीवन एव रीतिरिवाजो के भी पारदर्शी पडित थ जिसका परिचय उन्होने अपने प्रथम उपन्यास म दिया ही था। सामाजिक उपन्यास की रचना ('सासु वहूनी लडाई १८६४ ई०) के पश्चात् उन्होने अपना ध्यान गुजरात की ऐतिहासिक वीरगाथाओ की ओर दिया। ऐसी दो लोकविश्रुत वार्ताओ क आधार पर उन्होंने दो प्रादेशिक रूपाभा के वणनो स ओतप्रोत उत्कृष्ट उपन्यास रचे।

वनराज चावडा (१८८१ ई०) की वीरगाथा गुजरात म चारण एव भाट अभी तक गा गाकर सुनात हैं। जब सौराष्ट्र पर सिंध की ओर से मुसलमानी आक्रमण हुआ तो उस समय वहा महाराजा जयशेखर राज्य करते थे। विधवा महारानी ने वनो एव पवतो की शरण ली। वहा उसे अपन गादी के पुत्र का रक्षा करने म एव उसे पालने पोसन म एक जन साधु की सहायता प्राप्त हो गयी। वन म पलने के कारण वहा बालक 'वनराज नाम स प्रसिद्ध हुआ। 'चावडा वश का द्योतक है।

---

१ करणघेलो (मूल गुजराती उपन्यास) प्रथम आवृत्ति १८६४ ई० (रावबहादुर श्री न दशकर तुलजाशकर)।

सधरा जेसिंग' (१८८१ ई०) रावसाहब महीपतराम की दूसरी इतिवृत्तात्मक प्रादेशिक औपन्यासिक कृति है। इससे सम्बन्धित 'राणकदेवी' के लोकगीतों एवं लोक-वार्त्ताओं का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। सिद्धराज जयसिंह, १०९३ ई०-११४३ ई० गुजरात के गर्वीले अतीत के एक तेजस्वी नक्षत्र हुए हैं। इस कथानक को लेकर, अनेक सिद्धहस्त गुजराती उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों की सृष्टि की है एवं विभिन्न नामरूपों द्वारा, इसी कथानक का उपयोग किया है। अतएव 'सधरा जेसिंह' का, गुजराती के वर्णनकलात्मक उपन्यासों में पर्याप्त महत्त्व है।

सरस्वती चन्द्र' उपन्यास की रचना गुजराती साहित्य में एक बहुत महत्व की घटना मानी जाती है। इस महा उपन्यास की रचना श्री गोवर्धनराम माधवराम त्रिपाठी ने सन् १८८७ ई० में की थी। अनेक जिल्दों में समाप्त होने वाला यह वृहत् उपन्यास, गुजराती उपन्यास-साहित्य में, साहित्यिक गरिमा की दृष्टि से, आलोचकों द्वारा अत्यन्त सराहा गया था। उपन्यास का कथानक मानवधर्म एवं सदाचार के सम्बन्ध में एक रूपकात्मक गाथा के रूप में आयोजित किया गया है। यहाँ 'सरस्वती चन्द्र' के प्रथम प्राचीन संस्करण (सन् १८८७ ई०) से, प्रारम्भिक अंश, उपन्यासकार की समृद्ध वर्णनशैली का परिचय देने के लिए दिया जा रहा है —

'सुवर्णपुर पश्चिम सागर में, जहाँ भद्रा नदी गिरती है, वहीं संगम से थोड़ी दूर आगे की ओर बसा है। एक टेकरी के ढलाव पर बसा यह नगर ऐसा जान पड़ता है मानो सागर ने नदी की भुजाओं में एक बालक को थमा रखा है। इस नगर के बंदरगाह पर, माघ मास के एक दिवस की बात है, कि एक छोटा सा जहाज किनारे आकर लगा और छोटी मोटी नौकाएँ, उस पर से माल उतारने के लिए गयीं। विभिन्न प्रकार का माल उतारा जा रहा था और बीच बीच में कोई कोई यात्री भी उतरता नजर आता था। एक छोटी सी नाव पर कुछ व्यापारी उतरे। उनके साथ एक तरुण पुरुष भी उतरा और मल्लाह की बगल में आकर बैठ गया। उसकी दृष्टि समुद्र तथा सुवर्णपुर के बीच ही, किसी स्थल पर टिकी हुई थी उस पुरुष की आयु २३ २४ वर्ष की रही होगी। उसके वस्त्र उजले न थे। वह गम्भीर मुखमुद्रा में बैठा था और कभी कभी गहरी सांस लेकर रह जाता था। फिर भी उसके मुखमण्डल की कान्ति में एक प्रकार का लावण्य था और उसके चेहरे पर एक प्रकार की कोमलता झलकती थी।''[1]

---

१ सरस्वतीचन्द्र (नवलकथा) (रचनाकाल १८८७ ई०) कर्ता गोवर्धनराम माधवराम त्रिपाठी, बी० ए०, एल एल० बी ० वकील, मुंबई हाइकोर्ट। भाग १, 'बुद्धिधनो अवतार', प्रकरण १, 'सुवर्णपुर ना अतिथि' पृष्ठ ३ ४ (मुख्य वितरक—एन० एम० त्रिपाठी एण्ड क०, कालबादेवी, बम्बई)

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात एवं द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ के आसपास के काल (१९२० १९४० ई०) में गुजराती भाषा में, अनेक श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना हुई, जिनमें कथारस की प्रवाहशीलता के साथ ही साथ, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का निर्वाह प्रादेशिक तथा स्थानीय विशिष्टताओं का समावेश आदि गुण भी पाये जाते हैं। यह काल एक प्रकार से, गुजराती उपन्यास में इतिवृत्तात्मक एवं प्रादेशिक विशिष्टताओं से समन्वित उपन्यास रचना के चरम विकास का युग माना जा सकता है। रचनाक्रम की दृष्टि से उनमें श्री धनशंकर कृत 'सोरठना सितारा' श्री जेठालाल त्रिवेदी कृत पाटणनो उद्धार, श्री गुणवन्तराय आचार्य कृत 'पीरमनो बादशाह', देश दिवान एवं दरियालाल श्री चन्दुलाल जे० व्यास कृत सोरठना मुत्सद्दी वीर तथा श्री चुन्नीलाल वर्धमान शाह कृत कर्मयोगी राजेश्वर, 'अवन्तीनाथ' एवं रूपमती आदि अधिक उल्लेखनीय हैं।

श्री गुणवन्त आचार्य का उल्लिखित उपन्यास दरियालाल गुजराती उपन्यास में, देश विदेश एवं सागर जीवन के वर्णनों से पूर्ण, इतिवृत्तात्मक उपन्यास रचना का प्रथम समर्थ प्रयोग कहा जायगा। इस उपन्यास का प्रधान नायक, सूरत निवासी अनाविल साहसवीर अमूलख देसाई है जिसे अपनी साहसी सागर यात्राओं के उपलक्ष्य में, 'शक्र अल बहर' की उपाधि प्रदान की गयी थी। कथानक ईस्ट इण्डिया कम्पनी के काल में गुजरात की पृष्ठभूमि पर लिखा गया है जब कि सोरठी व्यापारियों के हाथ से अंग्रेजों ने सागर पार का व्यापार हथियाना प्रारम्भ किया था। उपन्यास की कथाभूमि, केवल गुजरात एवं भारत की सीमाओं तक ही सीमित न रह कर, अफ्रीकी महाद्वीप स्थित अबीसीनिया प्रदेश तक फैली हुई है। उपन्यास के नायक ने गुलामी प्रथा के विरुद्ध भी अपना प्रतिरोध प्रदर्शित किया था। उपन्यास की अपनी एक विशेषता यह भी है कि उसमें सागर युद्धों के विशेष परिवेश का एवं सागर जीवन के वास्तविक वातावरण का, वर्णनों के द्वारा चित्रोपम आलेखन किया गया है।

वस्तुतः इस काल के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार तो श्री झवेरचन्द मेघाणी ही हुए जिनके इतिवृत्तात्मक एवं प्रादेशिक उपन्यास साहित्य ने श्री क० मा० मुंशी के पश्चात् आने वाले अनेकानेक गुजराती उपन्यासकारों को सर्वाधिक प्रभावित किया। आधुनिक प्रादेशिक गुजराती उपन्यास के तो वे आदि प्रेरक ही माने जायेंगे। उनके इतिवृत्तात्मक उपन्यासों में समरांगण, राजजात नलिया' तथा सोरठ तारा वहता पाणी' विशेष प्रख्यात हुए। उनमें भी अन्तिम उपन्यास विशिष्टतया उल्लेख्य है। इस काल के एक अन्य प्रख्यात उपन्यासकार (तथा श्री मेघाणी के लोकसाहित्य संग्रह में सहयोगी) श्री गोकुलदास रायचुरा भी हुए। उन्होंने महीपालदेव सोरठाणी, ग्रहराज एवं नगाधिराज आदि अनेक समर्थ इतिवृत्त प्रधान उपन्यास रचे। श्री मेघाणी के समान ही, श्री रायचुरा के उपन्यासों में भी, सौराष्ट्र की प्रादेशिक एवं आंचलिक

आभा तथा स्थानीय विशेषताएँ सवत्र ही पाई जाती हैं। लोकवात्ताओं एव लोक-गीतों की कड़ियों पर, इनके कथानक अग्रसर हुए हैं अतएव उनमे, कथारस बहुत पाया जाता है।

श्री झवेरचन्द मेघाणी का जन्म, आज से लगभग ७५ वर्ष पूर्व सन १८९७ ई० मे सौराष्ट्र स्थित, गिर नामक वन प्रदेश मे चोटीला पहाड की तराई म, दाता के पुलिस थाने मे हुआ था। वहाँ श्री मेघाणी के नानाजी श्री महीपतराम, थानेदार थे। उन्होंने अपने नाना के चरित्र, एव अपने जन्मस्थान, दोनो को ही अपने अमर उपन्यास 'सोरठ तारा वहेता पाणी' म चिरस्मरणीय कर दिया है। केवल पाँच दशकों के अपने अल्प जीवनकाल (निधनकाल सन् १९४७ ई०) मे ही वे गुजराती लोकसाहित्य एव आधुनिक प्रादेशिक उपन्यास साहित्य, दोनों क ही पुरस्कर्ता के रूप म चिरख्यात हो गये। उनकी शिक्षा दीक्षा जूनागढ़ एव भावनगर मे हुई थी। सौराष्ट्र' पत्र के संस्थापक (बाद म 'जन्मभूमि' के प्रवतक) स्व० श्री अमृतलाल सेठ की प्रेरणा से, वे उपयुक्त पत्र के सम्पादक के रूप मे साहित्य क्षेत्र मे अवतरित हुए। इससे पूर्व वे, वर्मा के एक एल्युमीनियम कारखाने मे पदाधिकारी थे एव तभी वे यूरोप यात्रा भी कर आए थे। वे उपन्यासकार के अतिरिक्त, गुजराती साहित्य म अपनी ओजपूर्ण कविताओं के कारण भी अत्यन्त प्रसिद्ध हुए। उनकी 'शिवाजी की लोरी' गुजरात भर में लोकगीत की भाँति गाई जाती है।

'सोरठ तारा वहेता पाणी' की प्रस्तावना म श्री मेघाणी ने अपने इस बहुश्रुत उपन्यास के बारे मे स्वय परिचय दिया है —

यह सौराष्ट्र के जनजीवन की कथा है। इस कथा का नायक है समग्र जन समाज। सौराष्ट्र की सीमा पर खड़े होकर देखेंगे तो बीस साल पहले के जीवन प्रवाह को, आप इस कथा म, स्पष्ट बहता हुआ पाएगे यह व्यक्तियों का इतिहास है, और नहीं भी है—किन्तु समष्टि का इतिहास अवश्य है, क्योंकि जैसे घटनाओं का इतिहास है वैसा ही वातावरण का भी तो हो सकता है। अथवा यो भी कह सकते हैं कि इतिहास मे, घटनाओ के उल्लेख से अधिक, उसका वातावरण खड़ा करने की आवश्यकता होती है—और यदि वह एक जनसमूह का इतिहास है तो उसम निःसदेह, उसकी आवश्यकता होगी।"[1]

उपन्यास का कथाकाल प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व एव उन्नीसवी सदी के उत्तरार्ध के बीच का है। इसम अंग्रेजी शासन म बदलते हुए सौराष्ट्र की, एक मनोरम एव चिरस्मरणीय झाँकी दी गई है—उस काल मे, जनसाधारण मे, भारत की विश्रुत

१: 'सोरठ ! तारा वहेता पाणी।' —श्री झवेरचन्द मेघाणी, (हिन्दी रूपान्तर कार श्री मोहनलाल भटट, वर्धा) पृष्ठ १ २, लेखक का निवेदन'।

आदर्श वीरता धर्मपरायणता निर्भीकता एवं वीरपूजा आदि जातीय विशिष्टताएं पर्याप्त अंशों में अवशिष्ट थी—यद्यपि उनके ह्रास एवं पराभव के चिह्न भी दिखाई देने लगे थे। भारतीय नारियों की पति परायणता एवं धर्म परायणता को, उपन्यास का मुकुटमणि बनाया गया है। उपन्यास के सभी पात्र, सौराष्ट्र की धरती की निजी उपज जान पड़ते हैं—रूगड सेठ, सिपारण लगमन, गेरुआ बाबा और उनके साथ असंख्य सोरठी कृषक एवं अन्य नर-नारियाँ। इन सबको एक महाकार पर्दे पर, सिद्धहस्त उपन्यासकार, उपन्यास रचना की उत्कृष्ट कला द्वारा, प्रस्तुत करता है।

विगत दो दशकों में गुजराती उपन्यास साहित्य में इतिवृत्तात्मक उपन्यास, पर्याप्त संख्या में रचे गए हैं। उनमें श्री गौरीशंकर गोवर्धन जोशी 'धूमकेतु' की उपन्यास सृष्टि, यद्यपि सबसे अधिक उल्लेखनीय है फिर भी उनके अतिरिक्त श्री चुन्नीलाल वर्धमान शाह कृत 'एकल वीर तथा गुजरेश्वर', श्री गुणवन्तराय आचार्य कृत 'गिरनारने खोले, तथा सेनापति, श्री धीरुलाल शाह कृत— पाटनो दण्डनायक', तथा श्री जयभिक्खु कृत—नरकेसरी' विक्रमादित्य', हेमु, आदि, अधिक महत्व पूर्ण कृतिएं गिनी जायेंगी। उन सभी में इतिवृत्त-परक एवं प्रदेशगत विशिष्टताओं का, पर्याप्त निर्वाह किया गया है।

स्व० श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी गुजराती भाषा के शीर्ष उपन्यास कार माने जाते हैं। आज श्री मुंशी का व्यक्तित्व, सभी गुजराती साहित्यकारों की अपेक्षा, कहीं अधिक अखिलभारतीय बन चुका है और उनके उपन्यासों के अनुवाद भी लगभग सभी भारतीय भाषाओं के पाठकों में, उसी भांति सर्वप्रिय हुए हैं जैसे श्री शरत चटर्जी की कृतियाँ। श्री मुंशी का अपने समय के भारतीय सांस्कृतिक जागरण में भी बहुत महत्वपूर्ण योग रहा है। बम्बई का भारतीय विद्याभवन तथा आगरा विश्वविद्यालय का हिन्दी शोध संस्थान (कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी हिन्दी एवं भाषाविज्ञान विद्यापीठ) उनके सांस्कृतिक कार्य के चिरस्थायी स्मारक रहेंगे। हिंदी भाषा को वे अखिल भारतीय भावात्मक एकता का प्रतीक मानते रहे हैं और उन्होंने इसी नाते गुजराती के अतिरिक्त हिंदी भाषा के अभ्युदय के लिए भी, बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया है। ऐतिहासिक उपन्यास रचना में वे एक अखिल भारतीय उपन्यास शैली के प्रवर्तनकार हुए हैं। उनकी औपन्यासिक कृतियां इतनी बहुसंख्यक हैं कि उन पर विशद् विवेचना सम्भव ही नहीं है। केवल प्रमुख उपन्यासों का संक्षिप्त ब्यौरा ही दिया जाना सम्भव है।

श्री मुंशी का प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास 'पाटणनी प्रभुता' का प्रकाशन सन १९१६ ई० में हुआ था। गुजरात नो नाथ (सन १९१८ १९ ई०) इसके पश्चात् लिखा गया। ये दोनों उपन्यास दसवीं ग्यारहवीं सदी के गुजरात के औप न्यासिक चित्रण हैं। श्री मुंशी की वर्णन शैली कलाभिराम और संस्कारयुता है।

सोलकी राजवश के गौरव युग की ये गाथाएँ, सोमनाथ के देवालय पर आक्रमण के पश्चात सौराष्ट्र के पुन जागरण युग से सम्बन्धित हैं।

'पृथ्वीवल्लभ' उनका तीसरा ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमे मालवा-नरेश मुजदेव की गौरव गाथा है। मुजु द्वारा तेलगाना पर आक्रमण, पराजय, एव बन्दीगृह मे तलप की भगिनी मृणालवती से प्रणय की रोमानी लोकवार्त्ता को बडा ही विलक्षण उपन्यास रूप दिया गया है। 'जय सोमनाथ' उपन्यास अपनी चिरस्मरणीय दृश्यपटियों के कारण, स्मरणीय है। उनके अन्य ऐतिहासिक उपन्यासो मे 'धरती वसूलात' (सन १९१९ ई०) 'भगवान परशुराम' आदि भी प्रसिद्ध हैं। ऐतिहासिक उपन्यासो के अतिरिक्त, इनके सामाजिक उपन्यास 'स्वप्नद्रष्टा', 'तपस्विनी' आदि भी बडी सफल कृतियाँ हैं जो संस्मरणात्मक शैली म रचित हैं। श्री मुशी का एक और परवर्ती उपन्यास 'वशी की धुन' भी उनकी प्रसिद्ध कृतियो में से एक माना जाता है। इसमे श्रीकृष्ण की कथा को उपन्यास की कथाभूमि बनाया गया है। वर्णनात्मक दृष्टि से यह भी उल्लेखनीय है।

आधुनिक आचलिक गुजराती उपन्यास रचना के क्षत्र मे श्री ईश्वर पेटलोकर कृत 'धरती नु अवतार', श्री शिवशकर शुक्ल-कृत सरिता अने सागर' तथा श्री 'सोपान' (मोहनलाल मेहता) कृत 'जागता रहेजो' (जिसके आधार पर 'जागते रहो' फिल्म भी बना है) पर्याप्त नई शैली मे रचे गए, उपन्यास हैं। इन सभी में वर्णन कला का ही वैभव पाया जाता है। इसके अतिरिक्त श्री इन्द्र वसावडा कृत 'शीमा' मे, गुजराती ग्राम शीमा का मनोरम चित्रण है। श्री पीताम्बर पटेल कृत धरती नो खोले भी एक उत्तम आचलिक कथा है।

आधुनिक गुजराती उपन्यासकारो म श्री पन्नालाल पटेल श्रेष्ठ आचलिक उपन्यासकार हैं। उनकी कृति 'मलेलाजीव', साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत भी हो चुकी है। उनके अन्य स्मरणीय उपन्यास है— सुख दुखना साथी', 'वलमणा मानवीनी भवाई' आदि। इन सभी मे एक से एक मनोरम वर्णनशैली मे गुजराती राजस्थानी सीमा प्रदेश के ग्रामीण जीवन की झाकियां चित्रित हैं। आधुनिक गुजराती उपन्यास म आचलिक शैली, अधिकाधिक लोकप्रिय होती जा रही है।

द्वादश प्रकरण कन्नड उपन्यास साहित्य की रूपरेखा

दाक्षिणात्य भाषाओ म रचित वाङमय म कन्नड साहित्य की परम्परा पर्याप्त प्राचीन रही है तथा नवी शती ईसवी से कन्नड भाषा मे उत्तमोत्तम ग्रन्थ रचे जाने लग थे, इसका विशद एव प्रामाणिक वृत्तान्त स्वर्गीय रा० नरसिंहाचार्य-कृत 'कन्नड कवि चरित (तीन भागो म) द्वारा सुलभ हो गया है। इसके अनुशीलन से ज्ञात होता है कि आधुनिक कन्नड उपन्यास साहित्य के सूत्र, हमे बारहवीं शती म रचित कादम्बरी

ग्रन्थों में मिल सकते हैं। नागवर्मन प्रथमकृत 'कादम्बरी', चम्पू में रचित एक रोमांस काव्य है। नेमिचन्द्र ने अपने महाकाव्य 'लीलावती' में भी 'कादम्बरी' की ही शैली अपनाई है। कथानायक 'कन्दर्प', स्वप्न में 'लीलावती' नामक एक लावण्यमयी कन्या को देखता है एवं उसकी खोज में चल पड़ता है। लीलावती लता बन जाती है किन्तु अपने प्रेमी के स्पर्श द्वारा वह फिर अपना वास्तविक रूप धारण कर लेती है। कथा स्पष्टतया सुबन्धु कृत 'वासवदत्ता' को समक्ष रख कर रची गई है। देवकवि-कृत 'कुसुमावली' (१२०० ई०) में कथाकार कवि द्वारा संस्कृत भाषा के रोमांस सुबन्धु रचित 'वासवदत्ता' का ही आदर्श अपनाया गया है। इसमें स्वप्नदर्शी राजकुमार का नाम, मणिकुण्डल है जिसने कुसुमावली की प्रस्तर प्रतिमा को देख कर, महर्षि कपिल से उसकी पूर्वकथा जानी थी।

ईसवी सन् १३०० में चौण्डरस ने 'अभिनव दश-कुमार चरित' तथा 'नल चम्पू' नामक रोमानी काव्य रचे। उक्त रोमांस साहित्य ही कन्नड गद्य-लेखकों के लिए उपन्यास रचना की प्रमुख प्रेरणा सिद्ध हुआ। इस काल की प्रायोगिक उपन्यास सम गद्य कथाकृतियों में श्री केम्पुनारायण रचित 'मुद्रा मंजूषा' (सन १८२३ ई०) एक अभिनव कृति मानी जाती है। इसमें (संस्कृत नाटक) 'मुद्राराक्षस' की कथावस्तु को कन्नड गद्य में, कथा रूप दिया गया है। कुछ लोगों ने इसे, भ्रमवश, कन्नड का प्रथम उपन्यास बता दिया है। उसी के आसपास तुमारि ने, बाणभट्ट की 'कादम्बरी' का कन्नड रूप प्रस्तुत किया। सुबन्धु कृत 'वासवदत्ता' तथा दण्डी कृत 'दशकुमार चरित' की लोकप्रियता से भी बढ़ कर बाण कृत 'कादम्बरी' कर्नाटक में इतनी लोकप्रिय हुई कि मराठी भाषा के समान कन्नड साहित्य में भी, उपन्यास का सूचक शब्द 'कादम्बरी' ही बन गया।

कन्नड भाषा में प्रथम उपन्यास कौन सा था एवं वह कब रचा गया ? इसके बारे में, कन्नड साहित्य क्षेत्र में भी 'सौ सयाने, सौ मत' पाये जाते हैं। यहाँ तक कि मैसूर विश्वविद्यालय के विद्वान प्राध्यापक डा० हिरण्मय एम० ए०, पी०एच० डी० ने भी, अपने 'आधुनिक कन्नड साहित्य का सिंहावलोकन' नामक लेख[1] में यह बताया है कि श्री गलगनाथ रचित उपन्यास 'माधवी करुण विलास' कन्नड भाषा का, सर्वप्रथम उपन्यास है। इसी भांति श्री गुरुनाथ जोशी ने अपने लेख 'कन्नड ऐतिहासिक उपन्यास' में लिखा कि —

फिर भी कन्नड में मौलिक ऐतिहासिक प्रथम उपन्यास 'मुद्रामंजूषा' (केम्पु नारायण) ही है जिसकी रचना सन् १८२३ ई० में हुई। हमारे काल में ही मौलिक

१ 'आधुनिक कन्नड साहित्य का सिंहावलोकन' 'नागरी प्रचारिणी सभा पत्रिका' काशी, हीरक जयंती विशेषांक (२०११ वि०), पृ० ३५५-५७।

ऐतिहासिक उपन्यास देने वाले श्री गळगनाथ' जी हैं। इन्ही के लिखे हुए 'कुमुदिनी' नामक उपन्यास को आधुनिक कन्नड का, प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास मानने म कोई आपत्ति नही प्रतीत होती है।"[1]

अनेकानेक कन्नड विद्वानो स प्रश्न करने पर एव उनसे पत्र व्यवहार करने के पश्चात भी यह निणय न किया जा सका कि कन्नड भाषा मे, प्रथम उपन्यास की रचना कब की गई ? प्रथम उपन्यास का नाम क्या था ? तथा उसके रचयिता कौन महानुभाव हैं ? अन्त मे दक्षिणी कनाडा जिले के एक हिन्दी प्रेमी महानुभाव[2] के उद्योग स सुप्रसिद्ध कन्नड उपन्यासकार श्री एस० के० कारन्त स उक्त जिज्ञासा का समाधान हो पाया। श्री कारन्त के पत्र का हिन्दी अनुवाद यहा दिया जा रहा है —

'कन्नड साहित्य का प्रथम उपन्यास है, 'इन्दिरा'। सन १८८२ ई० मे इसकी रचना हुई। लेखक श्रीमान गुलाडी वेंकटरावजी थे। उपन्यास म श्री वेंकटरावजी ने, तत्कालीन सारस्वत समाज का जीता जागता चित्र अंकित किया है। तत्कालीन जिलाधीश, श्री काउचमैन ने, 'इन्दिरा' का अंग्रेजी भाषा म रूपान्तर भी किया। 'इन्दिरा' कन्नड साहित्य का प्रथम मौलिक उपन्यास है।"[3]

सक्षेप मे, कन्नड उपन्यास का प्रारम्भ भी, ईसवी उन्नीसवी शती क अंतिम दशकों म ही हुआ था। वर्णनात्मक कला की दृष्टि से 'इन्दिरा' का पर्याप्त मूल्य है। भारतेन्दु युग मे रचित हिन्दी उपन्यासो की भाँति, कन्नड के प्रारम्भिक उपन्यासो की पृष्ठभूमि भी बहुधा तत्कालीन समाज की ही रहा करती थी। अतीतकालीन एव इतिवृत्तात्मक उपन्यास साहित्य का उदय, कन्नड साहित्य म, ईसवी बीसवी शती के द्वितीय दशक म प्रथम विश्व महायुद्ध के छिड़ने से ठीक पूर्व ही, माना जाएगा।

श्री वेंकटेश तिरको कुलकर्णी, कन्नड के प्रथम ऐतिहासिक उपन्यासकार हुए। वे अपने पाठको म अपने उपनाम 'गळगनाथ' द्वारा ही अधिक प्रख्यात हुए। सन् १९११ ई० म उनके 'कुमुदिनी' नामक मौलिक ऐतिहासिक उपन्यास का प्रकाशन, कन्नड साहित्य की एक चिरस्मरणीय घटना मानी जाएगी। कथावस्तु इतिवृत्त पर

---

१ 'कन्नड के ऐतिहासिक उपन्यास' (श्री गुरुनाथ जोशी) 'भारतीय साहित्य' [आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ का मुखपत्र] ऐतिहासिक उपन्यास विशेषांक', दिसम्बर १९५६ ई०।

२ श्री पी० वी० भट्ट हिन्दी पारंगत, 'शिक्षण कला प्रवीण', हिन्दी पंडित, बोर्ड हाईस्कूल, कयान, बेट्टिवाला तालुक (साउथ कनाडा जिला) मैसूर राज्य। श्री भट्ट का ग्राम भी श्री कारन्त के ग्राम क सन्निकट है।

३ श्री एस० के० कारन्त द्वारा, श्री पी० वी० भट्ट को लिखित कन्नड भाषा में लिखे गये, दिनांक १८ मार्च, १९६१ ई० के पत्र का अंश।

आधारित है। विजयनगर-साम्राज्य के पतन के पश्चात, उसी के राजवंश के दो प्रमुख सरदार, कर्नाटक स्थित छोटी सी रियासत, चन्द्रगिरि के राज्य सिंहासन के लिए, आपस में ही लड़ने लगे। उपन्यास की प्रधान पात्रा है 'कुमुदिनी'। प्रधान नायक का नाम है 'एच्चम नायक'।

श्री 'गळगनाथ', एक अथक साहित्यसेवी थे। वे एक सामान्य प्राथमिक पाठशाला के विनम्र अध्यापक थे। फिर भी उन्होंने, विषम आर्थिक परिस्थितियों में भी, अपनी निरन्तर साहित्य सेवा का व्रत नहीं छोड़ा। उनका जन्म सन १८६८ ई० में हुआ था। उनका निधन २२ अप्रैल १९४३ ई० को, ७५ वर्ष की दीर्घायु प्राप्त करने के पश्चात हुआ था। उन्होंने कठिन परिस्थितियों में भी 'सद्बोध चन्द्रिका' नामक पत्रिका का सम्पादन किया एवं उसके द्वारा उन्होंने, बीसवीं सदी के आधुनिक कन्नड साहित्य की चिरस्मरणीय सेवा की। उनके अनेकानेक मौलिक एवं अनूदित उपन्यास भी, धारावाहिक रूप में, उक्त पत्रिका में ही प्रकाशित हुए थे।

श्री 'गळगनाथ' का एक अन्य मौलिक एवं वृहद् उपन्यास सन् १९२३ ई० में प्रकाशित हुआ था। यह समस्त कन्नड इतिवृत्तात्मक उपन्यास साहित्य में अनुपम माना जाता है। शैली बड़ी ही ओजस्वी एवं प्रभावशाली है। उपन्यास का नाम है 'माधवी करुण विलास'। इस उपन्यास की मुख्य प्रेरणा है, गुरु विद्यारण्य का, तपोपूत एवं युगान्तरकारी व्यक्तित्व। गुरु विद्यारण्य का कर्नाटक प्रदेश में वही ऐतिहासिक गौरव है जो कि महाराष्ट्र में, छत्रपति शिवाजी महाराज के गुरुवर समर्थ रामदास का। ऐसे रणव्रती एवं स्वदेशोद्धारक संन्यासी श्रेष्ठ महान राजनीतिविद् गुरु माधवाचार्य विद्यारण्य ने दक्षिण भारत की, (विदेशियों के आक्रमण से) सुरक्षा के लिए अपना महान इतिहास प्रसिद्ध अनुष्ठान किया था। उत्तर की ओर से मुस्लिम साम्राज्यवादियों के आयोजनों एवं पश्चिमी समुद्रतट की राह पुर्तगालियों के नृशंस एवं बर्बर आक्रमणों से, (दोनों ही कट्टर धार्मिक पक्षपात एवं हिंसा से भी प्रेरित हुए थे) दक्षिण भारत की रक्षा करने के लिये गुरु विद्यारण्यने ही एक सफल राष्ट्रीय महोद्योग किया था। उन्होंने महान विजयनगर साम्राज्य की स्थापना, अपने सुयोग्य शिष्यों, हरिहर एवं बुक्क के हाथों कराई थी।

श्री गळगनाथजी के ही एक समकालीन साहित्यसेवी एवं विद्वान्, श्री एम० एस० पुट्टण्ण कन्नड साहित्य को अपनी विविधमुखी प्रतिभा द्वारा, एक से एक अनूठे ग्रन्थ प्रदान करने वाले, मनीषी के रूप में ख्यातनामा हैं। उन्होंने अनेक उपन्यास भी रचे हैं। इनमें अधिक प्रसिद्ध है, उनका इतिवृत्तात्मक महा उपन्यास 'माडिद्दुण्णो महाराया' (१९११ ई०)। यह एक प्रकार से, कन्नड भाषा में आधुनिक शैली का, प्रथम महान उपन्यास भी समझा जा सकता है। कथावस्तु मैसूर के महाराज कृष्णराय ओडयार तृतीय के शासन-काल की है। उपन्यास में, मैसूर प्रदेश के जन

जीवन का, चित्रवत् चित्रण पाया जाता है। अतीतकाल के चित्रण करने वाले कन्नड उपन्यासो मे वह, अति उल्लेखनीय है।

इसी काल के एक अन्य ऐतिहासिक उपन्यास प्रणेता हुए, श्री केरूर वासुदेवाचार्य। उनका प्रसिद्ध उपन्यास 'यदु महाराज' (१९११ ई० मे) पहले, 'भारत' नामक मासिक कन्नड पत्रिका मे, धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ था। उसका पुस्तकाकार प्रकाशन १९१६ ई० मे हुआ। उपन्यास की कथावस्तु, मसूर के १८वी १९वी शती के इतिवृत्त से, ली गई है। श्री वासुदेवाचार्य का अन्तिम ऐतिहासिक उपन्यास 'औरंगजेब' था जो सन १९४६ ई० मे प्रकाशित हुआ था।

कन्नड भाषा मे सन १८५७ के प्रथम भारतीय स्वातन्त्र्य युद्ध की पृष्ठभूमि पर उपन्यास रचने वाले सर्वप्रथम उपन्यासकार हुए, श्री बी० जी० 'हुलिकवि'। उनका उपन्यास 'नरगुन्द बडाय' (१९२३ ई०), कर्नाटक प्रदेश के, नरगुन्द नामक छोटे से राज्य के देशभक्त एव वीर अधिपति अप्पा साहेब के द्वारा अंग्रेजी सेनाओ से लोहा लेने की वीररस पूर्ण गाथा है। घटना इतिवृत्त सिद्ध भी है।

कन्नड भाषा मे ऐतिहासिक उपन्यासकारो मे श्री बेटगेरी कृष्ण शर्मा ने भी पर्याप्त ख्याति पाई। उन्हे पाठक बहुधा उनके साहित्यिक उपनाम 'आनन्दकन्द' से ही जानते हैं। श्री 'आनन्दकन्द' ने अपने इतिवृत्त प्रधान उपन्यासो की पृष्ठभूमि बहुधा विजयनगर साम्राज्य की गौरव गाथाओं को ही बनाया है। 'राजयोगी' (१९३४ ई०) एव 'अशान्तिपर्व' (जो कि एक प्रकार से पहले उपन्यास का ही परिशिष्ट है) विजयनगर साम्राज्य के अभ्युदय एव ह्रास की घटनावली का ही आधार लेकर रचे गये हैं।

श्री मास्ति वेंकटेश अय्यगार उपनाम 'श्रीनिवास' कन्नड साहित्य के एक सर्वतोमुखी साहित्यकार हैं। उन्होंने विविध विषयो पर सफलतापूर्वक लेखनी-सचालन किया है। 'चेनबसव नायक' (१९४९ ई०) उनका सर्वोत्तम ऐतिहासिक उपन्यास माना जाता है। बिदनूर नामक छोटे से स्वाधीन राज्य पर, मैसूर के शक्तिशाली राजा हैदरअली की कुदृष्टि पडी। किन्तु वहाँ के वीर अधिपति ने, सफलतापूर्वक हैदरअली के आक्रमण का प्रतिरोध किया। उपन्यास के प्राय सभी स्थल एव पात्र ऐतिहासिक हैं। श्री 'श्रीनिवास' के उपन्यास कन्नड उपन्यास साहित्य की प्रौढता एव चरम विकास के परिचायक माने जाते हैं। लेखक की वर्णन प्रतिभा के कारण इनमे अतीतकाल भी हमारी आँखों के सामने मानों साक्षात हो उठता है।

चित्रदुर्ग अथवा चीतलदुर्ग की प्रादेशिक पृष्ठभूमि पर ऐतिहासिक उपन्यास रचने वाले श्री न० रा० सुब्बाराव पर्याप्त लोकप्रिय उपन्यासकार हुए। उनका 'नृपतुंग' (१९५२ ई०) राष्ट्रकूट के प्रसिद्ध राजा, नृपतुंग के चरित्र को लेकर, रचा गया है। 'रक्त-रात्रि' (१९५३ ई०) तथा 'कम्बनीय कुइलु' (१९५३ ई०) उपन्यासों

में, आज से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व की इतिवृत्तात्मक कथा वर्णित है। अपने खोये हुए राज्य सिंहासन पर पुनः अधिकार करने के लिए, किस भाँति चित्रदुर्ग के राजकुमार मदकरिनायक ने संघर्ष किया, इसी की लोमहर्षक वीरगाथा इनमें वर्णित है। उनका एक अन्य उपन्यास 'हंसगीत' भी इतिवृत्त आधारित ही है। चीतलदुर्ग प्रदेश की वन्य प्रकृति एवं तत्कालीन रहन-सहन के जीवन्त एवं चित्रवत वर्णनों की दृष्टि से, ये उपन्यास अनुपम बन पड़े हैं।

श्री ए० एम० सुब्बाराव, कन्नड़ भाषा में उपन्यास रचना करने वाले एक अन्य समर्थ एवं सिद्धहस्त कलाकार हैं। उनके उपन्यास, महाकाव्यों की शैली में रचे गए हैं और उनमें वर्णित देशकाल मानो साक्षात हो उठा है। उनके उपन्यासों में 'नट सार्वभौम', 'मंगलसूत्र', 'उदय रश्मि' तथा 'शनि सन्तान' आदि कृतियों ने अधिक प्रसिद्धि पाई है।

'सन्ध्याराग' श्री अ० न० कृष्णराव की एक अत्यन्त कलापूर्ण एवं मर्मस्पर्शी औपन्यासिक कृति है। कला विवेचन एवं संगीतशास्त्र की दृष्टि से यह उपन्यास, अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उपन्यास में, कन्नड़ प्रदेश के जनजीवन के बड़े ही मार्मिक चित्र उपस्थित किये गए हैं।

कन्नड़ भाषा के इतिवृत्त आधारित अतीतकालीन रूमानी मय उपन्यास साहित्य के इस संक्षिप्त विहंगावलोकन के अन्त में श्री के० वी० अय्यर के दो चिरस्मरणीय उपन्यासों का उल्लेख करना अनिवार्य है। वे हैं 'रूपदर्शी' एवं शान्तला। इनमें भी 'शान्तला (सन् १९५४ ई०) उपन्यास में श्री अय्यर की उपन्यास रचना शैली ने ऐसा उत्कृष्ट विकास पाया है कि पढ़ते ही बनता है।

लगभग ३५-४० वर्षों पहले आचार्य अय्यर ने, बंगलूर में एक व्यायाम विद्यापीठ स्थापित किया जिसके द्वारा विद्यार्थियों को पत्र-व्यवहार अथवा वहीं प्रवेश द्वारा व्यायामपटु बनाया जाता रहा है। आज से लगभग दस वर्ष पूर्व ही, आचार्य अय्यर के मन पर अचानक खण्डहरों का रोमानी जादू असर कर गया तथा वे, उनके रहस्यों को अपनी लेखनी द्वारा व्यक्त करने को उतावले हो उठे। स्वयं श्री अय्यर महोदय के शब्दों में —

होय्सलेश्वर देवालय के दक्षिण द्वार के सम्मुख थोड़ी दूर पर खड़े होकर मेरे हृदय ने कहा यही वह शिला पीठ है जिस पर भावजीवी महारानी शान्तला देवी, भक्ति में तल्लीन होकर भगवान के सामने नाचा करती थीं। इस उपन्यास को लिखने के पहले बेलूर हलेबीडु के मन्दिरों ने मुझे एक बार अपनी ओर आकर्षित किया था।"[1]

---

१ शान्तला (के० वी० अय्यर) प्रस्तावना, पृष्ठ ७-८

'शान्तला से सम्बन्धित शिलालेखों का ही नहीं वरन् तंजाउर के सरस्वती भण्डार में प्राप्त ऐतिहासिक ग्रंथों का अवलोकन करके होइसल राजा विष्णुवर्द्धन के समकालीन व्यक्तियों के बारे में, उपलब्ध विषयों के आधार पर, मैंने इस कथा का प्रणयन किया है।"[१]

'होइसल राज्य की विपुल सम्पत्ति को, मलिक काफूर तथा गगू सलार ने लूटा था और देवालय की मूर्तियों को तोड़ कर, छिन्न भिन्न भी किया था। कन्नड़ प्रदेश की जनता के प्रति इस निठुर कार्य को देख कर, विष्णुवर्द्धन शान्तला की आत्माएँ कितनी रोती होंगी !'

इस भांति श्री अय्यर ने 'शान्तला' नामक एक उपन्यास लिखने की प्रेरणा पाई। सन् १९५४ ई० के अन्त तक वह उपन्यास, मूल कन्नड़ भाषा में लिखा जाकर प्रकाशित हो गया तथा उसको अभूतपूर्व लोकप्रियता प्राप्त हुई। उपन्यास, कर्नाटक के प्राचीन इतिवृत्त पर आधारित है तथा उसके सभी पात्र पात्राएँ यथा होइसल नरेश दिग्विजयी विष्णुवर्धन, शान्तला के प्रति भगिनी सम अनुराग रखने वाले कुंवर विष्णु, सम्राट विष्णुवर्धन की पट्ट राजमहिषी शान्तला, माचिकब्बे (शान्तला की माता, तथा दलपति मारसिंगमय्या की पत्नी), लक्ष्मी (वरमले की पुत्री शान्तला की अंतरंग प्राणप्रिया सखी), श्री रामानुजाचार्य (वैष्णव धर्म के महान प्रवर्तक), नरसिंह वर्मा (होइसल विपक्षी चोलों के सामन्त) आदि ऐतिहासिक व्यक्ति रहे हैं।

आचार्य श्री अय्यर ने, वेलूर के देवालय में जो शिलालेख पढ़ा उस पर शक संवत १०४४ श्रावण शुक्ला चतुर्दशी, गुरुवार की तिथि अंकित है। अर्थात् उपन्यास की पात्र पात्राओं को हुए आज लगभग ८०० वर्ष बीत चुके हैं। श्री अय्यर ने इतिवृत्त के सूत्रों एवं खण्डहरों के सकना का ताना बाना लेकर, लगभग चार सौ पृष्ठों का यह बृहद उपन्यास 'शान्तला', रच डाला। उपन्यास के स्थानीय एवं ऐतिहासिक महत्व के कारण साहित्य अकादमी ने १९६० ई० में उसका हिन्दी भाषा में रूपान्तर कराया। यह गुरुतर कार्य, मसूर विश्वविद्यालय के हिन्दी प्राध्यापक श्री हिरण्मय ने किया है।

'श्री विष्णुकान्ता शान्तला' उपन्यास में प्राचीन कर्नाटक प्रदेश एवं वहां की अतीत कालीन संस्कृति, साकार हो उठी है। प्रायः सभी धर्मक्षेत्रों एवं ऐतिहासिक स्थलों का, उपन्यास में विशद वर्णन मिलता है। राजपुरुषों के राज्योचित व्यवहार राज्यदरबार अन्तःपुर एवं जन साधारण के शिष्टाचार, राजकुल की परम्पराएँ धार्मिक संस्कार, धार्मिक विश्वास एवं लोकविश्वास, कर्नाटक प्रदेश में आत्मार्पण की प्रथा एवं सती प्रथा, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि देवालयों एवं राज

---

१२ 'शान्तला' (के० वी० अय्यर) प्रस्तावना पृष्ठ ७८

भवनो की स्थापत्यकला एव मूर्तिकला, तथा प्राय समस्त कर्नाटक प्रदेश की आचलिक आभा, इन सभी प्रादेशिक तत्वो के सूक्ष्म वर्णनो के कारण 'शातला' उपन्यास, चिरस्मरणीय हो गया है।

श्री शिवराम कारन्त न, दक्षिण कर्नाटक के पश्चिमी भाग के लोकजीवन सम्बन्धी, अनेक उपन्यासो की रचना की है जिनमे मरलि मण्णिग' साहित्य-अकादमी द्वारा पुरस्कृत भी हुआ है। इसमे उपन्यासकार ने, एक कृषक परिवार की तीन पीढियो की कहानी को ही, अपने उपन्यास का कथानक बनाया है। पल बक के गुड-अथ' और मक्सिम गोर्की के आर्तोमोनोव्ज म भी तीन पीढिया के (चीनी और रूसी) जनजीवन का आलेखन किया गया है। उपन्यास 'मरलि मण्णिगे म वर्णित कृषक परिवार, प्राकृतिक परिस्थितियो से जूझता हुआ, निराश होकर नगरो की ओर प्रवृत्त होता है, तथा फिर तीसरी पीढ़ी म वे लोग यह अनुभव करते हैं कि नगरो मे नही उनकी सहज प्राकृत मातृ भूमि उसी पहाडी कठोर अचल में ही है। इस सारे सुदीर्घ जीवन सघर्ष का, उपन्यास, साक्षात करन म समर्थ हुआ है। उपन्यास मे प्राकृतिक दृश्यो, प्राकृतिक स्थानो, नागरिक दृश्यो और स्थानो आदि के बडे सजीव और चाक्षुष वर्णन मिलते हैं।

श्री कारन्त न कुछ अन्य उपन्यास, दक्षिण कर्नाटक के आदिवासियो के जीवन को चित्रित करने की दृष्टि से भी रचे हैं जिनमे कि कुडियर कूसु (कुडियो की लडकी) म आदिवासियो के रहन सहन वेष भूषा, उत्सव आदि का चित्र विचित्र वर्णन पाया जाता है। इस उपन्यास मे, जगलो आदि के वर्णन बहुत स्वाभाविकता से वर्णित हैं। उनका दूसरा उपन्यास चोमन दुडी (चोक की डुगडुगी) है। इसम भी 'नीच' समझे जाने वाले लोगों का जीवन वर्णित है। लोकवार्ता तत्व के सभी उपकरण इसमे बहुतायत स पाये जाते हैं क्योंकि यह आदिवासियो के जीवन का ही औपन्यासिक चित्रण है।

त्रयोदश प्रकरण उडिया उपन्यास साहित्य की रूपरेखा

भारतीय उपन्यास साहित्य के इस सर्वेक्षण म जिन छ भारतीय भाषाओ को तुलनात्मक अध्ययन के अभिप्राय से चुना गया है उनम से अन्तिम है उडिया भाषा। भारतीय भाषाओ म उपन्यास विधा के प्रथम प्रवतन की दृष्टि से, उडिया भाषा म पर्याप्त देरी से उपन्यास रचना आरम्भ हुई। उडिया के सवप्रथम प्राप्य उपन्यास पद्ममाली के प्रकाशन की तिथि है सन १८८८ ई०।

उदभव और विकास के कालक्रम की दृष्टि से उडिया कथा साहित्य, अपने निकटवर्ती हिन्दी प्रदेश तथा बग प्रदेश दोनो का ही अनुवर्ती रहा है। फिर भी उसक आद्य उपन्यासो पर, हिन्दी उपन्यास साहित्य का प्रभाव, स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता

है। उदाहरणार्थ हम उडिया के सर्व प्रथम उपन्यास 'पदममाली' (१८८८ ई०) को ही लें। इसके लेखक श्री रमेशचन्द्र सरकार थे। 'पदममाली' पर सद्य प्रकाशित, श्री देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' का प्रभाव, प्रकट रूप से देखा जा सकता है। चुनारगढ और नौगढ के राज्यकुलो के स्पर्धा कलह और संघर्ष पर 'चन्द्रकान्ता' की कहानी आयोजित है। उसी भांति 'पदममाली' मे भी नीलगिरी और पंचगढ के सामन्तो मे जो परस्पर कलह और संघर्ष चला, वही उपन्यास की कथा वस्तु का मुख्याधार बना है। इस परस्पर विवाद में जिस भांति 'चन्द्रकान्ता' नामक सुन्दर राजकुमारी के वरण के प्रश्न पर, कथावस्तु अग्रसर हुई है उसी भांति 'पदममाली' उपन्यास में, पदमाली नाम की एक परम सुन्दरी युवती के कारण ही कथा प्रवाह आगे बढा है। चन्द्रकान्ता के समान ही 'पदममाली' की कहानी में भी अनेक जटिलताएँ और तिलस्म आदि की विशेषताएँ पायी जाती हैं, जिनके कारण उपन्यास में रोचकता और जिज्ञासा की वृद्धि हुई है। उपन्यास की कथा, लेखक के अनुसार, एक वास्तविक घटना पर आधारित है, जिसकी किंवदन्तियाँ, उत्कल प्रदेश में, यत्र-तत्र, कही सुनी जाती हैं।

'पदममाली' के पश्चात् कालक्रमानुसार स्वर्गीय श्री रामकृष्णराय कृत उपन्यास विवासिनी (सन १८९१ ई०), उडिया भाषा का, पहला ऐतिहासिक उपन्यास भी माना जाता है। मराठा राजाओं के पतन-काल मे, उडीसा की जो दुर्दशा हुई, उसका उपन्यास में, हृदयद्रावक चित्र खीचा गया है। उन्नीसवी शती के प्रारंभ में, ब्रिटिश सेनाओ द्वारा, उत्कल प्रदेश के हस्तगत किए जाने, एवं सन १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम के बीच के काल को उपन्यास की इतिवृत्तात्मक आधार भूमि बनाया गया है। ब्रिटिश शासन के शुरू के अत्याचारी कारनामो से चुनौती लेते हुए लोधा के पाईक वीरो ने उनका ग्यारह बार मुकाबला किया था। अन्त मे बारबार विफल होने पर बारहवीं बार के आक्रमण में उन्हें ब्रिटिश सत्ता से समझौता करना पड़ा। ये पाईक वीर, सागरतट पर, अंग्रेज एवं यूरोपियन व्यापारियो की भी खबर रखते थे। ये परम साहसी मल्लाह भी थे।

विवासिनी का भी कुछ काल तक उडिया का सर्व प्रथम उपन्यास माना जाता रहा किंतु उसकी सर्वप्रथम औपन्यासिक कृति वस्तुतः 'पदममाली' ही है। नवागत ब्रिटिश शासन एवं उसके द्वारा नीलगिरि की छोटी सी रियासत के, हडप लिए जाने, तदनन्तर बालासोर (बालेश्वर) जिले के मजिस्ट्रेट हेनरी रिकेट्स की कचहरी मे बरसो चलने वाले मुकद्दमे को ही उपन्यास का मुख्य कथा आधार बनाया गया है। उपन्यास में बडजात राजाओ एवं ब्रिटिश सत्ता के बीच होने वाली, आए दिन की मुठभेडों के वृत्तान्त भी पाये जाते हैं।

पदममाली उपन्यास का उत्कल भाषा भाषियों द्वारा अत्यन्त स्वागत किया

गया। इससे प्रोत्साहित होकर श्री सरकार ने 'मुकुट' नामक पत्रिका में, एक अन्य उपन्यास भी, धारावाहिक रूप में प्रकाशित कराया, जिसका नाम था 'उन्नासी'। इस उपन्यास में एक अन्य रियासत 'केओंझर' एवं नवागत ब्रिटिश शासन के संघर्ष को उपन्यासकार ने, अपनी कथाभूमि बनाया है। स्थानीय वातावरण का चित्रित करने वाले वर्णनों के कारण श्री रमेशचन्द्र सरकार, न केवल उड़िया भाषा के सर्व प्रथम उपन्यासकार हुए, वरन् इस चित्रविचित्र प्रदेश के वे, पहले प्रादेशिक या आंचलिक उपन्यास-लेखक भी हुए।

श्री रमेशचन्द्र सरकार के उक्त उपन्यास 'पद्ममाली' में वर्णित घटनाओं के संबंध में श्री हरेकृष्ण महताब ने अपने ग्रंथ हिस्टरी आफ उड़ीसा में लिखा है—

'अपनी जीत के ठीक पश्चात ही कर्नल हारकोट तथा मिस्टर मेलविले को, कटक के मामलों को निपटाने के लिए कमिश्नर नियुक्त किया गया। इन कमिश्नरों ने, सन् १८०५ तक अपना कार्य जारी रखा जब कि दक्षिणी भाग, सम्बलपुर तथा उसके अधीन रियासतों को छोड़ कर शेष उत्कल प्रदेश को, एक कलेक्टर एवं एक सेशन जज के मातहत सौंप दिया गया और प्रदेश की राजधानी जगन्नाथपुरी से हटा कर, सन् १८१६ में, कटक कर दी गई। उड़ीसा प्रदेश को तीन जिलों में बाँट दिया गया—बालासोर, कटक एवं पुरी।'[1]

रमेशचन्द्र सरकार के उपर्युक्त दोनों उपन्यासों में वर्णित रियासतें नीलगिरि ('पद्ममाली') एवं केओंझर (उन्नासी) अंतिम स्वाधीन रियासतें थीं। इन रियासतों ने, आधीनता मानने को विवश होने से पूर्व पर्याप्त प्रतिरोध भी किया था, वही उक्त उपन्यासों का मुख्य कथानक आधार बना है। संधि-पत्र पर हस्ताक्षर करने वाले राज्यों का क्रम यों था—कनीका, जयागढ़ नरसिंहपुर, बारम्बा, तलचर नराम्रू तिगिरिया, हिन्डाल, खंडापारा, धेनकानल रानापुर नयागढ नीलगिरि एवं केओंझर।

उक्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि अनेकानेक आधुनिक उड़िया उपन्यासकारों के लिए प्रेरणा भूमि बना है। इनमें श्री कान्हूचरण महान्ति जैसे सुप्रसिद्ध आधुनिक उपन्यासकार भी हैं। उड़ीसा में अंग्रेजों की छत्रछाया में जो नई सामन्तशाही कायम हुई थी, उसके प्रमुख समर्थक बन्गाली जागीरदार थे। उन्होंने उड़ीसावासी निरीह प्रजाजन पर, अपने गार मालिकों की आड़ लेकर, जो रोमांचकारी अत्याचार किए उनका दिग्दर्शन कराने वाला श्री महान्ति का उपन्यास स्वप्न या सत्य है। उन्होंने अंग्रेजों के कुशासन के परिणाम स्वरूप व्याप्त उड़ीसा की कंगाली एवं सन १८६६ ई० के महा-अकाल का, हृदयद्रावक चित्रण करने वाला उपन्यास—हा अन्न!' लिखा।

---

१ 'हिस्टरी आफ उड़ीसा (श्री हरेकृष्ण मेहताब), भाग १, अध्याय ६, अंग्रेजों द्वारा उड़ीसा विजय।

यह सन १६४६ ई० की रचना है। इस भयङ्कर अकाल म, उडीसा के निवासियो में से लगभग एक चौथाई नरनारी भूखा मर गय थे।

श्री फकीरमोहन सेनापति (१८४३ १६१८ ई०) उड़िया भाषा के एक रससिद्ध एव प्रख्यात उपन्यासकार हुए हैं। उनके उपन्यासो म, उक्त समय की कचहरिया आदि की कडी आलोचना की गयी है और उससे भी कटु व्यग्य किया गया है वकीला पर, "जो सात घरो को बरबाद करके, अपना अकेले का घर बनाता है।' उनके उपन्यासो की कथावस्तु मुख्यत भारतीय कृषक वग का जीवन है और उनकी अ तर्चेतना, श्रमिक वग की, भूमि के प्रति ममता है। श्री सेनापति द्वारा रचित उड़िया उपन्यास-साहित्य की उत्कृष्ट औपन्यासिक कृति 'छम्र माण आठ गुठ है। सबसे पहले, वह उत्कल साहित्य' नामक मासिक पत्र मे धारावाहिक रूप म, लगभग १८६६-१६०० ई० मे प्रकाशित होता रहा था। इसे लेखक ने अपन धूजटी उपनाम से ही प्रकाशित कराया था। आगे चल कर सन १६०१ म वह पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। उसके बाद श्री फकीरमोहन सेनापति की ख्याति, शीघ्रता के साथ ही, समग्र उड़िया भाषा के पाठका म फल गई और लेखक को लाग न्यास कवि की गौरवशाली उपाधि से, अभिहित करने लगे।

देशकाल की परिस्थितियो के अनुसार श्री सनापति के उपन्यास अपने समय से काफी पहले की, एसी अग्रगामी औप यासिक कृतिया हैं, जिनमे भारतीय भाषाओ मे, पहले पहल जनजीवन को चित्रित करने का वास्तविक उद्योग किया गया है। जिस समय श्री फकीरमोहन ने उड़िया गद्य मे लिखना प्रारम्भ किया, उस समय उसका भलीभाति विकास भी नहीं हो पाया था और कथा साहित्य तो अभी अपनी शशवावस्था मे ही था। इसीलिए श्री सनापति का स्थान उड़िया कथा साहित्य मे वही है जो हिन्दी मे, श्री प्रेमचन्द का। वैसे कालक्रमानुसार तो वे प्रेमचन्द के पूववर्ती ही हैं।

'छम्र माण आठ गुठ' म कथासूत्र, बहुत साधारण और विरल है। फिर भी उसमे वणन और चित्रण की विशिष्ट प्रतिभा दशनीय है। रामचन्द्र मगराज नामक एक लोभी और अत्याचारी जमीदार ने भगिया और सारिया नामक सीधे साधे जुलाहा दम्पत्ति की जमीन, अपने हथकण्डा से हस्तगत कर ली थी। और वह जमीन कुल छम्र माण आठ गुठ ही थी।

श्री प्रेमच द स पूव यदि किसी भारतीय उपन्यासकार ने साधारण किसान मजदूरो को अपने उपन्यास के प्रधान पात्र बना कर गौरव दिया है तो वे श्री सेनापति ही हैं। उनके उपन्यास, कितने ही वर्षो मे श्री प्रेमचन्द के उपन्यासो के पूववर्ती हैं। उडीसा प्रदेश एव उसके इतिवृत्त के व, सबसे प्रामाणिक एव वास्तविक उपन्यासकार, माने जायेंगे।

'श्री सेनापति बालासोर के जिलाधीश एवं सुप्रसिद्ध भाषाविद् जान बीम्स के सहायक अधिकारी भी रहे थे एवं उन्होंने, उन्हें 'आयभाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण' की रचना में भी, क्रियात्मक सहयोग दिया था। उनका अधिकांश जीवन उड़ीसा के अनेक देशी राज्यों में दीवान के पद पर कार्य करने में, व्यतीत हुआ। ५३ वर्ष की अवस्था में वे राज्यकार्यों से अवकाश लेकर, पूर्णतया साहित्य सेवा में जुट गये। वे 'उड़िया कथा साहित्य के जनक' के रूप में विख्यात हुए।'[1]

श्री फकीरमोहन सेनापति की शब्द चित्रण प्रतिभा अपूर्व थी। उनकी लेखनी में सरल सीधी-सादी भाषा में चित्र उतारने का अद्भुत चमत्कार था। उत्कल निवासियों के जीवन के हर कक्ष एवं पक्ष की सच्ची तस्वीर, उनके उपन्यासों में मिलती है। यहाँ उसका ठीक ठीक परिचय देना तो सम्भव नहीं है फिर भी उदाहरण के रूप में उनकी सर्वप्रसिद्ध महान औपन्यासिक कृति, छह माण, आठ गुण्ठ से ही विशिष्ट एवं वर्णनकला से संयुक्त कुछ संश्लेषात्मक शब्द चित्र उद्धृत किये जा रहे हैं —

'मंगराज की हवेली से सटी हुई हो, पीछे की ओर एक बड़ी सी बाड़ी है चहार दीवारी से घिरी। बाहर वाली अगनाई के द्वार के पास ही एक बड़ा सा तालाब है। तालाब के चारों ओर नारियल हैं। नारियल के पीछे केले आम कटहल, और झाऊ के पेड़ हैं। बाग के चारों ओर मेंढ़ों पर पीले पीले सोनाबांस की बाड़, दीवार की तरह खड़ी है।'

कचहरी वाला खण्ड पार करके भीतर की ओर जाने पर जो पहला खण्ड मिलता है उसी में मंगराज के पौढ़ने का कक्ष है। जरूरत होने पर लोग उसे गडाघर अर्थात मालखाना भी कह लेते हैं। हवेली के सभी घरों में इसका श्रेष्ठ होना उचित है। कमरे में आट्ठ (छान तले चीजें सजा कर रखने के लिए बांस और मिट्टी की भीतरी छती की बुखारी) है। घर पाय धरन वाला है। खुलता पूरब को है। सामने चौड़ा ओसारा है। दरवाजे पर कटहल की लकड़ी के किवाड़ लगे हैं। किवाड़ों में, चौकानी जाफरीदार पटटे हैं। जाफरी के पटटों के खिलान खिलान पर लोहे की टोपी दार मेख जड़ी हैं। बाहर कड़े भी लगे हैं और साकलें भी। इनमें दो बड़े बड़े नलीदार ताले पड़ते हैं। पश्चिम वाली दीवार में काई कमर भर की ऊँचाई पर डेढ़ बित्ता चौड़ी, सीखचेदार खिड़की है। अगहन के महीने में गुरुवार को जब घर की लिपाई पुताई होती है, तभी कदाचित यह खिड़की खुलती होगी (घर के चारों कोनों में घुप अँधेरा रहता है। हमाशुमा को तो दिन के समय भी, रोशनी की जरूरत पड़ जायगी।)

' उत्तर में वाली दीवार से लगा बांस का लम्बा सा मचान है जिस पर

---

१ 'गत साठ वर्षों में उड़िया साहित्य' (श्री नरेन्द्रनाथ मिश्र, काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका, हीरक जयन्ती विशेषांक,' पृष्ठ ५६६ ६११)

बैत के तीन बडे बडे पुराने पिटारे रखे हैं। मचान तले चौकी तरनपोश है जिसके तले, घर के कोने मे गुड का मटका है, आम की अमकारिया की हाडी है करज के तेल मे तीन चार गदे हिब्बे हैं। और कुजो म, करज के जितने भी फल लगते हैं, सब पीट-पीट कर झाड लाय जाते हैं। तेली बठ-वेगार मे, उन्ह पेर कर तेल निकाल देता है। दक्खिन वाली दीवार के पास आम की लकडी के दो बडे बडे सदूक ह। दीवार के पास चण्डा, नित दिन सन्ध्या बाती दिखाती है। प्रति गुरुवार को, सिंदूर और चन्दन से इसे पूजती ह अथवा चावल और गुड के नवेद्य से इस भोग लगाया जाता है। कोरचो म तीन चार छीके लटक ह। उन पर घी के मटके झूल रहे हैं। गौओ से कटौती का जो घी आता है वह इन्हीं मे जमा होता ह। मरहट्टी पालकियो मे, झूलते रेशमी फुदनो की झालर की तरह, छीके से मकडी के काले काले जाले, गुच्छे के गुच्छे झूल रहे हैं। पश्चिम वाली दीवार के पास उत्तर दक्खिन की लम्बान मे, मगराज का तख्तपोश पडा रहता ह। दक्खिन की ओर सिरहाने के पास बडी सी मसनद ह। हेल (मोटी घास की चटाई) के ऊपर दशिया (सुजनी) दोहरी बिछी रहती ह।"[1]

श्री सेनापति ने अनेकानक सामाजिक एव ऐतिहासिक उपन्यास रचे हैं जिनमे सभी प्रादेशिक रूपामा प्रधान हैं। उनके ऐतिहासिक उपन्यासो मे, लच्छमा विशेष महत्वपूर्ण है। मुगल मराठा सघर्ष (सन १७४१ १७५१ ई०) इसकी पृष्ठभूमि है। इस काल म उडीसा मे सुदीर्घ अकाल, अराजकता एव अशांति परिव्याप्त रही। उपन्यास के पात्रो म, उडीसा के नाजिम अलीवर्दीखा, नायब नाजिम मुर्शिदकुली खा, भोंसला के मराठा सेनापति भास्कर पण्डित, एतिहासिक व्यक्ति हैं। इनके बीच हुए युद्ध भी इतिहास सिद्ध घटनाएँ हैं। इसके अतिरिक्त राई बणिया हल दीपदा, फुलउ भारा आदि घटना-स्थल भी वास्तविक हैं। उपन्यास की मुख्य ममस्पर्शी कथा, बार नारी लच्छमा के पातिव्रत एव धय का अमर कहानी है तथा, बादलसिंह क क्षत्रियोचित चरित्र का उपन्यास मे उत्तम विकास हुआ है। अपने ऐतिहासिक उपन्यासो मे, श्री सेनापति भी स्व० श्री वृन्दावनलाल वर्मा की भाति ही प्रकृति चित्रण के परिप्रेक्ष्य म लोकजीवन को चित्रित करते चलत है। उपन्यास क प्रथम दो शब्द चित्र हैं प्रभात वणन एव सध्या वणन के। उपन्यासकार ने अपनी वणन प्रतिभा से उन्हें चाक्षुषवत कर दिया है —

---

१ छह माण आठ गुण्ठ' (श्री फकीरमोहन सेनापति) (रचना काल १८९९ ई०) (प्रस्तुत सस्करण १९६९ ई०, साहित्य अकादमी नई दिल्ली) हिन्दी रूपान्तर युगजीत नवलपुरी। पृष्ठ ३९, अध्याय ८ तथा पृष्ठ ९१ ९३, अध्याय १४।

'सवेरे का समय है। ठण्डी ठण्डी हवा चल रही है। वृक्षों पर बैठ कर, चिड़ियाएँ मीठी मीठी बोलियाँ बोल रही हैं। पूर्व गगन में, लाली छाई हुई है। देखते ही देखते सूर्य भगवान उदयाचल पर आ विराजे। उनकी ज्योतिर्मय किरणों के प्रकाश में वृक्षों की चोटियाँ सुनहली हो गई।'

'पौष मास की सन्ध्या का समय है। सूर्य भगवान अपनी किरणों को समेट, अस्ताचल के शिखर पर आ विराजे हैं। लाल, काले नील, बैंगनी रंगों की आभा से, पश्चिम गगन शोभायमान हो रहा है। पक्षीगण वृक्षों की चोटियों पर बैठ कर, मीठी मीठी बोलियाँ बोल रहे हैं। कौओं का दल काँव काँव करता हुआ सीधा बसेरे की ओर चला जा रहा है। एक दो कौवे जो पिछड़ गए हैं वे रेल चलने की आवाज पाकर, तीसरे दर्जे के यात्रियों के समान, अपने दल के पीछे घबराए हुए चले जा रहे हैं। अन्धकार के साथ साथ, चारों ओर ठण्ड की मात्रा बढ़ रही है।'[1]

स्व० श्री वृन्दावनलाल वर्मा की भाँति ही श्री सेनापति भी ऐतिहासिक स्थलों में भ्रमण करते थे एवं स्थानीय जनता से स्थानीय लोकवृत्त का भी संग्रह करते थे। उन्होंने इतिहास ग्रन्थों का भी उत्तम परिशीलन किया था। साथ ही वे प्रादेशिक उपन्यासकार की जन्मजात प्रतिभा से सम्पन्न भी थे। यहाँ श्री सेनापति के कथासाहित्य-कर्तृत्व के सम्बन्ध में एक स्मरणीय अभिमत देना समुचित होगा —

श्री देवीप्रसन्न पटनायक ने अपने लेख में श्री सेनापति के उपन्यास साहित्य के बारे में यों लिखा है —

उनके उपन्यासों में सबसे प्रमुख विशेषता है उड़ीसा के सामाजिक जीवन का शत प्रतिशत सच्चा चित्रण। उड़िया में सेनापति का वही स्थान है, जो हिन्दी में प्रेमचन्द का, बंगला में बंकिम का और अंग्रेजी में हार्डी का।[2]

उड़िया के ऐतिहासिक उपन्यासकारों में श्री रामचन्द्र आचार्य का नाम भी उल्लेखनीय है। उनके ऐतिहासिक उपन्यासों में काला पहाड़, वीर उड़िया आदि पर्याप्त लोकप्रिय हुए। काला पहाड़ में उड़ीसा पर मुसलमानी आक्रमणों एवं उसके मन्दिर देवालयों के ध्वंस की रोमांचकारी कथा वर्णित है। वीर उड़िया में, मुगल सत्ता के प्रतिरोध में उड़ीसा के अन्तिम स्वतन्त्र राजा, श्री मुकुन्ददेव की

---

१ 'लच्छमा (श्री फकीरमोहन सेनापति) (रचनाकाल १६०० ई०) (बेलनगंज, आगरा के चिरंजीव पुस्तकालय के सौजन्य से प्राप्त एक दुर्लभ प्राचीन संस्करण से उद्धृत।) प्रथम हिन्दी रूपान्तर सन १६१५ ई०। रूपान्तरकार पाण्डेय मुरलीधर एवं मुकुटधर शर्मा। (प्रकाशक हरिदास वैद्य, हरिसन रोड, कलकत्ता)

२ 'उड़िया उपन्यासों का विकास' (श्री देवीप्रसन्न पटनायक) 'भारतीय साहित्य' (ऐतिहासिक उपन्यास' विशेषांक) पृ० ७१४ (१६६० ई०)।

वीरगति का ऐतिहासिक प्रसग है। घटना का काल सन १५६८ ई० है। सारगगढ के दुग म, वे अपने एक देशवासी के हाथो ही मृत्यु को प्राप्त हुए थे। यही घटना, उडीसा म मुसलमानी आधिपत्य का प्रारम्भ बनी।

श्री कालिन्दीचरण पाणिग्राही का, ग्रामीण जीवन का चित्रण करने वाला उत्तम उपन्यास 'माटीर माणिप' सन १९३० ई० में रचा गया। साहित्य अकादमी की ओर से, सभी भारतीय भाषाओ मे उसका अनुवाद कराया गया है। हिन्दी रूपान्तर-कर्त्री हैं श्रीमती सरस्वती पाणिग्राही और प्रस्तावनाकार हैं श्री नित्यानन्द महापात्र। उपन्यास वणनात्मक प्रतिभा से सम्पन्न है और उसम चित्रित ग्रामीण जीवन की चिरस्मरणीय चित्रपटियाँ अविस्मरणीय हैं। श्री पाणिग्राही ने उपन्यास म कितने ही स्थलो को अपने वणन-वमव से समृद्ध किया है। उदाहरणाथ उडीसा के ग्रामीण परिवेश का निम्न शब्द चित्र अवलोकनीय है —

चारो ओर धान के खेत हरे भरे खडे हैं और ऊपर आश्विन महीने का नीला आकाश। बीच बीच मे बादल के दल के दल, सफरी (मछली) जसे छोटे होते हुए भी, सीना ताने सूय के सामने चले जाते हैं। इससे उनकी छाँह, एक खेत से दूसरे पर नाचती-कूदती चली जाती है। बहुत दूर पेडो की गहराई मे, कितने गाव छिपे हुए हैं। हवा आती है, चली जाती है। इन्ही क्यारियो पर उसकी गति है। आसमान कितना ऊचा है और कितना नीला है धरती के ऊपर। खेतो के बीचोबीच कितने काले काले जानवर, झुक कर किसी काम मे लगे हैं। कही एक झुण्ड बगले, तो कही एक गिरोह तोते एक खेत से दूसरे खेत फिर वहा से उड कर गाव म गायब हो जाते हैं। किन्तु धान के पौधे के नीचे लटके हुए, काले काले जीवो की नजर किसी ओर नही है। व भी खेती और बाग की चिडियो की तरह, इस सूरज और आसमान की तरह चिर परिचित हैं। क्या घाम, क्या बरसात और क्या सर्दी क्या ओस, चारो मे, तीन सौ पैसठ दिन, एक से चलते जा रहे हैं। युग युग बीत चुके हैं। आज तक भी उन शरीरो को एक अगरखा नही मिला—तन ढकने के लिए। छ हाथ धरदनी आठ हाथ की न हो सकी—अच्छी तरह पहनने के लिए। तो वे नही हैं जानवर सिफ मिट्टी के ही ? उनका पेशा ?—जनम से मरने तक मिट्टी मे पदा होना और मिटना मिट्टी मे ही उठना बठना सोना और मिट्टी म ही घर बनाना, मिट्टी खोद कर पेट पालना। ये हैं—जमीन के कीडे, मिट्टी के पुतले।[1]

श्री गोपीनाथ महान्ती कृत महा उपन्यास 'अमृतर सन्तान' एक अत्यन्त वणन बहुल उपन्यास है। इसम लेखक ने, उत्कल के आदिवासी क्षेत्र के, जनजीवन का,

---

१ 'माटीर माणिप' (कालिन्दीचरण पाणिग्राही) हिन्दी रूपान्तर-कर्त्री श्रीमती सरस्वती पाणिग्राही (साहित्य अकादमी, नई दिल्ली की ओर से पूर्वोदय प्रकाशन, प्रथम सस्करण १९५६) पृ० ३१ ३२।

अत्यन्त विवरण सहित एव यथा तथ्य चित्रण किया है। प्राय समस्त उपन्यास ही, एक वणनो की माला सी जान पडती है और श्री महान्ती की वणन प्रतिभा ने, इस दृष्टि से भारतीय उपन्यास साहित्य म, एक उच्चतर मान स्थापित किया है। इस बहदकाय महा उपन्यास का प्रारम्भ निम्नांकित वणनात्मक चित्रण उल्लास के साथ किया गया है —

'मालभूमि कितनी सुन्दर है! इस सुन्दर मालभूमि के अत्यन्त सुन्दर रग बिरग, पहाडो की गोद म स्फटिक की तरह स्वच्छ झरने हैं। चारो ओर हलदिया रग के अडसी के पीले पीले फूल छाए हैं। अडसी का मधु लेकर, मधुमक्खिया दीवारो तक मे छत्ते लगाने म व्यस्त हैं। सब सुन्दर ही सुन्दर है!'[1]

श्री कान्हुचरण का उपन्यास का' ग्रामीण जीवन की पृष्ठ भूमि पर लिखित, एक गाहस्थ उपन्यास है। इसकी रचना लेखक ने बडी ही भावप्रवण शली म की है। इस भाति हम देखन हैं कि उडिया उपन्यास साहित्य म, धीरे धीरे आचलिक भाषा के प्रयोग तो हो ही रहे हैं साथ ही उसमे पुरानी परम्पराओ को त्याग कर, नवीन शलियो म उपन्यास रचना के, नव नव प्रयोग भी हो रहे हैं।

× × ×

भारतीय उपन्यासो के इस सक्षिप्त वणनात्मक सर्वेक्षण से, सभी भारतीय भाषाओ के उपन्यासो म समान एव मूलभूत विशिष्टताओ का हमे दिग्दशन मिलता है। सस्कृत के उपन्यास साहित्य ने समस्त आधुनिक भारतीय भाषाओ पर अपनी अमिट छाप छोडी है। इस तुलनात्मक पयवेक्षण से यह भी सुस्पष्ट है कि महान सस्कृत महाकाव्यो के अनुवर्ती गद्य महाकाव्यो की परम्परा म ही हमार प्रतिभा-सम्पन्न आधुनिक उपन्यासकारो ने—चाहे वे बगदेश के रह हो या अगदेश (उडीसा या उत्कल) के—चाहे वे सोरठ के रहे हो अथवा कर्णाट (कर्नाटक) के—चाहे अन्तर्वेद (उत्तर प्रदेश) क रहे हो अथवा मध्य देश (महाराष्ट्र मध्य भारत) के, सभी ने—समान-रूप से, अपने अपने उपन्यास वितानों को खडा किया है और इस भाति, महान भारतीय उपन्यास की वणनात्मक गरिमा मे, अभिवृद्धि की है।

क्या भाषा, क्या भाव क्या लोकोक्ति सूक्ति क्या मुहावरे, क्या वणन की परम्पराएँ और क्या वणन के अवसर सभी म हम विभिन्नता के बीच एक व्यापक समानता दृष्टिगोचर होती है। उत्तम लक्षणों से युक्त सुन्दरियो की रूपछबि अथवा अपराजेय पौरुष वाले दुधष युवाओ की आन बान—सभी को शब्दो की साकेतिक रेखाओ मे अपनी अपनी मातृभाषाओ के माध्यम रूपी चित्रफलकों पर उतारने के हेतु आदश वणन विन्यास के लिए सभी भारतीय उपन्यास स्रष्टाओं

१ अमतर सन्तान' (गोपीनाथ महान्ती) हिन्दी रूपान्तर युगजीत नवलपुरी (साहित्य-अकादमी, नई दिल्ली की ओर से, भारती भण्डार, प्रयाग, द्वारा प्रकाशित), अध्याय १, पृष्ठ ३।

ने, वारम्बार गरिमामय सस्कृत गद्य महाकाव्यों की वर्णन प्रणालियो की शताविध चित्र-विचित्र चित्रपटियों से समान रूप से प्रेरणा प्राप्त की है।

उक्त सर्वेक्षण से इस शाश्वत सत्य एव तथ्य का भी उद्घाटन होता है कि कुछ वर्णनों के स्थल एव अचल वे ही हैं, जिनपर सहस्राविध वर्षों म, अनेक प्रदेशो में रहने वाले अनेक, प्रतिभा के धनी, उपन्यासकारो ने,विशेष अनुराग के साथ लेखनी सचालन किया है—वे ही नगाधिराज हिमालय के हिममण्डित शिखर, वे ही भागीरथी की शान्तिदायिनी लहरें, वे ही रत्नाकर का गर्वीली ऊर्मियाँ, वे ही रमणीय वन पर्वत उपत्यकाएँ, वही मध्यदेश की महा-अटवी। इन सभी का विविध भाषाओ के उपन्यासकारो ने अपनी अपनी भावभरी एव ममत्व भरी दृष्टि से अपनी अपनी मातृ भाषाओ मे, अपनी अपनी निजी शैली म, वर्णन समृद्ध चित्रण किया है। हमारा यह भारतीय उपन्यास साहित्य ही, वस्तुत, हमारी युगप्राचीन एव हिमालय सम सुदृढ राष्ट्रीय एकता का, सबसे महान प्रमाण रूप, अमर रसमय वाङ्मय है।

५

भारतीय उपन्यासों में वर्णन के अवसर

भारतीय उपन्यास साहित्य की संक्षिप्त वर्णनात्मक रूपरेखा पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि उसकी सतरंगिनी इन्द्रधनुषी वर्णनात्मक छटा कितनी विविध, कितनी चित्र विचित्र एवं कितनी मनोहारिणी है। यह उपन्यास गत वर्णन परम्परा, लगभग दो सहस्र वर्षों की अटूट शृंखला में निबद्ध है तथा उसमें वर्णित वर्ण्यवस्तु के विश्लेषण द्वारा, हम उनमें प्रयोजित, विविध वर्णनों के अवसरों की एक अद्भुत रस सृष्टि के भव्य दर्शन होते हैं। आचार्य राजशेखर ने अपने अनुपम साहित्य-समीक्षा ग्रन्थ 'काव्य मीमांसा' में [महान संस्कृत महाकाव्यों तथा उन्हीं की टक्कर के *संस्कृत गद्य महाकाव्यों (पुरातन उपन्यासों) में प्रतिबिम्बित, विलक्षण* वर्णनात्मक समृद्धि को दृष्टि में रखते हुए] पर्याप्त मौलिक विश्लेषणात्मक विचार व्यक्त किये हैं, जो आज भी, भारतीय उपन्यासों में वर्णन के अवसरों की सम्यक समीक्षा में हमारे सहायक एवं दिग्दर्शक सिद्ध हो सकते हैं। आचार्य राजशेखर, कोष गत 'वर्णनीय' विषयों की सूची गिना कर ही, सन्तुष्ट नहीं हो गए,[1-2] वरन् उन्होंने साहित्य विधा के इस महत्वपूर्ण अंग—अर्थात 'वर्णनों की आयोजना' पर भी पर्याप्त मौलिक रूप से विचार विमर्श किया है।

आचार्य राजशेखर का मत है कि वर्णन के अवसर, अनन्त एवं असंख्य हो सकते हैं। यही नहीं वे सदैव ही 'देशकाल सापेक्ष्य' भी रहा करते हैं। वर्णन कला *कोई साधारण हस्तशिल्प या दस्तकारी' नहीं है और न उसके लिए कोष ग्रन्थों* एवं काव्य-ग्रन्थों में निर्देशित स्थायी तालिकाएँ ही पर्याप्त समझी जानी चाहिएँ। आचार्य राजशेखर एक विशिष्ट विचक्षण विवेकशील प्रतिभा के काव्य मर्मज्ञ थे। इसीलिए उन्होंने, 'वर्ण्यानि' या 'वर्णनीयानि' शब्दावली को, अपनी वर्णनात्मक कला

---

१ 'अथ वर्ण्यानि कथ्यन्ते अम्बु खेलारतम। — शब्द कल्पद्रुम', पृष्ठ २८७।

२ साहित्य दर्पण, (आचार्य विश्वनाथ), परिच्छेद ६।

सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दावली से पृथक रखना ही उचित समझा। इसके विपरीत उन्होंने वर्णनात्मक कला के इस पक्ष विशेष पर, अपनी निजी एवं नयी पारिभाषिक शब्दावली भी निरूपित की।

आचार्य राजशेखर के अनुसार 'वर्णन के अवसरों' में देश और काल के प्रत्येक सूक्ष्म विभेद के अनुसार पद-पद पर परिवर्तन होना अनिवार्य है। यदि कविगण या उपन्यासकार (पद्य महाकाव्य-कार अथवा गद्य महाकाव्य कार) अपने प्रबन्ध काव्यों या उपन्यासों में वर्णन के अवसरों का समावेश देश और काल के अनुसार नहीं करेंगे, तो लोकप्रिय होना तो दूर वे लोक उपहास के भागी भी बनेंगे। आचार्य राजशेखर की यह सुनिर्धारित धारणा है कि अपने देशकाल का उत्कृष्ट एवं तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किए बिना, साहित्यकार को, प्रबन्धकाव्य जैसी 'वर्णनात्मक विधा' एवं साहित्य चर्चा जैसी अत्यन्त सूक्ष्म 'आन्वीक्षिकी विद्या' के विवेचन में, लेखनी संचालन करने के दुःसाहस में, प्रवृत्त नहीं होना चाहिए।

राजशेखर ने अपनी 'काव्य-मीमांसा' के सप्तदश एवं अष्टादश (सत्रहवें अट्ठारहवें) अध्यायों में विशेषतया देशकाल विभाजन अर्थात् देशकाल के अनुरूप परिवर्तित एवं प्रयुक्त वर्णन के अवसरों पर, विशद व्याख्या की है। यह जान कर अनेक आधुनिक साहित्य-समीक्षकों को भी आश्चर्य हुए बिना न रहेगा कि आज से लगभग एक सहस्र वर्ष पहले भी, वर्णन के अवसरों एवं वर्णनों के साहित्य निर्माण के व्यावहारिक पक्ष पर, हमारे देश में तात्विक विचार विमर्श किया जा चुका है। आचार्य राजशेखर ने इसी प्रसंग में एक स्थल पर लिखा है —

देशम् कालम् च विभजमानः कविः, न अर्थदर्शन दिशि दरिद्राति'। अर्थात देश तथा काल का विभाग समझने वाला कवि (अथवा सृजनात्मक साहित्यकार), अर्थ प्रदर्शन की दिशा में, कभी दरिद्र नहीं रहता। अर्थात देश तथा काल का ज्ञान कवि (सृजनात्मक कलाकार) के लिए अनिवार्य है। किस देश और किस काल में, क्या क्या वर्णन, साहित्य सर्जना में समावेश के योग्य हैं? 'कवि' को इसका ध्यान रखना आवश्यक है। यदि कवि को इसका ज्ञान है तो उसे वर्ण्य विषयों की कमी कभी नहीं हो सकती। इसके अभाव में वह अनुपयुक्त पदार्थों के वर्णन में प्रवृत्त हो जाएगा। किस देश में किस काल में क्या होता है या हुआ है यदि इसका कवि को सम्यक् ज्ञान नहीं है तो वह अनस्थान तथा अकाल में ऐसे पदार्थों का वर्णन कर देगा कि जिसकी वर्ना, उस समय स्थिति सम्भव नहीं थी और इस प्रकार वह और उसका काव्य, उपहास्यता को प्राप्त होगा।

---

१ 'हिन्दी काव्य मीमांसा' (श्री राजशेखर विरचिता काव्य मीमांसा। (प्रकाश' नामक हिन्दी व्याख्योपेता) व्याख्याकार—डॉ० गंगासागर राय, एम० ए० पी एच० डी०, (चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१) सप्तदशोऽध्याय, 'देशकाल विभाग', पृष्ठ २२६।

आचार्य राजशेखर के अनुसार साहित्यकार के लिए वर्णन के अवसरों के लिए किसी कोश अथवा काव्याचार्य की दी हुई तालिका विशेष की अपेक्षा नहीं रहती। उसका वर्णन क्षेत्र तो अखिल विश्व ही है। फिर भी कुछ ऐसी भौतिक एवं मनोवैज्ञानिक सीमाएँ हैं, जिनमें रह कर ही लेखक को अपने कार्य को, आगे बढाना होता है। यह ठीक है कि जहाँ सूर्य की किरणें भी नहीं पहुँच पाती, वहाँ भी कवि की वर्णन प्रतिभा जा पहुँचती है। किन्तु जिस मर्त्यलोक पर हम निवास करते हैं उसके नीचे एवं ऊपर के लोकों का वर्णन, यदि कुछ काल्पनिक एवं कुछ प्रस्थापित वैज्ञानिक सिद्धान्त-सूत्रों के अनुसार ही किया जाए तभी वह प्रतीयमान हो सकता है। इसी अभिप्राय से उन्होंने, लोक परलोक के विविध लक्षणों तक को अपने उक्त अध्याय में चर्चा की है।

बंगला भाषा के ख्यातनामा उपन्यासकार—श्री विभूतिभूषण वंद्योपाध्याय कृत 'देवयान' नामक वर्णन प्रधान उपन्यास में जब हम उनके चित्रित, देवयोनि के व्यक्तियों के वर्णन पढ़ते हैं तो हमें सहज ही यह जिज्ञासा होती है कि वे देवलोक के निवासी, किन किन बातों में हमारे अपने जीवन से भिन्नता रखते हैं और किन किन बातों में वे हमारे ही समान हैं? श्री प्रेमचन्द ने भी कुछ इसी भाँति के जन्म जन्मान्तर के प्रसगों के वर्णन अपने प्रख्यात उपन्यास 'कायाकल्प' में समाविष्ट किए हैं। भारतीय उपन्यासों के ये अतिमानवीय अथवा अलौकीय वर्णन भी हमारे उपन्यास साहित्य की अपनी निजी विशेषताएँ हैं। पश्चिम में बहुधा लोग चौदह भुवनों वाली हमारी भारतीय धारणा को स्वीकार नहीं करते अतः उन्हें अपने पाठकों के मनों में प्रसुप्त कुतूहल विस्मय अथवा अद्भुत तत्व को जगाने के लिए 'साइन्स फिक्शन' (विज्ञान परक उपन्यास साहित्य) जैसी विधाओं की, खोज निकालना पड़ा है।

आचार्य राजशेखर ने हमारे अपने मर्त्यलोक के अतिरिक्त अन्य लोकों के बारे में तथा अखिल विश्व रचना के सम्बन्ध में सभी प्रसिद्ध मतों की संक्षेप में चर्चा की है। उनकी सर्वप्रथम धारणा है द्यावा—पृथ्वी की। (यह धारणा पाश्चात्य देशों में भी व्यापक रूप से पाई जाती है कि धरित्री (धरती जमीन) मानव जाति की माँ है और आकाश उसका पिता है।) हम धरती और आकाश की सन्तान होने के कारण, अपनी चिन्तन सरणी में धरती की गोद में रहते हुए भी, आसमान की बात किए बिना चैन नहीं अनुभव करते।

आचार्य राजशेखर ने इस *विश्व कल्पना* के सम्बन्ध में (उनके समय तक) मान्य अभिमतों का विवरण इस भाँति दिया है — दिव (देवलोक आकाश) तथा पृथ्वी, दो जगत माने गए हैं। स्वर्ग, मर्त्य तथा पाताल ये तीन लोक भी मान्य हैं। कुछ अन्य लोग, इन्हीं तीनों लोकों को, 'भू, भुवः तथा स्वः' भी कहते हैं। अन्य लोगों

की यह धारणा है कि महर्लोक, जनलोक, तपलोक तथा सत्यलोक ये चार लोक भी माने जाने योग्य हैं। इस भांति लोकों की कुल संख्या सात है। यही सात लोक प्रवाह आदि वायु समूहों के साथ मिल कर, चौदह हो जाते हैं। इस भांति चौदह लोक वाली लोक धारणा अस्तित्व में आई। कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि इन चौदह भुवनों में, सात पातालों को मिला कर कुल इक्कीस लोक होने चाहिएँ।"[1]

भारतीय साहित्य की उपन्यास विधा के अन्तर्गत ऐसे वर्णन अनेक उपन्यासों में आए हैं जिनमें, मर्त्यलोक के प्राणी, अन्य लोकों को गए हों और अन्य लोकों के प्राणी, हमारी धरती पर बसने वाले मर्त्य प्राणियों से नाता जोड़ने और मैत्री बढ़ाने के निमित्त, आये हैं। यथा आद्य हिन्दी उपन्यास 'नासिकेतोपाख्यान' (सन् १८०३ ई०) का प्रमुख नवयुवक नायक, नचिकेता (नासिकेत), यमलोक में सदेह पहुँच जाता है तथा वहाँ से जीवित लौट भी आता है। लौट कर वह अपने अनुभवों को यहाँ के निवासियों को सुनाता है।

वस्तुतः अन्तर्लोक-यात्राओं की सर्वप्रथम चर्चा, स्वयं बाणभट्ट ने अपने 'कादम्बरी' नामक महा उपन्यास में की थी। अपने उत्तमोत्तम वर्णनों के अवसरों की महासूची में बाण के वे वर्णनात्मक प्रसंग भी चिरस्मरणीय रहेंगे जिनमें चन्द्रलोक के राज पुत्र चन्द्रापीड के पृथ्वी पर आने, और एक प्रतापशाली राजा के पुत्र के रूप में जन्म लेकर अपनी प्रणय कथा को बीच में ही छोड़ कर फिर चन्द्रबिम्ब में जा समाने की कथा कही गई है। इस भांति 'अन्तर्लोक यात्राएँ' भी हमारे जातीय उपन्यास साहित्य की एक निजी विशिष्टता बन गई है।

यद्यपि कुछ समय पहले हमारे उपन्यासों में वर्णित ये अन्तर्लोक यात्राएँ अथवा आकाशमण्डल भ्रमण वृत्तान्त, विदेशियों द्वारा, भारतवासियों की अन्धविश्वास प्रवृत्ति के द्योतक माने जाते थे किन्तु आज, मानव के चन्द्रलोक को जाने और वहाँ से सदेह सकुशल लौट आने की बात सर्वसाधारण के ज्ञान की वस्तु बन चुकी है। अतः कोई आश्चर्य नहीं यदि 'कादम्बरी' जैसे भारतीय उपन्यासों के 'चन्द्रापीड' जसे नायक, सचमुच ही कोई साहसी आकाश-यात्री हो रहे हों। इसीलिए आचार्य राजशेखर का यह कथन आज और भी यथातथ्य जान पड़ता है कि प्रत्येक देश और प्रत्येक काल में, वर्णन के कितने ही अभिनव अवसर समुपस्थित हो जाते हैं। दो सहस्र वर्षों के विगत आयाम में, और भारतभूमि की विशाल व्यापक वर्णन भूमि में परिव्याप्त रहने

---

१ 'दिवस्पृथिव्यौ द्वे जगती तावेव भूभुव स्व इत्यन्ये। महर्जनस्तप सत्यमित्येत सह सप्त तानि सप्तानि वायुस्कन्ध सह चतुर्दश तानि सप्तभि पाताल सहैकविंशति इति कश्चित्। —राजशेखर, सप्तदश अध्याय—'काव्य मीमांसा', 'देशकाल-विभाग', पृष्ठ २२७-२८ (प्र० चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।)

के कारण, इसीलिए हमारे उपन्यास साहित्य की वर्णनात्मक समृद्धि, विश्व भर के उपन्यास साहित्य की अपेक्षा, कहीं अधिक निपुण और विविध है।

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि आचार्य राजशेखर ने, देशकाल विभाग और कविसमय या कथानक रूढ़ि के बीच के सूक्ष्म अन्तर को समझाते हुए, यह कहा है कि 'कविसमय' तो वस्तुतः एक ऐसी धारणा या लोक विश्वास है जिसकी साहित्य एवं काव्य में रूढ़ स्थिति हो गई है। सांझ होने पर चक्रवाक पक्षियों के युगल को जलाशय के दो भिन्न किनारों पर रहना ही पड़ता है या चकोर पक्षी अंगारे चुगते हैं। ऐसी धारणाओं को 'कविसमय' कहते हैं। किन्तु 'देशकाल विभाग' कोई 'कविसमय' नहीं है, वरन यह तो साधारण ज्ञान की उत्तम सामर्थ्य का ही अन्य नाम है। कवि या साहित्यकार को देश और काल का सुज्ञाता होना चाहिए। उसकी कृतियों में इस जगत् का एक छोटे से छोटा टुकड़ा, मूर्तिमान हो उठना चाहिए। उसकी कल्पना अथवा भावना की गति अबाध होनी चाहिए। किन्तु यह तभी संभव है जब कि साहित्यकार में अध्ययन, पर्यटन, एवं निरीक्षण की, जन्मजात रुचि एवं लगन होवे।

जिस समय आचार्य राजशेखर हुए थे सम्भव है तब से अब यातायात का साधन हमारे लिए अधिक सुलभ हो गया हो अथवा मुद्रण-यन्त्र के आविष्कार द्वारा, पुस्तकों का अध्ययन अधिक सुलभ हो गया हो। किन्तु जो भी हो कम से कम उपन्यासकार को तो एक ऐसा व्यक्ति होना ही चाहिए जिसका साधारण ज्ञान अर्थात् इतिहास ज्ञान, भूगोल ज्ञान, निजी यात्रा द्वारा अर्जित ज्ञान, और निजी अर्जित साहित्य ज्ञान *असाधारणतः प्रखर एवं अभूतपूर्व हो। यही नहीं,* प्रत्येक प्रदेश का सही सही चित्र और उसका भूगोल इतिहास का ज्ञान उपन्यासकार के लिए तो अनिवार्य ही माना जाना चाहिए। इसी दृष्टि से आचार्य राजशेखर ने, चौदह लोकों या चौदह भुवनों के विवरण के पश्चात देश विभाग का विवरण देते हुए लिखा है —

'अविशेष विवक्षा अर्थात् सामान्य कहने सुनने में तो यह जगत या लोक एक ही रहता है किन्तु विशेष विवक्षा (अर्थात् वर्णनगत विशिष्टता एवं औचित्यज्ञान) को दृष्टि में रखते हुए वह एक नहीं अनेक रूप होता है।

ऊपर कहे गए इक्कीस लोकों में भूलोक पृथ्वी है। इसमें सात महाद्वीप हैं।' जम्बूद्वीप (एशिया तथा यूरोप इन दो महाद्वीपों का संयुक्त रूप) सबके मध्य में है। उसके अनन्तर क्रमशः प्लक्ष, शाल्मल, कुश, क्रौंच, शाक तथा पुष्कर द्वीप हैं। लवणमय, रसमय, सुरामय घृतमय, दधिमय, दुग्धमय, तथा सुस्वादु जलवाले—ये सात समुद्र हैं, जो इन सातों द्वीपों को घेर कर स्थित हैं। किन्तु कुछ लोग कहते हैं कि एक लवणमय सागर ही सर्वत्र फैला हुआ है।"[1]

---

१ काव्य मीमांसा' (राजशेखर) अध्याय १७, पृष्ठ २२९ २३०।

श्री राजशेखर द्वारा प्रतिपादित अन्य मतों पर विशेष ध्यान न देकर यहां उनके केवल एक कथन पर ही विशेष ध्यान देना उचित होगा कि अविशेष विवक्षा' और 'विशेष विवक्षा', दोनों दृष्टिकोणों में अन्तर क्या है ? जनसाधारण अथवा साधारण पाठक और साहित्यकार के बीच अंतर, केवल 'विवक्षा' (या प्रत्येक तत्व को उनके विश्लेषित रूप में देखने समझने की आदत) का ही है। जब कि लेखक द्वारा किसी नैसर्गिक दृश्य अथवा सांसारिक व्यापार पर दृष्टिक्षेप में, विशेष विवक्षा शक्ति' कार्यशीला रहती है—जनसाधारण का केवल 'अविशेष विवक्षा' (कोई खास बात नहीं) से ही काम चल जाता है। उपन्यासकार के लिये जो वर्णनों के अवसर, किसी एक नैसर्गिक दृश्य में, अनेक एवं अदभुत रूपों में वर्तमान रहते हैं वे जनसाधारण के लिए दृश्यमान होते हुए भी नहीं के बराबर ही जान पड़ते हैं।

भारत की सांस्कृतिक एवं साहित्यिक एकात्मता पर बल देते हुए आचार्य राजशेखर, आगे चल कर साहित्यकार को एक अखिल भारतीय अथवा तुलनात्मक दृष्टिकोण रखने के लिए, प्रेरित करते हैं —

'भगवान मेरु (सुमेरु) आद्यवर्ष पर्वत है। इसके चारों ओर इलावृत नामक वर्ष है। उसके उत्तर की ओर तीन वर्ष पर्वत हैं—नील श्वेत तथा शृंगवान। इनके वर्षों के नाम क्रम से रम्यक, हिरण्मय तथा उत्तर-कुरु हैं। मेरु के दक्षिण में निषध, हेमकूट तथा हिमवान पर्वत हैं। इनके वर्ष हैं क्रमशः हरिवर्ष, किंपुरुष तथा भारत। भारतवर्ष के नवभेद हैं, जिन्हें हम आज भारत के नौ मुख्य प्रादेशिक विभाग कह सकते हैं वे ये हैं—इन्द्रद्वीप, कसेरुमान, ताम्रवर्ण गभस्तिमान, नागद्वीप सौम्य, गंधर्व वरुण और कुमारीद्वीप। पाँच सौ भाग जल और पाँच भाग स्थल वाले भारतवर्ष में, दक्षिण सागर से लेकर, हिमालय तक, प्रत्येक देश सौ योजन वाले हैं और परस्पर अगम्य हैं।"[1]

सौभाग्य से आज भारत के इन नवभेदों (अथवा प्रदेशों) के बीच की अगम्यता बहुत अंशों में दूर हो चुकी है। श्री राजशेखर के कथनानुसार आज से सहस्राब्धि वर्ष पूर्व भारतवर्ष के नवभेदों के बीच की अगम्यता, दुर्लध्य भले ही रही हो किन्तु भारतवासियों की देशानुरक्ति और राष्ट्रीय एकता सम्बन्धी प्रबल भावना फिर भी बड़ी सुदृढ़ एवं अडिग राष्ट्रीय चितना पर, अवस्थित थी।

राजशेखर ने अपनी 'काव्य मीमांसा' के १७वें तथा १८वें अध्याय में जिस देशकाल-विभाग' सिद्धान्त का विवेचन किया है उसमें उपन्यासों में आने वाले सभी प्रकार के ऐसे वर्णन समाविष्ट हो जाते हैं जिनके रमणीय पक्ष को लेकर, उपन्यासकार, उन्हें अपने कथासूत्र में पिरोता चलता है।

---

१ काव्य-मीमांसा (राजशेखर) अध्याय १७ पृष्ठ २३२ से २३८ (हिन्दी काव्य मीमांसा)।

राजशेखर का मत है कि सभी वर्णनो के अवसरो के मूलाधार मे, देश और काल का समन्वित प्रभाव अवस्थित रहता है। देश' अर्थात स्थान का, वर्णन के अवसरो म प्राथमिक महत्व है क्योकि वर्णन की स्थूल अथवा चाक्षुष रूपरेखा, देश अथवा स्थान-तत्व पर ही आधारित है। फिर भी यदि वर्णन के निर्णायक दूसरे (अर्थात काल) तत्व का सहयोग न मिले, तो स्थान-वर्णन नीरस निष्प्राण एव सौन्दर्य रहित ही रहेगा—उसकी साहित्यगत परिणति द्वारा, किसी भी कलात्मक सिद्धि की सम्भावना नही हो सकती।

राजशेखर की, मातृभूमि के उपर्युक्त भव्य एव विराट रूप सम्बन्धी ममतापूर्ण एव भावपूर्ण उदभावनाओ का स्वर वस्तुत हमारे समग्र प्राचीनतम वाङमय का, एक मौलिक एव गुरु गम्भीर स्वर रहा है। जिस भारतभूमि की विविध छवियो को हमारे उपन्यासकार अपनी प्राकृतिक दृश्यावली के वर्णनो म उतारते रहते हैं उनकी आराधना और उपासना, ऋग्वेद के 'स्तुति-सूक्त मे भी प्राय वसी ही सरल एव भावमयी भाषा म मिलती है। ऋग्वेद के नदी स्तुति सूक्त' मे हिन्दी क्षेत्र की नदियों का सर्वप्रथम वर्णन प्राप्त होना है —

'इमम मे गगे सरस्वति, शतुद्र स्तोमम सचता परुष्णया।
असिक्निया मरुदवधे वितस्तत्तय आर्जकीये श्रृणुह्या सुषोमया॥"[1]

('हे गगे! यमुने सरस्वती शतुद्र, (सतलज) परुष्णी (रावी) सभी एक साथ मेरे स्तोम (स्तोत्र) को सुनो! हे मरुदवधे (मरुद्वृधनि)! और आर्जकीये! हे आसिक्नी (चिनाब)! वितस्ता (झेलम) और सुषोमा (सोहन) तुम भी सभी एक साथ मेरी स्तुति सुनो!')

हिन्दी उपन्यास के विस्तृत क्षेत्र म, नदियो का जाल बिछा हुआ है, जो यहाँ के जीवन के ताने बाने मे, ओत प्रोत है। उक्त वदिक सूक्त का प्रणेता ऋषि है सिन्धु क्षित। वह पुराणो के अनुसार पचाल का राजकुमार था जिसकी वाहिनी इन नदियो का पार कर, सिन्धुतट के पश्चिमोत्तर तक पहुँची थी। कुरु पाचाल के साहित्य और सस्कृति का प्रसार भी पश्चिमोत्तर म इसी दिशा और गति से हुआ था। उक्त स्तोत्र मे दृषद्वती (घग्घर) और विपाशा (व्यास) नामक पजाब की दो पूर्वीय नदियो की गणना नही है। सम्भवत सनिक अथवा धार्मिक दृष्टि से उनका महत्व तब कम था।[2]

गगा न केवल हिन्दी क्षेत्र की, अपितु सारे भारत की सर्वश्रेष्ठ और प्रसिद्ध नदी है। गगा भारतीय साहित्य म सुरसरि अथवा देवनदी नाम से स्मृत है। देव

---

१ ऋग्वेद, १०/७५/५
२ द्रष्टव्य हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास', प्रथम भाग।

तात्मा हिमालय की गगोत्री झील से, इसका प्रस्रवण प्रारम्भ होता है। 'अलकनन्दा', 'मन्दाकिनी' आदि कई धाराओ और नामो से बहती हुई, यह, हरिद्वार के पास मैदान मे उतरती है। कानपुर से ऊपर ही, पूर्व से रामगगा और पश्चिम से कालिन्दी ('काली नदी, यमुना नहीं') गगा मे आकर मिलती हैं। मैदान मे गगावतरण ने, बहुत सी पौराणिक कथाओ और काव्यो को (उपन्यासो को भी) जन्म दिया है।[1] उत्तर के पार्वत्य प्रदेश से लेकर पूर्व मे (राजमहल की पहाड़ियो तक) गगा का प्रवाह, हिन्दी भाषी क्षेत्र का मेरुदण्ड है। प्राचीन तथा आधुनिक, राजनीतिक तथा सास्कृतिक जीवन के प्रसिद्ध केन्द्र हरिद्वार, हस्तिनापुर प्रयाग (इलाहाबाद), काशी (वाराणसी), पटना (पाटलिपुत्र) आदि सभी गगा के तट पर ही स्थित हैं।

भौगोलिक और सास्कृतिक, दोनो ही दृष्टियो से, गगा के पश्चात, यमुना का स्थान है। वह भी गमभृखला मे स्थित यमनोत्री से निकल कर, पहले दक्षिणाभिमुख और फिर पूर्वाभिमुख वह कर प्रयाग मे, गगा से मिल जाती है। भारत की प्राचीन सस्कृति इसके सहारे भी प्रवाहित हुई थी और इसके किनारे, इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) मथुरा, आगरा कौशाबी (कोसल) आदि प्रसिद्ध नगर स्थित हैं। गगा यमुना के बीच का देश ही ब्रह्मर्षि अथवा आर्यावर्त प्रदेश था, जहाँ वैदिक सभ्यता और सस्कृति, परिपक्व हुई और वही से अन्यत्र प्रसारित हुई।

भारतीय उपन्यासो मे जहाँ भी हमारे उपन्यासकारो को गगा यमुना के वर्णन का अवसर प्राप्त हुआ है उन्होने उनके तटो की शोभा तथा उनके शस्य श्यामल अचल की भूरि भूरि यशोगाथा गाई है और उन्हे अपने शब्द चयन की तूलिका द्वारा असख्य रगो और छवियो मे उतारा है। इसी भाँति हमारे उपन्यासकारो ने, हिन्दी प्रदेश की विभिन्न नदियो एव उनकी सहायक नदियो के ताने बाने के परिप्रेक्ष्य मे, अपने उपन्यासो की आयोजना एव नियोजना की है। 'नदी पुराण' हमारे उपन्यासकारो का एक प्रिय एव महत्वपूर्ण वर्ण्य विषय रहा है। इस दृष्टि से हम अपने हिन्दी प्रदेश की नदियो का स्थिति और गति धाराओ की भी पर्याप्त प्रत्यक्ष एव यथातथ्य जानकारी अपेक्षित है। बिना उसके उपन्यासकार की कृतियो मे, आत्मीयता न आ पाएगी और कही न कही उससे भारी भौगोलिक भूलें भी हो जाने का अन्देशा बना रहेगा।

'हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास' मे, एक सम्पूर्ण अध्याय है जिसका शीर्षक

---

१ पुराणो और 'रामायण मे भगीरथ द्वारा गगावतरण की कथा वर्णित है। विद्वानो का मत है कि किसी समय गगा हिमालय की उपत्यकाओ और सरोवरों मे भटकती थी, अथवा गगा और यमुना, अत्यन्त प्राचीन काल मे राजस्थान समुद्र मे गिरती थी। उन्हे मोड कर भगीरथ ने दक्षिण पूर्वाभिमुख किया।

'भारतीय साहित्य में पर्वत और नदियाँ' है। भारतीय उपन्यासों में वर्णन योजना की दृष्टि से उसी से कुछ उल्लेख्य तथ्यों का संक्षिप्त ब्योरा यहाँ उद्धृत किया जा रहा है —

'सिवालिक की जल विभाजक रेखा के पश्चिम, सरस्वती (लुप्त) दृषद्वती (घग्घर—अब प्राय लुप्त), सतलज, ब्यास, रावी, चिनाब, झेलम और सिन्धु आदि नदियाँ, हिमालय से निकल कर, पश्चिमोत्तर को बहती हैं। पहले सरस्वती, राजस्थान के समुद्र में गिरती थी, किन्तु अब विनशन के पास वह लुप्त हो जाती है। ब्यास, सतलज में मिलती है और शेष नदियाँ सिन्धु में। कुरु-पंचाल का पश्चिमोत्तर प्रसार क्षेत्र इन्हीं नदियों के प्रदेश में था और यहाँ पर, त्रिगर्त मद्र, केकय शिवि, सौवीर, सिन्धु आदि जनपद स्थापित थे। वैदिक साहित्य में इन नदियों का इनके पूर्वनामों के साथ प्राय उल्लेख मिलता है।

पंजाब से दक्षिण चलने पर राजस्थान आ जाता है। इसके पश्चिमोत्तर में, नदियों का प्राय अभाव है। झील अथवा कृत्रिम सागर ही, यहाँ के मुख्य जलाशय हैं। अजमेर का अर्णोसागर (आनासागर) प्रसिद्ध ऐतिहासिक जलाशय है। साम्भर झील से केवल एक लूनी नदी निकल कर दक्षिण पश्चिम राजस्थान में होती हुई रनकच्छ में गिरती है।

मालवा के पठार से कई नदियाँ निकल कर दक्षिणपूर्व राजस्थान में होती हुई यमुना में मिल जाती हैं। इनमें चम्बल (चर्मण्वती) छोटी सिन्धु (काली सिन्धु), बेतवा (वेत्रवती) तथा केन (शुक्तिमती) का उल्लेख किया जा सकता है। चम्बल की पश्चिमी सहायक नदी बनास (वर्णाशा) है, जो अरावली से निकल कर चम्बल में मिलती है। उज्जयिनी से होकर बहने वाली साहित्यिक शिप्रा नदी मालवा के ही पठार से निकल कर चम्बल में गिरती है। विन्ध्यप्रदेश की नदियों में केवल शोणनद ही प्रसिद्ध है जो प्राचीन साहित्य में, शोणभद्र तथा हिरण्यबाहु भी कहलाता था। यह अपनी विशाल जलराशि तथा शोणित बालुका कणों को बिखेरता हुआ पटना के पश्चिम में गंगा में मिल जाता है। [अरब सागर में गिरने वाली और दक्षिण एवं पश्चिम दिशा में प्रवाहित होती हुई नर्मदा एवं ताप्ती भी विन्ध्याचल एवं सतपुड़ा पर्वतमाला से निकलती हैं। इनमें नर्मदा को भी गंगा यमुना के पश्चात धार्मिक श्रद्धा प्राप्त हुई है। उसके तट पर अनेक प्रसिद्ध तीर्थस्थान भी हैं।]

पञ्चाल से समवर्ती गंगा प्रवाह के पूर्व राजमहल की पहाड़ियों तक, नदियों का एक जाल सा बिछा है। गोमती बरेली के ऊपर हिमालय की तराई से निकल कर, लखनऊ तथा जौनपुर होती हुई बनारस के आगे गंगा से मिल जाती है। गोमती के पूर्व सरयू नदी है। वेद में सरयू नदी का नाम सरार मिलता है।[1] यह

---

१ ऋग्वेद, ५/५३/६ तथा १०/६४/६

मानसरोवर के दक्षिण से निकलती है। हिमालय प्रदेश में कई जल धाराएँ इसमें आकर मिलती हैं। सरयू बड़ी विशाल तथा वेगवती नदी है। इसके किनारे लोक-विश्रुत अयोध्या नगरी स्थित है जहां 'मानव' अथवा 'इक्ष्वाकु' वंश की स्थापना हुई थी। इसके किनारे दूसरा प्रसिद्ध नगर, छपरा है। यहीं पर सरयू, गंगा से मिलती है। वाल्मीकि और तुलसी दोनों ने, अपने काव्यों में, सरयू को अमर किया है।

गोमती और सरयू के बीच में, टास (तमसा) नदी है, जो गाजीपुर और बलिया के बीच में, गंगा से जा मिलती है। वाल्मीकि आश्रम की तमसा (मुरला के साथ) यही है, जहाँ सीता का दूसरा वनवास और लवकुश का जन्म हुआ था।[1] आजकल तमसा के किनारे आजमगढ़ नगर और मऊ नामक प्रसिद्ध कस्बे हैं। सरयू के पूर्व में राप्ती नामक नदी है जिसका प्राचीन नाम अचिरवती अथवा अजिरवती था। यह बुटवल की पास की पहाड़ियों से निकलती है और वेग से बहती हुई देवरिया जिले में बरहज के पास सरयू से मिल जाती है। प्राचीन श्रावस्ती नगरी (सहेत महेत गोंडा बहराइच की सीमा पर) इसी के किनारे थी, जो ब्राह्मण और बौद्ध दोनों ही साहित्यों में प्रसिद्ध थी। दूसरा प्रसिद्ध नगर इसके किनारे, गोरखपुर है। बुद्धकाल में कोलियगण की राजधानी रामग्राम इसी स्थान पर थी जिसे परवर्ती-काल में राप्ती बहा ले गई। राप्ती की सहायक नदी रोहिणी, बस्ती गोरखपुर की ऊपरी तराई से निकल कर गोरखपुर के पास राप्ती से मिल जाती है।"

'इसके पूर्व चल कर, देवरिया में, छोटी गण्डक (प्राचीन हिरण्यवती) है। यह भी नेपाल की तराई से निकल कर दक्षिण पूर्व को बहती हुई सरयू में मिल जाती है। प्राचीन काल में मल्लों की राजधानी, कुशीनगर इसी के किनारे था। (आजकल उसके खंडहर रामभार ताल के किनारे हैं।) कुछ और पूर्व में चलने पर, बिहार में बड़ी गण्डक (सदानीरा आधुनिक नारायणी) कोसी (कौशिकी) आदि प्रसिद्ध नदियाँ हैं जो हिमालय से प्रस्रवित होकर, उत्तरी बिहार को आप्लावित करती हुई गंगा में मिलती है। ये नदियां जाल की तरह फैली हुई है। इनकी लाई मिट्टी से प्रति वर्ष, इनके द्वारा सिंचित मैदान, उपजाऊ बनता है। जीवन के साधन सरलता से उपलब्ध होने के कारण इन्हीं नदियों के प्रदेश में, कोसल वैशाली विदेह आदि राज्यों तथा उनके भग्न होने पर, मल्ल तथा वज्जिसंघ के गणों की स्थापना हुई थी।[2]

---

१ भवभूति उत्तर रामचरित (महाकाव्य) में इसका विशद वर्णन है।
२ देखिये 'सामर्थ्य और सीमा' [भगवतीचरण वर्मा]
३ 'हिंदी साहित्य का बृहत इतिहास' भाग १, अध्याय १, पृष्ठ १२ १४ (प्र० काशी नागरी प्रचारिणी सभा)—तथा पुराणों का 'भुवनकोश' नामक अध्याय एवं वराहमिहिर कृत बृहत संहिता'।

वैशाली की नगरवधू' नामक अपने विशालकाय उपन्यास में, आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने उपर्युक्त 'नदियों के जाल' में अवस्थित प्रदेश को ही अपने उपन्यास की कथाभूमि बनाया है। उपन्यास का सर्वप्रथम अध्याय, वैशाली से प्रारम्भ होता है। उन्होंने बड़ी गण्डक या बूढ़ी गण्डक का एक और आधुनिक प्रचलित नाम, मिही' दिया है जिसके तट पर वैशाली बसी थी। उपन्यास के ११वें अध्याय ('राजगृह) में राजगृह नगरी का वर्णन है जो सदानीरा के तट पर अर्धचन्द्राकार में बसी हुई थी। १६वें अध्याय ('मल्ल दम्पति') में लेखक ने छोटी गण्डक (हिरण्यवती) के तट पर बसी मल्लों की राजधानी कुशीनारा (कुशीनगर) का भी वर्णन किया है। फिर उपन्यासकार का ध्यान अचिरावती (राप्ती) की श्वेत धारा पर बसे मल्लिग्राम की ओर भी गया है जहाँ बन्धुमल्ल के मित्र साङ्कृत्य गौतम रहा करते थे।

अपने उपर्युक्त महा उपन्यास में (बीसवें अध्याय में) ही आचार्य चतुरसेन ने, सरयू नदी के तट पर बसी 'साकेत' नगरी (अयोध्या) का वर्णन करते हुए, नदी-तट का बड़ा ही भव्य वर्णन किया है। इसमें उस जमाने में, तैराकी की प्रतियोगिताएँ हुआ करती थी और तब उसका पाट डेढ़ मील का था। बन्धुलमल्ल ने उसी में अपना तैराकी का कौशल दिखा कर, कोसल नरेश प्रसेनजित को प्रसन्न किया था जिसकी राजधानी 'श्रावस्ती का वर्णन भी लेखक ने ५०वें अध्याय में किया है जो राप्ती के तट पर बसी थी। ६२वें अध्याय में अजित केसकंबली नामक नास्तिक के आश्रम का जो सरयू तीर पर स्थित था, विशद वर्णन है। अध्याय ४१ में पाटलिपुत्र से पूर्व में गंगा के तट पर स्थित बादरायण व्यास के आश्रम का विस्तृत वर्णन है जहाँ उस समय गंगा में आई हुई भारी बाढ़ का दृश्य वर्णित है। अध्याय ८३ में श्रावस्ती से तीन कोस दक्षिण में, सरयूतट पर निर्मित सुदृढ़ कोट के सम्बन्ध में फिर सरयू के प्रखर प्रवाह का वर्णन पाया जाता है।[1]

महाकवि माघ ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य शिशुपाल वध में रैवतक पर्वत के शोभावर्णन के सम्बन्ध में जो प्रसिद्ध सूक्ति उदगीरित की है वह क्षण क्षण में नवता प्राप्त करने वाला, रमणीयता का रूप केवल कालतत्व की भ्रूभंगिमा मात्र है। सागर हिममण्डित पर्वत शिखर, सरिता, सरोवर प्रपात शस्य श्यामल खेतों का हरिताचल प्रांत एवं सान्ध्य क्षितिजों की मुख मुद्रा मध्य रात्रि के निरभ्र आकाश की रत्नराजियां ज्योत्स्ना उषा संध्या की रंग लीलाएं ये सभी काल की भृकुटि की, भंगिमाएं मात्र हैं। यह काल ही देश का शासक तथा रूप प्रदाता है। मानव

---

१ 'वैशाली की नगरवधू' (प्रथम खण्ड)। (आचार्य चतुरसेन शास्त्री) (प्र० चतुरसेन शास्त्री साहित्य समिति ज्ञानधाम शाहदरा, दिल्ली ३२। प्रस्तुत संस्करण पाँचवां १९६२ ई०, रचनाकाल १९४९ १९४७ ई०। प्रथम प्रकाशन १९४८ ई०)

का सौदय अथवा दशनानन्द उसी के आधीन है और वही प्रकृति अथवा मानव व्यापार के हर पक्ष पर (जो वणन के अवसरो की वण्य वस्तु का नियोजन करते हैं) अपना चित्र विचित्र प्रकाश डालता रहता है।

भारतीय उपन्यासो म वणन के अवसरो की दृष्टि से, हमारी वेद-पुराण-इतिहास विश्रुत पवित्र नदियो के अतिरिक्त, हमारी पवत मालाएँ भी एक प्रिय एव महत्वपूण वण्यवस्तु रही हैं। ये पवत, उनकी रमणीय उपत्यकाएँ, उनके हिममण्डित शिखर, उनकी अनन्त रमणीय शोभा समद्ध वनस्पति एव फूलभरी घाटियाँ, प्रत्येक भारतीय उप यासकार का अपनी ओर आकृष्ट करती रही हैं। महाकवि कालिदास न जब कुमार सम्भव' काव्य म हिमालय की प्रशस्ति गाई थी तभी से अद्यावधि, हमारे उपन्यासकार, उसी नगाधिराज की आरती उतारत आए हैं। उनम प्रत्येक भारतीय प्रदेश के एव प्रत्यक भारतीय भाषा के उपन्यासकार हैं। मराठी उपन्यासकार श्री हरि नारायण आप्टे ने अपने उपन्यास चाणक्य और चन्द्रगुप्त की प्रस्तावना हिमालय शोभा वणन से ही की है। राहुल सांकृत्यायन के महान यात्रा-त्मक उपन्यास (विशेषतया 'विस्मृत यात्री') हिमालय की प्रशस्ति से रोमांचित एव पुलकित से जान पडते हैं। हिमालय की भाँति ही विन्ध्य एव अन्य पवतमालाएँ भी, उपन्यासकारो के प्रिय वण्य विषय रह हैं। अतएव हिन्दी प्रदेश की प्रमुख पवत मालाओ का आँखो देखा अनुभव भी भारतीय उपन्यासकारो के लिए आवश्यक है। प्रकृति शोभा वणन के अतिरिक्त, इतिवृत्तात्मक उपन्यासो म भी उनका महान महत्व है।

स्व० श्री वृन्दावनलाल वमा न, बुन्देलखण्ड प्रदेश की वनस्पति वृक्षराजि एव पशु पक्षियो के अनन्त नाम, जाति एव रूपवण का समावेश करके अपने उप यासो को, जसा मनोरम एव प्रतीयमान बनाया है उसस उनके सभी पाठक भली भाँति परिचित हैं। इसी भाँति प्रत्यक आंचलिक परिवेश लेकर चलने वाले उप यास-कार को अपने अपने प्रदेश एव अञ्चल क वृक्षो वनस्पतियो एव पशु पक्षियो की गहरी जानकारी रखनी ही पडती है। इस दृष्टि से, हिन्दी प्रदेश की वनस्पति एव वनो म पाए जाने वाल वृक्षो की जातियो का परिचय भी हमार उपन्यासकारो को अपन उपन्यासो की वणन समद्धि की अभिवृद्धि के शतशत अवसर प्रदान करता है। हिन्दी प्रदेश के वनों, एव वनस्पतियो तथा उनम विचरने वाल पशुपक्षियो का सांगोपांग विवरण तो सभाव्य नहीं है। फिर भी कुछ सक्षिप्त ब्योरा यहाँ आवश्यक जान कर दिया जाता है —

'उत्तर भारत के मदान में वनो का क्षेत्रफल आजकल अपेक्षाकृत कम हो चला है किन्तु प्राचीन एव मध्ययुग म यहाँ वनो का आधिक्य था। हिमालय और विन्ध्य म तो अभी भी प्रचुर जगल हैं। मदानो म **अभी वे वन** नामावशेष ही

मिलते हैं—विशेषकर पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में। गोरखपुर के उत्तरी भाग में झामाखण्ड और कुसुम्हो के शालवन, अभी जंगल के रूप में, वर्तमान हैं। वन विज्ञान की दृष्टि से इन्हें 'पतझड़ वन' कहा जाता है। इनमें सागौन, शाल, पदौक अंजन, रक्तचन्दन, तथा श्वेताक्ष आदि वृक्ष मुख्यतया पाए जाते हैं। इनमें ताड़ और बाँस भी होते हैं। भारतीय साहित्य में शालवन के बहुत ही उल्लेख पाए जाते हैं। भगवान बुद्ध का परिनिर्वाण कुशीनगर के शालवन, उपपत्तन में हुआ था। देवरिया (देवारण्य) चम्पारण (चम्पारण्य)[1] सारन (सारारण्य), आरा (आरण्य), आदि नामों में प्राचीन अरण्यों के संकेत मिलते हैं।

हिमालय एवं विन्ध्य के शाश्वत हरित वनों में सागौन आम, जामुन, नीम, इमली और अनेक प्रकार के ताड़वृक्ष तो मिलते ही हैं। ३००० फुट से अधिक ऊँचाई में विन्ध्य में भी पर्वतीय वनों की बहुतायत है। हिमालय के वनों में, अनेक, देवदारु, चीड़, फर, अखरोट बादाम, ऐश, वच, भूजपत्र[2] पाइरस, पाप्लर आदि प्रसिद्ध वृक्ष जातियाँ मिलती हैं। इनमें भी भारतीय कवियों का सर्वप्रिय वृक्ष देवदारु रहा है। कालिदास ने देवदारु का बड़ा ही मनोरम वर्णन किया है।[3]

'हिन्दी प्रदेश के तराई, मैदान तथा विन्ध्य पठार पर पाए जाने वाले वृक्षों में विशाल एवं आदरणीय विटपों की पंक्ति में अश्वत्थ या पीपल का सर्वप्रथम स्थान है। यह 'विश्ववृक्ष' भी माना गया है। (पौराणिक गाथाओं के अनुसार विश्वास है) इसके हर पत्ते में देवताओं का निवास है। अन्य नाम इसका 'वासुदेव' भी है। दूसरा विशाल वृक्ष वट या बरगद है। शत अथवा सहस्रस्तम्भ मण्डपों और सभा भवनों की कल्पना वटवृक्ष से ही उत्पन्न हुई थी। तीसरा विशाल वृक्ष प्लक्ष या पाकड़ है। इसे चैत्य वृक्ष भी कहा गया है। इसके नीचे देवताओं का पूजन होता है। अन्य विशाल वृक्षों में उदुम्बर (गूलर) शाल्मली (सेमल) आदि का वर्णन भी भारतीय काव्यों एवं कथाग्रन्थों में बहुत आया है।

फलवृक्षों में आम्र (आम) सर्वप्रथम है। उसे सहकार भी कहते हैं। आम्र बौर, आम्र-पल्लव एवं आम्रमंजरी की साहित्य में, प्रचुर चर्चा हुई है। इसकी मंजरी बसन्तलक्ष्मी की दूती मानी गई है और प्राणी के लिए संकेत वाहिनी। मैदान का शायद ही कोई ऐसा गाँव हो, जहाँ अमराइयाँ न हों। मधूक (महुआ), जंबू (जामुन) आमलक (आँवला) पनस (कटहल), टिटिण्डी (इमली) आदि के वृक्ष भी बहुतायत से पाए जाते हैं।

---

१ इसका विशद वर्णन, आचार्य चतुरसेन ने अपने उपन्यास वैशाली की नगरवधू (पूर्वार्ध) में चम्पारण्य शीर्षक से, अध्याय २६ में किया है।

२ 'रघुवंश (कालिदास) २३६/३७।

३ 'कुमार सम्भव (कालिदास) १/७

'शोभा वृक्ष मे, नक्तमाल, नमदा के किनारे होता है। शमी, मैदानो मे मिलता है। इसमे अग्नि गर्भित रहती है यह मान्यता है। इसे 'यज्ञीय वृक्ष' भी कहते हैं। अशोक वृक्ष की अनेक किस्मे हैं जिनमे रक्ताशोक सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। दोहदप्रसग मे कामिनी के पदाघात या आलिंगन से यह फूलता है, ऐसी कविप्रसिद्धि है। असम, अर्जुन, शल्लकी, तिलक कदम्ब मोलश्री, अग्र अगुरु कुरबक, इगुदि आदि की गणना भी, बडे शोभावृक्षो मे की जाती है। छोटे शोभा वृक्षो मे, कर्णिकार, (कनेर) कोविदार, कुटज, कुसुम्भ, किंशुक, कदली बधुक पारिजात मन्दार म दार, बकुल, पलाश, सिन्वार आदि का उल्लेख विशेष पाया जाता है। न्यारीभूमि वाले प्रदेशो यथा, राजस्थान, विन्ध्यप्रदेश, एव बिहार म ताल पुग (सुपारी), पु नाग, खजू र (खजूर) आदि पाये जाते हैं।

'पुष्पपादप एव लताओ म पाटल केतकी (केवडा) अर्क कुकुम, चम्पक (चम्पा), जपापुष्प (अडहुल) कामिनी शेफालिका नेवारी, कुथ, यूथिका, मल्लिका नवमल्लिका, वनज्योत्स्ना आदि पुष्पपादियो मे प्रमुख हैं। लताओ मे मालती, माधवी श्यामा, लवगलता, ताम्बूल वल्ली द्राक्षा आदि, उद्यानो की शोभा बढाते रहे हैं अत उनकी सवत्र ही भारतीय साहित्य म चर्चा है। जलपुष्पो म सवप्रमुख हैं कुमुदिनी एव कमल। भारतीय कवियो ने उपमा, उत्प्रेक्षा और अ योक्ति आदि अलकारो मे इनका बाहुल्य से प्रयोग किया है। निचुल वेतस अथवा वानीर नदियो के किनारे होते हैं। तमसा गम्भीरा तथा मालिनी नदियो के तट पर निचुल के बाहुल्य की चर्चा है।

नवाङ्कुरित घास के मदान को शष्प कहते हैं। घास के लहलहाते मैदानो को 'शाड्वल कहते है। 'स्तम्ब' घास के अटाव को कहते है। दूर्वा (दूब), काश, नागरमोथा, कुश अथवा दर्भ उशीर (खस) शलेय आदि प्रसिद्ध घास हैं। इनमे दूर्वा एव कुश की साहित्य म, (धार्मिक क्रियाओ मे) विशेष चर्चा पाई जाती है। बास की भी वनस्पतिक रूप से घासो मे ही गणना है। इसके अन्य नाम हैं—कीचक, वश, एव तणध्वज।

(भारतीय उपन्यासो म वन वर्णनो के अन्तगत पाए जाने वाले) जीव जन्तुओं म स्त यपायी पशुवग मे लगूर अथवा हनुमान तथा लालमुख बन्दर, मानव परिवार से निकट माने जाते हैं। बन्दर का अ य नाम शाखामग अथवा वानर भी है। रामायण के कथानक से वानर जाति' का घनिष्ठ सम्ब ध है परन्तु वे वानर मानव जाति के ही थ एव वानर केवल उनका लाछन था।

'हिन्दी साहित्य मे सिंह शौय, आधिपत्य, और उदारता का प्रतीक माना गया है। वह मुख्यत काठियावाड का निवासी है जो हिन्दी क्षेत्र के दक्षिण पश्चिमी छोर पर है। व्याघ्र पवतो और जगलो म सवत्र मिलता है किन्तु सुन्दर वन के व्याघ्र, सबसे अधिक नामी रहे हैं। चीता तेंदुआ आदि छोटी जाति के व्याघ्र, हिमालय,

विन्ध्य, तथा मदानी जगलो म भी मिलते हैं । वक या भेडिया हिंसा एव कठोरता के लिए, शृगाल कायरता और धूर्तता के लिए, लोमप या लोमडी चालाकी के लिए एव नकुल सौभाग्य के लिए प्रसिद्ध हैं । [लोककथाओ म इन सभी पशुआ को पात्र रूप मे वर्णित किया गया है । आखेट भारत का प्राचीन सामती मनोविनोद रहा है अत वन्य पशुओ का उनमे विशद वर्णन रहता है ।]

'हस्ती या हाथी, भारत का सबसे विशाल अहिस्र एव आदरणीय पशु है । वह साहित्य एव कला प्रतीका मे सवत्र लोकप्रिय है । वह अपनी बुद्धिमानी एव गभीर चाल के लिए प्रसिद्ध है । बौद्ध साहित्य मे वह, 'बुद्ध का प्रतीक एव ब्राह्मण साहित्य मे 'गणेश' का प्रतीक है । अन्य वन्य पशुओ मे वपम (साड) पु सत्व का प्रतीक तथा महिप (जगली भैंसा) तमोगुण का प्रतीक है । सुरभि गाय कामदा मानी जाती है—नील गाय और अन्य अनेक जातियो के मृग' भारत भूमि के वनो एव मैदानो मे, सवत्र मिलते हैं । मृग बारहसिंघा, कृष्णसार, कस्तूरीमृग, आदि प्रसिद्ध का य प्रतीक रहे हैं । कृष्णसार 'यज्ञीय पशु' एव कस्तूरीमृग 'भ्रात मानव' का प्रतीक कहा गया है ।

'गौ अथवा गाय भारत की पवित्रतम पशु है । वह ऋजुता और स्नेह की मूर्ति मानी गई है । अजा या बकरी यज्ञीय पशु' तथा मेप (मेंढा भेड) अग्नि का वाहन है । अश्व (वाजी तुरग) या घोडा भारत के सनिक एव राजनीतिक प्रसगों मे, सवप्रिय पशु रहा है । वह पु सत्व एव तीव्र गति का प्रतीक है । गदभ, शीतला का वाहन माना जाता है । वह मूखता एव दारिद्रय का प्रतीक माना जाता है ।'[1]

भारतभूमि की उपयुक्त भौगोलिक एव प्राकृतिक परिस्थितिया के साथ किस भाँति हमारे कोटि कोटि देशवासियो का जनजीवन आबद्ध है तथा किस भाँति उनकी खाद, हमारे साहित्य हमारी सस्कृति हमारी कलात्मक अन्तर्चेतना एव हमारी दार्शनिक एव धार्मिक धारणाओ से अनुस्यूत रही है इसकी एक सक्षिप्त रूपरेखा, यहाँ प्रस्तुत की गई है । हमारी मातृभूमि हमारे लिए केवल जड प्रकृति के रूप म ही उपादेय नही है वरन उसके प्रत्यक पवत मैदान, पठार सागर, सरोवर (ह्रद), नदी निर्झर वन पशु पक्षी शस्य श्यामल कृषिधन हमारे स्निग्ध कोमल एव अटूट सूक्ष्म स्नेहसूत्रो से आबद्ध हैं । विदेशी पयटक जसे भारतभूमि की आध्यात्मिक अत चेतना की थाह पाने मे असमय रहते हैं, उसी भाति वे, हमारे वाङमयगत वमव को, कोटि-कोटि वणनात्मक मणिमाओ के इंगितों से पुलकित रोमाचित होने के सुख से भी अनजान ही रहते हैं ।

---

१ हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास, भाग १, अध्याय १ पृष्ठ १६ २३ ।

उपन्यास-कला की वर्णनकला समीक्षा में, सुविधार्थ हम, समग्र वर्णनों को, मोटे तौर पर तीन विभिन्न समूहों में विभाजित करके, उनकी वर्णनकलागत रमणीयता का विवेचन कर सकते हैं। वर्णनों का एक बड़ा वर्ग, उपन्यास में वर्णित, 'देश तत्व' की अनेकरूपता को प्रतिबिम्बित करता है। दूसरा समूह 'देशवासियों' की संज्ञात्मक इकाइयों, अर्थात मानव व्यक्तित्व के विभिन्न अंगों को, शब्दगत अभिव्यंजना, प्रदान करता है। तीसरा वर्णन-समूह हमारी सांस्कृतिक, कलात्मक, आध्यात्मिक एवं दार्शनिक अन्वेषणाओं को व्यक्त करता है। (इन्हीं तीन वर्णन-समूहों की व्याख्या के रूप में, आने वाले तीन अध्यायों में विचार किया जा रहा है।) तीसरे प्रकार के वर्णन, उपन्यासों के, साधारण मनोरंजन प्रिय पाठकों के लिए, नहीं सजोये जाते। वे तो वाङ्मय की कलात्मक व्यंजनाओं को समझने वाले काव्यशास्त्र विनोद के रसिक, वाग्विदग्ध पाठकों के अनुरंजनार्थ ही मनोयोगपूर्वक समन्वित किए जाते हैं।

स्थूलरूप से, वर्णनकला की दृश्यमान छवियों को प्रतिबिम्बित एवं चित्रवत् बनाने वाले तथा कथारस को प्रतीयमानता प्रदान करने वाले समग्र वर्णन के अवसरों को मुख्यतया दो विभागों में रखा जा सकता है—स्थान वर्णन एवं पात्र वर्णन। स्थान वर्णन की वर्ण्यवस्तु को मुख्यतया दो विभागों में विभक्त करके विवेचित किया जा सकता है। एक वह जगत जिसे हम निसर्ग या प्रकृति' कहते हैं। दूसरा वह जगत जिसे मानव ने स्वयं बना कर खड़ा किया है। जैसे चित्र के चारों ओर उपयुक्त चौखटे का मूल्य भी कम नहीं होता स्थानीय रंग का समावेश भी कलाभिराम वर्णन अभिव्यंजना के लिए, अनेक स्थलों पर, मूलभूत महत्व धारण कर लेता है।

पात्र वर्णन उन व्यक्तियों की सुस्पष्ट शब्द माध्यम की रेखाओं द्वारा उभारी हुई, व्यक्त एवं अव्यक्त प्रकट एवं अन्तर्भूत निजी विशिष्टताओं का, अभिव्यंजित रूप है जिनके चारों ओर उपन्यास का कथाचक्र प्रवर्तित रहता है। इस दृष्टि से, पात्र वर्णन भी उपन्यासकार के लिये एक बड़ा ही महत्वपूर्ण कार्य है। पात्रवर्णन के द्वारा उपन्यासकार को शब्दों के माध्यम से जीते जागते व्यक्तियों और उनमें भी विशिष्ट व्यक्तित्वों वाले असाधारण व्यक्तियों के व्यक्तित्वों को, स्पष्टछवि प्रस्तुत करनी होती है। पात्रों में हम बहुधा उनके बाह्य रूप गुणों के साथ-साथ ही उनके आंतरिक गुणों की भी अपेक्षा रखते हैं। उपन्यास के लेखन में, आदि से अन्त तक, उपन्यासकार को (उक्त रूप और गुण) दोनों ही पर समान दृष्टि रखते हुए, उनके बीच समुचित संतुलन स्थापित करने में सतत सावधानी बरतनी पड़ती है।

जैसा कि आचार्य राजशेखर ने बारम्बार बलपूर्वक लिखा है, वर्णनों की कोई

स्थायी तालिका अथवा सूची को समक्ष रख कर, किसी उत्तम उपन्यास की (अथवा किसी भी उत्तम प्रबन्ध काव्य की) रचना नही की जा सकती। देश और काल के गर्भ में से वर्णन के अवसर, उपन्यासकार के विशेष विवक्षा युत नयनो के समक्ष, क्षण क्षण मे उभरते आते हैं और वह उन्हें अपनी सहज वर्णन प्रतिभा द्वारा अप्रयास ही व्यंजित करता जाता है। इस देशकालगत चिर नवीनता एवं इन्द्रायुधवर्णी चित्र विचित्र रगीनी को उपन्यासकार, वर्णनकला प्रतिभा द्वारा जितनी अधिक अपने शब्दों मे *उतार पाएगा, उसकी कृति उतनी ही अधिक मात्रा म, रजक और अनुरजक* सिद्ध होगी।

'भारतीय उपन्यासा म वर्णन के अवसर के अन्तर्गत स्थान वर्णन (यथा—भवन, हाट बाजार रेलवे स्टेशन ऐतिहासिक स्मारक उद्यान आदि), प्रकृति वर्णन (यथा—नदी नाले रात दिन, ऋतु आदि) पात्र-वर्णन (यथा—शरीर यष्टि वेश भूषा चेष्टाएँ) उद्योग तथा यात्रा वर्णन—मेले उत्सवा और यत्रादि के वर्णन—आदि विविध विवरण *समाविष्ट किए जाते हैं। किन्तु ये तो वस्तुत समस्त वर्णन के अवसरो के कुछ सत्ता* त्मक उदाहरण ही माने जा सकते हैं। जितने प्रकार के वर्णन उपन्यास में समाव्य हैं उनकी सम्पूर्ण तालिका को तयार करना तो समाव्य ही नही है। सक्षेप मे उपन्यास *कार की सूक्ष्म मानसिक रससृष्टि का तो कोई वारापार ही नही है। उदाहरणार्थ* यदि कवल प्रकृति वर्णन के अवसरो की ही तालिका बनाने का यत्न किया जाए तो वह उत्तरोत्तर बढती ही चली जाएगी। यथा—भूकम्प वर्णन बाढ वर्णन, सूर्योदय, सूर्यास्त, सध्या, बसत की सध्या, ग्रीष्म की सध्या वर्षा की सध्या शिशिर का सध्या हिमालय की सध्या दक्षिण की सध्या, प्रात काल मध्याह्न शरद ऋतु ग्रीष्म ऋतु शीत ऋतु वर्षा ऋतु चादनी, वर्षाकालीन चाँदनी ग्रीष्मकालीन चादनी, शरद कालीन चाँदनी, सागर क किनारे की चादनी भयकर बीहड जगलो की चादनी, रात्रि वर्णन, नदी नाले निझर सागर, झील सरोवर जलाशय वन, पवत, उद्यान, सूय, चन्द्र तारा, आकाश गगा, इन्द्रधनुष, हिम शोभा, आदि आदि।

भारतीय उपन्यासो की वर्णनात्मक समीक्षा की दृष्टि से आचाय राजशेखर द्वारा प्रतिपादित देश और काल सम्बन्धी सिद्धान्त की विशद व्याख्या, वस्तुत एक स्वतन्त्र गवेषणायुक्त ग्रन्थ का ही विषय है। फिर भी उसके विविध पक्षो पर प्रस्तुत अध्याय म एक विहगम दृष्टि डाली जा सकी है। आगे आने वाले अध्याय अर्थात 'भारतीय उपन्यासो मे स्थान वर्णन प्रकृति वर्णन, यात्रा वर्णन आदि मे 'देश' तत्त्व की, आशिक रूप से व्याख्या हो पाई है। किन्तु काल तत्त्व पर अधिक विवेचन करने का यहाँ भी विशेष अवसर नही मिल पाया है। अत औपन्यासिक कृतियो म 'काल तत्त्व के विविध वर्णनात्मक रूपो पर भी यतकिञ्चित विचार अपेक्षित है।

उपन्यास कभी कभी एक काल विशेष का वर्तमानकालिक' चित्रण होता है।

अथात उपन्यासकार अपने युग के विश्व की एक रसात्मक, कथात्मक, वणनात्मक झलक पाठक के समक्ष प्रस्तुत करने में यत्नशील रहा है। समयान्तर म ये 'वतमान-कालिक' अथवा आधुनिक उपन्यास, आगे चल कर 'इतिवृत्त' की सामग्री बन जायेंगे। इन आधुनिककाल के चित्रण करने वाले उपन्यासो म मुख्यतया सामाजिक एव राजनीतिक उपन्यास होते हैं। उनम भी उत्तम उपन्यासो म उपन्यासकार के लिए अपने युग की सास्कृतिक एव कलात्मक चेतना को प्रतिबिंबित करने का अवसर मिलता है। इस विशिष्ट पक्ष की दृष्टि से अपने समाज के सास्कृतिक समारोहो को वर्णित करने के प्रसगो मे उसे नत्य सगीत एव रगमचीय पृष्ठभूमि के चित्रण के लिए, इन विविध कलाओं को प्रत्यक्ष करने के कौशल का प्रयोग करना पड़ता है। इसी भाँति अपने युग की स्थापत्य कला, चित्रकला आदि का वणन करने के लिए उसे आधुनिक नगरो के प्रमुख भवनो की निमाण कला तथा कला प्रदशनियों से सम्बद्ध वणनो की, अवतारणा करनी होती है।

सामाजिक एव राजनीतिक परिस्थितियो को दिखाने के लिए उसे एक ओर अपनी कृति मे वर्णित पात्रो की वेशभूषा एव आकृति व्यवहार सम्बन्धी विवरणों की पूर्ति करनी होती है और दूसरी ओर जनसाधारण की सामूहिक हलचल की पृष्ठभूमि की तत्कालीन विशिष्टताओ की अवतारणा करनी होती है। पारिवारिक अथवा कौटुम्बिक उपन्यासो म घरेलू वातावरण की प्रत्येक पक्ष एव कक्ष का सूक्ष्म वणन अपेक्षित होता है। यहा भी पात्र वणन ही अधिकाधिक अपेक्षित होता है।

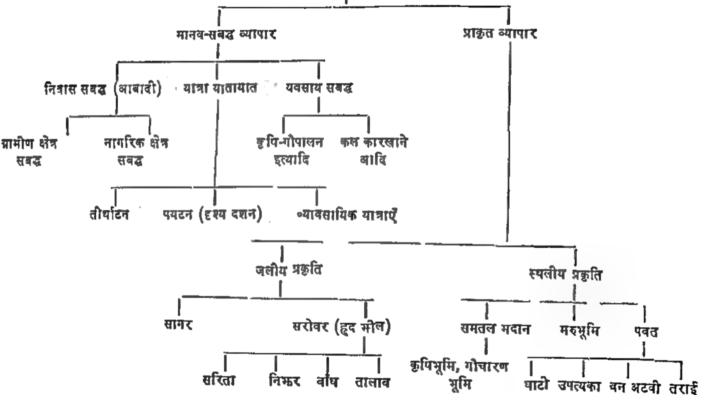
ऐतिहासिक उपन्यासो की रचना के लिए उपन्यासकार को स्वय भी पुरातत्वविद बनना होता है और तत्कालीन सामाजिक एव सास्कृतिक परिस्थितियो के लिए उसे अपने द्वारा चित्रित वणनो एव प्राचीन पयटको अथवा इतिवृत्तकारों के वणनो के बीच सही तारतम्य बठाना होता है। ऐतिहासिक स्मारक—यथा दुग, राजभवन, देवालय, समाधिस्थल, रणभूमियो की पृष्ठभूमि एव तत्कालीन सास्कृतिक सामग्रियों से युक्त पुरातत्व-सग्रहालयो द्वारा ऐतिहासिक उपन्यासकार को अक्षय वणन-सामग्री प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त पुरातन जीवन का चित्रण करने वाले महान महाकाव्यो के अतिरिक्त उसके लिए कालिदास, माघ बाण दण्डी, सुबन्धु आदि के ग्रन्थो से अक्षय वणन सामग्री उपलब्ध हो सकती है। भारतीय उपन्यासकारों ने अपने इतिवृत्तात्मक उपन्यासो म इनका प्रभूत मात्रा मे उपयोग भी किया है किन्तु ज्यो ज्यो ऐतिहासिक उपन्यासकार का काय, नित्य नवनवल पुरातत्व अधिकारों के साथ साथ और भी कठिन होता जाता है।

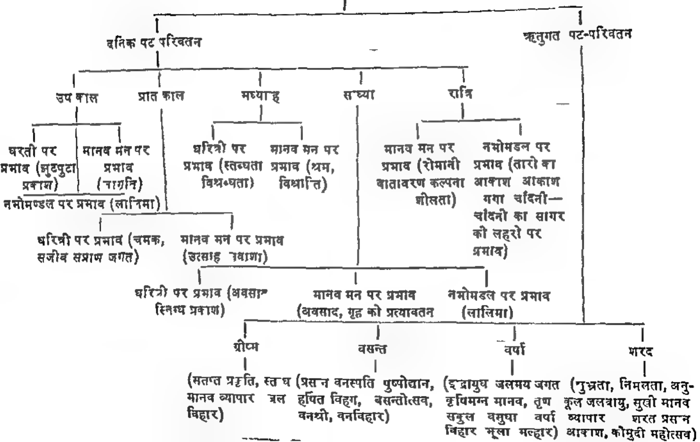
उपन्यासकार ने न केवल अपने उपन्यासो म भूत एव वतमान का ही चित्रवत वणन किया है वरन उसने भावी युग की भी प्रतिभा सम्पन्न झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं। हिन्दी उपन्यासो मे स्व० राहुल साकृत्यायन कृत, 'बाईसवी सदी' एक ऐसा ही रोमाचकारी कल्पना प्रतिम उपन्यास है। उसम आने वाले समाजवादी विश्व की

एक प्रतीयमान झांकी प्रस्तुत की गई है। प्रख्यात आंग्ल उपन्यासकार एच० जी० वेल्स ने 'टाइम मशीन', 'शेप आफ थिंग्स टू कम' तथा 'दि वॉर आफ दि वर्ल्ड्स' में विज्ञान एवं वैज्ञानिक आविष्कारों की भावी मानव समाज पर प्रतिक्रिया की ऐसी तर्क आधारित एवं प्रतीयमान झाँकी प्रस्तुत की है कि हम आधुनिक क्रांतिकारी वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रकाश में, उनमें निहित सत्य वर्णन का अनुमान कर सकते हैं। इसी भाँति जूल्स वर्न नामक एक फ्रांसीसी उपन्यासकार ने मानव द्वारा चन्द्रयात्रा का जो औपन्यासिक वर्णन प्रस्तुत किया है संकट ग्रस्त एवं आहत अपोलो १२ के यात्रियों ने उसकी भयानक वास्तविकता को अपने प्राण संकट द्वारा भली भाँति स्वानुभवित किया है। इस भाँति उपन्यास-गत देश तत्त्व के सम्यक् एवं यथातथ्य चित्रण द्वारा उपन्यासकार के लिए इस अखिल ब्रह्माण्ड के त्रिकाल दर्शन कराने के हेतु, अनन्त एवं अक्षय अवसर वर्तमान हैं। अभी तक की भारतीय उपन्यासकारों की उपलब्धियाँ भी इस क्षेत्र में कम गौरव शालिनी नहीं रही हैं फिर भी देश तत्त्व के अन्वेषण एवं निरूपण में आने वाले उपन्यासकार के लिए पर्याप्त साहसपूर्ण चुनौती निहित है, इससे कौन इन्कार करेगा?

× × ×

'भारतीय उपन्यासों में वर्णन के अवसर' शीर्षक प्रस्तुत अध्याय में संक्षेप में औपन्यासिक कृतियों में वर्णित वर्ण्यवस्तु की एक व्यवस्थित रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। वर्णन के अवसरों की दो विश्लेषणात्मक तालिकाएँ भी वर्णन विटपों के रूपों में यहाँ दी जा रही हैं। दो पृथक् पृथक् वर्णन वृक्ष के रूप में सारी वृत्त तालिकाओं में, (१) 'वर्णन के स्थल' एवं (२) प्रकृति पट पर समय की छाप शीर्षकों से भारतीय उपन्यासों में आने वाले सभी प्रकार के वर्णनों को, एक तर्कबद्ध एवं मनोवैज्ञानिक शैली में निबद्ध किया गया है। इन वर्णन वृक्षों के ध्यानपूर्वक अवलोकन से पता चलेगा कि उपन्यासकार की सर्जनात्मक वर्णन प्रतिभा सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होने पर भी तर्कसिद्ध एवं मनोवैज्ञानिक सरणियों में क्रियाशील रहती है। इन वर्णन वृक्षों की तालिकाओं के द्वारा आचार्य राजशेखर द्वारा प्रतिपादित 'देशकाल सिद्धान्त' की युक्तियुक्तता एवं वैज्ञानिकता, स्पष्टतया समर्थित होती है।


भारतीय उपन्यासों में वर्णन के अवसर–१
वर्णन के स्थल
मानव-सम्बद्ध व्यापार
प्राकृत व्यापार
निवास सम्बद्ध (आबादी)
यात्रा यातायात
व्यवसाय सम्बद्ध
ग्रामीण क्षेत्र सम्बद्ध
नागरिक क्षेत्र सम्बद्ध
कृषि-गोपालन इत्यादि
कल कारखाने आदि
तीर्थाटन
पर्यटन (दृश्य दर्शन)
व्यावसायिक यात्राएँ
जलीय प्रकृति
स्थलीय प्रकृति
सागर
सरोवर (हृद झील)
समतल मैदान
मरुभूमि
पर्वत
सरिता
निर्झर
बाँध
तालाब
कृषिभूमि, गोचारण भूमि
घाटी
उपत्यका
वन अटवी
तराई


भारतीय उपन्यासो मे वर्णन के अवसर—२
प्रकृति पट पर समय की छाप
दैनिक पट परिवर्तन
ऋतुगत पट-परिवर्तन
उषःकाल
प्रातःकाल
मध्याह्न
सन्ध्या
रात्रि
धरती पर प्रभाव (झुटपुटा प्रकाश)
मानव मन पर प्रभाव (जागृति)
नभोमण्डल पर प्रभाव (लालिमा)
धरित्री पर प्रभाव (चमक, सजीव सप्राण जगत)
मानव मन पर प्रभाव (उत्साह प्रकाश)
धरित्री पर प्रभाव (स्तब्धता विश्रब्धता)
मानव मन पर प्रभाव (श्रम, विश्रान्ति)
धरित्री पर प्रभाव (अवसान स्निग्ध प्रकाश)
मानव मन पर प्रभाव (अवसाद, गृह को प्रत्यावर्तन
नभोमंडल पर प्रभाव (लालिमा)
मानव मन पर प्रभाव (रोमानी वातावरण कल्पना शीलता)
नभोमंडल पर प्रभाव (तारों का आकाश आकाश गंगा चाँदनी—चाँदनी का सागर की लहरों पर प्रभाव)
ग्रीष्म
वसन्त
वर्षा
शरद
(सतप्त प्रकृति, स्तब्ध मानव व्यापार जल विहार)
(प्रसन्न वनस्पति पुष्पोद्यान, हर्षित विहग, बसन्तोत्सव, वनश्री, वनविहार)
(इन्द्रायुध जलमय जगत कृषिमग्न मानव, तृण सकुल वसुधा वर्षा विहार झूला मल्हार)
(शुभ्रता, निर्मलता, अनुकूल जलवायु, सुखी मानव व्यापार शरत प्रसन्न आकाश, कौमुदी महोत्सव)

६

भारतीय तथा हिन्दी उपन्यासो मे स्थान-वर्णन, प्रकृति-वर्णन, एव यात्रा-वर्णन का तुलनात्मक पर्यवेक्षण

भारतीय उपन्यास साहित्य (एव तदन्तगत हिन्दी उपन्यास साहित्य) म स्थान-वणन एव प्रकृति वणन, ये दोना ही उपन्यासकार को अपना कथावितान खडा करने के लिए एक सुदृढ आधारभूमि प्रदान करते हैं। काव्यशास्त्र की भाषा म, स्थान वणन एव प्रकृति वणन दोनो ही उद्दीपन विभाग' के अन्तगत मान जाते हैं तथा पात्र वणन एव आकृति निदान विषयक विवरण, मुख्यतया आलम्बन विभाग' के अन्तगत गिने जात हैं। किन्तु उपन्यास विधा की 'पुन मानीकरण वणन कला पद्धति' के अनुसार हम अपनी परम्परागत काव्यशास्त्रगत पद्धति को ज्यो की त्यो नही अपना सकते। उदाहरणार्थ 'उद्दीपन विभाव' के अन्तगत, नायक अथवा नायिका अथवा उनक सहयोगी 'सखा' अथवा सखी का, वणनात्मक समीक्षा पद्धति के अनुसार उद्दीपन विभाव के अन्तगत न मान कर पात्र वणन एव आकृति निदान विषयक प्रसग से ही सम्बद्ध मानत हैं। साथ ही अनुभावो को, हम, पात्रो की निजी व्यक्तित्वसूचक सूक्ष्म वणन भगिमाओ का ही, प्रतिरूप मानते हैं। सात्विक कायिक मानसिक और आहार्य सभी अनुभावो का कुशल वणन, कला पटु उपन्यासकार के लिए, कथा मे आए हुए पात्र पात्राओ के व्यक्तित्व को रूपायित करने म सहायक सिद्ध होता है।

उपन्यास विधा म स्थान वणन सबस प्राथमिक एव सबसाधारण वण्यवस्तु है। जनजीवन क वतमान अथवा अतीत व्यापार व्यवहार को उपन्यासकार प्रतीयमान रूप मे अपने शब्द चित्रो म उतारता चलता है। तब उसे मानव आजीविका (व्यवसाय) मानव निवास (गृह ग्राम, नगर) तथा इन दोनो स सम्बद्ध असख्य वण्य पदार्थों की वणनात्मक पुन सृष्टि करनी होती है तथा उनकी शाश्वत पृष्ठ भूमि प्राकृतिक एव भौगोलिक परिवेश आदि सभी सहज वणनात्मक उपकरणो को उसे, अपनी वणन माला म कलात्मक तारतम्य से पिरोना होता है। सेना तथा कृषिश्रम, गोपालन आदि व्यवसायो के विभिन्न व्यापारो तथा चार घरो की नन्ही आदिवासी बस्ती स लेकर महानगरो तक के वणन, हम उपन्यासो म मिलत हैं। भारतीय उपन्यासो म

आए हुए ये सरल सहज वर्णन समूह भारततर उपन्यास साहित्य से, कितने विभिन्न हैं, यह भी कोई संदिग्ध या तथ्य, तथ्य नहीं है। उत्तम उपन्यासकार की कसौटी तो इसी में है कि वह, इस अत्यन्त साधारण, दृश्यमान जीवन जगत को, वर्णनकला की रमणीयता के रंग में रंगता चला जाए। भारत की विभिन्न भाषाओं में रचे गए उत्कृष्ट वर्णनात्मक उपन्यासों में वर्णनकला समृद्ध वर्णन भारतीय उपन्यास साहित्य की अपनी निजी विशिष्टता रहे हैं।

भारतीय उपन्यासकारों का सबसे प्रिय एवं सबसे वर्णनकला वैभवयुक्त वर्ण्य विषय भारतभूमि की स्वर्गोपम वसुधा की वे अनन्त रमणीय प्राकृतिक छटाएँ हैं जिनके लिए, विदेशी पर्यटक ही क्या, स्वर्गलोक के सुरगण भी तरसते बताए जाते हैं। भारतभूमि की धरित्री की सारी शतवर्णी ही नहीं है वरन् उसके अम्बर की छवियाँ भी, विश्व भर में, अनुपमेय ही हैं। हमारे उपन्यासकारों ने उसी धरती और उसी अम्बर की सहस्रों छवियों को अपनी वर्णन ममता से शब्दों में बाँधा सँवारा है। महाकवि कालिदास ने जिसे (अपने काव्यों में) मुक्तहस्त से बिखेरा है, उस वर्णन वैभव को हमारे आद्य उपन्यासकारों के शिरोमणि बाण ने अपनी कृतियों में इस भाँति एवं भरपूर उड़ेला है कि उनकी वर्णन-कला प्रतिभा देशी एवं विदेशी, दोनों ही साहित्य समीक्षकों को हक्का बक्का सा कर जाती है।

जैसा कि पूर्व अध्याय में कहा ही जा चुका है हमारे काव्यशास्त्रियों एवं साहित्याचार्यों में से साहित्य की वर्णनात्मक विशिष्टता के विश्लेषण की ओर सबसे अधिक ध्यान आचार्य राजशेखर ने दिया था। उनके समक्ष, संस्कृत उपन्यास के स्वर्णकाल की महान वर्णन कलाभिराम उपलब्धियाँ थीं। इसीलिए जबकि हमारे अन्य साहित्य शास्त्रियों ने, साहित्य के 'रस, 'अलंकार, 'रीति' ध्वनि आदि विविध महत्वपूर्ण पक्षों की विवेचना की ओर अपना समग्र ध्यान लगाया एक मात्र राजशेखर ही ऐसे साहित्यशास्त्री थे जिन्होंने भारतीय वाङ्मय के—(विशेषतया गद्य महाकाव्य के) वर्णनात्मक पक्ष के विशद विश्लेषण में अत्यन्त मनोयोगपूर्वक, मौलिक छानबीन की। उन्होंने साहित्य के इस पक्ष का नामकरण—'देशकाल विभाग' अथवा काल विभाग किया है। इसे अंग्रेजी के कला-समीक्षात्मक पद 'दि देन मूड' से मिलता जुलता माना जा सकता है। वर्णनकला में, प्रकृति के क्षण क्षण पलटति वेष, छनिक छवि छिन छिन धारनि' वाला रूप ही वस्तुतः वर्णन प्रतिभा का रहस्य सूत्र है।

आचार्य राजशेखर ने साहित्य समालोचन क्षेत्र में बड़ी विलक्षण एवं मौलिक सूझ बूझ पाई थी। भारतीय समालोचना साहित्य में उन्होंने एक ऐसी सहज तथा स्वाधीन चिन्तन सरणी का सूत्रपात किया, जिससे कि कितनी ही रूढ एवं प्रचलित उलझी हुई समीक्षात्मक धारणाओं का, समाधानकारी हल निकाला जा सकता है। अपने ग्रन्थ की परिसमाप्ति पर आचार्य राजशेखर ने अपने 'रहस्य' की बात भी बता दी है, किन्तु बताई है यह उन्होंने एकदम अपने अन्तिम श्लोक में —

'इति काल विभागस्य दर्शिता वर्तिरीदृशी ।
कवेरिह महामोह, इह सिद्धो महाकवि ॥'

(इस भाति, काल विभाग की इस प्रकार की वृत्ति का निरूपण किया गया। इस काल विभाग के विषय मे, कवियो को महान् बुद्धिभ्रम हो जाता है किन्तु इस काल विभाग में सिद्ध कवि स्वत एव वस्तुत 'महाकवि' होता है।[1])

इस श्लोक को राजशेखर ने जानबूझ कर अन्त मे दिया है और उसका अभिप्राय यही है कि देशकाल विभाग सिद्धान्त को, जिसे मैंने ध्वन्यात्मक शैली मे व्यक्त किया है, बिरले ही समझ पाएगे। जो समझ पाएगे वे सिद्ध महाकवि बन जाएँगे (अथवा सिद्ध साहित्यकारो की कृतियो का मर्म समझ सकने योग्य बन जायेंगे।)

राजशेखर ने इसी श्लोक के ठीक ऊपर के श्लोक मे, इस देशकाल विभाजन सिद्धान्त के बारे मे, असावधान आलोचको को एक गम्भीर चेतावनी भी दी है—

'अनुसधान शून्यस्य, भूषणम दूषणायते ।
सावधानस्य च कवे, दूषणम भूषणायते ॥'

[जो कवि (सृजनात्मक साहित्यकार) अनुसधानात्मक वृत्ति से शून्य (कोरा) होता है, उसके लिए तो भूषण (अलकार) भी दूषण (भद्दा दिखाई देने वाला) हो जाता है। इसके विपरीत सावधान (अथवा अपनी अनुसधानात्मक प्रवृत्ति को सतत जागरूक रखने वाले) कलाकार (कवि) की लेखनी द्वारा निसृत दूषण (काव्यदोष) भी (काव्य गुणो) भूषणो मे परिवर्तित हो जाते हैं।][2]

राजशेखर की उपर्युक्त स्पष्ट उक्ति, वस्तुत पुरातन काव्य शास्त्रियो की गूढ व्यजनात्मक भाषा मे ही कही गई है। ये जो कुछ लिखते थे, वह केवल अधिकारी के लिए ही। व कुछ इस प्रकार भी लिखते थे कि चतुर ध्वनित अथवा विद्वान ही उससे अपना अभिप्राय निकाल लें। किन्तु जिनमे साहित्य के रहस्य समझने के लिए उचित जिज्ञासा एव आद्य सृजन प्रेरणा की कमी है वे तो इसके अर्थ को अनर्थ के रूप मे ही ग्रहण करेंगे। ऐसे लोगो के लिए तो भूषण भी दूषण हो जाता है।

राजशेखर ने भारतीय काव्यो मे वर्णनो के समावेश पर विचार करने के अभिप्राय से ही ये अतिम दोनो अध्याय लिखे थे। किन्तु पद्य महाकाव्य अथवा गद्य प्रबध काव्य को, वे वर्णानिक विभाजन की दृष्टि से समान धर्मी ही मानते थे। गद्य महाकाव्य (उपन्यास) एव पद्य महाकाव्य दोनो के लिए वे, समान समीक्षात्मक शब्दावली का ही प्रयोग करते थे।

---

१ काव्य मीमासा' (राजशेखर), पृष्ठ २७४ (ग्रन्थ का अंतिम श्लोक)।

२ वही पृष्ठ २७४

भारतीय उपन्यासों में जिन प्राकृतिक स्थलों एवं भौगोलिक परिस्थितियों का उल्लेख हमारे उपन्यास रचनाकार प्रायः किया करते हैं उन सबका मर्म वित स्पष्ट राजशेखर के सम्मुख था। उन्होंने केवल भूगोल की रेखाओं अथवा विशिष्ट स्थानों का औपचारिक रूप से नाम गिनाया वरन् वे साथ ही यह भी बताना चाहते थे कि उपन्यासकार अथवा महाकाव्यकार को, अपने देश और काल (काल अर्थात् ऋतुपरिवर्तन तथा तदनुसार प्रकृति के रूप परिवर्तन आदि) पर सदा सावधानी से दृष्टि रखनी चाहिए। उपन्यासकार का काम, काव्यकार की तुलना में, कहीं अधिक उत्तरदायित्व का होता है। कारण कि उसे वास्तविक जगत से भी काम पड़ता है जिसको, कभी भी और कोई भी, कड़ाई के साथ जाँच की कसौटी पर रख सकता है।

राजशेखर का बारबार यही कहना है कि साहित्यकार की गुरुतर जिम्मेदारी को भूल जाना, कवि या कथाकार के लिए सबसे अधिक निन्दा का विषय है। यदि लेखक अपने ही देश का प्राकृतिक स्वरूप एवं भूगोल का उत्तम ज्ञान नहीं रखता तो वह भला किस प्रकार उत्तम उपन्यास रचना में कृतकार्य हो पाएगा?

राजशेखर 'आर्यावर्त' अर्थात् हिन्दी प्रान्त को देश का हृदय भाग मान कर, सारे भारतवर्ष का प्रान्तवार विवरण, इतनी चित्र विचित्र शैली में प्रस्तुत करते हैं कि उनकी सभी विशेषताएँ पाठक के सामने एक महान चलचित्र की भाँति गुजर जाती हैं। इस प्रकार की राष्ट्रीय दृष्टि—प्रादेशिक विभिन्नता में राष्ट्रगत सांस्कृतिक एकता की अभिव्यंजना का मौलिक उद्भावना ही उपन्यास लेखक को उत्कृष्ट कलाकृति के सृजन में समर्थ बनाती है। राजशेखर ने अनेक में केवल चार पाँच पृष्ठों में ही महान भारतीय राष्ट्र के विविध भूभागों के कवियों की जिज्ञासा के लिए, अपनी काव्य-मीमांसा में विस्तृत सामग्री जुटायी है।[1]

सुविकसित संस्कृत साहित्य के सर्वप्रथम वर्णनात्मक कथा के महान उपन्यासकार, सुबन्धु ने अपना [illegible] वासवदत्ता उपन्यास में, [illegible] का [illegible] चित्र माला को [illegible] पूर्वक सजाया है। इसका भाव [illegible] [illegible] भारतीय साहित्य के उपन्यास में [illegible] का [illegible] (संस्कृत उपन्यास साहित्य का [illegible]) [illegible] है। किन्तु [illegible] उपन्यास साहित्य में (और [illegible] साहित्य में भी) [illegible] है। किन्तु सुबन्धु ने हमारे [illegible] [illegible] कि ([illegible]) [illegible] [illegible] उपाधि को [illegible] है। [illegible] भारतीय [illegible] है —

---

1 काव्य मीमांसा (राजशेखर) अध्याय १० पृष्ठ २३६-२३८।

'उस सागर तट के किनारे पर अतिचपल लहरें आ-आकर टकरा रही थीं अतः वह ताण्डव नृत्य में, अपनी भुजाएँ उदग्राहु फैलाए हुए, खण्डपरशु (शिव) को भांति करा रही थीं। तट प्रदेश पर वरुणदेव की विजय पताकाओं के समान, अजगरों की केंचुलियों के समान, अमृत की सहचरियों के समान, चांदनी की सगी बहिना के समान, चन्द्रमण्डल के चारों ओर नीहारिकाओं के परमाणु समूहों के समान, लक्ष्मी के विलास के लिए निर्मित, मंगलजनक लेपन की धाराओं के समान तथा जलदेवियों के माथ पर शोभित चन्दन लेखाओं के समान फेन समूह से मण्डित व लहरियाँ, उस सागर वेला को, रमणीयता प्रदान कर रही थीं।

'मानों वहां दूसरा नभोमण्डल ही धरा पर उतर आया होय। इस भांति यह महासागर अपने निर्मल जल से उठने हुए जलकणों के मिस, मानो, मोतियों से, आकाशचारी विद्याधर आदि को लुभा रहा होवे। जिसका अभ्यन्तर प्रदेश, इन्द्र के कोप से त्राण पाने के लिए आए हुए कितने ही सपक्ष पर्वतों से परिपूर्ण था। जिसे कभी सगर पुत्रों ने खोद डाला था और जिसका जल, बड़वानल के मुख में प्रवेश कर रहा था, ऐसा वह महासागर, विशुद्ध निर्मल मणियों एवं रत्नों की खान था।'

वह महासागर जलहस्ती तथा मकर आदि भीमकाय जल जन्तुओं से परिपूर्ण था। जिसके नाके (नक्र—लघु आकार के मकर) मछलियों के समुदाय को भक्षण करने की इच्छा से इधर उधर गतिमान थे। अनेक तिमियाँ (महामत्स्य) तथा उनको भी भक्षण कर जाने वाले तिमिंगल (ह्वेल महामत्स्य) वहाँ निश्चेष्ट पड़े हुए थे।

वह सागर तटवर्ती प्रदेश कदली वन का रक्षिका द्वारा पालित था और इलायची लवलीलता, लौंग, और बिजौरा नींबू के गुल्मों से, परिव्याप्त हो रहा था। उस सागरतट की छोटी छोटी लहरों तथा वायुवेग के कारण मर्मर शब्द युक्त हिलते हुए तालपत्रों के चंचल हो उठने के कारण, भयभीत वराहानुपों के जोड़े, वहाँ की धरती को मसलने में व्यस्त थे। उससे ऊपर उठी हुई लहरें नीचे जल में डूब कर, सागर की सतह से एकाकार हो गई थी और सागर का जो विद्रुम कुंजों (मूंगे के पेड़) की शाखाओं की नोकें टूट जाने के कारण तथा छोटे छोटे शंखों के तीक्ष्ण अग्रभागों के क्षत विक्षत हो जाने के कारण, पक्षिराज गरुड़ के वंशधर, मंडराते हुए गरुड़ पक्षियों से, आवृत्त सा हो रहा था।'[१]

प्रेमचंद कालीन हिन्दी उपन्यासकार श्री चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' ने भी संस्कृत उपन्यासोपम शैली में ही सागर का एक वर्णन कलाभिराम रूप में चित्रित, प्रस्तुत किया है जो सुबन्धु के लगभग डेढ़ सहस्र वर्ष पश्चात् रूपायित हुआ है। वह हमारी उपन्यासगत वर्णन कला की एकात्मकता का भी परिचायक है —

१ वासवदत्ता (सुबन्धु), पृष्ठ २३४-२३६।

'उस समय सूर्यास्त का समारोह हो रहा था। सामने जहा तक दृष्टि जाती थी वहा तक अगाध गम्भीर विशाल महासागर, हिल्लोलित हो रहा है। ऐसा प्रतीत हो रहा है माना पृथ्वी और आकाश के बीच मे यह विशाल जलराशि विस्तृत है। मानो इसका एक कूल है, मर्त्यलोक, और दूसरा है स्वर्गधाम। यद्यपि इस समय समुद्र शात था, फिर भी उसकी भीमकाय तरग राशि, एक दूसरे का आलिगन कर रही थी। पश्चिम कूल पर स्थित होकर सूर्यदेव, उस गम्भीर सलिल राशि को, मानो विमुग्ध नयनो से देख रहे थे और उसके विशाल वक्षस्थल पर उनकी प्रोज्ज्वल कान्ति, सुवर्ण सतु के समान विस्तृत थी। सागर की लीलामयी तरगमाला सूर्य किरणो की चूडामणि धारण करके अशेष उल्लास के साथ नृत्य कर रही थी। विशाल हस श्रेणी के समान, कही कही पर, पालदार नौकाएँ झूमती हुई तर रही थी। ... महासागर के उस विशाल उ मुक्त स्वरूप को देख कर, हृदय की सारी क्षुब्ध भावनाएँ उसकी गम्भीर सलिल राशि म विलीन हुई जा रही थी। उसका वह महिमामय विस्तार देख कर, मन का समस्त अहकार आ तरिक आन द मे विलुप्त हुआ जाता था। भारत जननी के श्रीचरणो को चूमता हुआ महासागर, प्रचण्ड उद्घोष के साथ भगवान की लीला भूमि का जय जयकार कर रहा था।'[1]

भारतीय उप यासो की वर्णनकला का एक विशिष्ट अग रहा है ऋतु वर्णन। ये विविध ऋतुएँ जितनी निसर्ग शोभा को लेकर भारतभूमि पर अवतरित होती हैं, वसी, विश्व के किसी भी देश पर नही। 'वासवदत्ता' उपन्यास के उपसहार भाग मे ही सुब धु ने ऋतु वर्णन सम्ब धी कुछ बडे सजीव वर्णन दिए हैं। वे अपनी कला भिराम चित्रविचित्रता के कारण, ऋतु वर्णन की रूढ परम्परा से, पर्याप्त निराले जान पडते हैं। सुब धु द्वारा पहले वर्षा ऋतु का वर्णन और तदन तर शरद् ऋतु का वर्णन—दोनो ही बडे हृदयग्राही रूप म चित्रित किये गये है —

'मघमालाओ के नीचे उडती हुई बक पक्तियाँ ऐसी जान पडती थी मानो अत्य त प्यास की आतुरता के कारण, सागर के जल का पान करते समय, मेघ ने, जल के नीचे स्थित शखो को भी, पी लिया होवे। उसी काल म शस्यो से श्यामल, चौकोर धान की क्यारिया, शतरज के पट पर बने चौसर के खानो के समान जान पड रही थी। उन क्यारियो म, एक से दूसरी क्यारी म उछलते हुए पीले और हरे रग के मेढको के शिशु, मानो लाख के बने हुए मुहरो की तरह, घर बदल रहे थे। बिजली की छटा उस समय ऐसी प्रतीत हो रही थी माना सूर्यरूपी दीपक से निकलने वाली लौ से काली पडी हुई मेघ रूपी कसौटी पर, वर्षाऋतु रूपी सुनार ने, सोने की रेखा खीच दी होवे। जलकण, चचल विद्युत् लतारूपी करौत और माया से विदीर्ण

---

१ मगलप्रभात' (श्री चण्डीप्रसाद 'हृदयेश') अध्याय ४८ (सेवा का सकल्प), पृष्ठ ६६२ ६६३।

मेघरूपी काष्ठ पर, वायुवेग के कारण उडे हुए बुरादे के समान शोभित हो रहे थे। ओले, दिग्वधुओं के टूटे हुए हार की मुक्ताओं अथवा तेज हवा से उडते हुए मेघरूपी चक्की में पिसने के कारण, चूरा हुए तारागण, मानो मदन-देवता की विजय यात्रा के अभिनन्दन में, बिखेरी गई खीलो के समान जान पडते थे। इन्द्रगोपो (बीरबहूटी) से चित्रित नई नई दूब से बिछे मैदान, धरारूपी रमणी के, लाक्षारस से अंकित, बुंदकियों वाले, सोतापत्री वर्ण के हरे रंग के दुपट्टे की तरह शोभित थे। इस भाँति *जब वर्षा रूपी परिचारिका ने, धरारूपी स्वामिनी को मेघरूपी कलश-जल से स्नान* कराया और वह विदा लेकर गई, तब शरदरूपी दूसरी परिचारिका उसकी सेवा में, शुभ्र आकाशरूपी वस्त्र लेकर आ उपस्थित हुई।"[1]

प्रेमचन्दकालीन उपन्यास लेखिकाओं में स्व० श्रीमती उषादेवी मित्रा का नाम, वर्णनात्मक कला में भावमयी शैली का समन्वय करने के कारण, पर्याप्त महत्वपूर्ण है। उनके तीनों उपन्यास (*'पिया', 'जीवन की मुस्कान', तथा 'अन्तिम आकांक्षा'*) ही अपने कलाभिराम वर्णनों के कारण, चिरस्मरणीय हैं। उन्हीं में से 'पिया' उपन्यास के अन्तर्गत आए हुए इस वर्षाकालीन वर्णन चित्र की कलात्मक व्यंजना भी दर्शनीय है —

दीप अवगुण्ठन की आड में, आकाश की नीली आभा, भर मिटी थी। आकाश की उस धूसर परछाई के भीतर, नीचे, पृथ्वी, एक विरह विधुरा तरुणी सी, उदास बैठी थी। रिमझिम रिमझिम मेह बरस रहे थे और सन्ध्या उन न हीं बूँदों के गले में बाँह डाले, ग्राम प्रांगण में अलसा सी रही थी। चहुँ ओर व्यापी थी गहरी तन्द्रा। ग्राम्य पथ थे निर्जन। पर था पक्षियों का विचित्र कलरव। दिन के प्रकाश की दीप रेखा को विदा देने का, वह शायद करुण विलाप रहा हो। अथवा श्रद्धापूर्ण वन्दना-गायन, शायद रात्रि रूपसी के लिये आरती की कलतान ही हो। कौन जाने पक्षी हृदय की वह कोई गोपन कहानी हो। कदाचित वन गहन की अनोखी वार्ता का शब्द विन्यास या केवल सुर झंकार ही रहा हो। कृषक अपनी शान्त कुटीर की स्निग्ध छाया में ऊँघने लगे थे।"[2]

कन्नड भाषा के उपन्यासों में भी वर्षा ऋतु के अनेकानेक सुन्दर वर्णन पाये जाते हैं। श्री शिवराम कारन्त कृत 'मोगापडेद मन' उपन्यास में पावस में मयूर नृत्य का निम्न वर्णन भी पठनीय है —

'अकस्मात मोरों का केकारव सुनाई पड़ा और ऐसा लगा कि कोई आपत्ति

---

१ वासवदत्ता (सुबन्धु) पृष्ठ २४७ २४६।
२ पिया' (उषादेवी मित्रा) प्रथम संस्करण १९२७ ई०, अध्याय १ पृ० ३ (प्रस्तुत संस्करण १९५९) (नेशनल पब्लिशिंग हाउस दरियागंज दिल्ली)।

आने वाली है। आसमान को देखता है—मेघ, घन घने होते जा रहे हैं और बहुत घनी श्यामता झलकने लगी। एकाध गर्जन भी सुनाई पड़ा। देखते देखते ही गाँव भर के मोर वहाँ मानो उनका हाटबाजार लगा हो, इस भाँति, एकत्रित हो गए। बिजली के गर्जन व चमक से वे भयभीत हो गये हैं चार पाँच मोर अपने पंख पसार कर हजार आँखों वाला पंखा खोल कर, एक ही लगन में नृत्य करने लगे।"[1]

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है 'ऋतु-वर्णन' में सुबंधु बड़े वर्णनपटु एवं सूक्ष्म दर्शी उपन्यासकार हैं। यहाँ उनकी 'वासवदत्ता' के एक शरद-वर्णन की शब्दचित्रण कला भी अवलोकनीय है —

'शरदऋतु के प्रारम्भ होने पर, जब कि खंजरीट पक्षी, स्वेच्छा से विहार करने लगे क्रौंच पक्षियों का परिभ्रमण निर्बाध हो गया तथा वृक्षों की शाखाएँ, भरद्वाज पक्षियों की कलकल से गूँज उठीं प्रातःकाल सूर्य चमकदार और निर्मल था। धानों के खेत, उड़ते हुए तोतों के शब्द से गूँज रहे थे। राजहंस अपने अपने पूर्वस्थानों में आ पहुँचे थे। आकाश मण्डल कृष्ण-वधू की घनश्याम छवि धारण कर चुका था। इस समय चुके श्वेत मेघों से छोड़ लगा रहे थे। चन्द्र किरणें, शुभ्र एवं उज्ज्वल थीं। पथिक जन रास्ते के खेतों से गन्ने तोड़ रहे थे। सारसों के मधुर कलरव से सरोवरों की शोभा दुगना हो रही थी। मुस्ता (कसेरु) के प्रेमी सूअर अपनी थूथनी से सरोवरों के किनारों को खोद रहे थे। चातक गण भयभीत थे कि मेघ के दर्शन कहीं नहीं हो पाते। तारे खूब खिल रहे थे और चमक रहे थे। चन्द्रमा पश्चिम दिशा के तिलक के समान शोभा ग्रहण कर चुका था। जल अत्यन्त निर्मल एवं स्वादिष्ट हो चुका था। बक पंक्तियाँ मछलियों के ध्यान में ध्यानावस्थित थीं। सर्प संकुचित होकर बिलों में छिप चुके थे। वायु सुगंधित श्वेत पद्मों के पराग से, गन्धयुक्त था। मयूरों के पर झड़ रहे थे। कोयष्टि (रंगीन मछली खोर पक्षी) शब्द कर रहे थे। धार्तराष्ट्र नामक हंस विशेष संतुष्ट जान पड़ रहे थे। मृगों के झुण्ड खेतों की रखवाली महिलाओं के गीतों की धुन सुन कर, आनन्दमग्न थे। इन्द्रधनुष टुक टुक हो गया था। दसों दिशाएं सुवासित केसर पराग से पीली हो चली थीं। कमल खिलने लगे थे और आ बन्धूक, गुडहर पुष्प के बन्धु के समान है वह और भी शोभा के साथ उस (गुडहर को) रिझा रहा था।'[2]

सुबंधु वर्णित उपर्युक्त शारदी प्रकृति वर्णन को पढ़ने पर सहसा, आधुनिक उत्कल उपन्यासकार श्री गोपीनाथ महान्ती के महा उपन्यास 'अमृतर सन्तान' की सुधि आ जाती है। इस विलक्षण उपन्यास में लगभग ६०० पृष्ठों में, उड़ीसा के आदिवासियों के जीवन का जैसा आश्चर्यजनक चित्रण श्री महान्ती ने किया है वह समग्र

---

१ 'मोगावडेद मन (शिवराम कारंत) पृष्ठ १२६, अध्याय ७।

२ वासवदत्ता (सुबन्धु) (पृष्ठ २४९ २५०)

आधुनिक भारतीय उपन्यास साहित्य में अपनी अन्य वर्णन क्षमता के कारण अनुपमेय है। यहाँ शारदी नैसर्गिक शोभा से चित्रविचित्र उत्कल की वन-पर्वत उपत्यकाओं का एक अत्यन्त सूक्ष्म कलात्मक भंगिमाओं से अन्वित, अविस्मरणीय वर्णन उदाहृत है। इस वर्णन में चाक्षुष एवं सस्वन, रूप एवं ध्वनि का, बड़ा ही मनोहर समन्वय हुआ है —

'माघ चढ़ा है। बड़ी ठंड है। अंधेरी रातों को, ढलुआनों और गड्ढों में, सिर्फ कुहरा ही कुहरा लहराता रहता है। तारों की झिलमिल लौ में कुहासा मुक मुकाता सा दिखाई पड़ता है। कुहासे के अन्दर, जहाँ तहाँ, अलावों की लवें, तिरतीं सी, हिलोरती सी, नजर आती हैं। दूर से देखने पर, बाघ की आँखों की तरह दमकती हैं।

हिरणों और साम्भरों के झुंड 'पें प,' 'भ मे' करते उतरते हैं और कान्दुल के खेतों में घुस पड़ते हैं। मचानों पर सिंघे बज उठते हैं। चारों ओर से विकट विकराल कलरव सुनाई पड़ता है। शोर मच जाता है। लोग कनस्टर पीटने लगते हैं। टमक बजाने लगते हैं। कभी कभी महाबल बाघ मचानों के नीचे से हुमदुमाते, गरजते और पाहुलों की 'थप थप' थाप से, जंगल कपकपाते निकल जाते हैं। मचानों से गड गड पानी चू पड़ता है। पेड़ झमाझम करके काँप उठते हैं और उनके पत्तों से धूल झड़ पड़ती है।'

'और आग धरती सुनहरी होती चली गई है। चारों ओर के धूप कुहरे मिले, झिलमिल आसमान में, पहाड़ की अकेली चोटी, सिर ऊँचा किए खड़ी है, और प्रश्न वाची मुद्रा में ऊपर की ओर निहार रही है। पर इस प्रश्न का कहीं कोई उत्तर नहीं है। दूसरी ओर थोड़ा थोड़ा ढालू, एक बड़ा सा सूना मैदान है। मैदान बहुत धीरे धीरे नीचे को, उतरता चला गया है। मैदान के ऊपर जहाँ तहाँ, अनगिनत खोह और गुफाएँ हैं। उन्हीं के आसपास, बड़े बड़े कन्दे होते हैं। खूब मिलते हैं। यहीं कम्पनियों का कायमेत्र है।

'सिर के ऊपर पेड़ पर बैठा खूब बड़ा सा, एक झालरपखा मोर, धूप सेक रहा है। उस पार के खड्ड में अनगिनत मोर रहते हैं। जंगल के अन्दर से जंगली मुरगों की बाँगें आ रही हैं। जहाँ तहाँ, जंगली मुरगों के परिवार अकड़ अकड़ कर घूम रहे हैं। थोड़ी देर और घूम फिर कर ये सब न जाने कहाँ लापता हो जायेंगे।'[1]

---

१ 'अमृतर सन्तान (श्री गोपीनाथ महान्ती) अध्याय ४, पृष्ठ २५ २६। १९५८ ई०, साहित्य अकादमी नई दिल्ली)।

यह कहा ही जा चुका है कि 'हर्ष चरित' एवं 'कादम्बरी' के विलक्षण स्रष्टा महाकवि बाण वर्णनात्मक कला के धनी थे। उन्होंने भारतीय क्षितिज के, सवेरे से साँझ, साँझ से सवेरे तक के, क्षण क्षण बदलते हुए दृश्यपटों के असंख्य वर्णनों से, अपने दोनों महान गद्य महाकाव्यों को एक कुशल जड़िया की भाँति जड़ा है। उनमें केवल कुछ अविस्मरणीय वर्णनों का उल्लेख यहाँ इसलिये किया जा रहा है कि जिससे हम, उन्हीं के प्रतिरूपों को, अपने आधुनिक भारतीय उपन्यास साहित्य में सहज ही पहचान पाएँ तथा इस भाँति, अपने राष्ट्रीय लोकगद्य महाकाव्य में पाई जाने वाली, एकात्म राष्ट्रीयता एवं देशानुरक्ति की एक समान झलक के, दर्शन कर पायें। यदि केवल 'कादम्बरी'-गत स्मरणीय स्थान प्रकृति यात्रा-वर्णनों की ही अनुक्रमणिका बनाई जाए तो वह भी बहुत लम्बी हो जाएगी। तथापि अति उल्लेख्य वर्णन ये हैं —

'अनुच्छेद ३—राजा शूद्रक की राजधानी विदिशा की एक झलक, अनुच्छेद १७—विन्ध्याटवी वर्णन अनुच्छेद १८ १६—पचवटी आश्रम वर्णन, अनुच्छेद २०—पपा सरोवर वर्णन, अनुच्छेद २१ २३—शाल्मली वृक्ष वर्णन, अनुच्छेद २४—प्रभात प्रकृति वर्णन, अनुच्छेद ३६ ३७—जाबालि आश्रम वर्णन, अनुच्छेद ४२— सान्ध्य प्रकृति वर्णन, अनुच्छेद ४३—प्राची दिशि में चन्द्रोदय वर्णन, अनुच्छेद ४४ ४५—उज्जयिनी-नगर वर्णन, अनुच्छेद ६४—सध्याकालीन नगरी वर्णन १२७ १२६—अच्छोद सरोवर वर्णन अनुच्छेद १६५—चन्द्रोदय के समय वन्य प्रकृति रूप वर्णन, अनुच्छेद १६०—श्री मण्डप नामक राजप्रासाद वर्णन अनुच्छेद १६८ २००—मणिगृह तथा क्रीडा-पर्वत वर्णन अनुच्छेद २०८ २०६—ग्रीष्मकाल में हिमगृह प्रासाद वर्णन, अनुच्छेद २१५—शून्य महाटवी वर्णन, अनुच्छेद २१६—महिषासुरमर्दिनी देवी-मन्दिर वर्णन अनुच्छेद २४४—वन पर्यटन के मार्ग में सान्ध्यकालीन वर्णन, आदि।

बाण कृत 'हर्ष-चरित' में भी ऐसे अनेकानेक वर्णन हैं जिसके प्रतिरूप हम भारतीय उपन्यासों में स्थान वर्णन आदि का सर्वेक्षण करते समय, जहाँ-तहाँ बिखरे हुए मिल जाते हैं। यथा—अनुच्छेद ६२ ६३ में राजकीय अश्वशाला वर्णन, अनुच्छेद ६४ ६६ में राजकीय गजशाला वर्णन, अनुच्छेद ११२ में श्रीकण्ठ नामक आदिवासी ग्राम वर्णन, अनुच्छेद २०४ २१३ में हर्ष की सेना के युद्ध प्रयाण का एक वर्णन, अनुच्छेद २१८ २१६ में वनग्राम के घरों का शब्द चित्रण, अनुच्छेद २३१ २५८ में विन्ध्याटवी एवं उसमें सध्याकालीन शोभा-वर्णन आदि।

बाण द्वारा चित्रित ये वर्णन केवल उनके दो उपन्यासों के वर्णन ही नहीं माने जाने चाहियें वरन वे समग्र भारतीय जीवन की एक प्रामाणिक झाँकी के रूप में ही अवलोकनीय हैं। वस्तुत कादम्बरीकार बाणभट्ट ने भारतभूमि की चित्र विचित्र एवं

दूर दूर तक परिव्याप्त वर्णन शोभा को मानो एक ही स्थान पर ला रखा है। बाण ने भारतीय उपन्यासों में ऋतुवर्णन की एक ऐसी मौलिक एवं चित्रोपम वर्णनकला का आविष्कार किया है, जो रूढ़ महाकाव्यगत ऋतुवर्णन की रीतिबद्धता से, सर्वथा-मुक्त है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में —

'भारतीय प्रकृति के पट परिवर्तन में बाण ने कितने प्रकार के रंगों को अपने शब्दों में उतारा है—अकेले इसका विचार भी कम रोचक नहीं होगा। जब वे शीत ऋतु की प्रातःकालीन धूप की उपमा चमचम करते फूल (काँसी) के बरतनों से देते हैं तो ऐसा लगता है कि जानी पहचानी वस्तुओं के निरीक्षण और वर्णन में, वे कोई नया अध्याय जोड़ रहे हैं। वृक्षों और पुष्पों के सम्बन्ध में बाण की सामग्री, भारतीय वनस्पति जगत् का समृद्ध चित्र ही माना जा सकता है।'[1]

उपन्यास साहित्य में, प्रकृति वर्णन एवं ऋतुवर्णन, भारतीय उपन्यासकारों की वर्णन प्रतिभा के, प्रिय एवं कलाभिराम वर्ण्य विषय रहे हैं। गुजराती उपन्यासकार श्री पन्नालाल पटेल ने अपने वर्णन कला मनोहर आंचलिक उपन्यास मानवीनी भवाई में ऋतुवर्णन तथा जनजीवन का अनुपम समन्वय किया है। वर्णन बड़े सरल एवं मर्मस्पर्शी हैं। उनमें, रूप और नाद को व्यक्त करने वाले एक से एक व्यंजना प्रधान शब्दों का चयन किया गया है। आषाढ़ के प्रथम मेघ के आगमन से, इस रमणीय वर्णन पटी का प्रारम्भ होता है —

'आषाढ़ी तीज की रात को, आकाश में बादल उठे। रात के पिछले पहरों में, धरती पर मेह बाबा ने घमासान मचा डाला। मुर्गा बोलने तक तो धरती और आकाश एकमेक हो गये। बाट देखते देखते तो पहला मेह आया। वह पर्वतों की हारमालाओं में होकर, गड़गड़ाहट करता जा रहा था। वह अपने बिजलियों और बादलों के लश्कर के साथ न जाने कहाँ गायब हो गया। लोगों ने जो उठ कर देखा तो एक रात में ही बस दो चार घड़ियों में ही, धरती में मानो फिर प्राण डाल गया। झाड़ झंकाड़ों जैसी मालूम देने वाली वही वनराजि इस एक ही रात में कहीं नये-नये पत्तों से न भर आई होवे! कहीं उसे नजर न लग जाए इस विचार से वह नीला रंग धारण करके मानो मुलक मुलक कर हँस रही होवे! पक्षीगण भी मानों बरसात के साथ ही, न जाने किस कोने में से टोलियाँ बाँध बाँध कर आ ही न पहुँचे।'[2]

---

१ डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ('हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन') (भूमिका भाग—ज)।

२ मानवीनी भवाई (पन्नालाल पटेल), पृष्ठ ५३।

'सावन की ये अनोखी रात ! घड़ी में चाँदनी चमचमाती है तो घड़ी में अँधेरी की चादर ओढ़ लेती है। बादलों का रोना थम गया। गोशाला में बँधे हुए ढोरों ने भी अपनी घास खतम कर ली। पुरुष वर्ग भी मक्का के खेतों के निकट सोने के लिए चला गया। सारे दिवस की उनींदी स्त्रियाँ भी घास खोद कर लाने के कारण थक गई थीं। वे भी अपनी खाटों से लग कर सो गई थीं।

'उतरते हुए भादुए की साँझ थी। सारे दिवस बूंदाबांदी न होने पर भी, सिर के ऊपर बादलों की धूप छाँह तो चालू थी ही। मक्का के पक्के हुए खेतों पर होकर, शाम की बयार बह रही थी। उस मन्द मन्द गति से बहती हुई मक्की की कीमत का अनुमान करते हुए किसान लोग, मस्त हुए फिर रहे थे।'[1]

'हर्ष चरित में बाण ने वनग्राम की साक्षात्वत दृश्यपट्टियाँ प्रस्तुत की हैं जनजीवन का ऐसा यथार्थ एवं सूक्ष्म चित्रण तो हमारे आधुनिक उपन्यासकारों की कृतियों में भी विरल ही है —

'वनग्राम के घर एक दूसरे से काफी फासले पर थे। उनके चारों ओर, मरकत के जैसे चिकने, हरे रंग वाली सेहुड़ (स्नुही) की बाड़ लगी थी। धनुष बनाने के योग्य, बड़े पतले बाँसों की बसवारी, पास में उग रही थी। भरजुए के काटेदार वृक्षों की पंक्ति में रास्ता बना कर घुमना मुश्किल था। एरण्ड वचा वगक (वगुन), तुलसी सूरण कन्द सोहीजन (शिग्रु) घठीवन (ग्रंथिपरणी) गरवेरुना (गवेधुक) और मरुआ धान, (गमुन) गुल्म घरों के साथ लगी हुई बारियों में भरे हुए थे। ऊँची बल्लियों पर चढ़ाई हुई लौकी की बलें, फलकर छाया दे रही थीं।'

'घेरों में गोनमण्डपों के नीचे खैर के खूंटे से, बछड़े बाँध दिये गये थे। मुरगों की कुकुड़ूँ कूँ से पहचान मिलती थी कि घर कहाँ कहाँ बसे हैं? आँगन में लगे अगस्त्य वृक्ष के नीचे चिड़ियों को चुग्गा खिलाने और पानी पिलाने की हौदियाँ बनी थीं। लाल-लाल वरों की चादर भी बिछी थी। घरों की दीवारें बाँस के फट्टे नरकुल और सरकण्डों को जोड़ कर बना ली गई थीं। कोयले के ढेरों पर, बथइ (बलवज) घास के मडवे छाए गये थे जिन पर, पलाश के फूल और गोरोचन की सजावट थी।

'उन घरों में, चतुर गृहस्थियों ने कई काम की चीजें बटोर कर रख छोड़ी थीं जैसे सेमल की रुई, नलशालि, कमल की जड़ खण्ड शरकरा, कमल के बीज (मखाने) बाँस तंडुल और तमाल के बीज। चटाइयों पर, गम्भीरी के ढेर सूख रहे थे और वे धूल के कारण, कुछ मटमैले लग रहे थे। खिरनी और मैनफल, सुखा कर रखे गए थे। महुए का आसव और चुआया हुआ मद्य, प्राय हर घर में मौजूद था।

---

१ 'मानवीनी भवाई' (पन्नालाल पटेल), पृ० ५७।

प्रत्येक घर में कुसुम्भु वृक्ष आदि फल भी थे। अटवी कुटुम्बियों के उन घरों में, खास (राजमाश), खीरा (त्रपुश), ककड़ी, कोहड़ा और लौकियों के बीजों से, वेलें, चल रही थी। घरों मे वन बिलाव, नेवले, मालूधान और शाल्लिजान (अनात वन्यपशुओं) के बच्चे, पले हुए थे।"[1]

अनेकानेक आधुनिक भारतीय उपन्यासकारों ने भी, बाण की भांति ही, ग्रामश्री वर्णन मे पर्याप्त वर्णन लालित्य दिखाया है। उदाहरणार्थ बंगला के ख्यात नामा वर्णनकला विशारद उपन्यासकार, श्री ताराशंकर वंद्योपाध्याय के 'कालिन्दी' उपन्यास के अन्तर्गत आए हुए, एक संथालों के ग्राम का कलाभिराम वर्णन दर्शनीय है। उसमें भी बाण के समान ही उपन्यासकार की निजी निरीक्षण प्रतिभा को, उत्कृष्ट विकास मिल पाया है —

'ऐसा विचार कर उन्होंने (रंगलाल और सुनीति ने) संथालों के गाँव मे प्रवेश किया। झक झक, चम चम गाव। पथ अथवा आंगन मे कहीं भी गन्दगी का नाम नहीं है। इस समय भी गाँव के आसपास, गाएँ, भैंसें और बकरियां, चरती फिरती हैं। खाद के ढेर पर, मुर्गियां, दाना चुगने मे व्यस्त हैं। आँगन के आसपास लकड़ियों पर सेम, लौकी तथा कुम्हड़े के पौधे, वासुकि के समान हजारों फन फैला कर, बढते चले गए हैं। घरों के चारों ओर, सरल रेखा की तरह सीधा बांध, तैयार किया गया है। उसी के ऊपर पंक्ति बांध कर कांटे लगाये गए हैं। बीच बीच सहिजन की डाल और मद समेत बांस लगा कर, उन्हें कांटों से घेर लिया गया है।'[2]

'गाव के टूटे हुए किनारे के पास काली (नदी) का बालू से भरा हुआ पेटा, चैत के तीसरे पहर, उदास होगया था। काली के उस पार का दियारा है, सवनाशी दियारा चैत के प्रारम्भ में कोमल कोमल घास की पत्तियों ने निकल कर दियारे पर, जैसे हरा मखमल, बिछा दिया है। हल्की हरियाली के बीच, संथालों के गाव में, गोबर और मिट्टी से लिपे पुते, चूने से रंगे हुए घर जैसे चित्र की तरह सुन्दर हैं। थोड़े ही दिनों मे बस्ती कितनी बड़ी हो गई है! वह पूरा एक गाँव ही बन गया है। बस्ती से होकर, एक सुन्दर रास्ता है। हरियाली के बीच एक टेढी मेढ़ी रेखा, नदी के किनारे से निकल, संथालों की बस्ती पार करती हुई, मैदान से होकर, उस पार के गाव की घनी वन रेखा से मिल गई है। संथालों की बस्ती के आस पास अनेक नये वृक्षों के,

---

१ 'हर्ष चरित एक सांस्कृतिक अध्ययन' (वासुदेवशरण अग्रवाल), से उद्धृत 'हर्ष-चरित (बाण भट्ट) उच्छ्वास ७, पृष्ठ २२७ २३०।

२ कालिन्दी (ताराशंकर वंद्योपाध्याय), (रचनाकाल १९४०। सन् १९५१ ई० के हिन्दी रूपान्तर से) अध्याय १३, पृष्ठ १५५।

नये पत्ते दिखाई दे रहे हैं। (सुनीति के) नेत्र शीतल हो गये, परन्तु वे एक लम्बी सांस छोड़ने से अपने को न रोक सकी।"[1]

बंगला भाषा के एक अन्य होनहार एवं प्रतिभाशाली उपन्यासकार थे स्व० माणिकलाल वंद्योपाध्याय। उन्होंने 'पुत्तुल नाचेर इतिकथा' (कठपुतलियों की राम कहानी) नामक एक अत्यन्त अद्भुत उपन्यास की रचना की थी। यह उपन्यास, अनेक भांति, अनूठा है। यहाँ, उसी से, गावदिया ग्राम' का, एक चित्रात्मक वर्णन उद्धृत किया जा रहा है। उपन्यासकार की चाक्षुष एवं दृश्यमान दृश्य चित्रण प्रतिभा, यहाँ स्मरणीय है —

'पुल पार करने के बाद, रास्ते के दोनों ओर, सिर्फ जोते हुए खेत हैं। इसके बाद गांव। इस ओर आबादी कम है। रास्ते के दक्खिन में झाड़ झखाड़ों के बीच, अलहदा बने हुए, चार टूटे फूटे मकान अन्दर बाहर बारिश से भीग गए हैं।[2]

'यह इलाका पार करने के बाद घनी आबादी मिलती है। इधर घर-द्वार सुधरी हालत में नजर आते हैं। रास्ते के दोनों ओर से, दो एक छोटे रास्ते टोलों की ओर जाते दीख पड़ते हैं। बीच बीच में, केले के बगीचे, सुपारी की पाँतें, और बाँस की कोठियां, दाएं बाएँ मिलती हैं। आम का बाग अँधेरे में, जंगल सा लगता है किसी किसी घर के सामने कामिनी गन्धराज, और अड़हुल की फुल बगिया बनाने का क्षीण प्रयास दिखाई पड़ता है। धीरे धीरे दो एक पक्की, इमारतों के भी दर्शन होने लगते हैं। ये इमारतें पूरी पक्की ना या समझें कि एक जगह दो कमरे पक्के है, तो बाकी, सन के छाजन वाले और बांस की खपच्चियों की दीवार वाले हैं। यही, गांव का अपना चिरन्तन घोंसला है। '

'रास्ते के मोड़ पर मौलश्री का एक पेड़ है। उसके तने को घेर कर, एक पक्का चबूतरा बना है। तिपहर को रोज वहां पर एक सरकारी अड्डा जमता है। पेड़ के नीचे सूखी टहनियों और पक्के कच्चे पत्तों के साथ, चबूतरे पर एक लत्ते से लपेटी हुई गुड़िया पड़ी है। बैसाखपुर के मेले में श्रीनाथ की दुकान पर, घंटा भर आराम करने के एवज में उसकी बच्चो के लिए शशी ने एक गुड़िया खरीद की थी। तिपहर को बारिश रुकने के बाद, यहाँ पर श्रीनाथ की बिटिया, खेलने आयी होगी और यहीं गिरा गई है।"[3]

---

१ 'कालिन्दी', (ताराशङ्कर वंद्योपाध्याय) अध्याय १७ पृष्ठ २०४।

२ ३ पुत्तुलनाचेर इतिकथा (माणिक वंद्योपाध्याय) रचनाकाल १९५६ ई० हिन्दी रूपान्तर प्रबोध कुमार मजूमदार (प्रकाशक सरस्वती प्रेस बनारस, प्रथम संस्करण १९५८ ई०) अध्याय १, पृष्ठ १४ १५।

सामग्री वर्णन के पश्चात, भारतीय उपन्यासकारों की वर्ण्यवस्तु एवं उनकी वर्णनकला प्रतिभा के महत् कल्पना समन्वित एवं निरीक्षण चित्रण परक प्रिय वर्ण्य-स्थल रहे हैं भारतभूमि के सभी कोनों में पाये जाने वाले सघन वन उनकी विलक्षण एवं मायावी वनस्पति एवं जीव जंतु सृष्टि आदि। बाण भट्ट से लेकर हमारे आधुनिक उपन्यासकारों ने इस समान एवं प्रिय वर्ण्य विषय के चित्रण में, विशिष्टता प्राप्त की है। उदाहरणार्थ सर्वप्रथम बाण भट्ट के हर्षचरित' के अन्तर्गत आए हुए, निम्न विस्मयजनक वर्णन का ही अवलोकन करें। यहाँ बाण ने, विन्ध्याटवी के महावन के अन्तर के वन-जीवन तथा उसके निवासी वन्य जीव-जन्तुओं की गतिविधियों का बड़ा ही सूक्ष्म निरीक्षण युक्त चित्रण किया है —

'कुछ ही दिनों की ब्याई हुई वनकुक्कुटी कुटज के कोटर में बैठी थी। गौरैया चुहलों को उड़ना सिखाते समय, 'चूं चूं' करके शोर मचा रही थी। चकोर अपनी सहचरी की चोंच में चुग्गा दे रहा था। भरुण्ड पक्षी, पक्के पीलुओं के फल, निश्शंक खा रहे थे। तोतों के बच्चे, कटहल और बरीके के कच्चे फलों को, निठुरता से कुतर कर, गिरा रहे थे। चट्टानों पर खरगोश के बच्चे, सुख से सोए हुए थे। छिपकली के बच्चे, शेफालिका की जड़ों के सूराखों में घुस रहे थे। रंकु नामक मृग, निडर घूम रहे थे। नेवले, आपस में घमाचौकड़ी मचा रहे थे। कोयल, नई फूटी हुई कलियों का आहार कर रही थी। चमरु हिरनों के झुण्ड, आम की झुरमुट में बैठे जुगाली कर रहे थे। नीलाण्ड मृग सुख से बैठे थे। दूध पीते हुए नीलगाय के बच्चों के पास में बैठे भेड़िये, कुछ कहे बिना ही उन्हें देख रहे थे। कहीं गिरि निझरों के पास खड़े हाथियों के झुण्ड, ऊँघ रहे थे। कहीं रुरु हिरन, किन्नरियों के संगीत का आनन्द ले रहे थे। तेंदुए उन्हें देख कर प्रसन्न हो रहे थे। हरी हल्दी की जड़ खोदते हुए, सुअरिया के बच्चों की थूथड़ियां, रंग गई थीं। झाऊ चूहे, गुंजा वृक्षों के कुंजों में घूम रहे थे। जायफल के नीचे शालिजात नामक पशु सोए थे। लाल ततयों के डंक मारने से कुपित हुए बन्दरों ने उनके छत्ता को नोच डाला था। लंगूर, बड़हल के फल खाने के लिये, सबली लताओं के इस पार से उस पार कूद रहे थे।'[1]

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी भारतीय वनों के बड़े अनुरक्त, वर्णन चित्रण प्रिय उपन्यासकार हुए हैं। उनके 'राजर्षि' नामक उपन्यास के निम्न अंश इस प्रसंग में पठनीय हैं —

विजयगढ़ का विशाल जंगल ठगों का अड्डा था। वन के बीच में, एक बरगद का वृद्ध वृक्ष था तथा बबूल नीम और सैकड़ों प्रकार के लतागुल्मों से यह

१ हर्ष चरित एक सांस्कृतिक अध्ययन' (डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल) उच्छ्वास ८, पृष्ठ २३४ २३५ (मूल पाठ) (निर्णय सागर प्रेस में मुद्रित प्रति से)।

वन भरा हुआ था। स्थान-स्थान पर पोखर और तालाब से बने हुए थे। निरन्तर पत्तों के गिरने से उनका पानी एकदम हरा हो रहा था। छोटी छोटी पगडंडियाँ, यत्र तत्र, टेढ़े मेढ़े साँपों के सदृश, अँधेरे जगल में चली गई थी। वृक्षों की डाल डाल, पात पात पर, बन्दर थे। बरगद की डाल के ऊपर, सैकड़ों बरोह एव बन्दरों की पूछे, लटक रही थी। सन्ध्या के समय, बड़े बड़े झाऊ के वृक्षों के ऊपर झुण्ड के झुण्ड तोतो के तीव्र स्वर से, वनप्रान्त का घोर अन्धकार, मानों छिन्न भिन्न हो गया था।'[1]

'पहाड़ के ऊपर नक्षत्रराय का शिविर था। घना जगल था—घास का जगल, बेंत का वन और नरकट के जगल—अनेक प्रकार के लतागुल्मों से पृथ्वी आच्छादित थी इस समय दिन ढल चुका था, सूर्य पहाड़ के पश्चिमी प्रान्त मे छिप रहा था और गोधूलि की छाया और वृक्षों की छाया के मिल जाने पर, वन मे, बिना समय के ही सन्ध्या हो गई थी। शीतकालीन सायकाल म पृथ्वी से, कुहासे की तरह, भाप उठ रही थी। झींगुर के शब्द सुनसान जगल म गूंज रहे थे।'[2]

'भवानी नदी के तट पर (चट्ग्राम म) महाराज ने अपनी कुटी बनाई। स्वच्छ जल वाली छोटी नदी, छोटे बड़े पत्थरों के ऊपर से होकर, तेजी से बह रही थी। दोनो किनारों पर काले पहाड़ खड़े थे। काले पत्थरों पर विचित्र वर्ण के शैवाल लटक रहे थे। बीच बीच म छोटे छोटे गह्वर थे। उनम पक्षी निवास करते थे। स्थान स्थान पर दोनों ओर के पहाड़ इतने ऊँचे थे कि बड़ी देर के बाद सूर्य की दो एक किरणें नदी के जल मे आकर पड़ती थी। बीच बीच म नदी के किनारों पर घने जगलों की पंक्तियाँ, दूर तक चली गई थी। एक बहुत बड़ा शाखाहीन, श्वेत, गर्जन वृक्ष (मक्षत्र) पहाड़ के ऊपर झुका था। नदी के नीले चचल जल म उसकी छाया नाच रही थी घने हरे जगल के बीच-बीच म, स्वच्छ श्यामल, केले के वन थे।'[3]

श्री विभूतिभूषण बद्योपाध्याय ने अपने 'पथेर पाचाली' नामक उपन्यास म वनश्री वर्णन को, पर्याप्त उच्चस्तरीय वर्णनकला कोटि तक पहुँचा दिया है। उन्होंने वन की अन्तर्चेतना को विविध प्रतीको द्वारा रूपायित करने म, हार्डी के समान

---

१ 'राजर्षि' (रवीन्द्रनाथ ठाकुर) रचनाकाल १८८५ ई०। (हिन्दी रूपान्तर सुरेन्द्रपाल सिंह, प्रकाशक गौतम पुस्तकालय, प्रयाग।) परिच्छेद २० पृष्ठ ६८।

२ वही, परिच्छेद ३५, पृष्ठ १२०।

३ वही, परिच्छेद ४२ पृष्ठ १४१।

सफलता पाई है। यहा 'पथेर पाचाली' से एक अविस्मरणीय वर्णन उदाहृत किया जा रहा है —

'उनके कमरे की खिडकी से कुछ ही फीट की दूरी पर, घर की बहार दीवारी की दीवार थी। उससे सटा हुआ ही, कितना सघन वन, दूर दूर तक बाहर की ओर लहरा रहा था। यदि कोई खिडकी मे बैठ कर बाहर की ओर झाकता, तो उसे झाड झखाड से पूरित, वनखण्डी ही नजर आती। वह सारा हरित वन प्रदेश, एक हरे सागर की लहरियो की भाति आदोलित रहता। अंगूरा की लताएँ इस पेड से उस पेड तक छाई रहती। एक पुरातन बास के झुरमुट के तले, सोनचिडियायें, काली मिट्टी के वक्ष पर नाचा करती। बांस की पुरातन शाखाएँ सोदली और चत की झाडिया पर झुकी रहती। बडे बडे पौधा के तले, हल्दी, कोच्रू और जगली चाडिया का घना सा जमघट, सूय की ओर सिर उठा कर भाकन का प्रयास करता। अपने गर्वील और चमचमाते हुए पडोसिया की छत्रछाया म नन्हे आश्रित पौधो की पत्तियाँ, जीवन सघप में पराभूत हो जाने के कारण मुरझा रही थी। उनकी मरणान्त वेदना दरसाने वाली हसरत भरी नजरा के सामने ही, शरद ऋतु की सुहावनी एव स्निग्ध धूप, सारे वन का आप्लावित किए देती। धरती, नवकुसुमित लताओ के सुकुमार सौरभ से, मधुमती हो रही थी और अपनी समग्र मनोहारिता, रहस्यात्मकता एव उवरता लिए, धीरे धीरे दृष्टि पथ से विलीन होती जा रही थी।'[1]

'इसी जगल म कही एक पुरातन झील थी जिसके तीर पर एक देवालय के खडहर दिखाई दे रहे थे। एक समय था जब कि उस मन्दिर की अधिष्ठात्री देवी विशालाक्षी गाव भर की इष्ट आराध्य देवी थी आज भी देवी ने उस गाव को भुलाया नही है। रात के बढते हुए पहरों म, जब कि गाँव निस्तब्ध हो जाता है वह वन मे कुसुमों को खिलाती हुई, आज भी विचरण करती है। यह अब भी अपनी रायँदार सन्तति की चौकसी करती घूमती है। और चादनी रातो के अन्तिम प्रहरा मे, वह मधु मक्खियो के छत्ता का मधुर मधु स आप्लावित कर जाती है—जगली मावरा, नटकन और चमेली के सब कुसुमित प्रसूना से मधुसचय करके उसे भलीभाँति ज्ञात है कि सामक के पूरा वाडी के किस कोने म अपना मुँह छुपा लेते हैं जहा कि गुप्त वन प्रदेश म, किसी वृक्ष की छाया म, अतिभ के फूलो के गुच्छे के गुच्छे पडे रहते हैं। वह यह भी जानती है कि इच्छामती नदी के किस मोड पर टूटी खाई की दरारो को, कलमी के प्रसून अपनी नीली पखुरियो से पाट देते है। और यह भी

---

१ 'पथेर पाचाली (विभूतिभूषण बद्योपाध्याय) (रचनाकाल १९२९ ई०) हिन्दी रूपान्तर श्री मन्मथ नाथ गुप्त (प्रकाशक राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली।) भाग ५ अध्याय २ पृष्ठ १३५।

कि वये पक्षी के नन्हे बच्चे, किसी काटेदार वृक्ष की हरियाली के बीच, कौन से घोंसले मे रात्रि के मूक प्रहरो म, सहसा जाग पडते हैं। सारा वन उसी की शोभाश्री की स्निग्ध ज्योति से आप्लावित जान पडता है। वह निस्तब्धता ज्योत्स्नामयी सुगंधि एव धूमिल प्रकाश और छाया की मोहिनी मे बसने वाली, निशा की विस्मय कारी मनोहारिता ही तो है।"[1]

यात्रा वणना की दृष्टि से भी भारतीय उपन्यासो मे अनेकानेक एसे स्थल आए हैं, जहा वणनकला के चम कार से, यात्रा जैसे एक नित्यप्रति के काय व्यापार को, भी साहित्यिक गरिमा प्राप्त हुई है। किन्तु सब मिला कर ऐसे वणन कम ही हैं जिन्हें उत्तम यात्रा वणन कला के नमूना के तौर पर उदाहृत किया जा सके। इस दृष्टि से यहाँ श्री इलाचन्द्र जोशी कृत सन्यासी उपन्यास से एक अवतरण उद्धत किया जा रहा है। यह रेल यात्रा वणन, उपन्यासकार की वणन प्रतिमा का द्योतक है —

'हम लाग पहाड को जान वाली एक छोटी गाडी म बठे। गाडी बीच बीच मे सुरगा को पार करती हुई जा रही थी। सुरगो मे, इजिन का जो धुआँ, जमा होता था, उससे जी मतलाने पर भी अगल बगल के पहाडी दृश्यो को देखने से, तबियत हरी हो जाती थी। गाडी रलवे लाइन के जिस भाग को, अपन पीछे छोड आती थी ऊपर से वह एक विराट और दीर्घाकृति सप की तरह पडी हुई दिखाई दती थी। कहीं वह चीड और देवदारु के घने पेडो की छाया के बीच अपनी कुटिल चक्राकृति फैलाए हुए थी और कहीं, भयकर और गहरे खड्डो के ऊपर गाडी यदि जरा सी लाइन से डिग जाय, तो नीचे गिर कर यात्रियो सहित इस तरह चकनाचूर हो जाय कि काष्ठ का एक खण्ड और किसी यात्री की हड्डी पसली का एक टुकडा भी, साबुत न रहे। और यदि ऊपर से एक चट्टान अकस्मात ढह कर, गाडी के ऊपर आ गिर तो उसके परिणाम की विकरालता के सम्ब ध म कुछ कहना ही व्यथ है।'[2]

डा० देवराज कृत अजय की डायरी' नामक उप यास (प्रकाशन १९६० ई०) यात्रा वणनो की दृष्टि से पर्याप्त मनोरम एव कलापूण बन पडा है। लेखक की वणन शली यहा चेतनाधारा शली अथवा स्ट्रीम आफ काशसनेस से मिलती जुलती है। यहा लेखक बाह्य जगत म विचरण करता हुआ भी, बीच बीच मे, अन्तमुखी होकर

---

१ 'पथेर पाचाली 'वन देवी' नामक प्रसग से।

२ सन्यासी' (इलाचन्द्र जोशी) रचना काल १९४० इ०। प्रकाशक भारती भण्डार, प्रयाग। सन १९५६ ई० क सस्करण से। अध्याय ५६ पृष्ठ २६८।

अपने में भी झांकने लगता है। 'अजय की डायरी' से यहां एक सनात्मक यात्रा वर्णन उदाहृत किया जा रहा है —

'हरिद्वार का हरित क्षेत्र शुरू होगया था। मैं नीचे ही एक दरवाजे की खिड़की में खड़ा हो गया। ठण्डी ठण्डी ताजगी से भरी हवा चल रही थी। दूर पर पहाड़ियां दीखने लगी थीं। ट्रेन के दोनों ओर नई एवं स्निग्ध आभा से सम्पन्न हरियाली का अखण्ड साम्राज्य फला हुआ था। अपनी सलोनी आंखों को अपूर्व तृप्ति देने वाली, हरित छवि से, दर्शकों को लुभाते हुए, छोटे बड़े पेड़ पौधे द्रुतगति से ट्रेन की विपरीत दिशा में सटकते भागते दिखाई दे रहे थे। मैं मुग्ध दृष्टि से उस दृश्य की दिशा में झांक रहा था। बीच बीच में कभी कभी मेरी दृष्टि, सोए हुए साथियों पर पड़ जाती थी। मैं सोचने लगा कि उन्हें जगा दूँ, ताकि वे प्रकृति के इस हरे वैभव को देख सकें।'[1]

श्री ताराशंकर बंद्योपाध्याय के कवि नामक उपन्यास में भी रेल-वर्णन पर्याप्त आकर्षक एवं संगति बन पड़ा है। इसमें नाद सूचक शब्दों की सहायता से, लेखक ने अपने वर्णन को अधिक प्रभावशाली बनाया है —

'झम झम करती हुई रेल चली जा रही है। प्रकृति के आंगन में वर्षा की झम झम, नृत्य कर रही है और संध्या के आंचल का समां पाकर मेघ के टुकड़े और भी कजरारे हो गए हैं। वर्षा जोरों से हो रही है, और उधर मयकर वर्षा हो चुकी है। मैदान की गड़हियां में जमे हुए वर्षा के जल सिहर रहे हैं। मेढक की टरटर' ध्वनि भी आ रही है।'

और गाड़ी चली जा रही है—'झम झम झम।' छोटी नदी का पुल पार हो गया। गेरुए रंग के पानी की धार में सफेद फेन बहता जा रहा है। दोनों ओर काश फूल की झाड़ियां हरी हरी। अब गांव करीब है, वह अपनी मां के, अपने लोगों के बहुत करीब।

'अब बालपुर इसके बाद को पाई स्टेशन और इसके भी बाद जंक्शन छोटी लाइन। 'छक्! छक्! छक! फक! फक! फक!' झूले की तरह हिलाती हुई छोटी लाइन की गाड़ी चलती है। साथ ही साथ उसका मन भी नाच रहा है। मां मेरी मां मां! वह क्या है? पीपल के पोखर उदासी मैदान और काली का बगीचा जिस बगीचे के वृक्ष थे उसके गाता वे श्रोता। गाड़ी जरा मुड़ी—स्टेशन में प्रवेश कर रही है। यह अब गाड़ी रुकी। गाड़ी चली गई।'[2]

---

१ 'अजय की डायरी' (डा० देवराज) (प्रथम प्रकाशन १९६० ई० प्र० राजकमल प्रकाशन दिल्ली।) पृष्ठ ५४।

२ कवि (श्री ताराशंकर बंद्योपाध्याय) रचना काल १९४१ ई०। हिन्दी रूपान्तर (नवयुग प्रकाशन दिल्ली, १९५४ ई०) अध्याय २१, पृष्ठ २१३ २१४।

श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का द्वितीय उपन्यास 'अधखिला फूल' (१९०७ ई०), वर्णनात्मक कला की दृष्टि से, समग्र हिन्दी उपन्यास साहित्य में अपने ढंग का सर्वप्रथम उत्कृष्ट कोटि का उपन्यास है। उनके उपन्यास साहित्य में वर्णन सौष्ठव एवं वर्णनगत कलाभिरामता, दर्शनीय हो उठी है। 'अधखिला फूल' का तो प्रायः प्रत्येक वर्णन ही, वर्णनकला की दृष्टि से अध्ययनीय और मननीय है और उसकी जोड़ का अन्य उपन्यास, प्रेमचन्दकाल के पूर्वार्ध में मिलना कठिन है। यहाँ 'अधखिला फूल' से कुछ ऐसे उद्धरण दिए जा रहे हैं जो एक दूसरे से वर्णन कलात्मक श्रेष्ठता में, होड़ लगाते से जान पड़ते हैं।

उनमें से प्रथम वर्णन में रात्रि के समय नभामण्डल पर छाई हुई ग्रीष्म कालीन की, आकाश छवि के, नवोदित दूज के चाँद के द्वारा विवर्धित होने की एक रमणीय दृश्यपटी प्रस्तुत की गई है। द्वितीय वर्णन में, सरयू नदी की अविस्मरणीय छवि अंकित की गयी है। यह संगति वर्णन साध्य अवसाद में भी, जीवन से तरंगायित है। वर्णनगत उपर्युक्त शब्द चयन द्वारा वर्णन चित्रण का, यह एक उत्कृष्ट कलात्मक उदाहरण है —

"बैसाख का महीना! दो घड़ी रात बीत गई है। चमकीले तारे चारों ओर, आकाश में फैले हुए हैं, दूज का बाल सा पतला चाँद, पच्छिम की ओर डूब रहा है। अँधियारा बढ़ता जाता है ज्यों ज्यों अँधियारा बढ़ता है, तारों की चमक बढ़ती जान पड़ती है। उनमें से जोत सी फूट रही है। वह कुछ हिलते भी हैं। उनमें चुपचाप कभी कोई टूट पड़ते हैं जिससे सुनसान आकाश में रह रह कर फुलझड़ी सी छूट जाती है। रात का सन्नाटा बढ़ रहा है उमस बड़ी है। पौन डोलती तक नहीं। लोग घबड़ा रहे हैं, कोई कोई बाहर खेतों में घूमता है कोई घर की खुली छतों पर। उमस से घबड़ा कर कभी कभी कोई टिटिहरी कहीं बोल उठती है।"[1]

आज भादों सुदी तीज है। दिन का चौथा पहर बीत रहा है। बसनगर गाँव के उत्तर ओर सरजू नदी, अठखेलियाँ करती हुई, बह रही है। इसतिरियों का झुण्ड धीरे धीरे आगे बढ़ कर, इसी नदी के तीर पर, पहुँचा। बसनगर गाँव के ठीक सामने उस पार चाँदपुर, गाँव था। सरजू का ढंग है, सदा, अपनी धारों को पलटता

---

१ 'अधखिला फूल' (अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध') प्रथम संस्करण १९०७ ई० प्र० खड्गविलास प्रेस बाँकीपुर पटना (प्रस्तुत संस्करण १९१५ ई०) (चिरजीव पुस्तकालय बेलनगंज, आगरा के सौजन्य से प्राप्त)। पहली पखुड़ी, पृष्ठ ४५ ४६।

रहती है। पर इन दोनों गाँवों के पास धरती, कंकरीली थी। इसलिये इन दोनों गाँवों के बीच, वह सदा एकरस बहती। यह दोनों गाँव, व्योपार की मंडी थे। इस पार और उस पार, बडे अच्छे घाट थे। आज दोनों ओर के घाटों पर इसतिरियों की बडी भीड है। सरजू नदी कलकल बह रही है। सूरज की किरनें उसमें पड कर, जगमगा रही हैं, लहर पर लहर उठती है—सूरज की किरनों में चमकती है—और फिर सरजू की बहती हुई धार में मिल जाती है। पानी के तल पर मगर, घडियाल, उतरा और डूब रहे हैं। पाल से उडती हुई नावें आ जा रही हैं। छोटी मोटी डोंगियाँ, लहरों में, डगमगा रही हैं। और दूसरी बहुत सी नावें, घाट के एक ओर, पाती बाँधे चुपचाप खडी हैं। जब कभी लहरें उठ कर, घाट से टकराती हैं, एक एक बार रह रह कर, यह नावें, धीरे धीरे हिल उठती हैं। सरजू तीर पर, दोनों पार, बहुत से मन्दिर, और शिवाले थे। उनमें से बहुतों पर धुजा लगी हुई थी। बहुतों पर कलस थे। तीर पर भाँत भाँत के फूले फले पेड थे। और इस सब की छाया, जल में पड रही थी। धीरे धीरे तीर की इसतिरियों की छाया भी जल में पडी। जब कभी जल थिर रहता, उस घडी, दोनों पार पानी के भीतर, एक बहुत ही अच्छी बसी हुई बस्ती, दिखलाई पडती। और जब लहरें उठती, पानी के हिलने पर उसमें सिल वटें पडती, उस घडी, टुकडे टुकडे होकर गाँव उजडता दिखलाई देता। और धीरे धीरे जल में लोप हो जाता। जल में यही सब लीला हो रही है। इसतिरियाँ नहा धो रही हैं। और उनके गीतों पर सरजू का जल, लहरों के बहाने, हाथ उठा उठा कर, ताल पर नाच रहा है। और सारा गाँव, सरजू पर खडा होकर, यह सब लीला देख रहा है।'[1]

इसमें सन्देह नहीं कि वर्णनात्मक कला की दृष्टि से उपर्युक्त दोनों ही वर्णन लालित्यमय, एवं कलाभिराम हैं। उनमें भी दूसरा वर्णन जिसमें गाँवों के उजडने और बसने का दृश्य अंकित किया गया है सचमुच अनूठा है। स्त्रियों के गीतों पर सरजू का जल मानो लहरों के बहाने हाथ उठा कर, ताल पर नाच रहा है यह 'सगति वर्णन' है, साथ ही वह छवि वृत्तात्मक भी है और व्यक्तित्वयुक्त भी। श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध के उपयुक्त दो विशिष्ट वर्णन कलाभिराम वर्णनों में से दूसरा वर्णन वर्णनकला की कसौटी पर परखने से उत्तम सिद्ध होता है। इसमें कल्पना एवं यथार्थ का एकीकरण है जो एक असमान्य घटना है। सरयू नदी की धारा में गाँव का बनना और उजडना सत्य भी है और कल्पना भी। धारा में शांतता रहने पर

---

१ 'अधखिला फूल' (अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध') १७वीं पखडी, पृ० १३३ ३४।

गाँव का प्रतिबिम्ब सम्पूर्ण दिखाई पड़ता था किन्तु वायु का एक साधारण सा झोंका भी, उसे छिन्न भिन्न करने में समर्थ था।

नदी का प्रवाह, रूपकात्मक रूप से, समय का प्रवाह ही है जिसमें गाँव ही नहीं साम्राज्य भी बनते रहते हैं और वे बिगड़ते भी रहते हैं। नदी वर्णन, भारतीय उपन्यासकारों का एक परमप्रिय वर्ण्य विषय रहा है। भारत की नदियाँ केवल जल धारायें ही नहीं उससे बहुत कुछ अधिक है। सरयू, यमुना, भागीरथी आदि सभी परम पावन धारायें हैं। सरयू एवं यमुना के तटों पर लोट-लोट कर हमारे सबसे महान एवं अवतारी राष्ट्र नायकों ने बलबुद्धि का अर्जन किया था।

अपने महान उपन्यास 'सेवासदन' (१९१४ ई०) में हमारे श्रेष्ठ वर्णनकला आचार्य श्री प्रेमचन्द ने भी भागीरथी की विविध झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं। 'सेवा सदन' में, काशी नगर और उसके आसपास के वर्णन बड़े हृदयग्राही बन पड़े हैं। उनके सभी उपन्यासों में, स्थान वर्णन, प्रकृति वर्णन, यात्रा वर्णन आदि सभी, उत्तमोत्तम रूप में पाए जाते हैं। उनके प्रारम्भिक उपन्यास 'प्रेमा', 'वरदान' आदि से लेकर अन्तिम उपन्यास 'गोदान' तक में न जाने कितनी वर्णनात्मक छवियाँ, पढ़ने और हृदयंगम करने योग्य हैं। 'सेवासदन' में जिस समय सदन, जीवन से निराश होकर, गंगा के तट पर पहुँचा तो वहाँ के शान्त स्निग्ध वातावरण से, उसकी मनो दशा में स्वस्थ परिवर्तन हो गया जो स्वयं श्री प्रेमचन्द की भाषा में ही पठनीय है। इसमें मानव मन के गहन अवसाद पर, प्रकृति के शान्त स्निग्ध वातावरण की विजय को, दर्शाया गया है —

"इसी निराशा और चिन्ता की दशा में, एक दिन वह टहलता हुआ, नदी के किनारे, उस स्थान पर जा पहुँचा जहाँ बहुत सी नावें लगी हुई थीं। नदी में छोटी छोटी नावें, इधर उधर इठलाती फिरती थीं। किसी किसी नौका में सुरीली तानें सुनाई देती थीं। कई किश्तियों पर से मल्लाह लोग, बोरे उतार रहे थे। सदन एक नाव पर जा बैठा। सन्ध्या समय की शान्तिदायिनी छटा और गंगातट के मनोरम काव्यमय दृश्य ने उसे वशीभूत कर दिया। वह सोचने लगा—यह कैसा आनंद मय जीवन है! ईश्वर मुझे भी ऐसा ही एक झोंपड़ा दे देता, तो मैं उसी पर सन्तोष करता। यहीं नदी तट पर विचरता, लहरों पर चलता और आनन्द से राग अलापता!"[1]

---

१ सेवासदन' (श्री प्रेमचन्द,) अध्याय ४६, पृष्ठ २८७ (सरस्वती प्रेस, बनारस से प्रकाशित, प्रथम प्रकाशन १९१४ ई०)।

'सेवासदन' के अतिरिक्त प्रेमचन्दजी के अन्य उपन्यासो म भी उत्कृष्ट वणन, बहुलता से पाए जाते हैं। इस दृष्टि से उनका एक अन्य उत्कृष्ट उपन्यास है 'कायाकल्प'। इसमें प्रकृति के सौन्दय की छवि को, एक कलाकार की तूलिका के समान अकित किया गया है। पहाडी गुफाओ के वणन तिब्बत की नदियो और नालो के वणन, आदि बडे ही महतकल्पना प्रधान, विशद छवि वृत्तात्मक एव रहस्यावत्त हैं। वे सभी युक्तिमय और आलकारिक शली मे अंकित हैं। उन वणनो को पढ कर, पाठक के मन मे, उत्तेजक आन्दोलनकारी और दाशनिक भाव सम्पत्ति का उदय होता है।

श्री प्रेमचन्द के प्रसिद्ध उपन्यास, 'रगभूमि' (१९२४ ई०) मे भी उनके अपने ग्राम लमही (पाडेपुर) के आसपास के वातावरण का वणन, बडा ही मार्मिक एव चाक्षुष है। वह लेखक का अपना जाना पहचाना वातावरण था। उपन्यास का प्रारम्भिक दृश्य मानो भारतीय ग्रामीण जीवन की, एक मार्मिक एव चित्रवत झाकी प्रस्तुत कर जाता है —

'कार्तिक का महीना था। वायु मे सुखद शीतलता आ गई थी। सध्या हो चुकी थी। सूरदास अपनी जगह पर, मूर्तिवत बठा हुआ, किसी इक्के या बग्घी के आशाप्रद शब्द पर कान लगाए था। सडक के दोनो ओर, पेड लगे हुए थे। गाडी वालों ने, उनके नीचे, गाडिया ढील दी। उनके पछाही बैल, टाट के टुकडो पर खली और भूसा खाने लगे। गाडीवानो ने भी उपले जला दिये। कोई चादर पर आटा गूँधता था, कोई गोल-गोल बाटिया बना कर उपलो पर सेंकता था। किसी को बरतनो की जरूरत न थी। सालन के लिये घुइयो का भुरता काफी था। और इस दरिद्रता पर भी उन्हें कुछ चिन्ता न थी।'[1]

श्री प्रेमचन्द के 'रगभूमि उपन्यास मे सूरदास की झोपटी से लेकर, राजा साहब के महलो तक के सभी भाति के दृश्य चित्र उपस्थित हैं। पण्डा नायकराम की उदयपुर यात्रा का वणन भी सुन्दर शली मे वर्णित है। पृष्ठ २७ २९ अध्याय २ में ठाकुरजी के मन्दिर मे जो मण्डली या 'भगत' जुडती थी उसका वणन, सस्वन है एव सागोपाग' भी है।

श्री चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' कृत 'मगलप्रभात' मे जिसके कुछ उत्कृष्ट वणनों की झांकियाँ पहिले ही दी जा चुकी हैं, चन्द्रज्योत्स्ना म, यमुना की शोभा का यह वणन अत्यन्त मनोरम एव कलापूण है —

---

१ 'रगभूमि (श्री प्रेमचन्द) (रचनाकाल १९२४ ई०। प्रस्तुत सस्करण १९५५ ई०, गगा ग्रन्थागार, लखनऊ।) अध्याय १, पृष्ठ १०।

'सप्तमी में चन्द्रमा की मधुर चाँदनी, यमुना की चपल सुन्दर तरंग राशि से बड़े प्रेमपूर्वक गले मिल कर हँस रही थी। समस्त प्रकृति, शांति की विश्राममयी गोद में सो रही थी। शीतल वायु भी उस समय, बड़े अलस भाव से झूम रहा था। यमुना का कोमल कलकल, उस नीरव शांति में, एक मधुर दिव्य संगीत के समान प्रतीत हो रहा था।'[1]

'उस समय मूर्तिमान सौन्दर्य का विलास था। प्रफुल्ल प्रकृति की मनोहर श्री थी। कलकलमयी यमुना की तरंग राशि पर, आनन्दमय चन्द्रदेव की किरणमाला का, ललित नृत्य हो रहा था। विमल कविता की कोमलकांत पदावली की, ललित गति की अपूर्व शोभा थी और उस पर कलित कण्ठ की मधुर मृदुल संगीत धारा थी। उस समय सब कुछ था—शान्ति थी, कविता थी, रागिनी थी, चन्द्रश्री थी, नीलसलिला यमुना थी।'[2]

ये यमुना के वर्णन बड़े मनोरम कल्पना उद्रेकी, चाक्षुष, संगति, लालित्यमय और कलापूर्ण हैं। इनकी तुलना में बंगला भाषा के वरिष्ठ एवं सर्वप्रथम उपन्यासकारों में भी समादरणीय, श्री रमेशचन्द्रदत्त के 'माधवी कंकण' (१८७७ ई०) नामक विशिष्ट उपन्यास से, जो वर्णनात्मकता की दृष्टि से, एक कलात्मक कृति है भागीरथी का एक स्मरणीय वर्णन यहाँ प्रस्तुत है —

भागीरथी के पश्चिम किनारे वीरनगर ग्राम में ग्रीष्मऋतु के एक दिन सन्ध्या समय, दो बालक और एक बालिका, क्रीडा करते थे। सन्ध्या की तिमिरवरणी छाया, क्रमश गाढ़तर हो कर ग्रामप्रान्तर और प्रशस्त गंगा नदी को आच्छादित करती जाती थी। दर्पणादरवत सलिलराशि पर, कई नौकाएँ बह रही थीं पोतों से निकलते हुए, दीपालोक नदी के चंचलवक्ष में, मनोहर नृत्य करते थे। वीरनगर के नदी कूलस्थ, आम्र कानन अन्धकारावृत होकर, क्रमश निस्तब्ध भाव धारण करते जाते थे। केवल वृक्षों के मध्य से, ठौर ठौर पर, एकाध दीपशिखाएँ दृष्टिगत होती थीं और समय समय पर पर्णकुटीरावली में से कृषक पत्नियों का कण्ठरव, कर्णकुहर में प्रवेश करता था। निस्तब्ध अन्धकार में, विशाल, शान्त प्रवाहिनी,

---

१ 'भगत प्रभात (चण्डीप्रसाद हृदयेश') (प्रथम प्रकाशन १९२५ ई०) परिच्छेद २०, पृ० ३२२। (चिरजीव पुस्तकालय बेलनगंज आगरा के सौजन्य से प्राप्त) (प्र० चाँद कार्यालय, प्रयाग, १९५५ ई०)।

२ वही, परिच्छेद २०, पृष्ठ ३३३।

भागीरथी, असीम और अन त प्रेम से, धीर प्रकृति, अगाध समुद्र की ओर, बह रही थी। अपरिसीम अन्धकार मे, एक ओर, प्रशस्त वालुका तट, कुछ कुछ देख पडता था।[1]

महाकवि श्री जयशकर 'प्रसाद' रचित तीनो ही उपन्यासो अर्थात् 'तितली', 'ककाल', और 'इरावती' मे श्रेष्ठ एव कलाभिराम वणन, बहुसख्यक हैं। उनका अन्तिम उपन्यास 'इरावती', भले ही अधूरा रह गया फिर भी उसके वणन विशेषतया चाक्षुष और सगति हैं। उसमे महाकाल को आरती का वणन पढते ही बनता है। उनका 'ककाल' उपन्यास भी एक वणन प्रधान कृति है। इसकी पृष्ठभूमि तीथस्थान हैं। उपन्यास म हरिद्वार, काशी, प्रयाग आदि तीथस्थानो के विशद वणन पाए जाते हैं। उपन्यास का सारा घटना चक्र, एक प्रकार से इन्ही तीथस्थानो के चारो ओर ही प्रवर्तित होता है। (अध्याय १, पृष्ठ ९ १० पर गगातट का वणन है। अध्याय १ पृष्ठ १५, खण्ड १ में भी हरिद्वार के गगातट का वणन है।) ये सभी वणन, प्रसगानुकूल शब्द चयन शैली मे आलेखित हैं।

महान पयटन प्रधान इतिवृत्तात्मक उपन्यासा के रचयिता स्व० श्री राहुल सांकृत्यायन की अनेकानेक औपन्यासिक कृतिया, हिन्दी साहित्य मे पयटन कथा शैली के एक अभिनव कलाभिराम रूप का प्रवत्तन करती हैं। उदाहरणाथ 'जय यौधेय' (१९४४ ई०) के अध्याय ७ पृष्ठ ८२ पर, हिमालय और उत्सव सकेत सम्बन्धी वणन, एक अनुभवी एव वणन प्रतिभ यात्री की लेखनी से लिखे गए हैं —

हिमालय के चरणो मे, दूर तक फले हुए घने जगल मे, व्याघ्र, गज, गडा, आदि बहुत तरह के जन्तु रहते हैं। कितने ही दिनो की यात्रा के बाद, हम सपा दलक्ष (शिवालिक) पवत श्रेणी की छोटी छोटी पहाडिया को पार करते हिमालय के चरण म, अवस्थित कलनिका (कालसी) नगरी म पहुँचे। आजकल नगरी मे, आदमियों की बडी भीड थी। पचाल, अन्तर्वेदी, यौधेय सुघ्न ही नही—दूर दूर के साथ वाह—अपने घोडा खच्चरो, बलो को लेकर, वहाँ पहुँचे थे। हिमालय के दुगम स्थानों से, बहुत से पवतीय, भेडा बकरिया पर सामान लादे, वहाँ आये थे। पवतियों की पोशाक अधिकतर ऊनी थी, जो कुछ कुछ शको के कचुक और सुत्थन से मिलती थी। कोई काई, बिना सिले कबल को ही, कन्धे पर, लाहे की कील से बाँध कर,

---

१ 'माधवी कक्कण'—श्री रमेशचन्द्र दत्त (रचनाकाल सन् १८७७ ई०) हिन्दी रूपान्तरकार श्री गोपालराम गहमरी, प्रथम सस्करण १९१२ ई०, (प्रकाशक खेमराज श्रीकृष्णदास, वेङ्कटेश्वर स्टीम मुद्रणालय, बम्बई) परिच्छेद ७, पृष्ठ ५६।

पहिने हुए थे। स्त्रियाँ भी ऊनी साड़ी पहने थी। लेकिन साड़ी नहीं, बल्कि गात्री के तौर पर, और जिसे दाहिने कन्धे पर, लोहे की कील से बाँध कर, सभाला गया था। खलतिका यमुना के दक्षिण तट पर बसी है। वहीं वह पहाड़ से नीचे उतरती है। इसे 'यमुना द्वार' कह सकते हैं। यमुना तट पर ही जरा सा ऊपर, एक शिला है, जिस पर अशोक के लेख खुदे हुए हैं। जान पड़ता है खलतिका चिरकाल से, हिमालय का एक अच्छा व्यापारिक केन्द्र रही है। हाँ रास्ता कठिन है। उजबक है। बकरी और भेड़ के लिए ही यह रास्ता सुगम है। पर्वतीय भी इन दुगम रास्तों पर, बकरी की भाँति, खट खट चढ जाते हैं। लेकिन वहाँ, हिंस्र जन्तुओं का अधिक भय नहीं है। चार पाँच दिन ऊपर चढ़ने के बाद ही ग्रीष्म की ताप खतम हो जाती है और फिर जाड़ों जैसा आनन्द आने लगता है।[1]

प्रादेशिक भारतीय भाषाओं तथा हिन्दी के उपन्यासों में स्थान प्रकृति-व्यापादि वर्णनों में, स्थानिक रंगरूप के हल्के अन्तर को छोड़कर, एक समान जनमन रंजनकारी रमणीय वाङमय की रंजनाभिराम अभिव्यञ्जन है और इसीलिये उनमें आए हुए वर्णन स्थल भी बहुत कुछ समान से जान पड़ते हैं। उदाहरणार्थ श्री ताराशंकर वंद्योपाध्याय के उपन्यास 'धातृ देवता' (१९३९ ई०) में जिस धरती की ममता को दरसाया गया है वैसी ही भावना गहन धरित्री का अनुराग हम हिन्दी उपन्यासकारों, विशेषतया प्रेमचन्द रेणु' और 'नागार्जुन के उपन्यासों —(गोदान', 'परती परिकथा', 'बलचनमा आदि) में मिलता है। भारत की विभिन्न भाषाओं के उपन्यासों में वर्षा के होने, न होने की चिन्ता आदि कृषक समस्यायें सर्वत्र ही समान ही पाई जाती हैं।

कृषक-परिवार को अपनी कथा का आधार बना कर, कुछ भारतीय उपन्यासकारों ने श्रेष्ठ उपन्यासों की रचना की है। श्री कालिन्दीचरण पाणिग्राही ने अपने उत्तम उड़िया उपन्यास माटीर माणिष' तथा श्री प्रेमचन्द ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'गोदान' की रचना कृषक परिवार की घरेलू विषमताओं को आधार बना कर ही की है। दोनों ही उपन्यासों में, बड़े भाई अपने छोटे भाई के लिए घरबार मान प्रतिष्ठा छोड़ देते हैं और अपने छोटे भाई की रक्षा, हर प्रकार से करते हैं।

भारतीय उपन्यास साहित्य में आंचलिक उपन्यास' का उद्भव और विकास, प्रायः सभी प्रदेशों में, स्वाधीनता की प्राप्ति के आसपास के काल में ही हुआ है।

---

१ जय यौधेय' (राहुल सांकृत्यायन) अध्याय ७, 'हिमालय और उत्सव सकेत', पृष्ठ ७८-८०।

इन सभी में ही, धरती की ममता—तथा ग्रामीण जीवन के सामूहिक चिंतन को ही, कथा का मुख्य आधार बनाया गया है। श्री फणीश्वरनाथ 'रेणु' के उपन्यास 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा', कन्नड भाषा के उपन्यास 'मरळि मण्णिगे' (शिवराम कारन्त) और गुजराती भाषा के उपन्यास 'मलेला जीव' (श्री पन्नालाल पटेल), सभी की अन्तर्चेतना यही धरती ममता और जनजीवन की सामूहिक चिन्ता रही है। इसीलिये समस्त भारत की भाषाओं के उपन्यास, प्रादेशिक विशिष्टताओं की विभिन्नताओं के होते हुए भी, एक समान अन्तर्चेतना के सूत्र में, पिरे हुए हैं।

माणिक बंद्योपाध्याय के उपन्यास 'पद्मानदीर माझी' की प्रेरणा को, श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने अपने 'ब्रह्मपुत्र' की प्रस्तावना में साभार स्वीकार किया है। दोनों ही उपन्यासों की पृष्ठभूमि अर्थात् वर्ण्य स्थल या वर्ण्यवस्तु बंगाल-असम के खेत और नदी-नाले बाढ़ और वर्षा आदि हैं। हमारे हिंदी भाषा के उपन्यासकार भी, जब उन प्रदेशों में पहुँच जाते हैं तो उनके वर्णन भी, लगभग वैसे ही हो जाते हैं, जैसे उस प्रदेश के रहने वाले उपन्यासकारों के उपन्यासों में वर्णित शब्द चित्र। उदाहरणार्थ श्री उदयशंकर भट्ट जब बम्बई के मछुआरों की बस्ती में गए और उन्होंने जब वहाँ के जनजीवन का चित्रण किया तो उनकी वर्णन शैली ने प्रायः वैसा ही रूप धारण किया जैसा कि (कर्नाटक की एक सागर-तटवर्ती बस्ती का) श्रेष्ठ कन्नड उपन्यासकार—एम० एस० पुट्टण्ण की प्रसिद्ध कृति 'माडिद उण्णो महराया' (१६१५ ई०) में पाया जाता है। वही मछलियों की तीव्र गन्ध, श्री उदयशंकर भट्ट-कृत 'सागर लहरें मनुष्य' नामक हिंदी उपन्यास में है और उसी मत्स्यगंध का वातावरण, कन्नड उपन्यास 'माडिद उण्णो महराया' में शब्दायित किया गया है। मत्स्य-जीवियों का रहन सहन प्रायः सारे भारत में, समान सा ही पाया जाता है।

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत उपन्यासों ('बाणभट्ट की आत्मकथा' तथा 'चारु चन्द्रलेख') में लगभग सभी प्रकार के कलापूर्ण वर्णन पाए जाते हैं जो वर्णन-कला की दृष्टि से उच्चकोटि के हैं। ये दोनों ही अखिल भारतीय पृष्ठभूमि पर रचे गए महान उपन्यास हैं। 'बाण भट्ट की आत्मकथा' में, राजप्रासाद वर्णन, राजमार्ग-वर्णन, सौरभ ह्रद वर्णन (तुलनीय बाण भट्ट कृत अच्छोद सरोवर वर्णन) सभी वर्णन कुशल कलाकार की तूलिका से चित्रित हैं। 'चारु चन्द्रलेख' में स्थान-वर्णन, प्रकृति-वर्णन, आदि बड़े ललित बन पड़े हैं।

भारतीय उपन्यास-साहित्य के आदिकाल—अर्थात् संस्कृत उपन्यास साहित्य के महान कथाकारों ने भी हिमालय के हिममण्डित शिखर एवं भारतभूमि में यत्र तत्र पाए जाने वाले महासरोवरों (झीलों आदि जलाशयों) का भव्य एवं महत्कल्पना प्रेरित, कलाभिराम वर्णन किया है। इसी भाँति हमारे नूतन उपन्यासकारों का ध्यान

गों हिमाचल प्रदेश तथा काश्मीर आदि प्रकृति रम्य प्रदेशों के वर्णन की ओर गया है। सन् १९६० ई० में डा० देवराज ने अपने यात्रा प्रधान उपन्यास 'अजय की डायरी' में, काश्मीर की एक झील और एक हिम प्रपात का बड़ा ही चाक्षुष एवं भाव सम्पत्ति मय वर्णन किया है। प्रस्तुत वर्णन कलाभिराम वर्णनों के प्रसंग की परिसमाप्ति में, वह भी उल्लेखनीय है —

'मैं झील के भीतर झाँक रहा हूँ। निर्मल, पारदर्शी जल की लहरदार चादर में, झील का विस्तृत अन्तराल साफ दिखाई दे रहा है। इस अन्तरप्रदेश में, पानी के सम्पूर्ण विस्तार में, काफी गहराई तक, हरी हरी, बारीक, रेशे जैसी पत्तियों वाली, किसी घासनुमा वनस्पति के असंख्य पौधे, नीचे से ऊपर, लम्बे फैले पड़े हैं। यह वनस्पति क्या है? यह प्रकृति की अतर्कित सृष्टि है, या किसी जलमाली की सचेत कला का उपहार,[1] उसकी इस विस्तृत लुभावनी फसल को आकस्मिक मानना, कठिन जान पड़ रहा है। उसे देखना उसकी गहरी, सघन, नरम हरीतिमा में आँखें गड़ाना, कितना प्रिय लगता है! जान पड़ता है उसकी शीतल गम्भीर सुषमा, आंखों की राह से, मस्तिष्क में घुस कर, ज्ञान और संवेदना के समस्त तन्तुओं को, नई विश्रान्ति दे रही है। जी होता है इस आर्द्र हरियाली के मुलायम, मखमली बिस्तर में, थके मस्तिष्क की सारी चिन्तन क्रिया का स्थगित करके, अर्ध-बेहोशी की नींद में, सुला दिया जाय।'[1]

'हमारे पहुँचने पर पाण्डे ने उत्साह से उंगली का संकेत करते हुए कहा— "देखिए, अजयजी! वही ग्लेशियर है! आगे बढ़ने पर और अच्छा दिखाई देगा।" हमारे दाहिनी ओर एक लम्बा मैदान और नदी के पार ग्लेशियर का दृश्य था। सफेद बर्फ की चौड़ी साधारण नदी के पाट के आकार की पटरी, नीले आकाश से नीचे की ओर, फैलती दिखाई दे रही थी। आकाश के पास की ऊंचाई पर, बर्फ स्वच्छ कांच की पटरी जैसा दीख रहा था। यहां हिम में वैसा कटाव नहीं था, जैसा गुलमर्ग में दिखाई दिया था। नीलाकाश में तिरते दो तीन अभ्र खण्ड, हिम की पाटी से सटकर, एकाकार हो रहे थे! कहीं-कहीं दूर से आने वाली सूर्य की किरणें, बर्फ की सतह को पिघली रजत की छटा से मण्डित कर रही थीं। नीचे ढलान पर प्रसरित हिम पाटी में चमक नहीं था। वहां अपरूप धवलता का विस्तार मात्र था, अपनी गहनता में स्थिर और शान्त, जिसमें लीन होकर दृष्टि चेतना, अतल गहराइयों में डूबा जाय। कौन कहता है कि सौन्दर्य, मात्र भ्रम या छलावा है? द्रष्टा की चेतना का कृत्रिम प्रक्षेप?'[2]

---

१ अजय की डायरी (डॉ० देवराज), पृष्ठ १०६ (प्र० प्रकाशन १९६० ई०) (प्रकाशक—राजपाल एण्ड संस, दिल्ली)।

२. वही, पृष्ठ १६२।

इस समग्र तुलनात्मक वर्णन विवेचन के पश्चात् हम अन्तत इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वर्णनकला के विविध कलात्मक पक्षों का विकास करने में, भारतीय उपन्यास-साहित्य ने, वर्णनकला की चरम सीमाओं को छूआ है। विश्व का कोई भी उपन्यास-साहित्य, इतना कलापरक, इतना विविध, इतना संस्कारयुक्त एवं इतना रमणीय नहीं है, जितना कि भारतभूमि का, वर्णन वैभव से विभूषित उपन्यास साहित्य। जिन गिने चुने प्रतिभाशाली उपन्यासकारों की वर्णनात्मक प्रतिभा का यहाँ, एक संक्षिप्त परिचय-मात्र कराया जा सका है, उनके अतिरिक्त भी न जाने कितने अन्य उत्तम उपन्यासकारों ने, भारतीय उपन्यास भंडार को, अपनी उत्तम कृतियों से समृद्ध बनाया है। वस्तुत हमारा समग्र भारतीय साहित्य ही, हमारी राष्ट्रीय भावात्मक एकता का सबसे प्रबल प्रमाण है और उपन्यास विधा में तो इस सत्य को सर्वाधिक अभिव्यंजना मिली है।

७

भारतीय तथा हिन्दी उपन्यासो में पात्र-योजना

कहानी या कथा का प्रारम्भ किस भाँति होता है ? एक था राजा—या एक थी राजकुमारी—या एक था राजकुमार। उपन्यास भी मूलत कहानी ही है—किन्ही सत्य अथवा कल्पित व्यक्तियो की राम कहानी, इतिकथा आत्मकथा, उपकथा अथवा वृत्तान्त। यदि उपन्यास किसी की कहानी न हो तो उसमे सुनने वाले या पढ़ने वाले को, क्या रस आयेगा ? अत कुशल उपन्यासकार उपन्यास मे अवतरित होने वाले पात्रो अथवा पात्राओ को एक सशात्मक एव प्रतीयमान व्यक्तित्व' प्रदान करता है उपन्यास के पाठक का समग्र ध्यान, एक ऐसे केन्द्र बिन्दु पर ही टिक सकता है। जिसके चारो ओर उपन्यास का महावितान, बुना जाता है। अभी तक हमने उस 'महावितान' का ही विश्लेषण किया है—अब उसके केन्द्रीय आकर्षण बिन्दु की ओर भी ध्यान देना समीचीन होगा।

देखना यह होगा कि सिद्धहस्त उपन्यासकार किस भाँति, अपने पाठको का ध्यान, सब से पहले किसी केन्द्र बिन्दु पर टिकाना चाहते हैं। हर उपन्यासकार का इस बारे म, दृष्टिकोण अलग अलग है। उदाहरणाथ हिन्दी उपन्यास क प्रथम पुरस्कर्ता सयद इशाअल्लाह खा ने अपने उपन्यास का प्रारम्भ, राजकुमार उदैभान के रूपवणन से यो प्रारम्भ किया था—'किसी देश म, किसी राजा के घर एक बेटा था। उसे, उसके मा बाप और सब घर क लोग 'कुवर उदैभान करके पुकारते थे। सचमुच उसके जीवन की जोत मे, सूरज की एक सोत आ मिली थी।''[1]

प्रथम सस्कृत उपन्यास वासवदत्ता' के रचयिता सुबन्धु ने अपने उपन्यास का प्रारम्भ सीधे राजकुमार या राजकुमारी के प्रसग से नही किया किन्तु मगलाचरण के रूप म आद्य श्लोको क छ पृष्ठो के पश्चात वे अपनी कहानी कहने मे यों

---

१ 'उदभान चरित' या 'रानी केतकी की कहानी' (इशा अल्लाह खा) पृ० ३।

प्रवृत्त हुए "राजा का नाम था चिन्तामणि। वह सभी राजोचित गुणो से युक्त था। शासनकाल सभी भाँति सुखद एव समृद्ध था। प्रजा निरापद थी। न्याय आदर्श था। राजा म सभी दिव्य गुण पाए जाते थे और उसे 'सुदक्षिणा' नामक अपूर्व रूपशील सम्पन्न महारानी प्राप्त हुई थी। उसी ने 'कन्दपकेतु' नामक पुत्र रत्न को जन्म दिया।"[1]

सुबन्धु की वणन-क्ला खूब ऊहापोह से युक्त है और इसी कारण उन्हे राजकुमार कन्दपकेतु के रूपवणन तक पहुँचने मे, थोडा विलम्ब अवश्य हुआ। किन्तु प्रथम अवसर मिलते ही, उपन्यासकार ने अपने कथानायक 'कन्दपकेतु' का रूपवणन, इतने उत्साहयुक्त ऊहापोह से किया कि बडी कठिनाई से, दस ग्यारह पृष्ठ की प्रशस्ति के पश्चात् लौटकर अपने कथा-सूत्र को वे फिर सवार पाये।[2] यह विचित्र साम्य है कि प्रथम सस्कृत उपन्यास 'वासवदत्ता' (रचना तिथि ४७० ई०) तथा सवप्रथम हिन्दी उपन्यास 'उदमान चरित' (रचना तिथि १८०१ ई०) के बीच, तेरह शतियो का अन्तर होने पर भी, कहानी का प्रारम्भ, दोनो ही रम्य कथाओ (रामासो) म, रूपवान एव शीलवान राजकुमार से ही किया गया है। अन्तर है केवल उपन्यास विधा के विकास स्तर का। 'वासवदत्ता' प्रथम सस्कृत 'गद्य महाकाव्य' है अत उस पर परम्परागत पद्य महाकाव्य का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव (प्रस्तावना एव प्रशस्ति के ऊहापोह आदि से) प्रगट है। सुबन्धु को अपने कथानायक कन्दपकेतु के रूपवणन तक पहुँचने मे पूरे २० पृष्ठ लग गए जबकि 'इशा' को अपने नायक राजकुमार के रूपवणन तक पहुँचने म कठिनाई से २० शब्द ही लगे होगे।

सुबन्धु को अपने कथानायक को शानदार बनाने के लिए उसके महान माता पिता का गुणानुवाद भी करना पडा किन्तु 'इशा' को (किसी भी समथ एव आत्म विश्वासी उपन्यासकार की भाँति) अपने कथानायक का परिचय कराने मे रचमात्र भी सकोच नही हुआ। यहाँ तक कि उसने राजा राजप्रासाद या राजधानी आदि का भी नाम लेने की जरूरत नही समझी। कारण यह था कि इशा जनता के कथाकार-उपन्यासकार थे, जब कि सुबन्धु को, पण्डित जनसमाज के शिष्टाचार की चिन्ता थी।

इधर इशा के उदमान चरित की रचना के १६२ वष पश्चात एक अन्य श्रेष्ठ एव सिद्धहस्त हिन्दी उपन्यासकार, श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने द्वितीय गद्यकाव्योपम वहद् उपन्यास चारु चन्द्रलेख का प्रारम्भ प्रथम पुरुष एकवचन मे कराया है। कथा का कहने वाला कथानायक स्वय ही है किन्तु है वह अजीब रहस्यमय व्यक्ति जो अपने श्रोताओ अथवा दशको की ओर माना पीठ करके खडा है।

---

१. वासवदत्ता (सुबन्धु) पृष्ठ ७।
२ वही, पृ० २१ ३१।

मानो वह एक लम्बे स्वगत भाषण में आत्ममग्न है विचारमग्न है, और चिन्तामग्न है। तत्कालीन राष्ट्रीय सकट की भी सूचना उसी की बातो से मिलती है और वह उसी सोच विचार मे डूबा जान पडता है। पाठक उससे परिचय पूछना चाहते हैं पर वह इधर मुँह करे तब न! न वह अन्त तक अपना नाम बताता है और न कोई उसका परिचय ही कराने आता है।

'चारु चन्द्रलेख' उपन्यास के कथानायक के पर्याप्त लम्बे स्वगत भाषण सुन लेने के पश्चात् यह मालूम हुआ कि वह सीदी मौला नामक किसी पहुँचे हुए सिद्ध योगी या फकीर की खोज मे निकला है। मार्ग म उसे कोई विचित्र वेशधारी साधु भी मिला। सम्भवतया वे ही सीदी मौला थे। पर राजा घोडा दौडाता हुआ उस गाँव मे आ पहुँचा, जहाँ कि, उसने सुना था कि सीदी मौला किसी शिवमन्दिर मे टिके थे। किन्तु वहाँ पहुँचने पर जब राजा को ज्ञात हुआ कि वे कहीं और चले गए तो वह खिन्न होकर, मन्दिर के निकट ही बरगद के पेड के नीचे विश्राम करने लगा और चिन्तामग्न अवस्था म ही उसकी आखें लग गइ। सपने में उसे किसी केशवाले तपस्वी ने प्रकट होकर कहा—'राजन! देरी हो रही है। निद्रा मे समय न गवाओ! सीधे पश्चिम को घोडा दौडाओ! सीदी मौला नही, सीदी (सिद्धि) मिलेगी।

राजा उठ खडा हुआ और घोडे पर सवार होकर सीधा पश्चिम दिशा मे चल पडा। माग म उसे एक लुभावना मृगछौना दिखाई दिया। उसी का पीछा करते करते वह बहुत दूर निकल गया। अ त म उसने देखा कि मृगछौना लाल पल्लवो वाली लता मे उलझ कर, भहरा कर गिर पडा है और तब आगे बढ कर राजा ने जो दृश्य देखा वह अति विस्मयजनक था —

'धिक्कार है! ऐ सातवाहन! तुम्हारे विष दग्ध बाण क्या ऐसे कोमल मृग छौना के लिए ही हैं? यही क्या वीरता है? किसी ने इन शब्दो मे उसे बहुत ही कोमल, दृप्त कण्ठ स डाटा।'

एक क्षण के लिए मैं यह क्या देख रहा हू! जिसे मैंने लाल पल्लवो वाली लता समझा था वस्तुत वह एक अपूव सुन्दरी देवबाला थी। उसके कौसुमी वस्त्रो को देख कर मुझे लाल किसलया का भ्रम हो गया था। उसके एक हाथ मे थाली दूसरे मे भ गार। मगछौना उसकी साडी मे मुँह छिपा कर सो गया था मुझे रच मात्र भी सन्देह नही रहा कि यह कोई वन देवी है।

ऐसा जान पडा कि उस युवती के मन मे मेरे प्रति जो विरूप भाव था, वह कम हो गया। उसकी तनी हुई भकुटियो मे सरलता आ गई। वह कुछ आश्वस्त हुई। मैंने उसे ध्यान से देखा। क्या देखा? कस्तूरी के समान काले केश अगुलियो के प्रयत्न के अभाव मे कुछ अस्त व्यस्त से उलझे हुए थे और उन पर सफेद जगली फूल अटक गए थे। इन फूलो को झाड कर हटा देने का प्रयास नही था। ऐसा जान

पड़ता था कि दूध का कोई कटोरा रखा हुआ है, जिसे पीने के लिये सकड़ों विषधर नाग, परस्पर एक दूसरे को दबा कर, आगे बढ़ जाने के प्रयास में लगे हुए हैं। इन केशों में एक विचित्र प्रकार की लहरदार गति थी, जो विषधर भुजंगों की जहरीली लहर के समान दिखाई दे रही थी। एक क्षण के लिये मन में आया कि मेरा मन क्या इसी विष के प्रभाव से लहरा उठा है। उन केशों के भीतर से सफेद माँग की लकीर साफ साफ दिखाई दे रही थी। ऐसा लगता था कि किसी ने अंधेरी रात में राजमार्ग पर, दिया जला कर उसे उद्भासित कर रखा है। अभी भी उसे सिंदूर, का स्पर्श प्राप्त नहीं हुआ था। काले केशों के भीतर वह कुछ इस प्रकार जगमगा रही थी, मानो कसौटी पर कंचन की रेखा हो। घने काले मेघों के बीच, बिजली की तरह प्रकाशित होकर, यह माँग दर्शक को, कुछ नया देखने का अवसर देता था। क्या इस बारह बानी सोने के लिये, किसी सुहाग की अपेक्षा है? द्वितीया के चन्द्रमा के समान चमकते हुए ललाट पर यह मनोहर सीमंत रखा, ऐसी सजी हुई थी मानो किसी अदृश्य देवता ने, फूलों के धनुष पर बाण चढ़ा रखा हो!'

'नीचे भौंहें ऐसी लग रही थी मानो दो प्रतिभटों के काले धनुष हों। यह क्या कोई दो प्रतिद्वन्द्वियों का युद्ध है? या ये उन बड़ी बड़ी आंखों की रक्षा के लिये बने हैं जो भाव के समुद्र की भांति उथल रहे हैं। ये आखें मुँहजोर घोड़ों की तरह बाग नहीं मानतीं और उछल कर आकाश की ओर जाना चाहती हैं। मैंने सुना है कि विधाता ने आंखों की रचना बाह्य वस्तुओं को देखने के लिये की है। परन्तु यहां क्या देख रहा हूँ? ऐसा जान पड़ता है कि इन आंखों का उद्देश्य कुछ और भी है। इनके कोनों से एक अद्भुत द्रावक प्रभा क्षरित हो रही है जिसके किंचित स्पर्शमात्र से ही मेरा सारा हृदय गल कर और ढरक कर उनके पास बिछ जाना चाहता है। आखें मैंने बहुत देखी हैं, पर इस प्रकार का आकर्षण मैंने नहीं देखा। इसके प्रत्येक कटाक्ष से दिशाएँ बिद्ध होती हैं और चराचर जगत खिंच कर सिमट आता है। इन आंखों के घूमने से, सारा दिकचक्रवाल घूम जाता है। यह क्या मेरे मन का विकार है या सचमुच ऐसा हो रहा है? आंखें मेरे पास भी हैं लेकिन वे तो जैसे इन बरौनियों में धंस गई हैं और उनकी क्रिया शक्ति लुप्त हो गई है। वे और कुछ देखना ही नहीं चाहतीं और देखना चाहें भी तो अन्यत्र जाने की उनकी शक्ति नष्ट हो गई है। मैं देर तक उन आंखों में उलझा रहा। मेरी वाणी रुद्ध हो गई थी और सोचने विचारने की शक्ति क्षीण हो गई थी। मैं केवल देखता रहा देखता रहा देखता रहा!

क्षण भर के लिए ऐसा जान पड़ा कि मेरा सारा अस्तित्व मूक की भांति स्तब्ध की भांति, नेत्र की भांति, इस अपूर्व रूप माधुरी में विलीन हो गया है।' जैसे संभल कर मैंने अपने को स्वस्थ बनाने का प्रयत्न किया। बड़े प्रयत्न से मैंने, अपनी

आँखें, उन आँखों पर से हटाई। वे भी झुकीं और ऐसा जान पड़ा कि एकदम धरती में गड़ गई, और मेरी आँखें मुँहजोर घोड़े की तरह लोक लाज की लगाम को तोड़ कर, फिर उसी रूप माधुरी पर आ गई।'

मैंने देखा कि फूल की तरह उसके लाल लाल कोमल अधरों पर, क्लान्ति की मलिनता आ गई है और नारंगी के समान मनोहर कपोलों पर स्वेद धारा बह रही है। उसके एक हाथ में चाँदी की थाली और दूसरे में चमकता हुआ भृंगार, ज्यों का त्यों पड़ा हुआ था, जैसे किसी निपुण शिल्पी की बनाई हुई सुवर्ण मूर्ति में, ये वस्तुएँ थमा दी गई हों। उसकी कुसुम्भी रंग की साड़ी के निचले प्रान्त में मुँह छिपा कर, वह मृग छौना तब भी शान्त, निस्पन्द सो रहा था।'[1]

यह है नाटकीय परिचय, 'चारु चन्द्रलेख' उपन्यास की नायिका चन्द्रलेखा का। बत्तीस लक्षणों वाली परमा सुन्दरी, सिद्धयोगिनी चन्द्रलेखा अर्थात् स्वयं सिद्ध रूपिणी देवी ने राजा (कथानायक) को इस भांति प्रथम दर्शन दिए हैं। यह उपन्यास का नाटकीय प्रारम्भ है और लेखक ने नाटककार की कला कुशलता से अपनी नायिका को, अकस्मात् ही पाठकों के समक्ष प्रकट करके, उन्हें अभिभूत कर डाला है। यह दृश्य प्रगटतः 'अभिज्ञान शाकुन्तल' से प्रेरित जान पड़ता है और यहाँ वर्णन शैली भी कालिदास जैसी ही है। हिन्दी उपन्यास ने इस भांति अपनी पात्र नियोजना का एक चक्र पूरा किया है। यह उपन्यास में नाटक का आरोप नहीं है—जैसा कि हमारे आद्य कालीन उपन्यासकार पं० किशोरीलाल गोस्वामी किया करते थे। यह नाटकीयता की उपन्यास रूप में सिद्धि है। और यह दुष्कर कार्य बड़ी हो अभूतपूर्व पात्र योजना एवं सूक्ष्मतर आकृति विधान पर निर्भर करता है। जिन्होंने 'चारुचन्द्र-लेख' उपन्यास के उक्त स्थल को, मूल ग्रन्थ में नहीं पढ़ा है, वे उसकी कलाभिरामता एवं रमणीयता की सम्पूर्ण अनुमिति नहीं कर पाएंगे। १७ से २८ पृष्ठ तक यहाँ विद्वान एवं सिद्ध हस्त उपन्यासकार ने (११ पृष्ठों में) कथानायिका का रूपवर्णन आकृति विधान एवं व्यक्तित्व निदर्शन सविवरण दिया है। उसके कुछ अतिकलापूर्ण वर्णन रम्य अवतरण ही यहाँ दिए जा सकते थे, जो इस रूप-वर्णन की यत्किञ्चित अनुमिति करा पाते हैं।

इस भांति वर्णन कला पटिष्ठ विद्वान एवं रससिद्ध उपन्यासकार ने अपने नायक द्वारा ही पहले पहल, अपनी अनिन्द्यसुन्दरी नायिका का रूप वर्णन करा दिया है। किन्तु फिर भी उसे जान पड़ा कि जिस महत्वाकांक्षी आयोजना के अनुसार उसने अपने उपन्यास का समारम्भ किया है उसके अनुरूप रूप वर्णन वह वस्तुतः अपनी नायिका 'चन्द्रलेखा' का नहीं कर पाया। अतः उसने उसी रूपवर्णन परिचय को

---

१ 'चारुचन्द्रलेख' (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) पृष्ठ ११ १८ (अध्याय १) राजकमल प्रकाशन दिल्ली, १९६३ ई०।

तापस (अथवा अन्य जन्म के 'नागार्जुन') के मुँह से एक बार फिर अग्रसर कराया है —

'तपस्वी के ललाट पर विस्मय की दीर्घ रेखा खिंच गई। बोला कौन कहता है देवि! तुम सामान्य कृषीवल किशोरिका हो? यह उन्नत ललाट, यह कुंचित केश राशि यह दक्षिणावर्त रोम राजि और यह तिलपुष्प के समान नासिका और घनी भृकुटियों के नीचे यह सघन अराल रेखा—ये तुम्हें सामान्य नारी नहीं रहने देंगी! तुममें रानी के सब लक्षण हैं। यह गंगा प्रवाह के समान सीमन्त रेखा, और किसी को भले ही धोखा दे ले, मुझे नहीं दे सकती। लेकिन तुम रानी से भी बड़ी होने के लिए पैदा हुई हो। शुभे! सिद्ध यामिनी के सभी लक्षण तुममें प्रकट हैं। एक बार हाथ तो दिखाना, देवि!

'चन्द्रलेखा ने हाथ बढ़ा दिया। तपस्वी ने उसका हाथ अपने करतल पर रख लिया और ध्यान से देखने लगा। उस समय चन्द्रलेखा किस प्रकार अपने को सम्हाल रही, यह उसके अन्तर्यामी के सिवा और किसी को मालूम नहीं। उसकी हथेली इस प्रकार द्रवित हो उठी जिस प्रकार चन्द्रमा के स्पर्श मात्र से चन्द्रकान्ता मणि, पसीज जाती है। उसके भीतर से मानो हजार हजार जन्मान्तर, अपनी सफलता की घोषणा करने के लिये उमड़ पड़े। तपस्वी उल्लास के साथ चिल्ला उठा—'स्वस्तिका और मत्स्य का यह युगपत्त सम्मिलन, अपूर्व योग है। शंख, कमल और व्यजन के चिह्न केवल भगवती विमला के हाथ में प्रकट हुए थे। आश्चर्य है देवि! यदि तुम रानी पद पर आसीन नहीं होती हो तो शास्त्र मिथ्या सिद्ध होंगे! फिर उसने चन्द्रलेखा की दोनों कलाइयों को हाथ में लेकर कहा, पद्मगर्भ के समान मणिबन्ध दुर्लभ लक्षण हैं। भविष्य में कौन जाने क्या घटने वाला है? पर लक्षण तुम्हें रानी ही नहीं, रानी से भी बड़ी बनाएँगे। तुम्हारे हाथ में अपूर्व योग है।'[1]

अन्त में विद्याधर भट्ट से यों कहला कर ही कथाकार ने विश्राम लिया है —
बेटा! अस्सी वर्ष के जीवन में, प्रथम बार, बत्तीस शुभ लक्षणों से समन्वित सौभाग्यवती नारी का दर्शन पा रहा हूँ।[2] ये बत्तीस शुभ लक्षण कौन कौन से हैं जो किसी भी उपन्यास की नायिका को या जीवन संग्राम की नायिका को एक आदर्श रमणी या अनिंद्य सुन्दरी बनाते हैं? आकृति निदान अथवा सामुद्रिक शास्त्र में इन प्रश्नों पर विशद विचार किया गया है। यह सम्भव नहीं है कि सभी शास्त्रों में वर्णित लक्षणों का समाधानयुक्त यहाँ विवरण दिया जा सके। फिर भी हमारे देश में जो लोक धारणाएँ हैं वे बड़ी पुरानी एवं सुदृढ़ ज्ञान परम्परा पर आधारित है। उनका मनोवैज्ञानिक एवं रमणीयता शास्त्र विषयक मूल्य भी कम नहीं है। उनमें एक है

---

१ चारु चन्द्रलेख (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी), अध्याय १ पृष्ठ २४-२५।
२ वही पृष्ठ २६।

नायिका म बत्तीस शुभ लक्षण पाए जाने वाली बात। उपन्यास मे, मन्त्री विद्याधर भट्ट, प्रसिद्ध दवन या ज्योतिषी भी हैं, उन्होंने चन्द्रलेखा को देखत ही सहसा निम्न श्लोक कहा था —

> तुरग नेत्रा नरदिन्दु-वक्त्रा बिम्बाधरा चन्दन गन्ध युक्ता,
> चेलांशुका पीनकुचा मनोज्ञा—श्यामा सदा कामदुघा विचित्राम् ।।[1]

इससे पूव भी तरुण तपस्वी द्वारा चन्द्रलेखा का हाथ देखा जाना और उसके मुख से उसके भावी सौभाग्य एव ऐश्वय के लक्षणो का विवरण कहलाना भी यहाँ साभिप्राय ही है। सक्षेप म—हमारे पूवजा की महान विद्वद्परम्परा ने नारी के महनीय सौन्दय की प्रशस्ति का, सामुद्रिक शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र काममूत्र आदि से लेकर, देवी स्तोत्रो एव आध्यात्म गीतो तक गाया है। अपने उपन्यास साहित्य म भी हमने पूरा प्रयत्न किया है कि हम नायिका की, सासारिक कलुष एव कल्मष से मुक्त आनन्दमयी छवि का चित्रण करें। यहाँ केवल इतना तथ्य विशेष स्मरणीय है कि विश्व के समग्र उपन्यास-साहित्य म, नारी के महनीय तथा महिमा मडित रूप का जसा निरूपण, भारतीय उपन्यास मे उपलब्ध है, वैसा अन्यत्र दुलभ ही नही अलभ्य भी है। रूप और गुणो को पृथक करके देखने के, हम भारतीय, अभ्यासी नही हैं।

पात्रो क उपन्यास की नियोजना में योगदान के सम्बन्ध मे प्रसगवश आकृति निदान एव मुखाकृति वणन के जितने भी उल्लेख आते हैं उन सभी के मूल मे मुख्य तया यही लोक धारणा है कि प्राय अच्छे विचारो एव भावनाओ वाले व्यक्ति अपनी मुखाकृति (चहरे मोहरे) और शारीरिक रूपरेखा म भी सुहावन और सुघर होते है। इस सम्बन्ध म आचाय रामचन्द्र शुक्ल न आनन्द की साधनावस्था' नामक निबन्ध म अपन विचारो को यो व्यक्त किया था —

'लोक हृदय, आकृति और गुण सौन्दय और सुशीलता एक ही अधिष्ठान म देखना चाहता है। इसी से 'यत्राकृति तत्रगुणा वसति, सामुद्रिक शास्त्र (आकृति निदान-सम्बन्धी शास्त्रीय ग्रन्थ) की पक्ति भी लोकोक्ति के रूप मे चल पडी।'[2]

आचाय शुक्ल ने ही इस प्रसग म श्रीहष की, नषधीय चरित मे कही हुई इस पक्तिद्वय को भी उदधृत किया है और आकृति और लोक हृदय अथवा लोक मानस वाली बात को पुन समर्थित किया है —

---

१ चारु चन्द्रलेख, पृष्ठ २८ ।

२ रस मीमासा (आचाय रामचन्द्र शुक्ल) सम्पादक प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (प्रकाशक काशी नागरी प्रचारिणी सभा) प्रथम प्रकाशन, १९४९, (द्वितीय सस्करण १९५४ ई०, पृष्ठ ६२ से।

'न तुला विषये तवाकृति, न वचो वर्त्मनि ते सुशीलता।
त्वत् उदाहरणा कुतो गुणा, इति सामुद्रिक सार मुद्रणा।'[1]

भीतरी और बाहरी सौन्दय (रूप सौन्दय और कम सौन्दय) के मेल की यह आदत—'धीरोदात्त नायक आदि के शास्त्रीय विवेचन प्रसग से भी बहुत पुरानी है और वह बिलकुल छूट भी नही सकती। यह हृदय की एक भीतरी वासना की तुष्टि के हेतु कला की रहस्यमयी प्ररणा है।'[2]

आचाय शुक्ल ने यहाँ, आकृति सम्बन्धी लोकधारणा तथा कला की कलाकार के हृदय मे सृजनात्मक प्रतिमा, तथा उसके रहस्य भरे स्फुरण के बीच, जो तारतम्य सम्बन्ध स्थापित किया है, वह निश्चय ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह आवश्यक नही कि लेखक, अपनी उपन्यास रचना मे, अपने पात्र पात्राओ पर कृत्रिम सौन्दय का आरोप, जानबूझ कर ही करना चाहता है। वस्तुत जब वह अपने चरित-नायक अथवा चरित-नायिका को, सुन्दर रूप रेखा मे अंकित करता है, तो उसके हृदय म, उसकी सहज कलात्मक उदभावना ही बलवती होती है और वह बिना जान-बूझे या कृत्रिम आरोप क ही, अपन पात्र पात्राओ को, रम्याकृति प्रदान करता चलता है।

आकृति निदान क सम्बन्ध म हमारे प्राचीन ग्रन्था मे अनेकानेक उल्लेख आए हैं जिनके अनुसार हमारे देश मे, सहस्त्रावधि वर्षो से यह विश्वास चला आ रहा है कि मानव क पार्थिव शारीरिक लक्षणो से, उसकी आतरिक मनोवृत्ति एव गुणशील का पता चल सकता है। अत हमारे उपन्यासकारो न आकृति निदान तथा सामुद्रिक शास्त्र की धारणाओ का भी यथासम्भव अपने उपन्यासा मे निर्वाह करन का प्रयत्न किया है। श्री प्रेमचन्द जस आदशवादी तथा यथाथवादी उपन्यासकार भी, विशेष रूप से इस बात का ध्यान रख कर ही अपने उपन्यासा के पात्रा का रेखाकन करते हैं।

अपने 'मुखाकृति विज्ञान' नामक ग्रन्थ के प्राक्कथन मे, प० कृष्णगोपाल तिवारी ने आदिकवि महर्षि वाल्मीकि की रामायण से उद्धरण देते हुए इस, शास्त्रगत आकृति एव चरित्र की सामजस्य सम्बन्धी अतिप्राचीन भारतीय मान्यता को सिद्ध किया है। राम ने (रावण-युद्ध क प्रसग म) अपन सुग्रीव आदि सहयोगियो को समझाते हुए, उन्हें विभीषण की ओर से आश्वस्त किया था —

---

१ 'नषधीय चरित' (श्रीहष) सग २ श्लोक ५।

२ रस मीमांसा (आचाय रामचन्द्र शुक्ल), ('आनन्द की साधनावस्था') पृष्ठ ६२।

३ 'मुखाकृति विज्ञान (प० कृष्णगोपाल तिवारी) [प्र० बवई बुक डिपो, कलकत्ता] (प्रथम प्रकाशन, १९५२ ई०) प्राक्कथन।

'चतुर लोग कण्ठस्वर भेद से वास्तविक भाव जान लेते हैं। विभीषण की बोली या वाणी द्वारा, कोई दुष्ट कल्पना व्यक्त नहीं होती। वह हसमुख है, इसलिए सन्देह से परे है ।'[1]

देवी सीता क मुख स, उ ही के सौभाग्य लक्षणो के बारे म, निम्न परिचय दिलाया गया है —

'मेरे केश, अत्यन्त सूक्ष्म या बारीक हैं और नीलवर्ण हैं। मेरी भौंह, दोनो बराबर झुकी हुई हैं। मेरे दांत विरल (नन्हे या कम दिखाई देने वाले) हैं। मेरे शरीर का वर्ण, मणिया के समान कान्तिमय है। शरीर के रोम सुकोमल हैं। मुस्कान मन्द है। अग-अग मृदु हैं।'[2]

इसी भाति 'मुखाकृति विनान कार ने विष्णुपुराण तथा अनक अन्य ग्रन्थो से, आकृति निदान के लक्षणों के समथन म, अनेकानेक उल्लेख किए हैं।

ज्योतिष शास्त्र के अनुसार भी, दवनो ने आकृति एव शुभाशुभ प्रभाव का तारतम्य बिठाने के सम्बन्ध म, कुछ सिद्धान्तो का निरूपण किया है। मानव व्यक्तित्व को, ज्योतिष विद्या विशारदो ने, बाह्य व्यक्तित्व एव आन्तरिक व्यक्तित्व, इन दो उपभेदा मे बाटा है। अर्थात मानव क जन्म लग्न एवं ग्रहस्थिति क अनुसार, उसके शरीर एव मन, शील एव चरित्र पर भी किसी न किसी रूप म प्रभाव पडता है ऐसी मान्यता है। इसीलिए उपन्यासा म बहुधा हमे इस भाँति के उल्लेख मिलते हैं कि अमुक व्यक्ति न जब जन्म लिया तो ग्रहो की स्थिति इतनी अनुकूल एव शुभकारी थी। दवनों ने भविष्यवाणी की थी कि बालक आगे चल कर चक्रवर्ती सम्राट बनेगा या बालिका, साम्राज्ञी पद पर विभूषित होगी आदि।

मानव व्यक्तित्व पर विभिन्न ग्रहा के प्रभाव का भी निरूपण, ज्योतिष शास्त्र म किया गया है—उदाहरणार्थ बाह्य व्यक्तित्व के प्रथम रूप विचार का प्रतीक, बृहस्पति है। वही शरीर सचार के लिए रक्त प्रदान भी करता है। बृहस्पति का प्रभाव, स्मृति, अनुभव, प्रत्यभिज्ञा आदि पर पडता है।

आत्मिक दृष्टि से बृहस्पति, मनोहर प्रकृति सौ दय प्रेम शान्ति भक्ति तथा व्यवस्था बुद्धि पर प्रभाव डालता है।

बाह्य व्यक्तित्व का दूसरा रूप मगल है। वह इन्द्रिय ज्ञान और आनन्देच्छा का

---

1 ...त स्वभाव गीत न पुण्यम पश्यतामृशम।
न त्वस्य ब्रुवत जातु लक्ष्यते दुष्ट भावना॥
प्रसन्नवदनम चापि ॥ —श्रीमद्वाल्मीकि रामायण

२ 'केशा सूक्ष्मा समानीला भ्रुवौ चा सहत मम।
मम वर्ण मणिनिभ मृदून्यङ्गरुहाणि च॥
मन्दस्मिति स्मेत्यव, द ताश्च विरला मम।—श्रीमद्वाल्मीकि रामायण

प्रतिनिधित्व करता है। आत्मिक दृष्टि से, वह साहस, बहादुरी, दृढता, आत्म विश्वास, क्रोध आदि विचारों का प्रतिनिधि माना जाता है।

बाह्य व्यक्तित्व के तीसरे रूप का प्रतीक, चन्द्रमा है। वह मानव शरीर पर, विभिन्न प्रभाव डालता है। मस्तिष्क में उत्पन्न होने वाले, परिवर्तनशील भावों का भी वह प्रतिनिधित्व करता है। आत्मिक दृष्टि से, वह संवेदन, आतरिक इच्छा, उतावलापन, भावना, कल्पना आदि प्रवृत्तियों पर प्रभाव डालता है।

इसी भांति आतरिक व्यक्तित्व पर, क्रमश शुक्र, बुध तथा सूर्य द्वारा भी, प्रभाव पड़ता है, ऐसी भी मान्यता है। शुक्र, निःस्वार्थ प्रेम एवं विश्व बन्धुत्व का प्रेरक है। बुध, स्मरण शक्ति, तथा सूर्य, पूर्ण देवत्व की चेतना का प्रतीक, माना गया है। रात्रि का प्रभाव अन्तःकरण पर पड़ता है, यह भी मान्यता है।[1] भारतीय उपन्यासों में, कथा-नायक अथवा कथा की प्रधान नायिका से सम्बद्ध विभिन्न प्रसंगों के साथ, नक्षत्रों, ग्रहों आदि की स्थिति का भी सम्बन्ध दिखाया जाता है और तदनुसार आने वाले घटना क्रम का प्रभावित होना भी दिखाया जाता है।

भारतीय उपन्यासों की एक बड़ी विशिष्टता यह है कि सभी महान उपन्यासों की प्रधान नायिकाओं को, प्रायः कृत्रिम साज-सज्जा से दूरी पर रख कर उन्हें सहज प्रकृति द्वारा ही रमणीय चित्रित किया गया है। प्रारम्भिक हिन्दी उपन्यास 'रानी केतकी की कहानी' से लेकर, अधुनातम हिन्दी उपन्यासों यथा 'पुनर्नवा' (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) तक में इस बात का निर्वाह किया गया है। इसी प्रकार, भारत की अन्य भाषाओं के उपन्यासों में भी बहुधा नायिका को, सादगी से ही चित्रित किया जाता है।

इसके विपरीत भारतेतर—विशेषतया पाश्चात्य उपन्यास साहित्य में, उपन्यासों के नायक तथा नायिकाएँ प्रायः दोहरे व्यक्तित्व वाले व्यक्ति दिखलाए जाते हैं। वहाँ शारीरिक रूप वर्णन को, आतरिक गुण शील के सौन्दर्य से समन्वित करना, आवश्यक नहीं माना जाता। इसके अतिरिक्त वहाँ नायक अथवा नायिका की बाह्य वेशभूषा तथा चाल ढाल पर, अधिक ध्यान दिया जाता है, जिसे अंग्रेजी भाषा में 'पर्सोनेलिटी' कहा जाता है। [यह शब्द मूलतः आंग्ल भाषा का न होकर लातीनी (परसाना) है।] पर्सोनेलिटी शब्द पर टिप्पणी करते हुए, जी० डब्ल्यू० आलपोर्ट ने अपने ग्रन्थ 'परसानेलिटी ए साइकॉलाजिकल इन्टरप्रिटेशन' के द्वितीय अध्याय में लिखा है —

प्रारम्भिक रूप में यह शब्द 'पर्सोना', यूनानी नाटकों में प्रयुक्त, 'बनावटी

---

[1] 'भारतीय ज्योतिष' (नेमीचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य) प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण १९५२ ई० [अध्याय, १ पृ० १९—२५।]

चेहरों के लिए प्रयुक्त होता था। इसका प्रचलन रोम के नाटकों के अभिनेता, ईसा से लगभग एक सदी पहले, किया करते थे।

आज भी पाश्चात्य जगत में, विशेषतया उपन्यास क्षेत्र में 'पर्सोनेलिटी' शब्द का प्रयोग, बहुधा उस प्रभाव के रूप में किया जाता है जो किसी व्यक्ति द्वारा उसके चारों ओर प्रसरित होता है। किन्तु सामाजिक व्यवहार हमारे उपन्यासों में आये हुए ऐसे प्रसंगों की परिसीमा नहीं मानी गई है जो मुख्य पात्राओं अथवा पात्रों के चरित्रों से सम्बन्ध रखते हैं। सामाजिक व्यवहार और व्यक्ति के निजी एवं सहज जीवन में, सुकर एवं सुघर तारतम्य ही हमारे नायक नायिकाओं के चरित्र चित्रण का वशिष्ट्य है।

व्यक्तिगत व्यवहार और समाजगत व्यवहार, हमारे यहां दो अथवा पृथक तत्व के रूप में, नहीं माने जाते। साजसज्जा बनावट, कृत्रिमता आदि को हमारे कलाकारों ने गौरव नहीं दिया। उन्होंने सदव सरल अकृत्रिम सौन्दर्य को ही प्रथम महत्व प्रदान किया है। कालिदास की प्रसिद्ध उक्ति को मानो हमारे सभी उपन्यासकारों ने पद पद पर, दुहराया है तथा उसे ही अपने समक्ष, एक आदर्श वाक्य की भांति सदव रखे रखा है— किमिव हि मधुराणाम मण्डनम ना कृतीनाम।[2] [अर्थात जिन्हें प्रकृति ने सहज माधुर्य प्रदान किया है उनके लिए भला मण्डन' की क्या आवश्यकता है ?]

कालिदास की उक्त सूक्ति तथा लोकमानस की इस धारणा को (कि प्राय, अच्छी आकृति वाले एवं अच्छे शारीरिक लक्षणों वाले पात्र अथवा पात्राएँ अपने गुण, शील में भी उच्चतर होते हैं) हमारे शब्द कोशों द्वारा भी समर्थन मिलता है यथा— श्री वामन शिवराम आप्टे द्वारा सपादित 'संस्कृत अंग्रेजी कोश की जिल्द प्रथम, पृष्ठ ३६० पर अथ सख्या दो और तीन में उक्त बात ही एक प्रकार से दोहराई गई है।[3] इसी भाँति सर मानियर विलियम्स द्वारा सपादित शब्दकोश (पृष्ठ १२७) में— ए वेल फामड दोप अर्थात् सुघर शरीर की पर्याय रूप ही आकृति को स्वीकार किया गया है।

---

१ पर्सोनेलिटी एपीयरेन्स एण्ड स्पीच (सी० एच० पीयर) अध्याय १, पृ० १२ (जॉज एलेन लन्दन, १६५७ ई०)

२ 'अभिज्ञान शाकुन्तलम कालिदास, अंक २, श्लोक २६

३ आकृति—फाम फिगर, शेप (आफ एनीथिंग)। २ बाडीली फॉम बाडी, एस० १ २० विकृनाकृति, घोर, सौम्य। ३ एप्पीयरेन्स—आफ्ट ए गुड आर नोबेल एप्पीयरेन्स गुड फाम।— संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, (वामन शिवराम आप्टे) (सपादक पी० के० गोडे तथा सी० जी० कर्वे) (प्रसाद प्रकाशन, पूना,) जिल्द १, (सन १६५७ ई०) पृष्ठ ३०७।

पात्र-योजना एव उनके रूप गुणशील का सम्यक विकास, इसीलिए भारतीय उपन्यास विधा की एक शीप महत्व वाली विशिष्टता रही है। उसे हमारे प्रत्येक उपन्यासकार एव कलाकार ने, अपनी निजी प्रतिष्ठा एव कलात्मक कसौटी का प्रश्न समझा है तथा उसकी नियोजना में उसने अपनी समग्र कलाभिरुचि, सस्कारशीलता, श्रुत एव अनुभूत जानकारी तथा शास्त्रज्ञान को समन्वित करने का, सतत एव मनो योगपूर्वक, प्रयत्न किया है। जब तक हम भारतीय उपन्यास की इस मौलिक एव निजी विशिष्टता को ध्यान मे रखे बिना, उसके पात्र पात्राओ की परिचायक वणन-नियोजना के, पाश्चात्य आलोचना पद्धति क अनुसार प्रतिपादन मे, प्रवृत्त रहेंगे, उत्कृष्ट उपन्यासकारों एव साधारण उपन्यास लेखकों की वणन कला के बीच विभेद करने का, हम अवसर ही नही मिल पायेगा और पात्र नियोजना गत भारतीय उपन्यासो की उत्कृष्ट वणनकला के साथ, कभी समुचित न्याय नही हो पायगा।

हमारे रससिद्ध उपन्यासकारो ने अपने उपन्यासो के नायक एव नायिकाओं के, अथवा कथा मे सहायक अन्य मुख्य पात्रो अथवा पात्राओ के रूपवणन तथा गुणशील निर्देशन के सम्बन्ध मे एक सुनिर्धारित सरणी का अनुसरण किया है जिसकी एक पर्याप्त आधुनिक आवृत्ति हमें 'चारु चन्द्रलेख' की मुख्य नायिका चन्द्रलेखा के रूप वणन म मिलती है। आचाय श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने चन्द्रलेखा की रूपछवि के चित्रण म उपमाओ एव अलकारो का भी जहाँ सहारा लिया है, उन्हे ध्यानपूवक देखने से पता चलता है कि वे उपमाओ के प्रयोग मे भी नूतन से नूतन उपमाओ की उदभावना करने म कितने पटु हैं तथा उनम से प्रत्येक उपमा एव अलकार का प्रयोग, उनकी नायिका के रूपकुल शील के किसी विशिष्ट पक्ष को व्यक्त करने के अभिप्राय से ही, किया गया है? वह कोई रीतिबद्ध, रूढ एव परम्परागत रूप वणन नही है यद्यपि शली मे वह ऊपरी तौर पर उससे कुछ मिलता-जुलता अवश्य जान पडता है। यही श्री द्विवेदीजी का निजी वणन कौशल है जो उनके पात्रों एव पात्राओं को हमारे सम्मुख, साकार एव चाक्षुप रूप मे प्रस्तुत करने के चमत्कार से समन्वित है।

भारतीय उपन्यासकारो की पात्र वणन नियोजना के मूल मे, उनकी शरीर की कलात्मक सुघरता तथा उस पर उसके मनोगत गुणशील की सूक्ष्म प्रतिक्रियाओं की असख्य एव पर्याप्त लहरियें, उठती मिटती जानपडती हैं। यह उनकी साहित्य साधना की सुदीघकालीन विविधरूप अनुभूतियो द्वारा, प्रेरित रहती हैं उनको, गहन मनोविचार शास्त्र आकृति निदान शास्त्र सामुद्रिक शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र, ज्योतिष गणना देवी देवताओ के स्तोत्र साहित्य के अनुशीलन तथा कामसूत्र के मनोवज्ञानिक आधारो आदि की सम्यक जानकारी से भी, सदव समथन प्राप्त होता रहा है।

भारतीय उपन्यासों की पात्र वर्णन योजना पर, उपर्युक्त सरणी को ध्यान में रख कर, यदि हम दृष्टिक्षेप करेंगे तो हमें, यह प्रतीति होने में विलम्ब न होगा, कि आकृति निदान सम्बन्धी प्रसग, हिन्दी उपन्यासों की प्रारम्भिक कृतियों से लेकर, आज तक की कृतियों मे, एक से एक अनूठे ढग के बन पडे हैं। भारतीय लोक धारणा के अनुसार, प्राय उपन्यास के नायक का रूप, सुन्दर और मनोहारी ही अंकित किया गया है। नायिकाओं का रूप भी तदनुरूप मनोहारी तथा उनका शील स्वभाव भी, मनोमुग्धकर होना ही चाहिए। नायक मे, रूप के साथ साथ, वीरत्व के भी गुण पाए जाने चाहियें। प्रेमचन्द पूर्वकाल के प्रारम्भिक हिन्दी उपन्यासों मे, आकृति निदान सम्बन्धी प्रसग, पर्याप्त ऊहापोहयुक्त तदपि कलापूर्ण पाए जाते हैं। उस समय तक हिन्दी उपन्यासकारों पर पाश्चात्य प्रभाव नही पडा था और वे अपने महाकाव्यों की धारणा और परम्परा का ही, बहुधा परिपालन करते थे। जो मान्यताएँ हमारे महाकाव्यों में पायी जाती थीं उन्हीं का, हमारे आधुनिक गद्य महाकाव्य, 'उपन्यास' में भी सहज रूप से विकास होता चला गया।

आद्य हिन्दी उपन्यासों में 'दृश्य' के नायक नायिका के रूप वर्णन की चर्चा की ही जा चुकी है। किन्तु भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत 'एक कहानी कुछ आपबीती कुछ जगबीती' मे 'दुष्ट पात्रों की रूपरेखा पर भी ध्यान दिया गया है। यथा— एक कुनबी का चित्र यों अंकित किया गया है— जात का कुनबी है, नाम हाली है नाटा खोटा, बडी भौंहे आदि आदि। (देखिये परिशिष्ट १)। इसी भांति चन्द्रकान्ता उपन्यास मे चपला नामक एक ऐयार महिला है जिसका रूपवर्णन और साजसज्जा वर्णन, उसी के अनुरूप किया गया है। उसको साधारण पात्राओं से विशिष्टता प्रदान करने के लिए, महाराष्ट्रीय वेश भूषा मे चित्रित किया है। इस भांति उसको, एक प्रकार से अधिक चतुर दिखाने की कोशिश की गयी है। (देखिये परिशिष्ट १)।

श्री किशोरीलाल गोस्वामी-कृत कुसुम कुमारी नामक उपन्यास की पात्र नियोजना पर दृष्टिक्षेप, भी इस प्रसग में रुचिकर होगा। उपन्यास के नायक बसन्त कुमार का रूपवर्णन, उसके गुण शील के अनुरूप है। उपन्यास के अन्य विशिष्ट उल्लेखनीय पात्र वर्णन हैं —कुसुम कुमारी के रूप वर्णन बसन्तकुमार की पत्नी, गुलाबदेई का रूप वर्णन। इसी भांति कुवरसिंह सेनापति (श्री गगाप्रसाद गुप्त) में कथानायक का रूपवर्णन दो महिलाओं का रूप वर्णन, जालिम डाकू का विकराल रूप वर्णन, आदि भी द्रष्टव्य हैं। (ये सभी वर्णन, परिशिष्ट १ मे दिये गये हैं।) एक प्रकार से इन सभी प्रारम्भिक हिन्दी उपन्यासों मे, नायक एवं नायिकाओं का रूपशील भारतीय महाकाव्यों एवं उपन्यासों की परम्परागत शैली मे ही आलेखित और चित्रित है। उन सभी मे 'आदर्श रूप' की रेखाएँ, अधिक उभर कर आई हैं।

आधुनिक युग मे ये मान्यताएँ कुछ बदल गई हैं। तदनुसार कोशगत परिभाषाओं मे भी कुछ परिवर्तन हुआ है। आधुनिकतम हिन्दी कोशों मे—यथा मानक हिन्दी कोष[1] में 'आकृति' तथा 'आकृति विज्ञान' इन दोनों पदो की, अलग अलग परिभाषाएँ दी गई हैं —

आकृति—स्त्री (सं० आ कृ + क्तिन्)

१ किसी वस्तु, व्यक्ति या ढाँचे का, निश्चित स्पष्ट तथा स्थिर रूप, जिससे उसकी पहचान होती है। २ उक्त के अनुसार किसी वस्तु या व्यक्ति का, अंकित या चित्रित किया हुआ रूप। ३ ज्यामिति मे, केवल रेखाओ की सहायता से, क्षेत्रो आदि के बनाए जाने वाले रूप ('फिगर' उक्त, सभी अर्थों म)। ४ भावभगी प्रकट करने वाली मुद्रा। ५ 'सवया' नामक छन्द का एक प्रकार, जिसके अनेक विभेद भी हैं।

आकृति विज्ञान—पु० (प० त०) मनुष्य की आकृति (उसके अगो की गठन तथा मुद्रा) के आधार पर उसकी प्रवृत्ति, स्वभाव, गुण दोष आदि बतलाने की विद्या (फ़िजियोनामी)।[1]

उपर्युक्त परिभाषा मे व्याख्या की हुई अधिकाश बातें ही, साधारणतया उपन्यासकार के मन म, अपने उपन्यास के पात्रो का चित्रालेखन करते समय रहा करती हैं। वह जिस पात्र को जसा काम जसा व्यवहार देना चाहता है वसी ही वह उसकी आकृति अंकित करता है, क्योंकि कहा जाता है कि मुँह को देख कर ही, मनुष्य की प्रवृत्ति को जाना जा सकता है। लोकधारणा मे भी बहुत सी लोकोक्तिया इस विषय से सम्बध रखने वाली प्रचलित हो गई हैं। जसे तुलसीदास कृत रामचरित मानस मे, कैकेई के मुँह से मन्थरा क प्रति कहलाया गया है— काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानि। ' इसी प्रकार साधारण बोलचाल की भाषा मे भी प्राय यह कहा जाता है कि जिस व्यक्ति का माथा छोटा हो वह बुद्धिहीन होता है जिसके पर बडे हों वह भी बेवकूफ होता है, जिसकी गदन बहुत छोटी (कोता गदन) हो वह बहुत चालाक होता है और विश्वसनीय नही है। य धारणाएँ लोकमानस मे घर कर चुकी हैं। इन्हीं धारणाओ के प्रतिरूप उपन्यासो मे आकृति निदान-सम्बन्धी वणन भी हमें यत्रतत्र मिलते हैं। आकृति निदान' शास्त्र म इस प्रसग मे कितनी ही आकृतिगत 'सुकृतियो अथवा विकृतियो की चर्चा की गई है। उसी को, सूक्तियो मे भी, अपना लिया गया है।

---

१ 'मानक हिन्दी कोश [पृष्ठ २४६, स्तम्भ १।]

दीप्ति, माधुर्य और कोमलता के नाना रूप यहाँ मिलते हैं—जो सौंदर्य की मादक अनुभूति प्रेमोल्लास, स्वप्न, स्मृति विस्मृति, व्रीडा क्रीडा, दर्शन पिपासा उत्कण्ठा, मुग्धता आदि की सूक्ष्म मानसिक संवेदनाओं में घुलमिल जाते हैं।'[1]

भारतीय उपन्यासकारों की पात्र वर्णनगत वर्णनकला उपलब्धियाँ, अत्यंत गरिमामयी एवं वैविध्यमयी हैं। 'संस्कृत उपन्यास साहित्य की संक्षिप्त रूपरेखा' में कुछ महान उपन्यासकारों की वर्णन प्रतिभा का परिचय कराया हो गया है। दण्डी ने दशकुमार चरित' में 'सोती हुई राजकुमारी' का विलक्षण रूप वर्णन किया है। बाण ने भी अपने पात्र पात्राओं के रूप वर्णन में, उनके द्वारा धारण की हुई वेश भूषा की बारीकियों का बड़े मनोयोगपूर्वक चित्रण किया है। उनकी प्रतिच्छवियाँ हमें अपनी पुरातन मूर्तिकला एवं चित्रकला के उत्कृष्ट उदाहरणों में आज भी उपलब्ध हैं। जिन रूपसियों की साजसज्जा का हम अजंता के चित्र फलकों अथवा खजुराहो के मूर्त्त शिल्पों में आज भी दर्शन करते हैं, उनके बाण और दण्डी ने साक्षात दर्शन किये थे और उन्होंने उनकी बारीकियों को भी हृदयंगम किया था। उसी की अभिव्यंजना हम, उनके उपन्यासों के पात्र पात्राओं के रूपवर्णन शब्द चित्रों में मिलती है।

दण्डी ने अपने दशकुमार चरित' में वेष भूषा और प्रसाधन सम्बन्धी परम्पराओं का सविस्तार विवरण दिया है। उनकी नायिकाओं के परिधानों का सूक्ष्म, चित्र विचित्र तथा रेशमी महीन कपड़ा, काशी का बना हुआ होता था। चीन के बने रेशमी कपड़ों की भी तत्कालीन भारत में काफी मांग थी। उसे 'चीनांशु' और चीनांशुक कहते थे। कोरे कपड़े (निष्प्रवाणि युगल) पहनने का भी रिवाज था। राजा, 'परिकर नामक कीमती कपड़े पहनते थे। स्त्रियाँ कभी-कभी नीलांशुक चूलिका' (यानी नीली मलमल की बनी चोली) पहनती थीं। स्त्रियों के गहनों कपड़ों और अन्य प्रसाधनों का भी सूक्ष्मतम विवरण हम दण्डी के उपन्यासों में मिलता है। गहनों में मणिनूपुर, कड़ा (कटक), ताटंक, हार, मानिक के टिकरे (रुचक) वाला सूत्र कुण्डल रत्नकणिका तथा कर्णावतंस इत्यादि अनेकानेक पुराने गहनों के नाम 'दशकुमार चरित में आए हैं। गालों पर की गई चित्रकारी को 'विशेषक' कहते थे। उसके लिखने की प्रथा भी पर्याप्त लोकप्रिय थी।[2]

बाण की कादम्बरी' तथा 'हर्ष चरित' दोनों में ही तत्कालीन पात्र-पात्राओं की वेशभूषा के बड़े ही सूक्ष्म विवरण वर्णन पाये जाते हैं। आज भी जब कभी हमारे

---

१ 'रसमीमांसा (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल), अध्याय २ उपविभाग 'माधुर्य पक्ष', पृष्ठ ८५।

२ दशकुमार चरित (दण्डी) आमुख (डा० मोतीचन्द्र) (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली)।

आधुनिक उपन्यासकार, पुरातन जीवन पर आधारित इतिवृत्तात्मक अथवा सांस्कृतिक उपन्यासों की रचना करते हैं तो उन्हें बाण और दण्डी द्वारा वर्णित, इन कलात्मक विवरणों का ही सहारा लेना पड़ता है। एक स्थल पर इसी सम्बन्ध में स्व० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा था —

वेशभूषा ही को लें—क्षौम और अंशुक में क्या अन्तर था ? अंशुक कितने प्रकार के होते थे ? रंगों की दृष्टि से नीलांशुक की जाली मुँह पर डाली जाती थी, नीलांशुक की चादर (प्रच्छद पट), पलंग को ढकने के काम आती थी। (कादम्बरी', पृष्ठ १८६, १६१), पाटल पट्टांशुक, अनुमरण करने वाली सती का, मंगल चिह्न माना जाता था। ('हर्ष चरित, पृष्ठ १६५) मन्दाकिनी के प्रवाह की भांति सितांशुक, व्रत पालने वाली स्त्रियों का वेश था। (ह०, पृ० ६०) इन्द्रायुध जाल वर्णांशुक (सतरंगी इन्द्रधनुष की छटावाला वस्त्र) (का०, पृ० १७६) उस समय, श्रेष्ठ माना जाता था जो बहुधा अजन्ता के चित्रों में मिलता है, जिसमें कई रंगों की पट्टियां डाल कर रंगाई की जाती थी। स्तनांशुक शिरोवगुण्ठन, मालती और चाण्डाल कन्या के वेष में वर्णित किया गया है। कुचांशुक (ह०, पृ० ११७) मुक्तांशुक (मोतियों का बना हुआ अंशुक (हर्षचरित पृष्ठ २४२), विसतन्तुमय अंशुक (ह०च० पृ० १०), सूक्ष्म विमल अंशुक (ह०च० पृष्ठ ६), मग्नांशुक (शरीर से सट कर डूबा हुआ सूक्ष्म रेशमी अंशुक), सुकुमार चीनांशुक (ह० च० पृ० ३६), तरंगित उत्तरीयांशुक (ह०च० पृ० १६३) आदि विभिन्न प्रकार के अंशुकों का अध्ययन, उत्तर गुप्तकालीन संस्कृति का उज्ज्वल चित्र उपस्थित करता है। इसी प्रकार पुरुषों की वेष भूषा स्त्री पुरुषों के आभूषण आदि के कितने ही अध्ययनों की सामग्री, बाण के ग्रन्थों में विद्यमान है।"[1]

आधुनिक संस्कृत उपन्यासकार पं० अम्बिकादत्त व्यास ने अपने 'शिवराज विजय उपन्यास के प्रातःस्मरणीय कथानायक वीर शिवाजी की रूपरेखा बड़ी ही सूक्ष्म व्यंजना शैली में चित्रित की है। परम्परा प्रभावित वर्णन शैली अपनाने पर भी यहां लेखक ने इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि शिवाजी का प्रामाणिक आकृति निदान, यथासंभव यथातथ्य रखा जाए और अत्युक्ति द्वारा वह, इतिवृत्त से भिन्न न होने दिया जाए।

उनकी (शिवाजी की) मूर्ति छोटे कद वाली होने पर भी पराक्रम में छोटी न थी। कृष्ण वर्ण होने पर भी उसने अपने यश से तीनों भुवनों को शुभ्र कर दिया था। वह कुशासनाश्रय होने पर भी सुशासनाश्रय थी। पढ़ने पढ़ाने के परिश्रम से रहित होने पर भी वह नीति में निपुण थी। मोटी आंखों वाली होने पर भी वह,

---

१ हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन (वासुदेवशरण अग्रवाल) भूमिका भाग। पृष्ठ ख' तथा ग।

छोटी आँखों वाली (सूक्ष्म दृष्टियुत) थी। हत्याकांड के व्यसन में आसक्त उनकी धर्म धुरन्धर मूर्ति, कठिन होने पर भी कोमल थी, चण्ड होने पर भी वह शान्त थी, युद्ध से शोभित होने पर भी वह दृढ़ सुलह से युक्त थी। गौरव धारण करने पर भी वह लाघव युक्त थी। उनका विशाल मस्तक, बाहुदण्ड, प्रचण्ड नेत्र प्रान्त, लाल था और मदन शर की भाँति थी। उनकी दृढ़ मांसपेशियाँ गोल तथा मूँछें काली थीं। वह मूर्ति ऐसी मालूम होती थी मानों वीरता ने ही आकार धारण कर लिया हो—वीरता ही मानों शरीर युक्त हो गई थी।'[1]

भारतीय उपन्यास साहित्य में पात्र नियोजना-वर्णनों की हम बड़ी ही मनोरम कलात्मक छवि के दर्शन होते हैं। इन वर्णनात्मक उपलब्धियों के प्रसंग में कतिपय प्रेमचन्द पूर्वकालीन हिन्दी की औपन्यासिक कृतियों में आए हुए पात्र पात्राओं के रूप वर्णनों का परिशिष्ट १ में समावेश कर दिया गया है। आधुनिक उपन्यास में पात्रों के रूपवर्णन के सम्बन्ध में श्री प्रेमचन्द ने बड़ा व्यापक एवं महान योगदान किया है। वे चाहते थे कि हमारे उपन्यासों के पात्र, आदर्श रूपवान भी हों तथा प्रतिभावान भी। एक पात्र, दूसरे पात्र से भिन्न दिखाई पड़े, इसके लिए उन्होंने न जाने कितना अधिक वर्णन कलात्मक अध्यवसाय किया है। 'रंगभूमि' में श्री प्रेमचन्द द्वारा अवतरित कुछ सतत रमणीय पात्र पात्राओं के रूप-वर्णन आते हैं। उन्हीं में निम्न शब्दचित्र में उपन्यास की नायिका सोफिया या 'सोफी' का वर्णनात्मक भावपूर्ण रेखाचित्रण निम्न शब्दों में किया गया है —

'सहसा उसी वृक्ष की ओर दूसरी लालटेन का प्रकाश दिखलाई दिया। एक बड़ा लोटा लिये आ रही थी। उसके पीछे सोफी थी। हाथ में एक थाली लिये हुए, जिसमें एक घी का दीपक जल रहा था। वही सोफिया थी वही तेजस्वी सौन्दर्य की प्रतिमा, कान्ति की मन्दता ने उसे एक अवर्णनीय शुभ्र, आध्यात्मिक लावण्य प्रदान कर दिया था। मानो उसकी सृष्टि, पंचभूत से नहीं निर्मल ज्योत्स्ना के परमाणुओं से हुई हो। सौन्दर्य प्रतिमा मोहित नहीं करती, वशीभूत कर लेती है।'[2]

अपने अंतिम उपन्यास 'मंगलसूत्र' (१९३६ ई०) तक पहुँचते पहुँचते श्री प्रेमचन्द की पात्रवर्णन शैली अधिक विश्लेषणात्मक, संयत एवं यथार्थ होती चली गई। उनका युवकोचित उत्साह, इन दस वर्षों में मन्द पड़ता गया था जिसका कि चरम उत्कर्ष कभी रंगभूमि में हुआ था। यहाँ उपन्यास के मुख्य पात्र साहित्यकार देवकुमार के पुत्रद्वय साधुकुमार तथा सन्तकुमार के शब्दगत परिचय अवलोकनीय हैं। और तत्पश्चात् सन्तकुमार की पत्नी पुष्पा का परिचय भी मूल में ही पठनीय है —

१ 'शिवराज विजय' (अम्बिकादत्त व्यास) हिन्दी रूपांतर, निःश्वास २ पृष्ठ ७८ २६।

२ रंगभूमि' (श्री प्रेमचन्द), अध्याय ३०, पृष्ठ ५४६ ५४७।

'साधुकुमार ऊँचे कद का, सुगठित, रूपवान, गोरा, मीठे वचन बोलने वाला सौम्य युवक था जिसे केवल खाने और सैर सपाटे से, मतलब था। जो कुछ जुट जाए भर पेट खा लेता था और यार-दोस्तो मे निकल जाता था। इतने मे सन्तकुमार आ गया। शक्ल-सूरत मे छोटे भाई से मिलता जुलता, केवल शरीर का गठन उतना अच्छा न था। हा मुख पर तेज और गर्व की झलक थी, और मुख पर एक शिकायत सी बैठी हुई थी—जैसे कोई चीज उसे पसन्द न आती हो।'[1]

'सन्तकुमार की स्त्री पुष्पा, बिल्कुल फूल सी है, सुन्दर, नाजुक, हल्की फुल्की, लजाधुर, लेकिन एक नम्बर की आत्माभिमानी है। एक एक बात के लिए, कई कई दिन रूठ सकती है। और उसका रूठना भी सर्वथा नई डिजाइन का है। वह किसी से कुछ कहती नही, लडती नही बिगडती नही, घर का सब काम काज उसी तन्मयता से करती है बल्कि और ज्यादा एकाग्रता से। बस जिससे नाराज होती है उसकी ओर ताकती नही।'[2]

श्री जयशकर 'प्रसाद' अपने पात्र एव पात्राओ की रूपछवि का वर्णन कलाकार की सूक्ष्म दृष्टि तथा लेखनी की सूक्ष्म चित्रण कला की सहायता से बडे मनोयोग से अकित करते थे। अपने प्रथम दोनो उपन्यासो 'तितली' और 'ककाल' मे आए हुए पात्र पात्राओ का उन्होने ऐसा रूपछवि आलेखन किया है मानो वे हमारे सामने आकर ही खडे हो जाते हो। एक प्रकार से यही उपन्यासकार की सफलता है कि हम पहचान जायें कि घण्टी की रूपरेखा कैसी है, जमुना की रूप यष्टि कैसी है, तितली की रूप छवि कैसी है, निरजन कैसा है और मधुआ कौन है? प्रसादजी स्वय कवि थे। कवि चित्रकार और कलाकार तो होता ही है। इसीलिए उनके आकृति और रूप-छवि के सभी वर्णन, अत्यन्त लालित्यमय और सौन्दय बोधात्मक बन पडे हैं। उदाहरणार्थ 'तितली' का निम्नाकित शब्द चित्र अवलोकनीय है —

'राजकुमारी ने देखा कि तितली अब वह चचल लडकी न रही जो पहले मधुवन के साथ खेलने आया करती थी। उसकी काली, रजनी सी उनीदी आँखें, जैसे सदैव कोई गम्भीर स्वप्न देखती रहती हैं। लम्बा छरहरा अग, गोरी पतली उँगलियाँ, सहज उन्नत ललाट, कुछ खिची हुई भौह, और छोटा सा पतले पतले अधरो वाला मुख साधारण कृषक बालिका से उसकी कुछ अलग अपनी सत्ता बना रहे थे। कानो के ऊपर से ही घूघट था जिससे लटें निकली पडती थी। उसके चौडी

---

१ २ 'मगलसूत्र' (श्री प्रेमचन्द), प्रकरण १ तथा २। प्रेमचन्द स्मृति', पृष्ठ २६७ तथा पृष्ठ २६६। स० अमृतराय, हस प्रकाशन इलाहाबाद १९५९ ई०।

किनारे की धोती का चम्पई रग, उसके शरीर मे घुला जा रहा था। वह सध्या के निरभ्र गगन म विकसित होने वाली एक छोटी सी तारिका थी।'[1]

श्री 'प्रसाद' जी ने अपने अधूरे उपन्यास 'इरावती' म नायक की रूपछवि को, इस प्रकार आलेखित किया है। उसम एक विशेष अर्थ निहित है जो वर्णन को पढ लेने के पश्चात ही स्पष्ट हो पाता है —

'उसके घुँघराले बाल जटा न बन पाए थे छोटी छोटी स्वत बढने वाली दाढी भी कुछ यो ही कालिमा से, उसकी स्वर्ण त्वचा को रक्ताकित कर रही थी। शरीर केवल हाड से बना प्रतीत होता था। पर तु उसम बल का अभाव नही था। वह अभी आकर, शिप्रा क शीतल जल से स्नान कर, घाट पर बैठा था। उसके मणि बन्ध मे, किसी नागरिक के जूडे की शिप्रा मे गिरी हुई माला पडी थी अकारण। शिप्रा मे जलविहार करने वालों की कमी न थी। बसन्त की सध्या म आकाश प्रसन्न था। प्रदोष का रमणीय समय। कि तु वह तो था, अनमना थका सा। उसकी आँखें आशा विहीन, सन्ध्या और उल्लास विहीन उषा की तरह काली और रतनारी थी। कभी कभी उनमे दिग्दाह का भ्रम होता मानो वे जल उठती पर तु फिर जसे बुझ जाती। वह न वेदना थी, न प्रसन्नता।'[2]

अपने उपन्यासो की नायिकाओ की रूपयष्टि के दिव्यरूप की आद्य प्रेरणा हम अपने देवा स्तोत्रों से प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त भारतीय संस्कृति म प्रचलित नारी के दिव्य एव भव्य रूपकी कल्पना हमारे महाकवियो न तथा उनके अनुरूप ही हमार महान उपन्यासकारो ने अपनी नायिकाओ मे बारम्बार की है। चारु च द्रलेख की नायिका म साक्षात लक्ष्मी के रूप क दर्शन विद्याधर म श्री ने किये थे। यही देवीरूप कल्पना, हि दी उपन्यासकारो के अतिरिक्त हमारी प्रादेशिक भाषाओ की औपन्यासिक कृतियो म भी पाई जाती है। यह समान रूप वर्णनात्मक आदर्श भारतीय उपन्यासो की रूप वर्णनात्मक एकता एव समानता का एक प्रबल प्रमाण है। प्रेमच द कालीन उपन्यासकर्त्री श्रीमती उषादेवी मित्रा ने अपने कलात्मक एव भावात्मक उप यासो म, अनेक बार चिरस्मरणीय रूप वर्णन किय हैं। उनके 'जीवन की मुस्कान' (सन १९३६ ई०) नामक उपन्यास से एक रूप वर्णन यहाँ उपयुक्त तथ्य को उदाहृत करने को दिया जा रहा है —

प्रात काल के रजत शुभ मुहूर्त्त मे एक सरस्वती की ही थी से कमलेश का गृह प्रागण आलोकित हो रहा था। उस शा त स्निग्ध श्री क सामने, कमलेश की

---

१ तितली (श्री जयशकर प्रसाद') खण्ड २ अध्याय ४ पृष्ठ ८६ (प्रकाशन तिथि १९३३ ई० प्रस्तुत सस्करण १९५८ ई०) (प्रकाशक भारती भण्डार, प्रयाग)।

२ इरावती (श्री जयशकर प्रसाद) पृष्ठ ९, प्रस्तुत सस्करण १९४६ ई० (भारती भण्डार, प्रयाग)।

माता सत्यभामा, हतवाक थी। रोमांचित प्रभावित। उन्हें लग रहा था—पद्म-वन से, स्वय सरस्वती, उनके घर भूल पड़ी है। वैसे ही घने पल्लवा से घिरे सुदरतर नयन, और उन आयत नेत्रो की वसे ही बुद्धि विकीर्ण, स्निग्ध दृष्टि। शिल्पी की सूक्ष्म तूलिका से खिंची सी, सुदीर्घ भ्रू गुलाब की पखडी जसे कपोल, सुदृढ नासिका, घने लम्बे रूखे केश, हाथ म कांच की लाल चूडियाँ, कान, गला, सूना सरस्वती प्रतिमा के अग प्रत्यग, आकृति सो ठीक ऐसी ही। वाणी भी, बीणा सी मीठी हुआ करती है।'

'तो, वह थी जूही की एक पखुडी जसी निमल निष्पाप। ओस की एक बूँद जसा शुभ्र शीतल। अगूर के रस जसी मीठी मधुर। जुगनू की दीवट जैसी, निर हकार निरभिमानी। निर्झर की गति जैसी सरल और बुलबुल की प्रभाती जैसी तद्रालस। भरवी की मूच्छना जसी स्वप्नातुर साझ की पुरवी जैसी कुम्हलाई जैजे व ती जसी लचकती और राधिका के ध्यान जैसी अपनी सत्ता बिसरी लुटी सी। कमलेश की माता पुत्र से कह रही थी –'कसी सुदर लडकी है सुरसुती! ऐसी ही बहू मुझे चाहिए।'[1]

उडिया के वरिष्ठ उपन्यासकार श्री फकीरमोहन सेनापति ने अपने एक उप यास (लच्छमा) की नायिका का रूप वणन भी नारी रूप की इसी उदात्तता को रूपायित करने के लिए किया है —

उसकी अवस्था के विषय म कोई प्रामाणिक बात नही कही जा सकती पर उसके चम्पक पुष्प के समान सुगौर वदन मण्डल अचचल सुविशाल नेत्र आकर्ण विस्तृत धनुषाकार भौंहे सुदर सुगठित, उन्नत नासिका, जवाकुसुम स रक्तिम अधरो, और सुनिमल दपणवत गण्डस्थल से, यौवन सुलभ सौ दय प्रगटित हो रहा था।'

'उसका सुदिव्य मुखमण्डल यद्यपि विषाद कालिमा स मलीन हो गया था तथापि मेघावृत्त च द्रमण्डल की भांति उसकी कुछ अपूर्व ही छटा थी। उसका कद कुछ ऊँचा था, पर उसके सौ दय मे उससे, कोई बाधा नही पहुँचती थी। उसके हाथ और पाव गोल गोल खिले हुए कमल के समान कोमल और लालिमा लिए हुए थे। वह एक सुदर घाघरा पहने हुए थी—वदन पर जरी की चोली थी, जिस पर पष्ठ व्यापी आनितम्ब लम्बायमान कृष्णवण सुचिक्कन केशराशि अनियत्रित भाव से

---

१ जीवन की मुस्कान (उषादेवी मित्रा) (प्रथम प्रकाशन १९३६ ई०। प्रस्तुत सस्करण १९५७ ई०—प्रकाशक नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली। अध्याय ४, पृष्ठ १५ १६ व ३७।

२ लच्छमा (फकीरमोहन सेनापति), प्रथम परिच्छेद, पृष्ठ ३।

फँसी हुई थी । ऊपर से एक चित्र विचित्र, रेशमी, बढ़िया ओढ़नी डाल दी गई थी । उसके हाथ पाँव, नासिका, कान, कण्ठ आदि में आँखों स्वर्ण रौप्य निर्मित, रत्न खचित, आभूषण शोभा पा रहे थे, जो उसके ऐश्वर्यशालिनी होने के परिचायक थे । उसका वदन मण्डल उसकी केशराशि, उसके वस्त्राभरण सभी धूलि धूसरित हो रहे थे । कण्टकों ने भी उन्हें छिन्न विच्छिन्न कर दिया था ।"[1]

'महादेवी, सौंदर्य और रूप लावण्य में भी, अपने वंश और पद के योग्य ही थी । देखने से ऐसा जान पड़ता था मानो वे मूर्तिमन्त साक्षात देवी ही थी । जिस सौंदर्य का देखते ही मन में श्रद्धा और भक्ति का संचार होने लगता है जिस सौंदर्य के आगे मनुष्यों की इच्छा दण्डायमान होकर गिर पड़ने लग जाती है महादेवी के वदन मण्डल पर भी उसी सौंदर्य का विकास था । जिस प्रकार उनकी शारीरिक सुन्दरता अनुपमेय थी उसी प्रकार उनके मानसिक विचार और कार्यकलाप भी अनुपमेय थे । "[2]

मराठी के भाव प्रधान उपन्यासकार श्री वोरकर ने अपने 'भावीण' नामक मराठी उपन्यास की नायिका नेत्रों का रूप वर्णन भी कुछ इसी प्रकार के दिव्य आभा के परिचायक, रूप प्रतीकों द्वारा किया है —

ऐसे पवित्र स्थान पर मूर्तिमान देवी के समान, एक शुभ्रवसना युवती पश्चिम की ओर मुँह करके, सूर्य को अर्घ्य दे रही थी । सूर्य ने भी उसे, स्वर्ण किरणों का प्रतिदान दिया था, इसी कारण वह स्वर्णप्रतिमा की तरह चमक रही थी । उसके शरीर पर कोई अलंकार नहीं था । स्नानवेशा के नीचे खुले हुए कानों के आरक्त अग्रभाग कर्णफूल के अभाव में, बड़े सुन्दर दिखाई दे रहे थे । अंजलि ऊपर उठाते हुए नीचे उतर आने वाली उसकी काँच की बारीक लाल चूड़ियाँ उसके हाथों की सुकुमारता को बढ़ा रही थीं । भाल पर उसने, सादा कुंकुम ही लगाया था । धूप की किरण के कारण वह बड़ा अच्छा लग रहा था । काली काली भौंहों के नीचे अर्ध निमीलित नेत्रों का वैभव जिस पर घनी पलकों के मुग्ध आवरण डाले हुए थे, अनावृत होकर कब दिखाई देगा, यही विचार का ता सेठ के मन में चक्कर काट रहा था । "[3]

चारुचन्द्रलेख तथा पुनर्नवा जैसे अनूठे उपन्यासों के रचयिता आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने उपन्यास बाणभट्ट की आत्मकथा में तुअरमिलिन्द

---

१ लच्छमा' (फकीरमोहन सेनापति) प्रथम परिच्छेद, पृष्ठ ३ ।

२ वही छठा परिच्छेद, पृष्ठ ३१ ।

३ 'भावीण (श्री बालकृष्ण भगवन्त वोरकर) (हिन्दी रूपान्तर देवदासी, अनु० बाबूराव जोशी) अध्याय १ पृष्ठ १६ । प्र० सस्ता साहित्य मण्डल नई दिल्ली, १९५६ ई० ।

की कन्या, चन्द्रदीधिति (भट्टिनी) का रूपवर्णन इस प्रकार किया है, जो चित्रालेखन शैली का एक उत्कृष्ट उदाहरण है —

'इसी समय उस राजकन्या ने वीणा बजाना शुरू किया। धीरे धीरे वह अत्यन्त तन्मय हो गई। मैंने इस बार स्वाभाविक संकोच छोड़ कर इस कमनीयता की मूर्ति को देखा। उसको देख कर अत्यन्त पतित व्यक्ति के हृदय में भी भक्ति उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकती थी। उसके सारे शरीर से स्वच्छ कांति प्रवाहित हो रही थी। अत्यन्त धवल प्रभापुंज से उसका शरीर, एक प्रकार ढंका हुआ सा ही जान पड़ता था। मानो वह स्फटिक गृह में आबद्ध हो या दुग्ध सलिल में निमग्न हो, या विमल चीनांशुक से समावृत हो, या दर्पण में प्रतिबिम्बित हो या शरदकालीन मेघपुंज में अन्तरित, चन्द्रकला हो। उसकी धवल कांति, दर्शक के नयन मार्ग से, हृदय में प्रविष्ट होकर, समस्त कलुष को धवलित कर देती थी। मानो स्वर्ग मंदाकिनी की धवल धारा, समस्त कलुष कालिमा का क्षालन कर रही हो। निश्चय ही यह, धर्म के हृदय से, निकली हुई है। मानो विधाता ने, शंख से खोद कर, मुक्ता से खींच कर, मृणाल से सँवार कर चन्द्रकिरणों के कूर्चक से प्रक्षालित कर सुधा चूर्ण से धोकर, रजत रज से पोंछ कर, कुटज, कुन्द और सिन्धुवार पुष्पों की धवल कांति से, सजा कर ही, उसका निर्माण किया था।'[1]

इसी प्रकार बंगला के प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री विमल मित्र के उपन्यास 'साहब, बीबी गुलाम' की नायिका छोटी बहू का दिव्य रूप मानो एक कुशल चित्रकार की तूलिका से अंकित है। वह रूप शान्तिदायी भी है और प्रसन्नतादायी भी —

आज सोचते हुए अचरज होता है कि उस रोज छोटी बहू का चेहरा कैसे भूतनाथ को इतना अच्छा लगा था। मानो इतना रूप उसने किसी में, कभी नहीं देखा था। एक ऐसा रूप होता है जिसे देख कर आँखें जुड़ाती हैं। जी ठण्डा होता है। बेचैनी नहीं होती। यह वैसा ही रूप था। किसी ने मानो उसके सारे बदन पर चन्दन चढ़ा दिया—आँख, नाक मुँह की ऐसी श्री तो शायद देवताओं में भी नहीं होती भूतनाथ को ऐसा लगा कि उन चार दीवारों में वह आ पड़ी है, मानो कोटि कोटि मनुष्य की एकान्त कल्पना। वह मानों देहगत रूप नहीं—उसे मानों स्पर्श नहीं किया जा सकता छूने पाने की दुनिया से परे का एक अव्यक्त वाणीमय रूपक हो मानो। शरीर को छूने से वह दूध के फेन से भी नम होगा। करीब जाने से लगेगा कि वर्षा में वह इन्द्रधनुष से भी घनी है। ऐसी प्रशान्ति तो प्रशान्त महासागर में भी नहीं। धोती के कोर के नीचे जरा सा जो हिस्सा दीख रहा था, वह शरीर का निहायत ही मामूली सा हिस्सा न हो न ही उंगलियाँ महावर में बेहद खूबसूरत लगीं—दूध से सफेद नाखून महावर से घिरे। पैर से रस भरे पतले होंठ, दोनों से

---

[1] 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) उच्छ्वास ३ पृ० २६।

छिटकती हुई ललाई, मानो मे हीरे के फूल। कपाल पर उडते हुए, दो एक बेबस बाल। उसके ठीक नीचे, दो काली आंखों की सहज, लेकिन गहरी निगाह। काजल से आँखें तो नहीं अजी हैं? मांग में सिंदूर मानो अभी अभी मांग भरी हो। गालों पर पानी की बूंदें, ओठों में मुस्कान।[1]

उपर्युक्त शरीर साज सज्जा और रूपछवि का आलेखन, श्री विमल मित्र ने, एक कुशल चित्रकार की भाँति किया है। वह रूप वर्णन, छोटी बहू के पूर्व जन्म के प्रसंग के भी अनुरूप बन पड़ा है। छोटी बहू का घर का नाम 'पटट्' था—वह एक देवलोक से आई हुई अप्सरा थी, जिसने देवताओं के दरबार में, एक ब्राह्मण का अपमान किया था और उसी से शापित होकर उसको पृथ्वी पर जन्म लेना पड़ा था।"[2]

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के उपन्यास 'वैशाली की नगरवधू' में पात्र पात्राओं के रूप-वर्णन बड़े सांगोपांग, चाक्षुष छवियुक्त और कलात्मक हैं। उपन्यास की नायिका अम्बपाली के नखशिख और रूप को, लेखक इन अनूठे शब्दों में व्यक्त करता है —

'अम्बपाली ने शुभ्र कौशेय धारण किया था। उसके जूडाग्रथित केश-कुन्तल ताजे फूलों से गूंथे गए थे। उपरिवक्ष खुला हुआ था। देह यष्टि जैसे किसी दिव्य कारीगर ने हीरे के समूचे टुकड़े अखण्ड से, यत्नपूर्वक खोद कर गढ़ी थी। उसमें आभा प्रकाश माधुर्य, कोमलता और सौरभ का, अटूट झरना झर रहा था रूप! इतना सौष्ठव! इतनी अपूर्वता! कभी किसी ने, एक स्थान पर थी! उसने कण्ठ में, बड़े-बड़े सिंहलीमोतियों की माला धारण की थी। की हीरे जड़ी करधनी उसकी क्षीण कटि को, पुष्ट नितंबों से वि ि रही थी। उसके सुडौल गुल्फ मणिखचित उपानत से, जिनके ऊपर, चमक रही थीं, अपूर्व शोभा का विस्तार कर रहे थे। मानो वह यौवन, मद और सौरभ बिखरती चली आई थी।"[3]

कविवर श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' सिद्धहस्त कवि अतिरिक्त एक सफल एवं कलाभिमुख उपन्यासकार भी थे। उपन्यासों में साज सज्जा एवं नायिकाओं के रूप वर्णन के बड़े शब्द चित्र प्रस्तुत किए हैं। यहाँ उनके परवर्ती उपन्यास व एक चिरस्मरणीय एवं कलाभिराम साज सज्जा वर्णन उदाहरणार्थ

---

१ साहब, बीबी गुलाम' (विमल

२ वही, पृष्ठ ११४।

३ वैशाली की नगरवधू (आ

'दासियाँ प्रभावती को सजाने लगीं। प्रति अंग नीलमा, हीरों और मोतियों से जगमग हो गया। वसन्ती रंग की सच्चे काम वाली रत्नजटित साड़ी तथा आभरणों की मुलसती स्निग्ध द्युति के बीच पृथ्वी की प्रभावती आकाश की शशि कला से अधिक सुन्दरी, अधिक शोभना हो गई। मस्तक पर अर्द्ध चन्द्राकृति, सोने के लता भुजों से आयत, ललित चूड़ामणि ऊपर श्वेत कोमल पक्ष, मध्य में नीलम, दोनों ओर कनियाँ पन्नों के फूलों में बड़े से छोटे क्रमानुसार हीरे नाक में एक ओर मणि-बिन्दु पद्मराग की कण्ठी ऊँचे पुष्ट वक्ष पर शुभ्र मुक्ताओं की हारावलि हाथों में मणि युक्त विविध भुजबन्ध कङ्कणादि कटि में रिणिनशारिका, सतावर्त्त वलय किङ्किणी, पदों में नूपुर, पायल आदि मुक्त केश, वासित अधरों में ताम्बूल रञ्जराग, आयत सलज्ज आँखों में क्षीण प्रलम्ब काजल रेखाएँ। पुतलियों में चपल रहस्य हास्य, प्राणों में मदु मदु प्रणय स्पन्द।'[1]

कुछ अभिनव विशिष्ट हिन्दी उपन्यासकारों ने अपने पात्रों के रूप वर्णन में, अनेक नूतन शैलियों का अनुसरण किया है। प्रयत्नतः वे परम्परागत भारतीय वर्णनात्मक सरणी में तो नहीं बढ़ने किन्तु फिर भी उनकी कलात्मकता एवं शब्द चित्रवत्ता से कोई इन्कार नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ सन् १९६० ई० में प्रकाशित 'अजय की डायरी' की एक पात्रा विशेष 'हेम' का रूपवर्णन अवलोकनीय है। इसमें उपन्यासकार डॉ० देवराज ने, अपनी नायिका की छवि के, केवल एक पक्ष का लेकर ही, उसका व्यक्तित्व निरूपण किया है —

हेम की आँखें वे आँखें, जिनकी ऋजु, स्वच्छ निगाह इधर दो बार मेरी दृष्टि से टकरा गई थी, विशेष बड़ी नहीं हैं। उनके देखने में भी कोई असाधारणता नहीं है। कुछ विस्तृत सफेदी में तरती सावली कनीनिकाएं। वहाँ कहीं लाली, लाल डोर, दिखाई नहीं पड़ते। वहाँ किसी तरह की शोखी या मादकता भी नहीं है। वह दृष्टि, एकदम सहज और स्वच्छ है किन्तु उस सहजता के भीतर एक खास तरह का निजत्व है, अथवा निजत्व का आश्वासन, एक प्रकार का विश्रान्तिपूर्ण ठहराव। वह दृष्टि, जिसमें किसी तरह की चपलता या आह्वान नहीं है, मानों अपनी स्थिर गहराई और निर्मल शालीनता के कारण ही, अपसे, रुचिपूर्ण अवधान की माँग करती हो। किसी स्वार्थ या प्रयोजन की चेतना के बिना, मन चाहता है कि उस दृष्टि के सघन स्वच्छ प्रवाह में निमग्न होकर उससे तादात्म्य स्थापित करें।[2]

सन् १९६१ में रचे गए अपने नगर जीवन से सम्बन्धित महा उपन्यास 'अँधेरे, बन्द कमरे' के लेखक स्वश्री मोहन राकेश ने अपनी एक पात्रा 'नीलिमा' का वर्णन भी,

---

1. प्रभावती', (सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला) अध्याय ८ पृ० २३
2. अजय की डायरी (डा० देवराज) पृष्ठ ७० ७१ प्रकाशन लि० राजकमल) दिल्ली)।

कुछ वैसी ही शैली म किया है। जब कि डॉ० देवराज हेम की आँखो को अपने रूपवर्णन का केन्द्र बिंदु बनाते हैं श्री मोहन राकेश नीलिमा की हँसी को हा, उसके समग्र व्यक्तित्व का परिचायक बना देना चाहते हैं —

'नीलिमा की हँसी के सम्बन्ध मे, इतना ही कह सकता हू कि वह लडकियो की तरह न हँस कर लडको की तरह हँसती थी। हँसते समय उसका मुह पूरा खुल जाता था और वह अपनी गरदन को थोडा झटक लेती थी। उसकी आवाज काफी बारीक थी, मगर हँसने म उसकी आवाज कुछ भारी हो जाती थी और उसके छोटे छोटे दाँत पूरे बाहर दिखाई दे जाते थे। उसकी हँसी म ही नही—बातचीत और चलने के ढग म भी, एक उन्मुक्तता थी, जो उम व्यक्ति को काफी चौंका सकती थी, जिसका उससे, नया नया ही परिचय हुआ हो। वह हर समय इतनी अस्थिर रहती थी कि लगता था जसे उसके शरीर म एक बिजली सी कौंधती रहती हो। जब वह मुँह से बात नही करती थी तब भी उसकी आँखें और भौंह, कुछ-कुछ बात करती, प्रतीत होती थी।'[1]

पात्र पात्राओ के आकृति निदान एव रूपवर्णन के कुछ सर्जनात्मक उदाहरणो के पर्यवेक्षण के पश्चात, हि दी तथा अ य भारतीय भाषाओ मे रचित उपन्यासो की वर्णनकला सम्ब धी भारतीय प्रवृत्ति अभिरुचि एव कलाभिमुखता का, यत्किंचित् अनुमान किया जा सकता है।

प्रस्तुत परिच्छेद मे हि दी एव अ य प्रादेशिक भाषाओ म रचित कुछ ऐसी सर्जनात्मक औपन्यासिक कृतियो क पात्रगत रूपवर्णन का यहाँ केवल उल्लेख ही किया जा रहा है यथा—श्री वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास विराटा की पद्मिनी मे वर्णित कुमुद का रूपवर्णन श्री भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास नायिका चित्रलेखा की रूपछवि, राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह कृत 'रामरहीम' की पात्रा बिजली का रूप वर्णन, गोदान की पात्रा धनिया का रूपचित्रण परती परिकथा (श्री फणीश्वरनाथ रेणु) की नायिका ताजमनी का सरस सौ दर्य चित्रण, सागर लहरें और मनुष्य' की पात्राओ रत्ना और वशी की विभिन्न रूप भगिमाएँ, (बगला भाषा के) श्री बकिम चटर्जी के उपन्यास दुर्गेशनन्दिनी की आयेशा, तथा कपालकुण्डला नाम की मुख्य पात्राओ की रूपछवियाँ, श्री शरत चटर्जी कृत 'देवदास की 'पारो का रूपवर्णन, श्री ताराशकर बद्योपाध्याय के उप यास 'कवि' की पात्रा, ठाकुरजी का कलसीधारी मुखमण्डल रूप, तथा सप्तपदी' की नायिका 'रीता की रूपछवियाँ वास्तव मे अविस्मरणीय बन पडी हैं। उनके अतिरिक्त दाक्षिणात्य उपन्यासो मे कन्नड उप यास 'शान्तला' (श्री के० वी० अय्यर) मे लक्ष्मी और शा तला का दिव्य रूप

---

१ अधेरे ब द कमरे (श्री मोहन राकेश) पृष्ठ४१ ४२ (राजकमल प्रकाशन,दिल्ली)

बड़े मनोयोगपूर्वक चित्रित किया गया है। उसी उपन्यास के नायक विष्णुवर्धन की रूपछवि के वर्णन में 'सौभाग्य-पुरुष' के लक्षणों का उल्लेख किया गया है ('शान्तला' पृष्ठ ३३)। 'सुधाराग' (अ० कृष्णराव) में (अध्याय १ पृष्ठ ६ पर) रावसाहब के व्यक्तित्व का परिचायक अनूठा शब्द चित्र अंकित किया गया है तथा (अध्याय १ पृष्ठ १२ पर) मीनाक्षम्मा की रूपछवि का आलेखन भी अनूठा बन पड़ा है। संक्षेप में उपरिविवेचित उपन्यासों की पात्र नियोजना एवं रूप-वर्णन की इस अनुपम सतरंगिणी आभा को देख कर भला कौन सहृदय पाठक भारतीय उपन्यासों की कलात्मक गरिमा का सराहक नहीं हो जाएगा ?

कुछ वैसी ही शैली मे किया है। जब कि डॉ० देवराज, हेम की आँखो को अपने रूपवर्णन का केन्द्र बिन्दु बनाते हैं, श्री मोहन राकेश नीलिमा की हँसी को हा, उसके समग्र व्यक्तित्व का परिचायक बना देना चाहते हैं —

'नीलिमा की हसी के सम्बन्ध मे, इतना ही कह सकता हूँ कि वह लडकियो की तरह न हँस कर, लडको की तरह हसती थी। हँसते समय उसका मुह पूरा खुल जाता था और वह अपनी गरदन को थोडा झटक लेती थी। उसकी आवाज काफी बारीक थी, मगर हँसने म उसकी आवाज कुछ भारी हो जाती थी और उसके छोटे छोटे दांत पूरे बाहर दिखाई दे जाते थ। उसकी हँसी म ही नही—बातचीत और चलने के ढग म भी, एक उ मुक्तता थी, जो उस व्यक्ति को काफी चौंका सकती थी, जिसका उससे, नया नया ही परिचय हुआ हो। वह हर समय इतनी अस्थिर रहती थी कि लगता था जसे उसके शरीर म एक बिजली सी कौंधती रहती हो। जब वह मुँह से बात नही करती थी, तब भी उसकी आँखें और भौह, कुछ-कुछ बात करती, प्रतीत होती थी।'[1]

पात्र पात्राओ के आकृति निदान एव रूपवर्णन के कुछ समात्मक उदाहरणो के पर्यवेक्षण के पश्चात हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओ म रचित उपन्यासो की वर्णनकला सम्बन्धी भारतीय प्रवृत्ति अभिरुचि एव कलाभिमुखता का, यत्किंचित् अनुमान किया जा सकता है।

प्रस्तुत परिच्छेद मे हिन्दी एव अन्य प्रादेशिक भाषाओ मे रचित कुछ ऐसी समात्मक औपन्यासिक कृतियो क पात्रगत रूपवर्णन का यहा केवल उल्लेख ही किया जा रहा है यथा—श्री वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास 'विराटा की पद्मिनी म वर्णित कुमुद का रूपवर्णन, श्री भगवतीचरण वर्मा की उपन्यास नायिका 'चित्रलेखा की रूपछवि, राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह कृत 'रामरहीम' की पात्रा बिजली का रूप वर्णन, गोदान' की पात्रा धनिया का रूपचित्रण परती परिकथा (श्री फणीश्वरनाथ रेणु) की नायिका ताजमनी का सरल सौन्दर्य चित्रण सागर लहरें और मनुष्य' की पात्राओ रत्ना और वशी की विभिन्न रूप भगिमाए (बगला भाषा के) श्री बकिम चटर्जी क उपन्यास 'दुर्गेशनन्दिनी' की आयेशा, तथा कपालकुण्डला नाम की मुख्य पात्राओ की रूपछवियाँ, श्री शरत चटर्जी कृत 'देवदास' की 'पारो' का रूपवर्णन, श्री ताराशकर वद्योपाध्याय क उपन्यास 'कवि' की पात्रा, 'ठाकुरजी' का कलसीधारी मुखमण्डल रूप, तथा सप्तपदी' की नायिका 'रीता की रूपछवियाँ वास्तव म अविस्मरणीय बन पडी हैं। उनके अतिरिक्त दाक्षिणात्य उपन्यासो मे कन्नड उपन्यास शान्तला (श्री के० वी० अय्यर) म लक्ष्मी और शान्तला का दिव्य रूप

---

१ अँधेरे बन्द कमरे (श्री मोहन राकेश) पृष्ठ ४१ ४२ (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली)

बडे मनोयोगपूर्वक चित्रित किया गया है। उसी उपन्यास के नायक विष्णुवर्धन की रूपछवि के वर्णन मे 'सौभाग्य-पुरुष' के लक्षणो का उल्लेख किया गया है (शान्तला' पृष्ठ ३३)। 'सध्याराग (अ० कृष्णराव) मे (अध्याय १ पृष्ठ ६ पर) रावसाहब के व्यक्तित्व का परिचायक अनूठा शब्द चित्र अकित किया गया है तथा (अध्याय १ पृष्ठ १२ पर) मीनाक्षम्मा की रूपछवि का आलेखन भी अनूठा बन पड़ा है। सक्षेप मे उपरिविवेचित उपन्यासों की पात्र नियोजना एव रूप वर्णन की इस अनुपम सतरगिणी आभा को देख कर भला कौन सहृदय पाठक भारतीय उपन्यासो की कलात्मक गरिमा का सराहक नहीं हो जाएगा ?

८

भारतीय उपन्यासों में, वर्णन-कला की, सांस्कृतिक, दार्शनिक एवं जीवन-विषयक पृष्ठभूमि

प्रस्तुत अध्याय की विस्तृत एवं व्यापक विवेचन भूमि को देखते हुए एक प्रकार से, इसे, हम समग्र वर्णन कला परक कला अनुशोधना का निष्कर्ष सार भी माना जा सकता है। वस्तुत शोध यात्रा की इस व्यापक नियोजना के विगत सातो अध्यायो मे उसके किसी न किसी अंग उपांग का, सविवरण एव सोदाहरण निरूपण किया गया है। फिर भी उसमें फैले हुए सहस्त्रावधि सूक्ष्म वर्णन कला सूत्रो को एक केन्द्रबिन्दु विशेष की ओर मोड देना अत्यन्त आवश्यक है। साहित्य विधा एव साहित्य सर्जना राष्ट्र के सांस्कृतिक जीवन की एक रमणीय वीथी मात्र है। उसकी अन्य अनेक वीथियाँ और भी विचित्र और भी अद्भुत तथा और भी कलाभिराम हैं। फिर भी उन सभी में साहित्य सर्जना की सर्वोत्कृष्ट सामर्थ्य को युगयुग से विद्वद्गण ने स्वीकार किया है। साहित्येतर अन्य सभी रूप कलाओ एव नाद-कलाओ की अपनी अपनी माध्यम गत परिसीमाएँ हैं। साहित्य सर्जना की वर्णनात्मक क्षमताएँ शब्द माध्यम आधारित होने के कारण, असीम और अनन्त हैं। इसीलिए साहित्य की भव्य रस सृष्टि में, मानव की समग्र कलात्मक अभिव्यंजना की द्योतक अन्य ललित कलाओं को भी आत्मसात कर लेने की क्षमता विद्यमान है। साहित्य की अन्य सभी विधाओ की तुलना मे भी उपन्यास विधा मे वर्णन की अक्षय सिद्धियाँ, किस भाँति उपलब्ध हैं इस विषय का सांगोपांग निरूपण द्वितीय अध्याय में विस्तार-पूर्वक व्याख्यायीकृत है ही। इसलिए उपन्यास विधा में हम ललितकलाओं की सभी सुललित लीलाओं के उन्मुक्त विलास के दर्शन पाते हैं।

'संस्कृति' एवं 'दर्शन' इन दो पदो को असंख्य बार एवं अनगिनत शैलियो मे विवेचित होने का सौभाग्य मिला है। फिर भी ये दोनो शब्द आज भी पर्याप्त जटिल एव रहस्यगूढ बने हुए हैं। 'संस्कृति' तथा 'दर्शन' ये दोनो सीधे सादे शब्द, मानव जीवन के दो विभिन्न उदात्त पक्षो के प्रतीक हैं। मानव ने किस भाँति अपनी सभ्यता

के आद्य, प्राकृत, अनलंकृत एवं निरावरण रूप से ऊँचे उठ कर, अपने निजी एवं सामूहिक जीवन में 'रस' धारा का समावेश किया इसकी कहानी युगों में फैली हुई है। उसने अपने जीवन के हर व्यापार में, अपने चारों ओर फैले हुए हर पदार्थ में, सुंदरता एवं रमणीयता लाने का सतत एवं अथक यत्न किया है। इस रमणीयता शोध के सहस्र सहस्र वर्षों में, मानव अध्यवसाय एवं मानव साधना ने समयान्तर में, विविध ललितकलाओं का रूप धारण किया। सरल कुटीरों की भस्म से 'स्थापत्य' के सभी उच्चतम लक्षणों से युक्त, प्रासादों मोदों एवं भवनों की सृष्टि हुई। साधारण उल्लास के सूचक लोकनृत्यों ने नृत्यकला की चरम ऊँचाइयां छुई तथा आदिम मानव द्वारा गुहाओं में गरिक रेखाओं में अंकित, टेढ़ी मेढ़ी लकीरों ने, समयान्तर में चित्रकला का भव्य वेष धारण किया।

जीवन व्यापार के चलाने के लिए प्रस्तर युग में हमारे आदिम पूर्व पुरखाओं ने पत्थर पर, छैनी का जिस क्षण में आदि प्रहार किया था, उसी दिन मूर्तिकला एवं तक्षण कला ने जन्म लिया था। लोक उल्लास की सूचक सरल जनपद वधुओं के कण्ठों के मार्दव ने समयान्तर में संगीत कला के मंच परिधान पहने, और हरित बाँस की बाँसुरी ने, समयान्तर में हमारी अनेकानेक सूक्ष्म एवं जटिल वाद्य तन्त्रियों का रूप ले लिया। इस भाँति अपने विविध कला विलासों में उल्लसित, संस्कृति एवं कला की देवी ने हम ताप संतापयुक्त मानव जीवन के विश्रांत, श्रमशिथिल, जीवन संघर्ष के बीच जन्म लिया। महान प्राकृतिक बाधाओं से निरंतर जूझने वाले कठोर रसहीन जीवन, जग में, कला समुच्चय धारा के इस सांस्कृतिक संगम से साहित्य संगीत एवं रूपकलाओं की विविध पावन धाराओं की एकसमन्वित अमृत मंदाकिनी प्रवाहित हो उठी।

और 'दर्शन' क्या है? 'दर्शन' केवल देखने के दृष्टिकोण विशेष का नाम है। यह तुलसीदास की उस चौपाई की ही चेतना अथवा चिंतन सरणी का नाम है कि 'जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।' हम भारतवासी जीवन एवं उसके सभी व्यापार को एक दृष्टिकोण विशेष से देखते हैं। मोटे तौर पर हमारा जातीय अथवा राष्ट्रीय दर्शन आनन्दवादी है—आनन्दमूलक है। इसमें शाश्वत सत्य, 'आनन्द' को माना है दुःख को नहीं। हम मरने से इसलिए नहीं डरते कि हम पुनर्जीवन अथवा पुनर्जन्म में दृढ़ निष्ठा है। हम जीने में निर्भय रहते हैं तथा जीवन संघर्ष में विश्वास करते हैं क्योंकि उसके मूल में लोकमंगल की भावना है। हम विश्वबंधुत्व में विश्वास रखते हैं और हम में क्षुद्र जातीयता अथवा साम्प्रदायिकता कभी फल फूल नहीं सकती। क्योंकि दुःख, द्वेष का जन्मदाता है और आनन्द 'जीओ और जीने दो' का समर्थक। मूलतः सभी भारतवासी रमणीय के साधक अथवा कलाप्रेमी हैं। हमने ईश्वर अथवा भगवान को, ईश्वरीय शक्ति की मनोहरतम प्रतिमा,

अथवा देवी को, रूप की पराकाष्ठा की विग्रह मान कर ही, उनकी उपासना की है। हम क्षुद्र स्वार्थमय सपनता म विश्वासी न होकर सामाजिक सुख समृद्धि में विश्वासी हैं। क्योंकि दुःख एकान्तवादी है और आनन्द समाज मूलक है। जीवन के प्रति इसी दृष्टिकोण ने हमारी कलात्मक चेतनाओं को रूपायित किया है और दृष्टिकोण (अथवा दर्शन) तथा लालित्य साधना दोनों ने मिल कर, हमारे जातीय जीवन का रूप विधान किया है।

भारतीय जीवन के इसी दिव्य भव्य एवं विराट रूप के हम भारतीय, उपन्यास साहित्य म दर्शन करते हैं। उसमें हमारे आनन्दवादी जीवन दर्शन एवं रमणीयता-अनुरक्त कला चेतना ने सहस्र सहस्र छवियाँ धारण की हैं। इसी तथ्य की एक विहगम झाँकी, इन शत शत पृष्ठों में अपने निजी रूप वशिष्ट्य म प्रतिच्छायित है। स्थानवर्णन एवं प्रकृतिवर्णन, इस उपन्यास विधागत कलात्मक चेतना का पृष्ठभूमि बनाते हैं। पात्र पात्राए, अपनी विलक्षण एवं दिव्य छवियों द्वारा, उसको व्यक्तित्व अथवा रूप प्रदान करते हैं। उन्हीं रूपों को हमारे लेखकों ने प्रस्तर के अन्तर में से निकाल कर, उभार डाला है। चित्रकारों ने उन्हें रेखाओं और रंगों में उभारा है और उपन्यासकारों ने उन्हें शब्दरूप देकर 'अमरता (शाश्वतता) प्रदान की है।

जब अजन्ता अलोरा ताज खजुराहो सभी काल के गाल म चले जायेंगे, तब भी हमारे भारतीय उपन्यासों का रूपसियों की मुखच्छवि म्लान न होने पायेगी। उसकी कादम्बरी और वासवदत्ता, सहस्र सहस्र पुनर्जन्म म धारणा करेंगी और अपने किसी भी लास विलास या भ्रूविलास से इस रंगीन धरती और रंगीन आकाशों वाले देश के क्षितिजों की इन्द्रधनुषी आभाओं को भर भरजायेंगी। भारतीय उपन्यासों में कला और संस्कृति की अनन्त तरंग लीलाओं का दिव्य दिग्दर्शन है। इनमें अतीत जीवन का पुनरुज्जीवित चित्रण है जिसके अनन्त पदार्थों की रमणीयता एवं विचित्रता से, हम चकित रह जाते हैं। उस अतीत के रंगबिरंगे जीवन की आँखों देखी झाँकियाँ, हमें बाण और दण्डी की कृतियों म मिलती हैं। वर्तमान में श्री वृन्दावनलाल वर्मा, राहुल सांकृत्यायन तथा आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने, हिन्दी उपन्यास विधा में अतीत की जो नूतन पुन सृष्टि की है, वह सचमुच ही अपूर्व एवं अविस्मरणीय है। श्री राखालदास वन्द्योपाध्याय ने 'पाषाण कथा' जैसे उपन्यासों में स्थापत्य कला को ही कथा रूप दे दिया है और उन्होंने, पत्थर के मुँह से साँची के स्तूप निर्माण की पूरी कहानी कहलवा दी है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने नारी के देवी रूप को रूपायित करने के अतिरिक्त नृत्यकला के कुछ ऐसे चाक्षुष एवं सम्पूर्ण शब्द चित्र प्रस्तुत किए हैं जो स्मृति पटल से, मिटने का नाम नहीं लेते।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी केवल उपन्यासकार ही नहीं हैं। वे दार्शनिक एवं रमणीयताशास्त्र मर्मज्ञ भी हैं। भारतीय दर्शन के विविध पक्षों का गहन मन्थन करके उन्होंने उसे, प्राचीन साहित्य के आनन्दवादी कला रस से समन्वित किया है। उन्होंने अपने शताधिक ललित निबन्धों द्वारा उसे अभिव्यंजना प्रदान करनी चाही किन्तु जब वे निबन्ध के सीमित माध्यम द्वारा अपने दार्शनिक आनन्दवाद एवं कलानुरक्त रमणीयतावाद को, उन्मुक्त प्रवाह न प्रदान कर पाये तो उन्होंने काफी देर से, उपन्यास का प्रवहमान माध्यम अपनाया। उनका 'चारु चन्द्रलेख' उपन्यास उनकी उपयुक्त दर्शनान्वित कलानुरक्ति का प्रायः सम्पूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व करता है। 'चारु चन्द्रलेख' में नृत्य, संगीत एवं चित्रकला के कितने ही विलक्षण चमत्कारों को विस्मयजनक सुग्रथित शब्दावली में अक्षरबद्ध कर डाला गया है। उपन्यास के उत्तरार्ध में कथाकार ने नाटी माता की माधुरी भक्ति साधना का जो कलात्मक शब्द चित्रण किया है वह किसी भी कुशल चित्रकार की तूलिका को चुनौती सा देता जान पड़ता है। इसी भांति भक्ति विभोर नृत्य (नर्त्तन कीर्त्तन) को अक्षरों की स्वरलिपि में मानसिक श्रवणों के लिए श्रव्य, एवं मानसिक नयनों द्वारा दृश्य, बनाने का विलक्षण वर्णन प्रयोग भी किया गया है। निम्न अंश भारतीय भक्ति साधना, (कृष्णभक्ति धारा अथवा मधुरोपासना, परम रमणीय की आसक्ति में परमानन्द अनुभव की उदात्त भावना) भारतीय नृत्यकला की दिव्य प्रवृत्ति तथा भारतीय नारी की रूपयष्टि के सात्विक कलात्मक रमणीयत्व के पर्याप्त अंशों में परिचायक हैं। वे उपन्यास विधागत वर्णनात्मक कला की गहन दार्शनिक एवं सांस्कृतिक चेतना के भी परिचायक हैं —

'दीपक के क्षीणप्रकाश में, मैंने नाटी माता को भाव विह्वल मुद्रा में गाते देखा। सामने वही पटु-नट कला वाले नटवर नागर की मनोहारिणी मूर्त्ति थी। नाटी माता, घुटनों के बल खड़ी थी। उनके घुंघराले केश, पीठ पर छितराये हुए थे। अभी भी वे गीले लग रहे थे। कन्धे से नीचे सारा शरीर, हलके गुलाबी रंग के कौशेय वस्त्र से आच्छादित था। कन्धे पर बाएं हाथ में वीणा थी व बहुत हलके कण्ठ से गा रही थी। धीरे धीरे परन्तु बहुत मनोहर भाव गदगद स्वर में, वे बार-बार इन्हीं पंक्तियों को गुनगुना रही थी। गाते गाते वे विह्वल से विह्वल तर होगई अत्यन्त असहाय भाव से फिर मां सतकता के साथ उन्होंने गाया। सा विरह तव दीना।' अंतिम पद रुक रुक कर निकला और वे वीणा सहित नटवर-नागर के चरणों में झुक गई।

'वे इस बार अपने को भूल गई। द्रुतचारी से थिरक उठीं ताली बजा बजा कर थ नाचने लगीं। हाथ और पैर से ताल देती हुई, वे गा उठीं 'सचरदधर मधुर ध्वनि, मुखरित मोहन वंशम् नृत्य में विह्वल होकर नाटी माता, उस छोटे

से घर मे, एक कोने से दूसरे कोने तक, मत्तमयूर की भाँति नाच उठी। भावावेग के साथ साथ नृत्य के वेग मे भी तेजी, आती गई नाटी माता के पर, सधे हुए थे विविध चारियो के उद्दाम और बहुविचित्र आवर्त्त मे भी वे सम पर ही, आकर पडते थे। नृत्य मैंने बहुत देखे थे, पर ऐसा तालानुग सचार, मेरी कल्पना के बाहर की बात थी। उनके प्रत्येक अग में तालानुग छन्द थिरक रहे थे। एक एक पेशी, ताल पर झूम रही थी अगयष्टि से चिपका हुआ अरुण कौशेय कई कई बार तो इस प्रकार मडलित हो उठता था कि सचमुच ही लगता था कि लाल आँखो वाला मोर नाच रहा हो। उल्लास चचल साडी जब मडलित हो उठती थी तो भीतर की नीली अगिया, शतशत वलियो मे तरगित व्याकुलित होकर उसे पकडने का प्रयत्न करती थी यह विचित्र नृत्य केवल ताल मात्र था—अग अग से स्फुरित वितत सन्तत ताल मात्र। यह लाल साडी और नीली अगिया राधा भाव की अग मात्र थी। नाटी माता भाव मन्दिर थीं।"[1]

नृत्यकला साधना का भारतीय उपन्यासकारो का सम्भवतया सबसे प्रिय, 'वर्ण्य विनोद' रहा है। नृत्यकला के माध्यम द्वारा वे, अपनी रूपात्मक एव गत्यात्मक छन्द चित्रण कला की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यजना कर पाते थे। महान सस्कृत उपन्यासकार दण्डी ने, अपने समय की एक नृत्यविद्या विशारदा राजकुमारी के कन्दुक-नृत्य का विलक्षण एव कलाभिराम वर्णन किया है। यह वर्णन उनके महाउपन्यास दशकुमार चरित मे लगभग चार पृष्ठो मे, निम्न भाति वर्णित है —

'मैंने इतना सुडौल शरीर कभी नही देखा था। उसम कही भी, तनिक भी, कोर कसर नही दिखाई देती थी। राजकुमारी की काली घुँघराली लटें इधर उधर लटक रही थी। वहा आकर उसने, अपने कोपलो जसे कोमल हाथो को आगे बढाया—आगे की अगुलियो से धरती को छुआ और फिर निराली अदा के साथ, तनिक झुक कर, उसने भगवती विन्ध्यवासिनी को प्रणाम किया।

'इसके बाद उसने एक गेंद उठा ली। मुझे अच्छी तरह याद है कि वह गेंद ऊपर नीचे, तरह-तरह के चटकीले रगो से रगी हुई थी। उसने बडी तन्मयता के साथ, ढील देकर उसे जमीन पर छोड दिया। जब गेंद गद्दा खाकर थोडा उछली, तो झट उसने उसे अपने कोमल हाथो मे पकड लिया। इस समय उसकी सुडौल हथेली देखते ही बनती थी। ऊपर को उछलती हुई गेंद को लेते समय इस हथेली का अँगूठा तनिक मुडा हुआ था और अँगुलियाँ फनी हुई थी। उनम गेंद को थाम कर, हथेली से ही उसने उसे, फिर ऊपर उछाल दिया। उस उछली हुइ गेंद के साथ साथ देखने वालो की सकडो चचल आँखें भी उसी गेंद पर आ लगी। उस समय

---

१ 'चारु चन्द्रलेख' (हजारीप्रसाद द्विवेदी), अध्याय २३, पृष्ठ ३११ ३१२।

ऐसा प्रतीत हुआ मानो आकाश मे गेंद के रूप म, रगविरगे फूलो का एक गुलदस्ता परिभ्रमित है और उस पर गिरती हुई चचल आखें, मानो बहुत से भौंरे हैं, जो उस पर टूटे पड रहे हैं। उस उछली हुई गेंद को राजकन्या ने बीच अधर म ही पकड लिया और फिर छोड दिया।

"यह गेंद का खेल, मात्र खेल नही था—यह एक सच्चा कला प्रदशन था। इसको दिखलाने वाली यह सुदरी राजकन्या, अपनी कला के अनुरूप ही, साज शृगार, वश भूषा और वस्त्र आभूषण धारण करके कला मदिर मे उपस्थित हुई थी। गेंद खेलते समय उसके कदम, जिस अन्दाज से पडते थे, उसी के अनुरूप एक खास लय मे, उसके गहनो मे लटकी हुई मणियाँ भी बज उठती थी।

"वह जब किसी ब्याज से मुस्कराती थी तो उस मुस्कान की चमक से, उसके लाल-लाल बिंबाफल जसे ओठ और भी खिल उठते थे। खेल के बीच बीच मे, उसके कधो पर पडी हुई काली घुंघराली लटें, जब इधर उधर खिसक जाती थी तो वह, निराली अदा के साथ फिर उन्हें अपनी जगह पर ले आती थी। उछलते और दौडते समय उसकी करधनी कमर पर उछट कर, बार बार टकराती जिससे उसम लगी हुई मणियाँ, करधनी की जजीर को भी बजाती थी तथा स्वय भी बजती थीं।"[1]

विश्व के सवप्रथम महान यथाथवादी उपन्यासकार महाकवि दण्डी की यह औपन्यासिक कृति सातवी शती ईसवी की रचना है। उसके बारह-तेरह सौ वष पश्चात् आचाय हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत, कला सस्कृति सम्पन्न उपन्यास 'पुननवा' मे मजुला का नृत्य वणन बडा ही मनोभिराम बन पडा है और वह दण्डी क उपयुक्त चित्रण से तुलनीय है —

"मजुला ने उस दिन, बडा ही मनोहर नृत्य किया था। उस दिन उसकी सम्पूण देहलता, किसी निपुण कवि द्वारा निबद्ध छन्दोधारा की भाँति लहरा रही थी। द्रुत मथर गति, अनायास, विविध भावो को, इस प्रकार अभिव्यक्त कर रही थी माना, किसी कुशल चित्रकार द्वारा चित्रित, कल्पवल्ली ही सजीव होकर थिरक उठी हो। उसकी बडी बडी काली आखें, कटाक्ष विक्षेप की घूणमान परम्पराओ का, इस प्रकार निमाण कर रही थी, जसे नील कमलो का चक्रवाल ही, चचल हो उठा हो। शरत्-कालीन चन्द्रमा के समान, उसका मुखमडल चारियो से इस प्रकार घूम रहा था, कि जान पडता था अनवरत चन्द्रमण्डल ही आरात्रिक प्रदीपो की, अराल माला म गुथ कर जगरमगर दीप्ति, उत्पन्न कर रहे थे। उसकी नृत्य भगिमा से, नाना दिशाओं की भाव मुद्राएँ अनायास निखर उठीं थी। उसके कधे के नीचे, मृणाल-कोमल भुज युगल सुकुमार, सग्रथित डिण्डी-खण्ड के समान, भाव-परम्परा मे वलयित हो उठे थे। वस्तुत पूव निल के झोंकों से झूमती हुई शतावरी लता के समान, उसकी

---

1 दशकुमार चरित' (दण्डी) पृष्ठ २८३ ८४।

सम्पूर्ण देहवल्लरी ही, भावोल्लास मे तरगलोल हो उठी थी। ऐसा लगता था, वह छ दो से ही बनी है, रागो से ही पल्लवित हुई है, तानो से ही सवारी गई है और तालो से कसी गई है।"[1]

कला की परिकल्पना के सम्बन्ध में हम भारतीयो का अपना जो निजी दृष्टिकोण है उसे समझने के लिए किसी भी विदेशी कला मर्मज्ञ को, वर्षों इस सुप्राचीन देश की धूल से अनुरजित होना पड़ेगा और तदथ काशी, प्रयाग तथा मथुरा वृन्दावन की गलियां भी छाननी होगी। पश्चिमी कलाविदो ने भारतीय जन जीवन के कला पक्ष को खण्ड खण्ड करके देखा है और इसीलिए वे भारतीय कला को भी खण्ड खण्ड मे विभाजित करके आंकने के अभ्यासी हैं। भारतीय चिन्तन धारा मे सस्कार युता कला साधना को, मानव जीवन की विशिष्ट चेतना मान कर, उसे समग्र जन जीवन के सामजस्य मे ही प्रकल्पित किया गया है।

भारतभूमि मे उत्तर से दक्षिण एव पूर्व से पश्चिम तक के विशाल भू भाग म फली हुई प्राकृतिक चित्रपटियाँ, इतनी चित्रविचित्र तथा रगबिरगी हैं कि वाणी का, उनके रूपरग वर्णन मे विभोर हो जाना, सहज बात है। हमारे राष्ट्र में इतनी कुछ वर्णनीय सम्पदा—(धरती और आकाश के रगो की, फलफूल और पखेरुओ के रगो की इन्द्रधनुषो, चांदनियो, आकाश गगाओ तथा सागर की तरग लेखाओ की, नर नारियो के असख्य रूप वर्णो और भगिमाओ की, साज सज्जाओ की वाणी विलास और कला विलास की, नव नव सस्कारयुता, जीवन की स्वस्थ आनन्द मूल एव कलाभिमुख ऊर्म्मियो की,)—है—फिर भी वर्णन कला को यदि भारत म चरमोत्कर्ष प्राप्त न होता तो विश्व के किस देश मे उसे ऐसा मान सम्मान प्राप्त होता?

हमारी पूजा उपासना धार्मिक चर्या तथा आध्यात्मिक उद्भावनाएँ वर्णन के बिना, पल भर जीवित नही रह सकती। हमारा प्रत्येक साहित्यकार दार्शनिक है और प्रत्येक दार्शनिक साहित्यप्रेमी। जब विदेशी पर्यटक कभी भूल से हमारे ग्रामीण वातावरण मे जा खड़े होते हैं तो हमारे किसान मजदूरो की दार्शनिक उक्तियो को सुन कर वे हैरान रह जाते हैं। जिन प्रीतिस्निग्धा जनपदवधुओ को कविकुलगुरु कालिदास ने, मेघो को एक टक निहारते अकित किया है—उनकी भ्रू विलास अनभिज्ञता से समन्वित, अकृत्रिम माधुरी की गहराइयो मे प्रवाहित होने वाले उस अतल विश्वास और आस्था के स्रोत पर भी ध्यान दें, जिससे प्रेरित होकर, वे सूने आकाश को भी अनवरत निष्ठा से, युगो युगो निहारती रही हैं। आषाढ के प्रथम मेघ की रगीनी एव छलछलाती रसात्मकता मे सिक्त मेघदूत की सावन के झूलो जसी दोला

---

१ पुनर्नवा' (श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी), अध्याय १, पृष्ठ १६५।

यमान यतिगति वाली गीतात्मक वर्णनकला को, कोई भारत भूमि से अपरिचित व्यक्ति भला, क्या और कैसे समझ पाएगा ?

युगों एवं शताब्दियों के अनवरत प्रवाह में, विविध ललितकलाएँ हमारे देश में उतनी ही सहज सरलता से फलती फूलती रहीं हैं, जितनी कि हिमालय की उपत्यकाओं में ठसाठस भरे, रंगबिरंगे नन्हें फूलों की, नैसर्गिक बागबानी। हमारे युग के श्रेष्ठ कलागुरु स्वर्गीय श्री नन्दलाल बसु ने इसीलिए कला के अनुसरण, अनुसंधान एवं अनुशीलन को 'साधना' बताया है—उसे अध्यवसाय, अभ्यास, अध्ययन, पठन पाठन अथवा विभाजन संज्ञा उन्होंने जानबूझ कर ही दी है। 'साधना' अर्थात् वह तन्मय आनन्द अवस्था, जिसमें कलाकार को कष्ट या असुविधा का भी परिज्ञान नहीं रहता। बिना इस साधना की सिद्धावस्था प्राप्त किए किसी भी उत्कृष्ट कला द्वारा रूप ग्रहण सम्भव नहीं है। उपन्यास गत वर्णनात्मक कला को भी उसी की एक प्रशाखा मात्र माना जाना चाहिए।

भारतभूमि में, कलात्मक साधना की ऊँची से ऊँची उपलब्धियों के श्रेष्ठतम उदाहरण प्राप्य हैं। स्वर एवं नाद को दिव्य संगीत में परिणत कर देने वाली और काव्यगत लय और यति को नृत्यरास में चिरलावण्य प्रदान करने वाली साधना, हमारे विशाल देवालयों की दैनिकचर्या रही है। चित्रकार की तूलिका की कला हमारे राजप्रासादों में ही नहीं देवालयों में भी अवलोकनीय है। रूप रस, गंध नाद एवं स्पर्श के सभी सूक्ष्म संकेतों के जिस समान शब्द माध्यम वाले रस विश्व को, हम वाङ्मय संज्ञा देते हैं—उसका आदि उद्भव एवं विकास हम उन महाकाव्यों में ही पाते हैं जिन्हें समयान्तर में, अपनी साधना की सुदृढ़ आधार भूमि (नींव) के नाते, धार्मिक काव्यों अथवा शास्त्रों में परिगणित कर लिया गया था।

हमारे संस्कृत उपन्यास-साहित्य की महानतम उपलब्धियों (कादम्बरी और 'हर्ष चरित' आदि) के चमत्कारी स्रष्टा सभी चौंसठ कलाओं में पारंगत थे। 'कादम्बरी' उपन्यास में बाण के स्थापत्यकला-पाण्डित्य का भी भव्य दर्शन मिलता है। उन्होंने अपने इस महोपन्यास में भवन निर्माण कलाशैली के विविध अंगों यथा, राजप्रासाद के अलिन्दों कक्षाओं स्तम्भों आस्थान मण्डप, धवलगृह देहली चतुःशाल वीथियों, अंगणवेदिका सोपानों प्रग्रीवक वासगृह सौध, प्रासाद कुक्षियों व्यायामशाला चन्द्रशालिका यज्ञमन्दिर, भव्योद्यान, दीर्घिका वापियों आहार मंडप हिमगृह कुमारी मंडप, श्रीमंडप, क्रीडा पर्वत आदि को सूक्ष्मातिसूक्ष्म अलंकरणों के समान भव्य एवं चित्र विचित्र वर्णनों द्वारा, विभूषित किया है। इन चित्रों में भारतीय संस्कृति के समृद्ध एवं भव्य रूप के दर्शन होते हैं।

इन वर्णनों की सूक्ष्म निरीक्षण वृत्ति विवरण बहुलता, चित्र विचित्रता रमणी

यता, रसात्मक एवं कलात्मक नियोजना, तथा रूप और रंग के असंख्य उपभेदों से समन्वित अनंत दृश्यात्मकता अद्वितीय है—

"जैसे कोई रसानुभवी कलावंत, सम्पूर्ण तन्मयता में डूब कर, अपने वाद्य से स्वर निकालते हुए कोमल एवं गम्भीर सभी स्वरों पर, एकसी ही तल्लीनता से बढ़ता हुआ, ध्वनि द्वारा रसचित्र बनाता है, कुछ वैसी ही स्थिति, बाण कृत कादम्बरी की है। किसी समाधिजन्य तन्मयता से लालित्य के सागर में डूब कर, उन्होंने 'कादम्बरी' में, वर्णना की लहरें उठायी थीं। हम लोगों के सामने उस युग के महान उत्तराधिकार का रूप खड़ा करने वाले चित्रों में अजन्ता आदि के कुछ ही वर्णचित्र बचे हैं। उन्हीं असामान्य रूपाङ्कनियों के प्रतीक बाण के शब्द चित्र हैं।"[1]

भारतवर्ष के सभी प्रदेशों में रचे जाने वाले उपन्यासों में, जन्म जन्मान्तर की प्रेमसाधना को लेकर, उदात्त एवं महान उपन्यासों की रचनाएँ हुई हैं जिन्हें हम 'कादम्बरी शैली' की संज्ञा दे सकते हैं। बंगला के उपन्यास 'साहब बीबी गुलाम' व प्रेमचन्द के उपन्यास 'कायाकल्प' में यही अन्तर्चेतना कार्य करती है। इसी प्रकार श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'चारु चन्द्रलेख' और रायबहादुर गोवर्धनराम माधवराम त्रिपाठी कृत उपन्यास 'सरस्वती चन्द्र' की अन्तर्चेतना भी, पूर्वजन्म से सम्बन्धित है। अधर्म एवं अन्याय के प्रतिकार एवं धर्म और न्याय की पुनःस्थापना—ये दो सूत्र, भारतीय उपन्यास साहित्य में सर्वत्र प्रतिध्वनित हैं। बंकिम के उपन्यास की कथानायिका 'देवी चौधरानी' जलदस्युओं का संगठन कर, ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अत्याचारों के विरुद्ध युद्ध लड़ती है। इसी भांति श्री झवेरचन्द मेघाणी कृत 'सोरठ तारां वहता पाणी' में दोलतमा डाकू के उपनाम से सिपारण नामक पात्रा डाकुओं का दल संगठित करती है और अंग्रेज रेजिडेन्ट की हत्या कर डालती है। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने 'ब्रह्मपुत्र' उपन्यास में, नागाओं की क्रांतिकारी नेत्री रानी गुइडालो के रोमांचक प्रसंग को भी समाविष्ट किया है।

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी ने अपने 'कृष्णावतार' नामक उपन्यास में ब्रजभूमि को पृष्ठभूमि बनाया है। इसी भांति श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने अपने उपन्यास 'टूटे कांटे' की कथा की पृष्ठभूमि भी ब्रज प्रदेश को ही बनाया है। प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' और 'कायाकल्प' में इसी पृष्ठभूमि को अपने उपन्यासों में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। अर्थात् इन चारों ही उपन्यासों की वर्ण्यवस्तु में एक प्रकार का साम्य पाया जाता है। सभी, एक समान, कृष्ण भक्ति धारा की अखिल भारतीय चेतना के प्रतिबिंब हैं।

---

१ 'कादम्बरी'—एक सांस्कृतिक अध्ययन (वासुदेवशरण अग्रवाल), प्रस्तावना भाग।

प्राचीन स्मारकों में पाई जाने वाली स्थापत्य-कला एवं मूर्तिकला से प्रेरित होकर अनेक भारतीय उपन्यासकारों ने उपन्यास रचना की है जिनमें श्री राखालदास वन्द्योपाध्याय कृत 'पाषाणर इतिकथा', श्री चतुरसेन शास्त्री कृत 'पत्थर युग के दो बुत', श्री देवेन्द्र सत्यार्थी कृत 'कथा कहो उर्वशी' और श्री रांगेय राघव कृत 'मुर्दों का टीला' विशिष्ट रचनाएँ हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि इन उपन्यासों की वर्ण्यवस्तु नियोजन अन्तर्चेतना समान ही है।

'गुजरात नो नाथ' (क० मा० मुन्शी) का नायक कीर्तिदेव (अध्याय ११, पृष्ठ २३६) हिंगलाज देवी के महाश्मशान में आकर ठिठर जाता है। ऐसे ही एक श्मशान के भययुक्त वातावरण का, श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यास 'बाण भट्ट की आत्मकथा' में चित्रण किया गया है। श्री बंकिम चटर्जी-कृत 'कपाल कुण्डला' तथा श्री राखालदास वद्योपाध्याय के 'करुणा, शशांक' आदि उपन्यासों में भी बौद्ध तांत्रिक और कापालिक लोगों की तांत्रिक क्रियाओं से समन्वित श्मशान के वातावरण भी, कुछ ऐसी ही रहस्यमय शैली में चित्रित किय गए हैं। तान्त्रिकों का प्रभाव एक युग में सारे देश में ही रहा था, अतः अखिल भारतीय उपन्यासों में उसकी छाया मिलना स्वाभाविक ही था।

भारत की महान ऐतिहासिक घटनाएँ और उनसे सम्बद्ध राष्ट्रीय वीर गुणशील में समानधर्मी थे। इसीलिए भारत के सभी प्रदेशों की भाषाओं के ऐतिहासिक उपन्यासों में एक समान राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक अन्तर्चेतना पाई जाती है। घटनाएं, घटना स्थल, प्रादेशिक पृष्ठभूमि तथा प्रादेशिक जीवन की दृष्टि से, ये सभी उपन्यास एक ही समान अन्तर्चेतना की आधार भूमि पर खड़े किए गए हैं। उदाहरणार्थ बंगला भाषा के वरिष्ठ उपन्यासकार श्री रमेशचन्द्र दत्त ने 'राजपूत जीवन सन्ध्या' तथा 'महाराष्ट्र जीवन प्रभात' नामक उपन्यासों की रचना की और श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने अहिल्या बाई नामक ऐतिहासिक उपन्यास की रचना की। दोनों ही लेखक उपन्यासों की मूल रंगस्थली के निवासी नहीं हैं। श्री गंगाप्रसाद गुप्त ने कुँवरसिंह सेनापति नामक उपन्यास लिखा जिसमें कोंकण (महाराष्ट्र) की भूमि उपन्यास की रंगस्थली बनाई गई है। यह 'उषःकाल' में आप्टे द्वारा वर्णित पृष्ठभूमि से साम्य रखती है। दोनों ही उपन्यासकारों ने प्रायः एक ही प्रदेश को चित्रित किया है। मराठी उपन्यासकार हरि नारायण आप्टे के उपन्यास 'चाणक्य आणि चन्द्रगुप्त' में, हिमाचल प्रदेश का विशद वर्णन पाया जाता है। इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर श्री क० मा० मुन्शी ने 'भगवान कौटिल्य' की रचना की। इस भाँति जब भारत भूमि के विविध भाषाओं के उपन्यासकार, ऐतिहासिक उपन्यास रचते हैं तो उन सभी में वर्ण्यवस्तु का नियोजना स्वभावतः समान हो उठती है।

विशेषतया हिन्दीभाषा के उपन्यासकार तो सदैव ही प्रकृत्या, अखिल भारतीय स्तर पर ही सोचते और लिखते रहे हैं। श्री प्रेमचन्द और श्री वृन्दावनलाल वर्मा इसके साक्षात् उदाहरण हैं। होरी भारत के किसी भी किसान का प्रतिरूप हो सकता है। और स्व० श्री वर्माजी के द्वारा, उत्तरा खण्ड में पली हुई झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई और महाराष्ट्र में पली हुई अहिल्याबाई दोनों ही समानरूप से, *बहुजन हिताय—बहुजन सुखाय के आदर्श में प्रवृत्त, भारतीय रमणीरत्नों के रूप में चित्रित* की गई हैं। हिन्दी भाषा एवं साहित्य की यही उदार भावना आज भी अखिल भारतीय उपन्यास, साहित्य की मौलिक अन्तर्चेतना एवं विशिष्टता बनी हुई है।

भारतवर्ष की सांस्कृतिक एकरूपता की एक निश्चित रूपरेखा, हमारे उत्कृष्ट साहित्यकारों तथा धर्मशास्त्रियों के समक्ष लगभग दो ढाई सहस्र वर्षों से अविरल रूप में सतत अवस्थित रही है। इस रूपरेखा में सूक्ष्म सांस्कृतिक चेतना तथा स्थूल नैसर्गिक एवं भौगोलिक मानचित्र रेखाएं, ताने बाने के समान मिली जुली रही हैं। कालिदास ने जिस भारत का चित्रण प्रस्तुत किया है, वह भारतभूमि की एक सम्पूर्ण कलात्मक एवं सुव्यक्त चेतना की प्रतिमा मानी जा सकती है। इसी को 'द्वितीय कालिदास' कहाने वाले महाकवि एवं उपन्यासकार, बाण ने, अपने गद्य महाकाव्यों में अवतरित किया है। जब तक भारत भूमि की एक समान राष्ट्रभाषा के रूप में संस्कृत का व्यवहार होता रहा, सभी समर्थ उपन्यासकारों अथवा गद्य महाकवियों ने, उसी सांस्कृतिक एकरूपता को अपना समान लक्ष्य बनाए रक्खा। इतिवृत्त के योगायोग से ब्रिटिश सत्ता के द्वारा, सुनियोजित दुरभिसंधियों का जाल फैलाया गया और संस्कृत भाषा को भारतीय जनसाधारण के बीच से निष्कासित अथवा निर्वासित करने का गर्हित एवं सुसंगठित उद्योग किया गया। तो इतिवृत्त की घटनाओं के उतार चढ़ाव के कारण ही समय-तर में हिन्दी भाषा का संस्कृत के इस गुरुतर भार को ग्रहण करना पड़ा और इसी कार्य को अद्यावधि हिन्दी उपन्यास पर्याप्त उत्तरदायित्व एवं गौरव के साथ निभाय चला जा रहा है।

भारत की सांस्कृतिक एकता के समर्थक हमारे महानतम प्रादेशिक उपन्यासकारों के समक्ष, *विशाल भारत की वही समान महान एवं भव्य मूर्ति प्रतिष्ठित रही* है जिसकी कि एक रूपरेखा राजशेखर ने अपने देशकाल विभाजनगत वर्णन सिद्धान्त में प्रस्तुत की थी। हमारे सभी अखिल भारतीय ख्याति के उपन्यासकारों (यथा— सर्वश्री प्रेमचन्द, वृन्दावनलाल वर्मा, बंकिम चट्टोपाध्याय, शरत चट्टोपाध्याय, फकीरमोहन सेनापति, क० मा० मुंशी, हरिनारायण आप्टे तथा शिवराम कारन्त आदि) ने, समान मतिभाव पूर्वक भारतभूमि का सार्वदेशिक चित्रण किया है और उन सभी ने एक समान संस्कृति को ही अपने कथा प्रवाह में तरंगायित किया है। यही भारतीय उपन्यास का मौलिक रूप है अतः उसमें अनेकानेक स्थलों पर स्थान,

प्रकृति, यात्रा, पात्र आदि से सम्बन्धित वर्णनों में, जो साम्य निहित है, वह सहज और स्वाभाविक है। यह समग्र लोक चित्रण, विश्व की उस महानतम सांस्कृतिक एवं दार्शनिक जीवन सरणी का परिचायक-मात्र है, जिसकी पाताल गामिनी जड़ों को, सहस्रों वर्षों में होने वाले, शतशत मनीषियों ऋषियों द्रष्टाओं, अवतारी पुरुषों, कलाकारों तथा साहित्यकारों की अक्षय साधना ने, अपने जीवन रस से अभिसिञ्चित किया है।

उत्तर भारतीय भाषाओं में रचित एवं दाक्षिणात्य भाषाओं में प्रणीत उपन्यास-साहित्य के बीच का सांस्कृतिक अन्तराल, प्राय नगण्य ही है। उदाहरणार्थ दाक्षिणात्य भाषा के उपन्यासों में आत्मार्पण, सती आदि की प्रथाओं के जो यदाकदा दर्शन होते हैं, वे उत्तर की भाषाओं के उपन्यासों में नहीं पाए जाते। इसी प्रकार दाक्षिणात्य भाषाओं के उपन्यासों में सपत्नी को भी पर्याप्त महत्व और गौरवपूर्ण स्थान दिया जाता है और यह भी प्रदर्शित किया जाता है कि दोनों ही सपत्नियाँ बड़े प्रेमपूर्वक भगिनी भाव से रहती हैं। यह बात आर्यभाषाओं के उपन्यासों में दृष्टिगोचर नहीं होती। 'सध्या राग' (अ० ना० कृष्णराव) तथा 'शान्तला' (के० वी० अय्यर) इन दोनों ही संस्कृति प्रधान उपन्यासों में, सपत्नी कथा दी गई है। सीमावर्ती प्रदेशों का सांस्कृतिक प्रभाव निकटस्थ प्रदेशों पर भी पड़ता है। इसीलिए उड़िया के उपन्यास 'का' (कान्हुचरण महान्ति) में भी सपत्नी प्रेम दिखाया गया है। आर्य भाषाओं के उपन्यासों में 'सपत्नी दाह' एक सर्वविदित कथा सूत्र है। इसी प्रकार सती होने आदि के वीभत्स दृश्य भी केवल दाक्षिणात्य उपन्यासों में ही परिलक्षित होते हैं। 'माडिउ चण्णो महाराया' (के० वी० पुटप्प) उपन्यास में इस प्रकार के दृश्य दिखलाए गए हैं। दक्षिण का प्रभाव महाराष्ट्र के जनजीवन पर भी काफी पड़ा है। मंगल सूत्र' आदि धारण करने की प्रथा महाराष्ट्र का दक्षिण की देन है, जबकि इस प्रकार की प्रथा अन्य आर्य भाषाओं के उपन्यासों में कहीं नहीं पायी जाती है।

भारतीय उपन्यासों में इसी भाँति की कुछ अन्य प्रादेशिक विभिन्नताएँ भी कहीं कहीं दीख पड़ती हैं यथा मलयालम उपन्यास चेम्मीन (तकषि शिव शंकर पिल्लै) में सागर को 'माता' रूप में माना गया है। यह केरल की प्रदेशीय मान्यता है जहाँ की संस्कृति 'मातृप्रधान' है पितृप्रधान नहीं। मलयालम के 'केरलसिंहम' (सरदार के० म० पणिक्कर) उपन्यास में, भानजे के वरण का सर्वप्रथम न्याय्य अधिकारी उसके मामा को माना गया है जो उत्तर भारत में सामाजिक दृष्टि से एक घोर अधम माना जाएगा। इसी भाँति की सामाजिक प्रथाएँ जब हमारे प्रादेशिक उपन्यासों में यत्रतत्र पढ़ने में आती हैं तो हमें पता चलता है कि हमारा यह देश कितना व्यापक एवं कितना महान है जहाँ विविध जन समूह अपनी अपनी निजी सामाजिक विशिष्टताओं के साथ जीवन बिताते हुए भी अपने को एक महान् राष्ट्र की इकाई मानने में ही अपना सौभाग्य मानते हैं।

भारतीय उपन्यास साहित्य वस्तुत भारतीय जीवन का निकटतम चित्रण एवं वर्णन है। यह, विशाल भूभाग म फैले हुए, विविध जनपदों के, लगभग डेढ सहस्र वर्ष के, संस्कार युत, कलाभिमुख, दार्शनिक प्रवृत्ति परक, जीवन का कथात्मक लेखा जोखा है जिसके मूलभूत सूत्रो की विशद व्याख्या तो वस्तुत एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की ही अपेक्षा रखती है। इस महान सांस्कृतिक दार्शनिक एव कलात्मक मानव उपलब्धि समुच्चय के सभी मौलिक सूत्र हमारे इस प्रभूत राशि राशि उपन्यास साहित्य मे ताने बाने की तरह परि याप्त हैं। उनम से कुछ ही पक्षो एव अगो की, इस महाकाय ग्रन्थ के इन आठ अध्याया मे, खण्ड खण्डश विवेचना करने का, मनोयोग पूर्वक प्रयत्न गौरव किया गया है। यहा एक बार फिर से उपयु क्त विविध दार्शनिक, सांस्कृतिक एव कलाभिमुख चेतना क प्रमुख तत्त्वो को सारीकृत किया जा रहा है। इसस भारतीय उपन्यास की, वास्तविक गौरवास्पद स्थिति के बारे मे, हमारी आस्था पुन दृढ हो पायेगी।

भारतवासी, अपनी प्रकृति से न तो इस जीवन को मिथ्या एव नि सार मानते रहे हैं और न इसे क्षण भङ्गुर, स्थूल एव भौतिक साधना का माध्यम ही समझते रह हैं। वे जीवन के अमरत्व मे विश्वास रखते हैं एव आत्मा शरीर के अन्त होने पर, पुन अभिनव शरीर धारण कर लेती है, इसी आस्था के बल पर वे अपने वर्तमान जीवन को, मृत्युमय से उ मुक्त होकर, अधिक से अधिक ज्ञानमय, संस्कार मय एव कलामय बनाने म सतत यत्नशील रहे हैं। दार्शनिक दृष्टि से वे 'आनन्दवादी रह हैं और आचार की दृष्टि से वे एक सम्पूर्ण, स्वस्थ, प्रसन्न एव सुखी सुसंस्कृत जीवन बिताने के विश्वासी रहे हैं। इसीलिए भारतीय उपन्यास साहित्य मे हमें उपयु क्त सभी सूक्ष्म अन्तर्चेतनाएँ आद्योपान्त प्रतिबिम्बित दिखाई देती हैं। दाक्षिणात्य उपन्यासो म यत्र-तत्र दुखान्त आत्मार्पण के तत्व अवश्य मिलत हैं फिर भी उनकी उदात्तता, कलाप्रियता एव दार्शनिक दृष्टि स संस्कारयुक्त उच्चस्तरता, सर्वत्र ही बनी रही है।

भारतीय सदा से ही—'जिओ! और जीन दो!' के पक्के अनुयायी रहे हैं। युद्ध को उन्होने मूलत गर्हित माना है किन्तु नव धर्मी भी व युद्ध म रत हुए भी हैं तो उसे केवल उस धर्म युद्ध मान कर। अधर्म के विनाश एव धर्म के पुन स्थापन को, प्रत्येक भारतीय अपना नैतिक कर्त्त य मानता रहा है। इसीलिए हमारे उप यासो म शौर्य एव बलिदान के उज्ज्वल प्रसग सर्वत्र वर्णित हैं, किन्तु उनका मूल उद्देश्य लोक मगल एव 'सर्वभूतहित' ही रहा है। इस दृष्टि से सम्पूर्ण भारतीय उपन्यास की, अपनी एक विशिष्ट दार्शनिक, धार्मिक एव नैतिक समान भूमि रही है।

आनन्दवादी होने के कारण भारतीय स्वभाव स कलाप्रेमी हैं, एव सुन्दरतम देश के रहने वाले होन के नात, वे सौन्दर्य' अथवा 'रूप का भी सर्वाधिक सुसंस्कृत

एव परिष्कृत रूप देखना चाहते हैं। हमारे उपन्यासो के पात्र एव पात्राए, इसी समान उद्देश्य को समक्ष रख कर, ढाले गये हैं।

साहित्य सगीत-कला, भारतीय जीवन को, कठोर अध्यवसाय से विश्राम देने वाले महान परिष्कृत मनोविनोद रहे हैं। पुराने से पुराने भारतीय उपन्यासो के पात्र एव पात्राएँ चित्रकला से भली भाँति परिचित थे। विजन मे भी, गेरू आदि प्राकृतिक रगो से व, चटपट मानव रूप का चित्रण (पोर्ट्रेचर) आलेखित कर डालते थे। हमारे विरक्त साधुओ एव सन्यासियो ने भी पहाडो को खोद कर गुफाओ मे भव्य रगीन चित्र विश्व एव प्रस्तर प्रतिमा ससार सज डाला है। स्थापत्य एव भवन निर्माण-कला की अन्तर्चेतना पर अनेक श्रेष्ठ भारतीय उपन्यास रचे गये हैं। सगीत-लहरी एव नृत्य वल्लरी, हमारे सामाजिक जीवन का सदव ही ताजगी और प्रसन्नता प्रदान करती रही है। उन्ही के वर्णनो से हमारे श्रेष्ठ उपन्यास सर्वत्र समृद्ध हैं।

भारतीयो की इसी उच्च स्तरीय सदाचरणयुक्त सस्कारमय एव कलामय आनन्दवादी प्रकृति को सतत ध्यान म रख कर ही, हम भारतीय उपन्यास साहित्य की आन्तरिक एव सूक्ष्म पृष्ठभूमि को भलीभाति समझ सकते हैं। भारतीय उपन्यास की इस वर्णनात्मक समीक्षा का वस्तुत यही बीजमत्र रहा है। एवमस्तु !

परिशिष्ट १

आद्य एव दुष्प्राप्य प्रेमचन्द-पूर्वकालीन (१८०१ ई० से १६०३ ई० तक के) हिन्दी उपन्यासों के, कुछ सज्ञात्मक एव कलात्मक वर्णन

उपन्यास सख्या १ वणन सख्या १ कोई क्या कह सके, जितने घाट दोनो राज की नदियो म थे, पक्के चादी के थक्के से होकर, लोगो का हक्का बक्का कर रहे थे। निवाडे भौलिय बजर, लचके मोरपखी, स्याम सुन्दर, रामसुन्दर और जितनी ढब की नावें थी, सुनहरी, रुपहरी सजी-सजाई, कसी कसाई, और सौ सौ लचके खातिया आतिया जातिया, ठहरातिया फिरातिया थीं। और कोई नाव ऐसी न थी, जो सोने रुपे के पत्तरो से मढी हुई, और सवारी से भरी हुई न हो और बहुत सी नावो पर हिंडोले भी उसी ढब के थे। उन पर गायनें बैठी, झूलती हुई, सोहनी केदारा बागेसरी का हडो मे गा रही थी। दल बादल ऐसे नेवाडो के, सब झीलो मे छा रहे थे।

('अच्छापन घाटो का पृष्ठ २८)

उदैभान चरित' या रानी केतकी की कहानी [श्री इ शा अल्लाह खा इ शा] (रचनाकाल १८०१ इ, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी) (नागरी प्रचारिणी ग्रथमाला स० ३४), प्रस्तुत सस्करण पाचवा, (१६५० ई)

२ २ महाराज ! ऐसे कह सुन जब रुक्मिनीजी ने, उस ब्राह्मन को, बिदा किया तब वह, प्रभु का ध्यान कर, नाम लेता, द्वारका को चला और वहा जाय देखे तो समुद्र के बीच, वह पुरी है जिसके चहुँ ओर, बडे बडे पवत औ वन उपवन, शोभा दे रह हैं, तिनमे भाति भाति के पशु पक्षी बोल रह हैं और निमल जल भरे सुथर सरोवर, उनम कवल डहडहाय रहे, तिन पर, भौंरो के झुण्ड के झुण्ड गूज रहे और तीर पै हस, सारस आदि पक्षी कलोलें कर रहे। कासो तक अनेक अनेक प्रकार के फल फूला की बाडिया चली गई हैं, तिनकी बाडो पर पनवाडिया लहलहा रही हैं। बावडी, इदारो पै खडे, मीठे सुरा से गाय गाय, माली, रहट परोहे चलाय,

चलाय, ऊँचे नीचे नीर सींच रहे हैं, और पनघटो पर पनिहारियों के ठठठ के ठठठ लगे हुए हैं। (अध्याय ५३, पृष्ठ १५७ ५८)

२३ यह छवि निरख हरष, वह ब्राह्मन जो आगे बढा तो देखता क्या है कि नगर के चारो ओर, अति ऊँचा कोट उसमें चार फाटक, तिनमें कचन खचित जडाऊ किवाड लगे हुए हैं औ पुरी के भीतर, चान्दी सोने के मनिमय, पचखने, सतखने मन्दिर, ऊँचे ऐसे कि आकाश से बातें करें, जगमगाय रहे हैं। तिनके कलस कलसियाँ बिजली सी चमकती हैं, बरन-बरन की ध्वजा पताका फहराय रही हैं। खिडकी, झरोखो, मोखो, जालियो से, सुगन्ध की लपटें आय रही हैं, द्वार द्वार सपल्लव केले के खम्भ औ कचन कलस, भरे घरे हैं, तोरन वन्दनवारें बधी हुई हैं, औ घर घर आनन्द के बजान बाज रहे हैं, ठौर ठौर कथा पुरान औ हरिचरचा हो रही है। अठारह बरन, सुख चन से बास करते हैं, सुदरसन चक्र, पुरी की रक्षा करता है।

(द्वारिकापुरी वर्णन, अध्याय ५३, पृष्ठ १५८)

[प्रेम सागर', (प० लल्लूजी लाल,) प्रथम प्रकाशन कलकत्ता, १८०२ ई०। प्रस्तुत सस्करण १६२६ ई० प्र०—हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता]

२४ लगन के समय, सबका साथ ले, मण्डप म, कि जहा सोन ह के थम्ब पर, मानिक दीप बरते थे, जा पहुँचे। मोति ह से पूरा हुआ चौक मे, रतन जडा पीढा रखवा, उस पर, वरकन्या दोना को, पटम्बर व पलो म हीरे की माला पहरा, बैठाय भाँति भाँति के बाजन, लगे बाजने, वो क्थक गाने ।'

(चन्द्रावती के बिवाह का वर्णन, पृ० २०)

२५ सोना दिये से सूयलोक, वस्त्र दिये चन्द्रलोक, जहाँ धर्मात्मा लोग रहते हैं। उस पुण्यस्थान के निकट सुख देने वाली पुष्पोदक नामक ऐसी नदी बहती है, जिसम सुवर्ण की बालू, वो दूध सा स्वच्छ अमृत समान स्वाद जल व शख पद्म हैं। और तीर पर कल्पद्रुम लगे हैं। देवकन्यायें गाती हैं तिस नदी के तट मे एक से एक लाल, पीत, नील, श्वेत, हरित, सुन्दर दीप्त रत्नो की, ऐसी खानि मैंने (कथा नायक नासिकेत या नचिकेता न) देखी । नदी-तट पर, मणि, मोती, मूँगे, हीरो और सोन ह के, सहस्रन मन्दिर, मैंने देखे

(चन्द्रलोक की पुष्पोदक नदी प्रदेश का वर्णन, पृष्ठ ३६)

[चन्द्रावती की कथा' या नासिकेतोपाख्यान —(प० सदल मिश्र) प्रथम प्रकाशन, १८०३ ई०, (कलकत्ता।) प्रस्तुत सस्करण (काशी नागरी प्रचारिणी सभा) षष्ठ सस्करण १९५० ई०]

४६ 'कितेक वर्ष पाछे एक समय माधव नरपति बहुतेक लोग साथ ले, आखेट को गयौ। बन में जाय बाघ, चीता, अरना, वराह हरिन, चीतल, साबर, आदि जीव अनेक अहेर किये, अरु जिन जिनने जो जो चाहे सो सो लिये।'

४७ 'जब अहेर करि, वहा ते बगदौ, तब नगर के निकट आय, कहा देखतु है कि एक स्त्री, पन्द्रह-सोलह बरस की। श्याम घटा से केस। पाटी, मानौ मरकत मणि की टाटी। चोटी लाबी, कारी सटकारी जसे पन्नग की नारी। मांग मोतियन ते सवारी। भालचन्द को सो भाग। तिलक लाल, जानौ पीतम कौ सुहाग। भौंहें बाकी, मन मोहैं। श्रवण दोऊ सीप से सोहैं। दृगन के आगे, कवल, मीन, मृग खजन कहा? नासिका को देखि, तिलपुल औ कीर, लज्जित महा। वाके मुखचन्द्रहिं देखि, पूर्णिमा कौ चन्द्र, कलकी भयौ। दात की पात लखि, दाडिम कौ हियौ दरकि, ग्रीवा की सुन्दरता निरख, कपोत कुलमुलाय। कुचन की कठोरता हेरि सरोज कली सरोवर मे गिरी जाय। कटि की कृपता देखि, केहरी ने बनवास लियो। जाघ की चिकनाई लखि, कदलि ने कपूर खालियो। जाके कर पद की कोमलता के आगे पदम की पदवी कुछु नहीं। ऐसी चन्दावरनी पिकबनी, गजगंनी घूंघट कियौ, कचन की कलसी लिये, एकली, जल भरण जाति है।'

(सुलोचना का रूप वर्णन, पृष्ठ ४४ ४५)

['माधव विलास—(लल्लुजीलाल) प्रथम प्रकाशन, कलकत्ता, १८१७ ई०। प्रस्तुत अवतरण, 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका (डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय) मे पृष्ठ २६४ पर उद्धृत।]

४८ मेरठ में सवसुख नाम एक अग्रवाला बनिया था। मण्डी में आढत की दुकान थी। आसपास के गावों के लोग सौदा लाते इसकी दुकान पर बेच जाते। पसा रुपया तुलाई का, इसके भी हाथ लग जाता। जब कभी भाव चढा देखता, हजार, दो हजार का नाज पात दुकान में डाल देता। फायदा देख, उसे बेच डालता। ब्याज-बट्टे और गिरवी पाने की भी उसे, बहुतेरी आमदनी थी। हाट हवेली, धन दौलत दूध पूत, परमेश्वर का दिया उसके सब कुछ था और यह उसने अपने ही पुरुषार्थ से किया था। माँ बाप तो पिछले हैजे मे, पाच वर्ष का छोड कर मर गये थे। चाचा ने पाला था। थोडे ही दिन हुए होंगे जब तो, कुकडियाँ वेचा करै था। चना चबेना करता। खोंचा सिर प लिए, गलियों में फिर था।'

—(ग्रन्थारम्भ से)

[देवरानी जेठानी की कहानी' (प० गौरीदत्त शर्मा,) रचनाकाल सन् १८७० ई०, प्रकाशक मोहोम्मद हयात, मेरठ।]

६ ६ इन सबो मे, एक मनुष्य को आप लोग पहचान देखिए। इससे बहुत काम पडेगा। यह नाटा, खोटा, अच्छे हाथ पर का, सावले रग का आदमी है—बडी भौंहें ! छोटी आँखें। कछडा कसे, लाल पगडी बाधे, हरा दुपट्टा कमर मे लपेटे, सफेद दुपट्टा ओढे जात का बुनबो है। इसका नाम हानी है।

—(दुष्ट पात्र वणन)

['एक कहानी कुछ आपबीती, कुछ जग बीती' (भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र), रचना काल १८७६ ई०, भारतेन्दु ग्रथावली भाग ३ पृष्ठ ८१५ (काशी नागरी प्रचारणी सभा, काशी)।]

७ १० [नासिक से दस कोस पर,] यह भूभाग, अनेक सुरम्यलता और प्राकृतिक कुजो की प्रसव भूमि थी। क्योकि वन, जो यहाँ थे, वे इतने सघन थे, कि उनमे पठते ही बटोही भूलभुलया के चक्कर मे पड, कोसो तक भटकना फिरे। इस वन के वृक्ष भी इतने गझिन न थे कि सूयदेव की किरणें बाहर ही से झाक कर रह जायें, पेडो के एकाके के कारण भीतर न घँस सकें। सहस्राशु की सहस्र-सहस्र किरणें, उदय होने के साथ ही, एक बारगी आकर इन वृक्षो के कोमल प्रवाल सदृश पल्लवो पर जो टूट पडती थी। जहाँ एका है वहाँ यह कब सम्भव है कि कोई बाहरी आकर अपना प्रभुत्व जमा सके। अलबत्ता इस ठौर यह बात न देखी जाती थी कि कोसो तक, सुस्वादु मीठे फलो से लदे हुए वृक्ष पथिकों को आतिथ्य के लिए अपनी लम्बी लम्बी और विस्तृत डाली रुप भुजाओ से, हवा मे झकोरा सा खाकर, बुला रहे हैं। इसी जगल के एक ओर एक और प्रात क समान, न यहा कोसो तक केवडे के वृक्ष ही थे, जो अपनी सुगन्ध से उदाहरण बनते हुए सवसाधारण को यह उत्तम शिक्षा दे रहे हो कि भलाई और अच्छा काम, तुमसे जहा तक बन पडे, करो। पर उस भलाई का प्रतिफल पाने की आशा मत रक्खो। सापो से गुथ हुए च दन के पेडो की जो कहानियाँ प्रसिद्ध हैं, वे इन्ही विकट कानन की कथाएँ हैं। पर तु खेद का विषय है कि यह खूबी भी, जिस स्थान का हम वणन कर रहे हैं उसम न थी।

—(वन वणन) (परिच्छेद २ पृष्ठ ४)

७ ११ अभी साझ न होने पायी थी। सूयदेव भी अपना प्रकाश, जगत से खीचते हुए (जहा ठाकुर साहब उतरे थे) उसी पहाड के पीछे अस्त हुआ चाहते थे। शिखर इस पहाड का इस कारण मानो सुवण रजित सा हो रहा था। ऐसा ज्ञात होता था कि नीचे की वनभूमि से शोभा सिमट कर इसी एक शिखर पर पुजित सी हो रही है। इतना सुन्दर वह नीचे से लगता था, यद्यपि जाडे का अवसान था, तथापि अभी से हवा मे कुछ-कुछ ठण्डक आ चली थी।

—(सध्या-वणन) (परिच्छेद ८, पृष्ठ ३८)

७ १२ विनायक सैर के वास्ते, इस टीले पर चढ गया। वहा विचित्र ही दृश्य देखा—नीचे हो गोदावरी की चद्दर का निमल जल, अति वेग से, एक पहाडी पर नीचे गिरता था—और सायकाल की लालिमा मे इस जल के शुभ्र रग की मोटी धारा की कुछ अदभुत ही शोभा थी। वहाँ के वायु म जो जलकणों की ठण्डक भर रही थी उसे राह के थके विनायक को, अत्यन्त सुख मिला।

(प्रपात वणन) (परिच्छेद ८, पृष्ठ ३८)

['नूतन ब्रह्मचारी'—श्री बालकृष्ण भट्ट, (प्रकाशक महादेव भटट, अहियापुर, प्रयाग) रचनाकाल १८७७ ई०, द्वितीय सस्करण सन १६११ ई० से। चिरजीव पुस्तकालय, बेलनगज आगरा, के सौजन्य से प्राप्त]

८ १३ तीन दिन बरात वहा रही। चौथे दिन शास्त्रीजी ने, चाँदी की खाट बिछाई। दान दहेज का क्या ठिकाना था। बडे बडे इक्यावन बरतन, और एक सौ ग्यारह, सूती और रेशमी वस्त्र, इक्कीस गऊ ग्यारह घोडे और सोने चादी के दुहरे गहने, और सीतापुर नामक एक गाँव, जो जयपुर के राजा ने शास्त्रीजी को दिया था, यह सब पदाथ तो लडकी के लिए निकाला और सोने के कडे, मोतियो की माला, पाचो वस्त्र लटके के लिए धरे। एक दुशाला और एकावन मोहर, श्री पडित उमादत्त जी के लिए रख के शास्त्रीजी ने हाथ जोडे और कहा कि यह पुष्प पत्र आपकी भेंट हैं।

—(विवाह रीति वणन, पृष्ठ ३६)

[भाग्यवती —(श्रद्धाराम फिल्लौरी) प्रकाशक हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, रचनाकाल, १८७७ ई०, प्रस्तुत सकरण १६६० ई० से]

६ १४ गरमी की ऋतु थी। सायकाल का समय। सुय अस्ताचल चले गये थे। पहाड से मकान ज्वालामुखी हो रहे थे अर्थात उनके पत्थर ऐसे तप गये थे, कि उसमे लवर निकलती थी और गरमी का अन्त न था। उस समय मदनमोहन, अपने मित्र माधव को साथ लेकर हवा खाने निकला। —(ग्रीष्म वणन परिच्छेद१, पृष्ठ १)

६ १५ अहा! हा! आज तो बडी ही बहार का दिन है। देखो पानी बरसा है। ठडक छा रही है। सुन्दर ठडी ठडी हवा चित्त को मोह लेती है। इस समय अग्रेजी प्रान्त म बडी ही बहार है। चलो आज हम अपने पाठको को वहीं का तमाशा दिखलायें। हाय! हाय! यहा की सडक कैसी बिगड रही है जिसमें एक एक बित्ता गाडी का पहिया, धस जाता है। अच्छा देखिए। यह नई सडक आ पहुँची। अजी यहाँ भी कीचड हो रही है। यह बाग है। वाह! यह भी क्सा अच्छा स्थान है। नि सन्देह यह स्थान विचार शहर वालो का बडा ही उपकार करता है।

—(प्रात भ्रमण वणन, परिच्छेद ६ पृष्ठ ५३ ५४)

[नि:सहाय हिन्दू एक वियोगान्त उपन्यास (श्री राधाकृष्णदास,) प्र० विक्टोरिया प्रेस, बनारस। प्रथम संस्करण १८८१ ई०, प्रस्तुत संस्करण सन १८६० ई०। चिरजीव पुस्तकालय बेलनगंज, आगरा के सौजन्य से।]

१०१६ जब बग्गी, कम्पनी बाग में पहुँची तो सवेरे का सुहावना समय देख कर, सब का जी, हरा हो गया। उस समय की शीतल मन्द, सुगन्धित हवा, बहुत प्यारी लगती थी। वृक्षो पर हर तरह के पक्षी, मीठे-मीठे स्वरो मे चह चहा रहे थे।

नहर के पानी की धीरी धीरी आवाज, कान को बहुत अच्छी मालूम देती थी। पन्ने सी, हरी घास की भूमि पर मोती सी ओस की बूदें बिखर रही थीं और तरह-तरह की फुलवाड़ी हरी मखमल मे रग रग के बूटो की तरह, बडी बहार दिखा रही थी। इस स्वाभाविक शोभा को देख कर, लाला ब्रजकिशोर ने, मदनमोहन से, थोडी देर यहाँ ठहरने के वास्ते कहा।

—(उद्यान वर्णन, प्रकरण १, पृष्ठ १६)

१०१७ हुजूर! आज कल कुतब मे बडी बहार आ रही है। थोडे दिन पहले एक छीटा हो गया था इससे चारो तरफ हरियाली छा गई है। इस समय झरने की शोभा देखने लायक है' मुशी चुन्नीलाल कहने लगे। वहाँ की शोभा का क्या पूछना है? आम के मौर की सुगधि से, सब अमराई में महक रही हैं। उनकी लहलही लताओ पर बैठ कर, कोयल कुहुकती रहती है। घनघोर वृक्षो की घटा सी छटा देखकर मोर नाचा करते हैं। नीचे झरना झरता है। ऊपर बेल और लताओ के मिलने से तरह-तरह की रमणीक कुजें और लतामडप बन गए हैं। रग रग के फूलो की बहार जुदी ही, मन को लुभाती है। फूलो पर मदमाते भौंरो की गुजार और भी आनन्द बढाती है। शीतल मंद सुगन्धित हवा से मन अपने आप ही, खिला जाता है। निर्मल सरोवरो के बीच, बारहदरी में बैठ कर, चद्दर जोर फुहारो की शोभा देखने से जी कैसा हरा हो जाता है। वृक्षो की गहरी छाया म पत्थर की चट्टानो पर बैठ कर, यह बहार देखने में, कैसा आनन्द आता है?' पडित पुरुषोत्तमदास ने कहा।

(उद्यान—वर्णन) (प्रकरण १६, पृष्ठ ११६)

१०१८ पहाड की ऊची चोटियो पर जाने से कुछ और विशेष चमत्कार दिखाई देता है। जब वहा से नीचे की तरफ देखते हैं कही बर्फ कहीं पत्थर की चट्टानें कहीं बडी बडी कन्दराएँ कहीं पानी बहने के घाटो म कोसो तक वृक्षो की लगातार कही सूअर रीछ और हिरणों के झुण्ड, कही जोर से पानी का टकरा कर छींट छींट हो जाना, और उनमे सूर्य की किरणो के पडने से, रग रग के प्रतिबिंबो का

दिखाई देना कहीं बादलों का पहाड़ से टकरा कर, अपने आप बरस जाना, बरसा की झड़, अपने आसपास, बादलों का झूम झूम कर, घिर आना, अति मनोहर दिखाई देता है।"

(पार्वत्य—शोभा वर्णन) (प्रकरण १६, पृष्ठ ११६ ११७)

१० १९ "रात को चाँद, अपनी चाँदनी से, सब जगत को रुपहरी बना देता है। उस समय दरया किनारे हरियाली के बीच, मीठी तान, कैसी प्यारी लगती है ?' हकीम अहमद हुसैन ने कहा "पानी के झरने की झनझनाहट, पक्षियों की चहचहाहट, हवा की सनसनाहट, बाजे के सुरों से मिल कर, गाने वाले की लय को चौगुना बढ़ा देते हैं। जिस समय यह समां आँख के सामने हो, स्वर्ग का सुख तुच्छ मालूम देता है।'

(चाँदनी रात्रि वर्णन) (प्रकरण १६, पृष्ठ ११७)

(परीक्षा गुरु —(लाला श्रीनिवासदास,) प्रकाशक ज्ञान प्रकाशन, चावड़ी बाजार, दिल्ली। रचनाकाल १८८२ ई०। प्रस्तुत संस्करण १९५८ ई०।

११ २० मैं एक अपूर्व मनोहर भूमि पर विचरता हूं। सामने सामने पर्वत, उत्तर भाग में एक बड़ी भारी नदी—कमल फूले हैं, कोकनद की पाँति, शोक को हटाती है। कुमुद भी एक ओर मुदयुक्त होकर, एक ओर देख रहे हैं। इधर चातक, 'पी पी' रट कर अपने पुराने पापों का प्रायश्चित करता है, उधर काली कोयल भी, अमराइयों में पंचम स्वर से गा रही है। आम की मंजरी, सभी को, सकाम करती है। वन और अधखुले पलाश अपने पलाशों के गम में टंडे हो रहे हैं। मालती की लता, चमेली, पाटल, चम्पा इत्यादि, सबके सब अपने राव चाव में मगन हो रहे हैं—पर्वत की अनुपम शोभा कही नहीं जाती। सरिता उसी की नववधू सी हो उसकी गोद से निकल कर, और भी प्रमोद को बढ़ाती है। पर्वत की कंदरा, सिंह के नाद से प्रतिध्वनित हो रही है। इधर, उस नाद को सुन, गवय और गज भी, भीत हो कर, पलीत की भाँति, चिक्कार मार कर भागते हैं। हरिण, अपनी प्यारी हरणी के साथ कूदते आते हैं। मयूरों के जूथ का, बरुथ उड़ा जाता है। बादल छा गए, चन्द्रमा छिप गए, पर बीच बीच में, उधर जाने से कभी कभी प्रकाश भी करते हैं।

(वन्य शोभा वर्णन) (पृष्ठ ६)

११ २१ इस प्रकार क्षण भर में, हेमन्त में भी, पावस का समाज हो गया था। पर अन्त को अकाल ही के मेघ तो थे। क्षण भर में प्रवात से बिथुर गए। आकाश खुल गया।

यह हेमन्त का समय था। गुलाब से कर वाली उषा ने, चिनौलता के उर

से, अन्धकार के मेघ दूर किये और उदय होते हुए भानु की किरणा का प्रतिबिम्ब, लहरों मे लहराने लगा। इस पुराने ग्राम के एक ओर, नदी के तीर से, पलाश, आम, ताल और खजूर के महावन पर्यन्त, प्रचुर शालि की भाँति, अपने सुनहले सिर कँपाती थी। दूसरी ओर, सम्पन्न गोचारण भूमि, व्रजाङ्ग की गाय-गोरुओं से आच्छादित थी।

(हेमन्त में ग्राम परिसर वर्णन) (पृष्ठ ७)

११ २२ ऐसे सुन्दर ग्राम, जिसमे श्याम सुन्दर, स्वय विराजमान हैं मेरा जन्म स्थान था। बाग भी राग और विराग, दोनों देता है। देवालयो की अवली, नदी के तीर में, नीर पर परछाई फेंकती है। ऐसा जान पड़ता है कि जितने ऊंचे कगूरों से, वह अम्बर को छूती है, उसी भाँति पाताल की गहराई भी नापती है—जहाँ विचित्र पान्थशाला, पाठशाला, व्यायामघोष और प्रबन्धकों के आगार धनियों का व्यापार जिनके द्वारे फूलो के हार टंगे हैं, जहा के राजपथ पर व्योपारियो की भीड़, गंभीर सागर सी बनी रहती है, चित्त पर ऐसा असर करती है जो लिखने के बाहर है।

(ग्राम वर्णन) (पृष्ठ ४३)

११ २३ चौडे चौडे राजपथ, सकीण बीथी अमराइया और नदी के तट सभी अभिसारिका और नागरिको के सहायक हैं। पुराने टूटे फूटे दिवाल इस ग्राम की प्राचीनता के साक्षी हैं। ग्राम के सीमान्त के झाड जहाँ झुण्ड के झुण्ड कौए और बकुले बसेरा लेते हैं गर्वई की शोभा बढ़ाते हैं। पौ फटते और गोधूलि के समय गयो के खिरके की शोभा जिनके खुरों से उड़ी धूल ऐसी गलियों मे छा जाती है, मानों कुहरा गिरता हो।

(ग्रामीण शोभा-वर्णन) (पृष्ठ ४४)

'श्यामा स्वप्न'—(ठाकुर जगमोहन सिंह), रचनाकाल सन १८८५ ई०, सपादक डा० श्रीकृष्णलाल, (प्रकाशक, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी,) १९५४ ई० के सस्करण से।

१२ २४ तेजसिंह दरवाजा खोलने लगे, दरवाजे के ऊपर एक बडा सा चेहरा, शेर का बना हुआ था जिसके मुह में हाथ बखूबी जा सकता था। तेजसिंह ने देवीसिंह से कहा इस चेहरे के मुह मे हाथ डाल कर इसकी जबान बाहर खींचो' देवीसिंह ने वसा ही किया, और हाथ भर के करीब, जबान खेंच लिया। उसके खेंचते ही, एक आवाज हुई और दरवाजा खुल गया। अहमद की गठरी लिये हुए दोनों अन्दर गये। देवीसिंह ने देखा कि खूब खुलासी जगह बल्कि कोस भर का साफ मैदान है। चारों तरफ ऊँची ऊंची पहाडियाँ, जिन पर किसी तरह आदमी चढ नहीं सकता। बीच मे एक छोटा सा झरना पानी का बह रहा है और बहुत से जगली मेवो के दरख्तों से अजब सोहावनी जगह मालूम होती है। चारो तरफ पहाडियाँ, नीचे से ऊपर

तक छोटे छोटे करजनी, गुमची, वेर, मकोईचे, चिरौजी, वगरह के घने दरख्तों और लताओ से भरी हुई हैं। बड़े बड़े पत्थर के ढोके, मस्त हाथी की तरह दिखाई देते हैं। ऊपर से पानी गिर रहा है, जिसकी आवाज बहुत भली मालूम होती है। हवा चलने से पेडो की धनधनाहट, और पानी की आवाज तथा बीच बीच मे, मोरो का शोर और भी दिल को खींच लेता है। नीचे जो चश्मा पानी का, पश्चिम से पूरब की तरफ घूमता हुआ बह रहा है, उसके दोनो तरफ जामुन के पेड लगे हुए हैं और, पक्के जामुन उस चश्मे के पानी मे गिर रहे हैं। पानी भी चश्मे का इतना साफ है, कि जमीन दिखाई देती है। कहीं हाथ भर, कहीं कमर बराबर, कही उससे भी ज्यादा होगा। पहाडो मे कुदरती खोह बने हैं, जिनके देखने से मालूम होता है मानो ईश्वर ने यहा सैलानियो के रहने के लिये, कोठरिया बना दी हैं। चारो तरफ की पहाडियाँ, ढालवी और बनिस्बत, नीचे के ऊपर से ज्यादे खुलासी थी। और उन पर बादल के टुकडे, छोटे छोटे शामियानो का, मजा द रहे थे। यह जगह ऐसी सुहावनी थी, कि वर्षों रहने पर भी, किसी की तबियत न घबडाए बल्कि खुशी हो।

सुबह हो गई। सूरज निकल आया जब अहमद होश मे आया और उसने अपने को इस अजीब दिलचस्प मदान में, देखा तो यकीन हो गया कि मैं मर गया हूँ और फरिश्ते मुझको यहा ले आए हैं। लगा कलमा पढने। —(तिलस्म वणन)

(पहिला हिस्सा, छठवा बयान, पृ० २४ २५)

१२ २५ नौगढ और विजयगढ का राज पहाडी है। जगल भी बहुत भारी और घना है। नदिया चन्द्रप्रभा और करमनासा, घूमती हुई इन पहाडो पर बहती है। जाबजा खोह और दर्रे, पहाडो म बडे खूबसूरती से कुदरती बने हुए हैं। पेडो मे साखू तेंदू, विजयसार, कुरया धो ढाजा पेयार जिगना आसन, सानन, वगरह और सिवाय इनके जगली पडा म पारिजात के पेड भी बहुत है। यह पहाडी अजब दिलचस्प है। अभी तो आप गाँव म पडे हैं, मील भर इधर उधर जाइये घने जगल म फस जाइयेगा। कहीं रास्ता न मालूम होगा कि कहाँ से आए और किधर जाएगे। बरसात के मौसिम म तो अजब ही कफियत रहती है। कोस भर जाइये रास्ते म, दस नाले मिलेंगे। जगली जानवरो मे साबर बारहसिंघा, चीता, भालू तेंदुआ, चिक्कारा, लगूर, बन्दर वगरह क अलावे कभी कभी शेर भी दिखाई देत हैं। मगर बरसात मे नही, क्योंकि, नदी नालो मे पानी ज्यादा हो जाने स उनके रहने की जगह खराब हो जाती है और तब वे, ऊची पहाडिया, पर चले जाते हैं। इन पहाडो पर हरिन नही होते, मगर पहाड के नीचे, बहुत से देख पडत हैं। परिंदो मे, सिवाय तीतर, बटेर, जिनिक वगरह के, मोर ज्याद होत हैं। गरज कि ये सुहावने पहाड, अभी तक लिखे मुताबिक मौजूद हैं और हर तरह स देखने काबिल हैं।

उन ऐयारों ने, जो चुनार से क्रूर और नाजिम के संग आए थे, शहर में न जाकर, इसी दिलचस्प जंगल में, डेरा बनाया।

—(वन-वर्णन) (पहिला हिस्सा, चौदहवाँ बयान, पृ० ५० ५१)

१२ २६ एक औरत (चपला) निहायत हसीन, रंग गोरा, सुरमई रंग की साड़ी और धानी, बूटीदार चोली, दक्षिणी ढंग पर पहिने, पीछे से लांग बाँधे, खुलासा गड़ाढीदार जूड़ा, चोटी से बाँधे, जिस पर एक छोटा सा सोने का फूल, माथे पर एक बड़ा सा सोने का टीका लगाए, कानों में सोने की निहायत खूबसूरत जड़ाऊ बालियाँ पहिरे नाक में सरजा की नथ, एक टीका सोने का, घुँघरूदार, पटड़ी गूँधन की गले में पहिरे, हाथ में बिना मुट्ठी का कड़ा, दो छन्देली, जिसके ऊपर काली चूड़ियाँ, कमर में लच्छेदार करधनी, पैर में सादा पहिरे, अजब आनबान से सामने खड़ी है। गहना तो मुतस्सर है, मगर बदन की गठाई और सुडौली पर इतना ही आफत हो रहा है। गौर से निगाह करने पर एक छोटा सा तिल ठुड्डी के बगल में देखा, जो चेहरे की और भी रौनक दे रहा है।

—(ऐय्यारा का रूप वर्णन) (पहिला हिस्सा सत्रहवाँ बयान, पृष्ठ ७१)

१२ २७ जब कुमार की नींद खुली, अपने को उस खेमे में न पाया, जिसमें सोए थे। बल्कि उसकी जगह एक बहुत ही सजे हुए कमरे को देखा, जिसकी छत में कोई बेशकीमती झाड़ और शीशे लटक रहे थे। तीन तरफ संगमरमर की दीवार, और चौथी तरफ बड़े बड़े खूबसूरत दर्वाजे हैं। दीवारों पर कई दीवारगीरें लगी हुई हैं, जिनमें अभी तक मोमबत्तियाँ जल रही हैं। ऊपर उसके चारों तरफ बड़ी बड़ी खूबसूरत और हसीन औरतों की तस्वीरें लगी हुई हैं। लम्बी दीवार के बीचो बीच में एक तस्वीर, आदमी के कद के बराबर सोने के चौखटे में जड़ी, दीवार के साथ लगी हुई थी।

—(राजभवन वर्णन) (तीसरा हिस्सा, ग्यारहवाँ बयान, पृ० ४६ ४७)

१२ २८ आप उसी बाग में पहुँच गए। देखिये अस्त होते हुए सूर्य भगवान अपनी सुन्दर लाल किरणों से इस मनोहर बाग के, कुछ ऊँचे ऊँचे पेड़ों के ऊपरी हिस्सों को, चमका रहे हैं। कुछ कुछ ठण्डी हवा, बाग के खूबसूरत नाजुक और खुशबूदार फूलों की महक, चारों तरफ फैला रही है। देखिए इस बाग के बीच वाले, संगमरमर के, चबूतरे पर तीन पलंग रक्खे हुए हैं। जिनके ऊपर खूबसूरत खूबसूरत लौंडियाँ अच्छे बिछौने बिछा रही हैं खास करके बीच वाले जड़ाऊ पलंग की सजावट पर सभों का सबसे ज्यादा ध्यान है। उधर देखिये वह छोटा सा घास का रमना कैसा खुशनुमा बना हुआ है। उसमें की हरी-हरी दूब, कैसी खूबसूरती से कटी हुई है। यकायक सब्ज मखमली फर्श में, और इसमें कुछ भेद मालूम

नहीं होता। और देखिये, उसी सब्ज दूब के, रमने के चारो तरफ रंग बिरंग के फूलों से, खूब गुथे हुए, सीधे साधे, गुलमेंहदी के पेड़ों की कतार पल्टनों की तरह कैसी शोभा दे रही है।

—(राजमहल वर्णन) (चौथा हिस्सा, सोलहवां बयान, पृष्ठ ६०)

['चन्द्रकान्ता' (देवकीनन्दन खत्री,) प्रथम प्रकाशन १८८६ ई०, (लहरी बुक डिपो, वाराणसी,) प्रस्तुत संस्करण तीसवां, १९५८ ई०]

१३.२९ सचमुच वसंतकुमार, बहुत सुन्दर और सुडौल आदमी था। उसकी सुंदरता, रूपगर्विता तरुणी के मानभंजन करने की मानो दिव्य औषधि थी।

उसका सुंदर रंग, प्रफुल्ल मल्लिका सा गौर, शरीर बलिष्ट कोमल और अनति-स्थूल, ललाट प्रशस्त।

—(नायक का रूप-वर्णन) (बयालीसवां परिच्छेद, पृष्ठ १७६)

१३.३० इसी जगह हम कुसुम के नखशिख का वर्णन करना उचित समझते हैं। सुनिए—वह एक स्वच्छ कुसुम्भी रंग की बनारसी साड़ी पहिरे थी। साड़ी का एक कोना, कमर के दोनों भुजाओं के नीचे तक फैला था। पीठ खुली, पर कसीली चोली कसी थी। साड़ी के भीतर से चपक समान, अंग के रूप लावण्य की विभा, फूट-फूट कर बाहर निकलती तथा अपूर्व रस का स्वाद चखाती थी केशविन्यास, सोलह शृगार, अंग परिष्कार और बसन की बहार।

—(नायिका का रूप-वर्णन) (बयालीसवां परिच्छेद, पृष्ठ १७६)

१३.३१ वह बसन्तकुमार की विवाहिता स्त्री गुलाबदेई थी। वह गुलाब विनिन्दित गुलाब होने पर भी गुलाब के संगी काँटे से कँटील स्वभाव को न छोड़ सकी थी। जब वह एनमन गुलाब ही थी, तो फिर उसके रूप का क्या कहना! तथापि रूपाभिमानिनी सुन्दरिया के परखने के लिये, हम गुलाब की छवि कलम से खींच देते हैं।

वह कोमल नाजुक छोटा सा कद वह चपक समान गौर वर्ण। वह शशधर विनिंदित, मुखमण्डल, वह आगुल्फ प्रलम्ब कुंचित केश वह तिल पुष्पाभ नासिका, वह सीप से सुहावने कर्णकुहर वह गुलाब की पत्ती परिष्कृत सुवासित, कुंचित, कृष्णकेश, जाल से मण्डित, भ्रूलता युगल सूक्ष्म घन कार्मुकाकार और दूरायत तथा निविड कृष्ण, नासिका उन्नत और नुकीली, बिंबाधर रक्त-वर्ण पतले और सुकोमल, नेत्र आकर्णावलम्बी, नुकीले तथा स्निग्ध, कटाक्षमय, ग्रीवा दीर्घ और पुष्ट, तथा अन्यान्य अंग, पारिपाट्यमय और साँचे के ढले से, सुडौल गोलमटोल थे।

—(पात्रा रूप वर्णन) (बयालीसवां परिच्छेद, पृष्ठ १७४)

१३ ३२ आरामगृह, सुदरता से सजा था। बडी-बडी तस्वीरें शीशे, आइने, भाड, फानूस, हाडी, दीवारगीर आदि, आराइशो से, चारो ओर, कमरा, भरा-पूरा था। जमीन म ऊनी कार्पेट और गलीचे का फश, और ही शोभा देता था। उस पर उत्तमता से, इधर उधर डेस्क, मेज कुर्सी, मूढे, टेबल, अलमारी, और पलग, और ही छटा झलका रहे थे। घर खूब ऊँचा सम्बा चौडा और प्रशस्त तथा सुहावना था। चाँदी के पाए के मखमली गद्दी तकिये, जरदोजी काम के, रसिको के चित्त को उधर ही खींच लेते थे।

(रगमहल की सजावट-वणन) (बयालीसवा परिच्छेद, पृष्ठ १७४)

['स्वर्गीय कुसुम वा कुसुमकुमारी, (किशोरीलाल गोस्वामी,) प्रथम प्रकाशन १८८९, द्वितीय सस्करण १९६० ई० से। (नागरी प्रचारिणी सभा, आगरा, के सौजय से)]

१४ ३३ बरसात का अत है। दु यमी के धन के समान, मेघ, आकाश मे सिमिट सिमिट, लोप हाने लगे हैं। शरत का आरम्भ हो गया। शीत अपना सामान धीरे धीरे इकट्ठा करने लगी। कुआर का महीना है। उजाली रात है। ग्यारह बजे का समय है। सन्नहटा छाया हुआ है, मानो प्रकृति देवी, दिन भर की दौडधूप के उपरान्त, थकी थकाई, विश्राम के लिये छुट्टी लिया चाहती है। चन्द्रमा, सोलहों कला से पूण होने मे, कुछ ऐसा ही नाममात्र का अन्तर रखता हुआ, अपनी प्रेयसी निशा की मुखच्छवि पर निहाल हो, माना हँस सा रहा है, जिसकी सब ओर छिटकी हुई चादनी, सम विषम, भू भाग को, एक आकार दरसाती हुई, चक्रवर्ती राजा की आज्ञा समान, सवत्र व्याप रही है, मानो वितान रूप नीले नीले आकाश शामियाने के नीचे सुफेद फश बिछा दिया गया हो। मालूम होता है। शरत् की सहायता पाय, धरती, आकाश के साथ होड लगाए हुए है। वहाँ निमल आकाश मे मोती से चमकते हुए तारे अपने स्वामी निशानाथ के प्रसन्न करने को, निशा वधूटी के लिये उपहार बन रहे हैं यहा कन्या के सूय के प्रचण्ड आतप म कीचड पानी सूख जाने से, स्वच्छ हो, छिटकी हुई चाँदनी के मिस हँसती सी धरती, फूले हुए कल्हार गुलनार, कुई कुद आदि भाति भाँति के फूलो का गहना सजे उसी निशा नई दुलहिन को मुँह दिखाई देने को प्रस्तुत है। वहा एक चन्द्रमा है। यहा ठौर ठौर, नव युवतियो के अनेक चाद से मुखडे की चादनी, कामियो के मन मे, मनसिज का विकास कर रही है। ऐसे समय मे अरबी घोडे पर सवार एक आदमी देख पडा।

(शरद ऋतु म चादनी वणन) (पहला प्रस्ताव, पृष्ठ १ २)

१४ ३४ भेख इसका सिपाहियाना था। उमर म यद्यपि ५० के ऊपर हा गया था। पर डीलडौल से ४० के भीतर मालूम होता था। बाल उसके दो एक,

कहीं कहीं पक गए थे सही, किन्तु उतने से यह किसी को नहीं बोध होता था कि यह तरुणाई से ढुलक चला है । स्वामिभक्ति, इसके चेहरे से भलक रही थी। चौड़ी छाती और बदन की मजबूती से यह क्षत्री मालूम होता था । और डील का न बहुत नाटा, न बहुत लम्बा था । कुछ ऊंघता, अलसाना सा, कागज का एक पुलिंदा हाथ में लिये, लम्बे चौड़े पक्के मकान के फाटक पर आकर यह खटखटाने लगा ।

(पात्र-वर्णन) (पहला प्रस्ताव, पृष्ठ २)

१४३५ ग्रीष्म की ऋतु है। जेठ का महीना है। दोपहर का समय है। सब ओर सन्नाटा छा रहा है। तिग्मांशु की तीखी खरतर किरणें से, समस्त ब्रह्माण्ड, तपे लोहपिण्ड का अनुहार कर रहा है। क्या स्थावर क्या जंगम यावत् पदार्थ सब पानी ही पानी रट रहे हैं। जिसे छुओ वही अंगारे सा गरम बोध होता है, मानो स्वर्गेन्द्रिय शीत स्पर्श से निराश हो जल में शैत्य गुण का निर्देश करने वाले कणाद महामुनि की बुद्धि का भ्रम मान बैठी है। एक तो अत्यन्त दण्डायमान दिन, उसमें ललाट तप चण्डांशु के प्रचण्ड आतप के ताप से संतप्त, शीतलच्छाया का सहारा किए हुए, यह जंगम जगत भी, इस मौन दशा में, कभी कभी पुराने खण्डहरों पर बैठी चील का भयंकर फिकियाना जो कानों को व्यथा पहुँच रहा है, सो मानो बीच-बीच में, उच्चाटन मंत्र की सुमरनी पूरी होने का पता देता है।

(ग्रीष्म ऋतु वर्णन) (प्रस्ताव ६, पृ० २० २१)

['सौ अजान एक सुजान'—(पं० बालकृष्ण भट्ट,) प्रथम संस्करण १८६०, तीसरे संस्करण १९१८ ई० से, प्रकाशक महादेव भट्ट, अहियापुर, प्रयाग) । चिरंजीव पुस्तकालय, बेलनगंज आगरा, के सौजन्य से ।]

१५३६ *उस बालिका के मुखड़े से, सीधापन, पहिनावे में दरिद्रता रूप रंग* से, उत्तम कुल की महिमा और चाल से, घबराहट टपकी पड़ती थी। उसने नीले रंग की देसी साड़ी से भली भाँति अपना शरीर ढक लिया था और उस पर से एक मैली चादर ओढ़ ली थी। इतना होने पर भी उसकी अलौकिक सुन्दरता, उसी भांति देखने वालों की आँखों में, चकाचौंधी लाने के लिये काफी थी जैसे काले मेघों की ओट में छिपा हुआ, पूनो का चाँद रह रह कर, बादल से बाहर निकल, लोगों की आखें, चौंधिया देता है।

(पात्रा रूप वर्णन) (पहिला परिच्छेद पृ० २३)

१५३७ अन्तःपुर के एक विशाल शीशमहल में पहुँचे जो बहुत ही सुहावना और बहुमूल्य वस्तुओं से, भलीभांति, सजा हुआ था। वह गृह काँच के असबाबों के अलावे, सोने चाँदी और जड़ाऊ खिलौनों, तथा गुलदस्तों से, भली भाँति सजा हुआ था और दलदार मखमली गद्दा जिसमें जरदोजी का काम किया हुआ था, कमरे में

बिछा था। उस कमरे के बीचोंबीच, एक सोने का जडाऊ सिंहासन बिछा हुआ था, जिस पर, जर्नोजी काम के गद्दी तकिए रक्खे हुए थे और जडाऊ चौडडियो पर, मोतियों की झालर वाला चन्द्रातप लगा हुआ था।

(भवन की आन्तरिक सजावट वर्णन) (नवा परिच्छेद, पृ० ६६)

१५ ३८ यदि कोई चतुर चितेरा, उस चित्त के चचल कर देन वाली कुसुम कुमारी की, अनुपम रूपराशि के चित्र उतारन के लिये हाथ उठाता, तो निश्चय है कि उसे पहले मूर्च्छा घर दबाती और उसका सारा सयानापन भूल जाता। फिर अन्त को उसे अपनी उस ढिठाई के लिये, बहुत ही पछताना पडता। और हार मान हाथ से यों कूची रख देनी पडती—देवी! तुलसा तू ही है!

१५ ३९ सोचने की बात है कि चम्पा, चमेली, गुलाब, और जपाकुसुम के रग के समान, पीले, सफेद गुलाबी और लाल रग के मेल से बना हुआ, कुसुम के सुकुमार शरीर का सा अलौकिक रग, वह बापुरा चितेरा, कहाँ से लाता? फिर उस भाग्यवती के विशाल भाल के लिखने के समय यदि उस (चितेर) को, कुसुमायुध की रगस्थली का, ध्यान आ जाता, तो वह अनाडी, अनमना सा हो रेखागणित के साध्यो की भाँति, न जाने, क्या का क्या, लिख मारता!

१५ ४० भला लाख चतुराई खर्च करने पर भी, क्या किसी चतुर चित्रकार का मजा हुआ हाथ, उस समय काँप कर बेहोश न हो जाता, जब कि वह, उस आदर्श रमणी की अलकावली के, दोनो हिस्सा को आग से, कुछ अर्द्ध चन्द्राकार, घुमा कर कानो के ऊपर से, बराबर ले आकर के, जूडे मे बाँधने का मनसूबा बाँधता!

१५ ४१ भला यह भी कभी सम्भव था, कि चतुराई का दम भरने वाला, चतुराननचेला चितेरा प्रलय पर्यन्त, सिर पटकते रहने पर भी, कभी अमल मन्दाकिनी की, पीयूषधारा के उत्पत्ति स्थान से कुछ दूर हट कर, भ्रू शैवालरेखा के नीचे, पलक पींजरे के भीतर, मनोल्लास से खेलती हुई, मतवाली मीन की जोडी का चित्र अकित कर सकता!

१५ ४२ और यह भी उससे कब बन सकता कि वह चितेरे का उचार, लडती हुई दो मछलियो के नीचे, सुआ का चित्र लिखता, जो बिम्बफल के ऊपर बठा हुआ कबूतर की पीठ पर केलि कर रहा हो, जिसके दोनो ओर, दो मतवाली नागिनें मचल मचल कर बार बार, चन्द्रबिम्ब से, अमृत घूस घूस, विष का उद्गार उगल उगल कर देखन वालो के हिये मे डस डस लेती हो।

(१५ ३८ से १५ ४२ तक—नायिका का, नख शिख रूप वर्णन, परिच्छेद दसवा, पृष्ठ ७५ ७६)

['हृदय हारिणी वा आदर्श रमणी'—(श्री किशोरीलाल गोस्वामी,) प्रथम संस्करण १८६० ई०, प्रस्तुत संस्करण १ मार्च सन् १६०४ ई०, काशी नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी। क० मा० मुंशी हिंदी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय के सौजन्य से]

१६४३ वर्षा का दिन है। आधी रात हो गई है। घनघोर मेघ घटा घिर कर, जोर शोर से, छहर छहर बरस रही है। पेडों के पत्ते, वायु के झोकों से, हहर हहर हहराने लगे हैं। उमड़ घुमड़ कर, मेघगन, गगन में, घहराने लगे हैं। तीनों लोक का चिह्न कुछ भी, अब कहीं बाकी नहीं है। सबके स्थान मे केवल, अंधकार ही अंधकार, शेष रहा है। जब तब बिजली चमक कर, सुनसान मे, सासारिक जीवमात्र को, निश्चल और मनोरम प्रकृति शोभा दिखला कर, मानो मन म यह विश्वास उत्पन्न कराती है, कि जिस प्रकार मेरी क्षणभगुर दीप्ति है उसी प्रकार यह ससार का सुख भी, क्षण मात्र, विलक्षण रीति से, चमक दमक कर, चल देता है उसी के प्रकाश से उगते और नष्ट होत हुए बबूल (बुरुट) दृष्ट होकर, मानो इस बात का बोध कराते हैं, कि इसी भांति, ससारी प्राणी इस ससार मे, तुरन्त ही उत्पन्न हो हो कर, मरते रहते हैं। घोर अधकार महाप्रलय का दृश्य दिखलाता है। इस अधकार म यदि कुछ इधर उधर से इस भयावनी और गभीर रात म लिखने वाला भूलोक के चिह्न को पाता है तो कवल यही कि सामने एक अग्रेजी चाल के बगले के किवाडो के झिलमिलियो के अन्दर स बाहर, कुछ प्रकाश निकल रहा है।

(समुद्रतट पर तूफान-वर्णन) (प्रथम परिच्छेद, पृष्ठ १२)

१६४४ प्रात भयकर नीलाम्बु दीख पडा। इसी बीच मे कई बार लहरें, बडे जोर शोर स उठी। मानो प्रलय के पहाड उडे आते हो। कई बार जहाज के ऊपर होकर लहरें चली गइ और लहर के जल के बीच जहाज पड गया। पर कुशल इतनी ही थी कि लहरो के नीचे पडने से जहाज, एकदम डूब नही जाता था। लहरो मे की बहुत सी बडी बडी मछलियाँ, जहाज ही पर रह गईं। कई बार, पहाड सी ऊंची लहर पर, जहाज जाकर जहाजी पथिकों के कलेजे के सदृश थर थर काँपने लगा। कई बार पहाड सी तरगो के बीच म, जहाज नीचे पड जाता था। अब अधिक उपद्रव और सध्या का समय देख, चतुर कप्तान ने दो तीन मन तेल, जहाज के चारो ओर छोड दिया, जिसस शीतल जल के पडने से खौलते दूध के उफान के समान, सब तरगमाला का तूफान, समुद्र म, आश्चर्यरूप से लीन हो गया। चारो ओर लहरें उठती थी, पर जहाज की ओर आने का साहस नही करती थी।

जल घोर कृष्ण वर्ण। कही-कही बडे बडे कच्छप और उन पर पक्षधर मछलिया छलकती और उछलती थी। उडती हुई मछलियो की लीला देख कर,

ईश्वर की विचित्र गति पर, नवयात्री आश्चर्य हुए। ये मछलियाँ बहुधा सीधी ही रेखा में उडती हैं और पालिश की हुई चाँदी के समान, धूप की किरणों से अधिक, 'चमचम' चमकती हुई, हृदय में एक विचित्र आनन्द का अनुभव कराती हैं।

(तूफानी सागर का वर्णन) (परिच्छेद २, पृष्ठ २७ २८)

['सुन्दर सरोजिनी'—(पं० देवीप्रसाद शर्मा उपाध्याय,) प्रथम संस्करण १८९३ ई०, द्वितीय, संस्करण सन् १९०७ ई०, चिरंजीव पुस्तकालय, बेलनगंज, आगरा के सौजन्य से]

१७ ४५ वहाँ से घोड़ागाडी में आरूढ होकर बहुत दूर न जा पाये थे कि पूर्व दिशा ने रक्तिमाभरण धारण कर, प्रभाकर के आगमन की सूचना दी और कुछ काल में, प्रचण्ड मार्त्तण्ड उदय होकर, अपने असह्य उत्ताप से, प्राणीमात्र को सन्तापित करने लगा, जिससे मनुष्य, पशु पक्षी, सभी, सघन वृक्षों की शीतल छाया का आश्रय लेने को उत्कण्ठित हुए ग्रीष्मकाल की कड़ी धूप से व्यथित होकर और निमर की यात्रा से थकित रजनी के शीतल समीर लगते ही, निद्रा के वशवर्ती हो अचेत हो गये।

(यात्रा वर्णन) (परिच्छेद ३, पृष्ठ २१)

१७ ४६ अंशुमाली भगवान, अस्ताचल चूडावलम्बी हो गये और रात्रि का गम्भीर अन्धकार, चतुर्दिक विस्तृत होने लगा, जिससे गाडी की गति रुकने लगी। परन्तु मेघाच्छादित आकाश में, दामिनी, कभी-कभी दमक जाती थी और उसी के क्षणस्थायी आलोक में, मार्ग ईषत् दृष्टिगत होता था, जिससे कि पर्यटन बन्द न हुआ। इस सुनसान प्रान्तर में कोई स्थान ऐसा न दीखता था, जहाँ जाकर आश्रय लें इतने में, कर्कश स्वर से, जबर गाडीवान बोला—"ओह! कैसा भयानक समय है! कैसा गम्भीर अन्धकार है कि हाथ को, हाथ नहीं दीखता! अब तो आगे चलने का असमर्थ हूँ क्योंकि, न तो मनुष्यों के गमनागमन का चिह्न लक्षित होता है और न किसी जन का कण्ठरव ही सुनाई पडता है, जिसका लक्ष्य कर, आगे बढ़ें।'

(रात्रि कालीन यात्रा वर्णन) (परिच्छेद ३, पृष्ठ २३)

['चन्द्रकला'— ठाकुर हनुवंतसिंह रघुवंशी, एजेन्ट, मिनगा राज्य (राजस्थान), भारत जीवन प्रेस काशी में मुद्रित प्रथम प्रकाशन १८९६ ई०। लेखक द्वारा स्वयं प्रकाशित प्रथम संस्करण (१८९६ ई०) से। चिरंजीव पुस्तकालय, बेलनगंज, आगरा के सौजन्य से प्राप्त]

१८ ४७ भारतवर्ष के मध्य प्रान्त में, रूपावती नाम की एक परम रमणीय नगरी थी, जो अपनी अनुपम शोभा के सामने, भारत-सरीखे प्रधान देश की प्रायः समस्त

नगरियों को लज्जित करती थी । उस नगरी के निवासी, अत्यन्त ही, रूपवान, गुणवान और शीलवान प्रसिद्ध थे । धन और लक्ष्मी की भी, उस नगर में, किसी प्रकार की त्रुटि न थी । प्रत्येक निवासी उस नगर के, सम्पन्न और महापरिश्रमी थे । धर्म की तो मानो यह पुरी सदन ही थी । जिधर देखिए, परम सुन्दर रमणियों के झुण्ड के झुण्ड, अपनी अलौकिक शोभा से चन्द्रमा की उजियाली को भी मन्द करते थे । उधर परम रूपवान नवयुवकों की छटा ही निराली थी । प्रत्येक भाग में नृत्य गान और नाना प्रकार के उत्सवों से, प्रत्येक अवसर पर, नगर में कोलाहल सा मचा रहता था । घर घर में पूजापाठ हवन इत्यादि, अनेक भाँति की धर्मचर्चा होने से मानो काशी नगरी का, अनुभव होता था ।

(नगरी वर्णन) (परिच्छेद १, पृष्ठ १२)

१८४८ राजकुमारी (चन्द्रमुखी) ऐसी स्वरूपवान थी कि यदि उसे सुन्दरता की सीमा कहें, तो भी अनुचित नहीं । चन्द्रमा के प्रकाश को मन्द करने वाला मुख, कमल को लज्जित करने वाले विशाल नेत्र, सुवर्ण की दमक को परास्त करने वाली देह भ्रमरों का विजय करने वाले केश तथा कोकिल को लजाने वाली प्रेममय, मधुर वाणी, साधारणतः उसकी शोभा के प्रकाश चिह्न थे । मन्द भाव से मुस्कराना, वार्ता करने में, मुख फेर लेना और लज्जित होना आधे कटाक्ष से देखना, अमृतमय वचनों का उच्चार करना, उसकी अद्वितीय छवि को और भी अधिक प्रशंसनीय बनाने वाले थे । राजकुमारी चन्द्रमुखी के केशों की शोभा प्रथम श्रेणी की आभायुक्त श्यामता के अतिरिक्त उसके केश उसकी कटि का स्पर्श करते थे । ललाट चौड़ा और दीप्तिमान था । नेत्र वास्तविक कमल को लज्जित और मृग के गर्व को चूर्ण करने वाले थे । उधर पल्लव की ललाई तथा कपालों के सुडौलपन ने यथार्थ में राजकुमारी को, 'यथानाम तथा गुण' चन्द्रमुखी बना रक्खा था । ।

(नायिका रूप वर्णन) (परिच्छेद १, पृष्ठ ४५)

१८४९ बारात के साथ जाने का हाथी घोड़े, ऊँट रथ इत्यादि कितने थे उनकी संख्या लिखना बहुत कठिन है । प्रस्थान करने के दिन, मधुपुरी नगरी की वह सुहावनी शोभा थी जिसे अवलोकन कर, इन्द्रपुरी का पूर्ण अनुभव होता था रूपावती नगरी का चमत्कार और शोभा भी ऐसी विलक्षण थी मानो पुरी मूर्तिमान शृंगार कर, राजकुमारी के विवाहोत्सव में सम्मिलित होने के अर्थ, आकर उपस्थित हुई है । उत्सव के दिवस, उक्त मण्डप, इस रीति पर सजाया गया था कि जिसको देखते ही दर्शकों का चित्त मोहित होता था । दीपावली के प्रकाश से नगर दीप्तिमान हो रहा था । मण्डप के नीचे, सुवर्ण की चौकियों पर, अनेक संस्थानों के सम्राट बहुमूल्य आभूषण और वस्त्र धारण किये, बैठे थे ।

(विवाहोत्सव वर्णन) (परिच्छेद ३, पृष्ठ ६५ ६६)

['श्री राजकुमारी चन्द्रमुखी (शृंगार, वीर, करुण तथा वैराग्यरस से पूरित, एक प्रभावोत्पादक उपन्यास) लेखक बाबू रामदास वर्मा, सम्पादक वेङ्कटेश्वर समाचार', प्र० वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई प्रथम संस्करण सन १८९८ ई० (सम्वत १९५५ वि०) प्रथम संस्करण से—क० मा० मुंशी हिन्दी विद्यापीठ आगरा विश्व विद्यालय के सौजन्य से]

१९.५० एक ग्यारह बरस की लड़की, अपने घर के पास की फुलवारी में खड़ी हुई, किसी की बाट देख रही है। सूरज डूबने पर है। बादल मे लाली छाई हुई है बयार, जी को ठण्ढा करती हुई धीरे धीरे चल रही है। थोडी देर मे सूरज डूबा, कुछ झुटपुटा सा हो गया, फुलवारी के एक ओर से कोई उसी ओर आता दीख पड़ा लडकी ने देख कर कहा देवनन्दन अब तक कहाँ थे।

(सन्ध्या वर्णन) (पहला ठाठ, पृष्ठ, १)

१९.५१ देवनन्दन, चौदह पन्द्रह बरस का लड़का है। उसके सुडौल गोरे मुखड़े, अच्छे हाथ-पाव, छरहरी डील, ऊंचे और चौडे माथे, लम्बी बाहें और जी लुभाने वाली बडी बडी आँखो के देखने से जान पडता है, जयन्त सरग छोड कर धरती पर उतरा है।

(नायक का रूप-वर्णन) (पहला ठाठ पृ० २)

१९.५२ आधी रात का समा बडी अँधियाली रात सब ओर सन्नाटा, इस पर बादलों की घेरघार। पसारने पर हाथ नी न सूझता। किसी पेड का एक पत्ता तक न हिलता। काले काले बादल, चुपचाप पूरब से पच्छिम को जा रहे थे। बयार, दबे पावो, उन्हीं का पीछा किए, बहुत ही धीरे धीरे चलती थी और कही कोई आता जाता न था। पखेरू पत्ता तक न हिलाते थ। सब सांस खीचे, चुप साधे डरावनी रात के सन्नाटे को और डरावना बना रहे थे। पर तनक थिर हो कर सुनने से, ऐसे सुनसान और सन्नाटे में भी, किसी की दुखभरी रुलाई सुनाई पडती है। और इसी रुलाई को सुन कर ऐसे कठिन बेला में भी, एक मानुख कान उठाये, लम्बी डग, उसी ओर जा रहा है।

धीरे धीरे काले बादल और काले हुए। अँधियाली और गहरी हुई, बिजली कौंधने लगी, धीमी धीमी गरज होने लगी सन-सन बयार चलने लगी। पहले, नन्हीं नन्ही बूँदे पड़ी पीछे बडी बडी बूँदों से भिम भिम पानी बरसने लगा।

(वर्षा ऋतु मे अँधियारी रात्रि वर्णन) (छठवा ठाठ पृ० २७)

१९.५३ यह देखो, सामने, रामपुर गाँव दिखलाई पड़ता है। चारों ओर, हरे भरे बाँस के पेड लहरा रहे हैं। उनके पास ही दो एक पेड़, आम जामुन महुवा

और कटहल के दिखलाई देते हैं। पास ही, एक बहुत बड़ा ताल है। ताल के ऊपर गाँव से थोड़ा हट कर, एक बड़ा भारी, बड़ का पेड़ है। धीमी बयार लगने से उसके पत्ते धीरे धीरे हिल रहे हैं। उस पर एक झण्डी सी फहरा रही है, वहाँ काली का थान है।

(ग्राम परिसर वर्णन) (नवा ठाठ, पृ० ४४)

१६ ५४ धीरे धीरे गंगा बह रही है। घाट पर कोई नहाता है, कोई जल भरता है कोई उतरता है कोई चढ़ता है। कोई खड़ा, निकलते हुए सूरज को जल चढ़ाता है। वहीं दो जन और बैठे हैं एक देवनन्दन दूसरा रमानाथ

(गंगातट वर्णन) (ग्यारहवाँ ठाठ, पृ० ५१)

('ठेठ हिन्दी का ठाठ' अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध') प्रथम संस्करण १८६६ ई० (नया संसार प्रेस, भदैनी) (चिरजीव पुस्तकालय, आगरा, के सौजन्य से)

२० ५५ प्रफुल्ल हृदया यामिनी, हँसती है। प्रफुल्ल हृदय निशानाथ, उज्ज्वल चन्द्र हँसते हैं। युगल दम्पति का हास्य देख कर फुलवाड़ी मे कलियाँ हँस पड़ीं। कुसुम-कलिका हँसी, नवपल्लव हँसे लतिका दल ने ठहाका मारा। भागीरथी की छाती पर काचन मुकुट मस्तक धरे उर्मिमालाओं का हँसना भी विचित्र शोभा देने लगा। सरोवरों की कुमोदिनी खिलखिला उठी। सुनील नभमण्डल में शुभ्र श्वेत मेघमालाएँ हँसी। चारों ओर हँसी की हाट लग गयी। जिधर देखो उधर ही हँसी, जिधर कान दो उधर हँसी की ध्वनि।

(चाँदनी में गंगातट वर्णन) (छब्बीसवाँ बयान भाग १, पृ० ७६)

('जादूगरनी मनोरमा'—श्री गोपालराम गहमरी प्रथम संस्करण सन् १६०१ से, भरत जीवन प्रेस काशी, आगरा विश्वविद्यालय क० मा० मुंशी हिन्दी एवं भाषा विज्ञान विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय के सौजन्य से।)

२१ ५६ बिहार प्रदेश के अन्तर्गत मुजफ्फरपुर जिले में, एक विस्तृत मैदान के बीच में, एक बहुत बड़ा तालाब है। अनाज के हरे भरे खेत, सुन्दर सुहावने, वृक्षों के कुंज छोटे अनगढ़े मिट्टी के ढेर आदि, यहाँ वहाँ रहने के कारण, जैसे निर्धन होने पर भी वह मैदान शोभायमान मालूम होता है। वैसे ही बड़े ऊँचे भिण्डों से घिरा, स्वच्छ निर्मल जल से भरा और अनेक जलजन्तुओं से पूरा रहने के कारण, कवल और हंस से रहित होने पर भी वह तालाब अति मनोहर मालूम होता है। इसकी अपूर्व शोभा की ख्याति सुन कर भगवान गिरिराज सुता पति, कैलाश का परित्याग कर, श्वेतलिंगाकार धारण कर, तालाब के पश्चिम किनारे, स्वयं आ पहुँचे हैं, और किसी भक्त के बनवाए पुराने मन्दिर में बैठ कर इस अनुपम दृश्य से अलौकिक तृप्ति पा रहे हैं।

(ग्राम-परिसर वर्णन) (पृ० १ २)

(बलवन्त भूमिहार—भुवनेश्वर मिश्र, प्रथम संस्करण १६०१)

२२५७ सध्या का सुहावना समय। सूरज जो अभी-अभी आसमान के पश्चिमी कोने की तरफ, करीब करीब झुक कर नजरो से छिप चुका है, काले काले बादलो को, जो पहाडो की तरह, दूर से दिखाई दे रहे हैं अपनी किरनो की हल्की हल्की, रोशनी से जगमगाये हुए हैं। ऊँचे ऊचे पेडो पर, चिडियाओ की झुण्ड की झुण्ड, झुरमुट मारे हुए बैठी हुई हैं। गाय और भैंस, जो सूरज निकलने से पहले, अपने-अपने घरो से निकले, और जगलों मे फल गए थे सिमट सिमट कर, एक जगह हो गए, और अपनी अपनी झुण्ड के साथ, खुशी से झूमने यामने अपने अपने ठिकानो को, सीध बाँध, जा रहे हैं—उनका चरवाहा लाठी कन्धे पर रक्खे कम्बल बगल मे दबाए, मीठी मीठी रागिनी अलापता हुआ, सबसे पिछले भैंस की पीठ पर हाथ रखे धीरे धीरे आ रहा है। (सध्या वर्णन) (पहला भाग, पहिला बयान, पृ० १)

२२५८ इनके आगे आगे दो जवान हैं, जिनमें एक जो स्याह घोडे पर सवार है, बहुत ही दिलावर और मनचला मालूम होता है, इसका कद लाबा, हाथ पाव भरे भरे, चेहरे पर हलकी हलकी सीतला के दाग, डाढी मुडी हुई, मगर मूछें जरा बडी हैं। इसकी पोशाक और चालढाल से पाया जाता है कि यह उन सवारो का अफसर है। और बातो से पता लगता है कि कुवरसिंह इसी का नाम है।

(नायक का रूप वर्णन) (पहला भाग पहिला बयान, पृ० १-२)

२२५९ दो जवान, कमसिन, बला की हसीन औरतें आपस मे मुस्किरा मुस्किरा कर मरहटी बोली मे कुछ बातें करती हुई आ रही हैं। दोनो, उम्र म, कुछ बराबरही बराबरहैं। लेकिन एकजो पीली रशमी साडी पहने है उसकी सादगी क्या मतबा रही है, लम्बे लम्बे बालो की खजूरी चोटी, जिसके सिरे में हरे फीते मे दो एक पेच देकर, गिरह लगा दी गई है, कुछ अजब तरह से पीठ पर पडी हुई है। किसी धानी धारीदार, अतलसनुमा कपडे की, चोली नाजुक माथे के बीचो-बीच मे, चन्दन का हलका सा टीका और भी आफत ढाह रहा है। मगर नाजुक प्यारे पाँवों पर बडा ही, जुलुम हो रहा है अर्थात् रास्ते के पत्थरो और काटों से बचाने के लिये, उनम न जूते हैं, न मोजे। (पात्रा-रूप वर्णन) (पहला भाग, पहिला बयान, पृ० ३)

२२६० चिरागो की लवें जो सध्या समय से धकाधक जल रहीं थीं, इस सबब से टिमटिमा रही हैं कि उनमे पडा हुआ तेल, अब खतम होने को आया। यद्यपि आसमान के पूरब तरफ से, अभी तक उस सफेदी ने अच्छी तरह से सिर नहीं उठाया है, जो झिलमिलाते हुए तारों या चाँद की चान्नी को बिलकुल फीका कर देती है, तो भी आसमान से दबे पाँव, झुक झुक कर जमीन की ओर आने वाली, ओस ने इतना असर जमा रखा है कि चारों तरफ, एक उदास रग छाया हुआ, दिखाई देता है। (भोर-वर्णन) (दूसरा भाग, छठा बयान, पृ० ४८)

२२६१ वह रात की भयानक अँधियारी, जो तमाम दुनिया पर अपना असर जमाए हुए थी, काफूर की तरह उड़ी जाती है। ठण्डी ठण्डी हवा चल रही है। बेचारे तारों में सुबह के हरकारों के खबर देते ही बेतौर खलबली पड़ गई है, जिसे देख कर, मुँह-बन्द कलियाँ खिलखिला खिलखिला कर, हँस रही हैं। उधर तिलजादेवी के मंदिर से टनाटन घण्टों की आवाजें आ रही हैं।

(रात्रि वर्णन) (दूसरा भाग, नवाँ बयान, पृ० ७२)

२२६२ सुबह का सुहावना समय है और कोसों तक लहलहाते हुए जंगल की बहार का हाल, कुछ उन दिलों से पूछिए जो प्रकृति की इस नियामत का मजा उठा चुके हैं। रात ढल गई है। खूबसूरत चिड़ियों ने, जो पेड़ों के पत्तों में, छिपी हुई, गरदन झुकाए बैठी थीं—सुबह की ठण्डी ठण्डी हवा की तासीर से, खुद ब खुद चहक चहक कर, गरदनें उठाई। चाँद का उदास चेहरा बता रहा है कि वह इस समय, डाह और हसरत भरी निगाहों से पृथ्वी की ओर देख कर, मन ही मन कह रहा है कि ओफ ओह! मेरे तारों से भरे आसमान पर भी, इतनी कैफियत न थी जो इस एक रंग, हरे हरे घास से छिपी हुई धरती पर बरस रही है। तिलजापुर के पूर्वी घाटी में रहने वाले हरिनों ने भी अंगड़ाइयाँ ले लेकर गरदनें उठाई और झड़ झड़ाकर, उठ बैठे तिलजापुर के भीतर वाले बड़े मंदिर में के घण्टों के साथ मिली हुई, पुजारी ब्राह्मणों की आवाजें पश्चिमी हवा के झोंकों के साथ दूर दूर तक जा रही हैं।

(प्रातः शोभा वर्णन) (पहला भाग, बारहवाँ बयान, पृष्ठ ७३)

२२६३ लेकिन देहाती हसीनों के इस जमघटे में एक नौजवान औरत के लम्बे-लम्बे घूँघरवाले बाल उसका चौड़ा माथा, नुकीली नाक नाजुक नाजुक होंठ, फूल से गाल, चम्पई खिला हुआ रंग, ये सब ऐसी चीजें हैं जिनमें से एक दो का, एक जगह होना भी अक्सर कोमलाङ्गियों में वह चाल पैदा कर देता है जो खूबसूरती के नाम से प्रसिद्ध है।

(पात्र रूप वर्णन) (दूसरा भाग, चौथा बयान पृष्ठ ११)

२२६४ दक्खिन में शोलापुर के उत्तर, बारह कोस के फासिले पर एक छोटा सा कस्बा बालाघाट के दक्खिन किनारे पर, बसा है। इसकी आबादी कुछ इस तरह पर है कि बहुत से मकानात, पहाड़ के ढालुवाँ किनारों पर फैले हुए सपाट मैदानों तक पहुँच गये हैं। इसके उत्तर में एक घाटी है, जिस की झाड़ियों में खरगोश वगैरह जानवर बहुत पाये जाते हैं। उस रास्ते के सिलसिले में, जो शोलापुर से धारा सिउन होता हुआ दूसरे मशहूर जगहों को जाता है कस्बे में जाने के लिए एक ऊंची चढ़ाई, जो बालाघाट के एक किनारे को काट कर बनाई गई है, खास रास्ता है। यहाँ सबसे ज्यादे दिलचस्पी की चीज एक देवी का मंदिर है जो तिलजाबाई के

नाम से दक्खिन में प्रसिद्ध है। इस कस्बे की आबादी इसी मन्दिर की वजह से, ज्यादे है, क्योंकि दक्खिन में यह एक बहुत बड़ी तीर्थ की जगह है।

[पहाड़ी कस्बे का वर्णन], (प्रस्तावना भाग, पृष्ठ १ २)

२२६५ मन्दिर पहाड़ के किनारे को काट कर बनाया गया है जिसमे आने के लिये कस्बे वालो को एक बड़े फाटक में घुसने के बाद, पक्की सीढ़ियो का सिलसिला मिलता है, इन सीढ़ियो के बायें हाथ एक कुण्ड बना हुआ है। इस हौज के आगे, एक गाय का मुंह पहाड़ काट कर बनाया गया है, जिसमे से, किसी सोते के सबब से हरदम पानी निकलता है। उससे आगे चल कर एक बहुत चौड़ी जगह है, जहाँ इतने रुपये, अठन्निया और चवन्नियाँ गड़े हुए हैं कि जिनकी गिनती नहीं की जा सकती और उनमे से बहुत से, इतने पुराने हो गए हैं कि आने के करीब घिस गये हैं। इस चौड़ी जगह के बीच में, तिलजादेवी का मन्दिर है। दसहरे मे तिलजादेवी की पालकी, बड़े धूम से उठ कर, गश्त करती है। महीने मे दो बार पूनमासी और अमावस के रोज, मेला होता है, जिसमे दूर दूर के लोग देखने आते हैं।

[तिलजादेवी के देवालय का सविवरण वर्णन]

(प्रस्तावनात्मक परिच्छेद, 'पाठक', पृष्ठ १ २)

[कुँवरसिंह सेनापति'—ऐतिहासिक उपन्यास (बनारस निवासी बाबू गगा गुप्त लिखित) जिसे काशी, 'उपन्यास दर्पण' और 'उपन्यास नाटिका' के सपादक और प्रकाशक, बाबू विश्वेश्वरप्रसाद वर्मा ने उपन्यास प्रेमियो के चित्त विनोदार्थ छपवा कर, प्रकाशित किया—काशी यन्त्रेश्वर प्रेस मे मुद्रित, जनवरी १९०३ प्रथम सस्करण से। (चिरजीव पुस्तकालय, बेलनगज, आगरा, के सौजन्य से प्राप्त।]

परिशिष्ट २

हिन्दी का पहला उपन्यास कौन-सा है ?

अद्यावधि प्रचलित, विविध अभिमतों की, तुलनात्मक एवं निर्णयात्मक समीक्षा[1]

हिन्दी उपन्यास के किसी भी समीक्षात्मक पक्ष पर विचार विमर्श करने से पूर्व, हिन्दी उपन्यास के प्रथम प्रवर्त्तन की तिथि एवं उसकी सर्वप्रथम मौलिक कृति के निर्धारण की आवश्यकता अनिवार्य है। इस सम्बन्ध में संयोगवश किसी भी आद्य इतिवृत्तकार ने, कोई निर्णयात्मक मत नहीं निर्धारित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि प्राय सभी परवर्त्तीकालीन समीक्षकों ने भी इस सम्बन्ध में, उसी अनिश्चयात्मक दुविधा को स्वीकार कर लिया। परिणामत हिन्दी उपन्यास का प्रवर्त्तन, उन्नीसवीं शती ईस्वी के अन्त में माना जाने लगा और उसका नाता रिश्ता पाश्चात्य उपन्यास से जोड़ा जाने लगा। इस भ्रान्त धारणा से हिन्दी उपन्यास की निरपेक्ष समीक्षा को, अपार हानि पहुँची है। एक दर्जन से अधिक शीर्ष समीक्षकों ने समय समय पर, अपने अपने विभिन्न अभिमतों की अभिव्यंजना की है। वे प्राय एक दूसरे से मेल नहीं खाते। यह अनिश्चयात्मक प्रवृत्ति अभी कुछ वर्ष पूर्व के इतिवृत्तात्मक प्रकाशनों तक में दृष्टिगोचर होती है।

हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास नामक एक वृहद ग्रन्थ सन् १९६५ ई० में प्रकाशित हुआ। उसके विद्वान प्रणेता हैं डा० गणपतिचन्द्र गुप्त। अपने उक्त ग्रंथ में उन्होंने हिन्दी उपन्यास के उद्भव पर जो विचार प्रकट किए हैं—वे द्योतक

---

[1] क० मा० मुंशी हिन्दी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में लेखिका द्वारा प्रस्तुत, तथा पी एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध — हिन्दी उपन्यासों में लोकतत्त्व का एक अंश विशेष (किञ्चित संशोधन सहित उद्धृत)।

है—उस अनिश्चितता एवं अस्पष्टता के, जो आज [हिन्दी उपन्यास के उदभव के, लगभग १७० वर्ष के पश्चात भी,] हिन्दी के विद्वान समीक्षकों में परिव्याप्त है —

"हिन्दी में उपन्यास का सूत्रपात—कब से हुआ ? इस प्रश्न का निश्चित उत्तर देने के लिए हम यह देखना होगा कि पहला उपन्यास कौन सा है ? आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस सम्बन्ध में परस्पर विरोधी बातें कही हैं ?

"डॉ० श्रीकृष्णलाल ने 'चन्द्रकान्ता' को श्री शिवनारायण श्रीवास्तव ने 'रानी केतकी की कहानी' को तथा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' को, हिन्दी के प्रथम उपन्यास के रूप में स्वीकार किया है।'

"इनमें से 'रानी केतकी की कहानी' आधुनिक उपन्यास की श्रेणी में नहीं आती। तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का उक्त उपन्यास मौलिक न होकर मराठी से अनूदित है। शेष कृतियों में से श्रद्धाराम फिल्लौरी की 'भाग्यवती' ही, कालक्रम के अनुसार, सबसे पहले आती है। अतः हम इसे ही, हिन्दी का पहला उपन्यास, मान सकते हैं।'[1]

जहाँ तक डा० गुप्त के इस अभिमत का प्रश्न है कि 'रानी केतकी की कहानी" आधुनिक उपन्यास की श्रेणी में नहीं आती वे स्वयं ही आगे चल कर 'भाग्यवती के सम्बन्ध में, इससे ठीक विरोधी बात लिखते हैं—

'पहली रचना के लिए यह आवश्यक नहीं कि उसमें विकास की सभी पर वर्ती मंजिलों के दर्शन हों। ऐसा होना सम्भव भी नहीं। अतः इसमें उपन्यास कला का विकसित रूप दृष्टिगोचर न हो तो कोई बात नहीं। इसमें इसकी (भाग्यवती की) प्राथमिकता का दावा, खंडित नहीं हो पाता।'[2]

यदि वस्तुतः डॉ० गुप्त का यह अंतिम मत ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया जाय, तो फिर भला, 'रानी केतकी की कहानी' की प्राथमिकता का दावा कैसे खंडित होगा ? ऐसी 'वर्णानिक' इतिवृत्त पद्धति, न जाने, हिन्दी उपन्यास समीक्षा को, किस ओर ले जायेगी ? इसकी भविष्यवाणी कौन कर सकता है ?

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, हिन्दी के आदि गद्यकाल के शोधकर्ताओं में अग्रगण्य माने जाते हैं। उन्होंने विशेषतया फोर्ट विलियम कालिज के हिन्दी प्रकाशनों एवं तत्कालीन परिस्थितियों का, तलस्पर्शी अध्ययन अनुसंधान भी किया है। अतः हम उनसे भी हिन्दी उपन्यास के उदभव के बारे में किसी निश्चित धारणा की आशा रख सकते हैं। अपने मान्य ग्रन्थ आधुनिक हिन्दी साहित्य के, उपन्यास सम्बन्धी प्रकरण में वे लिखते हैं—

उन्नीसवीं शती में गद्य का प्रचार हो जाने से हिन्दी में कथा साहित्य

---

१ हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास (डा० गणपतिचन्द्र गुप्त) (प्र०—भारतेन्दु-भवन चण्डीगढ़ प्रथम प्रकाशन १९६५ ई०, अध्याय ५ पृष्ठ ६१०

२ वही अध्याय ५ पृ० ६१०

का प्रथम आभास, हमें इंशाअल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' (१८०० ई०) में मिलता है। उसमें उपन्यास-कला का अभाव है। हिन्दी के नाटक और उपन्यास इसी युग की देन हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्र प्रभा' नामक हिन्दी का सर्वप्रथम सामाजिक उपन्यास प्रकाशित किया।"[1]

यह सत्य है कि भारतेन्दु के व्यक्तित्व एवं तत्कालीन राज्य-सम्बन्धी स्थिरता के समन्वित प्रभाव से, इस युग में, हिन्दी साहित्य में एक अविस्मरणीय नवजागरण का सूत्रपात हुआ। यह भी सत्य है कि स्वयं भारतेन्दु ने, साहित्य की सभी लोकप्रिय विधाओं एवं शैलियों पर, सक्रिय एवं सफल प्रयोग किये, एवं अपनी साहित्यिक मंडली को भी तदर्थ प्रेरित किया।[2] भारतेन्दु ने 'नई सुधरी हुई हिन्दी का उदय' इसी समय से माना है।[3] किन्तु बिना समाधानकारी तथ्यों के, यह मान्यता समीचीन नहीं है, कि हिन्दी उपन्यास का श्रीगणेश भी, स्वयं भारतेन्दु, अथवा उनकी मंडली के साहित्यकारों में से ही किसी एक या अनेक के द्वारा किया गया होवे।

भारतेन्दु के समकालीन तथा हिन्दी गद्य के सर्वप्रथम सर्वेक्षक पंडित अम्बिकादत्त व्यास[4] (१८५८-१९०० ई०) से लेकर, सन् १९६५ तक के जिन एक दर्जन से अधिक शोध हिन्दी समीक्षकों ने—हिन्दी उपन्यास साहित्य की पहली प्रामाणिक कृति किसे मानें इस प्रश्न पर अपनी जो समीक्षाएँ एवं धारणाएँ व्यक्त की हैं उन सभी की एक स्थान पर तुलनात्मक विवेचना किए बिना, इस चिर विवाद का निपटारा सम्भव नहीं है। उपर्युक्त विभिन्न आलोचकों के नाम एवं उनके अभिमतों की एक तिथि क्रमानुसार अभिमत तालिका यहाँ दी जा रही है जिसके द्वारा हिन्दी की प्रथम औपन्यासिक कृति के संबंध में उनकी क्या-क्या रायें हैं, यह, स्पष्ट रूप से जाना जा सकेगा —

---

१ 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय डी० फिल०) (प्रकाशक हिन्दी परिषद् प्रयाग विश्वविद्यालय प्रथम प्रकाशन १९४१ ई०, अध्याय ५, 'उपन्यास' पृष्ठ ६३ १०५।

२ 'भारतेन्दु के समय में ही देश के कोने कोने में हिन्दी लेखक तैयार हुए जो उनके निधन के उपरान्त भी बराबर साहित्य सेवा में लगे रहे। अपने अपने विषय क्षेत्र के अनुकूल, रूप, हिन्दी को देने में सब का हाथ रहा। (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास—आधुनिक काल, गद्यखण्ड प्रकरण २ 'आधुनिक गद्य साहित्य परंपरा का प्रवर्तन, प्रथम उत्थान (१८६८ १८९३) सामान्य परिचय, पृष्ठ ४५२।)

३ 'हिन्दी नई चाल में ढली' सन् १८७३ ई०, (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र) ('कालचक्र नामक उनका पुस्तक पर अंकित उल्लेख)

४ "पं० अम्बिकादत्त व्यास (सन् १८५८-१९०० ई०) संस्कृत के प्रतिभाशाली विद्वान थे। इन्होंने 'गद्य काव्य मीमांसा' आदि अनेक ग्रन्थ की पुस्तकें भी लिखी। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (रामचन्द्र शुक्ल) पृष्ठ ४७७-४७८।

हिन्दी की प्रथम औपन्यासिक कृति सम्बन्धी अभिमत तालिका

अभिमत दाता आलोचक का नाम	प्रथम हिन्दी औपन्यासिक कृति	उपन्यासकार का नाम एवं काल	आलोचक का निजी अभिमत एवं तत्सम्बन्धी युक्ति तर्क आदि का उल्लेख	तिथि क्रमानुसार, अभिमत का सन्दर्भ
१	२	३	४	५
पं० अम्बिका दत्त व्यास	'परीक्षागुरु (१८८२ ई०)	ला० श्रीनिवास दास [१८५१ १८८७ ई०]	हिन्दी के आद्य उपन्यासों की सूची में, आलोचक द्वारा 'परीक्षागुरु' का सर्वप्रथम उल्लेख (व्यासजी कृत गद्य काव्य मीमांसा एक प्रकार से, आद्य हिन्दी गद्य सम्बन्धी प्रथम आलोचनात्मक सर्वेक्षण माना जा सकता है।)	१८८७ ई०— गद्य काव्य मीमांसा' नामक लम्बे निबन्ध के अन्त में दी हुई, उपन्यासों की सूची [प्रथम प्रकाशन काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका' वार्षिकांक सन् १८८७ ई०। पुन पुस्तक रूप में भी प्रकाशित।]
पं० रामचन्द्र शुक्ल	'परीक्षागुरु' (१८८२ ई०)	ला० श्री निवास दास [१८५१ १८८७ ई०]	अंग्रेजी ढंग का, मौलिक उपन्यास, पहले पहल हिन्दी में ला० श्रीनिवासदास का, परीक्षागुरु ही निकला था।'	१९२९ ई०— हिन्दी साहित्य का इतिहास' (रामचन्द्र शुक्ल) पृ० ४५५
श्री शिव नारायण श्रीवास्तव	'रानी केतकी की कहानी' अथवा 'उदमान चरित' (१८०१ ई०)	सैयद इंशा अल्लाह खाँ 'इंशा' (१७३८ १८१८ ई०)	'हिन्दी का पहला औपन्यासिक होने का श्रेय, सैयद इंशा अल्लाह खाँ को ही दिया जा सकता है। उनकी 'रानी केतकी की कहानी' एक छोटा सा उपन्यास है यद्यपि लेखक ने इसे 'कहानी' घोषित कर दिया है।'	१९४० ई०—('हिन्दी उपन्यास') (पृष्ठ ६१-६२)

१	२	३	४	५
डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय	पूर्णप्रकाश और चन्द्रप्रभा' (१८८१ ई०)	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५० १८८५ ई०)	'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'पूर्णप्रकाश और चन्द्र-प्रभा' नामक हिन्दी का सर्वप्रथम सामाजिक उपन्यास प्रकाशित किया।	१९४१ ई०—आधुनिक हिन्दी साहित्य', अध्याय ५ पृ० ९३ ९४
डा० श्रीकृष्ण लाल	चन्द्रकान्ता' (१८८६ ८७ ई०)	देवकीनन्दन खत्री (१८६१ १९१३ ई०)	हिन्दी का प्रथम साहित्यिक उपन्यास देवकीनन्दन खत्री का चन्द्रकान्ता है।"	१९४२ ई०—'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृ० २७५
डा० माताप्रसाद गुप्त	'मनोहर उपन्यास (१८७१) (?)	अज्ञात (स० सदानन्द शम्भूनाथ मिश्र)	आलोच्यकाल (१८६७ से १९०६) में उपन्यास का जन्म एक महान घटना थी। लाला श्रीनिवासदास इसके जन्मदाता माने जाते हैं पर यह धारणा ठीक नहीं, क्योंकि इससे भी पूर्व उपन्यास रचना के प्रमाण मिलते हैं। इस प्रकार का पहला उपन्यास 'मनोहर उपन्यास है।	१९४५ ई०— हिन्दी पुस्तक साहित्य', पृष्ठ २५
डा० राम विलास शर्मा	'परीक्षागुरु' (१८८२ ई०)	श्रीनिवासदास (१८५१ १८८७ ई०)	'हिन्दी उपन्यासकारों में पहला महत्वपूर्ण नाम श्रीनिवासदास का है। 'परीक्षागुरु' ने हिन्दी में, एक विशेष प्रकार के, कथा साहित्य को जन्म दिया।"	१९५१ ई०—'भारतेन्दु युग, पृ० १२६

१	२	३	४	५
पं० गंगा प्रसाद पाण्डेय	रानी केतकी की कहानी (१८०१ ई०)	सयद इंशा अल्लाह खाँ इंशा' (१७५८ १८१८ ई०)	इंशा अल्लाह खाँ रचित 'उदमान चरित' या रानी केतकी की कहानी से, हिंदी उपन्यास साहित्य का प्रारम्भ होता है।	१९५४ ई०—आधुनिक कथा साहित्य' पृष्ठ २४
स्व० श्री व्रज रत्न दास	'रानी केतकी की कहानी' १८०१ ई०	इंशा अल्लाह खाँ (१७३८ १८१८ ई०)	उर्दू में इन (इंशा) की बहुत सी रचनाएं हैं पर यहाँ हम केवल, ठेठ हिंदी में लिखे गये इनके एक उपन्यास से काम है जिसका नाम 'उदमान चरित' या 'रानी केतकी की कहानी है।'	१९५६ ई०—'हिंदी उपन्यास साहित्य' पृष्ठ १२२
श्री राजेन्द्र शर्मा	'रहस्य कथा उपन्यास' (१८७९ ई०)	पं० बालकृष्ण भट्ट (१८४४ १९१४ ई०)	("रहस्य कथा उपन्यास' वास्तव में यह भट्ट जी का सर्वप्रथम उपन्यास है। नवम्बर सन १८७९ ई० के 'हिंदी प्रदीप' से इसका प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ था। लाला श्रीनिवासदास का परीक्षागुरु' उपन्यास १८८२ ई० में प्रकाशित हुआ और आज वही हिंदी का प्रथम उपन्यास माना जाता है। तिथि की दृष्टि से, यह गौरव, भट्ट जी का मिलना चाहिये।'	१९५८ ई०—हिंदी गद्य के निर्माता—पं० बालकृष्ण भट्ट, पृष्ठ ३९७।
डॉ० महेन्द्र भटनागर	'भाग्यवती' (१८७७ ई०)	पं० श्रद्धाराम फिल्लौरी (१८३० (?) १८८१ ई०)	"संवत १९३४ (सन् १८७७) में 'भाग्यवती' नामक एक उपन्यास पं० श्रद्धाराम ने लिखा हिंदी उपन्यासों में भाग्यवती प्रथम भारतीय ढंग का उपन्यास है।	१९५९ ई०—'द विक्रम (विक्रम विश्व विद्यालय, उज्जैन का मुखपत्र) जिल्द ३, संख्या २, पृष्ठ ६०, मई सन १९५९।

१	२	३	४	५
डा० व लाश प्रकाश	परीक्षागुरु' (१८८२ ई०)	ला० श्रीनिवास दास (१८५१ १८८७ ई०)	"हि दी के प्रथम मौलिक उप यासकार 'भार तदु है—पर तु प्रथम मौलिकता पुण उप यास 'परीक्षागुरु' है।'	१९६२ ई०—'प्रेमच द पूव हि दी उप याम', अध्याय २ पष्ठ ६७
श्री० मह द्र चतुर्वेदी	'भाग्यवती' (१८७७ ई०)	प० श्रद्धाराम फिल्लौरी (१८३० १८८१ ई०)	'अधिकतर विद्वानो ने ला० श्रीनिवासदास के 'परीक्षागुरु (१८८२ ई०) को ही हिन्दी का सवप्रथम मौलिक उप यास माना है। कि तु मौलिक उप यास के नाम पर केवल एक कृति का उल्लेख किया जा सकता है प० श्रद्धाराम फिल्लौरी कृत 'भाग्यवती जिसका प्रणयन १८७७ ई० मे हो चुका था।	१९६२ ई०—'हि दी उप यास एक सर्वेक्षण अध्याय २ पृ० १७।
डा० गणपति च द्र	'भाग्यवती' (१८७७ ई०)	प० श्रद्धाराम फिल्लौरी (१८३० १८८१ ई०)	'श्रद्धाराम फिल्लौरी की 'भाग्यवती ही कालक्रमानुसार, सबसे पहले आती है। अत हम इसे ही हि दी का पहला उप यास मान सकते हैं।	१९६५ ई०—'हि दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास', अध्याय ५, पष्ठ ६१०।

हिंदी की प्रथम औपन्यासिक कृति एवं तत्सम्बंधी इस अभिमत तालिका से यह प्रगट है कि विभिन्न विद्वानों ने इन सारे उपन्यासों को अपनी अपनी राय के अनुसार 'हिंदी का सर्वप्रथम उपन्यास' सिद्ध किया है। कहना न होगा कि ये सभी तो 'सर्वप्रथम उपन्यास' माने नहीं जा सकते। इसका निर्णय उपर्युक्त तालिका के सम्यक् अध्ययन द्वारा ही कोई निष्पक्ष समीक्षक कर सकता है —

प्रस्तुत तालिका में, उल्लिखित अभिमतों में से अधिकांश विज्ञ आलोचक, इस बारे में एकमत जान पड़ते हैं कि हिंदी उपन्यास का प्रारम्भ भारतेंदु युग से ही हुआ। ऐसी धारणा, जिसके सम्बंध में ऊपर उल्लेख किया ही जा चुका है, मूलतः, पं० अम्बिकादत्त व्यास के उक्त सर्वेक्षण द्वारा ही उद्भूत हुई, जान पड़ती है। श्री व्यास जी ने, सन् १८९७ ई० में, काशी की नागरी प्रचारिणी सभा की मुख पत्रिका 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के सर्वप्रथम अंक में (जो कि वस्तुतः उस वर्ष का वार्षिकांक था), 'गद्य काव्य मीमांसा' नामक, (हिंदी के आद्य गद्य-साहित्य के सम्बंध में), एक लम्बा लेख, प्रकाशित किया था, जिसे हिंदी साहित्य की प्रथम आलोचना या सर्वेक्षण कहा जा सकता है। इसके अंत में उन्होंने, तब तक के प्रकाशित हिंदी उपन्यासों के नामों और उनकी प्रकाशन तिथियों की एक सूची भी दी है। उस सूची में उन्होंने सर्वप्रथम स्थान 'परीक्षागुरु' को दिया था।

हिंदी साहित्य के प्रथम प्रामाणिक इतिहास लेखक श्री रामचंद्र शुक्ल ने श्री व्यासजी की उक्त सूची को प्रामाणिक माना ही होगा। स्वयं व्यासजी पर भी, स्वाभाविक रूप से अपने युग एवं समकालीन लेखकों का अधिक प्रभाव रहा ही होगा। हिंदी गद्य का आविर्भाव लिखते समय शुक्लजी के सामने, अधिकांश गद्य रचनाएँ भारतेंदु युग की ही रही होंगी। एक प्रकार से हिंदी आलोचना का श्रीगणेश 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' से ही हुआ था। स्वयं शुक्लजी भी सभा एवं पत्रिका के घनिष्ठ एवं निजी सम्पर्क में रहे थे। इसलिये उनकी दृष्टि भी, हिंदी की आद्य औपन्यासिक कृतियों की खोज में सर्वप्रथम 'परीक्षागुरु' पर ही टिकी होगी। उनकी दृष्टि में, इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' आ चुकी थी। किंतु शुक्लजी का आलोचनात्मक दृष्टिकोण आधुनिक था। इसीलिये उन्होंने उपन्यासों की समीक्षा करते समय उनके तत्कालीन प्रचलित एवं मान्य आधुनिक अर्थों को ही अपने समक्ष रखा होगा। उन्हें 'परीक्षा गुरु' के आधुनिक रूप एवं उसकी मौलिक कथावस्तु पर संतोष था किंतु फिर भी उपन्यास की अंग्रेजी वेशभूषा एवं बनावट से उन्हें नाराजगी भी थी। इसीलिये उन्होंने उसे हिंदी का प्रथम मौलिक उपन्यास न बता कर जान बूझ कर उसे "अंग्रेजी ढंग का पहला मौलिक उपन्यास" बताया है। शुक्लजी के हिंदी साहित्य के इतिहास से पूर्व भी हिंदी साहित्य के इतिहास लिखे जाने के कतिपय प्रारम्भिक प्रयत्न हुए थे। किंतु प्रायः सभी इतिहास लेखकों एवं

आलोचकों का ध्यान, अधिकांशत हिंदी काव्य की ओर ही जा पाया था। हिंदी उपन्यास की ओर से तो तत्कालीन विज्ञ आलोचकों की प्राय पूर्ण उदासीनता ही पायी जाती थी। अत शुक्लजी को ही इस बात का श्रेय है कि उन्होंने सर्वप्रथम, आधुनिक युग की सर्वप्रधान साहित्यिक विधा 'उपन्यास' की ओर, ध्यान दिया। वास्तव में शुक्लजी स्वयं इस सम्बन्ध में अपनी कोई सुनिश्चित धारणा नहीं बना पाए थे कि हिंदी का सर्वप्रथम उपन्यास किसे माना जाय। यही नहीं 'परीक्षा गुरु' की प्रकट और मौलिक न्यूनताओं से भी वे भली भाँति अवगत थे। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में उसकी शैली भाषा एवं उपन्यास के अंग्रेजी ढंग के वाक्य विन्यास एवं समापणों आदि की, खरी आलोचना भी की है और उन्हें उपन्यास से उद्धरणों द्वारा स्पष्ट भी किया है —

"मुझे आपकी यह बात बिलकुल अनोखी मालूम होती है। भला परोपकारादि शुभ कार्यों का परिणाम कैसे बुरा हो सकता है?' पंडित पुरुषोत्तमदास ने कहा।

'जैसे अन्न प्राणाधार है परन्तु अति भोजन से रोग उत्पन्न हो जाता है' ला० ब्रजकिशोर कहने लगे ।

उपर्युक्त उद्धरणों के पश्चात् आचार्य शुक्ल ने इस बात पर सन्तोष प्रकट किया है कि अंग्रेजी उपन्यासों के ढंग पर, भाषण के बीच में या अन्त में, अमुक ने कहा या अमुक कहने लगे इस प्रथा का अनुसरण, हिंदी के उपन्यासों में नहीं हुआ।[1]

उपर्युक्त तालिका के अनुसार एक अन्य विचारणीय एवं महत्वपूर्ण मत है स्व० डा० श्रीकृष्णलाल का। उनकी दृष्टि में, श्री देवकीनन्दन खत्री द्वारा लिखित 'चन्द्रकान्ता' ही हिंदी का प्रथम साहित्यिक उपन्यास है। यह उपन्यास भारतेन्दु के निधन के आसपास ही रचा गया था, अतएव यह भी एक प्रकार से भारतेन्दु युग[2] की ही रचना मानी जा सकती है।

'चन्द्रकान्ता' उपन्यास के सम्बन्ध में, यहाँ तो केवल इतना भर उल्लेख पर्याप्त है कि 'चन्द्रकान्ता', आद्य हिन्दी उपन्यास की मौलिक एवं रचनात्मक प्रकृति के विकसित रूप की एक प्रतिनिधि औपन्यासिक कृति है। किन्तु हिंदी उपन्यास का साहित्यिक समारम्भ चन्द्रकान्ता से ही हुआ, ऐसा अभिमत प्रस्तुत तुलनात्मक

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास (प० रामचन्द्र शुक्ल), प्रथम प्रकाशन सन् १९२९, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (पृष्ठ ४७३ ४७४)

२ वही, पृष्ठ ४७४।

३ हिंदी उपन्यास साहित्य में श्री ब्रजरत्नदास ने, 'भारतेन्दु युग' (संवत १९२५ से १९५० तक या ईसवी सन १८६८ से १८९३ तक) माना है। पृष्ठ १२७।

सर्वेक्षण को दृष्टि में रखते हुए स्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रथम आद्य हिन्दी औपन्यासिक कृति, एवं 'चन्द्रकांता' के बीच, हिन्दी उपन्यास को विकसित होने के लिये, लगभग एक शती की अवधि में से, गुजरना पड़ा था—इस तथ्य की भला कैसे अवहेलना की जा सकती है ?

यद्यपि डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा व्यक्त किये गये अभिमत के अनुसार हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास 'मनोहर उपन्यास' (१८७१ ई०) भी, भारतेन्दु काल में ही आ जाता है फिर भी वह 'परीक्षागुरु' से ग्यारह वर्ष पूर्व लिखा गया था। ऐसे उल्लेख के आधार पर ही किन आलोचक ने उसे प्रथम उपन्यास माना है। इस सम्बन्ध में किन आलोचक का मूल मत ही उद्धृत किया जाना पर्याप्त होगा —

'आलोच्यकाल (१८६७-१९०६ ई०) में उपन्यास का जन्म, एक महान घटना थी। श्रीनिवासदास इसके जन्मदाता माने जाते हैं। उनका 'परीक्षा गुरु', हिंदी का पहला मौलिक उपन्यास माना जाता है। पर यह धारणा ठीक नहीं है क्योंकि इसके भी पूर्व उपन्यास रचना के प्रमाण मिलते हैं। इस प्रकार का पहला उपन्यास जिसका उल्लेख मिलता है, 'मनोहर उपन्यास' (१८७१ ई०) है जिसके सम्पादक हैं सदानन्द मिश्र तथा शम्भूनाथ मिश्र। लेखक का नाम नहीं दिया हुआ है। किन्तु यह अनुवाद नहीं ज्ञात होता। क्योंकि यह सम्पादकों द्वारा केवल संग्रहीत और संशोधित कहा गया है। इसकी कथावस्तु के सम्बन्ध में भी कोई संकेत नहीं है।'[1]

किन आलोचक के अनुसार, 'मनोहर उपन्यास' की प्रकाशन तिथि १८७१ ई० है। यदि यह मान लिया जाय कि 'मनोहर उपन्यास' 'परीक्षा गुरु' का पूर्ववर्ती है तो भी उसे हिंदी का पहला मौलिक उपन्यास कैसे कहा जा सकता है जब कि उसके पूर्वरचित अनेक हिन्दी उपन्यास उपलब्ध हैं ?

इस बारे में अधिक अनुसंधान करने पर ज्ञात हुआ कि सन् १८७७ में, कलकत्ते से पहला उल्लेखनीय साप्ताहिक पत्र 'भारत मित्र' निकला जिसकी सम्पादक समिति में श्री दुर्गाप्रसाद मिश्र, एवं सदानन्द मिश्र भी थे। किन्तु वे दोनों एक वर्ष में ही 'भारत मित्र' से अलग हो गये और श्री सदानन्द मिश्र के सम्पादकत्व में एक श्रेष्ठ साप्ताहिक पत्र निकला जिसका नाम 'सार सुधा निधि' था।[2] भारतेन्दु युग के अनेक उपन्यास इन्हीं पत्र पत्रिकाओं में धारावाहिक रूप से निकले थे।[3] अतः जिस 'मनोहर उपन्यास' के सम्बन्ध में श्री गुप्तजी ने 'सन् १८७१ में कलकत्ता से प्रकाशित,

---

१ 'हिंदी पुस्तक साहित्य' (१८६७-१९४२ ई०)—डॉ० माताप्रसाद गुप्त, (प्रथम प्रकाशन १९४५ ई०) हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश इलाहाबाद (पृ० २५)

२-३ हिंदी साहित्य का इतिहास, श्री रामचन्द्र शुक्ल, (पृष्ठ ४५८) तथा डॉ० रामविलास शर्मा कृत 'भारतेन्दु युग', (पृष्ठ १२५)।

सम्पादक सदानंद शम्भूनाथ मिश्र" मात्र लिख कर छोड़ दिया है वह भी सम्भवतया इससे काफी पहले किसी अन्य पत्रिका में, धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ होगा।

डॉ० रामविलास शर्मा ने अपने 'भारतेन्दु युग' में, 'परीक्षागुरु' ने हिन्दी में, एक विशेष प्रकार के कथा साहित्य को जन्म दिया" ऐसा उल्लेख किया है। साथ ही उनकी दृष्टि में, हिन्दी उपन्यासकारों में पहला महत्वपूर्ण नाम श्रीनिवासदास का है।[1]

जहाँ तक डा० रामविलास शर्मा का परीक्षागुरु' के सम्बन्ध में अभिमत है, वह एक विशेष दृष्टिकोण को सामने रख कर लिखा गया है। उन्होंने अपने उपन्यास सम्बन्धी अध्याय का नाम 'उपन्यास और यथार्थवादी परम्परा' रखा है। डा० श्रीनिवास दास एवं परीक्षागुरु' के सम्बन्ध में उक्त उल्लेख के पश्चात ही उन्होंने यह भी लिखा है कि कथावस्तु एक अमीर के बिगड़ने और अपने एक सच्चे मित्र की सहायता से सुधरने को लेकर, रची गई है। उपन्यासों में इस ढर्रे का श्रीगणेश करने वाले श्रीनिवासदास थे। सेठों के जीवन से उनका निकट का परिचय था। इसलिए तत्सम्बन्धी वर्णन और वार्तालाप की भाषा में, स्वाभाविकता है, जो पुरानी आलंकारिक शैली के स्थान में इस उपन्यास की नई देन है।[2]

परीक्षा गुरु के सम्बन्ध में श्री रामचन्द्र शुक्ल का अभिमत उक्त अभिमत से तुलनीय है। दोनों ही विज्ञ आलोचकों ने, दो विभिन्न दृष्टिकोणों से परीक्षागुरु को विशिष्ट माना है, एवं दोनों ही मत सापेक्ष हैं निरपेक्ष नहीं।

हिन्दी की आद्य औपन्यासिक कृति के सम्बन्ध में डा० राजेन्द्र शर्मा का अभिमत यह है कि 'रहस्यकथा उपन्यास (सन १८७९ ई०) ही श्री बालकृष्ण भट्ट जी का सर्वप्रथम उपन्यास है और वह परीक्षा गुरु से तीन वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था। इसलिए डा० शर्मा की राय में यही हिन्दी का पहला उपन्यास माना जाना चाहिये।

डॉ० शर्मा, 'परीक्षागुरु' को हिन्दी के प्रथम उपन्यास माने जाने वाली रूढ़िगत परम्परा से सहमत नहीं है और उनकी राय में हिन्दी के प्रथम उपन्यासकार होने का गौरव श्री बालकृष्ण भट्ट को ही मिलना चाहिए। उन्होंने परिश्रमपूर्वक अपने प्रबन्ध हिन्दी गद्य के निर्माता, प० बालकृष्ण भट्ट में, यह सिद्ध किया है कि 'रहस्य कथा उपन्यास, 'परीक्षागुरु से, तीन वर्ष पूर्व प्रकाश में आ चुका था।[3]

---

१ भारतेन्दु युग' (डा० रामविलास शर्मा), पृष्ठ १२६

२ वही, पृष्ठ १२५।

३ हिन्दी गद्य के निर्माता—प० बालकृष्ण भट्ट' (डा० राजेन्द्र शर्मा), पृ० ३६७

प्रथम तो विन आलोचकों मे बहुधा यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि जिस लेखक विशेष पर वे ग्रन्थ रचना करते हैं जाने या अनजाने, वे उसी को सर्वाधिक महत्व देने की चिन्ता मे रहते हैं जो कि मानव स्वभाव के विपरीत नही है। दूसरे डा० शर्मा के अभिमत के बारे मे, यह भी विस्मय है कि 'रहस्य कथा उपन्यास' नामक अपूर्ण कृति की अपेक्षा, उससे भी पूर्व प्रकाशित सम्पूर्ण एवं विशिष्ट उपन्यास 'नूतन ब्रह्मचारी' (प० बालकृष्ण भट्ट) को, उन्होंने हिन्दी का सर्वप्रथम उपन्यास क्यों नहीं बताया ? जिस पर कि श्री भट्टजी की ख्याति बहुत कुछ टिकी हुई है। तीसरे, अपूर्ण कृति की, पूर्ण कृति से तुलना करके, तिथिक्रमानुसार उसे येन केन प्रकारेण, महत्व दिया जाना, आलोचना सिद्धान्त मे उचित नही माना जा सकता।

विज्ञ आलोचकों ने भारतेन्दु कालीन औपन्यासिक कृतियों में से एक और उपन्यास का भी उल्लेख किया है जिसका नाम 'भाग्यवती' है और जिसकी रचना, श्री रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, सन् १८७७ मे हुई। स्वयं श्री शुक्लजी ने इस उपन्यास का, 'हिन्दी की एक आद्य भारतेन्दु कालीन औपन्यासिक कृति' के रूप मे उल्लेख किया ही है। उन्होंने इसे एक सामाजिक उपन्यास बताया है और इसके लेखक श्री श्रद्धाराम फुल्लौरी (फिल्लौरी) के सम्बन्ध में लगभग डेढ़ पृष्ठ का परिचय भी दिया है जिसमे फिल्लौरीजी को 'भारतेन्दु युग मे, पंजाब प्रदेश मे, सबसे प्रबल हिन्दी के प्रचारक एवं समर्थक के रूप मे, चित्रित किया गया है। प० श्रद्धाराम एक प्रतिभाशाली वक्ता एवं प्राचीन वर्णाश्रम धर्म तथा हिन्दू संस्कृति के प्रभावशाली प्रचारक बताए गए हैं। अपनी विचारधारा मे वे, सुधारवादी कहे गए हैं तथा अनेक ग्रन्थों के रचयिता भी माने गए हैं। किन्तु श्री शुक्लजी ने भाग्यवती' उपन्यास की कथावस्तु के सम्बन्ध में सामाजिक' विशेषण के अतिरिक्त रचमात्र भी अन्य उल्लेख नही किया था।[१] 'भाग्यवती के सम्बन्ध मे स्मरणीय तो यह है कि अद्यावधि एक दो विज्ञ आलोचकों के अतिरिक्त, शुक्लजी के पश्चात किसी ने भी उसकी कोई चर्चा अथवा उल्लेख तक करना उचित नही माना। यहाँ तक कि 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास', (सन् १९०० १९२५ ई०) के लेखक एवं प्रख्यात आलोचक स्व० डा० श्रीकृष्णलाल ने भी भाग्यवती का उल्लेख केवल प्रसंगवश (श्रीनिवास ग्रन्थावली की अपनी प्रस्तावना मे) ही किया है जो कि इस भाँति है—

' इससे (परीक्षा गुरु से) पूर्व, दो उपन्यास ग्रन्थों की रचना का उल्लेख प्राप्त होता है। एक पंजाब के श्रद्धाराम फुल्लौरी का 'भाग्यवती और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत पूर्णप्रकाश और चन्द्रप्रभा है। परन्तु पिछली कृति को वे

---

१ भारतेन्दु युग — डा० रामविलास शर्मा, पृष्ठ १२६।

२ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (श्री रामचन्द्र शुक्ल) पृष्ठ ४४५ ४४७

गुजराती से अनुवाद मानते हैं 'भाग्यवती' यदि मौलिक रचना है, तो निश्चय ही, उसे हिन्दी का सर्वप्रथम उपन्यास माना जा सकता है।[1]

'भाग्यवती' के सम्बन्ध में श्री शुक्लजी के पश्चात् विज्ञ आलोचकों की इस रहस्यमय चुप्पी से सर्वप्रथम आकर्षित होने वाले आलोचक डा० महेन्द्र भटनागर हैं जिन्होंने कि पर्याप्त दृढ़ता के साथ 'भाग्यवती' को प्रथम भारतीय ढंग का हिन्दी उपन्यास बताया था। श्री भटनागर को इसका भी पर्याप्त खेद है कि हिन्दी आलोचकों की दृष्टि इसकी ओर विशेष नहीं गई।[2]

'भाग्यवती' उपन्यास, तिथिक्रम के अनुसार निश्चय ही 'परीक्षागुरु' का पूर्ववर्ती है। और आज यह मानने का कोई कारण नहीं जान पड़ता कि 'भाग्यवती', 'परीक्षागुरु' के अंग्रेजी ढंग की तुलना में भारतीय ढंग का एक आद्य हिन्दी उपन्यास नहीं है। क्योंकि पं० श्रद्धाराम कृत विवेचित उपन्यास भाग्यवती आज पुस्तक रूप में सर्वत्र प्राप्य है। पं० श्रद्धाराम ने भारतीय ढंग को छोड़ कर, पाश्चात्य ढंग में उपन्यास रचना करना उचित नहीं माना था या यह उन जैसे व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं था। भाग्यवती का भारतेन्दु काल की प्रथम औपन्यासिक कृति भी माना जाना कठिन है। क्योंकि उससे भी पूर्व सन् १८७० में प्रकाशित 'देवरानी जेठानी की कहानी' (लेखक पं० गौरीदत्त शर्मा) तथा सन् १८७७ में ही प्रकाशित श्री बालकृष्ण भट्ट के विशिष्ट उपन्यास 'नूतन ब्रह्मचारी' आदि भी प्रकाश में आ चुके थे। इसके अतिरिक्त 'नलप्रमग' (सन् १८६०) से लेकर 'परीक्षागुरु' (सन् १८८२) तक अनेक अन्य औपन्यासिक कृतियाँ भी भारतेन्दु काल की ही उपलब्ध हैं।

हिन्दी की प्रथम औपन्यासिक कृति सम्बन्धी उक्त अभिमत तालिका एवं तत्सम्बन्धी संक्षिप्त टिप्पणियों के पश्चात् यह तथ्य सामने आता है कि उक्त विज्ञ आलोचकों के चौदह अभिमतों में से ग्यारह अभिमत यह हैं कि उपन्यास का प्रारम्भ भारतेन्दु युग में ही हुआ और उनमें से भी पचास प्रतिशत महानुभाव इस बात से सहमत हैं कि श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षागुरु' ही हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास है।

उपर्युक्त आलोचक वर्ग में से ही एक की धारणा के अनुसार हिन्दी उपन्यास सन् १८७० ई० के पश्चात ही प्रारम्भ हुआ। दूसरे महानुभावों की दृष्टि में, हिन्दी उपन्यास का श्रीगणेश १८७६ ई० के पश्चात हुआ जान पड़ता है तथा तीसरे आलोचक की दृष्टि में यह समय, १८७८ ई० के पश्चात् माना जाना उचित है।

---

१ 'श्रीनिवास ग्रन्थावली' प्रस्तावना भाग, सपादक डा० श्रीकृष्णलाल, पृ० ११

२ 'द विक्रम' (विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन की मुख पत्रिका) मई सन् १९५६ का अंक (माधव कालेज उज्जैन से प्रकाशित,) 'प्रेमचन्द पूर्व की औपन्यासिक परम्परा', नामक लेख (डा० महेन्द्र भटनागर), पृष्ठ ६०, जिल्द ३, संख्या २।

तथा अन्य आलोचकों के मत से, हिंदी साहित्य में १८८१ ई० से पहले, उपन्यास रचना हुई ही नहीं, ऐसा प्रकट होता है।

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने श्री भारतेन्दु को हिंदी का सर्वप्रथम उपन्यासकार माना है और उनके ग्रंथ 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' को, हिंदी का पहला उपन्यास बताया है। किन्तु डॉ० वार्ष्णेय की उक्त सम्मति काफी पुरानी है और अब तक उनकी दृष्टि में यह बात आ ही गई होगी कि 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' श्री भारतेन्दु की अपनी मौलिक कृति नहीं थी। क्योंकि कुछ विद्वान उसे मराठी से अनूदित बताते हैं और कुछ गुजराती से।

स्व० डॉ० श्रीकृष्णलाल का अभिमत, उपर्युक्त तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए विशेष विचारोत्तेजक एवं इंगितमय है। उनके अभिमत के अनुसार हिंदी का प्रथम साहित्यिक उपन्यास श्री देवकीनन्दन खत्री का 'चन्द्रकान्ता' है। वस्तुतः डॉ० लाल ने 'चन्द्रकान्ता' में हिंदी उपन्यास की विलक्षण वर्णनात्मक प्रकृति के दर्शन किए और वे उससे अभिभूत हुए बिना न रह सके। किन्तु 'चन्द्रकान्ता' हिंदी उपन्यास का पूर्ण विकसित रूप है, कोई प्रारम्भिक प्रयोग नहीं इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता।

उपर्युक्त अभिमत-तालिका में उल्लिखित केवल तीन विज्ञ आलोचकों का ध्यान हिंदी उपन्यास की आद्य कृति के अनुसंधान के लिए, भारतेन्दु युग से भी पहले के अतीत में गया है।

उपर्युक्त विज्ञ आलोचकों की यह धारणा कि सैयद इंशाअल्लाह खां द्वारा रचित 'उदमान चरित अथवा 'रानी केतकी की कहानी' ही हिंदी उपन्यास की पहली आद्य कृति है, वस्तुतः एक अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं ऐतिहासिक, साहित्यिक अनुसंधान है। फिर भी अद्यावधि भी वैज्ञानिक तात्विक आलोचना सरणी के अनुसार इस समस्या का निर्णायक समाधान नहीं हो पाया है।

'रानी केतकी की कहानी' का रचनाकाल सन् १८०१ ई० है। और यदि स्व० डा० माताप्रसाद गुप्त के मत को ज्यों का त्यों ही स्वीकार कर लिया जाय तो 'मनोहर उपन्यास' नामक कृति का रचना-काल सन् १८७१ ई० है। प्रश्न उठता है कि क्या इन ७० वर्षों के अन्तराल में एक भी हिंदी उपन्यास नहीं रचा गया?[1]

---

१ इस प्रसंग को लेकर प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्याय चतुर्थ में, पञ्चम प्रकरण के अन्तर्गत पृष्ठ ३८८ से पृष्ठ ३९८ तक पर्याप्त विवरण सहित विवेचना की गई है। वस्तुतः सन् १८१७ ई० में रचित, लल्लूजीलाल कृत 'माधो विलास' से लेकर, सन् १८५९ ई० में लिखित दाऊजी अभिलाषी कृत 'नल प्रसंग' के बीच का अन्तराल, लगभग चार दशकों का हो रह जाता है। इस अन्तराल के कारणों पर भी उपर्युक्त प्रसंग में प्रकाश डाला ही जा चुका है।

वस्तुतः हिन्दी की प्रथम औपन्यासिक कृति को भारतेन्दु काल में न खोजा जाकर उसे १९वीं शती ई० के प्रारम्भ में ही खोजा जाय तो अधिक युक्तियुक्त होगा। 'इंशा' कृत 'रानी केतकी की कहानी' में, हिन्दी की आद्य औपन्यासिक कृति होने की सभी क्षमताएं पाई जाती हैं। इस सम्बन्ध में यह भी विशेषतया विचारणीय है कि 'रानी केतकी की कहानी (उदभान चरित) में, भारतीय उपन्यास की मौलिक प्रकृति कितनी अधिक परिव्याप्त है? तथा उसकी वर्णनात्मक कला, कितनी रमणीय एवं सहज स्वाभाविक है? यही बात वस्तुतः अत्यन्त महत्व की है। 'रानी केतकी की कहानी' को हम हिन्दी उपन्यास साहित्य का ऐसा प्रथम विस्मय विमुग्धकारी उन्मेष मान सकते हैं जिसका कि सम्पूर्ण विकास एवं विलास, हम श्री देवकीनन्दन खत्री की औपन्यासिक सृष्टि में अधिक व्यापक एवं प्रस्फुटित रूप में दृष्टिगोचर होता है।

हिन्दी उपन्यास के उद्भव एवं विकास के सम्बन्ध में, वस्तुतः, पहले पहल तर्कसिद्ध अनुसंधान प्रणाली का प्रारम्भ श्री रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' (सन १९२९ ई०) से ही माना जा सकता है। १९वीं शती के अन्त में तथा २०वीं शती के प्रारम्भ में साहित्य के शोधकार्य के लिये अनुकूल परिस्थितियों का अभाव पाया जाता था। हिन्दी उपन्यास की ओर, इसीलिये, सर्वप्रथम हिन्दी आलोचकों का ध्यान आकर्षित करने का श्रेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को ही दिया जाना चाहिये। किन्तु जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है शुक्लजी का इस सम्बन्ध में किया गया कार्य केवल अनुसंधान की स्थिति में ही रहा। उसमें निर्णयात्मकता नहीं आ पाई। लगभग दस ग्यारह वर्ष तक इस सम्बन्ध में भारतेन्दु युग के आसपास ही हिन्दी उपन्यास के प्रारम्भ होने की परम्परागत धारणा, हिन्दी के आलोचना-क्षेत्र में, यत्र तत्र दिखाई देती रही। यही नहीं इसके भी १० वर्ष आगे तक, न्यूनाधिक रूप में, विज्ञ आलोचक 'परीक्षागुरु' अथवा अन्य भारतेन्दुकालीन उपन्यासों को ही, हिन्दी के आदि उपन्यास मानते रहे यथा डा० रामविलास शर्मा (भारतेन्दु युग सन् १९५१ ई०)। यही नहीं यह भी स्मरणीय है कि अद्यावधि भी, हिन्दी उपन्यास का प्रारम्भ भारतेन्दु युग में ही हुआ यह धारणा, पूर्ववत जीवित है और कुछ अंशों में उसे मान्यता भी मिलती चली जाती है।

जिन कतिपय विज्ञ आलोचकों ने भारतेन्दु युग की सुदृढ़ मर्यादाओं को लाँघ कर उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ से हिन्दी उपन्यास के उद्भव एवं विकास की सहज अनुभूतिमय धारणा को व्यक्त किया उनके आलोचना साहस का कम महत्व नहीं है। किन्तु स्वर्गीय श्री ब्रजरत्नदास (सन १९५६ ई०) से पूर्व किसी भी विज्ञ आलोचक ने बिना विशेषणा एवं हिचकिचाहट के, 'रानी केतकी की कहानी' को उपन्यास की संज्ञा नहीं दी। इस दृष्टि से सर्वप्रथम जिन विज्ञ आलोचकों ने 'रानी केतकी की कहानी' को उपन्यास के परिवार में सम्मिलित किया जाने योग्य माना है, अब, उनके अभिमतों पर भी संक्षिप्त विचार किया जाना उचित होगा।

श्री शिवनारायण श्रीवास्तव ने, आज से लगभग तीस वर्ष पूर्व अपनी कृति 'हिन्दी उपन्यास' प्रकाशित की जिसे कि एक प्रकार से हिन्दी उपन्यास के इतिहास के क्षेत्र में झाँकने का, पहला प्रयत्न, माना जा सकता है। उन्हें 'रानी केतकी की कहानी' एक छोटा सा उपन्यास लगा। साथ ही उन्हें यह बात भी पसन्द नहीं आई कि लेखक ने उसे 'कहानी' घोषित कर दिया है।

जान पड़ता है श्री श्रीवास्तव ने आगे चल कर अपनी उपर्युक्त राय बदल डाली (कि 'रानी केतकी की कहानी', एक छोटा सा उपन्यास है।) उन्होंने 'इंशा' द्वारा अपनी औपन्यासिक कृति के प्रथम शीर्षक अर्थात् 'उदभान चरित' पर भी ध्यान नहीं दिया। हिन्दी उपन्यास का प्रथम संस्करण संवत् १९९६ (१९३९ ई०) में प्रकाशित हुआ था। द्वितीय संस्करण (सन् १९५८ ई०) की प्रस्तावना में श्री श्रीवास्तव लिखते हैं —

'प्रायः बीस वर्ष पूर्व 'हिन्दी उपन्यास' नाम से प्रकाशित मेरी पुस्तक सम्भवतः इस विषय पर प्रथम आलोचनात्मक कृति थी। ... पुनः प्रकाशन के सिलसिले में जब नये पुराने उपन्यासों को देखने पढ़ने का अवसर मिला तो पहले की ... सम्पूर्ण पुस्तक को मैंने पुनः लिख डालने का संकल्प किया। प्रस्तुत पुस्तक की अधिकांश सामग्री नवीन एवं पुनर्लिखित है।'[1] उक्त संस्करण में प्रकरण द्वितीय, पृष्ठ २७ पर डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव स्वयं ही फिर इस भाँति लिखते हैं —

'भारतेन्दु मण्डल के प्रतिभाशाली लेखकों में ला० श्रीनिवासदास का प्रमुख स्थान है। उनका 'परीक्षागुरु' (१८८२ ई०) हिन्दी का प्रथम उपन्यास माना जाता है। ...

'परीक्षागुरु' की मौलिक विशेषता यही है कि इसमें सर्वप्रथम, यथार्थ जीवन व्यापारों को, कथा का विषय बनाया गया है। न तो उसमें परम्परित ढंग की कोई प्रेम कहानी है और न विस्मयकारक घटना विधान। ... सामाजिक यथार्थ की ओर उन्मुख 'परीक्षागुरु' द्वारा प्रवर्तित परम्परा का उस समय वांछित विकास न हो सका। ... अनुभव समृद्ध समर्थ लेखक भी जनरुचि एवं द्रव्यलाभ को प्रमुखता देकर विस्मयकारक उपन्यास लिखने में ही जुट गए।'[2]

उपर्युक्त अवतरण से प्रकट है कि समयान्तर में डॉ० श्रीवास्तव के मन में 'परीक्षागुरु' के लिए पर्याप्त कोमलता का विकास हुआ है। श्री श्रीनिवासदास की यथार्थवादी विचारधारा की तुलना में वे, हिन्दी के शीर्ष उपन्यासकारों यथा भवश्री

---

१ हिन्दी उपन्यास (१९५८ संस्करण)—श्री शिवनारायण श्रीवास्तव। (सरस्वती मन्दिर वाराणसी) निवेदन, पृ० २।

२ वही, प्रकरण २, पृष्ठ ३१-३५।

किशोरीलाल गोस्वामी देवकीनन्दन खत्री, गोपालराम गहमरी मेहता लज्जाराम शर्मा आदि सभी को हेय मानने लगे क्योंकि वे जनरुचि एवं द्रव्यलाभ को प्रमुखता देकर, विस्मयकारक उपन्यास लिखने में जुट गए थे।

इस प्रकार की समीक्षा सरणी से उत्तम उपन्यासों एवं उत्तम उपन्यासकारों के साथ सदैव ही अन्याय करता जायेगा। उपन्यास की मौलिक विशेषता उसकी वर्णनात्मक कला की अवहेलना करके 'जो जिसके मन में आए' परम्परा के अनुसार, उपन्यास मूल्यांकन की प्रणाली का जितनी जल्दी अन्त होगा, उतनी ही जल्दी हिन्दी उपन्यास को ऊपरी एवं बनावटी तत्वों से छुटकारा मिलेगा और वस्तुतः उत्तमोत्तम उपन्यासों की रचना संभव हो पाएगी।

हिन्दी उपन्यासों विशेषतया आद्य हिन्दी उपन्यासों के सम्बन्ध में, कभी कभी गण्यमान्य एवं साहित्य मर्मज्ञ समीक्षक भी, गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं करते जान पड़ते। उदाहरणार्थ 'आलोचना' (त्रैमासिक) के अक्टूबर (१९५४) के अंक में 'उदयकाल' शीर्षक लेख में श्री विजयशंकर मल्ल ने श्री श्रद्धाराम फिल्लौरी कृत उपन्यास 'भाग्यवती' के बारे में यह लिखा था —

'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में श्रद्धाराम फिल्लौरी के संवत १९३४ में प्रकाशित 'भाग्यवती' नामक सामाजिक उपन्यास का उल्लेख किया है। मुझे यह उपन्यास देखने को नहीं मिला पर शुक्लजी ने भी पहला अंग्रेजी ढंग का मौलिक उपन्यास 'परीक्षागुरु' को ही माना है।"[1]

संयोगवश श्री मल्लजी ने 'भाग्यवती' के प्रचारक पाकेट बुक्स पुस्तक माला में प्रकाशित होने पर उसके संपादक के रूप में (केवल छः वर्ष के पश्चात ही) १५ १० १९६० ई० को निम्न टिप्पणी भी लिखी थी —

' भाग्यवती' हिन्दी का पहला आधुनिक उपन्यास है। इसकी विषय वस्तु और कला—दोनों में ही नये जमाने की धड़कन है— इसका ख्याल आलोचकों ने नहीं किया। यह उपन्यास सन् १८७७ में लिखा गया था लेकिन दस वर्ष बाद, सन् १८८७ में इसका प्रकाशन हो सका। *उस समय इसकी बड़ी सराहना हुई थी*। प्रायः सभी प्रमुख पत्र पत्रिकाओं ने उसकी प्रशंसा में टिप्पणियाँ लिखी।"[2]

विज्ञ पंडितजनों द्वारा इस भांति की 'आए दिन की उद्भावनाओं से उपन्यास-साहित्य के साधारण विद्यार्थी की क्या दशा होती होगी यह तो अनुमान ही

---

१ 'आलोचना' त्रैमासिक (वर्ष ४ अंक १ पूर्णाङ्क १३) अक्टूबर १९५४ ई० ('उपन्यास विशेषांक) पृष्ठ ६६—पाद टिप्पणी।

२ भाग्यवती (श्री श्रद्धाराम फिल्लौरी) पृष्ठ ५ ७ हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, (रचनातिथि १८७७ ई०) १९६० ई० के संस्करण से।

किया जा सकता है। जब तक हिन्दी उपन्यासों के सम्बन्ध में, प्रारम्भिक एवं मूलभूत तथ्यों के बारे में भी, हमारे विद्वान समीक्षक गम्भीरतापूर्वक तथ्य निर्धारण नहीं कर पाते, इस भांति की समीक्षात्मक अस्थिरताएँ एवं भ्रांतियाँ, हमारी उपन्यास साहित्य समीक्षा की प्रगति में सदैव बाधा पहुँचाती ही रहेगी।

श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय के 'इंशा' की इस औपन्यासिक कृति के सम्बन्ध में अभिमत की एक विशिष्टता तो यह है कि उन्होंने, कृति के मूलनाम 'उदैभान चरित' का उल्लेख तो पहले किया है और उसके उपनाम ('रानी केतकी की कहानी') का उसके पश्चात्। यद्यपि श्री पांडेय ने अपनी सहज आलोचनात्मक सूझबूझ से 'उदैभान चरित' से हिन्दी उपन्यास-साहित्य का प्रारम्भ माना है फिर भी चरित शब्द में निहित, उपन्यास तत्व के दूसरे महत्वपूर्ण तथ्य पर भी उनका ध्यान जा पाया था अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में उनकी कृति ('आधुनिक कथा साहित्य') से कोई स्पष्ट इंगित प्राप्त नहीं होता।

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि 'रानी केतकी की कहानी' 'इंशा' की सुप्रसिद्ध औपन्यासिक कृति 'उदैभान चरित' का केवल उपनाम है जो कि 'चरित' शब्द के द्वन्द्व अर्थ को स्पष्ट करने के लिये ही, रखा गया था। प्राचीन संस्कृत साहित्य में भी 'चरित' शब्द का प्रयोग उपन्यास के पर्याय रूप में किया जाता था। यथा दशकुमार चरित' 'हर्ष चरित' आदि। ये चरित नामधारी कथा-कृतियां, एक समान फ्रेम स्टोरी (कथा माला) में ग्रथित, विविध कथाओं के समुच्चय न होकर, हर्ष चरित, विक्रम चरित' आदि विशिष्ट लोकप्रसिद्ध नायकों के जीवन के विविध प्रसंगों को लेकर, रचे गये, कथा-काव्य थे। उदैभान चरित, नाम भी, कथा के इसी औपन्यासिक रूप को व्यक्त करने के लिये रखा गया था।

मद्रास स्थित पचयिप्पा कॉलिज के प्रख्यात संस्कृत पंडित श्री वे० अनन्ताचार्य ने अपनी कादम्बरी की संक्षिप्ति का नाम 'चन्द्रापीड-चरितम्'[1] रख कर प्रकाशित कराया है। उन्होंने उसकी प्रस्तावना में यह भी स्पष्ट किया है कि बाणभट्ट ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास का नाम मूलतः 'चन्द्रापीड चरितम्' ही रखा था। किन्तु समयान्तर में लोक-कल्पना ने उसकी प्रधान नायिका, कादम्बरी के चरित्र से प्रभावित होकर, इसे उसी नाम से ग्रहण किया। 'इंशा' की कृति के 'उदैभान चरित' के नाम के साथ भी वही इतिवृत्तात्मक वर्णनात्मक व्यंग्य, घटित हुआ तथा उनकी कृति 'रानी केतकी की कहानी' के नाम से ही प्रसिद्ध हुई, क्योंकि कथा की नायिका रानी केतकी' है।

इस सम्बन्ध में अब यहाँ केवल इतना उल्लेख करना और आवश्यक रह जाता है कि जब भी शुक्लजी ने परीक्षागुरु को हिन्दी का पहला अंग्रेजी ढंग का उपन्यास

---

१ श्री वे० अनन्ताचार्य कृत बाणभट्ट की कादम्बरी की संक्षिप्ति — चन्द्रापीड चरितम् (प्रस्तावना भाग)।

समझा, उस समय भी उनके ध्यान में, 'ईशा' की 'रानी केतकी की कहानी' की भारतीय ढंग की वर्णनात्मक विशेषता थी। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं कहा है --इन विचित्रताओं के होते हुए भी 'इंशा' ने जगह-जगह, बड़ी प्यारी ठेठ घरेलू भाषा का प्रयोग किया है और वर्णन भी सर्वथा भारतीय रखे हैं।"[1]

निश्चय ही 'उदभान चरित' या रानी केतकी की कहानी' हिन्दी उपन्यास साहित्य की आद्य औपन्यासिक कृति है और वही हिन्दी उपन्यास के प्रारम्भ की प्रतिनिधि एवं मौलिक रचना मानी जानी चाहिये।

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास', (रामचन्द्र शुक्ल), पृष्ठ ४१६

लेखक-अनुक्रमणिका

ल

व

ह

ग्रन्थ-अनुक्रमणिका

द

ध

पत्र-पत्रिकाएँ

—o—

त्रुटि-सम्मार्जन

मुद्रित अश	पृष्ठ एव पक्ति	सशोधित रूप
१८०५ ई०	८८/१	१८७५ इ०
ई० पू० २०० ३००	१८०/६ तथा १८३/२	ईसवी प्रथम शती
१८५७ इ०	२१६/फुटनोट २/२	१७५७ ई०
१६१७ ई०	३१४/फुटनोट २/२	१६६१ ई०
उदय सु दरी कथा (१४०० ई०)	३५४/२३	उदय सु दरीकथा(११०० ई०)
ईसवी १७०० के आसपास	३५४/२३	इसवी १४०० के आसपास
१८४० ई०	३८५/२३	१८८३ ई०
१८१० इ०	३८६/२ ३८७/१८ ३८८/७ ३६६/१४	१८१७ ई०
सवत १८६७	३८६/६	सवत १८७४
१८७३	३८६/फुटनोट/२	१८४३
१८७६	३८६/फुटनोट/४	१८४६
४८ वप	३८८/२०	४१ वप
४६ वप	३६८/२१	४२ वप
१६२६ ई०	४३३/२	१६१६ ई०
१६६८ ई०	४३६/३२	१६६६ ई०
१६६६ इ०	४३७/२१	१६६४ ई०
१८२२ ई०	४५६/२६	१८८२ ई०
सवुज पत्र (सन् १६१५ ई०)	४५८/२८	'सवुज पत्र' मे (१६१५ ई०म) प्रकाशित
'मयूख' [१६१० ई०]	४५७/१६	मयूख' (१६१७ ई०)
'असीम (१६१४ इ०)	४५८/१६	असीम [१६२४ ई०]
(१६६७ ई०)	४६२/४	(१६६१ इ०)
१६७१ इ०	४६४/३१	१८७१ ई०
उपयास-नाटिका	६०६/१७	उपयास-वाटिका'

०